

GOVERNMENT OF INDIA

DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY

CENTRAL ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

BP 3 / Maj / sen

CALL NO.

ACC. NO.

8736

D.G.A. 79

GIVEN—S4—2D, G. Arch. N. D./57.—24-8-58—1,00,000.





महाबोधि-ग्रन्थमाला—१ पुष्प

सुत्त-पिटकका

मज्झिम-निकाय

Majjhima Nikāya

[बुद्ध-वचनमृत-१]

अनुवादक

विपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

~~3112~~

8736

BPa3
Maj/San

प्रकाशक

महाबोधि सभा

सारनाथ (बनारस)

मुद्राब्द २४७७
१९३१ ई०

१००

१००

प्रकाशक
 महाचारी देवप्रिय, बी० ए०
 प्रधान-मंत्री, महाबोधि समा
 सारनाथ (बनारस)

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
 LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 8736
 Date 17.4.59
 Call No. 8 Pa 3
 Maj / San



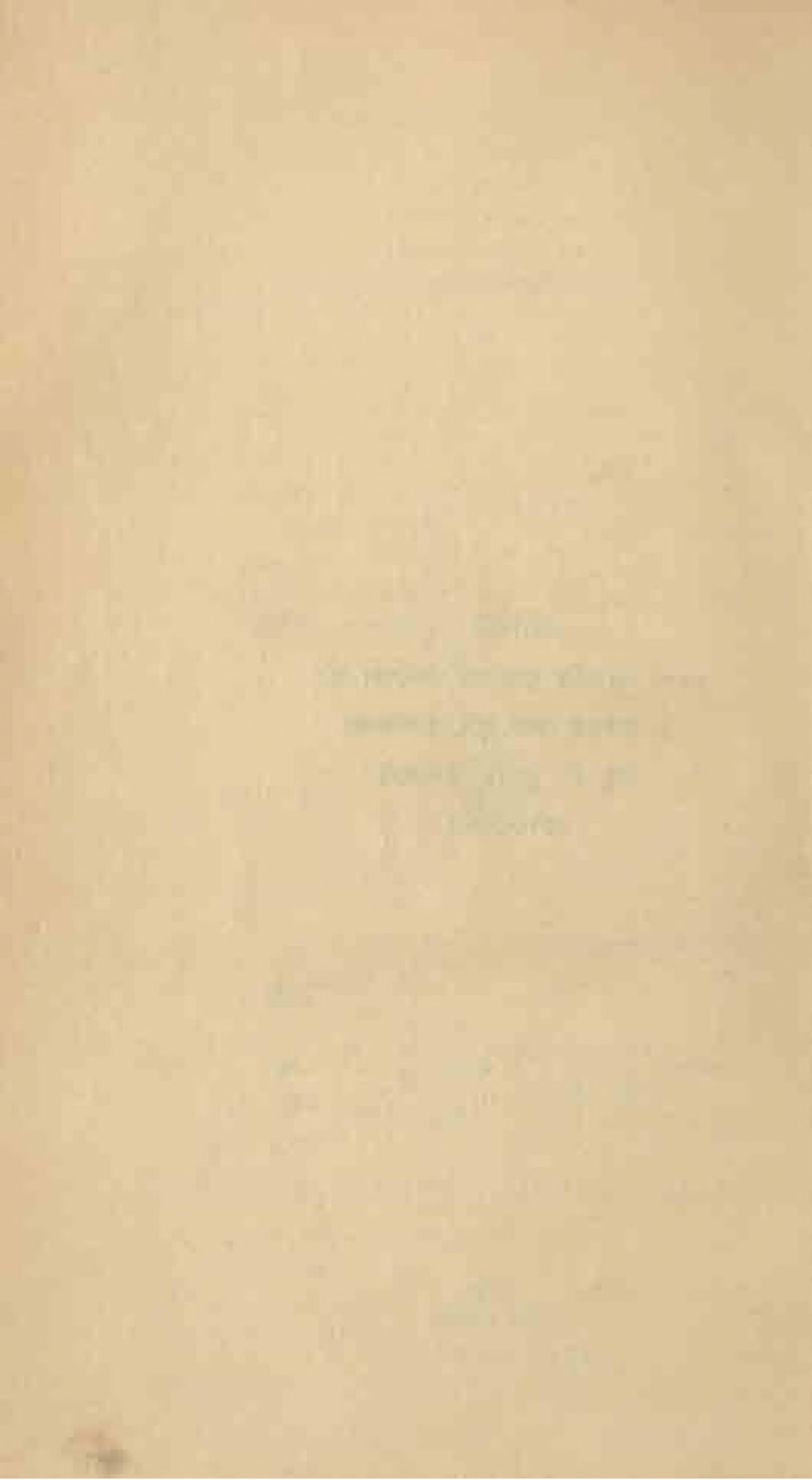
~~CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
 LIBRARY, NEW DELHI~~

~~380
 5/8/59
 891.30/4(3) / Maj / San~~

मुद्रक
 महेन्द्रनाथ पाल्हेय
 इलाहाबाद की वर्नेक प्रेस, प्रयाग

समर्पण

भारतमें बुद्ध-धर्मके पुनरुद्धारक, निर्भीकता और
दृढ़ संकल्पकी साकार मूर्ति, लोकान्तरगत
मिच्छु श्री देवमित्र धर्मपालकी
प्रणय-स्मृतिमें ।



प्राक्-कथन

(१)

त्रिपिटक (पाठी) के हिन्दी अनुवादके साथ त्रिपिटक कालीन इतिहास, भूगोल, सामाजिक रीति-रिवाज तथा इसी तरहको और बातोंपर कुछ लिखना आवश्यक है; किन्तु इस विषय पर प्रत्येक पुस्तकमें अलग अलग लिखनेमें अपूर्णता रहेगी, इसीलिये मैं इसपर कुछ विशेष तौरसे लिखनेको आगेके लिये छोड़ता हूँ। यहाँ इतनाही कहना है।—

बुद्धकी पर्यटन भूमि। बुद्ध भारतके किन किन स्थानोंमें पहुँचे थे, इसका ज्ञान हमें प्रत्येक सूत्रके आरम्भमें आये—“एक समय भगवान्” (स्थान)में—“विहार करते थे”—वाक्यसे मिल सकता है। सारे त्रिपिटकके सूत्रोंकी इस दृष्टिसे जानकारी करनेसे मालूम होता है, कि वह पश्चिम में यमुनाके पार नहीं गये। यदि गये भी होंगे, तो मथुरा तक ही। मथुरामें भगवान्का किया उपदेश कोई नहीं मिलता। लेकिन एक बार उन्हें हम मथुरा और वेरंजा^१ के रास्ते पर जाते पाते हैं, हमें यह भी मालूम है, कि वेरंजा नगर उस रास्ते पर था, जो पश्चिमसे वेरंजा—सौरंज्य—संक्रात्य—कशीजको जाता था। कुरु देशके कम्पासदम्भ^२ और शुलकोदित^३ (राजधानी) कन्योमें बह गये थे। किन्तु यह नगर यमुना और गंगाके बीच वाले प्रदेश (वर्तमान मेरठ, मुजफ्फरनगर-सहारन-पुरके जिलों)में ही कहों थे। इस पार जानेपर इन्द्रप्रस्थ जरूर पड़ता। पूर्वमें बुद्ध कज्जगलामें^४ गये थे, और सम्भवतः यही उनके जानेका अन्तिम स्थान था। कज्जगलाकी देशान्तर रेखाहीमें कहीं पर कोसी गंगामें मिलती थी। कोसीके पश्चिम तथा गंगाके उचरमें अंगुत्तराप प्रदेश था। भाषाकी दृष्टिसे आजकी तरह तब भी वह अंगका ही अंग था। अंगुत्तरापके आपण कल्लेमें बुद्धका जाना हमें मालूम है, और हम यह भी जानते हैं, कि वहाँ मगध-राज बिम्बसार^५ का शासन था। अंगुत्तरापके पूर्वी सीमा तक पहुँचने पर भी, वह कोसीके पूर्व तो कदापि गये नहीं मालूम होते। दक्षिण दिशामें—दशार्ण (पश्चिमी बुन्देलखंड)में उनके जानेका पता नहीं मिलता। कैदीमें भी अधिकसे अधिक विन्ध्य और गंगाके बीचके ही स्थानोंमें गये होंगे। भर्ग (दक्षिणी मिर्जापुर, बनारस जिलों)में जाना तो स्पष्ट ही है, किन्तु यहाँ भी वह विष्णुगट्टी और उसके दक्षिण नहीं जा सके थे। बिहार प्रान्तमें उनकी विचरण भूमिकी सीमा काढ़ाबाद और गंधा जिलोंको छेते, कुछ ही दूर तक हजाराबाग और संवाल-पर्वानाके जिलोंमें घुसी थी। बुद्धकी-विचरण भूमि पाठी साहित्यमें अष्टमण्डलके नामसे प्रसिद्ध है।

मध्यमंडलके शासक—कोसल-राज्य। विस्तार और प्रभावमें भी यह उस समय सबसे बड़ी शक्ति थी। अंगुलिमाल-सुत्त (पृष्ठ ३५४)से मालूम होता है, कि वैशालीके लिच्छवि और

^१ बुद्धनगरी, पृष्ठ २३७, २४४। ^२ पृष्ठ ३५१। ^३ पृष्ठ ३३०। ^४ पृष्ठ ३४४। ^५ पृष्ठ ३८२।

मगधराज अजातशत्रु इसके पड़ोसी प्रतिद्वन्द्वी थे। हम जानते हैं, कि कोसलके पूर्वमें शाक्य (मैतल्य, सामनाम, कपिलवस्तु), कोलिय (देवदह), और मल्ल (कुशीनारा, पावा, जम्पिया) के प्रजातन्त्र थे। सम्भवतः शाक्य और कोलिय प्रजातन्त्र भी नौ सल्लोंमें हीमे थे। लिच्छवियोंको पड़ोसी प्रतिद्वन्द्वी बनानेसे, यह भी सिद्ध होता है, कि प्रल्ल प्रजातंत्र कोसल-राज्यके प्रभावके अन्तर्गत थे। इस बातकी पुष्टि हमें कुशीनारा निवासो ग्रन्थपत्र^१ के कोसलके सेनापति जैसे महत्वपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित होनेसे भी होती है। शाक्योंके ऊपर कोसलका कितना अधिकार था, यह कोसलराजके साधारण सैनिकोंतौरपर बिना किसी विशेष तथ्यायीके मगरकसे शाक्योंके मैतल्य कक्षमें चले जानेसे मालूम होता है। दक्षिणमें कोसल राज्यकी सीमा काशी देश होते गंगा तक पहुँचती थी। काशियोंकी राष्ट्रीयताको सन्तुष्ट रखनेके लिये स्वयं प्रसेनजित्वा लोंटा भाई नाम भावका "काशिराज"^२ बन वाराणसीमें बैसे ही रहता था, जैसे मगधोंके हाथमें चले जानेपर भी कोई जंग-राज^३ संभवतः चम्पामें रहता था। पश्चिममें कोसल-राज्यकी सीमा पाली त्रिपिटकसे निश्चित नहीं की जा सकती। उत्तर पंचालके किसी नगर में बुद्धका जाना नहीं मिलता। लखनऊ कमिश्नरीके उत्तरी जिले और खैलसंडमें बहुत घने जंगल जबर थे; तो भी यहाँ अनुश्योंकी वस्तु बिल्कुल नहीं हो सकती। बल्कि भोजा संघके कारवाँ (= सार्व) के साथ चले जावकका, तक्षशिलासे राजगृह जाने तक साकेत^४ (जयोन्वा) में पहुँचना तो बतलाता है, कि इसी प्रदेशसे होकर उत्तरी भारतका एक महान् वर्षिक-पथ जाता था, और इसी लिये इस रास्ते पर कुछ व्यापारिक नगरोंका होना भी आवश्यक था। उत्तरी पंचालमें किसी राज-शक्तिका नाम न आनेसे ज्ञान पड़ता है, यह कोसलोंके अधीन था, और हमी लिये गंगा ही कोसलकी पश्चिम-सीमा रही होगी। कोसल-राज्य अपने प्रभावान्तर-पाती प्रजातंत्रोंकी लिये गंगा, महो (वर्तमान गंडक) और हिमालयसे घिरा मालूम होता है।

कोसल राज-परिवारमें मालिकार्जुन पटरानी थी। वासुदेवसत्तियाको प्रसेनजित्ने शाक्योंसे घनिष्ठता पैदा करनेके लिये ब्याहा था^५, इसीसे सेनापति विह्वल पैदा हुआ था। विह्वल द्वारा पिताका पदग्रहण होना अटकथा^६ में मालूम है, और यह भी मालूम है, कि कैसे शाक्योंका सर्वनाश करके लौटते एक अचिरवती (= रापती) की आकस्मिक भागमें वह भी सैन्य हुब मरा। प्रसेनजित्की एक मात्र कन्या वजिरी थी^७ जिसका ब्याह अजातशत्रुसे हुआ। विह्वलके बाद कोसल-राज्य पर अजातशत्रुका अधिकार हो जाना स्वाभाविक था।

मगध-राज्य। कोसल-राज प्रसेनजित् और वल्लराज उदयनकी साँति मगध-राज विजसार भी बुद्धका समवशक था। अंगुत्तराप (= भागलपुर मुंगेर जिलोंका गंगासे उत्तरीय भाग) विजसारके अधीन था। पूर्व और दक्षिणकी सीमापर इसके कोई जैसे प्रभावशाली राज्य न थे। अजातशत्रुके शासनकालमें मगधकी तीन प्रतिद्वन्द्वी शक्तियाँ थीं—कोसल राज्यके बारेमें हम कह चुके हैं, जो विस्तृत और चिरप्रतिष्ठित होते भी अवनतिकी ओर जा रहा था। लिच्छवि प्रजातंत्रकी शक्ति-शालिताका पता तो इसीसे मिलता है, कि इसके मैत्रिक गंगा पार हो, मगधके भीतर पाटलिपुत्र (पटना) में महीनों अपनी बाले बैठे रहते थे^८। अजातशत्रु और लिच्छवियोंकी सीमापर हिमालयसे व्यापा-

^१ पृष्ठ ४७३-७५। ^२ बुद्धचर्या, पृष्ठ ३०७। ^३ पृष्ठ ३५३। ^४ बुद्धचर्या, पृष्ठ २२९।

^५ बुद्धचर्या, पृष्ठ ४०१, ४७१।

^६ बुद्धचर्या, पृष्ठ ४७५-७६।

^७ वही पृष्ठ ४४०।

^८ वही पृष्ठ ४७७-८०।

^९ बुद्धचर्या, पृष्ठ ५२७।

रियोंका कोई भारी^१ जाता था, जिसकी तुल्यके लिये दोनों शक्तियोंमें बहुत वैमनस्य^२ था। हीमाचल प्रदेश अंगुचराष और विदेहहीकी संधि पर मालूम होता है। इससे यह भी मालूम होता है कि पुराने विदेहके एक भागका नाम विदेह होने पर भी वह लिच्छवियोंके प्रजातंत्र के अन्तर्गत था। मगधका दूसरा प्रतिद्वन्द्वी श्वन्तिराज प्रचोत था, जो एक बार स्वयं राजगृह पर चढ़ाई करना चाहता था, जिसके लिये मगधका प्रधानमंत्री वर्षकार सेनापति उपनन्दके साथ राजगृहकी मोर्चाबन्दी^३ करवा रहा था। प्रचोतके राज्यकी सीमा मगधसे सीधी नहीं मिलती थी, इसे ठीकने नहीं कहा जा सकता। यदि पलासू—रांची जिल्लोंके दुर्गम जंगलोंमें मिलती हो, तो निर्जन होनेसे उसका उतना महत्त्व न था। अधिकतर संभव मालूम होता है, यह संघर्ष गङ्गा उपत्यकाके लिये ही था। प्रचोतके दामाद वत्सराजकी प्रचोतसे घनिष्टता होनेकी स्वाभाविक थी। प्रचोतका दौहित्र योधि राजकुमार मगधके ही लिये, सुसुमारगिरि (सुनार) में बंदा हुआ था। इस प्रकार प्रचोत इधरसे आक्रमण कर सकता था। उस समय अयन्ती और मगधकी शक्तियाँ ही सारे उत्तरी भारतकी प्रधानताके लिये उद्योग कर रही थीं। बज्जियों और कोसलके प्रातिपूर्ण विजयने अजातशत्रुके पल्लेकी भारी कर दिया और इस प्रकार उज्जयिनीकी लगभग पाटलिपुत्रकी प्रथम भारतीय साम्राज्यकी राजधानी बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

लिच्छवि-प्रजातंत्र। कोसल और मगधकी शक्तियोंसे बिरा यह पराक्रमी प्रजातंत्र विकसित स्वतंत्र था। इसके करके सारे मगधराज पाटलिग्राममें सुरक्षित दुर्ग बनवानेके लिये मजदूर हुये^४। कोसलराजकी भी इसकी चिन्ता कम न थी^५। इसकी राजधानी वैशाली प्रीसकी एथेन्स थी, जिसकी नागरिकताका अनुकरण मगधकी राजधानी (राजगृह) तक करती थी। इसके लिये मगध मेलेदोनिया और अजातशत्रु किलिप् था। किलिप् और प्रीस-प्रजातंत्रोंकी कर्मकरशुल्का गण्टक भारतमें एक शताब्दी पूर्व लिच्छवियों और अजातशत्रुके बीच बंमिनीत हुआ था। उस समयकी ऐतिहासिक सामग्री यद्यपि बहुत बंदी मिलती है, तो भी उससे इस गौरवशाली प्रजातंत्रके इतिहासका एक अच्छा रूप खड़ा किया जा सकता है। स्पष्ट है, कि अभी तक इस तरफ अभिज्ञोंका ध्यान इतना नहीं गया। कुछ शक्तियोंमें इसके बारेमें लिखना मैं अन्याय समझता हूँ, इसलिए इसे आगेके लिये छोड़ता हूँ।

वत्स-राज्य। पूर्व और दक्षिणमें इसके मगध और अयन्तीकी शक्तियाँ थीं। वत्सके अतिरिक्त नर्म और पेदी देशोंका कुछ भाग इसके आधीन था। इसके पश्चिममें दक्षिण पंचाल था, जो संभवतः वत्सहीके आधीन था। पंचालकी वत्सके आधीन भाग खेने पर, पश्चिममें इसके दो बड़े पड़ोसी राजा दिखाई पड़ते हैं।—एक तो सुरसेनका राजा माधुर अयन्ती-पुत्र—जो उदयनकी गो वासवदत्ता का योधि राजकुमारकी माताकी बहिनका पुत्र तथा प्रचोतका दौहित्र था। अन्ततः यह माधुर राजा भी प्रचोतके प्रभावके अन्तर्गत था। उत्तरमें धुलकोटितका राजा कौरव्य^६ था, जो बुद्धके समय बहुत बड़ा हो चुका था^७; यह कौरव्य कोई कुरुवंशीय ही राजा रहा होगा, जिस वंशका ही प्रभान पुरुष उस समय वत्सराज उदयन था। इससे यदि (पूर्व) कुरु-वत्सके प्रभावके अन्तर्गत रहा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। और फिर सुरसेनका भी, कमसे कम प्रचोतके प्रभावके पहिले, वत्ससे बहुत ही सम्बन्ध नही। जान पड़ता है, कोसलकी भाँति ही

^१ संभवतः जयनगर (दरभंगा) से बनकुय जानेवाला मार्ग होगा।

^२ बुद्धजयों पृष्ठ ५२०।

^३ पृष्ठ ४५५, ४५७।

^४ बुद्धजयों पृष्ठ ५२७।

^५ पृष्ठ ३४५।

^६ पृष्ठ ३३४।

^७ पृष्ठ ३३५।

वत्स-राज्य भी बहुत विशाल था, और उसीकी भाँति यह भी अपने ईंगीले राजाके खनाब, प्रबोतकी प्रतिद्वन्द्विताका शिकार हो रहा था। जान पड़ता है, दूसरी पीढ़ीमें वत्स जैसे अवन्तीका भास बन गया, जैसे कोसल भगवका, और फिर चिकरी प्रतिद्वन्द्विता अवन्ती भगव दो ही महाशक्तियोंमें केन्द्रित हो गई।

(२)

मज्झिम-निकायके १५२ सुत्त तीन पण्णासकों (= पचासों)में विभक्त है। हाँ, तृतीय या उपरि-पण्णासकमें ५० को जगह ५२ सुत्त हैं। अन्येक पण्णासकमें इस इस सुत्तोंके पाँच भाग हैं; उपरि-पण्णासकका चौथा (निर्मग-) भाग इसका अपवाद है, जिसमें कि १२ सुत्त हैं। वत्तो (= वगों)के नामोंमें कोई कोई तो किसी सुत्तके नामके कारण हैं, जैसे वल्ल-परि-वास-वग्ग^१; कोई कोई वर्णित विषयके कारण जैसे सल्लायटन-वग्ग; कोई कोई सूत्रमें अधिकतर सम्बोधित व्यक्तिकी श्रेणी पर हैं, जैसे—परिव्याजक-वग्गमें परिव्याजक सम्बोधित किये गये हैं, राजजग्गमें राजा और राजकुमार, भाक्खण-वग्गमें भाक्खण, महपति-वग्गमें गृहपति (= वैश्य)।

भगवान् बुद्ध अपने उपदेशोंमें कितने ही सुन्दर इष्टान्त या उपमाएँ दिया करते थे; हमने अन्तमें इनकी एक सूची सूची लगा दी है।

मज्झिम-निकाय सुत्त (= सूत्र) बुद्धके ही कहे हुये हैं; लेकिन उनमें कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें बुद्धके शिष्य बारिपुत्त महाकात्यायन आदिने कहे। माधुरिय-सुत्त, बोटमुल-सुत्तकी भाँति भगवान्के निषीणके बादके भी कुछ सुत्त हैं।

(३)

धम्मपट्टके प्रकाशनके वक्त मैंने लिखा था, कि मज्झिम-निकायका हिन्दी अनुवाद इसी सन्धमें पाठकोंकी सेवामें पहुँच जायेगा। अद्यपि इसके विषयमें मुझे सन्नेह उठना नहीं हो रहा था, चितना कि परिस्थितियाँ प्रकट कर रही थीं। लिखने पढ़नेकी आसानीके लिये ही अथकी गरिमामें मैं लड़ाई गया। पहिले आशा रखता था, कि लाभमें किसी लिखनेवालेको ले जाऊँगा। किन्तु वैसा प्रयत्न न हो सका। मैं २५ अंशको वेद (लड़ाई) पहुँचा, और १६ सितम्बर तकके सत्रयमें दो बार ही दिन इधर उधर गया। यदि सिर्फ मज्झिम-निकायका अनुवाद होता, तो समय काफी था; किन्तु वहाँके पौड़ोंकी दयनीय अवस्था तथा कुछ पंधुओंके आग्रहने मुझे वहाँके लफ्फोंके लिये तिब्बती भाषाकी चार पुस्तकें लिखने पर मजबूर किया। उधर कुछ और मित्रोंकी प्रेरणाने 'तिब्बत में बौद्ध-धर्मका इतिहास' को संक्षेपसे लिखवाया। अपनी तिब्बती और युरोप-भाषाओंको भी वहीं समाप्त करनी पड़ी। यह निश्चय ही है, कि इतने कामोंके लिये उतना समय पर्याप्त न था। एक दो बार तो मैंने अपने मित्रोंको लिख भी दिया कि शायद मैं आगे ही प्रबंधको लड़ाईमें समाप्त कर सँझूँगा।

अनुवादमें समय इस प्रकार लगा—

लुगाई ५—१५

१—२९ सुत्त

अगस्त २१—२१

३०—९८ सुत्त

सितम्बर १—२, ४—९, ११—१४

९९—१५२ सुत्त

नवंबर ३—३

२७—३० सुत्त

लड़ाईमें अनुवाद करते वक्त मालूम हुआ, कि मेरी पाठकी प्रतिमें ११ सुत्त (= सूत्र) गुम हैं, इसीलिये उनका अनुवाद छोटकर प्रथममें हुआ। इस प्रकार यह सारा ग्रंथ ३८ दि.

अनुवादित हुआ। जल्दीके लिये अफसोस करनेकी आवश्यकता नहीं, जब कि मैं जानता हूँ, कि कामोंकी अधिकतरके कारण, दूसरा कोई उपाय ही नहीं; जबवा एक अनिश्चित समयके लिये इस कामको स्थगित कर रखना पड़ता।

त्रिपिटक-वाङ्मयमें मज्झिम-निकायका स्थान सर्वोच्च है। विद्वाद् लोग इसीके बारेमें कहते हैं, कि यदि सारा त्रिपिटक और बौद्ध-साहित्य नष्ट हो जाये, तब भी मज्झिम-निकाय ही बचा रहे; तो भी इसकी मददसे हमें बुद्धकी ध्यक्ति, उनके दर्शन और अन्य शिक्षाओंके तत्त्वको समझनेमें कठिनाई न होगी। इसी कारणसे "बुद्धचर्या" और "धम्मपद"के बाद मैंने इसमें हाथ लगाया।

अनुवाद करनेमें भावोंके साथ शब्दोंका भी पूरा ख्याल रखना गया है, इसीलिये भाषा कुछ कठिनसी हो गई है; किन्तु, अनुवादकों वैतिहासिकों, भाषा-तत्त्वज्ञों तथा दूसरे जन्मेफलोंके लिये भी उपयोगी बननेके लिये वैसा करना अनिवार्य था। शब्दोंका एक विस्तृत कोश मैंने ग्रंथके अन्तमें दे दिया है, और स्वयं स्वरूप पर कोष्ठकमें भी सरल पर्याय देता गया हूँ। पाठकोंको कठिनाई मालूम होगी, कुछ बौद्ध धार्मिक परिभाषाओंके कारण। किन्तु, संक्षेप और स्पष्ट होनेके लिये पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग करना ही पड़ेगा। बहुतसे पुनरुक्तोंको भी मैंने (०) चिह्न देकर दटा दिया है, इससे भी कहीं कहीं कुछ दिक्कत होगी, किन्तु उनके लिये मैं फुटनोटमें संकेत भी करता गया हूँ। यदि सभी पाठक प्रत्येक शब्द के समझनेका आग्रह न करेंगे, तो आशा है, वह अनुवादको सन्तोष-जनक पायेंगे। यह अन्तिम अनुवाद तो है नहीं, यदि इससे भविष्यके अनुवादकोंके काममें सहायता पहुँचेगी, तो यह भी इसकी एक उपयोगिता होगी।

त्रिपिटकके कुछ ग्रंथोंको पालीमें अनुवाद करनेका बात मैंने "धम्मपद"के उपते वक्ता लिखी थी। मैंने अगले चार वर्षोंके वर्षा-वर्षोंको इस प्रकार हिन्दी-अनुवाद-कार्यमें लगानेका निश्चय किया है—

पातिमोक्ख + महावग्ग + चुल्लवग्ग (त्रिपिटक)	१९३४ ई०
दीघ-निकाय	१९३५ "
संयुक्त-निकाय	१९३६ "
सुत्तनिपाठ + उदान + मिहिल्ल पण्ड	१९३७ "

अपने ज्येष्ठ सम्प्रदायकारी मदन्त आनन्द कीसत्पावन, तथा शीघ्र ही जन्म सम्प्रदायकारी बनने वाले एक दूसरे समयसे आशा रखता हूँ, कि इन्हीं चार वर्षोंमें वह सम्पूर्ण जातकोंका भी हिन्दी अनुवाद कर देंगे। यदि ऐसा हुआ, तो मूल बौद्ध-साहित्यके अनुवादमें हिन्दीका स्थान भारतीय भाषाओंमें ही प्रथम नहीं हो जायेगा; बल्कि हमारी मातृभाषा युरोपीय भाषाओंसे ठीक लेने लगेगी।

पुस्तकके साथ मज्झ-अंशक (= प्राचीन मध्यदेश)का एक मानचित्र भी दे दिया गया है, जिससे तत्कालीन भूगोलके समझनेमें आसानी होगी। ध्यानसे श्रीचनेपर भी जनपदों और राज्यों की सीमायें चितनी ही जगह गलत हो सकती हैं।

"धम्मपद"के अनुवादको समाप्त करते समय मैंने अर्द्धेय भिक्षु देवमित्र धर्मपालसे कहा था—मैंने अपनी प्रथम पुस्तक बुद्धचर्या अपने पिताको समर्पित की, दूसरी अपने उपाध्यायको; और अब यह तीसरी मैं आपको समर्पित करूँगा। उन्होंने कहा—काय होना चाहिये, अपने लिये सम्पूर्णको मैं बेकार समझता हूँ। बेकार हो, चाहे स-कार, अब वह बेकारका शब्द ही जब उन पतले जोड़ोंसे सुननेको मिलेगा !!

अनुवादका काम तो मेरे हाथका था, चाहे रातको तीन बजता, चाहे बार, उसे मैं पूरा कर

सकता था, किन्तु १९३३ ई० के भीतर छाप देनेकी समस्या आसान न थी। महाबोधि समाजके प्रधान भंत्री ब्रह्मचारी देवप्रियने कई आर्थिक अवसरोंके रहते भी छापना छोड़कार कर, उस कठिनाईको हल कर दिया। दूसरी कठिनाई थी एक मासके अल्प समयमें प्रायः आठ सौ पृष्ठोंकी सारी पुस्तकको छाप कर निकाल देना। जिस कठिनाईको दूर करनेके लिये ला-जर्नल-प्रेसके मैनेजर पंडित कृष्णप्रसाद दूर, तथा पंडित सीताराम गुटे, पं० महेन्द्रनाथ पांडेय, श्री राजनाथ और श्री बच्चूलाल विशेषतया धन्यवादके पात्र हैं। पंडित उदयनारायण त्रिपाठी, साहित्य-रत्न, M. A. और उनकी दारामाताकी शिष्य-मंडली तथा बानू बलदेवसिंह, “विचारद” यदि प्रूफ देखनेमें सहायता न करते, तो काम बहुत कठिन हो जाता। इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

यदि पाठकोंकी सहायता प्राप्त होयी, तो आशा है अगले संस्करणमें ग्रंथकी बहुतसी सुटियाँ दूर हो जायेंगी।

प्रयाग
१५—१२—३३

राहुल सांकृत्यायन

भूमिका

बुद्धके मूल सिद्धान्त^१

बुद्धके उपदेशोंके समझनेमें सहायता मिलेगी, यदि पाठक बुद्धके इन मूल चार सिद्धान्तों—तीन अस्वीकारात्मक और एक स्वीकारात्मक—को पहले जान लें। वे चार सिद्धान्त ये हैं—

(१) ईश्वरको नहीं मानना; अन्यथा 'मनुष्य स्वयं अपना प्राणिक है'—इस सिद्धान्तका विरोध होगा।

(२) आत्माको नित्य नहीं मानना; अन्यथा नित्य एक रह माननेपर उसकी परिशुद्धि और मुक्तिके लिए गुंजाइश नहीं रहेगी।

(३) किसी प्रत्यक्षोत्पत्तःप्रमाण नहीं मानना; अन्यथा बुद्धि और अनुभवकी प्राजायिकाता जाती रहेगी।

(४) जीवन-प्रवाहको इसी शरीर तक परिमित न मानना; अन्यथा जीवन और उसकी विविधताएँ कार्यकारण नियमसे उत्पन्न न होकर, निर्गुण आकस्मिक घटनाएँ रह जायेंगी।

पौद्गल्यधर्ममें चार बातें सर्वमान्य हैं। इन चार बातोंपर हम यहाँ भगवत् विचार करते हैं।

(१) ईश्वरको न मानना

ईश्वरवादी कहते हैं—"जैकै हर एक कार्यका कारण होता है, इसलिये संसारका भी कोई कारण होगा चाहिए; और वह कारण ईश्वर है—लेकिन प्रश्न किया जा सकता है—ईश्वर किस प्रकारका कारण है? क्या उत्पादान-कारण, जैसे प्रदेका कारण मिट्टी; कुंडलका सुवर्ण? यदि ईश्वर जगत्का उत्पादान-कारण है, तो जगत् ईश्वरका रूपान्तर है। फिर संसारमें जो भी श्राद्ध-भलाई, सुख-दुःख, दया-क्रूरता देखी जाती है, वह सभी ईश्वरसे और ईश्वरमें है। फिर तो ईश्वर सुखसमयकी अपेक्षा दुःखसमय अधिक है, क्योंकि दुनियामें दुःखका पलड़ा भारी है। ईश्वर दयालुकी अपेक्षा क्रूर अधिक है, क्योंकि दुनियामें चारों तरफ़ क्रूरताका राज्य है। यदि वनस्पतिको जीवधारी न भी माना जाय, तो भी सूक्ष्मजीवोंसे द्रष्टव्य कीटाणुओंसे लेकर कोड़े-मकोड़े, पत्ती, भल्ली, साँप, छिपकली, मोड़क, भेड़िया, सिंह-बघाव, सन्ध-जसन्ध मनुष्य—सभी एक-दूसरेके जीवनोंके प्रादक हैं। ध्यानसे देखनेपर दृश्य-अदृश्य, सारा ही जगत् एक होमांचकारी बुद्धक्षेत्र है, जिसमें निर्बल प्राणी

^१ यह पहिले १९३२ ई० के "विज्ञान-भारत" में लेख-रूपसे निकला था।

सबलोकिये प्राप्त यत्न रहे हैं। पुनर्जन्म न माननेवाले धर्मोंको तो इसे बिना जानाकारीके स्वीकार करना पड़ेगा। पुनर्जन्मवादी कह सकते हैं कि सभी सुखीयतें पूर्वके कर्मोंके फल हैं, लेकिन यह भी चिन्तन है। अच्छे-बुरे कर्मोंकी जवाबदेही जानकारको ही हो सकती है। पागल या नशेमें बेहोश या अंधोष पागलको दूसरोंकी हत्याका दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इससे इनकार किसको हो सकता है कि मनुष्यके अतिरिक्त दूसरे प्राणी—जो अपने अच्छे-बुरे कर्मोंके जाननेकी समझ नहीं रखते, और जिनका जीवन दूसरोंकी हत्यापर ही निर्भर है—अपने कर्मोंके जिम्मेवार नहीं हो सकते? मनुष्योंमें भी बालक, पागल आदि अलग कर देनेपर बाकित रखनेवालोंकी संख्या बहुत कम रह जायगी। यदि दुनियामें ज्ञाप्यदेह आदिमियोंकी संख्या डेढ़ अरब मान ली जाय, तो फल भोगनेवाले इतने कहाँसे आचेंगे, जिनकी संख्या अपार है। डेढ़ अरबसे अधिक तो कहूँगे ही होंगे, जो आधुनिकसे अधिक दीर्घजीवी हैं, और कीटाणुओं तथा हारमी, छेले आदि जैसे विशालकाय जन्तुओंके घारेमें कहना ही क्या?

उपादान-कारण है, तो निर्विकार कैसे हो सकता है? यदि ईश्वरको निमित्त-कारण माना जाय, अर्थात् यह जगत्को वैसे ही बनाता है, जैसे कुम्हार घड़ेको, सुनार कुंडलको, तो प्रश्न होगा, क्या वह बिना किसी उपादान-कारणके जगत्को बनाता है, या उपादान-कारणसे? यदि बिना उपादान-कारणके, तो अभावसे भावकी उत्पत्ति माननी होगी, और कार्य-कारणका सिद्धान्त ही गिर जायगा, तब फिर जगत्को देखकर उसके कारण ईश्वरके माननेको ज़रूरत क्या? यदि इन्द्रजालकी तरह उसने जगत्को बिना कारण आयाय्य उत्पन्न किया है, तो प्रत्यक्षके मायामय होनेपर ईश्वरके होनेका अनुमान ही किस सामग्रीके धलपर होगा? यदि उपादान-कारणसे बनाता है, तो कुम्हारकी भाँति जगत्से अलग रहकर बनाता है, या उसमें घ्यास होकर? अलग रहनेपर वह सर्वव्यापक नहीं रहेगा, और सृष्टि करनेके लिए उसे दूसरे-तहायकों और साधनोंपर निर्भर होना पड़ेगा। विद्युत्कणोंसे भी सूक्ष्म नवकणों (Neutrons) तक पहुँचने और उनके मिश्रणसे क्रमशः स्थूलतर चीज़ोंके बनानेके लिए वह कौनसा इधियार, सुनारकी सँहासोंकी तरह, प्रयोग करेगा? और फिर सर्वशक्तिमान् कैसे रहेगा? यदि उसे उपादान-कारणमें सर्वव्यापक मान लिया जाय, तो भी उपादान-कारणके बिना उत्पादन-करनेमें अक्षम होनेपर सर्वशक्तिमान् नहीं। ऐसी अवस्थामें अवधिभ्रता, धूला आदि बुराईयोंका खोल होनेका भी वह दोषी होगा।

इस प्रकार न वह उपादान-कारण हो सकता है, न निमित्त-कारण। जगत्का कोई आदि-कारण होना ही चाहिए, यह कोई ज़रूरी नहीं। यदि 'उसका कारण कौन, उसका कारण कौन?'—पूछनेपर जगत्की किसी सूक्ष्मतम वस्तु या उसकी विशेष शक्तिपर नहीं रखने दिया जाय, तो ईश्वर तब ही क्यों रुका जाय? क्यों न ईश्वरका भी कोई दूसरा कारण माना जाय? इस प्रकार ईश्वरका आदिकारण मानना युक्तियुक्त नहीं।

कर्ता-कर्ता ईश्वर होनेपर, मनुष्य उसके हाथकी कठपुतली है, फिर वह किसी अच्छे-बुरे फलके लिए जवाबदेह नहीं हो सकता। फिर दुनियामें उसका सत्तापा जाना क्या ईश्वरकी दया-लुताका मोतक है?

ईश्वर सृष्टिकर्ता है, यह मानना भी ठीक नहीं। यदि सृष्टि बनादि है, तो उसको किसी कर्ताकी ज़रूरत नहीं, क्योंकि कर्ता होनेके लिए उसे कार्यसे पहले उपस्थित रहना चाहिए। यदि सृष्टि आदि है, तो करोड़ दो करोड़, बरब दो स्रष्टा वर्ष नहीं, अचिन्त्य अनन्त वर्षोंसे लेकर सृष्टि उत्पन्न होनेके समय तक उस किया-रहित ईश्वरके होनेका प्रमाण क्या? किया ही तो उससे अस्तित्वमें प्रमाण हो सकती है?

ईश्वरके माननेपर, जैसा कि पहले कहा गया, मनुष्यको उसके अधीन मानना पड़ेगा, तब मनुष्य आप ही अपना स्वामी है, जैसा चाहे, अपनेको बना सकता है—यह नहीं माना जा सकता। फिर मनुष्यको बुद्धि और सुनिके लिए प्रयत्न करनेको मुंजाइश कहाँ? फिर तो धर्मके प्रतापे रास्ते, और धर्म भी निष्फल। ईश्वरके न माननेपर, मनुष्य जो कुछ वर्तमानमें है, वह अपने ही कियेले, और जो भविष्यमें होगा, वह भी अपनी ही करनीसे। मनुष्यके काम करनेकी स्वतन्त्रता होने ही पर धर्मके प्रतापे रास्ते और धर्मकी सार्थकता हो सकती है। ईश्वरादियों द्वारा सद्वाचिदियोंसे धर्मके लिए अशान्ति और धूनकी धाराएँ धहाई जा रही हैं, फिर भी ईश्वर क्यों नहीं निपटारा करता? वस्तुतः ईश्वर मनुष्यकी मानसिक सृष्टि है।

(१) आत्मको नियम मानना

यहाँ पहले हमें यह समझ लेना है कि बौद्ध अनात्मताको कैसे मानते हैं। कुछके समय आश्रम, परिवाजक तथा दूसरे अनेक आचार्य मानते थे कि शरीरके भीतर और शरीरसे भिन्न एक निरवचेतनशक्ति है, जिसके आनेसे शरीरमें उष्णता और ज्ञानपूर्वक चेष्टा देखनेमें आती है। जब वह शरीर ढोव कर कर्मानुसार शरीरान्तरमें चली जाती है, तो शरीर शीतल, चेष्टा रहित हो जाता है। इसी निरवचेतनशक्तिको वे आत्मा कहते थे। सामीय (Semitic) धर्मोंका भी, पुनर्जन्मको ढोव कर, वही मत है। इनके अलावा कुछके समयमें दूसरे भी आचार्य थे, जिनका कहना था—शरीरसे कुछ आत्मा कोई चीज़ नहीं; शरीरमें भिन्न-भिन्न परिमाणमें मिश्रित रसोंके कारण उष्णता और चेष्टा पैदा हो जाती है, क्योंकि परिमाणमें कमी-बेसी होनेसे वह चली जाती है। इस प्रकार आत्मा शरीरसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। बुढ़ने एक ओर आत्माका नियम कूटस्थ मानना, दूसरी ओर शरीरके साथ ही आत्माका विनाश हो जाना—इन दोनों चरम बातोंको ढोव अन्धका रास्ता लिया। उन्होंने कहा—आत्मा कोई निरव कूटस्थ वस्तु नहीं है, बल्कि ज्ञान कारणोंसे रक्तियों (भूल, मन) के ही योगसे उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य बाह्य शक्तियोंकी सृष्टि क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन हो रही है। चित्तके क्षण-क्षण उत्पन्न होने और विलीन होनेपर भी चित्तका प्रवाह जब तक इस शरीरमें जारी रहता है, तब तक शरीर सजीव कहा जाता है। हमारे अध्यात्म-परिवर्तन और शरीरके परिवर्तनमें बहुत समानता है।

हमारा शरीर क्षण-क्षण बदल रहा है। चालीस वर्षका वह शरीर वही नहीं है, जो पचास वर्ष और बीस वर्षकी अवस्थामें था, और न साठवें वर्षमें वही रह पायगा। एक-एक अनु, जिससे हमारा शरीर बना है, प्रति क्षण अपना स्थान नवोत्पत्तिके लिए छोड़ी कर रहा है; ऐसा होने पर भी हर एक विगत शरीर-निर्माणक परमाणुका उत्तराधिकारी बहुतेरी बातोंमें स्पष्ट होता है। इस प्रकार यद्यपि हमारा पहले वर्षवाला शरीर दसवें वर्षमें नहीं रहता, और बीसवें वर्षमें दस वर्षवाला भी अन्तम भुजा रहता है, तो भी स्पष्ट परिवर्तनके कारण मोटे तौरपर हम शरीरको एक कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी क्षण-क्षण बदल रहा है, लेकिन सदा परिवर्तनके कारण उसे एक कहा जाता है। आप अपने ही जीवनको ले लीजिए। दो वर्ष पूर्व दूसरे भी आपको सिगरेटका धुनना नगवार था, और अब उसे पायसे पीते हैं। दो वर्ष पूर्व चिन्मियोंको स्वयं मार कर फड़फड़ाते देखना, आपके लिए अनोखेजनकी चीज़ थी, लेकिन अब आप दूसरे द्वारा मारी जाती चिन्मियोंको फड़फड़ाते देख स्वयं फड़फड़ाने लगते हैं। यदि आपको अपने मनके शुद्धाव और उसकी प्रवृत्तियोंको लिखते रहनेका अभ्यास है, तो आप अपनी पिछली दस वर्षोंकी क्षमता उठा कर पद डालिये। वहाँ आपको कितने ही विचार ऐसे मिलेंगे, जिन्हें दस वर्ष पूर्व आप अपना कहते थे, किन्तु दस वर्ष बाद ज्ञान यदि कोई आपके ही शब्दोंमें आपके पूर्व विचारोंको आपके सामने रखे, तो आप

सबकु इनकार कर देंगे कि 'मह मेरा विचार नहीं है, न मेरा विचार कभी ऐसा था।' वस्तुतः आपका ऐसा कहना ठीक भी है, क्योंकि आपके पिछले दस वर्षिक अनुभवोंने आपको धक्का दिया है।

आप कह सकते हैं—मन बदलता है, आत्मा बोझें ही बदलता है। हमारा कहना है, मनसे परे आत्मा कोई चीज़ नहीं। चित्त, विज्ञान, आत्मा—एक ही चीज़ है। जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, ज्ञान, विद्या और त्वक् इन्द्रियोंको हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वैसे मनको नहीं। हमें मनकी सभा क्यों खीकार करनी पड़ती है? जहाँ हमली देखती हैं, और जिह्वासे पानी टपकने लगता है। नाक दुर्गन्ध पहुँचती है, और हाथ नाकपर पहुँच जाता है। आप देखते हैं, आँख और जिह्वा एक नहीं है, न वे एक दूसरेसे मिली हुई हैं। इसलिए इन दोनोंको मिलानेके लिए एक तीसरी इन्द्रिय चाहिए, और वह मन है। पाँचों ही इन्द्रियों अपने-अपने ज्ञानको जहाँ पहुँचाती हैं, और जहाँसे शरीरके भिन्न भिन्न अंगोंको गतिदा अनुपासन मिलता है, वह मन है। वही ग्रहण, चिन्तन और निर्णय करता है। वह ग्रहण आदि कैसे करता है? फ़ौजके कमान्डरकी तरह अलग बैठ कर नहीं, बल्कि जैसे पाँच द्यूबोंमें सात, पीले, हरे, नीले, काले रंगका चूर्ण पड़ा हुआ हो, और नीचे एक ऐसी काँचकी नलीसे पानी बहा रहा हो, जिसमें पाँचों द्यूबोंके छिंद मिले हुए हों, और द्यूबोंका छिंद पानी शरीरसे सुल रहा हो। जिस समय जो रंग पानीपर पड़ेगा, पानी उठी रंगका हो जायगा। इसी तरह जब आँख काले साँपकी ओर लगती है, तो काले साँपका हमें दर्शन होता है। फिर यह ज्ञान तुरन्त मनमें पहुँचता है। उस क्षणका मन, जो अपने कारणभूत पुराने धर्मोंके अनुभवोंका धोखे अपनेमें रक्खता है, इस नये ज्ञानरूपी चूर्णके गिरनेसे तदाकार हो, नयके रंगमें रँग जाता है। यदि एक क्षण ही साँपको देख हमें रुक जाना हो, तो भी हिला कर धोखे दिये पहिलेकी जाँति कई क्षण तक एक-एकके बाद उत्पन्न होनेवाला मन उस रंगमें रँग जायगा; यद्यपि हर द्वितीय क्षणके मनपर उसका अंतर पौका पड़ता जायगा। और यदि साँप कई क्षणों तक दिखाई देता रहा, और आपकी तरफ़ भी आता रहा, तो क्षण-क्षण उत्पन्न होनेवाले मनपर भयका संचार अधिक होता जायगा। जो बात भयप्रद विषयोंके बारेमें है, वही प्रीतिप्रद तथा दूसरे विषयोंके बारेमें भी समझनी चाहिए।

अस्तु, उक्त कारणसे चक्षु आदि इन्द्रियोंके अतिरिक्त हमें उनके संबोजक एक भीतरी इन्द्रियकी माननेकी ज़रूरत पड़ती है, जिसे मन कहते हैं। इससे परे आत्माकी क्या आवश्यकता? यदि कहें कि पुराने अनुभवोंको स्मृतिके रूपमें रक्खनेके लिए, क्योंकि मन तो क्षणिक है (यद्यपि यह बात वे नहीं कह सकते, जिसके मतसे मन क्षणिक नहीं), तो हम कहेंगे—मन क्षणिक है, किन्तु वह अपने परपत्नी मनका कारण भी है। आनुवंशिक नियमके अनुसार जैसे माता-पिताकी बहुतसी बातें पुत्र-पौत्रमें आती हैं, उसी प्रकार पूर्व मन अपने अनुभवोंका बीज या संस्कार पिछले मनके लिए बराबरतमें छोड़ जाता है, और वही स्मृतिका कारण है। वस्तुतः संस्कारका ठप्पा तो क्षणिक वस्तुपर ही लग सकता है। आत्माको यदि कूटस्थ नित्य मानें, तो वह अनन्तकाल तक एक रस रहनेवाला होगा। मला, सदाके लिए एक रस रहनेवाले आत्मापर अनुभवोंका ठप्पा कैसे पड़ सकता है? यदि पड़ सकता है, तो ठप्पा पड़ने ही उसका रूप-परिवर्तन हो जायगा। आत्मा कोई जब पदार्थ नहीं है, जिसके सिर्फ़ बाह्य अवयवपर ही कोटन लगेगा। वह तो चेतनमय है, इसलिए ऐसी लज्जामें इन्द्रिय-जनित ज्ञान उसमें सर्वत्र प्रविष्ट हो जायगा। फिर वह राग, द्वेष, मोह—नावा प्रकारोंमेंसे किसी एक रूपवाला हो जायगा। तब फिर वह वही आत्मा नहीं हो सकता, जो ठप्पा लगनेसे पहले था। अतएव वह एक रस भी नहीं हो सकता। फिर आत्मा नित्य है कैसे? यदि बोधी देखे लिये मान भी लें कि ठप्पा लगता है, तो वह अमौलिक संस्कार भी नित्य आत्मा

में लगाकर अविवक्षित हो जायगा। तब फिर बुद्धि या मुक्तिकी भाषा कैसे की जा सकती है ?

यदि कहें—कोई नित्य आत्मा नहीं है, तो मनके अणिक होनेसे, शरीरके नष्ट हो जानेपर अच्छे-बुरे कर्मोंका विपाक कैसे होगा ? यहाँ पहले यह समझ लें कि बौद्ध विपाक कैसे मानते हैं। वे यह नहीं मानते कि हम जो कुछ भले-बुरे काम करते हैं, उसे लिखनेके लिए ईश्वरने हमारे पीछे हुत लेखक लगा रखे हैं। हम अच्छे वा बुरे जैसे भी कायिक-वाचिक कर्म करते हैं, सभी कर्मोंका बदला हमारा मन है। अतः श्रेष्ठतम काम करनेके लिए मनको श्रेष्ठतम बनना पड़ता है, रागद्वेष काम करनेके लिए मनको रागद्वेष बनना पड़ता है। मनकी उस पनाककी, उस ध्वनिकी गूँज तब तक जारी रहती है, जब तक वह स्वयंसे या विरोधी ध्वनिके आकर टकरानेसे नष्ट नहीं हो जाती। आधुनी एक दिनमें मर नहीं बन जाता। आधुनिक करनेवाले डाक्टरको भी धीरे-धीरे अपने मनको कबा करना पड़ता है, फिर सूतीकी तो बात ही क्या ? जब किसी असहाय, निरपराध बालिकाको पीटते देख दुर्गकोंका मन प्रभावित हुए बिना नहीं रहता (यद्यपि वह दूसरी दिशामें—कल्याणकी ओर), तो स्वयं मारनेवालेका मन समस्त हुए बिना कैसे रह सकता है ? सुतराँ हम जो काम करते हैं, उसका अन्तर तत्काल मनपर पड़ता है। जितना ही मन कबा होता जाता है, उतना ही उसमें सूक्ष्म भावनात्मिक चिन्तन और विकासकी योग्यता कम होती जाती है।

अच्छे-बुरे मनोभाव धन और फलकी तरह हैं। यदि धनकी राशि अधिक रही, फलकी कम, तो धनका पलका भारी रहेगा। यह हिसाब मनकी क्षण-क्षणकी वनाफटमें स्वयं होता रहता है। यहाँ हिसाबका डोटल महीनों, हमतों, दिनोंके बाद नहीं, बल्कि तुरन्त-का-तुरन्त होता रहता है। अनुभव क्या है, अपने पिछले भले-बुरे अनुभवोंका पूर्ण योग। दूसरे क्षण उत्पन्न होनेवाले भले-बुरे अनुभवोंसे धन-धनक मनसे वरासतमें मिलती है। यह वरासतका मिलमिलना हमारे कलकपनसे बृद्धपन तक रहता है—इसे समझनेमें अड़चन नहीं होगी। लेकिन बुद्धकी शिक्षा के अनुसार यह सिलसिला जन्मसे पहले भी था, और मृत्युके बाद भी रहेगा। अपने पिछले अनुभवोंसे धन हुए धनकी उपमा, मृत्यु-क्षणमें जिस वक्त वह इस शरीरको छोड़नेके लिए तैयार रहता है, उस तब लौह-धारसे दी जा सकती है, जो एक ऐसी तालीके सहारे नीचे गहरी चली आई हो, जो एक टीलेके पास आकर रुक जाती हो। उस टीलेके दूसरी ओर एक ऐसी दूसरी ताली है, जिसके आरम्भपर पर्याप्त पुण्यक-राशि है, तो वह प्रकर इस धारको गहरी तालीमें डालनेके लिए समर्थ होगी। इसी प्रकार मृत्युके समय चित्त-प्रवाह अपनी संस्कार-राशिके साथ इस जीवनके ठोरपर खड़ी रहती है। वह संस्कार-राशिरूपी पुण्यक समान धर्मवाले समीपतम शरीरमें खींच कर फिर उसकी वही पुरानी कार्रवाई शुरू करा देता है। यही कम तब तक जारी रहता है, जब तक पुण्यके क्षयसे यह सन्तति विटलकलित हो, निर्वाणको नहीं प्राप्त हो जाती। इस प्रकार कर्म, कर्म-फल और जन्मान्तर होता है।

जीवको नित्य ज्ञाननेमें बहुतसे दोष होते हैं। यदि धाय उसे नित्य मानते हैं, तो उसे सिर्फ अन्तर ही नहीं, अजन्मा भी मानना होगा। फिर सामीप्य धर्मोंमें भी तो, जहाँ पुनर्जन्म नहीं मानते, यह मानना होगा कि जीव अरब-अरब वर्ष नहीं, बल्कि अनादि कालसे आज तक चुपचाप निश्चेष्ट पड़ा रहा। अब एक, पचास, या सौ वर्ष तकके लिए, बिना किसी पूर्व कर्मके, इस दुनियामें जन्मान्ध या नेत्रवान्, जन्मरोगी या स्वस्थ, भन्दबुद्धि या प्रतिभाशाली बन कर उत्पन्न हो गया है, और मरनेके बाद फिर अवन्तकाल तकके लिए अपने कुछ वर्षोंके बुरे-भले कर्मोंके कारण स्वर्ग या नरकमें डाल दिया जायगा। क्या इस तरहकी निष्पत्ता बुद्धिपूज्य मानी जा सकती है ? जो लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं, और साथ-साथ आत्माको नित्य भी, उनकी ये दोनों बातें परस्पर

विरोधी है। जब वह नित्य है, तो कृत्स्न भी है, अर्थात् सदा एक-रस रहेगा; फिर ऐसी एक-रस वस्तुको यदि परिशुद्ध मानते हैं, तो वह जन्म-मरण के फेरमें कैसे पड़ सकती है? यदि अशुद्ध है, तो स्वभावतः अशुद्ध होनेसे उसकी शुक्ति कैसे हो सकती है? नित्य कृत्स्न होनेपर संस्कारकी छाप उसपर नहीं पड़ सकती, वह हम पहले कह चुके हैं। यदि छापके लिए मनको मानते हैं, तो आत्माको माननेकी जरूरत ही क्या रह जाती है?

प्रश्न हो सकता है कि यदि मन तथा आत्मा एक है, और वह क्षणिक है, तो अनेकतामें—जैसे पहले था, मैं अब हूँ—ऐसी एकताका मान क्यों होता है? इसका उत्तर है कि समुदायमें एकत्वकी बुद्धि दुनियाका यह सार्वभौमिक नियम है। हम संसारकी जिस किसी चीज़को ले लें, सभी हज़ारों अनुभूतियों से यनी हैं, जिनके बीच काफ़ी अन्तर है। यह घात छोड़े, प्लेडिनम, हीरे—सभी दोस्त-ये-दोस्त वस्तुकी है। यदि हमारी दृष्टि उत्तरी सूक्ष्म होती, तो हम उन्हें ऐसे ही अलग-अलग देखते, जैसे पास जानेपर जंगलके वृक्ष। इस प्रकार दुनियाके सभी दृश्य पदार्थोंके मूलमें अनेकता होनेपर भी एकताका व्यवहार किया जाता है। अनगिनत टुकड़ोंके घने हुए शरीरको हम एक शरीर कहते हैं। अनेक वृक्षोंके घने जंगलको एक जंगल कहते हैं। अनेक तारोंके झुरमुटको एक तारा कहते हैं। हरी, एक ऊँचा ऊँचा है। जहाँ शरीर, घन, तारोंमें अंश और अंश एक कालमें और एक देशमें मौजूद रहते हैं, वहाँ मन अति क्षण एकके बाद एक उत्पन्न होता रहता है। इसके लिए अच्छा उदाहरण घनेटी, चलते वायुयानका पंखा, या चलती बिजलीका पंखा ले सकते हैं। घनेटीकी रोशनी, या पंखेका पंख जल्दी-जल्दी इतने सूक्ष्म कालमें एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँचता है कि हम उसे ग्रहण नहीं कर सकते, और काल एक स्वतन्त्र मान घन उसे चक्के रूपमें छा रहता है। इसी प्रकार मन भी इतना शीघ्र अपनी जगहपर दूसरे मनको उपस्थित कर रहा है कि बीचके अन्तरको हम नहीं ग्रहण कर पाते, और हमें चक्की एकताका मान होने लगता है। नदीकी धाराको भी तो आप एक कहते हैं, किन्तु क्या वह जल हज़ारों बिन्दुओंसे, और बिन्दु अगणित उद्भजन, श्रोषजनके परमाणुओंसे, और परमाणु अनेक धनश्रृण विद्युत्कणोंसे (जिनके भीतर चक्कर काटनेके लिए काफ़ी अन्तर है), और फिर सूक्ष्मतम अनेकों न्यूट्रॉनोंसे नहीं बने हैं? वस्तुतः संसारमें सभी जगह समुदायवादीको एक कहा जा रहा है। जब हमारी भाषाका यह एक सार्वभौमिक प्रयोग है, तब क्षणिक मनकी सन्तति (= प्रवाह)को साधारण दृष्टिसे हम एक कहने लगे, तो आश्चर्य क्या है? आश्चर्य तो यह है कि सारी दुनियामें एक कही जानेवाली चीज़ोंको समूहित देखते हुए भी पूछते हैं—समूहित है, तो आत्मा क्यों एक मालूम होती है? स्वाल हो सकता है—जब आत्मा क्षणिक है, दूसरे क्षण वह रहता ही नहीं, तो उसकी पूर्णता और परिशुद्धि कैसे? उत्तर यह है कि हम मनको क्षणिक मानते हुए भी मनकी सन्ततिको क्षणिक नहीं मानते। रंगका पानी, उसका आधार, दोनों कुल और बाल सभी परावर बरल रहे हैं, तो भी सधका प्रवाह घना रहता है, जिसे हम एक मान रंगा कहते हैं। इसी चित्त-सन्ततिकी परिशुद्धि और पूर्णता करनी होती है। जितनी ही चित्त-सन्तति राग, द्वेष, मोहके मलोंसे मुक्त होती है, उतना ही उस पुरुषके कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म परिशुद्ध होते जाते हैं, जिसके फलस्वरूप वह व्यक्ति अपने-परायेका उपकार करनेमें समर्थ होता है। जब जलमें राग-द्वेषका गंध नहीं रह जाता, तो व्यक्तिगत स्वार्थके केन्द्रपर केन्द्रित तुष्णा कर्मका; परिवार, ग्राम, देश, मूर्खल, प्राणिमात्रके स्वार्थको अपना घना, अपनी परिधिको अवन्त तक पहुँचा देती है। उस वक्त अनन्त परिधिवाली वह तुष्णा कन्धन-रहित हो तुष्णा ही नहीं रह जाती, उस पुरुषके लिए निर्वाणका मार्ग उन्मुक्त हो जाता है, और वह दुःखके फंदेसे छूट जाता है। मुक्ति तक पहुँचनेके लिए पुरुषको निजी स्वार्थकी सीमा पार कर लोकहितार्थ सब कुछ

उत्सर्ग करना पड़ता है (आप ज्ञातकर्ता सुन्दर कहानियोंमें देखेंगे, पूर्णताके लिए बोधिसत्त्वको कितना उत्सर्ग करना पड़ता है)। तृष्णाको छोड़ना दुःखके मार्गको रोकता है, क्योंकि दुनियामें अधिकोक्त दुःख तृष्णा और स्वार्थके कारण ही तो हैं ?

इस प्रकार मनके अनिक होने पर, चूँकि चित्त-सन्तति शक्ति नहीं है, इसलिए उसकी पूर्णता और परिशुद्धि करनी पड़ती है। वस्तुतः यदि आत्माको नित्य कृत्स्न आत्मा न मान, उसके स्थान पर क्षण-क्षण उत्पन्न होनेवाले चित्तोंकी सन्ततिको माना जाय, तो शब्द पर हमारा कोई आग्रह नहीं है। चूँकि आप शब्द नित्य चेतन वस्तुके लिए व्यवहार होता था, इसलिए बुद्धने अन्-ज्ञान शब्दका प्रयोग किया।

(३) किसी ग्रन्थकी स्वतः प्रमाण न मानना

स्वतः प्रमाण होनेका दावा करनेवाला सिर्फ एक ग्रन्थ नहीं है। सभी धर्मवाले अपने-अपने ग्रन्थको स्वतः प्रमाण मानते और मनवानेकी कोशिश करते हैं। ब्राह्मण वेदको स्वतः प्रमाण मानते हैं, जिसकी बहुतसी बातें अन्य धर्मवालोंकी पुस्तकों एवं विज्ञानकी कितनी ही प्रयोग द्वारा सिद्ध बातोंके विरुद्ध पड़ती हैं। फिर ऐसा ग्रन्थ स्वतः प्रमाण कैसे माना जा सकता है ? यदि कहो कि वेद विज्ञानके प्रयोग-सिद्ध सिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं, तो सवाल होगा—यह कैसे मानें ? इसकी सिद्धिके लिए अन्तमें बुद्धिका ही आश्रय लेना पड़ेगा। फिर क्या इससे सिद्ध नहीं होता कि वेदकी प्रामाणिकता भी बुद्धिपर निर्भर है ? फिर तो वेदकी अपेक्षा बुद्धि ही स्वतः प्रमाण हुई। जो बात यहाँ वेदके बारेमें कहीं गई, वही बाइबिल, अंजोल, कुरान आदि स्वतः प्रमाण मानो जाने-वाली पुस्तकोंके बारेमें भी समझना चाहिए। वस्तुतः जब ईश्वर ही नहीं, तो ईश्वरकी पुस्तक कहाँसे होगी ?

पुस्तकोंके स्वतः प्रमाण माननेसे दुनियामें कितने भयंकर अत्याचार हुए हैं। गैलेलियोकी वह दुर्गति न होती, यदि बाइबिलको स्वतः प्रमाण नहीं माना जाता। और भी कितने ही वैज्ञानिकोंको जानसे हाथ न धोना पड़ता, यदि बाइबिलको स्वतः प्रमाण न माना जाता। पवन तत्ववेत्ताओंके सहस्राब्दियोंके परिश्रम ग्रन्थरूपमें जिस सिफ्फरियाके पुस्तकालयमें सुरक्षित थे, उनको जलाकर खाद न किया गया होता, यदि मुसलमान विजेता कुरानको स्वतः प्रमाण न मानते। किसी ग्रन्थका स्वतः प्रमाण मानना अतर्हिण्युताका कारण होता है; इससे दुनियामें हजारों वर्षोंके अनुपप-ज्ञातिको धर्मान्यता, मिथ्या-विश्वास और मानसिक दास्यताके गढ़में ही नहीं गिरा रखा है, बल्कि इसने ज्ञानके प्रसारमें कड़ाघट पैदा करनेके साथ जूनसे भी धरतीको ईगनेमें मग्द ही है। ईसाई धर्मपुत्र क्या थे, बाइबिल और कुरानके स्वतः प्रमाण होनेके क्षणदेके परिणाम।

किसी ग्रन्थका स्वतः प्रमाण मानना, उसमें वर्णित विषयोंपर सन्देह न कर आनेकी जिज्ञासाको रोक देता है। जिज्ञासा ही दुनियाके बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कारोंके कारणमें कारण हुई है। यदि गैलेलियो बाइबिलके कहे अनुसार पृथिवीको चिपटी मान लेता, तो उसे पृथिवीके गोल होनेके प्रमाणोंका मान न होता। यदि केप्लर बाइबिलके सूर्यग्रहणकी मिथ्यान्त मान लेता, तो पृथिवीके घूमनेके अपने तीन नियमोंका कहाँसे आविष्कार करता ? वस्तुतः ग्रन्थके स्वतः प्रमाण माननेपर न्युटन गुरुत्वाकर्षणका पता न लगा सकता, और न आइन्स्टाइन उसके संबंधक सापेक्षताके महान् सिद्धान्तका आविष्कार कर सकता। वस्तुतः संसारमें विद्या, सम्बन्धता सम्बन्धी जितनी भी प्रगति हुई है, वह ग्रन्थोंके स्वतः प्रमाणके इनकारसे हुई है। व्यवहारमें तीन अनुपप अपने धर्म-ग्रन्थकी स्वतः प्रामाणिकता मानता है ? ग्रन्थ अपने-अपने समयकी रुढ़ियों, अन्ध-विश्वासों और अज्ञानाणोंसे अन्धे होते हैं। यह अपने समयके धार्मिक, सामाजिक एवं राज-

नैतिक व्यवहारोंके परिपोषक होते हैं। सहस्राब्दियों बाद वह बातें मरी हुई रहती हैं, तो भी वह मरे सुदँकी गले भड़ना चाहते हैं। सेन्टपालके समय क्रियोंका सिर डकना उस समयके वैज्ञानिके अनुसार अच्छा समझा जाता हो, किन्तु उस क्रियावृत्तिके कारण आज युरोपकी क्रियोंको गिरजेमें और न्यायालयमें कसम खाते वक्त टोपी लगानेपर मजबूर क्यों किया जाय, जब कि दूसरी जगह समाज उसकी आवश्यकता नहीं समझता है।

ग्रन्थके स्वतः प्रमाण होनेके लिए उसके कर्त्तोंको सर्वज्ञ मानना पड़ेगा—सर्वज्ञ भी सभी देवता, सभी काल, सभी वस्तुके सम्बन्धमें। फिर यदि कोई सर्वज्ञ हमारे पैदा होनेसे हजार वर्ष पूर्व हमारे द्वारा किये जानेवाले अच्छे-बुरे सभी कर्मोंको जानता था, तब तो हम आज वैसा करनेपर मजबूर हैं, अन्यथा उसकी सर्वज्ञता झूठ हो जायगी। फिर अनुपपन्न ऐसे सर्वज्ञके हाथमें क्या कठपुतली मात्र नहीं है? फिर कठपुतलीको अपने लिये अच्छा-बुरा काम चुनने और करनेका क्या अधिकार? और तब ऐसे धर्म उसके ग्रन्थ और उसमें कही गई शिक्षाओंका प्रयोजन क्या?

परिशुद्ध और मुक्त धर्मनेके लिए कर्म करनेमें अनुपपन्न स्वतन्त्र होना जरूरी है। कर्म करनेकी स्वतन्त्रताके लिए बुद्धि का स्वतन्त्र होना जरूरी है। बुद्धि-स्वतन्त्र्यके लिए किसी ग्रन्थको परतन्त्रताका न होना आवश्यक है। वस्तुतः किसी ग्रन्थकी प्रामाणिकता उसके बुद्धिपूर्वक होनेपर निर्भर है, न की बुद्धि की प्रामाणिकता ग्रन्थपर।

उक्त तीन अस्वीकारात्मक बातें हैं, जिन्हें बुद्ध-धर्म मानता है।

(४) जीवन-प्रवाहको इस शरीरके पूर्व और पश्चात् भी मानना

बर्षोंकी उत्पत्तिके साथ उसके जीवनका आरम्भ होता है। पचा बसा है? शरीर और मनका समुदाय। शरीर भी कोई एक इकाई नहीं है, बल्कि एक कालमें भी अलग-अलग अणुओंका समुदाय। यह अणु हर क्षण बदल रहे हैं, और उनकी जगह उनके समान दूसरे अणु उत्पन्न हो रहे हैं। इस प्रकार क्षण-क्षण शरीरमें परिवर्तन हो रहा है। वषों बाद वस्तुतः वही शरीर नहीं रहता, किन्तु परिवर्तन सहस्र परमाणुओं द्वारा होता है, इसलिए हम कहते हैं—वह वही है। जो बात वहाँ शरीरकी है, वही मनपर भी लागू होती है, फल ही है कि मन सूक्ष्म है, उसका परिवर्तन भी सूक्ष्म है, और पूर्णपर रूपोंका भेद भी सूक्ष्म है, इसलिए उस भेदका समझना दुष्कर है। आत्मा और मन एक ही हैं, और आत्मा क्षण-क्षण बदल रहा है, यह हम दूसरी जगह कह जायें हैं।

शरीर और मन (= आत्मा) दोनों बदल रहे हैं। किसी क्षणके बालकके जीवनको ले लीजिए, वह अपने पूर्वके जीवनीशके प्रभावसे प्रभावित मिलेगा। क क सीखनेसे लेकर पीचकी श्रेणियोंमें होता हुआ जब वह ५०-६० पास हो जाता है, उसके मनकी सभी परवर्ती अवस्था उसकी पूर्ववर्ती अवस्थाका परिणाम है। वहाँ हम किसी बिचली एक कड़ीको ढोव नहीं सकते। बिना सँझके गुज़रे कैसे कोई ५५-६० में पहुँच सकता है? इस प्रकार कार्य-कारण-संज्ञा जन्मसे मरण तक अटूट दिखाई पड़ती है। प्रश्न है, जब जीवन हटने लम्बे समय तक कार्य-कारण-सम्बन्धपर अवलम्बित भालूम होता है और वहाँ कोई स्थिति आकस्मिक नहीं मिलती, तो जीवनके आरम्भमें उसमें कार्य-कारण नियमको अस्वीकार कर क्या हम उसे आकस्मिक नहीं मान रहे हैं? आकस्मिकता कोई सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि उसमें कार्य-कारणके नियमोंसे ही हनकार कर देना होता है, जिसके बिना कोई बात सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि कहें—माता-पिताका शरीर जैसे अपने अनुरूप पुत्रके शरीरको जन्म देता है, वैसे ही उनका मन तदनुसार पुत्रके मनको जन्म देता है, तो कुछ हद तक ठीक होनेपर भी यह बात सर्वथा ठीक नहीं बैठती। यदि ऐसा होता, तो मनुबुद्धि माता-पिताओंको प्रतिभाशाली पुत्र, ऐसे ही प्रतिभाशाली माता-पिताओंको

मन्दबुद्धि पुत्र न उत्पन्न होते। पंडितकी सन्तान मूर्ख बहूना देखी जाती है। ये विकर्ते हट जाती हैं, यदि हम जीवन-प्रवाहको इस शरीरके पहलेसे मान लें। फिर तो हम कह सकते हैं, हर एक पूर्व जीवन परवर्ती जीवनको निर्माण करता है। जिस प्रकार ज्वानसे निकला लोहा, पिघलाकर बना कच्चा लोहा और अनेकों बार ढंका और गरम करके बना फौलाद तीनों ही लोहे हैं, तो भी उनमें संस्कारकी भाँसा जैसी क्रम-उत्पाद है, उसीके अनुसार हम उन्हें कम-अधिक संस्कृत पाते हैं। प्रतिभाशाली घालककी बुद्धि फौलादकी तरह पहलेके चिर-अभ्याससे सुसंस्कृत है। मानसिक अभ्यासका यद्यपि स्मृतिके रूपमें सर्वथा उपस्थित रहना अत्यावश्यक नहीं है, परन्तु तदनुसार न्यूनधिक संस्कृत होना तो बहुत जरूरी है। इस क्रममें भी कालेज छोड़नेके बाद, कुछ ही वर्षोंमें पाठ्य-पुस्तकोंके खटे हुए बहुतसे नियम, सूत्र भूल जाते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सारे अध्ययनका परिश्रम व्यर्थ जाता है। सारे वर्षोंमें कुछ दिन रखकर भिकाल लिये गये थोकी भौंति, भूल जानेपर भी जो विद्याध्ययन-संस्कार मनके भीतर समा गया रहता है, वही शिवाका फल है। कालेज छोड़े वर्षों हो जाने, एवं पढ़ी बातोंको भूल जानेपर भी, जैसे मनुष्यकी मानसिक संस्कृति उसके पूर्वके विद्याभ्यासको प्रमाणित करती है; उसी प्रकार दीशवमें झलकनेवाले प्रतिभाको क्यों न पूर्वके अभ्यासका परिणाम माना जाय? वस्तुतः आनुवंशिकता और वातावरण मानसिक शक्तिके बितने अंशके कारण नहीं हैं—और ऐसे अंश काफी हैं (मेधाविता-मन्दबुद्धिता, भद्रता-दुर्वासता आदि कितने ही अपैरुक्त गुण मनुष्यमें अक्सर दिखाई पड़ते हैं) उनका कारण इससे पूर्वके जीवन-प्रवाहमें ढूँढ़ना पड़ेगा। एक तरफ़ सबी तपस्यामें अध्ययन कर जिस समय उत्तम छेणोंमें एम०ए० पास करता है, उसी समय अपने परिश्रमका पारितोषिक पाये बिना उसका यह जीवन समाप्त हो जाता है। उसके इस परिश्रमको शरीरके साथ चिनट हो गया माननेकी अपेक्षा क्या यह अच्छा नहीं है कि उसे प्रतिभाशाली शिशुके साथ जोड़ दिया जाय? अशिक्षित माता-पिताके असाधारण गणितज्ञ, संगीतज्ञ शिशु देखे गये हैं। उक्त क्रमसे विचारनेपर हमें मालूम होता है कि हमारा इस शरीरका जीवन-प्रवाह एक सुदीर्घ जीवन-प्रवाहका छोटासा बीचका अंश है, जिसका पूर्वकालीन प्रवाह चिरकालसे आ रहा है, और परकालीन भी चिरकाल तक रहेगा। चिरकाल हो हम कह सकते हैं, क्योंकि अनन्तकाल कहनेपर अनन्तकालसे संचित शक्तिमें कुछ वर्षोंका संचित संस्कार कोई विशेष प्रभाव नहीं रख सकता, जैसे सारा समुद्रमें एक छोटीसी मिश्रीकी कड़ी। जीवनमें हम प्रभाव होता देखते हैं, और व्यक्ति और समाज बेहतर बननेकी इच्छा रखकर तभी प्रयत्न कर सकते हैं, यदि जीवनकी संस्कृतिको अनन्तकालसे प्रयत्न नहीं, बल्कि एक परिमित कालके प्रयत्नका परिणाम मान लें। वस्तुतः अनन्तकाल और अकाल दोनों ही मिश्र-भिन्न मानसिक संस्कृतियोंके भेदको आकस्मिक बना देते हैं। जीवन-प्रवाह इस शरीरसे पूर्वसे आ रहा है, और पीछे भी रहेगा, तो भी अनादि और अमन्त नहीं है। इसका आरम्भ कृष्ण या स्वर्णचरतासे है, और कृष्णके क्षयके साथ इसका क्षय हो जाता है।

जीवन-प्रवाहको इस शरीरसे पूर्व और पश्चात् काल भी माननेपर हम निकम्मे-से-निकम्मे आदर्शोंकी भी बेहतर बननेकी आशा दिख सकते हैं। किसी ऊँचे आदर्शके लिए, लोक, समाज या दूसरे व्यक्तिके उत्कर्षके लिए, तभी अपने इस जीवनका उत्सर्ग तक कर देनेवाले पुरुषोंकी पर्याप्त संख्या मिल सकती है। तभी मनुष्य अपने अन्धे-धुरे कर्मोंके दायित्वको पूरी तरह समझकर दूसरेके अपकारसे अपनेको रोकनेके लिए तैयार हो सकता है। सम्राजके हितके लिए व्यक्तियोंका आत्म-प्रतिदानके लिए तैयार रहना एवं समाजके अपकार करनेसे व्यक्तियोंका आत्म-तिग्रह ये दोनों बातें लोकको बेहतर बनानेके लिए अनिवार्यतया आवश्यक हैं। लोकशक्ति वस्तुतः इन्हीं दो

बातोंपर निर्भर है। इसी शरीरको आदिम और अन्तिम भान लेनेपर उन दोनों बातोंके लिए आदर्शको प्रेरक वस्तुका अत्यन्ताभाव यदि नहीं, तो इतना अभाव इकट्ठा हो जायगा, जिससे ऊपर खड़ेकी गति रुक जायगी, और फलतः पीछेकी ओर गिरावट आरम्भ हो जायगी।

बुद्धकी शिक्षा और दर्शन इन चार सिद्धान्तोंपर अवलम्बित हैं। पहले तीनों सिद्धान्त बौद्धधर्मको दुनियाके अन्य धर्मोंसे पृथक् करते हैं। ये तीनों सिद्धान्त जगद्वाद और बुद्ध-धर्ममें समान हैं, किन्तु चौथी बात, अर्थात् जीवन-प्रवाहको इसी शरीर तक परिलीमित न मानता, इसे जगद्वादसे पृथक् करता है, और साथ ही व्यक्तिके लिए भविष्यको आशामय बनानेका यह एक सुन्दर उपाय है, जिसके बिना किसी आदर्शवादका कार्यरूपमें परिणत होना दुष्कर है।

चारों सिद्धान्तोंमें पहले तीन, तीन धर्मी परतन्त्रताओंसे स्तुष्यको मुक्त कराते हैं। चौथा आशामय भविष्यका सन्देश देता है और शील-सदाचारके लिए नींव धनता है। चारोंका जिसमें एकत्र सम्मेलन है, वही बुद्ध-धर्म है।

राहुल सांकृत्यायन

सुत्तन्त(= सूत्र)-सूची

नाम	विषय	पृष्ठ
१-मूल-परिभाषक		१-२०१
१ (१) मूल-परिभाष-वग्ग		३-४०
१ (१) मूलपरिभाष-सुत्तन्त	अज्ञानियोंकी दृष्टि	३
२ (२) सम्भासव	चित्त-भलका दामन । अनात्मवाद ।	६
३ (३) धम्मदापाद्	धर्मके वारिस बनो, विच्छेद नहो । सम्पन्न भागी ।	१०
४ (४) मयभेरव	मय-भूत । संभ्रोहन । विघावें ।	१३
५ (५) अगङ्गण	चित्त-भलवाले चार व्यक्ति । मिथुपनका भ्रम ।	१७
६ (६) आर्कलेय	मिथु-नियमोंका ग्रहण । ध्यान । प्रज्ञा । भवसागरके बंधन ।	२२
७ (७) वत्थ	चित्त-भलोंका दुस्परिणाम । उपक्लेष । मैत्री आदि भावनायें । तीर्थ स्नान ल्यर्थ ।	२४
८ (८) मल्लेख	यथार्थ तप	२७
९ (९) तम्मदिट्ठि	दुष्प, पाप अष्टांगिक मार्ग । प्रतीत्य-समुत्पाद् ।	३०
१० (१०) सतिपट्ठान	काय, मन आदिकी भावनायें । बोधिलामके ढंग । आर्यसत्य ।	३५
२ (१) सीहनाद-वग्ग		४१-५८
११ (१) चूल-सीहनाद	उपादान या आसक्तिका त्याग । निदान या प्रतीत्य-समुत्पाद् ।	४१
१२ (२) महा-सीहनाद	बुद्ध-जीवनी (तपस्यायें । अचलक-व्रत । आहार-शुद्धि) ।	४४
१३ (३) महा-दुक्खवज्जन्य	भोगोंके दुस्परिणाम । राज-दुःख ।	४३
१४ (४) चूल-दुक्खवज्जन्य	भोगोंके दुस्परिणाम । भोगोंके कारण दुष्कर्म । सुखसे मुक्त अप्राप्य-मतवाद ।	५७
१५ (५) अनुमान	दुर्वचनके कारण और उनके हटानेके उपाय ।	६१
१६ (६) वेतोमिल	चित्तके काँटे । जड़ियाँ ।	६५
१७ (७) वनपत्थ	कैसा अरण्य-वास करना चाहिये ?	६८
१८ (८) मङ्ग-पिट्ठिक	विषयोंके स्पर्श, उत्पत्ति और परित्याग ।	७०

[भ]

क्र.	नाम	विषय	पृष्ठ
१९	(९) द्वेषावितक	चित्तमल्लोका शमन । ध्यान । अहोमिक मार्ग ।	७४
२०	(१०) वितक-संशान	राग-द्वेष-मोहके हटानेका उपाय ।	७७
३ (१) मोक्षन-वग			७९-१२६
२१	(१) ककचूपम	भारेसे चीरे जाने पर भी शांत रहना, शांति है ।	७९
२२	(२) जलमद्बूपम	साँप पकड़नेकी सावधानी उपदेश ग्रहणमें भी अपेक्षित है । अनात्मवाद ।	८४
२३	(३) तमिक	पुरुषकी निर्वाण-प्राप्तिमें बाधाएँ	९२
२४	(४) रथविनीत	ब्रह्मचर्यके गौण और मुख्य उद्देश्य । विशुद्धियाँ ।	९४
२५	(५) विवाप	संसारके शिकार होनेसे बचनेका उपाय ।	९८
२६	(६) पात्सरसि	बुद्ध-जीवनी (गृहत्यागसे चर्म-चक्र प्रवर्तन तक) ।	१०२
२७	(७) बूल-इत्थिपदोपम	यथार्थ गुण और उसकी मोक्षोपयोगिनी शिक्षाएँ ।	१११
२८	(८) महा-इत्थिपदोपम	उपादान-स्कोधोसे मुक्ति । प्रतीत्य-समुत्पाद ।	११७
२९	(९) महा-सारोपम	मिथु-जीवनका वास्तविक उद्देश्य ।	१२१
३०	(१०) बूल-सारोपम	" "	१२४
४ (४) महा-वसक-वग ।			१२७-६७
३१	(१) बूल-गोसिग	अतुरुद्ध आदिकी सिद्धाई ।	१२७
३२	(२) महा-गोसिग	कैसे पुरुषसे तपोभूमि शोभित होती है ?	१३०
३३	(३) महा-गोपालक	बुद्ध-धर्ममें सफलभूत होनेके लिये आवश्यक व्यासह बातें ।	१३३
३४	(४) बूल-गोपालक	सुमुमुक्षुओंकी श्रेणियाँ ।	१३६
३५	(५) बूल-सचक	आत्मवाद-संदेह, अनात्मवाद-संदेह ।	१३८
३६	(६) महा-सचक	कायाकी साधना नहीं, मनकी साधना ।	१४४
३७	(७) बूल-सपहा-संख्य	तृष्णाके अवनका उपाय ।	१४८
३८	(८) महा-सपहा-संख्य	" (अनात्मवाद, चर्म वेदोकी मॉति पार होने-के लिये है, पकड़ रखनेके लिये नहीं है । प्रतीत्य-समुत्पाद । जीवन-प्रवाह—सर्ग, बाल्य, यौवन, संन्यास, शोक-समाधि) ।	१५१
३९	(९) महा-अस्तपुर	अमन-आह्वन धननेका रंग ।	१६१
४०	(१०) बूल-अस्तपुर	" "	१६५
५ (५) बूल-वसक-वग ।			१६८-२०१
४१	(१) सालेय	काय-वचन-मनके सदाचार और दुराचार से शुभति, दुर्गति ।	१६८
४२	(२) वेरजक	" "	१७२
४३	(३) महावेदल	प्रज्ञाहीन, प्रज्ञानाद् । प्रज्ञा, विज्ञान । वेदना, संज्ञा, शोक, समाधि, प्रज्ञा, जायु, उष्मा और विज्ञान ।	१७३

[म]

क्र.सं.	नाम	विषय	पृष्ठ
४४ (४)	चूल-वेदक	आत्मवाद-त्याग । उपादान-संकष । अष्टांगिक- भार्ग । संज्ञावेदित-निरोध । स्पर्श, वेदना, अनुभव ।	१७९
४५ (५)	चूल-वग्म समादान	चार प्रकारके धर्मानुपायी ।	१८४
४६ (६)	महावग्म-समादान	धर्मानुपायियोंके भेद ।	१८५
४७ (७)	वीमंसक	गुरुकी परीक्षा ।	१८९
४८ (८)	कोरसिव	मेल जोलके लिये उपयोगी छः बातें ।	१९१
४९ (९)	प्रज्ञा-निर्मातृक	बुद्धद्वारा सृष्टिकर्ता ईश्वर मध्याका अपमान ।	१९४
५० (१०)	भार-उत्तमोप	मान-अपमानका त्याग (= बहुसंघ बुद्धका उपदेश) । महाभौतगण्ययनका भारको फटकारना ।	१९८

२—मज्झिम-पगगासक

क्र.सं.	नाम	विषय	पृष्ठ
५१ (१)	कन्दरक	स्मृति-व्यवधान । आत्मतत्त्व आदि चार पुरुष ।	२०५
५२ (२)	अट्टक नामर	स्वाराह अमृत द्वार (ज्ञान)	२०८
५३ (३)	सेव	सदाचार, इन्द्रिय संयम । परिमित भोजन । जागरण । सहर्म । ज्ञान ।	२१०
५४ (४)	पोतलिय	अपहार (= संसारके जंजाल)के उच्छेदके उपाय ।	२१४
५५ (५)	जीवक	मांस-भोजनमें नियम	२२०
५६ (६)	उपालि	मन हो प्रधान, काया और चयन मौन ।	२२२
५७ (७)	कुलकुल-वर्तिक	निरर्थक मत । चार प्रकारके कर्म	२३१
५८ (८)	गमय राजकुमार	कामदायक अश्रिय सत्यको भी बोलना चाहिये ।	२३४
५९ (९)	चतुर्वेदनीय	नीर-धीरसा मेल-जोल । संज्ञा वेदित-निरोध ।	२३७
६० (१०)	अपण्णक	द्विविधा-रहित धर्म । अस्तिवाद आदि मत-वाद । आत्मतत्त्व आदि चार पुरुष ।	२३९

क्र.सं.	नाम	विषय	पृष्ठ
६१ (१)	अम्यलट्टिक-राहुलोवाद	सिध्दा भाषणकी गिनदा	२४५
६२ (२)	सहा-राहुलोवाद	प्राणायाम । कायिक भावना । मैत्री आदि भावनाओं ।	२४८
६३ (३)	चूल-आलुङ्कय	बुद्धने क्यों कुछ बातोंको न व्याख्यायित, और कुछ को व्याख्यायित कहा ।	२५१
६४ (४)	महा-आलुङ्कय	संसारके यंजन और उनसे मुक्ति ।	२५४
६५ (५)	महालि	नियमित जीवनकी उपयोगिता । कर्मणः शिक्षा ।	२५७
६६ (६)	लङ्कटिकोपम	जोटी बात भी भारी हानि पहुँचा सकती है ।	२६२
६७ (७)	चातुम	मिथुनके चार चित्र ।	२६५
६८ (८)	मलकधान	सुमुखके कर्तव्य ।	२७१
६९ (९)	गुलिस्तानि	अरण्य-जाल अर्थ, यदि संयम नहीं ।	२७३

क्रमांक	नाम	विषय	पृष्ठ
७०	(१०) कौटिलीय	संयम । सात प्रकारके पुरुष । लोभी पुरुष	२७५
	८ (२) परिभाषक-वर्ग		२७५-२७४
७१	(१) तेजिक-वच्छगोत	बुद्ध अपनेको सर्वज्ञ नहीं मानते । तीन विचार्ये । सुगतिके उपाय ।	२७९
७२	(२) अग्नि-वच्छगोत	अतर्वादोंका संघन । १० अ-व्याख्येय । आगके बुझने जैसा निर्वाण ।	२८३
७३	(३) महा-वच्छगोत	निर्वाणगामी मार्ग और निर्वाण प्राप्तिका उपाय ।	२८४
७४	(४) दीघनख	अत-वादोंका दुराग्रह । काया अपनी नहीं । सभी अनुसय अनित्य ।	२८९
७५	(५) आगन्दिव	इन्द्रिय-संयम । ऊपर जानेपर नीचेका सुख कीका ।	२९२
७६	(६) सन्दक	व्यर्थ और असन्तोषकर संन्यास । अ-विद्यावाद वादि मत । विचार्ये । अर्हत्का ज्ञान ।	२९९
७७	(७) महा-सकुलदासि	उपदेशमें वास्तविक अज्ञा कैसे होती है ? बुद्धपद के उपयोगी धर्म ।	३०५
७८	(८) समण-मंडिक	सुकर्मों पुरुष ।	३१४
७९	(९) सूत्र-सकुलदासि	जैनोंका सिद्धान्त । परिभाषकोंका सिद्धान्त । सुखसय छोड़का मार्ग ।	३१८
८०	(१०) वेत्तणस	परिभाषकोंका सिद्धान्त । पूर्वान्त, अपरान्तके सिद्धान्त ।	३२३
	९ (४) राख-वर्ग		३२५-७२
८१	(१) छटिकार	त्याग-सय गृहस्थ-जीवन ।	३२५
८२	(२) रट्टपाज	त्याग-सय भिक्षु-जीवन । भोगोंकी असारता ।	३३०
८३	(३) यत्थादेव	कल्याण-मार्ग ।	३३८
८४	(४) माधुरिय	वर्ण-व्यवस्था (= वातिवाद) का खंडन ।	३४०
८५	(५) बोधि राजकुमार	बुद्ध-जीवनी (गृहस्थायसे बुद्धत्व-प्राप्ति तक) ।	३४४
८६	(६) अंगुलिमाल	अंगुलिमालका जीवन-परिवर्तन (स्वयंके भ्राता पामको रास्ते पर) ।	३५३
८७	(७) पिय-जातिक	प्रियोंने भ्रोक, दुःखकी उत्पत्ति ।	३५८
८८	(८) वाहीतिय	बुद्ध निन्दित कर्म नहीं कर सकते ।	३६१
८९	(९) धम्मवेतिय	भोगोंके दुष्परिणाम । बुद्धकी प्रज्ञा ।	३६४
९०	(१०) कण्णदधलक	सर्वज्ञता असंभव । वर्ण-व्यवस्था-खंडन । देव, मन्ना ।	३६८
	१० (५) आक्षान्त-वर्ग		३७३-४२३
९१	(१) मझाबु	महापुरुष-लक्षण । बुद्धका रूप, गमन, धर्म प्रवेश, भोजनका ढंग । आक्षान्त, वेदगू आदिकी व्याख्या	३७३
९२	(२) सेल	बुद्धके गुण । सेल आक्षान्तका सन्वाह ।	३८१
९३	(३) अस्सकायण	वर्ण-व्यवस्थाका खंडन ।	३८६

क्रमांक	नाम	विषय	पृष्ठ
९४ (३)	घोटमुण	आत्मतप आदि चार पुरुष ।	३९१
९५ (५)	चंद्रि	बुद्धके गुण । आछणोंके वेद और कथि । सत्यकी रक्षा और प्राप्ति ।	३९५
९६ (६)	फासुकारि	वर्ण-व्यवस्थाका खंडन ।	४०५
९७ (७)	धर्मजानि	अपना अपना किया अपने अपने साथ ।	४०७
९८ (८)	वालेट्ट	वर्ण-व्यवस्थाका खंडन ।	४०९
९९ (९)	सुम	गृहस्थ और संन्यासकी तुलना । अछणोंका मार्ग ।	४१४
१०० (१०)	संगारव	बुद्धकी तपधर्या ।	४२३

३-उपरि-परखासक ।

४२५-६०९

११ (१) देवदह-वग्ग

४२५-६५

१०१ (१)	देवदह	काविक तपस्याकी निष्कारता । मानस तप ही काम-प्रद । मिश्र-भावसका सुख ।	४२७
१०२ (२)	पंचसव	आत्मवाद आदि नाना मतवाद ।	४३३
१०३ (३)	किन्ति	भैल-जोहका डह ।	४३८
१०४ (४)	शामगास	बुद्धके मूल उपदेश । संक्रमे विवाद होनेका कारण । सात प्रकारके फैसले । भैल-जोहका डह ।	४४१
१०५ (५)	सुनकलष	ध्यान । चित्त-संयम ।	४४५
१०६ (६)	आनंजलपपाय	भोग निस्तार है ।	४४९
१०७ (७)	मल्ल-मोमालान	कमल; धर्ममें प्रगति ।	४५२
१०८ (८)	गोपक-मोमालान	बुद्धके बाद मिश्रबोद्धा मार्ग-देष्टा	४५५
१०९ (९)	महा-पुण्यम	स्कंध । आत्म-वाद-खंडन	४६०
११० (१०)	मूल-पुण्यम	सत्पुरुष और अ-सत्पुरुष	४६३

१२ (२) अमुपल-वग्ग

४६६-५००

१११ (१)	अनुपद	सारिपुत्रके गुण—ब्रह्मा, समाधि आदि	४६६
११२ (२)	अन्धिलोपन	अईश्वरी पहिचान	४६९
११३ (३)	सत्पुसि-धम्म	सत्पुरुष और अ-सत्पुरुष	४७१
११४ (४)	सेवनीय-नसेवनीय	सेवनीय, अ-सेवनीय	४७५
११५ (५)	बहुधातुक	धातुयें । छि-प्राप्त पुरुष । स्थान-अस्थानका जानकार	४७९
११६ (६)	इतिगिणि	कथिगिरिके ब्रह्मेकबुद्ध	४८३
११७ (७)	महा-वत्तारीसक	छोक समाधि आदि	४८६
११८ (८)	आनापान सति	प्राणायाम । ध्यान	४९०
११९ (९)	कायगता सति	कायायोग	४९४
१२० (१०)	संसारुपति	पुण्य-संस्कारोंका विषाक	४९८

१३ (३) सुण्यता-वग्ग

५०१-५४२

१२१ (१)	चूल-सुण्यता	चित्तकी शून्यताका योग ।	५०१
१२२ (२)	महा-सुण्यता	" "	५०४

[ल]

नाम	विषय	पृष्ठ
१२३ (३) अष्टांशिय यम	कुद कहाँ और कैसे उत्पन्न होते हैं ?	५०९
१२४ (३) धनुकुल	धनुकुलका त्यागभय मित्र-जीवन ।	५१२
१२५ (५) दन्त भूमि	चित्तकी एकाग्रता । संयमकी शिक्षा ।	५१५
१२६ (६) भूमिज	उचित रीतिसे पालन किया ब्रह्मचर्यही सफल होता है ।	५२०
१२७ (७) भुवुद्ध	भावना-योग (अ-प्रमाणा वेतो-विमुक्ति) ।	५२३
१२८ (८) उपनिषदेष	कर्मका कारण और चिकित्सा । योग-युक्तिर्वा ।	५२७
१२९ (९) बाल-पंडित	नरक । पापी मूर्खके कर्म । स्वर्ग । चक्रवर्ती राजा ।	५३२
१३० (१०) देवकृत	नरक वर्णन ।	५३९
३४ (४) विमंग-व्यास		५४३-५८१
१३१ (१) भदेकरस	भूत-भविष्यकी चिन्ता छोड़ वर्तमानमें लगे ।	५४३
१३२ (२) आनन्द-भदेकरस	"	५४५
१३३ (३) महाकथापन-भदेकरस	" (सविस्तर)	५४६
१३४ (३) लोमसकथित-भदेकरस	"	५५०
१३५ (५) पूल-कम्मविमंग	कर्मोंका फल	५५२
१३६ (६) महा-कम्मविमंग	"	५५५
१३७ (७) सदायतन-विमंग	आयतन । कामना और निष्कायना । स्मृति-प्रस्थान	५६०
१३८ (८) उद्देश-विमंग	इन्द्रिय-संयम । ध्यान । अ-परिग्रह ।	५६४
१३९ (९) अरण्य-विमंग	सुसुषुप्ती चर्चा ।	५६७
१४० (१०) धातु-विमंग	धातुओंका विभाग । मनकी साधना ।	५७२
१४१ (११) सद्य-विमंग	चार आर्य-सत्य ।	५७८
१४२ (१२) वृत्तिव्यापन-विमंग	संघ, व्यक्तिसे ऊपर है ।	५७९
३५ (५) सदायतन-व्यास		५८१-६०९
१४३ (१) अनाद्यपिडिकोवाद	अनाद्य-पिडिककी श्रुति । अनाद्यार्क योग ।	५८९
१४४ (२) छत्रोवाद	अनात्म-वाद । छत्रकी आत्म-हत्या ।	५८५
१४५ (३) पुण्योवाद	धर्म-प्रचारककी सहिष्णुता और त्याग ।	५८८
१४६ (४) नन्दकोवाद	अनात्म-वाद । बोधार्थ ।	५९०
१४७ (५) पूल राहुकोवाद	अनात्म-वाद ।	५९५
१४८ (६) छ-ज्जक	इन्द्रिय, विषय, विज्ञान और तीनोंका समागम ।	
	अनात्मवाद (सविस्तर) ।	५९७
१४९ (७) महा-सदायतन	वृष्णा और दुःख ।	६०१
१५० (८) नगर-चिन्देव्य	सत्कारके पात्र ।	६०३
१५१ (९) पिण्डपात-पारिमुत्ति	विषयोंका त्याग । स्मृति-प्रस्थान आदि भावनाओं ।	६०५
१५२ (१०) इन्द्रियभावना	इन्द्रिय-संयम ।	६०७

सुत्तन्त-(= सूत्र) अनुक्रमणी

	संख्या		संख्या
अंगुलिमात्र सुत्तन्त	८६	कायगता धति	११९
अच्छरिय-धम्म	१२३	किति	१०३
अट्टक नामर	५२	कीदागिरि	७०
अर्तगण	५	कुङ्कुरवृत्तिय	५७
अनापदिट्ठिकोपाद्	१७३	कोसंबक	७८
अनुपद्	१११	गुलिस्सानि	६९
अनुमान	१५	गोपालक । चूल-	३४
अनुरुद्	१२७	" । महा-	३३
अपणक	६०	गोसिग । चूल-	३१
अमयराजकुमार	५८	" । महा-	३२
अरणविभंग	१३९	धट्टिकार	८१
अलागइ	२२	घोदमुल्ल	९४
अस्सुर । चूल-	४०	संकि	९५
" । महा-	३५	अजारीसक । महा-	११७
अस्सलायण	९३	आहुम	६७
आरिस्सेव	६	केतोविल	१६
आनंजसपाय	१०६	कुल्लकक	१७६
आनापावसति	११८	कपोपाद्	१४४
इन्द्रियमावना	१५२	कब्बिसोधन	११२
इसिगिलि	११६	खोवक	५५
उदेसकिंग	१३८	तण्हासंवाय । चूल-	३७
उपकिसेस	१२८	" । महा-	३८
उपासि	५६	दस्सिणाविभंग	१०२
ककचूपम	२१	दन्तभूमि	१२५
कण्णवधल्लक	९०	दीघमण	७४
कन्दरक	५१	दुक्खकर्त्तव । चूल-	११
कस्मविभंग । चूल-	१३५	" । महा-	१३
" । महा-	१३६	देवदह	१०१

[श]

	संख्या		संख्या
देवदूत	१३०	मधुपिचिक	१८
द्वैधाधितक	१९	मार्गद्विष	७५
धम्मपेत्तिव	८९	माधुरिय	८४
धम्मदापाद	३	मार-तज्जनिव	५०
धम्मसमादान । तुल-	४५	भालुक्क । तुल-	६३
" । महा-	७६	" । महा-	६५
आहुविमंग	१४०	मूलपरिवाय	१
धामंजानि	९७	मोन्नलान । गणक-	१०७
जगार विदेव	१५०	" । गोपक-	१०८
नन्दकोवाय	१४६	रट्टपाल	८२
नल्लपान	६८	रवविनीत	२४
निवाप	२५	राहुकोवाद	१४७
राँवलथ	१०२	" । अंबलट्टिका-	६१
वासरावि	२६	" । महा-	६२
पिडपात-पानिसुद्धि	१५१	लङ्कुरिकोपम	६६
पियज्जात्तिक	८७	सुच्छमोष । अग्नि-	७२
पुण्यम । तुल-	११०	" । तेविज्ज	७१
" । महा-	१०९	" । महा-	७३
पुण्योवाय	१४५	वन्ध	७
पोल्लिय	५७	वमयत्थ	१७
फाभुकारि	९६	धम्मिक	२३
धक्कल	१२४	वासेट्ट	९८
धहुधम्मक	११५	वित्तकसंठान	२०
धम्मेश्वरीय	५९	वीर्यमक	४७
पाल-वहित	१२९	वेक्कणस	८०
वाहोत्तिव	८८	वेदल । तुल-	४४
वाचिराजकुमार	८५	" । महा-	४३
वक्कनिभंतणिक	४९	वेरंजक	४२
वक्कायु	५१	सुद्धद्वयि । तुल-	७९
अराणि	६५	" । महा-	७७
अरेकरत्त	१३१	अस्साकपति	१२०
" । आनन्द-	१३२	अंगारव	१००
" । महाकल्पावन-	१३३	अक्क । तुल-	३५
" । सोमसकंगिय-	१३४	" । महा-	३६
अमभेरव	४	अक्कविमंग	१४१
अम्मिज	१२६	अत्तिपट्टान	१०
अप्पवेव	८३	संदक	७६

[प]

संख्या	संख्या
सत्पुत्रि-धम्म	११३ " । महा— १२
सुब्बासप	९ सुब्बासा । चूल— १२१
सम्मगंढिक	७८ " । महा— १२२
सम्मोद्धि	९ सुत्तकथ
सत्तेस	८ सुत्त
सत्तायतवविर्भंग	१२७ सुत्त (= चूलकम्मविर्भंग) १२५
सत्तायतनिक । महा—	१५९ सेत्त १५३
सम्मगाम	१०४ सेत्त १५५
सत्तोपम चूल—	३० सेवित्तव्य- न सेवित्तव्य ११४
" । महा—	३९ हत्तिपदोपम (चूल— २७
सत्तेय्यक	३१ " । महा— २८
सोइनाइ । चूल—	११

वर्ग-अनुक्रमणी

	संख्या		संख्या
अनुपद	१२ (३।२)	धर्मक । चूल्—	५ (१।५)
ओषध	३ (१।३)	" महा—	४ (१।४)
गङ्गापति	६ (२।१)	राज	९ (२।७)
देवदह	११ (३।१)	विभंग	१७ (३।७)
परिव्याजक	८ (२।३)	सकायतन	१५ (३।५)
प्राण	१० (२।५)	सीहनाज	२ (१।२)
मिथु	७ (२।२)	मुष्मता	१३ (३।३)
भूजपरिचाय	१ (१।१)		

विषय-सूची

१—प्राक्-कथन	क—ड
२—सूचिका	ख—घ
३—सुचना-सूची	ग—झ
४—सुचना-अनुक्रमणी	च—प
५—वर्ग-अनुक्रमणी	ल
६—नाम-चित्र	ह
७—अंधारुवाद	१—६०९
८—उपमा-अनुक्रमणी	६११—६१३
९—नाम-अनुक्रमणी	६१४—६२६
१०—शब्द-अनुक्रमणी	६२७—

मूल-परणासक

[प्रथम-पञ्चाशक १-५० सूत्र]

12

12 12 12

मज्झिम-निकाय

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा संबुद्धस

१-मूलपरियाय-सुत्तन्त (१।१।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् उज्जुल्लूके सुभगवान्में सल्लयज्जके नीचे विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओं !”

“अहन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओं ! सारे धर्मोंके मूल नामक (= मूलपरियाय) (उपदेस) को तुम्हें उपदेसता हूँ । उसे सुनों, अच्छी तरह मनमें (धारण) करो, कहता हूँ ।”

“हाँ, भन्ते !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओं ! आर्योंके दर्शनसे वंचित, आर्यधर्मसे अपरिचित, आर्यधर्ममें अविनीत (= न पहुँचे); सत्पुरुषों के दर्शनसे वंचित, सत्पुरुषोंके धर्मसे अपरिचित, सत्पुरुषोंके धर्ममें अविनीत; अश्रुतवान् (= अज्ञ), पृथग्जन (= अवाची) पृथ्वीको पृथ्वीके तौरपर समझता है, पृथ्वीको पृथ्वीके तौरपर समझकर पृथ्वी मानता है, पृथिवी-द्वारा मानता है, पृथिवीसे मानता है, पृथ्वी मेरी है—मानता है, पृथ्वीका अभिनन्दन करता है। सो किसलिये ?—उसे दीकते भाव्य नहीं है—कहूँगा। पानीको पानीके तौरपर समझता है ० । तेजको तेजके तौरपर समझता है ० । वायुको वायुके तौरपर समझता है ० । भूतों (= गूढ-प्रेतों)को भूतके तौरपर समझता है ० । देवताओंको देवताके तौरपर समझता है ० । प्रजापतिको प्रजापतिके तौरपर समझता है ० । ब्रह्माको ब्रह्माके तौरपर समझता है ० । आभास्वर (देवताओं)को आभास्वरके तौरपर समझता है ० । सुमकिण्ड (= सुमहत्त्व देवताओं)को, सुमकिण्डके तौरपर समझता है ० । वेहण्डल (= वृहत्फल देवताओं)को वेहण्डलके तौरपर समझता है ० । अभिभू (देवता)को अभिभूके तौरपर समझता है ० । आकासानंचायतन (= अनन्त आकाशके निवासी देवताओं)को आकासानंचायतनके तौरपर समझता है ० । विज्जानंचायतन (= अनन्त विज्ञान जिनका घर है, उन देवताओं)को विज्जानंचायतनके तौरपर समझता है ० । आकिञ्चव्यायतन (= जिनका आयतन कुछ नहीं है, उन देवताओं)को आकिञ्चव्यायतनके तौरपर समझता है ० । नेवसज्जानासज्जायतन [= जिनको न संज्ञा (= होश) है, न असंज्ञा, उन देवताओं]को नेवसज्जानासज्जायतनके तौरपर समझता है ० । इट्ट (= देखे)को इट्टके तौरपर समझता है ० । भूत (= सुने)को भूतके तौरपर समझता है ० । स्मृत (= यादमें आये)को स्मृतके तौरपर समझता है ० । विज्ञात

१ जहाँ (०) किन्तु दो, वहाँ पहिले ओर ताकवन्मूर्खको दुरगुण। चाहिये ।

(= जाने गये) को विज्ञानके तौरपर समझता है ० । एकत्व (= अकेलेपन) को एकत्वके तौरपर समझता है ० । नानात्व (= अनेकपन) को नानात्वके तौरपर समझता है ० । सर्व (= सारे) को सर्वके तौरपर समझता है ० । निर्वाणको निर्वाणके तौरपर समझता है, निर्वाणको निर्वाणके तौरपर समझकर निर्वाणको मानता है, निर्वाणद्वारा मानता है, निर्वाणसे मानता है, निर्वाण मेरा है—मानता है, निर्वाणको अभिनन्दन करता है । सो किसलिये ?—उसे ठीकसे मालूम नहीं है—कहूँगा ।

अज्ञानात् पुनश्चनके द्वारा प्रथम भूमिपरिच्छेद ।

“भिक्षुओ ! वह भिक्षु भी, जोकि संस्र (= सैश्य^१ = जिसको अभी सीखना बाकी है) पहुँचे-हुये-जनवाला नहीं है, सर्वोत्तम योगक्षेम (= कल्याणकारी पद) की चाहमें विहरता है; वह भी पृथ्वीको पृथ्वीके तौरपर समझता है; पृथ्वीको पृथ्वीके तौरपर समझकर या तो पृथ्वी मानता है, या पृथ्वीद्वारा मानता है, या पृथ्वीसे मानता है, या पृथ्वी मेरी है—ऐसा मानता है, या पृथ्वीका अभिनन्दन करता है । सो किसलिये ?—(अभी) उसे ठीकसे मालूम करता है—कहूँगा । पानीको ० । तेजको ० । वायुको ० । भूतोंको ० । देवताओंको ० । प्रजापतिको ० । ब्रह्माको ० । आभास्वरोंको ० । शुभकृत्स्नोको ० । बृहत्फलोको ० । अभिभूको ० । आकाशानन्दायतनको ० । विष्णुनन्दायतनको ० । आर्क्षिष्णुनन्दायतनको ० । नेवसन्धानासन्धानायतनको ० । दृष्ट ० । श्रुत ० । स्मृत ० । विज्ञात ० । एकत्व ० । नानात्व ० । सर्व ० । निर्वाण ० ।

सैश्यके द्वारा द्वितीय भूमिपरिच्छेद ।

“भिक्षुओ ! वह भिक्षु भी, जोकि अर्हत् है, क्षीणाक्षय (= राग आदिसे मुक्त), (ब्रह्मचर्य-) वास-समाप्त-कर-चुका, कृतकारणीय, न अवहितभार (= भारको फेंक चुका), सम्यग्-पदार्थको-या-चुका, भव (= संसार) के बंधनोंको काट चुका, यथार्थ ज्ञानद्वारा मुक्तही चुका है; वह भी पृथ्वीको पृथ्वीके तौर पर पहिचानता है, पृथ्वीको पृथ्वीके तौर पर पहिचानकर न पृथ्वीको मानता है, न पृथ्वीद्वारा मानता है, न पृथ्वीसे मानता है, न ‘पृथ्वी मेरी है’—मानता है, न पृथ्वीको अभिनन्दन करता है । सो किस हेतुसे ?—उसे (यह) ठीकसे मालूम है—कहूँगा । पानी ० । तेज ० । ० ।

क्षीणाक्षयके द्वारा पहिले प्रकारसे तृतीय भूमिपरिच्छेद ।

“भिक्षुओ ! वह भिक्षु भी, जोकि अर्हत् क्षीणाक्षय है ० ; वह भी पृथ्वीको पृथ्वीके तौर पर पहिचानता है ० पहिचानकर न पृथिवीको मानता है, ० । सो किस हेतुसे ?—रागके नष्ट हो जानेसे, वीतराग होनेसे—कहूँगा । पानी ० । ० ।

क्षीणाक्षयके द्वारा द्वितीय प्रकारसे चतुर्थ भूमिपरिच्छेद ।

“भिक्षुओ ! वह भिक्षु भी, जोकि अर्हत् क्षीणाक्षय है ० ; वह भी पृथिवीको पृथिवीके तौर पर पहिचानता है, ० पहिचानकर न पृथिवीको मानता है ० । सो किस वजहसे ?—द्वेषके नष्ट हो जानेसे, वीतद्वेष होनेसे—कहूँगा । पानी ० । ० ।

^१ शैश शास्त्रोंमें मनुष्योंके दो विभाग किये गये हैं । जोकि समार्गपर दृष्टः पूर्वक आरुढ़ नहीं हुये हैं, उन्हें पुनश्चन कहते हैं । जो समार्ग पर दृष्टापूर्वक आरुढ़ हैं, उन्हें अर्हत् कहते हैं । आर्क्षोमि किन्हे अभी करना और सीखना है, उन्हें सैश्य (= ज्ञोतव्यपन्न, सकृदागामी, अनगामी) कहते हैं, और जो मुक्त, कृतकृत्य हैं, उन्हें अर्हत् या अर्हत्प कहते हैं ।

श्रीगणेशके द्वारा तृतीय प्रकारसे पंचम भूमिपरिच्छेद ।

“भिक्षुओ ! वह भिक्षुओ, जोकि अर्हत् श्रीगणेश है ० ; वह भी पृथिवीको पृथिवीके तौर पर पहिचानता है, ० पहिचानकर न पृथिवीको मानता है ० । सो किस वजहसे ?—मोहके नष्ट हो जानेसे, वीलमोह होनेसे—कहूँगा । पानी ० । ० ।

श्रीगणेशके द्वारा चौथे प्रकारसे षष्ठ भूमिपरिच्छेद ।

“भिक्षुओ ! तयागत^१ अर्हत् सम्यक्संबुद्ध (= वचार्थ परमज्ञानी) भी पृथिवीको पृथिवीके तौर पर पहिचानते हैं, ० पहिचानकर न पृथिवीको मानते हैं ० । सो किस वजहसे ? तयागतने दीक्षसे ज्ञान लिया है—कहूँगा । पानी ० । ० ।

शास्ता (= उपदेष्टा=गुरु)-द्वारा पहिले प्रकारसे सप्तम भूमिपरिच्छेद ।

“भिक्षुओ ! तयागत ० भी, ० पहिचानकर न पृथिवीको मानते हैं ० । सो किस वजहसे ? मग्दी (= तृष्णा) दुःखका मूल है—ऐसा ज्ञानकर, ‘भव (= संसार)में जन्मने वालेको जरा और मरण (अवश्यभावी) है’ । इसलिये भिक्षुओ ! तयागत सारी ही तृष्णाओंके शय, विराग, निरोध, त्याग, विलज्जनसे, सर्वोत्तम सम्यक्संबोधि (= वचार्थ परमज्ञान)के ज्ञानकर (= अभिधर्मबुद्ध=संबुद्ध) हैं—कहता हूँ । पानी ० । ० ।”

शास्ताद्वारा दूसरे प्रकारसे अष्टम भूमिपरिच्छेद ।

—भगवान्ने यह कहा, (किन्तु) उस भिक्षुओंने भगवान्के भाषणका अभिगमन नहीं किया ।^१

^१ तया=जैसे (अन्य दुःख संसारमें जाये, माते हैं, या आवेगे, जैसे ही जो), आगत = आया ।

२-सव्यासव-मुत्तन्त (१।१।२)

ऐसा गैने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें जनार्थपिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“अदन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! सारे जालवों (= सव्यासव) के संवर (= रोक) नामक (उपदेश) को तुम्हें उपदेशता हूँ। उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें (धारण) करो, कहता हूँ।”

“हाँ मन्ते !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! जागते हुये देखते हुये, मैं आसवों (= सलों) के क्षय (के बारेमें) कहता हूँ, बिना जाने बिना देखे नहीं। भिक्षुओ ! क्या जान क्या देख, जाल-वोंका क्षय होना है ?—योनिस्सोमनसिकार (= ढीकसे मनमें धारण करना), और अयोनिस्सोमन-सिकार (= बेडीकसे मनमें धारण करना)। बेडीकसे मनमें (धारण) करनेसे, न-उत्पन्न आसव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न आसव बढ़ते हैं। ढीकसे मनमें (धारण) करनेसे, न-उत्पन्न आसव उत्पन्न नहीं होते, और उत्पन्न आसव नष्ट होते हैं।

“भिक्षुओ ! (१) (कोई कोई) आसव दर्शन (= विचार) से प्रहातव्य (= त्यागे जा सकते) हैं; (२) (कोई कोई) संवरने त्यागे जा सकते हैं; (३) (कोई कोई) आसव प्रतिसेवन (= सेवन) से त्यागे जा सकते हैं; (४) (कोई कोई) आसव अधिवासन (= स्वीकार) करने से त्यागे जा सकते हैं; (५) (कोई कोई) आसव परिवर्जन (= छोड़ने) से त्यागे जा सकते हैं; (६) (कोई कोई) आसव विनोदन (= हटाने) से त्यागे जा सकते हैं; (७) (कोई कोई) आसव (है, जो) भावनासे त्यागे जा सकते हैं।

१. “भिक्षुओ ! कौनसे आसव दर्शनसे प्रहातव्य हैं ?—भिक्षुओ ! अज्झ, अनादी^१ (जब) मनमें (धारण) करने योग्य धर्मों (= पदार्थों) को नहीं जानता, (और) न मनमें न (धारण) करने योग्य धर्मोंको जानता है। वह मनसिकरणीय (= मनमें धारण करने योग्य) धर्मोंको न जान, अ-मनसिकरणीय धर्मोंको न जान, जो धर्म अनसिकरणीय नहीं हैं, उन्हें मनमें (धारण) करता है, और जो धर्म अनसिकरणीय हैं, उन्हें मनमें नहीं करता।

क. भिक्षुओ ! कौनसे धर्म न मनसिकरणीय हैं, जिन्हें कि वह मनमें करता है ?—भिक्षुओ ! (जिन) धर्मोंके मनमें करनेसे उसके (भीतर) अनुत्पन्न काम-आश्रय (= कामवा रूपी मल)

^१ देखो बुध २।

उत्पन्न होता है, और उत्पन्न काम-आसन्न बढ़ता है; अनुत्पन्न भव-आसन्न (= जन्मनेकी इच्छा रूपी मल) उत्पन्न होता है, और उत्पन्न भव-आसन्न बढ़ता है; अनुत्पन्न अविद्या-आसन्न (= अज्ञान रूपी मल) उत्पन्न होता है ० । ये धर्म मनसिकरणीय नहीं हैं, जिनको कि वह मनमें करता है ।

ख. "मित्रुओ ! कौनसे धर्म मनसिकरणीय हैं; जिनको कि वह मनमें नहीं करता ?—मित्रुओ ! (जिन) धर्मोंकी मनमें करनेसे, उस (मनुष्यके भीतर) अनुत्पन्न काम-आसन्न उत्पन्न नहीं होता, और उत्पन्न नष्ट हो जाता है; अनुत्पन्न भव-आसन्न ० ; अनुत्पन्न अविद्या-आसन्न ० नष्ट हो जाता है ।—ये धर्म मनसिकरणीय हैं, जिनको कि वह मनमें नहीं करता ।

ग. "अ-मनसिकरणीय धर्मोंके मनमें करनेसे, (तथा) मनसिकरणीय धर्मोंके मनमें न करनेसे, उस (पुरुषके भीतर) अनुत्पन्न आसन्न उत्पन्न होते हैं, और उत्पन्न आसन्न वृद्धिको प्राप्त होते हैं । वह (पुरुष) इस प्रकार बेटीक तरहसे मनमें (चिन्तन) करता है—(क) क्या मैं अतीतकालमें था ? क्या मैं नहीं था अतीतकालमें ? मैं क्या था अतीतकालमें ? मैं कैसा था अतीतकालमें ? अतीतकालमें मैं क्या होकर क्या हुआ था ? (ख) क्या मैं भविष्यकालमें होऊँगा ? क्या मैं भविष्यकालमें न होऊँगा ? मैं भविष्यकालमें क्या होऊँगा ? मैं भविष्यकालमें कैसा होऊँगा ? मैं भविष्यकालमें क्या होकर क्या होऊँगा ? (ग) अब (इस) वर्तमानकालमें अपने भीतर तर्क-वितर्क करता है—मैं हूँ न ? नहीं हूँ न ? मैं क्या हूँ ? मैं कैसा हूँ ? यह सत्य (= प्राणी) कहाँ से आया है ? वह कहाँ जानेवाला होगा ?

—“इस प्रकार बेटीक तौरसे मनमें (धारण) करनेसे छ दृष्टियों (= बातों, बातों)में से कोई एक दृष्टि उसे उत्पन्न होती है—(१) 'मेरा आत्मा है', इस प्रकारकी दृष्टि सत्य और सदा (सिद्धान्त)के रूपमें उत्पन्न होती है । या (२) 'मेरे (भीतर) आत्मा नहीं है', इस प्रकारकी ० । (३) 'आत्माको ही आत्मा समझता हूँ', ० । (४) 'आत्माको ही अनात्मा समझता हूँ', ० । (५) 'अनात्माको ही आत्मा समझता हूँ', ० । अथवा (६) उसकी दृष्टि (= मत) होती है—'जो यह मेरा आत्मा अनुभवकर्ता (वेदक), (तथा) अनुभव होने योग्य है, और तहाँ तहाँ (अपने) भले बुरे कर्मोंके विपाकको अनुभव करता है; वह यह मेरा आत्मा विस्म-ध्रुव-शाश्वत, अपरिवर्तव-शील (= अविपरिणामधर्मा) है, अनन्त क्यों तक वैसा ही रहेगा' ।

—“मित्रुओ ! इसे कहते हैं दृष्टि-गत (= मतवाद) दृष्टि-गहन (= दृष्टिका घना जंगल), दृष्टिकी भङ्गमूर्ति (= दृष्टिकान्तर), दृष्टिका कटा (= दृष्टि-विच्छेद), दृष्टिकी कुटान, दृष्टिका फंदा (= दृष्टि-संयोजन) । मित्रुओ ! दृष्टिके फंदेमें कैसा भङ्ग जगायी (पुरुष) जन्म, जरा, मरण, शोक, रोदन-कंदन, दुःख-दुर्मनस्कता और हैरानियोंसे नहीं छूटता, दुःखसे परिमुक्त नहीं होता—कहता हूँ ।

“और मित्रुओ ! जो आपको दर्शनको प्राप्त, आर्यधर्मसे परिचित, आर्यधर्ममें नील (= प्राप्त) है; सत्पुरुषोंके दर्शनको प्राप्त, सत्पुरुष-धर्मसे परिचित, सत्पुरुष-धर्ममें नील, बहुभुत आर्य-आवक (= सन्मार्ग पर जाकर पुरुष,) है, वह मनसिकरणीय धर्मोंको जानता है, और अ-मनसिकरणीय धर्मोंको (भी) जानता है । वह मनसिकरणीय और अ-मनसिकरणीय धर्मोंको जान, जो धर्म मनसिकरणीय नहीं हैं, उन्हें मनमें नहीं करता; जो धर्म मनसिकरणीय हैं, उन्हें मनमें करता है ।

क. “मित्रुओ ! कौनसे धर्म मनसिकरणीय नहीं हैं...?—मित्रुओ ! (जिन) धर्मोंके

मनमें करनेसे उस (पुरुषके भीतर) अनुत्पन्न काम-आश्रय उत्पन्न होता है ०^१ । ये धर्म मनसिकरणीय नहीं हैं, जिनको कि वह मनमें नहीं करता ।

ख. “भिक्षुओ ! कौनसे धर्म मनसिकरणीय हैं, जिनको कि वह मनमें करता है ? ०^१ । ये धर्म मनसिकरणीय हैं, जिनको कि वह मनमें करता है ।

ग. “अमनसिकरणीय धर्मोंको मनमें न करनेसे, (तथा) मनसिकरणीय धर्मोंको मनमें करनेसे, उस (पुरुषके भीतर) न-उत्पन्न आश्रय उत्पन्न नहीं होते, और उत्पन्न आश्रय नष्ट होते हैं । (तब) वह वह ठीकसे मनमें (ज्ञान) करता है—यह दुःख है, यह दुःख-समुदय (= दुःखका कारण) है, यह दुःख-निरोध (= दुःखका विनाश) है, यह दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग (= प्रतिपद) है । इस प्रकार मनमें करनेपर उसके तीन संयोजन (= पदे, यथन)—(१) सत्कायदृष्टि (= कायके भीतर एक निल आत्माको सचाको मानना), (२) विचिकित्सा (= संशय), (३) शीलघ्न-परामर्श (= शील और अतका अभिमान)—टूट जाते हैं । —भिक्षुओ ! यह दर्शनसे प्रहातव्य आश्रय कहे जाते हैं ।

१. “भिक्षुओ ! कौनसे संवर (= बाँकने, संयम करने) द्वारा प्रहातव्य आश्रय हैं ?—भिक्षुओ ! यहाँ (कोई) भिक्षु ठीकसे ज्ञान (= प्रतिसंयमान) कर, चक्षु (= आँख) इन्द्रियमें संयम करके विहरता है । (तब) चक्षु-इन्द्रियमें असंयम करके विहरनेपर, जो पीड़ा और दाह देनेवाले आश्रय उत्पन्न होते, वह—संयम करके विहरनेपर उत्पन्न नहीं होते हैं । ० श्रोत्र-इन्द्रिय ० । ० ग्राह्य-इन्द्रिय ० । ० जिह्वा-इन्द्रिय ० । ० काय-इन्द्रिय ० । ० मन-इन्द्रियमें संयम करके ० पीड़ा और दाह देनेवाले आश्रय ० उत्पन्न नहीं होते ।

“भिक्षुओ ! यह संवर-द्वारा प्रहातव्य आश्रय कहे जाते हैं ।

२. “भिक्षुओ ! कौनसे प्रतिसेवन (= सेवन) द्वारा प्रहातव्य आश्रय हैं ?—(क). भिक्षुओ ! यहाँ (कोई) भिक्षु ठीकसे जानकर (उतना ही) चीवर (= वस्त्र) का सेवन करता है, जितना कि सर्दी-गर्मीकी पीड़ा, और मक्खी-मच्छर-हवा-धूप-सरीसृप (= सर्प बिच्छु) के आघातके रोकनेके लिये (आवश्यक) है; जितना लाजधर्म बाँकनेके लिये (आवश्यक) है । (ख). ठीकसे जानकर भिक्षान्न (= पिंडपात) सेवन करता है; शोका, मद, मंडन-विभूषणके लिये न करके (उतना ही भिक्षान्न सेवन करता है) जितना कि इस शरीरकी स्थितिके लिये (आवश्यक है); (भुखके) प्रकोपके शमन करने तथा ब्रह्मचर्यमें सहायताके लिये (आवश्यक है) । (यह सोचते हुये—) पुरानी (कर्म-विपाक रूपी) वेदनाओं (= पीड़ाओं) को स्वीकार करूँगा, नई वेदनाओंको न उत्पन्न करूँगा, भेरी (शारीर-) धावा निर्दोष होगी, और विहार निर्द्वन्द्व होगा । (ग). ठीकसे जानकर (वैसेही) निवास-नेद (= शयनासन) का सेवन करता है; जोकि सर्दी, गर्मी ०^२ के आघातके रोकनेके लिये (आवश्यक) है । जो जसुकी पीड़ाको हटाने और एकांत चिन्तनके लिये (उपयोगी) है । (घ). ठीकसे जानकर रोगीके लिये (उपयुक्त) यथ औषधकी वस्तुओंका सेवन करता है, जिससे कि उत्पन्न व्याधियाँ और पीड़ाएँ दूर हो परम निरोगताको प्राप्त हो । भिक्षुओ ! जिसके न सेवन करनेसे दाह और पीड़ा देनेवाले आश्रय उत्पन्न होते हैं, और सेवन करनेसे—(वह) उत्पन्न नहीं होते;—यह प्रतिसेवनद्वारा प्रहातव्य आश्रय कहे जाते हैं ।

३. “भिक्षुओ ! कौनसे आश्रय अधिवासन (= स्वीकृति) द्वारा प्रहातव्य हैं ?—भिक्षुओ ! यहाँ (एक) भिक्षु ठीकसे जानकर, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, मक्खी-मच्छर-हवा-धूप-सरीसृपोंके

आवाजको सहनेमें समर्थ होता है; वाणीसे निकले दुर्बचन, तथा शरीरमें उत्पन्न ऐसी दुःखमय, तीव्र, तीक्ष्ण, कटुक, अवाञ्छित, असुचिकर, प्राणहर पीड़ाओंको स्वागत करनेवाले स्वभावका होता है। जिनके कि भिक्षुओं! न अधिवासन (= स्वीकार) करनेसे दाह और पीड़ा देनेवाले आत्मव उत्पन्न होते हैं, और अधिवासन करनेसे—(वह) उत्पन्न नहीं होते;—वह अधिवासन-द्वारा प्रहातव्य आत्मव कहे जाते हैं।

५. “भिक्षुओं! कौनसे परिवर्जन (बँचने) द्वारा प्रहातव्य आत्मव है?—भिक्षुओं! यहाँ (एक) भिक्षु ठीकसे जानकर, चण्ड (= भूँ) हाथीको (दूरसे) बँचता है, चण्ड छोड़े—, चण्ड फैले—, चण्ड कुत्ते—, लाँफ, खाई, फाँटेकी पारो, दह, जलप्रपात, चन्द्रिका (गढ़वा), ओलिगह (= गढ़ही) से (बँचता है)। जैसे अनुचित आसनपर बैठे, जैसे अनुचित विचरण स्थानपर विचरते, जैसे घुरे मित्रोंको सेवन करते (देख) जानकर, सम्यग्वाचारी (= एक जैसे व्रतपर आरुढ़ गुरुभाई) घुरे स्थानोंमें पहले जायें, ठीकसे जानकर, वैसे अनुचित आसन, वैसे अनुचित विचरण-स्थान, वैसे घुरे मित्रोंके सेवनसे, बँचता है। भिक्षुओं! जिसके परिवर्जन न करनेसे दाह और पीड़ा देनेवाले आत्मव उत्पन्न होते हैं, और परिवर्जन करनेसे—(वह) उत्पन्न नहीं होते; भिक्षुओं! वह परिवर्जन द्वारा प्रहातव्य आत्मव कहे जाते हैं।

६. “भिक्षुओं! कौनसे विनोदन (= हटाने) द्वारा प्रहातव्य आत्मव है?—भिक्षुओं! यहाँ (एक) भिक्षु ठीकसे जानकर, उत्पन्न हुये काम-वितर्क (= काम-वासना संबंधी संबन्ध-विकल्प) का स्वागत नहीं करता, (उसे) छोड़ता है, हटाता है, अलग करता है, भिटाता है, उत्पन्न हुये व्यापाद-वितर्क (= झोढ़के व्याल) का ०; उत्पन्न हुये विहिंसा-वितर्क (= प्रतिहिंसाके व्याल) का ०; पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाले पापी विचारों (= प्रमों) का ०। भिक्षुओं! जिसके न हटानेसे दाह और पीड़ा देनेवाले आत्मव उत्पन्न होते हैं, और विनोदन करनेसे—(वह) उत्पन्न नहीं होते;—यही (वह) विनोदनद्वारा प्रहातव्य आत्मव कहे जाते हैं।

७. “भिक्षुओं! कौनसे भावना (= चिंतन, ध्यान) द्वारा प्रहातव्य आत्मव है?—भिक्षुओं! यहाँ (एक) भिक्षु ठीकसे जानकर, विवेक-युक्त, विराग-युक्त, निरोध-युक्त, मुक्ति-परिणामवाले स्मृति-संबोध्दंग^१की भावना करता है; ठीकसे जानकर, ० धर्मविचय-संबोध्दंगकी ०; ० वीर्य-संबोध्दंगकी ०; ० प्रीति-संबोध्दंगकी ०; प्रश्रब्धि-संबोध्दंगकी ०; ० समधि-संबोध्दंगकी ०; उपेक्षा-संबोध्दंगकी ० भावना करता है। भिक्षुओं! जिसकी भावना न करनेसे ०;—यही (वह) भावनाद्वारा प्रहातव्य आत्मव कहे जाते हैं।

“भिक्षुओं! जब भिक्षुके दर्शन-द्वारा प्रहातव्य आत्मव दर्शनसे नष्ट होगये, संवर-द्वारा प्रहातव्य संवरसे ०, प्रतिसेवन-द्वारा प्रहातव्य प्रतिसेवनसे ०, अधिवासन-द्वारा प्रहातव्य अधिवासनसे ०, परिवर्जन-द्वारा प्रहातव्य परिवर्जनसे ०, विनोदन-द्वारा प्रहातव्य विनोदनसे ०, भावना-द्वारा प्रहातव्य भावनासे नष्ट होगये; तो भिक्षुओं! वह भिक्षु तारे आत्मवों (= सञ्ज्ञासूत्र) के संवरसे मुक्त हो विहर रहा है; उसने तृष्णाको छिन कर दिया, संपोजन (= बंधन) को मानाऽमितमय (= अभिमानके दर्जन) से अच्छी तरह हटा दिया; (उसने) दुःखका जन्त कर दिया।”

भगवान्ने यह कहा; श्रुत्वा ही उन भिक्षुओंने भगवान्के प्राणका अभिनन्दन किया।

^१ संबोध्दंग=परमज्ञान, उसके बिने उपबोधी अंग, संबोध्दंग। यह सात है—स्मृति, धर्मविचय आदि।

धर्म-विचय=धर्म-अन्वेषण। वीर्य=उद्योग। प्रीति=मन्योग। प्रश्रब्धि=ज्ञानि। समधि=विचकी एकाग्रता।

३-धम्मदायाद-सुत्तन्त (१।१।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथापिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भदन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! (तुम) मेरे धर्म-दायाद^१ (= धर्मकी वरासत पाने-वाले) होओ, आमिष-दायाद (= धन-वित्तकी वरासत पानेवाले) मत बनो। तुमपर मेरी अनुकम्पा है। सो क्या ?—(यही कि) मेरे शिष्य धर्मदायाद होवें, आमिष-दायाद नहीं। यदि भिक्षुओ ! तुम मेरे आमिषदायाद होगे, धर्मदायाद नहीं, तो तुम शोक भी ताना मारे जाओगे—‘शास्ता (= उपदेष्टा, गुरु) के श्रावक (= शिष्य) आमिष-दायाद होकर विहरते हैं, धर्मदायाद होकर नहीं।’ मैं भी उसके कारण ताना मारा जाऊँगा—‘शास्ताके श्रावक आमिषदायाद होकर विहरते हैं ०।’ यदि भिक्षुओ ! तुम मेरे धर्मदायाद होगे, आमिषदायाद नहीं, तो तुम भी ताना नहीं मारे जाओगे, (और शोक कहेंगे)—‘शास्ताके श्रावक धर्मदायाद होकर विहरते हैं, आमिष-दायाद, होकर नहीं।’ इससे मैं भी ताना नहीं मारा जाऊँगा, (और शोक कहेंगे)—०। इसलिये भिक्षुओ ! (तुम) मेरे धर्मदायाद होओ ०। तुमपर मेरी अनुकम्पा है। ०।

“भिक्षुओ ! (मान लो) मैं इस समय भली प्रकार, परिपूर्ण, यथेच्छ, तृप्त्यनुसार भोजन कर चुका हूँ, और मेरे पास अधिक भिक्षान्न वच गया हो। तब भूखकी दुर्बलतासे पीड़ित दो भिक्षु आवें। उनको मैं यह कहूँ—‘भिक्षुओ ! मैं ० तृप्त्यनुसार भोजन कर चुका हूँ, और मेरे पास ०। यदि इच्छा हो, तो खाओ। अगर तुम न खाओगे, तो मैं अब इसे तृणरहित (स्थान) में डाल दूँगा, या प्राणिरहित जलमें डाल दूँगा’। तब एक भिक्षुके (मनमें) हो—‘भगवान् ० तृप्त्यनुसार भोजन कर चुके हैं, और यह भिक्षान्न अधिक वच गया है। यदि हम न खावेंगे, तो भगवान् इसे तृणरहित ०। किन्तु, भगवान्का यह कहा हुआ है—भिक्षुओ ! मेरे धर्मदायाद होओ ०। और यह भिक्षान्न तो एक आमिष ही है। क्यों न मैं इस भिक्षान्नको बिना खावे ही, इस भूखकी दुर्बलताके साथ इस दिन रातको बिता दूँ।’ (ऐसा सोच) वह उस भिक्षान्नको बिना खावे, उस भूखकी दुर्बलताके साथ उस दिन-रातको बिता दे। और दूसरे भिक्षुके (मनमें) हो—‘भगवान् सुख हो भोजन कर चुके हैं ०। तृणरहित ०। क्यों न मैं इस भिक्षान्नको खाकर, भूखकी दुर्बलताको दूरकर इस दिन रातको बिताऊँ।’ (तब) वह उस भिक्षान्नको खाकर भूखकी दुर्बलता दूरकर उस दिन रातको बितावे। तो (उनमें), वह पहिला ही भिक्षु मुझे पृथ्वर और प्रशंस-

^१ दायाद=उत्तराधिकारी।

नीयतर है। तो किसलिये ?—भिक्षुओं ! वैसा (करना) चिरकाल तक अजोध, सन्तोष, सन्तुलन (= तप), सुमरता (= सुगमता) और उद्योगपरायणताके लिये उन भिक्षुको (उपकारी) होना । इसलिये, भिक्षुओं ! मेरे धर्मदायाद होओ० । तुमपर मेरी अनुकम्पा ०॥०॥”

भगवान् ने यह कहा । यह कहकर सुगत (= बुद्ध) भासनने उठकर विहार (= कुटी) के अन्दर चले गये ।

तब भगवान् के चले जानेके बोधो हो देर बाद, आयुष्मान् सारिपुत्रने भिक्षुओंको संबोधित किया—

“आयुसो,^१ भिक्षुओं !”

“आयुस !” (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया ।

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—“आयुसो ! किन (कारणों)से श्रावक (= शिष्य) शास्ता (= गुरु)से अलग हो विहरते, विवेक (= एकान्तचिन्तन)की शिक्षा नहीं ग्रहण करते; और किससे श्रावक शास्तासे अलग हो विहरते विवेककी शिक्षा ग्रहण करते हैं ?”

“आयुस ! दूरसे भी इस भाषणका अर्थ जाननेके लिये हम आयुष्मान् सारिपुत्रके पास आते हैं । अच्छा हो, आयुष्मान् सारिपुत्र ही इस वचनका अर्थ कहें । आयुष्मान् सारिपुत्र (के मुख)से (उसे) सुनकर भिक्षु धारण करेंगे ।”

“तो, आयुसो ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, आयुस !” (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया ।

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—“आयुसो ! यहाँ (कोई) शिष्य, गुरुसे अलग हो विहरते विवेककी शिक्षा नहीं ग्रहण करते, जिन बातों (= धर्मों)को शास्ता (= गुरु)ने छोड़नेको कहा, उन्हें नहीं छोड़ते । जोड़ने-बटोरनेवाले होते हैं । भागनेमें पहिले, और एकान्त-चिन्तनमें जुबा-गिरा देनेवाले होते हैं । इसमें स्वविर (= बुद्ध) भिक्षु तीन कारणोंसे निन्द्यके पात्र होते हैं—(१) गुरुसे अलग हो विहरते, शिष्य विवेककी शिक्षा नहीं ग्रहण करते; यह पहिला कारण है; स्वविर भिक्षुओंके निन्दनीय होनेका । (२) जिन बातोंको शास्ताने छोड़नेको कहा, उन्हें नहीं छोड़ते; यह दूसरा कारण है ० । (३) जोड़ने-बटोरनेवाले होते हैं ०, यह तीसरा कारण है ० ।

“आयुसो ! इन तीन कारणोंसे स्वविर भिक्षु निन्दनीय होते हैं । आयुसो ! वहाँ मध्यम (वयस्क) भिक्षु तीन कारणोंसे ० नव (नवस्क) भिक्षु तीन कारणोंसे निन्दनीय होते हैं—(१) गुरुसे अलग ० । इन कारणोंसे आयुसो ! शास्ताके अभावमें विहार करते शिष्य विवेककी शिक्षा ग्रहण नहीं करते ।

“आयुसो ! किन कारणोंसे शास्ताके अभावमें विहरते शिष्य विवेककी शिक्षाको ग्रहण करते हैं ?—आयुसो ! यहाँ शास्ताके अभावमें विहरते श्रावक विवेककी शिक्षा ग्रहण करते हैं । जिन बातोंको शास्ताने छोड़नेको कहा, उन्हें छोड़ते हैं । जोड़ने-बटोरनेवाले नहीं होते । भागनेमें जुबा गिरा देनेवाले होते हैं; और एकान्त-चिन्तन (= अविवेक)में पहिले होते हैं । यहाँ, आयुसो ! स्वविर भिक्षु तीन बातोंसे प्रशंसनीय होते हैं—(१) शास्ताके अभावमें ० शिक्षा ग्रहण करते हैं, यह पहिली बात है, जिससे स्वविर ० । (२) जिन बातोंको शास्ताने छोड़नेको कहा, उन्हें छोड़ते

^१ रोह सूत्रक संशोधन है जो पहिले दफ्ते के लिये भी प्रयुक्त किया जाता था; किन्तु उपनिर्वाणके बाद छोड़ने लिये ही रह गया ।

है ० । (३) जोड़ने-घटोरनेवाले नहीं होते ० । आबुसो ! स्पष्टि मिथु इन तीन बातोंसे प्रशंसनीय होते हैं । वहाँ मध्यम (-वस्तु) मिथु ० । नव (-वस्तु) मिथु तीन बातोंसे प्रशंसनीय होते हैं ० । आबुसो ! इन तीन बातोंसे मिथु प्रशंसनीय होते हैं । इन (बातों) से शास्त्राके अभावमें विरहते आक विप्रेक्षकी शिवा ग्रहण करते हैं ।

“आबुसो ! लोभ बुरी (वस्तु) है, और द्वेष बुरी (वस्तु) है । लोभ और द्वेषके विनाशके लिए औष देनेवाली, ज्ञान देनेवाली मध्यमा-प्रतिपद् (= बीचका मार्ग) है, जो कि शांति, दिव्यज्ञान, संतोषि (= परमज्ञान) और निर्वाण (के प्राप्त करने) के लिये है । आबुसो ! कौन है वह औष देनेवाली ० मध्यमा प्रतिपद् (जो कि) ० निर्वाणके लिये है ?—वही आर्यजष्टांगिक-मार्ग; जैसे कि—सम्यग् (= ठीक)-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यग्-वचन, सम्यक्-कर्मान्त (= कार-बार), सम्यग्-आजीव (= रोजी), सम्यग्-आवागम (= उद्योग), सम्यक्-स्मृति, और सम्यक्-समाधि । वह है आबुसो ! वह औष देनेवाली ० मध्यमा प्रतिपद् (जो कि) ० निर्वाणके लिये है ।

“आबुसो ! वहाँ कोष बुरी (चीज) है, और उपनाह (= पालंड) बुरी चीज है ०; अक्ष (= अमरत्व) ०; प्रदाश (= पलाश-मिष्टुरता) ०; ईर्ष्या ०; मात्सर्य (= कंजुसी) ०; माया (= धोखा देना) ०; शाठ्य (= शठता) ०; धम्भ (= जड़ता) ०; सारम्म (= हिंसा) ०; मान ०; अतिमान ०; मद ०; प्रमाद (= भूल) बुरी (चीज) है । मद और प्रमादके विनाशके लिये औष देनेवाली ० मध्यमा प्रतिपद् है ० । आबुसो कौन है ० ।”

आयुष्माय सारिपुत्रे वह कहा; (और) सन्तुष्ट हो इन मिथुओंने आयुष्माय सारिपुत्रके भाषणका अभिनन्दन किया ।

४-भयभेरव-सुत्तन्त (१।१।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिण्डिकके आश्रम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब जानुस्सोणि ब्राह्मण, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जा कर भगवान्से “यथायोग्य (कुशल अर्पण पूज) एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठकर जानुस्सोणि ब्राह्मणने भगवान्से यह कहा—

“हे गौतम ! जो यह (सारे) कुल-पुत्र आप गौतमको (नेता) मान, श्रद्धापूर्वक घरसे बेघर हो प्रव्रजित (= संन्यासी) हुये हैं, आप गौतम उनके अप्रगामी हैं, ० बहु-उपकारी हैं, ० उप-देष्टा हैं; यह जनसमुदाय आप गौतमके देखे (मार्ग) का अनुगमन करता है ।”

“ऐसा ही है, ब्राह्मण ! ऐसा ही है, ब्राह्मण ! जो यह कुल-पुत्र मुझे (नेता) मानकर ० ।”

“हे गौतम ! कठिन है अरण्य वन-खंड, और सूनी कुटियाँ (= शयनासन); दुष्कर है एकान्त श्रमण (= प्रव्रितिक); समाधि न प्राप्त होने पर अभिरमण न करनेवाले विप्रुके मतको, अकेला या (यह) वन मानो हर खेले हैं ।”

“ऐसा ही है, ब्राह्मण ! ऐसा ही है, ब्राह्मण ! कठिन है अरण्य ० । ब्राह्मण ! सम्बोधि (= परमज्ञान) प्राप्त होनेसे पहिले, बुद्ध न होनेके वक्त, जब मैं बोधिसत्त्व (ही था), तो मुझे भी ऐसा होता था—‘कठिन है अरण्य ० ।

“तब, ब्राह्मण ! मेरे (मनमें) ऐसा हुआ—जो कोई अशुद्ध कायिक कर्मसे युक्त श्रमण (= संन्यासी) ब्राह्मण अरण्य, वनखण्ड, और सूनी कुटियोंका सेवन करते हैं; अशुद्ध कायिक कर्मके दोषके कारण, वह आप श्रमण-ब्राह्मण दुरे भय-भेरव (= भय और भीषणता) का आह्वान करते हैं, (लेकिन) मैं तो अशुद्ध कायिक कर्मसे युक्त हो अरण्य ० सेवन नहीं कर रहा हूँ । मेरे कायिक कर्म (= कर्मान्त) परिशुद्ध हैं, जो परिशुद्ध कायिक कर्मवाले आर्य अरण्य ० सेवन करते हैं, मैं उनमेंसे एक हूँ । ब्राह्मण ! अपने भीतर इस परिशुद्ध कायिक कर्मके भावको देखकर, सुखे अरण्यमें विहार करनेका और भी अधिक पक्खोम (= उत्साह) हुआ ।

“तब, ब्राह्मण ! मेरे (मनमें) ऐसा हुआ—जो कोई अशुद्ध कायिक कर्मवाले श्रमण-ब्राह्मण अरण्यमें ० । ० अशुद्ध भागसिक कर्मवाले श्रमण ब्राह्मण ० । ० अशुद्ध आजीविकावाले श्रमण-ब्राह्मण अरण्यमें ० । (लेकिन) मैं तो अशुद्ध आजीविकासे युक्त हो अरण्य ० सेवन नहीं कर रहा हूँ ० । ० । ब्राह्मण ! अपने भीतर इस परिशुद्ध आजीविका (= रोजी) की विद्यमानताको देखकर, सुखे अरण्यमें विहार करनेका और भी अधिक उत्साह हुआ ।

१ अपने अनेक जन्मोंके परिश्रमसे दुष्ण और क्षानका जो इतना संघन कर चुका है, कि आगे चल कर उसका बुद्ध होना निश्चित है ।

“तव, ब्राह्मण ! मेरे (मनमें) ऐसा हुआ—जो अमण ब्राह्मण लोभी काम (-वासनाओं) में तीव्र राग रखनेवाले (हों) अपण्यमें ० । (लेकिन) मैं तो लोभी और कामोंमें तीव्र राग रखनेवाला न हो अपण्यमें ० । ० । ब्राह्मण ! अपने भीतर इस गिलोभिता (= अन्-अभिध्यालुता) को देख ० ।

“तव, ब्राह्मण ! ० हिसालुक्त चित्तवाले और मनमें दुष्ट संकल्प रखनेवाले ० । ० ।

“तव, ब्राह्मण ! ० स्त्यान (= शारीरिक आलस्य)—मृद (= मानसिक आलस्य) से प्रेरित हो ० । ० ।

“तव, ब्राह्मण ! ० उद्धत और अशान्त चित्तवाले हो ० । ० ।

“० लोभी, कांक्षावाले और संशयालु (= विचिकित्सी) हो ० । ० । ० ।

“० अपना उत्कर्ष (चाहने)वाले तथा दूसरेको निन्दनेवाले हो ० । ० ।

“० जब और भीरु प्रकृतिवाले हो ० । ० ।

“० लाभ, सत्कार और प्रशंसाकी चाहना करते ० । ० ।

“० आकस्मी उद्योग हीन हो ० । ० ।

“० नष्टसृष्टि और सूक्ष्म (= सम्पत्ति) से वंचित हो ० । ० ।

“० ज्ञप्त (-चित्त) और विज्ञान्त-चित्त हो ० । ० ।

“० दुष्प्रज्ञ भेद-गुणे (जैसे) हो ० । ० ।

“ब्राह्मण ! तव मेरे (मनमें) ऐसा हुआ—जो वह सम्मानित (= अभिजात) = अभि-लक्षित शक्तियों हैं, (जैसे कि) पक्षकी चतुर्दशी (= अमावास्या), पूर्णमासी (= पंचदशी) और अष्टमीकी रातें, वैशी रातोंमें, जो वह भयप्रद रोमांचकारक आराम-चैत्य^१, वन-चैत्य, वृक्ष-चैत्य हैं, वैसे पापनाशनों (= वासस्थानों) में विहार करूँ, शायद तव (कुछ) भय-भेरव देखूँ । तव, ब्राह्मण ! दूसरे समय ० सम्मानित ० रातोंमें ० वैसे शयनालयोंमें विहार करने लगा । तव, ब्राह्मण ! वैसे विहरते (समय) मेरे पास (जब कोई) सुग आता था, या मोर काठ गिरा देता था, या हवा पल्लवोंको फरफराती, तो मेरे (मनमें) होता—जसर, यह वही भय-भेरव आ रहा है । तव, ब्राह्मण ! मेरे (मनमें) यह होता—यों मैं दूसरेमें भयकी आकांक्षासे विहर रहा हूँ ? क्यों न मैं जित जित अवस्थामें रहते, जैसे मेरे पास वह भय-भेरव आता है, वैसी वैसी अवस्थामें रहते उस भय-भेरवको हटाऊँ । जब, ब्राह्मण ! टटलते हुये मेरे पास वह भय-भेरव आता, तब मैं ब्राह्मण ! न खड़ा हो जाता, न बैठता, न खेदता, टटलते हुएही उस भय-भेरवको हटाता । जब ० लगे हुये रहते मेरे पास वह भय-भेरव आता ० । ० बैठे रहते ० । ० । ० लेटे रहते ० । ० ।

“ब्राह्मण ! कोई कोई ऐसे अमण-ब्राह्मण हैं, (जो) रात होनेपर भी (उसे) दिन अनुभव करते हैं, दिन होनेपर भी (उसे) रात अनुभव करते हैं । इसे मैं उन अमण-ब्राह्मणोंके लिये संमोह (Hypnotization) का विहार कहता हूँ । मैं तो ब्राह्मण ! रात होने पर (उसे) रात ही अनुभव करता हूँ, और दिन होने पर दिन ० । जिसके पारेमें ब्राह्मण ! यथार्थमें कहते वक्त कहना चाहिये—लोकमें बहुत जनोके हितार्थ, बहुत जनोके सुखार्थ, लोकानुकम्पार्थ, देव-मनुष्योंके अर्थ-हित-सुखके लिये सम्मोह-रहित पुरुष उत्पन्न हुआ है । सो वह यथार्थमें कहते वक्त मेरे लिये ही कहना होगा—लोकमें ० ।

^१ चैत्य—देवताओं भूतोंके चौर, जिनकी पूजा उस समय बहुत प्रचलित थी । मूर्तिके अभावमें लोग स्त्री चैत्योंकी पूजा करते थे ।

"वाङ्मन ! मैं न द्वापनेवाला वीर्य (= डरौण) आरम्भ किया था, (उस समय) मेरी असुपित स्मृति जागृत थी, (मेरा) शान्त काय अभ्यस (= अस्तारह) था, समाधिनिष्ठचित्त एकाग्र था । (१) सो मैं वाङ्मन ! कामोंसे रहित भुरी बातों (= अकुशलचर्मों) से रहित, विवेकसे उत्पन्न स-वितर्क और स-विचार प्रीति और सुखवाले प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरने लगा । (२) (फिर) वितर्क और विचारके शान्त होने पर भीतरी छात तथा चित्तकी एकाग्रता वाले वितर्करहित विचाररहित प्रीति-सुखवाले द्वितीय ध्यानको प्राप्त हो विहरने लगा । (३) (फिर) प्रीतिसे विरक्त हो, उपेक्षक धन स्मृति-संप्रजन्य (= होम और अनुभव) से मुक्त हो शरीरसे सुख अनुभव करते, जिसे कि कार्य उपेक्षक, स्मृतिमान् सुख-विहारी कहते हैं; उस तृतीय ध्यानको प्राप्त हो विहरने लगा । (४) (फिर) सुख और दुःखके परित्यागसे सामनस्य (= विशोक्तास) और दौर्मेनस्य (= चित्तसंताप) के पहिले ही अस्त हो जानेसे, सुख-दुःख-रहित—जिसमें उपेक्षाने स्मृतिकी छुट्टि हो जाती है, उस चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरने लगा ।

"(१) "सो इस प्रकार चित्तके एकाग्र, परिशुद्ध = पर्यवदात, अंगम-रहित = उपकलेश (= मल)-रहित, सुदुभृत = काव्योपयोगी, स्थिर = अचलता प्राप्त (और) समाधिपुक्त हो जाने पर, पूर्व जन्मोंकी स्मृतिके ज्ञान (= पूर्वनिवासानुस्मृति) के लिये मैंने चित्तको झुकाया । फिर मैं अनेक पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगा, जैसे कि एक जन्मको भी, दो जन्मको भी, तीन, चार, पाँच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, हजार, सौ हजार..... अनेक संवर्त (= प्रलय) कल्पोंको भी, अनेक विवर्त (= सृष्टि-) कल्पोंको भी, अनेक संवर्त विवर्त-कल्पोंको (भी) स्मरण करने लगा—(तबमैं) अमुक स्थानपर इस नाम-गोत्र-वर्ण-जातिवाला अमुक प्रकारके सुख दुःखको अनुभव करता इतनी आयु तक रहा । वहाँसे च्युत हो अमुक स्थानमें उत्पन्न हुआ । वहाँ भी इस नाम-गोत्र-वर्ण-जाति से च्युत हो (अब) यहाँ उत्पन्न हुआ—इस प्रकार आकार और उद्देश्यके सहित अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगा । वाङ्मन ! इस प्रकार प्रमाद रहित, तत्पर (तथा) आत्मसंयमयुक्त विहरते हुये, रातके पहिले नाममें सुप्ते यह-पहली विद्या प्राप्त हुई, अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ ।

(२) "सो इस प्रकार चित्तके समाहित (= एकाग्र), परिशुद्ध = पर्यवदात * होने पर प्राणियोंके स्मृति (= स्मृत्यु) और उत्पत्तिके ज्ञानके लिये चित्तको झुकाया । सो मैं अ-मानुष, विशुद्ध, दिव्य चक्षुसे अच्छे दूर, सुवर्ण-दुर्वर्ण, सुगतिवाले, दुर्गतिवाले प्राणियोंको भरते उत्पन्न होते देखने लगा, कर्मानुसार गतिको प्राप्त होते प्राणियोंको पहिचानने लगा—यह आप प्राणधारी (लोग) कायिक दुराचारसे युक्त, वाचिक दुराचारसे युक्त, मानसिक दुराचारसे युक्त, आर्षोंके निन्दक, मिथ्यामत-स्वीकनेवाले, (= मिथ्या-दृष्टि), मिथ्या-दृष्टि (से प्रेरित) कर्मको करनेवाले थे । यह काया छोड़नेपर भरनेके बाद खपाय = दुर्गति, पतन, नर्क (= निरय) में प्राप्त हुये हैं । यह आप प्राणधारी (लोग) कायिक, वाचिक, मानसिक सदाचार (= सुचरित) से युक्त, आर्षोंके अ-निन्दक सम्यग्-दृष्टिक (= सच्चे सिद्धान्तवाले), सम्यग्-दृष्टि-संबंधी कर्मको करनेवाले (थे); यह काया छोड़नेपर भरनेके बाद सुगति, स्वर्गलोकको प्राप्त हुये हैं । इस प्रकार अ-मानुष, विशुद्ध दिव्य चक्षुसे * । वाङ्मन ! * रातके मध्यम याममें यह सुप्ते दूसरी विद्या प्राप्त हुई * ।

* यहाँ तीन विषय हैं ।

* देखो ऊपर ।

(३) "०० आसर्विके अयमे ज्ञाने लिये चित्तको मुकाया । फिर मैंने—'यह दुःख है' इसे यथार्थसे जान लिया, 'यह दुःख-समुद्भूत (=दुःखका कारण) है'०, 'यह दुःख-निरोध है'०, 'यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है' इसे यथार्थसे जान लिया । 'यह आसर्व' है'०, 'यह आसर्व-समुद्भूत है'०, 'यह आसर्व-निरोध है'०, 'यह आसर्वनिरोधगामिनी प्रतिपद् है'० । सो इस प्रकार देखते, इस प्रकार जानते मेरा चित्त काम (= काम-वात्सना रूपी)-आसर्वोंसे मुक्त हो गया, ० भव (= जन्म ले लेनेके श्रोम रूपी) आसर्वोंसे ०, अ-विद्या-आसर्वोंसे मुक्त हो गया । छूट (= विमुक्त हो) जानेपर 'छूट गया' ऐसा ज्ञान हुआ । 'जन्म कतम होगया, ब्रह्मचर्य पूरा होगया, करना था सो कर लिया, अब यहाँ करनेके लिये कुछ (शेष) नहीं है'—इसे जान लिया । ब्राह्मण ! ० रातके अन्तिम वाममें यह सुझे तीसरी विद्या प्राप्त हुई ० ।

'ब्राह्मण ! शायद तैरें (मनमें) ऐसा हो—'आज भी अमण गौतम अ-वीतराग, अ-वीत द्वेष, अ-वीतमोह है, इसीलिये अरण्य, वनखंड तथा सूनी कुटिवाका सेवन करता है' । ब्राह्मण ! इसे इस प्रकार नहीं देखना चाहिये । ब्राह्मण ! दो पातोंके लिये मैं अरण्य ० सेवन करता हूँ—(१) इसी शरीरमें अपने सुखविहारके क्वालसे, और (२) जानेवाली जनतापर अनुकम्पाके लिये (जिसमें) मेरा अनुसमनकर वह भी सुफल-भागी हो ।"

"आप गौतम द्वारा जानेवाली जनता अनुकम्पित हो रहे, जो कि आप गौतम सम्यक् संबुद्धने अनुकम्पाकी । आसर्व ! भो गौतम ! आसर्व ! भो गौतम ! जैसे औंषेको सीधा कर दे, ढँकेको उधाव दे, भूलेको रास्ता बतला दे, अंधकारमें तेल्का प्रदीप रख दे—जिसमें कि अश्विवाले कृषकों ऐजै, ऐमेही आप गौतमने अनेक प्रकार (= पर्याय)से धर्मको प्रकाशित किया, वह मैं भगवान् गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और मित्र-संवर्गकी भी । आप गौतम आजसे मुझे अंजलि-बद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें ।"

५-अनङ्गण-सुत्तन्त (१।१।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनायसिद्धिकके आश्रम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ आमुष्मान् सारिपुत्रने भिक्षुओंको संबोधित किया—“आमुसो ! भिक्षुजो !”

“आमुस” — (कह) उन भिक्षुजोंने आमुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया ।

आमुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—

“आमुसो ! लोकमें चार (प्रकारके) पुग्गल (= व्यक्ति) विद्यमान हैं । कीमसे चार ?—

(१) आमुसो ! एक व्यक्ति अंगण- (= वित्तमल)-रहित होता हुआ भी, मेरे भीतर अंगण है, इसे ठीकसे नहीं जानता । (२) वहाँ कोई व्यक्ति अंगण-सहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण है, इसे ठीकसे जानता है । (३) वहाँ कोई व्यक्ति अंगण-रहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण नहीं है, इसे ठीकसे नहीं जानता है । (४) वहाँ कोई व्यक्ति अंगण-रहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण नहीं है, इसे ठीकसे जानता है ।

“आमुसो ! इनमेंसे जो वह व्यक्ति अंगणरहित होता हुआ भी, मेरे भीतर अंगण है—इसे ठीकसे नहीं जानता, वह इन अंगणरहित दोनों व्यक्तियोंमें हीन (= नीच) पुरुष कहा जाता है । और आमुसो ! इनमेंसे जो वह व्यक्ति अंगण-सहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण है—इसे ठीकसे जानता है, वह इन अंगण सहित दोनों व्यक्तियोंमें श्रेष्ठपुरुष कहा जाता है । आमुसो ! वहाँ जो वह व्यक्ति अंगणरहित होता हुआ, मेरे भीतर अंगण नहीं है—इसे ठीकसे नहीं जानता, वह इन अंगणरहित दोनों व्यक्तियोंमें हीन (= नीच)-पुरुष कहा जाता है । और आमुसो !
• अंगण-रहित होता हुआ, • इसे ठीकसे जानता है, वह • श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है ।”

ऐसा कहतेपर आमुष्मान् महामीदुगल्लयायनने आमुष्मान् सारिपुत्रसे यह कहा—

“आमुस सारिपुत्र ! क्या हेतु है, क्या कारण है, जो अंगण-सहित होते हुये इन दोनों व्यक्तियोंमें एक कहा जाता है हीन पुरुष, और एक कहा जाता है श्रेष्ठ पुरुष । और आमुस सारिपुत्र ! • क्या कारण है, जो अंगण-रहित होते हुये उन दोनों व्यक्तियोंमेंसे एक कहा जाता है हीन पुरुष, और एक कहा जाता है श्रेष्ठ पुरुष ?

“आमुस ! वहाँ जो वह व्यक्ति अंगणरहित होता भी • ठीकसे नहीं जानता, उससे जाया होगी, कि वह इस अंगण (= वित्त-मल) के विनाशके श्रिये न प्रयत्न करेगा, न उसीग करेगा, न वीर्याग्ग्म (= प्रयत्न) करेगा, वह राग-युक्त, द्वेष-युक्त, मोह-युक्त, अंगण-युक्त, मलिन-चित्त ही कृत्यको प्राप्त करेगा । जैसे आमुस ! कोसेकी बाड़ी (= कंसपाती) रज और मलसे श्लिष्ट (ही) दूधामसे या कसेरेके घरेसे झाड़ू जाये, (और) मालिक न उसका उपयोग करे, न पर्ववदाचन (= साफ) करे, (तथा) कचरेमें उसे फाल दे । इस प्रकार आमुस ! वह कोसेकी बाड़ी, कालान्तरमें और भी

अधिक कलहो, मल-गृहीत हो जायेगी (न) ।”

“हाँ, आबुस !”

“ऐसेही आबुस ! जो वह व्यक्ति अंगण-सहित होता भी ० ठीकसे नहीं जानता, उससे आशा होगी ०” मलिन चित्तही मृत्युको प्राप्त करेगा । आबुस ! उनमें जो वह व्यक्ति अंगण-सहित होता ० ठीकसे जानता है, उससे आशा होगी, कि वह उस अंगणके विनाशके लिये प्रयत्न ०, उद्योग ०, वीर्यात्म करेगा; वह राग-रहित, द्वेष-रहित, मोह-रहित, अंगण-रहित निर्मल-चित्त हो मृत्युको प्राप्त होगा । जैसे आबुस ! रज और मलसे लिल काँसेकी धाली दूकानसे वा कसेरेके धरसे लाई जाये, और मायिक उसका उपयोग करें, साफ करें, और कचरेमें न डालें । इस प्रकार आबुस ! वह काँसेकी धाली कालान्तरमें अधिक परिशुद्ध (तथा अधिक) निर्मल हो जायेगी (न) ।”

“हाँ, आबुस !”

“ऐसेही आबुस ! जो वह व्यक्ति अंगण-सहित होते ० हुये ठीकसे जानता है, उससे आशा होगी ० निर्मल-चित्त हो मृत्युको प्राप्त होगा । आबुस ! वहाँ जो वह व्यक्ति अंगण-रहित होता हुआ, मेरे ओतर अंगण नहीं है—इसे ठीकसे नहीं जानता, उससे उम्मीद होगी, (कि) वह शुभ-निमित्त (= वस्तुके एकतरफा सौन्दर्यकी ओर लक्षिक झुकाव) को मनमें करेगा, दुःख-निमित्तके मनमें करनेसे उसके चित्तमें राग विपट जायेगा, (इस प्रकार) वह राग-द्वेष-मोह-सहित, अंगण (= राग, द्वेष, मोह यह तीन चित्त मल)-सहित, (और) मलिन-चित्त (हो) मृत्युको प्राप्त होगा । जैसे, आबुस ! (कोई) परिशुद्ध और निर्मल काँसेकी धाली दूकानसे लाई जाये, उसे मायिक न उपभोग करें, न साफ रखें (यत्कि) कचरेमें न डालें । इस प्रकार आबुस ! वह काँसेकी धाली कालान्तरमें और भी अधिक कलहो, मल-गृहीत हो जायेगी (न) ।”

“हाँ, आबुस !”

“ऐसेही आबुस ! ० ० । आबुस ! उनमें जो वह व्यक्ति अंगण-रहित होता उसे ठीकसे जानता है, उससे आशा होगी, (कि) वह शुभ-निमित्तको मनमें न करेगा, दुःख-निमित्त को मनमें न करनेसे, राग उसके चित्तमें न विपटो, (इस प्रकार) वह राग-द्वेष-मोह-रहित, अंगणरहित (एवं) निर्मल-चित्त (रह) मृत्युको प्राप्त होगा । जैसे आबुस ! (कोई) परिशुद्ध और निर्मल काँसेकी धाली दूकानसे ० लाई जाये, (और) मायिक उसका उपयोग करें, साफ रखें, (और उसे) कचरेमें न डालें । इस प्रकार आबुस ! वह काँस-पाती कालान्तरमें और भी अधिक परिशुद्ध और निर्मल हो जायेगी (न) ।”

“हाँ, आबुस !”

“ऐसेही आबुस ! ० ० । आबुस भोग्गलान ! यह हेतु है, यह कारण है, जो अंगण-सहित होते हुये उन दोनों व्यक्तियोंमें ०^१ । यह हेतु है ० जो अंगणरहित होते हुये भी उन दोनों व्यक्तियोंमें ०^१ ।”

“आबुस ! ‘अंगण, अंगण’ कहा जाता है । आबुस ! यह अंगण किस (चीज) का नाम है ?”

“आबुस ! पापको (= कुरावियों), कुराव्यों (= अकुसलों) और इच्छाकी परतंत्रताओंका नाम (ही) यह अंगण है ।

(क). हो सकता है, आवुस ! कि यहाँ एक भिक्षुके (मतमें) इच्छा उत्पन्न हो—‘मैं, अपराध (= आपत्ति) करूँ, (लेकिन) मेरे बारेमें भिक्षु न जानें कि इसने आपत्ति की है ।’ हो सकता है, आवुस ! कि इस भिक्षुके बारेमें (दूसरे) भिक्षु जान जायें—‘इसने आपत्ति की है ।’ फिर वह (भिक्षु)—‘(सारे) भिक्षु मेरे बारेमें जानते हैं, कि मैंने अपराध किया है’—यह (सोच), कुपित होवे, अप्रतीत (= नाराज) होवे । आवुस ! यह जो कोप है, यह जो अ-प्रत्यय (= नाराजगी) है, दोनों ही भ्रमण हैं । (ख). हो सकता है, आवुस ! कि यहाँ एक भिक्षुके (मतमें) इच्छा उत्पन्न हो—‘मैं अपराध करूँ, (लेकिन) भिक्षु मुझे अकेलेमें दोषी ठहरावें, संघमें नहीं ।’ हो सकता है, आवुस ! कि भिक्षु, इस भिक्षुको संघके बीचमें अपराधी ठहरावें, अकेलेमें नहीं । फिर वह (भिक्षु)—‘भिक्षु मुझे संघके बीच में अपराधी ठहराते हैं, अकेलेमें नहीं’—यह (सोच) कुपित होवे ० । यह जो कोप है ० । (ग). हो सकता है, आवुस !—‘मैं अपराध करूँ, (किन्तु) सप्रतिपुद्गल (= बराबरका स्पर्श) मुझे दोषी ठहरावे, स-प्रतिपुद्गल नहीं ।’ ० । (घ). ०—‘शास्ता (= बुद्ध) मुझे ही पूछ पूछ कर भिक्षुओंको धर्मोपदेश करें, दूसरे भिक्षुको पूछ पूछ कर भिक्षुओंको धर्मोपदेश न करें ।’ हो सकता है, आवुस ! कि शास्ता दूसरे भिक्षु को पूछ पूछ कर भिक्षुओंको धर्मोपदेश करें, उस भिक्षुको पूछ पूछ कर नहीं ० । फिर वह (भिक्षु)—‘शास्ता, मुझे पूछ पूछ कर भिक्षुओंको धर्मोपदेश नहीं करते, दूसरे भिक्षुको पूछ पूछ कर ० करते हैं’—यह (सोच) कुपित होवे ० । ० । (ङ). ०—‘अहो ! मुझे ही आगे करके भिक्षु मार्गमें मोक्षनके लिये प्रविष्ट होवें, दूसरे भिक्षुको आगे करके नहीं’ ० । (च). ०—‘अहो ! भोजनके समय मुझे ही अन्न (= प्रथम)-आसन, अन्न-उदक, अन्न-पिब (= प्रथम परोसा) मिले, दूसरे भिक्षुको नहीं’ ० । (छ). ०—‘अहो ! भोजन समाप्त हो जानेपर, मैं ही (सबदाताके दातके गुण्यका) अनुमोदन करूँ, दूसरा भिक्षु नहीं’ ० । (ज). ०—‘अहो ! मैं ही आश्रम (= आश्रम) में आये भिक्षुओंको धर्मोपदेश करूँ, दूसरा भिक्षु नहीं’ ० । ०—‘अहो ! मैं ही आश्रममें आई भिक्षुणियोंको ० । ० । आश्रममें आये उपासकोंको ० । ० । आश्रममें आई उपासिकाओंको धर्मोपदेश करूँ, दूसरा भिक्षु नहीं’ ० । (झ). ०—‘अहो ! भिक्षु मेरा ही स्तकार-गुरुकार, मान और पूजा करें, दूसरेका नहीं’ ० । ० भिक्षुणियाँ ० उपासक ० । ० । उपासिकायें मेरा ही स्तकार ० करें, दूसरेका नहीं’ ० ।

(ज). ०—‘अहो ! मैं ही उत्तम चीवरों (= वस्त्रों) का पानेवाला होऊँ’; ‘‘‘उत्तम भिक्षाओंका’; ‘‘‘उत्तम वास स्थानोंका’; ‘‘‘रोगियोंके उत्तम पथ्य-औषधकी चीजोंका पानेवाला होऊँ, दूसरा भिक्षु नहीं’ ० । आवुस ! इन्हीं पापकों=पुराइयों (और) इच्छाकी परतंत्रताओंका नाम भ्रमण है । आवुस ! जिस किसी भिक्षुके वह पापक=पुराइयों, इच्छाकी परतंत्रतायें अविनष्ट विनाई पवती हैं, सुनाई देती हैं; चाहे वह जनवासी, एकान्त कुटी निवासी, भिक्षाकर्मोवी (= पिंडपात्री), विना-ठहरे-भिक्षाचारी, वासुकूलिक (= कंके चीवर्णोंको मोकर पहननेवाला), (और) स्त्रवीचरचारी ही क्यों न हो, (किन्तु) स-अन्नचारी (= एक वस्तुके प्रती) उसका स्तकार=गुरुकार, मान, पूजा नहीं करते । सो किस लिये ?—वह देखते और सुनते हैं, कि उस आधुम्मान् की वह ० पुराइयाँ ० नष्ट नहीं हुई । जैसे आवुस ! एक परिशुद्ध, निर्मल फाँसे की थाली दुकान या कसेरेके घरसे लाई गई हो । (फिर) भ्रातृक-उत्तम मुर्वे सौंप, मुर्वे कुत्ते, या मुर्वे मनुष्य (के भाँसको) भरकर, दूसरी कान्सेकी थालीसे ढाँककर धाजार (आपण=दुकान)में रखा दें । उसे देखकर लोग कहें—‘अहो ! यह क्या समचमाता हुना सकता है ?’ फिर उसे उठाकर देखें । उसे देखते ही उनके (मतमें) पूजा, प्रतिपत्तिता जुगुप्सा उत्पन्न हो जाये । दूधोंको

जी खानेकी इच्छा न हो, पेटभरेंकी तो बात ही क्या ? इसी प्रकार आबुस ! जिस किसी भिक्षुकी वह दुरादृष्टी ० नष्ट नहीं हुई ०, तो चाहे वह धनवासी ० ही क्यों न हो, ० । आबुस ! जिस किसी भिक्षुकी वह ० दुरादृष्टी ० नष्ट हो गई है ; तो चाहे वह ग्राममें रहनेवाला, निमंत्रण खाते-वाला, गृहस्थों (के दिये गये) चीवरोंको पहिनेवाला ही क्यों न हो, तोभी स-व्यवचारी उसका सत्कार-पूजा करते हैं । सो किस लिये ?—वह देखते और सुनते हैं, कि इस आबुष्मान्की वह ० दुरादृष्टी ० नष्ट हो गई है । जैसे, आबुस ! एक स्वच्छ निर्मल कौसेकी थाली दुकान या कसेरेके घरसे लाई गई हो । (फिर) भालिक उसमें साफ किये थालीके चावकको धौंक प्रकारके सूप (= दाल आदि तिर्यैन्) और अंबजनके साथ सजाकर एक दूसरी कंसपातीसे ढाँककर बाजारमें रख दें । उसे देखकर लोग कहें—‘अहो ! यह क्या चमकभाता सत्ता है !’ फिर उसे उठाकर कोल कर लें । उसे देखते ही उनके (मनमें) प्रसन्नता, अनुकूलता और अ-तृण्वा उत्पन्न हो जाते । पेटभरेंको भी खानेकी इच्छा हो जाये, भूखोंकी तो बात ही क्या ? इसी प्रकार आबुस ! जिस किसी भिक्षुकी वह ० दुरादृष्टी ० नष्ट हो गई है ० । ० । ”

ऐसा कहतेपर आबुष्मान् मौद्गल्यायन (= मोमगलान) ने आबुष्मान् सारिपुत्त (= सारि-पुत्त) की यह कहा—“आबुस सारिपुत्त ! (इसी संबंधमें) मुझे एक उपमा (= उदाहृत) सुन रही है । ”

“उसे कहो, आबुस मौद्गल्यायन ! ”

“आबुस ! एक समय मैं राजगृह, गिरिज्जमें विहार कर रहा था । तब मैं पूर्वाह्णके समय (पक्ष) पहिन, (भिक्षा-) पात्र और चौकर लेकर राजगृहमें भिक्षाटनके लिये प्रविष्ट हुआ । उस समय सामिति यानकारपुत्त, रक्के (चक्केकी) पुट्टीको गड़ रहा था, और उसके पास भूत-पूत वागकार-वैशिक पंगुपुत्त आजीवक^१ उपस्थित था । तब ० पंगुपुत्त आजीवकके चित्तमें ऐसा वितर्क उत्पन्न हुआ—अहो ! (अच्छा हो जो) यह सामिति यानकार-पुत्त इस पुट्टीके इस बंक (= देशपत्र) = इस विज्ञ, इस दोषको गड़ ढाळे, और इस प्रकार यह पुट्टी (= नेमि) बंक-लिङ्ग-दोषसे रहित हो, ठीक सारमें प्रतिष्ठित हो जाये । आबुस ! जैसा जैसा ० पंगुपुत्त आजीवकके चित्तमें वितर्क होता था, वैसाही वैसा सामिति यानकारपुत्त उस पुट्टीके बंक ० को गड़ता था । तब आबुस ! ० पंगुपुत्त आजीवक प्रलब्ध चित्त हो धौल उठा—‘इदमते (मेरे) हृदय की (बात) को जानकर मानो गड़ रहा है’ । ऐसे ही आबुस ! जो पुद्गल (= पथकि) अश्रद्धालु है, जो (धर्ममें) अज्ञाने नहीं वलिक जीविकाके लिये घरसे बेघर बन प्रवर्जित हुये हैं, जोकि गठ, मायावी, चाखंडी (= केडुनी), उद्धत, अस्मिन्नाती (= उल्ल), चपल, लुचर, असंयतभाषी, असंयत-इन्द्रिय, भोजनकी भाषाको न जाननेवाले, जागरणमें न तत्पर, आमण्य (= संन्यासके आदर्श) की पबोध न करनेवाले, भिक्षुओं की शिक्षाके प्रति तीव्र आदर न रखनेवाले, जोषने फटोरने वाले, भागनेमें अग्रगामी, एकान्त चिन्तनमें धुरा (= तुला) फेंक देनेवाले, आकली (= कुसीली), अनुलोमी, मुक्ति-स्मृति, वेसमझ, विज्ञान्त-चित्त, दुर्प्रज्ञ, दूँगे-मेघ जैसे (पुरुष) हैं ; इस उपदेश द्वारा उनके हृदयको हृदयसे जान कर मानो आबुष्मान् सारिपुत्त गड़ रहे हैं । और जो कुलपुत्र अद्वार्क घरसे बेघर हो प्रवर्जित हुये हैं, जोकि अ-गठ, अ-मायावी, चाखंड-रहित, अनुद्धत, अ-अस्मिन्नाती, अ-चपल, अ-लुचर, संयत-भाषी, संयत-इन्द्रिय, भोजनकी भाषा जाननेवाले, जागरणमें तत्पर, आमण्यका स्थाल रखनेवाले, शिक्षा के प्रति तीव्र आदर भाव रखने

^१ इस समयके नये ताबुनीका एक सम्प्रदाय ।

वाले, न जोड़ने छटोरनेवाले, आगनेमें लुना फेंक देनेवाले, एकान्त-चिन्तन (= प्रविष्टि) में अग्रगामी, निरास, उद्योगी, संयमी (= दक्षिण), स्मृति-संयुक्त, समझदार, समाहित-एकाग्र-चित्त, प्रज्ञावान्, गूँगे-और-भेड़ोंसे नहीं है, वह आयुष्यान् सारिपुत्रके इस धर्मोपदेशको सुनकर आगो वचन और मनसे पान कर रहे हैं, आहार कर रहे हैं। क्या लूष ? (आपने) सप्रज्ञचारियों-को बुराईयोंसे ढंढाकर भलाइयोंमें स्थापित कर दिया। जैसे, आयुस ! धौकीन अल्पवयस्क तरुण स्त्री या पुरुष शिरसे स्नान कर, कमलकी माला, या कूहीकी माला, या मोमरे (= कर्तिसुष्मका) की मालाको या दोनों हाथोंसे उसे ग्रहण कर, (अपने) उत्तम-श्रेष्ठ-शिरधार रखले, दूसरी प्रकार आयुस ! जो कुल-पुत्र अद्यापूर्वक घरसे प्रयत्नित हुये हैं^१ गूँगे-और-भेड़ से नहीं है, वह, आयुष्यान् सारिपुत्रके इस धर्मोपदेशको सुनकर आगो वचन और मनसे पानकर रहे हैं ० ।"

इस प्रकार दोनों महानागों (= महावीरों) ने एक दूसरेके सुभाषितका अनुमोदन किया।

६-आकङ्क्षेय्य-सुत्तन्त (१।१।६)

देसा मेने सुना—

एक समय भगवान् धावस्तीमें अनाथपिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे । वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भदन्त !” (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! शील सम्पन्न होकर विहारो; प्रतिमोक्ष-संवर (= सदाचार-नियम रूपी संरक्षण)से संरक्षित हो विहारो; आचार-गोचर (= चर्माचरण)से संयुक्त हो, छोटी सी भी गुराईमें भगवान्ने शिक्षापदों (= आचार-नियमों)को ग्रहणकर, उनका अभ्यास करो । भिक्षुओ ! यदि भिक्षु चाहता है कि वह प्रणयचारी (= गुरुभाई) भिक्षुओंका प्रिय = भनाप और सम्मान-प्राप्त होवे; तो वह शीलोंका पूरा करनेवाला बने, भीतरसे चित्तको शमन करनेमें तत्पर, अर्थात् ध्यान (तत्वा) विषयना (= प्रज्ञा)से युक्त हो, सुने घरोंकी शरण ले ।

“भिक्षुओ ! यदि भिक्षु चाहता है, कि वह चीवर (= वस्त्र), पिंडपात (= भिक्षान्न), शयनासन (= वासस्थान) (और) कान-प्रत्यय-^१पञ्च-परिष्कार (रोगीके पथ्य और औषधकी चीजें) का पाने वाला हो, तो वह शीलोंका ही पूरा करनेवाला बने ० ।

“भिक्षुओ ! यदि भिक्षु चाहता है, कि जिनके चीवर, पिंडपात, शयनासन, कान-प्रत्यय-पञ्च-परिष्कारका मैं उपयोग करता हूँ, उनके वह (दान-)कार्य महाफलवाले=महानुशंसवाले हों, तो वह शीलोंका ही पूरा करनेवाला बने ० ।

“ ० जो मेरे जातिवाले एक-संबंधी मृत-प्रेत (लोकान्तर-प्राप्त) हैं । (और जोकि) प्रसन्न-चित्तसे मेरी वाद करते हैं, उनका वह कर्म महाफल=महानुशंस होवे, तो वह ० ।

“ ० मैं अनति (= उचाट)को हरानेवाला होऊँ, अनति सुखे न हरा सके, उत्पन्न अनति को मैं पराजित करके बिहूँ, तो वह ० ।

“ ० मैं भय-भैरवको हरानेवाला होऊँ ० ; तो वह ० ।

“ ० इसी जन्ममें सुख-पूर्वक विहार करनेवाला, चित्त-सम्बन्धी चारों ध्यानोका पूर्णतया विना दिक्त और कठिनाईके सभी (= पानेवाला) होऊँ ; तो वह ० ।

“ ० जो वह रूप (-लोक)^१ से परे आरूप्य (= लोक-संबन्धी) शान्त विमोक्ष (= मुक्ति) है, उन्हें मैं कायासे प्राप्त कर बिहूँ, तो वह ० ।

^१ इस संसारसे परे लोक जहाँ तेजोगय आधी निवास करते हैं, उससे भी परे अ-रूप-लोक है ।

“० तीनों संयोजनों^१ के क्षयसे झोल-आपन्न बन पतन-रहित, त्रियत, संबोधि (= परमज्ञान)-प्रापण होई; तो वह ० ।

“० तीनों संयोजनों के क्षयसे, राग-द्वेष-मोहके क्षीण होनेसे सहस्रागामी होई, इस लोकमें एक ही बार और जाकर दुःखका अन्त करे; तो वह ० ।

“० पाँच अवतरभागीय संयोजनों के क्षयसे औपपातिक (= दिव्यभोगि-उत्पन्न) उस (अगले जन्म लेनेवाले) लोकमें निर्वाण प्राप्त करनेवाला होई, उस लोकसे फिर लौटकर (वहाँ) जानेवाला न होई, तो वह ० ।

“० मैं अनेक प्रकारकी अद्विष्टोका अनुभव करूँ—एक होकर अनेक हो जाऊँ, आविर्भाव, तिरोभाव, दीवार-आकार-पर्वतमें मिलिंस हो वैसे ही चले, जैसे आकाशमें पक्षी उड़ते हैं; पृथिवीमें वैसे ही हूँ उतराऊँ, जैसे पानीमें, पानी पर (भी) वैसे ही बिना भीगे चले, जैसे पृथिवी पर; आकाशमें आसून भरकर वैसे ही चले, जैसे पक्षी = शकुन; ऐसे महाअद्विष्टाके=महासुभाव इन चाँद और सूर्यको भी हाथसे छूँ, परिमार्जन करूँ, (इसी) कायासे ब्रह्मलोकपर्वत (सच) को अपने वशमें कर लूँ; तो वह ० ।

“० मैं अ-मानुष विबुध दिव्य ओम्-इन्द्रियसे उभय प्रकारके शब्दोंको सुनूँ—दिव्य (शब्दों)को भी, और मानुष (शब्दों)को भी, दूरवालेको भी और समीप वाले (शब्द)को भी; तो वह ० ।

“० मैं दूसरे सबों दूसरी व्यक्तियोंके चित्तोंको (अपने) चित्तसे देखकर जान लूँ—सराग चित्त होने पर ‘सराग चित्त है’—जान जाऊँ, वीतराग चित्त०, स-द्वेषचित्त०, वीत-द्वेष चित्त०, स-मोह चित्त०, वीत-मोह चित्त०, संक्षिप्त (= एकाग्र)-चित्त०, विक्षिप्त चित्त०, महद्गत (= विमल) चित्त०, अ-महद्गत चित्त०, स-उत्तर (= जितने पड़कर भी कोई हो) चित्त०, अनुत्तर (= अनुपम) चित्त०, समाहित चित्त०, अ-समाहित, चित्त०, विमुक्त चित्त०, अ-विमुक्त चित्त०; तो वह ० ।

“० अनेक प्रकारके पूर्व-निवासों (= पूर्वजन्मों)को जानूँ, जैसे कि—एक जन्मको भी ०^२; तो वह ० ।

“० मैं अ-मानुष विबुध दिव्य वायुसे अन्ते-नुरे, मुक्त-दुर्वर्ण^३ प्राणियोंको ०^४ देखूँ—यह आप प्राणी ०^५; तो वह ० ।

“० मैं आकाशोंके क्षयसे जो आकाश-रहित चित्तकी विमुक्ति है, प्रज्ञादात विमुक्ति (= मुक्ति) है, उसे इसी जन्ममें स्वयं जान कर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर, विहार करूँ; तो वह ० ।

“भिक्षुओ ! सील^६-सम्पन्न हो बिहरो ०^७ ।

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणका अनुपोदन किया ।

^१ मानसिक बंधन ।

^२ दे०, पृष्ठ, १५ ।

^३ दे०, पृष्ठ, १५, १६ ।

^४ दित्त आदि आठ पापकर्मोंसे विरत होना । ^५ दे० पृष्ठ ११ ।

७-वत्थ-मुत्तन्त (१।१।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् ध्यावस्तीमें अनावपिण्डिके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भदन्त !” (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! जैसे कोई मैला कुचैला वस्त्र (= वत्थ) हो, उसे रंगरंज (= रज्ज) ले जाकर जिसकिसी रंगमें डाले—चाहे नीलमें, चाहे पीठमें, चाहे लोहित (= लाल) में, चाहे माण्डि (= मण्डोके रंग)में; वह वदरंग ही रहेगा, अशुद्धवर्ण ही रहेगा। सो किस लिये ?—भिक्षुओ ! वस्त्रके अशुद्ध होनेसे । ऐसे ही भिक्षुओ ! चित्तके मलिन होनेसे दुर्गति अनिवार्य है ।

“जैसे, भिक्षुओ ! उज्जला साफ वस्त्र हो, उसे रंगरंज ले जाकर जिसकिसी ही रंगमें डाले, वह सुरंग निकलेगा, शुद्धवर्ण निकलेगा । सो किस लिये ?—भिक्षुओ ! वस्त्रके शुद्ध होनेके कारण । ऐसे ही भिक्षुओ ! चित्तके अन्-उपह्रिष्ट (= निर्मल) होने पर सुगति अनिवार्य (= लाजिमी) है (= प्रातिकार्ष्या) ।

“भिक्षुओ ! कौनसे चित्तके उपक्लेश (= मल) हैं ?—(१) अभिष्या = विषम लोभ चित्तका उपक्लेश है; (२) व्यापाद (= द्रोह) ०, (३) क्रोध ०, (४) उपनाह (= पाखंड) ०; (५) अक्ष (= अमरक) ०; (६) प्रदाश (= निष्ठुरता) ०; (७) ईर्ष्या ०; (८) मात्सर्य (= कंजुसी) ०; (९) माया (= वंचना) ०; (१०) शाठ्य ०; (११) स्तम्भ (= जडता) ०; (१२) सारम्भ (= हिंसा) ०; (१३) मान ०; (१४) अतिमान ०, (१५) मद ०; (१६) प्रमाद ० ।

“भिक्षुओ ! जो भिक्षु—‘अभिष्या = विषम लोभ चित्तका उपक्लेश है’—यह जानकर अभिष्या ० चित्तके उपक्लेशको त्यागता है । ‘व्यापाद चित्तका उपक्लेश है’—यह जानकर ० । क्रोध ० । उपनाह ० । अक्ष ० । प्रदाश ० । ईर्ष्या ० । मात्सर्य ० । माया ० । शाठ्य ० । स्तम्भ ० । सारम्भ ० । मान ० । अतिमान ० । मद ० । प्रमाद ० ।

“भिक्षुओ ! जब भिक्षुने—‘अभिष्या = विषमलोभ चित्तका उपक्लेश है,—यह जानकर चित्तके उपक्लेश अभिष्या ० को त्याग दिया है । व्यापाद ० । क्रोध ० । उपनाह ० । अक्ष ० । प्रदाश ० । ईर्ष्या ० । मात्सर्य ० । माया ० । शाठ्य ० । स्तम्भ ० । सारम्भ ० । मान ० । अतिमान ० । मद ० । प्रमाद ० । तो वह बुद्धमें अत्यन्त अद्वा (= प्रमाद)से युक्त होता है—‘वह भगवान् अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध (= परमज्ञानी), विद्या-और-आचरणसे संपन्न (= परिपूर्ण), सुगत (= सुन्दर गतिको प्राप्त) लोकविद्, पुरुषोंको दमन करने (= सम्मार्गपर लाने) के लिये अनुपम शत्रुके सवार, देव-अनुषोंके शास्ता (= उपदेशक) बुद्ध (= ज्ञानी) भगवान् है’ । यह

धर्ममें अत्यन्त अद्वैतसे युक्त होता है—‘भगवान्का धर्म स्वावशात् (सुन्दररीतिसे कहा गया) है, (वह) सादृष्टिक (= इसी दारीमें फल देनेवाला), अकालिक (= कालान्तरमें नहीं, सद्यः फलप्रद), एहिपदियक (= यहीं दिखाई देनेवाला), औपनयिक (= निर्वाणके पास लेजानेवाला), विज्ञ (पुरुषों)को अपने अपने भीतर (ही) विदित होनेवाला है’ । वह ‘संघमें अत्यन्त अद्वैतसे युक्त होता है—‘भगवान्का भावक (= शिष्य-संघ) सुभागासुद (= सुप्रतिपन्न) है, ० फल-प्रतिपन्न (= सरल मार्गपर आसुद) है, ० न्याय (मार्ग)-प्रतिपन्न है, ० सामीचि-प्रतिपन्न (= ठीक मार्गपर आसुद) है, यह जो चार पुरुष-युगल (= खोतभापन्न, सकुदामापी, अनागामी, अर्हत्), आठ पुरुष-युगल (= श्री पुरुष भेदसे खोतभापन्न आदि आठ) है, यही भगवान्का भावकसंघ है, (जो कि) आह्वान करने योग्य है, पातुना बनने योग्य, दक्षिणेश (= दानदेने योग्य), हाथ जोड़ने योग्य, और लोकके लिये पुण्य (वीने)का श्रेष्ठ है’ ।

‘जब उसके वह (मल) त्यक्त, वसित, मोक्षित, नष्ट, विसर्जित होते हैं, (और)—‘मैं बुद्धमें अत्यन्त अद्वैतसे युक्त हूँ’—यह (सोचकर) यह अर्थ-वेद (= अर्थज्ञान), धर्मवेद (= धर्म-ज्ञान)को पाता है, (और) धर्मवेद संबंधी प्रमोद (= प्रामोद) को पाता है । प्रमुक्षित (पुरुष)को प्रीति (= संतोष) होती है । प्रीतिमान्की काया शांत होती है, प्रब्रह्मकाय सुख अनुभव करता है । सुखीका चित्त एकाग्र होता है—‘मैं धर्ममें अत्यन्त अद्वैतसे युक्त हूँ’—यह (सोचकर) वह ० । ‘मैं संघमें अत्यन्त अद्वैतसे युक्त हूँ’—यह (सोचकर) वह ० । जब उसके वह (मल) त्यक्त ० होते हैं, तो वह अर्थवेद को, धर्म-वेद को पाता है ० । सुखीका चित्त एकाग्र होता है ।

‘भिक्षुओ ! वह ऐसे शीलवाला, ऐसे धर्मवाला, ऐसी प्रज्ञावाला, भिक्षु चाहे काली (भुक्षी आदि) युगकर बने शालीके भातको, अनेक रूप और व्यंजनके साथ खाये, तो भी उसको अन्तराय (= विघ्न) नहीं होगा । भिक्षुओ ! जैसे मैला कुवैला वस्त्र लच्छ जलको प्राप्त हो शुद्ध साफ हो जाता है; उल्कासुष्ण (= भट्टीकी बकिया)में पड़कर सोना शुद्ध साफ हो जाता है; ऐसेही भिक्षुओ ! ऐसे शीलवाला, ऐसे धर्मवाला, ऐसी प्रज्ञावाला भिक्षु चाहे ० शालीके भातको ० ।

‘वह मैत्री-युक्त चित्तसे एक दिशाको परिपूर्णकर विहरता है, वैसे ही दूसरी दिशाको, वैसे ही तीसरी ०, ० चौथी ० । इस प्रकार ऊपर नीचे आदे-येवे, सबका विचार रखनेवाला, सबके अर्थ, विपुल, महान्, प्रमाणरहित, वैररहित, व्यापार-रहित, मैत्री-युक्त चित्तसे सारे लोकको पूर्ण-कर विहार करता है ।

‘वह कल्याण-युक्त चित्तसे एक दिशाको ० । मुदिता-युक्त चित्तसे एक दिशाको ० । उपेक्षा-युक्त चित्तसे एक दिशाको ० ।

‘वह जानता है कि ‘वह निकृष्ट है’, ‘वह उत्तम (= प्रसीत) है’—इन (औक्तिक) संज्ञाओंसे ऊपर निस्सरण (= निष्कास) है । ऐसा जानते, ऐसा देखते हुये, उसका चित्त काम (वासना रूपी) आस्रवसे मुक्त हो जाता है, भव-आस्रवसे ०, त्रिविधा-आस्रवसे ० । मुक्त (= छूट) जानेपर, ‘मुक्त होगया हूँ’—यह ज्ञान होता है; और जानता है—जन्म क्षीण होगया, मज्जचर्या-वास समाप्त होगया, करना या मो कर लिया, अब दूसरा याही (कुछ करनेको) नहीं है । भिक्षुओ ! यह भिक्षु स्नान करे बिना ही स्नात (= नहाया) कहा जाता है ।’

१ यही तीनों वाक्य लघूद चिन्तन (= बुद्ध-धर्म-संघ)की अनुसृष्टि (= स्मरण) कही जाती है ।

उस समय सुन्दरिभारद्वाज ब्राह्मण भगवान्‌के अविद्वत्में बैठा था। तब सुन्दरिभारद्वाज ब्राह्मणने भगवान्‌से यह कहा—

“क्या आप गौतम स्नानके लिये बाहुकानदी चलेंगे ?”

“ब्राह्मण ! बाहुकानदीसे क्या (लेना) है ? बाहुकानदी क्या करेगी ?”

“हे गौतम ! बाहुकानदी लोकप्रान्थ (= लोक-संमत) है, बाहुकानदी बहुत जनोद्वारा पवित्र (= पुण्य) मानी जाती है। बहुतसे लोग बाहुकानदीमें (अपने) किये पापोंको बहाते हैं।”

तब भगवान्‌ने सुन्दरिभारद्वाज ब्राह्मणको गाथाओंमें कहा—

“बाहुका, अविकल, गया, और सुन्दरिकामें।

सरस्वती, और प्रयाग तथा बाहुमती नदीमें।

काहे कमौवाला भूढ़ चाहे नित्य नहाये, (किन्तु) शुद्ध नहीं होगा।

क्या करेगी सुन्दरिका, क्या प्रयाग, और क्या बाहुलिका नदी ?

(वह) पापकर्मों = कृतकिल्बिष टुट नरको नहीं शुद्ध कर सकते।

शुद्ध (तर) के लिये सदाही फलान् है, शुद्धके लिये सदा ही उपोसथ^१ है।

शुद्ध और शुचिकर्मोंके मत सदा ही पूरे होते रहते हैं।

ब्राह्मण ! यही नहा, सारे प्राणियोंका क्षेम कर।

यदि तू बड़ नहीं बोलता, यदि प्राण नहीं मारता।

यदि पिना दिया नहीं लेता, (और) अज्ञानान् अन्तर-रहित है।

(तो) गया जाकर क्या करेगा, शुद्ध जलाशय (= उद्‌पान) भी तेरे लिये गया है।”

ऐसा कहने पर सुन्दरिभारद्वाज ब्राह्मणने भगवान्‌को यह कहा—

“आश्चर्य ! हे गौतम !! आश्चर्य ! हे गौतम !!” यह मैं भगवान्‌ गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और मित्र-संघकी भी। आप गौतमके पास मैं प्रव्रज्या (= संन्यास) पाऊँ, उपसम्पदा^२ पाऊँ।”

सुन्दरिभारद्वाज ब्राह्मणने भगवान्‌के पास प्रव्रज्या, उपसम्पदा पाई। उपसम्पदा पानेके बाद, आयुष्मान् भारद्वाज एकान्तमें प्रमादरहित, उषोगन्तुक, आत्मनिग्रही हो विहरते, सोपे ही समग्रमें जिसके लिये कुलपुत्र घरने बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस अनुपम ब्राह्मण्यके अन्त (= निर्वान)को, इसी जन्ममें स्वयं जानकर, साक्षात्‌कर, प्राप्तकर विहरने लगे। “जन्म क्षीण होगया”^३ नहीं है—जान लिया। आयुष्मान् भारद्वाज अर्हतामेंसे एक दुपे।

^१ जलका दिन। ^२ देखो पृष्ठ १६। ^३ मित्र संघमें प्रवेशकी प्रक्रिया। ^४ देखो पृष्ठ १६।

८—सल्लेख-सुत्तन्त (१।१।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब आशुष्मान् महासुन्द सायंकालमें प्रतिसल्लयन (= ध्यान) में उठकर, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान्‌को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठकर आशुष्मान् महा-सुन्दने भगवान्‌को यह कहा—

“भन्ते ! जो यह आत्मपाद-संपन्धी वा लोकपाद-संपन्धी जनेक प्रकारकी दृष्टियाँ (= दर्शन, मत) दुनियामें उत्पन्न होती हैं, भन्ते ! इस प्रकार (इनके) आदिको ही मनमें (विचार) करनेसे इन दृष्टियोंका प्रहाण (= नाश) होता है, इन दृष्टियोंका परित्याग होता है । ”

“सुन्द ! जो यह० दृष्टियाँ दुनियामें उत्पन्न होती हैं, (उनको) जहाँ यह दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, जहाँ यह आश्रय ग्रहण करती हैं, जहाँ पर व्यपकृत होती हैं, (वहाँ)—‘यह मेरा नहीं’, ‘न यह मैं हूँ’, ‘न मेरा यह आश्रय है’—इसे इस प्रकार ध्यामैं तौरपर ठीकसे जानकर देखनेपर, इन दृष्टियोंका प्रहाण होता है, इन दृष्टियोंका परित्याग होता है ।

“हो सकता है, सुन्द ! यहाँ कोई भिक्षु कामोंसे विरहित^१० प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरे । उसके (मनमें) ऐसा हो—‘मैं सल्लेख (= तप) के साथ विहर रहा हूँ’ । लेकिन, सुन्द ! आर्य-विनय (= आर्यधर्म) में इन्हें सल्लेख नहीं कहा जाता; आर्यविनयमें इन्हें दृष्टधर्म-सुखविहार (= इली जन्ममें सुखपूर्वक विहार करना) कहते हैं ।

“हो सकता है, सुन्द ! यहाँ कोई भिक्षु विकर्ष और विषादके शान्त होनेपर^१ द्वितीय ध्यानको प्राप्त हो विहरे । उसको ऐसा हो—० । इन्हें आर्यविनयमें दृष्टधर्म-सुखविहार कहते हैं ।

“हो सकता है, सुन्द ! यहाँ कोई भिक्षु प्रीतिसे विरक्त हो^१ तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरे । ० । ० ।

“हो सकता है, सुन्द ! ० ०^१ चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरे । ० । इसे आर्यविनयमें दृष्टधर्म-सुखविहार कहते हैं ।

“हो सकता है, सुन्द ! यहाँ कोई भिक्षु कप-संज्ञा (= कपके विचार) को सर्वथा छोड़नेसे, प्रतिष (= प्रतिहिंसा) की संज्ञाओंके सर्वथा अस्त हो जानेसे, मानापनकी संज्ञाओंको मनमें न करनेसे, ‘आकाश जन्तु है’—इस आकाश-आनन्द-आयतनको प्राप्त हो विहरे । उसको ऐसा हो—‘मैं सल्लेखके साथ विहर रहा हूँ’ । लेकिन, सुन्द ! आर्य विनयमें इन्हें सल्लेख नहीं कहा जाता; आर्यविनयमें इन्हें शान्तविहार कहते हैं ।

^१ देखो पृष्ठ १५ ।

“होसकता है, तुम्हें ! • आकाशानन्त्यायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर ‘विज्ञान अनन्त है’—इस विज्ञान-आनन्द-आयतनको प्राप्त हो विहरे । • इन्हें शान्तविहार कहते हैं ।

“• • विज्ञानानन्त्यायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर, ‘कुछ नहीं’—इस आकिंचन्य (= न-कुछ-भी-पना) आयतनको प्राप्त हो विहरे । • • ।

“• • अकिंचन्यायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर, नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन (= जहाँ न संज्ञाही हो न असंज्ञा हो) को प्राप्त हो विहरे । • • ।

“किन्तु, तुम्हें ! यहाँ सल्लेख (= तप) करना चाहिये—(१) दूसरे हिसक (= विहिसक) होंगे, हम यहाँ अहिसक रहेंगे—यह सल्लेख करना चाहिये । (२) दूसरे प्राण मारनेवाले होंगे, हम यहाँ प्राण मारनेसे विस्त रहेंगे—यह सल्लेख करना चाहिये । (३) दूसरे शिवा विषा लेनेवाले • । (४) दूसरे अ-प्रज्ञाचारी • । (५) दूसरे मृषा (= झूठ)-वादी • । (६) दूसरे पिशुनभाषी (= चुल्लूभाषी) • । (७) दूसरे परम (= कठोर)-भाषी • । (८) दूसरे स्वप्रभाषी (= वक्तावादी) • । (९) दूसरे अभिप्रायालु (= लोभी) • हम यहाँ अनभिप्रायालु रहेंगे । (१०) दूसरे अपापञ्च (= हिसक)चित्त • सम्यक्-चित्त • । (११) दूसरे मिथ्या-दृष्टि • सम्यग्दृष्टि • । (१२) दूसरे मिथ्या-संकल्प • सम्यक्-संकल्प • । (१३) दूसरे मिथ्याभाषी • सम्यग्भाषी • । (१४) दूसरे मिथ्या-कर्मन्त (= कर्मिककर्म) • सम्यक्-कर्मन्त • । (१५) • मिथ्या-जाजीव (= अनुचितरीतिसे रोजी कमानेवाले) सम्यग्-जाजीव • । (१६) • मिथ्या-व्यास्रम (= प्रयत्न) • सम्यग् • व्यास्रम • । (१७) • मिथ्या (= अनुक्त)-व्युत्ति • सम्यक्-व्युत्ति • । (१८) • मिथ्या-समाधि • सम्यक्-समाधि • । (१९) • मिथ्या-ज्ञानी • सम्यग्-ज्ञानी • । (२०) • मिथ्या-विमुक्ति • सम्यग्-विमुक्ति (= मुक्ति) • । (२१) • स्वान • मूढ (= शरीर और मनके आलस्य)-संयुक्त • स्वान-मूढ-रहित • । (२२) • उद्धत • अनुद्धत • । (२३) • विचिकित्सक (= संशयालु) • विचिकित्सा पारंगत • । (२४) • कोषी • अकोषी • । (२५) • उपनाही (= घालाही) • अनुपनाही • । (२६) • सखी (= कोनावाले) • असखी • । (२७) • प्रदाही (= निष्ठुर) • अ-प्रदाही • । (२८) • ईर्ष्यालु • ईर्ष्यारहित • । (२९) • मत्सरी • अ-मत्सरी • । (३०) • शठ • अ-शठ • । (३१) • भाषावी (= वक्ता) • अ-भाषावी • । (३२) • लब्ध (= जड़) • अ-लब्ध • । (३३) • अतिमान्नी (= अभिमान्नी) • अनतिमान्नी • । (३४) • दुर्व्या • सुव्या • । (३५) • पाप-मित्र (= बुरोंको दोस्त बनानेवाले) • कल्याण-मित्र • । (३६) • प्रमत्त • अ-प्रमत्त • । (३७) • अज्ज्ञालु • ज्ञालु • । (३८) • निर्लज्ज • लज्जावान् • । (३९) • अनपश्यी (= उचित भयको भी न माननेवाले) • अपश्यी • । (४०) • अपश्युत (= अशिक्षित) • बहुभुत • । (४१) • कुसीद (= आलसी) • उद्योगी • । (४२) • मूढ-व्युत्ति • उपस्थित-व्युत्ति • । (४३) • दुःप्रज्ञ • प्रज्ञा-सम्पन्न • । (४४) दूसरे सान्दृष्टि (= ऐहिकलाभ)-परामर्षी (= सोच करनेवाला) जाधान-ग्राही (= हठी), दुःप्रतिनिस्सर्गी (= कठिनाईसे त्याग करनेवाले) होंगे, हम यहाँ अ-सान्दृष्टि-परामर्षी अजाधान-ग्राही सुप्रतिनिस्सर्गी रहेंगे—यह सल्लेख करना चाहिये ।

“तुम्हें ! अच्छी बातों (= धर्मों) के विषयमें विचारके उत्पन्न होनेको भी मैं हितकर कहता हूँ, काया और धचरसे (उनके) अनुष्ठानके धारमें तो कहना ही क्या है ? तुम्हें ! (१) दूसरे हिसक होंगे, और हम अहिसक रहेंगे—यह विचार उत्पन्न करना चाहिये • । (४५) दूसरे सान्दृष्टि-परामर्षी—यह विचार उत्पन्न करना चाहिये ।

“जैसे, तुम्हें ! कोई ! विषम (= कठिन) मार्ग है, और उसके परिक्रमण (= फेर खाने)-

के लिये दूसरा सम-मार्ग हो; जैसे सुन्द ! विषम तीर्थ (= नावका घाट) हो, और उसके परिक्रमण-के लिये दूसरा सम तीर्थ हो; ऐसे ही सुन्द ! (१) हितक पुरुष पुद्गल (= व्यक्ति) को अहिंसा परिक्रमणके लिये होती है । ० । (४४) सान्दष्टि-परामर्षी आधान-आही दुष्प्रतिनिस्सर्गी पुरुष-पुद्गलको असान्दष्टिता अ-परामर्षिता अनाधान-आहिता सुप्रतिनिस्सर्गिता परिक्रमणके लिये होती है ।

“जैसे सुन्द ! जो कोई भी अकुशल धर्म (= बुरे काम) है, वह सभी अवोभाव (= अवोगति) को पहुँचानेवाले है; जो कोई भी कुशल धर्म (= अच्छे काम) है, वह सभी उपरि-भावको पहुँचानेवाले है; जैसे ही सुन्द ! (१) हितक पुरुष = पुद्गलको अहिंसा कपर पहुँचानेवाली होती है । ० । (४४) सान्दष्टि-परामर्षी आधान-आही दुष्प्रतिनिस्सर्गी पुरुष = पुद्गलको असान्दष्टिता, अ-परामर्षिता अनाधान-आहिता सुप्रतिनिस्सर्गिता कपर पहुँचानेवाली होती है ।

“सुन्द ! जो स्वयं गिरा हुआ है, वह दूसरे गिरे हुएको उठावेगा, यह सम्भव नहीं है; किन्तु, जो सुन्द ! अपने गिरा हुआ नहीं है, वह दूसरे गिरे हुएको उठावेगा, यह सम्भव है । सुन्द ! जो स्वयं अदान्त (= मनके संयमसे रहित), अ-विनीत, अ-परिनिवृत्त (= निर्वाणको न प्राप्त) है, वह दूसरेको दान्त, विनीत, परिनिवृत्त करेगा, यह सम्भव नहीं; किन्तु, जो सुन्द ! स्वयं दान्त, विनीत, परिनिवृत्त है, वह दूसरेको दान्त, विनीत, परिनिवृत्त करेगा, यह सम्भव है । ऐतद्ही सुन्द ! (१) हितक पुरुषके लिये अहिंसा परिनिर्वाणके लिये होती है । ० । (४४) सान्दष्टि-परामर्षी आधान-आही दुष्प्रतिनिस्सर्गी पुरुष-पुद्गलको असान्दष्टिता-अपरामर्षिता अनाधान-आहिता सुप्रतिनिस्सर्गिता परिनिर्वाण (= दुःखविनाश) के लिये होती है ।

“वह मैंने सुन्द ! सल्लेख-पर्याय (= सल्लेख नामक धर्मोपदेश) उपदेशा, त्रिसुण्याद-पर्याय उपदेशा, परिक्रमण-पर्याय उपदेशा, उपरिभाव-पर्याय उपदेशा, परिनिर्वाण-पर्याय उपदेशा ।

“सुन्द ! आकाशों (= शिष्यों) के हितार्थी, अनुकम्पक, सान्ता (= उपदेशक) को अनुकम्पा करके जो करना चाहिये, वह तुम्हारे लिये मैंने कर दिया । सुन्द ! यह बुझमूल है, यह सूने घर है, ध्यानरत होओ । सुन्द ! मत प्रमाद (= गफ़लत) करो, मत पीछे अफ़सोस करनेवाले बनना—यह तुम्हारे लिये हमारा अनुशासन (= उपदेश) है ।”

भगवान् ने यह कहा, अन्तुष्ट हो आबुध्मान् सुन्दने भगवान् के भाषणका अनुमोदन किया ।

(चालीस पदों और पांच श्लोकों में (जो) उपदेशा गया । सागरसमान-मंजीर (यष्ट) सल्लेख नामक चतुस्तय है ।)

६-सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त (१।१।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक सम्यग् भगवान् श्रावस्तीमें अनायपिण्डिकके आगम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ आयुष्मान् सारिपुत्रने भिक्षुओंको संबोधित किया—“आवुसो भिक्षुओ !”

“आवुस !” (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया ।

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—“आवुसो ! सम्यग्-दृष्टि (= सम्मादिट्ठि) सम्यग्दृष्टि कही जाती है, आवुसो ! कैसे आर्यभावक (= आर्यधर्मी) सम्यग्दृष्टि (= ठीक सिद्धांतवाला) होता है ? उसकी दृष्टि सीधी, वह धर्ममें अत्यन्त श्रद्धावान्, (और) इस सद्दर्शको प्राप्त (होता है) ।”

“आवुस ! इस भाषणका अर्थ जाननेके लिये हम दूरसे भी आयुष्मान् सारिपुत्रके पास आते हैं । अच्छा हो, आयुष्मान् सारिपुत्र ही इस वचनका अर्थ कहे । आयुष्मान् सारिपुत्र (के मुख)से सुनकर भिक्षु धारण करेंगे ।”

“तो आवुसो ! सुनो, अच्छी तरह समझें करो कहता हूँ ।”

“अच्छा आवुस !” (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया ।

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—“अब, आवुसो ! आर्यभावक अकुशल (= दुःख) को जानता है, अकुशल-मूलको जानता है, कुशल (= भलाई, पुण्य) को जानता है, कुशलमूलको जानता है; इतनेसे आवुसो ! आर्यभावक सम्यग्-दृष्टि होता है । उसकी दृष्टि सीधी (होती है), वह धर्ममें अत्यन्त श्रद्धावान्, (और) इस सद्दर्शको प्राप्त होता है ।

“क्या है, आवुसो ! अ-कुशल ? क्या है अ-कुशलमूल ? क्या है कुशल ? क्या है कुशल-मूल ?—आवुसो ! (१) प्राणातिपात (= हिंसा) अकुशल है; (२) अदत्तादान (= चोरी) अकुशल है; (३) काम (= स्त्री-संस्पर्श) में मिथ्याचार (= दुराचार) ०; (४) मृषावाद (= झूठ बोलना) ०; (५) पिशुनवचन (= चुगली) ०; (६) परस्वचन (= कठोर भाषण) ०; (७) संप्रलाप (= बकवाद) ०; (८) अभिम्भा (= छालच) ०; (९) व्यापाद (= प्रतिहिंसा) ०; (१०) मिथ्यादृष्टि (= झूठी धारणा) ० ।—यह आवुसो ! अकुशल कहा जाता है । क्या है आवुसो ! अकुशल-मूल ?—(१) लोभ अकुशल-मूल है, (२) द्वेष ० (३) मोह अकुशल-मूल है ।—यह आवुसो ! अकुशल-मूल कहा जाता है । क्या है आवुसो ! कुशल ?—(१) प्राणातिपातसे विरति (= विरत होना) कुशल है; (२) अदत्तादानसे विरति ०; (३) काममें मिथ्याचारसे विरति ०; (४) मृषावाद्से विरति ०; (५) पिशुनवचनसे विरति ०; (६) परस्वचनसे विरति ०; (७) संप्रलापसे विरति ०; (८) अन्-अभिम्भा ०; (९) अ-व्यापाद ०; (१०) सम्यग्दृष्टि कुशल है ।—यह आवुसो ! कुशल कहा जाता है । क्या है आवुसो ! कुशलमूल ?—(१) अ-लोभ कुशल-मूल

है; (२) अ-दोष ०; (३) अ-मोह कुशल-मूल है।—यह आतुसो ! कुशल-मूल कहा जाता है। जब आतुसो ! आर्यभावक इस प्रकार अनुशक्त को जानता है, इस प्रकार अनुशक्त-मूल को जानता है। इस प्रकार कुशल को जानता है। इस प्रकार कुशलमूल को जानता है; (४) वह राग-अनुशक्त (= ० मूल) का परित्यागकर, प्रतिषेध (= प्रतिहिंसा) अनुशक्त को बटाकर, अस्मि (= मैं हूँ) इस इष्टि-मान (= धारणा के अभिमान) अनुशक्त को उन्मूलन कर, अविद्या को नष्ट कर, विद्या को उत्पन्न कर, इसी जन्ममें दुःखोंका अन्त करनेवाला होता है। इतनेसे भी आतुसो ! आर्य-भावक सम्प्रतिदिष्टि होता है ० ।

“ठीक आतुस !” (कह) उन भिक्षुओंने आतुसमान सारिपुत्र के भाषणका अभिवन्दन कर अनुमोदन कर, आतुसमान सारिपुत्रसे आगेका प्रश्न पूछा—“क्या आतुस ! और भी यथांश (= प्रकार) है, जिससे कि आर्यभावक सम्प्रतिदिष्टि होता है ० ?”

“है, आतुसो ! जब आतुसो ! आर्यभावक आहार को जानता है, आहार-समुदय (= आहार-रुकी उत्पत्ति) को जानता है, आहार-निरोध ०, आहार-निरोध-गामिनी प्रतिपद (= आहार के विनाश की ओर ले जानेवाले मार्ग) को जानता है। इतनेसे आतुसो ! आर्यभावक सम्प्रतिदिष्टि होता है ० । क्या है आतुसो ! आहार, क्या है आहार-समुदय, ० आहार-निरोध, ० आहार निरोध गामिनी प्रतिपद ?—आतुसो ! सर्वोंकी स्थिति (और) होने वालोंकी सहायता के लिये भूतों (= प्रणियों) के यह चार आहार हैं। कौनसे चार ?—(१) स्तूल वा सूक्ष्म कर्मलिकार (= प्राप्त करके खाया जानेवाला) आहार, (२) स्पर्श दूसरा (३) मन की संवेचना (= स्वाद) तीसरा, (४) विज्ञान चौथा। तृष्णाका समुदय (= उत्पत्ति) (ही) आहारका समुदय है। तृष्णाका निरोध आहारका निरोध है। यह आर्य-अर्थान्गिक मार्ग आहार-निरोध गामिनी प्रतिपद है, जैसे कि—(१) सम्प्रतिदिष्टि (= ठीक धारणा), (२) सम्प्रत्यक्ष, (३) सम्प्रत्यक्ष, (४) सम्प्रत्यक्षमान्त (= कर्म) (५) सम्प्रत्यक्ष-आजीव, (६) सम्प्रत्यक्ष-आवाह (= उद्योग), (७) सम्प्रत्यक्ष-स्मृति, (८) सम्प्रत्यक्ष-समाधि । जब आतुसो ! आर्यभावक इस प्रकार आहार को जानता है ०, तो वह सर्वथा रामानुशक्त का परित्याग कर ०^१ दुःखोंका अन्त करनेवाला होता है। इतने से आतुसो !

“ठीक आतुस !” यह (कह) उन भिक्षुओंने ०^१ आगेका प्रश्न पूछा—“०^१ ।”

“है, आतुसो ! जब आतुसो ! आर्यभावक दुःख को जानता है, दुःख-समुदय (= दुःख की उत्पत्ति, या कारण) को जानता है, दुःख-निरोध को जानता है, (और) दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद को जानता है, तब आतुसो ! आर्यभावक सम्प्रतिदिष्टि होता है ०^१ । क्या है आतुसो ! दुःख, क्या है दुःख-समुदय, क्या है दुःख-निरोध, क्या है दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपद ?—जति (= जन्म) भी दुःख है, जरा भी दुःख, व्याधि भी दुःख, मरण भी दुःख, जोक परिदेय (= रोना-काँदना) दुःख-दोर्मनस्य (= मन-संतोष) उपायास (= परेशानी) भी दुःख है, क्लिष्टा (चीज) की इच्छा करके उसे न पाना (वह) भी दुःख है; संक्षेपमें पाँचों उपादान (= विषयों की ओर पर ग्रहण करने योग्य) स्कन्ध (ही) दुःख है। इसे आतुसो ! दुःख कहा जाता है। क्या है आतुसो ! दुःख-समुदय ? यह जो सत्त्वी उन उन (भोगों) का अभिवन्दन करनेवाली, रागसे संयुक्त, फिर फिर जन्मने की तृष्णा है, जैसे कि—(१) काम (= इन्द्रिय-संयोग) की तृष्णा, (२) भव (= जन्मने) की तृष्णा, (३) विभव (= धन) की तृष्णा।—यह आतुसो ! दुःख-समुदय कहा

जाता है। क्या है आबुसो ! दुःख-निरोध ?—जो उस तृष्णाका संपूणतया विराग, निरोध, स्वाग=इतिनिस्सर्ग, मुक्ति, अभाज्य (= उसमें क्षीन न होना) ।—यह कहा जाता है आबुसो ! दुःखनिरोध । क्या है आबुसो ! दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपद् ?—यह आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ० है । (१) जैसे कि (१) सम्यग् दृष्टि ०^१ (८) सम्यक्-समाधि । जब आबुसो ! आर्य-आवक इस प्रकार दुःखको जानता है ० । ० । इतनेसे आबुसो ! ० ।

“ठीक, आबुस ! ०^१ ।”

“है, आबुसो ! जब आबुसो ! आर्य-आवक जरा-भरणको जानता है, ० समुदय ०, ० निरोध ०, ० निरोध-गामिनी प्रतिपद्को जानता है, तब आबुसो ! आर्य-आवक ०^१ । क्या है आबुसो ! जरा-भरण, ० समुदय, ० निरोध, ० निरोध-गामिनी प्रतिपद् ?—जो उन उन प्राणियोंकी उन उन प्राणि-शरीरोंमें जरा (= बुढ़ापा) जोर्णता, स्वाण्डिल (= दाँत टूटना), पाल्किप (= घास पचना), कल्लवक्काता (= झुर्री पड़ना), आयु-क्षय, इन्द्रिय-परिपाक (= ० विकार) ।—यह कही जाती है आबुसो ! जरा क्या है आबुसो ! भरण ?—जो उन उन प्राणियोंकी उन उन प्राणि-शरीरोंसे प्लुति = च्यवन होगा, भेद (= विधोष), अन्तर्धान, मृत्यु, भरण=कालक्रिया, स्कन्धोंका विरुद्ध होना, फलेवरका निक्षेप (= पतन) ।—यह कहा जाता है आबुसो ! भरण । इस प्रकार यह जरा और यह भरण (दोनों मिलकर) जरा-भरण होते हैं । जाति-समुदय (= जन्मका होना) जरा-भरण-समुदय है, जाति-निरोध (होनेसे), जरा-भरण-निरोध होता है । वही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग जरा भरण निरोध गामिनी प्रतिपद् है, जैसे कि ०^१ । जब आबुसो ! ०^१ ।”

“ठीक आबुस ! ०^१”

“है, आबुसो ! जब आबुसो ! आर्य-आवक तृष्णाको जानता है, ० समुदय ०, ० निरोध ०, ० निरोध-गामिनी प्रतिपद्को जानता है, तब आबुसो ! आर्य-आवक ०^१ । क्या है, आबुसो ! तृष्णा, ० समुदय, ० निरोध, ० निरोध-गामिनी प्रतिपद् ?—आबुसो ! तृष्णाके यह छः आकार (= काय, = समुदाय) हैं—रूप-तृष्णा, शब्द-तृष्णा, गन्ध-तृष्णा, रस-तृष्णा, स्पर्श-तृष्णा (= त्वक्का विषय)-तृष्णा, धर्म (= मनके विषयकी)-तृष्णा । वेदना (= अनुभव, सहसूस-करना)-समुदय (ही) तृष्णा-समुदय है, वेदना-निरोध (ही) तृष्णा-निरोध है । वही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग तृष्णा-निरोध गामिनी प्रतिपद् है, जैसे कि ०^१ । जब आबुसो ! ०^१ ।”

“ठीक, आबुस ! ०^१”

“है, आबुसो ! ० वेदनाको जानता है, ० समुदय ०, ० निरोध ०, ० निरोध-गामिनी प्रतिपद्को जानता है । तब आबुसो ! आर्य-आवक ०^१ । क्या है, आबुसो ! वेदना, ० समुदय, ० निरोध, ० निरोध-गामिनी प्रतिपद् ?—आबुसो ! वेदनाके यह छः आकार हैं—(१) ऋतु-संस्पर्शजा (= ऋतुके संयोगसे उत्पन्न) वेदना (= एहसास, अनुभव), (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा वेदना, (३) ज्ञान-संस्पर्शजा वेदना, (४) जिह्वा-संस्पर्शजा वेदना, (५) काय-संस्पर्शजा वेदना, (६) मन-संस्पर्शजा वेदना । स्पर्श (= इन्द्रिय और विषयका संयोग)-समुदय (से ही) वेदना-समुदय (होता है), स्पर्श-निरोध से वेदना-निरोध होता है । वही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग-वेदना-निरोध गामिनी प्रतिपद् है, जैसे कि ०^१ । जब आबुसो ०^१ ।

“ठीक आबुस ! ०^१”

“हे, आबुसो ! ० स्पर्श (= इन्द्रिय और विषयका संयोग) को जानता है, ० समुद्य, ००। तब आबुसो ! आर्यभावक ०१। क्या है आबुसो ! स्पर्श, ० समुद्य, ० ० ?—आबुसो ! स्पर्शके यह प्रकार (या समुदाय) है—(१) चक्षुः-संस्पर्श, (२) श्रोत्र-संस्पर्श, (३) घ्राण-संस्पर्श, (४) जिह्वा-संस्पर्श, (५) काय-संस्पर्श, (६) मनः-संस्पर्श। यह आयतन (= चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय या त्वक् और मन यह छः इन्द्रियाँ)-समुद्य (ही) स्पर्श-समुद्य है। यदायतन-निरोध (से) स्पर्श-निरोध (होता है)। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग स्पर्श-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है, जैसे कि ०१। तब आबुसो ०१।

“ठीक आबुस ! ०१”

“हे, आबुसो ! ० यदायतनको जानता है, ० समुद्य ०। ००। तब आबुसो ! आर्यभावक ०१। क्या है आबुसो ! यदायतन, ० निरोध, ०० ?—आबुसो ! यह छ आयतन (= इन्द्रिय) हैं—(१) चक्षुः-आयतन, (२) श्रोत्र-आयतन, (३) घ्राण-आयतन, (४) जिह्वा-आयतन, (५) काय-आयतन, (६) मन-आयतन। नाम-रूप (= विज्ञान और रूप Mind and matter)-समुद्य, यदायतन-समुद्य है, नाम-रूप-निरोध (ही) यदायतन-निरोध है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०१। ०१।

“ठीक आबुस ! ०१”

“हे, आबुसो ! ० नाम-रूपको जानता है, ० समुद्य ०, ००। तब आबुसो ! आर्यभावक ०१। क्या है आबुसो ! नाम-रूप, ० निरोध, ०० ?—(१) वेदना (= विषय और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न मन पर प्रथम प्रभाव), (२) संज्ञा (= वेदनाके अनंतरकी मनकी अवस्था), (३) चेतना (= संज्ञाके अनंतरकी मनकी अवस्था) (४) स्पर्श, मनस्विकार (= मनपर संस्कार),—यह आबुसो ! नाम है। चार महाभूत और चार महाभूतों को लेकर (घने) रूप, यह आबुसो रूप कहा जाता है। इस प्रकार यह नाम, (और) यह रूप, (दोनों मिलकर) आबुसो ! नाम-रूप कहा जाता है। विज्ञान-समुद्य नाम-रूप-समुद्य है। विज्ञान-निरोध, नाम-रूप-निरोध है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०१। ०१।

“ठीक आबुस ! ०१”

“हे, आबुसो ! ० विज्ञानको जानता है, ० समुद्य, ००। तब आबुसो ! आर्यभावक ०१। क्या है आबुसो ! विज्ञान, ० समुद्य, ०० ?—आबुसो ! यह छ विज्ञानके समुदाय (= काय) हैं—(१) चक्षुः-विज्ञान, (२) श्रोत्र-विज्ञान, (३) घ्राण-विज्ञान, (४) जिह्वा-विज्ञान, (५) काय-विज्ञान, (६) मनो-विज्ञान। संस्कार-समुद्य विज्ञान-समुद्य है, संस्कार-निरोध विज्ञान-निरोध है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०१। ०१।

“ठीक आबुस ! ०१”

“हे, आबुसो ! ० संस्कारोंको जानता है। ० समुद्य, ००। तब आबुसो ! आर्य-भावक ०१। क्या है आबुसो ! संस्कार, (= क्रिया, गति) ० समुद्य, ०० ?—आबुसो ! यह तीन संस्कार हैं—(१) काय-संस्कार, (२) वचन-संस्कार, (३) चित्त-संस्कार-निरोध है। यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०१। ०१।

“ठीक आबुस ! ०१”

“हे, आबुसो ! ० अविद्याको जानता है, ० समुद्य, ००। तब आबुसो ! आर्यभावक ०१।

क्या है आहुसो अविद्या, ० समुदय, ०० ?—आहुसो ! जो यह दुःखके विषयमें अज्ञान, दुःख समुदयके विषयमें अज्ञान, दुःख-निरोधके विषयमें अज्ञान, दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदके विषयमें अज्ञान, इसे आहुसो ! अविद्या कहा जाता है । आसव-समुदय अविद्या-समुदय है । आसव-निरोध अविद्या-निरोध है । यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०^१ । ०^१ ।

“हीक आहुस ! ०^१”

“है, आहुसो ! ० आसव (= विसमल) को जानता है, ० समुदय, ०० । तब आहुसो ! आर्यभावक ०^१ । क्या है आहुसो ! आसव, ० समुदय, ०० ?—आहुसो ! यह तीन आसव हैं—(१) काम-आसव, (२) भव- (= जन्मनेका) आसव, (३) अविद्या-आसव । अविद्या-समुदय आसव-समुदय है, अविद्या-निरोध आसव-निरोध है । यही आर्य-अष्टांगिक-मार्ग ०^१ ।

इससे आहुसो ! आर्यभावक सम्यग्-दृष्टि होता है, उसकी दृष्टि सीधी (होती है), यह धर्ममें अत्यन्त अच्छावान्, (और) इस सर्व्वको ग्रहण होता है ।”

आहुप्मान् सारिपुत्रने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने आहुप्मान् सारिपुत्रके भाषण-का अभिनन्दन किया ।

१०-सति-पट्टान-सुत्तन्त (१।१।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कुरु^१ (देश)में कुरुओंके निगम (कथा) कर्मास-दृष्टमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने शिषुओंको संबोधित किया—“भिक्षुजो !”

“भदन्त !” (कह) भिक्षुजोने भगवान्को उत्तर दिया ।

“भिन्नुभो ! यह जो चार स्मृति-प्रस्थान (= स्मृति-पट्टान) हैं, वह सत्त्वोक्ति—शोक कष्टकी विमुक्ति के लिए, दुःख = दौर्भाग्यस्थ के जलकमल के लिये, स्वाध (= धन्य) की प्राप्ति के लिये, निर्वाण-की प्राप्ति और साक्षात्कार के लिये, एकाग्रता (= अकेला) मार्ग है । कौनसे चार ?—भिन्नुभो ! वहाँ (इस धर्म में) भिन्नु काणामें ‘वाय-अनुपश्यो हो, उद्योगशील अनुभव (= संग्रहण) ज्ञान-युक्त, स्मृति-मान, शोक (= संसार वा शरीर) में अभिजा (= जोष) और दौर्भाग्य (= दुःख)-को हटाकर विहरता है । वेदनाओं (= सुखादि) में ‘वेदानुपश्यो हो • विहरता है । वित्तमें वित्तानुपश्यो • । धर्ममें धर्मानुपश्यो • ।

“भिद्युभो ! कैसे भिद्यु *कायामें, कायानुपश्यी हो विहरता है ?—भिद्युभो ! भिद्यु
 आरण्यमें, वृक्षके नीचे, या शून्यागारमें, जासन मारकर, शरीरको सीधाकर, स्थितिको सामने
 रखकर बैठता है । वह स्मरण रखते साँस छोड़ता है, स्मरण रखते ही साँस लेता है । कभी साँस
 छोड़ने तक, ‘कभी साँस छोड़ता हूँ’—जानता है । कभी साँस लेते तक, ‘कभी साँस लेता हूँ’—
 जानता है । छोटी साँस छोड़ते, ‘छोटी साँस छोड़ता हूँ’—जानता है । छोटी साँस लेते ‘छोटी साँस
 लेता हूँ’—जानता है । सारी कायाको जानते (= अनुभव करते) हुये, साँस छोड़ना सोचता है ।
 सारी कायाको जानते हुये साँस लेना सीखता है । कायाके संस्कार (= गति, क्रिया) को शांत करते
 साँस छोड़ना सीखता है । कायाके संस्कारको शांत करते साँस लेना सीखता है । जैसे कि—भिद्युभो !
 एक चतुर शरादकार (= भ्रमकार) या शरादकारका जन्तेवासी लम्बे (काष्ठ) को रंगते समय ‘लम्बा
 रंगता हूँ’—जानता है । छोटेको रंगते समय ‘छोटा रंगता हूँ’—जानता है । ऐसेही भिद्युभो ! भिद्यु
 कभी साँस छोड़ते •, लम्बी साँस लेते •, छोटी साँस छोड़ते •, छोटी साँस लेते • जानता है । सारी

१. कुत्ते वारेन देखो पुढच्या पृष्ठ ११८ ।

* जारीको कस्तो अवस्था स्वरूप केन्द्र-महानगर-सूत्र

साहि रूपमें देखनेवाला 'कामे कायाजुपयवी' कहा जाता है ।

तान चित्तकी अवस्था रूपी वेदनाओंको जैसा हो वैसा देखनेवाला वेदनामी वेदनानुपदयी ० ।^१ १ यही

कायाको जानते (= अनुभव करते) हुये सॉस छोड़ना सीखता है, ० सॉस लेना ० । काय-संस्कारको जात करते सॉस छोड़ना सीखता है, ० सॉस लेना ० । इस प्रकार कायाके भीतरी भागमें काया-तुपइयी हो विहरता है । कायाके बाहरी भागमें ० । कायाके भीतरी और बाहरी भागमें कायातुपइयी विहरता है । कायामें समुदय (= उत्पत्ति) धर्मको देखता विहरता है । कायामें व्यय (= खर्च, विनाश) धर्मको देखता विहरता है । कायामें समुदय-व्यय (= उत्पत्ति-विनाश) धर्मको देखता विहरता है । 'काया है'—यह स्मृति, ज्ञान और स्मृतिके प्रमाणके लिये उपस्थित रहती है । (तृष्णा आदिमें) अ-लभ्य हो विहरता है । लोकमें कुछ भी (मैं, और मेरा करके) नहीं ग्रहण करता । इस प्रकार भी भिक्षुओ ! भिक्षु कायामें काय बुद्धि रखते विहरता है ।

“^१ फिर भिक्षुओ ! भिक्षु जाते हुये 'जाता हूँ'—जानता है । बैठे हुये 'बैठा हूँ'—जानता है । सोये हुये 'सोया हूँ'—जानता है । जैसे जैसे उसको काया अवस्थित होती है, वैसेही उसे जानता है । इसी प्रकार कायाके भीतरी भागमें कायातुपइयी हो विहरता है, कायाके बाहरी भागमें कायातुपइयी विहरता है । कायाके भीतरी और बाहरी भागमें कायातुपइयी विहरता है । कायामें समुदय-(= उत्पत्ति)-धर्म देखता विहरता है, ० व्यय-(= विनाश) धर्म ०, ० समुदय-व्यय-धर्म ० । ० ।

“^२ और भिक्षुओ ! भिक्षु जानते (= अनुभव करते) हुये गमन-आगमन करता है । जानते हुये आलोकन-विशोकन करता है । ० सिकोड़ना फैलाना ० 'संघाटी, पात्र, चोवरका धारण करता है । जानते हुये आसन, पान, खादन, आस्वादन, करता है । ० पाषाणा (= उच्चार), पेशाव (= पससाव), करता है । चलते, खड़े होते, बैठते, सोते, जागते, धोळते, चुप रहते, जानकर करनेवाला होता है । इस प्रकार कायाके भीतरी भागमें कायातुपइयी हो विहरता है । ० ।

“^३ और भिक्षुओ ! भिक्षु पैरके तल्लेसे ऊपर, केश-मलकसे नीचे, इस कायाको नाना प्रकार-के मलोंमें पूर्ण देखता (= अनुभव करता) है—इस कायामें हैं—केश, रोम, नख, दाँत, त्वक् (= चमका), मांस, स्नायु, अस्थि, अस्थि (के भीतरकी) मज्जा, वृक्, इदय (कलेजा), यकृत, क्लोमक, प्रीहा (= तिल्ली), फुफ्फुस, अँत, पतली अँत (= अंत-गुण), उदरस्थ (वस्तुयें), पात्राना, पित्त, कृच्छ, पीष, लोह, पत्तीना, मेद (= वर), आँसू, बला (= चर्बी), त्वा, नासा-मल, *ललिका, और सूत्र । जैसे भिक्षुओ ! नाना अनाज वाली, बीही (= घान), मूँग, उदद, तिल, तण्डुलसे दोनों मुखमरी डेहरी (= सुबोली, पुटोली) हो, उसको जौलवाका पुरुष खोलकर देखे—यह वाली है, यह बीही है, यह मूँग है, यह उदद है, यह तिल है, यह तंडुल है । इसी प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु पैरके तल्लेके ऊपर केश-मलकसे नीचे इस कायाको नाना प्रकारके मलोंमें पूर्ण देखता है—इस कायामें हैं ० । इस प्रकार कायाके भीतरी भागमें कायातुपइयी हो विहरता है । ० ।

“^४ और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु इन 'कायाको (इसकी) स्थितिके अनुसार (इसको) रचनाके अनुसार देखता है—इस कायामें हैं—पृथिवी धातु (= पृथिवी महाभूत), आप (= जल)-धातु, तेज (= अग्नि) धातु, वायु-धातु । जैसे कि भिक्षुओ ! इक्षु (= चतुर) गो-धातक था गो-धातकका अन्ते-वासी, गावको मारकर छोटी बोंटी काटकर चौस्तेपर बैठा हो । ऐसे ही भिक्षुओ ! भिक्षु इस कायाको स्थितिके अनुसार, रचनाके अनुसार देखता है । ० । इस प्रकार कायाके भीतरी भागको ० ।

^१ बरी रंघो-पथ है । ^२ बड़ी संघजन्य है । ^३ भिक्षुओंकी डेहरी चादर । ^४ प्रतिकृत-मनसिकार ।

^५ केदुनी आदि जोकमें स्थित तरक पदार्थ । ^६ धातु-मनसिकार ।

“और भिक्षुओ ! भिक्षु एक दिनके भरे, दो दिनके भरे, तीन दिनके भरे, चूले, मोटे घण गये, पीप-भरे, (सुत)-शरीरको इमशानमें फेंकी देछे । (और उसे) वह इसी (अपनी) कायापर धटावै—यह भी काया इसी धर्म (= स्वभाव)-वाली, ऐसी ही होनेवाली, इससे न बच सकनेवाली है । इस प्रकार कायाके भीतरी भाग ० । ० ।

“और भिक्षुओ ! भिक्षु कौओंसे खाये जाते, चीन्होंसे खाये जाते, गिहोंसे खाये जाते, कुत्तोंसे खाये जाते, नामा प्रकारके जीवोंसे खाये जाते, इमशानमें फेंके (सुत)-शरीरको देखै । वह इसी (अपनी) कायापर धटावै—यह भी काया ० । ० ।

“और भिक्षुओ ! भिक्षु मौस-लोह-नलोंसे बँधे हट्टो-कंकालवाले शरीरको इमशानमें फेंका देखे ० । ० । ०

“० मौस-रहित लोह-लो, नलोंसे बँधे ० । ० । ० मौस-लोह-रहित नलोंसे बँधे ० । ० । ० बंधन-रहित हट्टियोंको दिशा-विदिशामें फेंकी देखे—कहीं हाथकी हड्डी है, ० पैरकी हड्डी ० ० जंघाकी हड्डी ०, ० उरकी हड्डी ०, कम्मरकी हड्डी ०, ० पीठके कोंटे ०, ० सोपकी ०, और इसी (अपनी) कायापर धटावे ० । ० ।

“और भिक्षुओ ! भिक्षु शंखके समान सफेद वर्णके हड्डीवाले शरीरको इमशानमें फेंका देखे ० । ० । ० वर्षों-पुरानी जमाकी हड्डियोंवाले ० । ० । ० सड़ी चूर्ण होगई हड्डियोंवाले ० । ० ।

“कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु वेदनाओंमें वेदानुपपत्ती (हो) विहरता है ?—भिक्षुओ ! भिक्षु सुख-वेदनाको अनुभव करते ‘सुख-वेदना अनुभव कर रहा हूँ’—जानता है । दुःख-वेदनाको अनुभव करते ‘दुःख-वेदना अनुभव कर रहा हूँ’—जानता है । अदुःख-असुख वेदनाको अनुभव करते ‘अदुःख-असुख-वेदना अनुभव कर रहा हूँ’—जानता है । स-आमिष (= मोत-पदार्थ-सहित) सुख-वेदनाको अनुभव करते ० । निर्-आमिष सुख-वेदना ० । स-आमिष दुःख-वेदना ० । निर्-आमिष दुःख-वेदना ० । स-आमिष अदुःख-असुख-वेदना ० । निर्-आमिष अदुःख-असुख-वेदना ० । इस प्रकार कायाके भीतरी भाग ० । ० ।

“कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु चित्तमें चित्तानुपपत्ती हो विहरता है ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु स-राग चित्तको ‘स-राग चित्त है’—जानता है । विराग (= राग-रहित) चित्तको ‘विराग चित्त है’—जानता है । स-द्वेष चित्तको ‘स-द्वेष चित्त है’—जानता है । नीत-द्वेष (= द्वेष-रहित) चित्तको ‘नीत-द्वेष चित्त है’—जानता है । स-मोह चित्तको ० । नीत-मोह चित्तको ० । संश्लिष चित्तको ० । विश्लिष चित्तको ० । महद्-गत (= महापरिमाण) चित्तको ० । ल-महद्गत चित्तको ० । स-उत्तर ० । अन्-उत्तर (= उत्तम) ० । समाहित (= एकाम) ० । अ-समाहित ० । विमुक्त ० । अ-विमुक्त ० । इस प्रकार कायाके भीतरी भाग ० । ० ।

“कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु धर्मोंमें धर्मानुपपत्ती हो विहरता है ?—भिक्षुओ ! भिक्षु पाँच नीवरण धर्मोंमें धर्मानुपपत्ती (हो) विहरता है । कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु पाँच धर्मानुपपत्ती हो विहरता है ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु विद्यमान भीतरी काम-चछन्द (= कामुकता) को ‘मेरेमें भीतरी काम-चछन्द विद्यमान है’—जानता है । अ-विद्यमान भीतरी कामचछन्दको ‘मेरेमें भीतरी कामचछन्द नहीं विद्यमान है’—जानता है । अन्-उत्पन्न कामचछन्दकी जैसे

^१ इमशान ।

^२ पौरुष (२) कायानुपपत्ति समाप्त ।

^३ (२) वेदानुपपत्ति ।

^४ (३) चित्तानुपपत्ति ।

^५ (४) धर्मानुपपत्ति ।

^६ पाँच नीवरण—कामचछन्द, व्यापाद,

स्तानदृढ, ओदम-ओदम, विचिकित्सा ।

उत्पत्ति होती है, उसे जानता है। जैसे उत्पन्न हुये कामच्छन्दका प्रहाण (= विनाश) होता है, उसे जानता है। जैसे विनष्ट कामच्छन्दको आगे फिर उत्पत्ति नहीं होती, उसे जानता है। विद्यमान भीतरी व्यापाद् (= प्रोह) को—'मेरेमें भीतरी व्यापाद् विद्यमान है'—जानता है। अ-विद्यमान भीतरी व्यापाद् को—'मेरेमें भीतरी व्यापाद् नहीं विद्यमान है'—जानता है। जैसे अन्-उत्पन्न व्यापाद् उत्पन्न होता है, उसे जानता है। जैसे उत्पन्न व्यापाद् नष्ट होता है, उसे जानता है। जैसे विनष्ट व्यापाद् आगे फिर नहीं उत्पन्न होता, उसे जानता है। विद्यमान भीतरी स्थापन-मुद्र (= धीन-मिद्र = शरीर-मनकी अकलता) ० । ० ।

० भीतरी ओदृत्य-कौटल्य (= उदय-कुम्कुच = उद्वेग-खेद,) ० । ० ।

० भीतरी विचिकित्सा (= संशय) ० । ० ।

'इस प्रकार भीतर धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यो हो विहरता है। बाहर धर्मोंमें (भी) धर्म-अनुपश्यो हो विहरता है। भीतर-बाहर ० । धर्मोंमें समुदय (= उत्पत्ति) धर्मका अनुपश्यो (= अनुभव करनेवाला) हो विहरता है । ० धर्म (= विनाश)-धर्म ० । ० उत्पत्ति-विनाश-धर्म ० । स्मृतिके प्रमाणके लिये ही, 'धर्म है'—यह स्मृति उसकी परावर विद्यमान रहती है। यह (तृप्ता आदिमें) अ-लभ हो विहरता है। लोकमें कुछ भी (मैं और मेरा) करके ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यो हो विहरता है ।

'और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु पाँच उपादान स्वेध धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यो हो विहरता है। कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु पाँच उपादान स्वेध धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यो हो विहरता है ? भिक्षुओ ! भिक्षु (अनुभव करता है)—'यह रूप है', 'यह रूपकी उत्पत्ति (= समुदय)', 'यह रूपका अस्त-मग्न (= विनाश) है' । ० संज्ञा ० । ० संस्कार ० । ० विज्ञान ० । इस प्रकार अज्वातन (= शरीरके भीतरी) धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यो हो विहरता है। बहिर्धा (= शरीरके बाहरी) धर्मोंमें धर्म-अनुपश्यो ० । शरीरके भीतरी-बाहरी धर्मों (= वस्तुओं)में समुदय (= उत्पत्ति)—धर्मको अनुभव करता विहरता है। वस्तुओंमें विनाश (= ध्वय)—धर्मको अनुभव करता विहरता है। वस्तुओंमें उत्पत्ति-विनाश-धर्मको अनुभव करता विहरता है। सिर्फ ज्ञान और स्मृतिके प्रमाणके लिये ही 'धर्म है'—यह स्मृति उसकी परावर विद्यमान रहती है। यह अ-लभ हो विहरता है। लोकमें कुछ भी नहीं ग्रहण करता। इस प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु पाँच उपादान-स्वेधोंमें धर्म (= स्वभाव) अनुभव करता (= धर्म-अनुपश्यो) विहरता है ।

'और फिर भिक्षुओ ? भिक्षु छः आध्यात्मिक (= शरीरके भीतरी), बाह्य (= शरीरके बाहरी) आध्यात्म धर्मोंमें धर्म अनुभव करता विहरता है। कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु छः भीतरी बाहरी आध्यात्म-रूपों धर्मोंमें धर्म अनुभव करता विहरता है ?—भिक्षुओ ! भिक्षु वस्तुको अनुभव करता है, रूपोंको अनुभव करता है, और जो इन दोनों (= चक्षु और रूप) करके संयोजन उत्पन्न होता है, उसे भी अनुभव करता है। जिस प्रकार अन्-उत्पन्न संयोजनकी

^१स्वेध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ।

^२आध्यात्म-बुद्धि, श्रोत्र, ज्ञान (= नासिक), जिज्ञा (= रसना), काय (= त्वक्), मन । इनमें पहिले पाँच आध्यात्मिक हैं, मन आध्यात्मिक (= शरीरके भीतरका) आध्यात्म है ।

^३संयोजन दस तरह है—जोषि (= प्रतिदिता), गान (= अभिमान), इष्टि (धारणा, मत), विचिकित्सा (= संशय), शील-जल-पचामर्श (= शील और जलका स्पर्श), भय-दान (आध्यात्म-वेद), ईर्ष्या, मात्सर्य और अ-विद्या । संयोजनका शब्दार्थ कथन है ।

उत्पत्ति होती है, उसे भी जानता है। जिस प्रकार उत्पन्न संयोजनका प्रहान (= विनाश) होता है, उसे भी जानता है। जिस प्रकार प्रहीन (= विनष्ट) संयोजनकी भाँति फिर उत्पत्ति नहीं होती, उसे भी जानता है। श्रोत्रको अनुभव करता है; शब्दको अनुभव करता है ०। घ्राण (सूँघनेकी शक्ति, घ्राण-इन्द्रिय)को अनुभव करता है। गेहूँको अनुभव करता है ०। जिह्वा ० र ०। ०। काया (= त्वक्-इन्द्रिय, ढंका गर्म आदि जाननेकी शक्ति) ०, स्पृष्ट्य (= ठंका गर्म आदि ०। ०। मनको अनुभव करता है। धर्म (= मनके विषय)को अनुभव करता है। दोनों (= मन और धर्म) करके जो 'संयोजन उत्पन्न होता है, उसको भी अनुभव करता है। ०। इस प्रकार जन्मात्म (= शरीरके भीतर) धर्मों (= पदार्थों) में धर्म (= स्वभाव) अनुभव करता विहरता है, बहिर्धर्मों (= शरीरके बाहर) ०, जन्मात्म-बहिर्धर्मों ०। धर्मोंमें उत्पत्ति-धर्मको ०, ० विनाश-धर्मको ०, ० उत्पत्ति-विनाश-धर्मको ०। सिद्धे ज्ञान और स्मृतिके प्रमाणके लिये ०। इस प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु शरीरके भीतर और बाहर वाले छः आसन्न धर्मों (= पदार्थों) में धर्म (= स्वभाव) अनुभव करता विहरता है।

“और भिक्षुओ ! भिक्षु सत्त 'संयोजन-धर्मों (= पदार्थों) में धर्म (= स्वभाव) अनुभव करता विहरता है। कैसे भिक्षुओ ! ० ? भिक्षुओ ! भिक्षु विद्यमान भीतरी (= जन्मात्म) स्मृति संयोजि-अङ्गको 'मेरे भीतर स्मृति संयोजि-अङ्ग है'—अनुभव करता है। अ-विद्यमान भीतरी स्मृति संयोजि-अङ्गको 'मेरे भीतर स्मृति संयोजि-अङ्ग नहीं है'—अनुभव करता है। जिस प्रकार अन्-उत्पन्न स्मृति संयोजि-अङ्गकी उत्पत्ति होती है; उसे जानता है। जिस प्रकार उत्पन्न स्मृति संयोजि-अङ्गकी भावना परिपूर्ण होती है; उसे भी जानता है। ० भीतरी धर्म-विषय (= धर्म-अन्वेषण) संयोजि-अङ्ग ०। ० वीर्य ०। ० प्रीति ०। ० प्रसन्न ०। ० समाधि ०। विद्यमान भीतरी उपेक्षा संयोजि-अङ्गको 'मेरे भीतर उपेक्षा संयोजि-अङ्ग है'—अनुभव करता है। अ-विद्यमान भीतरी उपेक्षा संयोजि-अङ्गको 'मेरे भीतर उपेक्षा संयोजि-अङ्ग नहीं है'—अनुभव करता है। जिस प्रकार अन्-उत्पन्न उपेक्षा संयोजि-अङ्गकी उत्पत्ति होती है; उसे जानता है। जिस प्रकार उत्पन्न उपेक्षा संयोजि-अङ्गकी भावना परिपूर्ण होती है; उसे जानता है। इस प्रकार शरीरके धर्मोंमें धर्म अनुभव करता विहरता; शरीरके बाहर ०, शरीरके भीतर-बाहर ०। ०। इस प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु शरीरके भीतर और बाहर वाले सात संयोजि-अङ्ग धर्मोंमें धर्म अनुभव करता विहरता है।

“और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु चार 'आवे-सल धर्मोंमें धर्म अनुभव करते विहरता है। कैसे ० ? भिक्षुओ ! 'यह दुःख है'—ठीक ठीक (= यथाभूत = जैसा है वैसा) अनुभव करता है। 'यह दुःखका समुदय (= कारण) है'—ठीक ठीक अनुभव करता है। 'यह दुःखका निरोध

* संयोजन दश यह है—शक्ति (= प्रतिहिता), माय (= अविमान), इन्द्रि (= धारणा, भव), विभक्तिता (= संशय), शील-व्रत-प्राप्त्यै (= शील और व्रतका ब्यापक), मन्-राम (= आध्यात्म-मन्-राम), रैर्षा, मात्सर्य और अ-विद्या। संयोजनका अर्थार्थ बन्धन है।

* सात बोध्यङ्ग—स्मृति, धर्म-विषय (= धर्म-अन्वेषण), वीर्य (= प्रयोग), प्रीति (= हर्ष), प्रसन्न (= शान्ति), समाधि, उपेक्षा। संयोजि = योजि (= परम ज्ञान) प्राप्त करनेमें यह परम साहायक है, उत्तमिये इन्हे योजि-अङ्ग कहा जाता है।

* आवे-सल चार है—दुःख, समुदय, निरोध, निरोध-गामिनी-व्रतिपर।

(= विनाश) है—ठीक ठीक अनुभव करता है । 'यह दुःखके निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग (= दुःख-निरोध गामिनी-प्रतिपद्) है'—ठीक ठीक अनुभव करता है ।

"इस प्रकार भीतरी धर्मोंमें धर्मानुपश्यो हो विहरता है । ० । अ-लभ हो विहरता है । लोकमें किसी (वस्तु) को भी (मैं और मेरा) करके नहीं ग्रहण करता । इस प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु चार आर्य-सत्य धर्मोंमें धर्मानुपश्यो हो विहरता है ।

"जो कोई भिक्षुओ ! इन चार स्मृति-प्रस्थानोंकी इस प्रकार सात वर्ष भावना करे, उसको दो फलोंमें एक फल (अवश्य) होना चाहिये—इसी जन्ममें आज्ञा (= अर्हत्व) का साक्षात्कार, या 'उपाधि दोष होनेपर अनागामी-भाव । रहने दो भिक्षुओ ! सात वर्ष, जो कोई इन चार स्मृति-प्रस्थानोंको इस प्रकार छः वर्ष भावना करे ० । ० पाँच वर्ष । चार वर्ष ० । ० तीन वर्ष ० । ० दो वर्ष ० । ० एक वर्ष ० । ० सात मास ० । ० छः मास ० । ० पाँच मास ० । ० चार मास ० । ० तीन मास ० । ० दो मास ० । ० एक मास ० । ० अर्ध मास ० । ० सप्ताह ० ।

"भिक्षुओ ! 'वह जो चार स्मृति-प्रस्थान है; वह सबोंके शोक-कष्टकी विशुद्धिके लिये, दुःख दौर्भाग्यके अतिक्रमणके लिये, न्याय (= सत्य) की प्राप्तिके लिये, निर्वाण की प्राप्ति और साक्षात् करनेके लिये, एकाग्रता मार्ग है ।' वह जो (मैंने) कहा, इसी कारणसे कहा ।"

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो, उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणको अस्मिन्विदित किया ।^१

१—इति मूलपरिचायवग्न (१११)

^१ (दुःखका कारण तृष्णा आदि) । ^२ दोहेसे अंश की अधिकतासे यही अर्थ, दीर्घनिकायका महासत्तिपट्ठान-सुट्ट (२।२२) है (देखो बुद्धजी पृष्ठ १२८-२७) ।

११-चूल-सीहनाद-मुत्तन्त (१।२।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाद्यपिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“मदन्त !” (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! वहाँ ही प्रथम भ्रमण (= संन्यासी महात्मा) (१), वहाँ द्वितीय भ्रमण, वहाँ तृतीय भ्रमण, वहाँ चतुर्थ भ्रमण है, दूसरे मत (= प्रवाद) भ्रमणोंसे शून्य है।—इस प्रकार भिक्षुओ ! अच्छी तरहसे सिंहनाद (= सीहनाद) करो।

“हो सकता है भिक्षुओ ! अन्य तैर्यिक (= दूसरे मतवाले) यह कहें—‘आयुष्मानोंको क्या आश्वास = क्या बल है, जिससे कि तुम आयुष्मान् यह कहते हो—‘यहाँ ही भ्रमण है, ०’। ऐसा कहनेवाले अन्य मतानुयायियोंको भिक्षुओ ! तुम ऐसा कहना—‘आयुसो ! उन भगवान् जाननहार, देखनहार, अर्हत् सम्बन्ध संशुद्धने हमें चार धर्म (= बात) बतलाये हैं, जिनको हम अपने भीतर देखतेहुये ऐसा कहते हैं—‘यहाँ ही भ्रमण है ०। बीनसे चार ?—आयुसो ! (१) हमारी शास्ता (= उपदेशक) में अद्वा (= प्रवाद) है, (२) धर्ममें अद्वा है, (३) शील (= सदाचार) में परिपूर्ण कारिता (= पूरा करनेवाला होना), (४) सहधर्मों गृहत्व और प्रव्रजित हमारे प्रिय = मनाप है। आयुसो ! उन भगवान् ० सम्बन्ध-सम्बुद्धने हमें यह चार धर्म बतलाये हैं, जिनको हम अपने भीतर देखतेहुये ऐसा कहते हैं—यहाँ ही भ्रमण ०।’

“हो सकता है, भिक्षुओ ! अन्य मतानुयायी यह कहें—‘आयुसो ! (१) जो हमारा शास्ता (= गुरु) है, (उस) शास्तामें हमारी भी अद्वा है; जो हमारा धर्म है, (उस) धर्ममें हमारी भी अद्वा है; (२) जो हमारे शील (= सदाचार) है, (उन) शीलमें हमारी भी परिपूर्णकारिता है। हमारे भी सहधर्मों गृहत्व और प्रव्रजित प्रिय = मनाप हैं। आयुसो ! तुम्हारे और हमारेमें यहाँ क्या विशेष = नाश-करण = अविषय है ? ऐसा कहनेवाले अन्यमतानुयायियोंको भिक्षुओ ! तुम ऐसा कहना—‘आयुसो ! क्या (आप लोगोंकी) एकनिष्ठा है, या पृथग् (= अलग) निष्ठा ?’ ठीकसे उत्तर देनेपर भिक्षुओ ! अन्यमतवाक्यन्वी यह उत्तर देंगे—‘एक निष्ठा है आयुसो ! पृथग् निष्ठा नहीं है।’ ‘आयुसो ! वह निष्ठा क्या सरागके सम्बन्धमें है, या वीतरागके सम्बन्धमें ?’ ठीकसे उत्तर देनेपर अन्यमतवाक्यन्वी यह कहेंगे—‘वीतरागके सम्बन्धमें है वह निष्ठा, आयुसो ! सरागके सम्बन्धमें नहीं।’ ‘आयुसो ! वह निष्ठा क्या सरेपके सम्बन्धमें है या वीतहृषके सम्बन्धमें ?’ ‘० वीतहृषके सम्बन्धमें ०।’ ‘० समोहके सम्बन्ध में, या वीतमोहके ० ?’ ‘० वीतमोहके सम्बन्धमें ०।’ ‘० स-तृष्णके सम्बन्धमें, या वीत-तृष्णके ० ?’ ‘० वीततृष्णके सम्बन्धमें ०।’ ‘० स-उपादान (= बढोरनेवाले) के सम्बन्धमें, या अनुपादानके ० ?’ ‘० अनुपादानके

सम्बन्धमें ० ।' ० विदु (= ज्ञानी) ० या अ-विदुके ० ?' ० '० विदुके सम्बन्धमें ० ।'
 '० अनुसूद = प्रतिविदुके सम्बन्धमें वा अनु-अनुसूद = अप्रतिविदुके ० ?' ० '० अनुसूद =
 अप्रतिविदुके सम्बन्धमें ० ।' ० प्रपंचाराम = प्रपंचरतिके सम्बन्धमें वा निप्रपंचारामके ० ?
 ० '० निप्रपंचारामके सम्बन्धमें वह निष्ठा है अतुलो ! प्रपंचाराम = प्रपंचरतिके सम्बन्धमें नहीं ।'

“भिक्खुओ ! दो प्रकारकी दृष्टियाँ (= चारणायें) हैं—भव (= संसार)-दृष्टि, विभव (= अ-संसार)-दृष्टि । भिक्खुओ ! जो कोई अमण ब्राह्मण भवदृष्टिमें लीन, भवदृष्टिको प्राप्त, भवदृष्टिमें तत्पर है, वह विभवदृष्टिसे विरुद्ध है, और, भिक्खुओ ! जो अमण ब्राह्मण विभवदृष्टिमें लीन, विभवदृष्टिको प्राप्त, विभवदृष्टिमें तत्पर है, वह भवदृष्टिसे विरुद्ध है । भिक्खुओ ! जो अमण ब्राह्मण इन दोनों दृष्टियोंके समुदय (= उत्पत्ति) अस्तगमन, आत्मावाद, आदिनव (= परिणाम) निस्सरण (= निकास) को व्यवार्थतया नहीं जानते, वह सराग (है), सहेप, समोद, सत्तुप्पा, स-उपादान, अ-विदु (= अज्ञानी), अनुसूद = प्रतिविदु, प्रपंचाराम प्रपंचरत, है; वह जाति, जराभरण, शोक-परिदेय (= श्रद्धा)-दुःख-उपापासोत्ते नहीं छूटे हैं—यह मैं कहता हूँ । (और) भिक्खुओ ! जो अमण ब्राह्मण इन दोनों दृष्टियोंके समुदय ० को व्यवार्थतया जानते हैं, वह वीतराग (है), वीतद्वेष ० निप्र-पंचरत है, वह जाति, जराभरण, ० से छूटे हैं—यह मैं कहता हूँ ।

“भिक्खुओ ! यह चार उपादान (= आग्रह, ग्रहण) हैं । कौनसे चार ?—(१) काम (= इन्द्रियभोग)-उपादान । (२) दृष्टि (= धारणा)-उपादान, (३) शील-व्रत-उपादान; (४)-आत्मवाद-उपादान ।

भिक्खुओ ! कोई कोई अमण ब्राह्मण (अपनेको) सर्व-उपादान-परिज्ञावादी (= सारे उपादानोंके त्यागका भूत रहनेवाले) कहतेहुये भी, वह ठीक तौरसे सारे उपादानोंके परिज्ञा (= परित्याग) को प्रज्ञापित नहीं करते । काम-उपादान की परिज्ञाको कहते हैं, (किन्तु) दृष्टि ०, शील-व्रत ०, आत्मवाद-उपादानकी परिज्ञाको नहीं प्रज्ञापित करते । सो किस कारण ?—यह आप अमण ब्राह्मण (उन) तीन बातों (= स्थानों) को ठीकसे नहीं जानते, इसीलिये वह अमण ब्राह्मण (अपनेको) सर्व-उपादान-परिज्ञावादी कहते भी ०, आत्मवाद-उपादानकी परिज्ञाको नहीं प्रज्ञापन करते ।

“भिक्खुओ ! कोई कोई अमण ब्राह्मण (अपनेको) सर्व-उपादान-परिज्ञा-वादी कहते भी ० । काम ०, (और) दृष्टि-उपादानकी परिज्ञाको प्रज्ञापते हैं, (किन्तु) शीलव्रत ०, (और) आत्मवाद-उपादानकी परिज्ञाको नहीं प्रज्ञापते । सो किस कारण ?—० उन दो बातोंको ठीकसे नहीं जानते ० ।

“भिक्खुओ ! कोई कोई ० कहते भी ० । काम ०, दृष्टि ०, (और) शीलव्रत-उपादानकी परिज्ञा (= परित्याग) को प्रज्ञापते (= बतलाते) हैं, (किन्तु) आत्मवाद-उपादानकी परिज्ञा नहीं प्रज्ञापते । सो किस कारण ?—० इस एक बातको ठीकसे नहीं जानते ० ।

“भिक्खुओ ! इस प्रकारके धर्मविनय (= मत) में जो आत्माके सम्बन्धमें श्रद्धा है, वह सम्म-गत (= ठीक स्थानमें) नहीं कही जाती; जो धर्ममें श्रद्धा ०, जो शीलमें परिपूर्ण-कारिता ०; जो सहचरिणियोंमें प्रिय-अनापत्ता है, वह सम्मगत नहीं कही जाती । सो किस कारण ? क्योंकि यह ऐसे धर्म-विनय (= मत) के विषयमें है, (जो कि) दुराख्यात (= ठीकसे नहीं ध्याख्यात किया गया) दुरूपवेदित (= ठीकसे न जाना गया), अ-नैर्गणिक (= न पार करानेवाला), अनु-उपशम-संपत्त-निक (= शान्तिको न प्राप्त करानेवाला), अ-सम्बन्ध-संशुद्ध-प्रवेदित (= व्यवार्थज्ञानी द्वारा नहीं जाना गया) है ।

“भिक्खुओ ! तत्तागत अर्हत् सम्बन्ध-संशुद्ध (अपनेको) सर्व-उपादान-परिज्ञावादी कहतेहुये,

हीक तौरसे सभी उपादानोंको परिज्ञाको प्रज्ञापते हैं—काम-उपादान ०, दृष्टि ०, शीकृत ०, (और) आत्मवाद (= आत्मा कोई नित्यवस्तु है, यह सिद्धान्त)-उपादानको परिज्ञाको प्रज्ञापते हैं । भिक्षुओ ! ऐसे धर्ममें जो शास्त्राके सम्बन्धमें खड़ा है, यह सत्यगत (= हीक स्थानमें) कहो जाती है; ० ० । सो किस हेतु ?—क्योंकि यह ऐसे धर्मके विषयमें है, (जो कि) सु-आख्यात, सुप्रवेदित, नैर्घाणिक, उपयाम-संवर्तनिक (और) सम्यक्-संतुष्ट-प्रवेदित है ।

“भिक्षुओ ! यह चार उपादान किस विद्वान् (= कारण)वाले = किस समुदयवाले, किस जातिवाले = किस प्रभव (= उत्पत्ति)वाले हैं ?—यह चारों उपादान तृष्णा-निदानवाले, तृष्णा-समुदयवाले, तृष्णा-जातिवाले, (और) तृष्णा-प्रभववाले हैं ।

“भिक्षुओ ! तृष्णा किस निदानवाली है, ० ?—वेदना-निदानवाली ० ।

“ ० वेदना किस निदानवाली, ० ?—स्पर्श-निदानवाली ० ।

“ ० स्पर्श किस निदानवाला, ० ?—पञ्चायतन^१-निदानवाला ० ।

“ ० पञ्चायतन किस निदानवाला, ० ?—नाम-रूप-निदानवाला ० ।

“ ० नामरूप किस निदानवाला, ० ?—विज्ञान-निदानवाला ० ।

“ ० विज्ञान किस निदानवाला, ० ?—संस्कार-निदानवाला ० ।

“ ० संस्कार किस निदानवाले, ० ?—अविद्या-निदानवाले ० ।

“अब भिक्षुओ ! भिक्षुकी अविद्या नष्ट हो जाती है, और विद्या उत्पन्न हो जाती है; अविद्या के विनाशसे (तथा) विद्याकी उत्पत्तिसे न काम-उपादान पकड़ा (= उपास) जाता है, न दृष्टि-उपादान, ० न आत्मवाद-उपादान पकड़ा जाता है; उपादान (= पकड़ना) न करनेसे भयभीत नहीं होता, भयभीत न होनेपर इसी शरीरसे निर्वाणको प्राप्त हो जाता है । ‘जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्यवास पूरा हो गया, करना या सो कर लिया, और अब यहाँ कुछ (करने को) नहीं है’—यह जान लेता है ।”

भगवान्ने यह कहा । सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणका अभिर्नन्दन किया ।

१२—महासीहनाद-सुत्तन्त (१।२।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वैशालीमें अचरपुर-वन-संडमें विहार करते थे ।

उस वक्त सुनस्सत्त लिच्छविपुत्तको इस धर्मको डोढ़कर चले गये थोड़ाही समय हुआ था । वह वैशालीमें परिषद्में इस प्रकार कहता था—“अमण गौतमके पास आर्य-ज्ञान-दर्शनकी पराकाष्ठा, अचरमनुष्यधर्म (= दिव्य-शक्ति) नहीं है । विमर्ष (= चिन्तन) से सोचे, अपने प्रति-भासे जाने, तर्कसे प्राप्त धर्मको (ही) अमण गौतम उपदेशता है । जिस (मनुष्य) के लिये धर्म उपदेशता है, वह अपने दुःख-अमको प्राप्त होता है ।”

तब आयुष्मान् सारिपुत्र पूर्वाह्न समय पहिन कर पात्र-सौवर (= शिक्षापात्र, वस्त्र) ले वैशालीमें भिक्षाके लिये प्रव्रित्त हुये । आयुष्मान् सारिपुत्रने सुनस्सत्त (= सुनक्षत्र) लिच्छविपुत्र को वैशालीमें परिषद्के बीचमें यह वचन बोलते सुना—“अमण गौतमके पास ० (= दिव्य शक्ति) नहीं ० ।

तब आयुष्मान् सारिपुत्र वैशालीमें पिडचार करके, भोजनके पत्रवान् भिक्षाघसे निवृत्त हो, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान्को अभिनन्दनकर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठकर आ.सारिपुत्रने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! हालहीमें इस धर्मको डोढ़कर गया हुआ, सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र, वैशालीमें परिषद्के बीचमें यह वचन बोल रहा है—‘अमण गौतमके पास ० (दिव्य शक्ति) नहीं है ० ।’”

१—“सारिपुत्र ! सुनस्सत्त मोघ-पुरुष (= फलरहित आदर्शी) कौंधी है, कौंधते ही उसने यह वचन कहा होगा । सारिपुत्र ! निन्दा करनेके ब्वालसे (बोलते हुये) जो सुनस्सत्त मोघपुरुषने तथ्यागतकी प्रशंसा ही करी । सारिपुत्र ! यह तथ्यागतकी प्रशंसा ही है, जो कोई ऐसा कहे—जिसके लिये धर्म उपदेशता है, वह अपने दुःख छवको प्राप्त होता है ।’ सारिपुत्र ! सुनस्सत्त मोघपुरुषका यह भी लुहमें धर्म-सम्बन्ध नहीं—“वह भगवान् अर्हत् ०” बुद्ध भगवान् हैं ।’ सारिपुत्र ! सुनस्सत्त मोघपुरुषका यह भी ० नहीं—‘इस प्रकार वह भगवान् अनेक प्रकारकी कदियोंका बहुमान करते हैं—एक होकर अनेक हो जाते हैं ०’ । कायासे ब्रह्मलोक पर्यन्तको अपने वशमें कर लेते हैं ।’ सारिपुत्र ० !—‘वह भगवान् अमानुष विभुद्ध दिव्य धोत्रोंसे उभय प्रकारके शब्दोंको सुनते हैं ०’ । सारिपुत्र ! ० —‘वह भगवान् दूसरे सत्त्वों-दूसरे व्यक्तियोंके चित्तोंको (अपने) चित्तसे देखकर जान लेते हैं—०’ अविमुक्त चित्त होनेपर ‘अविमुक्त चित्त है’—जान लेते हैं ।’

२—“सारिपुत्र ! तथ्यागतके यह द्वा तथ्यागत-बल हैं, जिसको प्राप्तकर तथ्यागत उच्च

^१ देखो पृष्ठ १४ ।

^२ देखो पृष्ठ १६ ।

(= सार्वभ) स्थानको पाते हैं, परिषद्में सिंहनाद करते हैं, ब्रह्मचर (= धर्मचर) को चलाते हैं, कौनसे दस ?—(१) सारिपुत्र ! तथागत स्थानको स्थानके तौरपर, और ज-स्थानको ज-स्थानके तौरपर, यथार्थतया जानते हैं । जो कि सारिपुत्र ! तथागत स्थानको जानते हैं, यह भी तथागत के किये तथागत-बल है, जिस बलको प्राप्त कर ० ब्रह्मचर चलाते हैं ।

“(२) और फिर सारिपुत्र ! तथागत अतीत, भविष्य और वर्तमानके किये कर्मोंके विपाकको स्थान, और हेतुपूर्वक ठीकसे जानते हैं ० । ब्रह्मचर चलाते हैं ।

“(३) और फिर सारिपुत्र ! तथागत सर्वव्यापिनी प्रतिपद् (= मार्ग, ज्ञान) को ठीकसे जानते हैं ० । ब्रह्म ० ।

“(४) और फिर सारिपुत्र ! तथागत अनेक धातु (= ब्रह्मांड) नामा धातुवाले लोकोंको ठीकसे जानते हैं ० । ब्रह्म ० ।

“(५) ० नाना अधिभुक्ति (= स्वभाव)वाले सत्त्वों (= प्राणियों) को ठीकसे जानते हैं ० । ० ।

“(६) ० दूसरे सत्त्वों = दूसरे पुद्गलोंको इन्द्रियोंके परस्पर-अपरस्पर (= प्रयत्नता) को ० । ० ।

“(७) ० ध्यान, विमोक्ष,^१ समाधि, समापत्ति,^२ के संक्लेश (= मल), व्यवदान (= निर्मल-करण), उत्थान, को ० । ० ।

“(८) ० अनेक प्रकारके पूर्व-विद्याओंको याद करते हैं ०^३ इस प्रकार आकार और उद्देश्य सहित अनेक प्रकारके पूर्व-विद्याओंको स्मरण कर सकते हैं ० ।

“(९) ० अथस्तुष विद्युद् दिक्क-चतुसे ०^४ प्राणियोंको उत्पन्न होते करते ०^५ स्वर्गलोक को प्राप्त हुये हैं । ०

“(१०) और फिर सारिपुत्र ! आत्मकों (= चित्तमलों) के शब्दों आत्म-रहित चित्तकी विभुक्ति (= मुक्ति) प्रज्ञाको विभुक्तिको इसी जन्ममें साक्षात्कार कर प्राप्त कर विहरते हैं । जो कि सारिपुत्र ! तथागत आत्मकोंके लक्ष्मसे ० प्राप्त कर विहरते हैं, यह भी तथागतके किये तथागत-बल है, जिस बलको प्राप्त कर तथागत उत्तम स्थानको पाते हैं, (और) परिषद्में सिंहनाद करते हैं, ब्रह्म-चर चलाते हैं ।

“सारिपुत्र ! तथागतके यह दस तथागत-बल हैं, जिन बलोंको प्राप्त कर ० ब्रह्म चर चलाते हैं ।

“सारिपुत्र ! ऐसे जाननेवाले, ऐसे देखनेवाले मुझे जो कहे—‘अमण गौतमके पास ०’ इतर-सत्त्व-धर्म नहीं हैं ० । तर्कसे प्राप्त धर्मको अमण गौतम उपदेशता^६ है । सारिपुत्र ! यदि वह उस वचनको न छोड़े, उस चित्त (= ब्रह्म) को न छोड़े, उस रहस्यको विसर्जित न करे, तो जन्ममें ब्रह्मा जैसा होगा । जैसे सारिपुत्र ! लील-सम्पन्न (= सदाचारयुक्त), समाधि-सम्पन्न, प्रज्ञा-सम्पन्न, विभु इसी जन्ममें ब्रह्मा (= मोक्ष) को पाये, वैसेही इस सम्पन्नको भी मैं सारिपुत्र ! कहता हूँ, कि यदि (वह) उस वचनको न छोड़े ० तर्कमें ब्रह्मा जैसा होगा ।

३—“सारिपुत्र ! यह चार तथागतके वैशारद्य हैं, जिन वैशारद्यों (= वितारद्वय) को

^१ विमोक्ष आठ है—, देखो शब्दानुक्रमणी ।

^२ एक प्रकारका ध्यान ।

^३ देखो पृ० १५

^४ देखो पृष्ठ ४४ ।

प्राप्त कर तथागत ० परिषद्में सिंहनाद करते हैं ० । कौनसे चार ?—(१) 'अपनेकी सम्यक् समुद्ध कहेनेवाले मैंने इन धर्मों (बातों) को नहीं बोध किया, सो उनके विषयमें कोई भ्रमण, माहाण, देव, मार, अज्ञा या लोकमें कोई (दुःख) धर्मांतुसार पूछ न बैठे'—मैं ऐसा कोई कारण सारिपुत्र ! नहीं देखता । सारिपुत्र ! ऐसे किसी कारणको न देखते मैं श्रेमको प्राप्त हो, अभयको प्राप्त हो, वैशारद्यको प्राप्त हो, विहरता हूँ । (२) 'अपनेकी क्षीणास्त्रव (= अर्हत्) कहेनेवाले मेरे यह आस्त्र (= चित्त-दोष) क्षीण नहीं हुए, सो उनके विषयमें कोई भ्रमण ० धर्मांतुसार पूछ न बैठे'—ऐसा कोई कारण ० विहरता हूँ । (३) 'जो अन्तराय-धर्म (= विप्रकारी कर्म) कहे गये हैं, उन्हें सेवन करनेसे वह अन्तराय (= विप्र) नहीं कर सकते' ० यहाँ उनके विषयमें कोई भ्रमण ० धर्मांतुसार पूछ न बैठे'—ऐसा कोई कारण ० विहरता हूँ । (४) 'जिस मतलबके लिये धर्म उपदेश किया, वह ऐसा करनेवालेको भली प्रकार दुःख-शयकी ओर नहीं ले जाता—इसके विषयमें कोई भ्रमण ० धर्मांतुसार पूछ न बैठे'—ऐसा कोई कारण सारिपुत्र ! नहीं देखता । ० विहरता हूँ ।

सारिपुत्र ! यह चार तथागतके वैशारद्य हैं ० जिन वैशारदोंको प्राप्त कर ० तथागत परिषद्में सिंहनाद करते हैं, ब्रह्मचर्य चलाते हैं ।

“सारिपुत्र ! ऐसा जाननेवाले, ऐसा देखनेवाले सुखे जो कहे—‘भ्रमण गौतम ०’ वैसा होगा । जैसे सारिपुत्र ! शील सम्पन्न ०” ।

४—“सारिपुत्र ! यह आठ परिषद् (= सभा) हैं । कौनसी आठ ?—(१) अग्नि-परिषद्, (२) ब्राह्मण-परिषद्, (३) गृहपति (= वैश्य)-परिषद्, (४) भ्रमण-परिषद्, (५) आनुर्महाराजिक-परिषद्, (६) प्रायश्चित्त^१-परिषद्, (७) मार-परिषद्, (८) ब्रह्म-परिषद् । सारिपुत्र ! यह आठ परिषद् हैं । सारिपुत्र ! इन चार वैशारदोंको प्राप्तकर तथागत इन आठ परिषद्में जाते हैं, अवगाहन करते हैं । जानता हूँ, सारिपुत्र ! मैं अनेकवार अग्नि-परिषद्में जानेको और वहाँ पर भी, पहिले भाषण किये जैसा, पहिले भाये जैसा साक्षात्कार (होता है) । सारिपुत्र ! ऐसी कोई बात देखनेका कारण नहीं पाता, कि वहाँ सुखे भय या क्वराहट हो । श्रेमको प्राप्त हो अभयको प्राप्त हो, वैशारद्यको प्राप्त हो, मैं विहार करता हूँ । जानता हूँ सारिपुत्र ! मैं अनेक रत ब्राह्मण-परिषद्में जानेको ० । ० गृहपति-परिषद्में ० । ० भ्रमण ० । ० ० ब्रह्मकी परिषद्में ० ।

“सारिपुत्र ! ऐसा जाननेवाले, ऐसा देखनेवाले सुखे ०” ।

५—“सारिपुत्र ! यह चार योनिर्या हैं । कौनसी चार ?—(१) अंडज योनि, (२) जरायुज योनि, (३) स्वेदज योनि, (४) औपपातिक योनि । क्या है सारिपुत्र ! अंडज-योनि ?—सारिपुत्र ! जो प्राणी अण्डके कोशको कोष कर उत्पन्न होते हैं, वह सारिपुत्र ! अण्डज-योनि कही जाती है । क्या है सारिपुत्र ! जरायुज-योनि ?—सारिपुत्र ! जो प्राणी कल्मकोष (= वरायु) को कोषकर उत्पन्न होते हैं ० । क्या है सारिपुत्र ! स्वेदज-योनि ?—सारिपुत्र ! जो प्राणी सड़ी मछलीमें उत्पन्न होते हैं, सड़े मुर्देमें उत्पन्न होते हैं, सड़े कुल्माष (= दाढ़) में ०, चन्दनिका (गवहे) में, या ओलुगिह (= गवही) में उत्पन्न होते हैं ० । क्या है सारिपुत्र ! औपपातिक-योनि ?—सारिपुत्र ! देवता, नरकके जीव, कोई कोई मनुष्य और कोई कोई विनिपातिक (= बोधे मिलनेवाले) ; वह सारिपुत्र ! औपपातिक-योनि कही जाती है ।

“सारिपुत्र ! ऐसा जाननेवाले ०” ।

६—“सारिपुत्र ! यह पाँच गतियाँ हैं । कौनसी पाँच—(१) नरक, (२) तिर्यग् (= पशु पक्षी आदि) योनि, (३) प्रेत्य-विषय (= प्रेत), (४) मनुष्य, (५) देवता । सारिपुत्र ! मैं नरकको जानता हूँ, नरकगामी मार्गको = निरयमाभिनी प्रतिपदको भी जैसे (मार्गपर) आरुढ़ हो काया छोड़नेपर, मरनेके अनन्तर (प्राणी) जपाय = दुर्गति = विनिपात नरकमें उत्पन्न होते हैं, उसको जानता हूँ । सारिपुत्र ! मैं तिर्यग्-योनिको जानता हूँ, तिर्यग् योनिगामी मार्ग ० उसको जानता हूँ । सारिपुत्र ! मैं प्रेत्य-विषयको जानता हूँ, प्रेत्य-विषयगामी मार्ग ० उसको जानता हूँ । सारिपुत्र ! मैं मनुष्यको जानता हूँ ० । ० । ० देवोंको जानता हूँ, देवलोकगामी मार्गको = देवलोकगामिनी प्रतिपदको भी, जैसे मार्गपर आरुढ़ हो काया छोड़नेपर मरनेके बाद सुगति स्वर्गलोकमें उत्पन्न होते हैं, उसको जानता हूँ । सारिपुत्र ! मैं निर्वाणको जानता हूँ, निर्वाणगामी मार्गको = निर्वाणगामिनी प्रतिपदको, जैसे मार्गपर आरुढ़ हो आसनोंके श्रय, चित्तकी विमुक्तिको इसी शरीरमें जान कर साक्षात् कर = प्राप्त कर विहरता है; उसे भी जानता हूँ ।

(क) “सारिपुत्र ! यहाँ मैं किसी व्यक्ति (= पुद्गल) को इस प्रकार चित्तसे परख करके जानता हूँ; कि यह पुद्गल जैसे मार्गपर आरुढ़ है, जैसी चालढाल रखता है, उस मार्गपर आरुढ़ हो, काया छोड़नेपर मरनेके बाद जैसे जपाय = दुर्गति = विनिपात नरकमें उत्पन्न होगा । फिर दूसरे समय न-मानुष दिव्य सिद्ध चक्षुसे, उसे काया छोड़, मरनेके बाद ० नरकमें उत्पन्न हो अत्यन्त दुःखमय, तीव्र कटु वेदना (= यातना) को अनुभव करते देखता हूँ । जैसे कि सारिपुत्र ! पुरुष-भर (= पोशित) से अधिक ऊँचा लौ-विना, भूमविना, अंगारोंका ढेर हो । (कोई) घाम (= धूप) में तप्त घामसे पीड़ित, भका, प्यासा पुरुष एकाग्र मार्गसे उसी अंगारका ध्यान करके आये । उसको (कोई) आँखवाला पुरुष देखकर यह कहे—‘यह पुद्गल जैसे मार्गपर आरुढ़ है, जैसी चालढाल रखता है, ऐसे मार्गपर आरुढ़ हो, इन्हीं अंगारोंमें पहुँचेगा’ । फिर दूसरे समय उसे अंगारोंमें गिरकर अत्यन्त दुःख-मय ० वेदनाको अनुभव करते देखे; ऐसेही सारिपुत्र ! यहाँ किसी व्यक्तिको इस प्रकार चित्तसे परख करके जानता हूँ ० । ० अनुभव करते देखता हूँ ।

(ख) “सारिपुत्र ! यहाँ मैं किसी व्यक्तिको इस प्रकार चित्तसे परखकर जानता हूँ, यह पुद्गल जैसे मार्गपर आरुढ़ है ०” मरनेके बाद तिर्यग्-योनिमें उत्पन्न होगा । फिर दूसरे समय नमानुष ० देखता हूँ । जैसे कि सारिपुत्र ! पुरुष-भरसे अधिक ऊँचा ० । ० अनुभव करते देखता हूँ ।

(ग) “सारिपुत्र ! यहाँ मैं किसी व्यक्तिको इस प्रकार चित्तसे परखकर जानता हूँ, ० ०” मरनेके बाद प्रेत्यविषयमें उत्पन्न होगा । फिर दूसरे समय नमानुष ० दिव्य चक्षुसे, उसे काया छोड़ मरनेके बाद प्रेत्य-विषयमें उत्पन्न हो दुःखमय तीव्र, कटु वेदना अनुभव करते देखता हूँ । जैसे कि सारिपुत्र ! (किसी) विषय (= प्रतिबुद्ध) भूमिमें उत्पन्न पत्र = पलाश से कुश कवरी जाया (= कली हाया वही) वाला वृक्ष हो । तब कोई घाम में तप्त ० पुरुष एकाग्र मार्ग (= एक मात्र मार्ग) से उसी वृक्षका ख्याल करके आये । उसको (कोई) आँखवाला पुरुष देखकर यह कहे—‘यह पुद्गल जैसे मार्गपर आरुढ़ है, जैसी चालढाल रखता है, ऐसे मार्गपर आरुढ़ हो (यह) इसी वृक्षके पास आयेगा’ । फिर दूसरे समय (उसे) उस वृक्षकी छाया में बैठे वा छेदे दुःखमय वेदना अनुभव करते देखे । ऐसे ही सारिपुत्र ! यहाँ किसी व्यक्तिको इस प्रकारसे चित्तसे परखकर जानता हूँ, ० ० वेदना अनुभव करते देखता हूँ ।

(घ) "सारिपुत्र ! यहाँ किसी व्यक्तिको इस प्रकार चित्तसे परस्पर जानता हूँ, ०^१ सन्तुष्टों में उत्पन्न होगा । ० अमालुष ० दिव्य-वस्तुसे ०^२ उत्पन्न हो बहुत सुखमय वेदना अनुभव करते देखता हूँ । जैसे सारिपुत्र ! (किसी) सम (= अनुकूल) भूमिमें उत्पन्न बहुत पत्र = पलाशयुक्त घनी छायावाला वृक्ष हो । तब घाममें तस ० पुरुष एकाग्र मन मार्गसे उसी वृक्षका ख्याल करके आये ०^३ । फिर दूसरे समय उस वृक्षकी छायामें बैठे या लेटे बहुत सुखमय वेदना अनुभव करते देखे । ऐसे ही सारिपुत्र ! यहाँ किसी व्यक्तिको इस प्रकार चित्तसे परस्पर जानता हूँ, ० ० वेदना अनुभव करते देखता हूँ ।

(ङ) "सारिपुत्र ०, ०^१ सुगति स्वर्गलोकमें उत्पन्न होगा । ० अमालुष ० दिव्य-वस्तुसे ० उत्पन्न हो बहुत सुखमय वेदना अनुभव करते देखता हूँ । जैसे सारिपुत्र ! एक प्रासाद हो, जिसमें लिपायुता शीत (= निवात), कपाटयुक्त, जंगलेश्वर कूटागार (= ऊपरी तलका मकान) हो, इसमें बैठके घामदेके बिजौनेवाला, पटिक (= गलीचे) पटलिक बिजौनेवाला परलंग हो, जिसपर उपरच्छद (ऊपरसे ढाँकनेकी धड़) सहित कादलिपुत्र (= समूरी चर्म) का थोड़ा प्रत्यन्तरण (= लिहाफ) हो, (निरहाने, पैरहाने) दोनों ओर लाल तकिये हों । तब कोई घाममें तस ० पुरुष एकाग्र मन मार्गसे उसी प्रासादका ख्याल करके आये । उसको कोई जाँसवाला पुरुष देखकर यह कहे—“० यह इसी प्रासादके पास आयेगा ।” फिर दूसरे समय (इसे) उसी प्रासादमें, उसी कूटागारमें, उसी परलंगपर बैठकर या लेटकर एकान्त सुखमय वेदनाको अनुभव करते देखे । ऐसेही सारिपुत्र ! यहाँ किसी व्यक्तिको ०, ० ० वेदना अनुभव करते देखता हूँ ।

(च) "सारिपुत्र ! ०, ०^२ आसवाँके क्षय = चित्तकी विमुक्ति प्रज्ञाकी विमुक्तिको इसी शरीर में जानकर साक्षात् कर = प्राप्त कर विहरेगा । फिर दूसरे समय उसे आसवाँके क्षय चित्तकी विमुक्ति प्रज्ञाकी विमुक्तिको इसी शरीरमें जानकर, साक्षात् कर, प्राप्त कर विहरेगा हुये देखता हूँ, एकान्त सुखमय वेदनाको अनुभव करते देखता हूँ । जैसे सारिपुत्र ! (कोई) स्वच्छ जलवाली, शीतल जलवाली, सुन्दर जलवाली, सफेद सुन्दर घाटवाली, रमणीय पुष्करिणी हो, उसके तीरपर करीबमें वन लण्ड हो । तब कोई घाममें तस ० पुरुष ० उसी पुष्करिणीका ख्याल करके आये । ० । फिर दूसरे समय उसे उस पुष्करिणीमें प्रविष्ट हो स्नानकर, पानकर, सारी पीड़ा-यकावटको दूर कर, तिकल कर, उसी वन सन्धमें बैठे या लेटे नितान्त सुखमय वेदनाको अनुभव करते देखे । ऐसेही सारिपुत्र । ० ० ।

"सारिपुत्र ! ऐसा जाननेवाले ०^३ ।

०—"सारिपुत्र ! मैं चतुरंग (= चार अंगों) से युक्त ब्रह्मचर्यका पालन करना जानता हूँ—(१) तपस्वियोंमें मैं परम तपस्वी होता था; (२) क्षत्राचारियोंमें मैं परम क्षत्राचारी (= कर्ण) होता था; (३) जुगुप्सुओंमें मैं परम जुगुप्सु (= अनुकम्पा रखनेवाला) होता था; (४) प्रविक्तों (= एकान्तसेविधों, विवेककर्ताओंमें मैं परम विविक्त था ।

(१) यहाँ सारिपुत्र ! मेरी यह तपस्विता (= तपश्चर्या) थी—मैं अ-वेकक (= नग्न) था, मुक्ताधार (= सरभंग), हलाऽपलेखन (= हाथ-बहा), न-पहिनादन्तिक (= हुलाई भिक्षाका त्यागी), न-तिष्ठ-भदन्तिक (= दृष्टिसे कह, दी गई भिक्षाका त्यागी) था; न अभिहट (= अपने लिये की गई भिक्षा) को, न (अपने) उद्देश्यसे किये गयेको (और) न निर्ममणको

खाता था; न झुम्बी (= चूड़े) के मुखसे ग्रहण करता था, न खलोपी (= पधरी) के मुखसे ०, न (दो) पटरों के बीचसे ०, न (दो) रूँकों के बीचसे ०, न मुल्लों के बीचसे ०, न दो भोजन करने वालोंका (०) न गर्भिणीका (०), न (हूय) पिलातीका (०), न अन्य पुरुष के पास गईका (०) न संकिची (= चंदावाले) में (०), (वहाँसे) जहाँ (कि) कुत्ता खड़ा हो; न (वहाँ) जहाँ (कि) मल्लो भनभना रही हो; न मल्लो, न मांस, न सुरा (= अर्ध उतारी शराब), न मेरय (= कल्बी शराब), न तुषोदक (= चावलकी शराब ?) पीता था, सो मैं एकागारिक (= एकही घरमें भिक्षा करनेवाला) होता था; या एक कवल (= भर) खानेवाला होता था; या द्वि-आगारिक (= दो बार) आहार करनेवाला होता था; या दो कवल खानेवाला होता था, (०) सप्त-आगारिक (= सात घरोंसे भिक्षा लेनेवाला) होता था, या सात कवल खानेवाला; एक कल्लो (= दूती) भर भोजनसे भी गुजारा करता था; दो कल्लो ०; (०) ; सात कल्लो ०; एकाहिक (= एक दिनमें एक बार) आहार करता था; द्वाहिक (= दो दिन में एकबार) आहार करता था; सप्ताहिक आहार करता था; इस प्रकार अर्धमासिक चारी चारीसे भोजन ग्रहण करता बिहरता था; शाकाहारी था, सैवामोवी भी था; मीवार (= तिथी) भक्षी भी था; वसुल (= कोशे ?) भक्षी था, कट (= एक तुण) भक्षी था; कण (= सेतमें छुटे हुये जवानके दानोंका)-भक्षी था; आचाम (= मूँड)-भक्षी था; पिण्णक (= लली)-भक्षी था; तृण-भक्षी था; गोबर-भक्षी था; वनमूल फलहारसे गुजारा करता था, (जमीन पर) गिरे फलोंका खानेवाला था; वनके वन चारण करता था, इमशान (= जल) भी चारण करता था; सुर्वेके कपड़ेको धारता था; पांसुकुल (= फेंके कपड़े) भी धारता था; तिरिड (= एक छाल) भी धारता था; भजिन (= सुगन्ध) भी धारता था; भजिनक्षिप (= सुगन्धमें बँड) भी धारता था; कुवाचीरको भी धारता था, वल्ल चौर भी धारता था; (काष्ठ-) फलक-बीर भी धारता था, केस-कम्बल भी ०; वल्ल-कम्बल भी ०; उल्ल-पल्लको भी ०; केस-दाही नोचनेवाला था, केस-दाही नोचनेके व्यापारमें लग्न होते उम्पटिक (= ठेकेदारी) भी था; आसन-त्यागी वन उकड़ू बैठनेवाला भी था; उकड़ू बैठनेके व्यापारमें लग्न हो कटि पर सोनेवाला भी था; कंटकके प्रभव (= खाट) पर शय्या करता था, शामको जल शयनके व्यापारमें लग्न होता था ।—ऐसे अनेक प्रकारसे कायाके आलापन सन्तापनके व्यापारमें लग्न हो बिहरता था, सारिपुत्र ! यह मेरी तपस्विता (= उपव्रथा) थी ।

(२) “वहाँ सारिपुत्र ! यह मेरा वस्त्राचार था ।—पधरी पड़े अनेक वर्षके मैलको शरीरमें संचित किये रहता था; सारिपुत्र ! जैसे पधरी पड़ा अनेक वर्षोंका तिन्दुका काष्ठ हो, इसी प्रकार सारिपुत्र ! पधरी पड़े ० । वैसा होते (भी) मुझे यह न होता था—जहोवत ! इस अपने मैलको अपने हाथसे परिमार्जित करूँ, या दूसरे मेरे इस मैलको (अपने) हाथसे परिमार्जित करें—मुझसे यह भी सारिपुत्र ! न होता था । यह सारिपुत्र ! मेरा स्थापार था ।

(३) “वहाँ सारिपुत्र ! यह मेरी क्षुत्ता (= अनुकम्पा) थी;—मैं सारिपुत्र ! (प्राणियोंकी) शाद करते जाता था, शाद करते जाता था; अलके विन्दु तकमें मुझे दया बनी रहती थी—विषम (स्वार्थमें) स्थित क्षुद्र प्राणियोंको कहीं मार न दूँ । यह सारिपुत्र ! मेरी अनुकम्पा थी ।

(४) “वहाँ, सारिपुत्र ! यह मेरा प्रविवेक (= एकान्त सेवन) था । मैं सारिपुत्र ! किसी अरन्ध-ज्ञानमें प्रवेष्ट कर बिहरता था । जब मैं (किसी) गोपालक (= गाले)को या पशु-पालकको, या गृणहारक (= घसियारे)को, या काष्ठहारक (= सड़कहारे)को, या वनकर्मिक (= वनमें काम करनेवाले)को देखता, तो (एक) वनसे (दूसरे) वनमें, गहनसे गहनको, निम्न (= कट्टर)से निम्नको, मल्लसे (दूसरे) मल्लको, खला जाता था । सो किस कारण ?—‘यह

सुखे न देखें, और मैं उन्हें न देखूँ । जैसे सारिपुत्र ! आरम्यक भुग अनुप्यको देखकर वनसे वनको • चला जाता है, ऐसे ही सारिपुत्र ! जब मैं (किसी) गोपालकको • । यह सारिपुत्र ! मेरा प्रविषेक था ।

“सो मैं सारिपुत्र ! छिपकर (= चतुर्गुण्डित) उन गोडोंमें जाता था, जिससे गाये और गोपाल चले गये होते । जानकर जो वह तरुण (= बहुत छोटे) वृष पीनेवाले बछड़ोंके गोबर होते उन्हें खाता, यहाँ तक कि सारिपुत्र ! सुखे अपना ही मूत्र-करीष (= मूक) भी त्याग्य न होता, अपने ही मूत्र-करीषका आहार करता । यह सारिपुत्र ! मेरा विषट भोजन था ।

“सो मैं सारिपुत्र ! एक भीषण वन-खण्डमें प्रवेश कर विहरता था । सारिपुत्र ! उस भीषण वन-खण्डकी भीषणता यह थी; कि जो कोई भ-बीतराग (पुरुष) उस वन-खण्ड में प्रवेश करता, (उसके) रोम बहुत अधिक लहै हो जाते थे । सो मैं सारिपुत्र ! हेमन्तकी हिमपात समय वाली अन्तराह्निक रातोंमें रात भर चौड़ेमें विहरता था, (और) दिनको वनखण्डमें । भीषणके अन्तिम भासमें दिनको चौड़ेमें विहरता और रातको वनखण्डमें । (उस समय) सारिपुत्र ! अधुत पूर्व यह अधुत गाथा सुखे प्रतिमासित हुई—

“अकेला भीषण वनमें (भीषण)-तप्त (और) शीत-पीडित वह नग्न आगके-पास-न-बैठा, एषणा (= इच्छाओं) से दूर मुनि ।”

“सो मैं सारिपुत्र ! सुईकी हड्डियोंका सिरहाना बना झमझममें शपथ करता था । (उस समय) सारिपुत्र ! गोमण्डल (= घरवाड़े) पास जाकर (मेरे ऊपर) धूकते भी थे, मृतते भी थे, भूल भी गँकते थे, कर्ण-विद्रोमें सीक भी करते थे, (तो भी) सारिपुत्र ! उनके विषयमें सुखे कोई कुरा भाव उत्पन्न होता नहीं मालूम होता । यह सारिपुत्र ! मेरा उपेक्षा-विहार था ।

८—“सारिपुत्र ! कोई कोई वस्त्रण आहारसे सुखि होती है”—इस वाद (= मत) वाले इस प्रकारकी दृष्टिवाले होते हैं । ‘मैं केसे गुजारा करूँगा’—कह, यह बेरको खाते हैं, बेर-पूर्ण खाते हैं, बेरके शर्बतको पीते हैं, अनेक प्रकारके बेरसे बने भोजनको खाते हैं । (एक समय) मैं भी सारिपुत्र ! एक बेरके परापर आहरको ही जानता था । सायद सारिपुत्र ! तुम्हारे मनमें हो—‘उस समय बेर बड़ा होता होगा’ । सारिपुत्र ! ऐसा नहीं ख्याल करना चाहिये । उस समय भी बेर इतना ही बड़ा होता था, जितना कि आजकल । सो सारिपुत्र ! एक बेर (भर) आहार करनेसे मेरा शरीर अत्यन्त कुश हो गया । उस अत्याहारस्तासे जैसे मेरे जंग प्रत्वंग हो गये थे, जैसे आसीतिका (= आसी वर्षके बूँद) के घोर (= पर्व) या काल (= पुरुष) के पर्व । • जैसे ऊँटका पौव, वैसे मेरे कूँड़े हो गये थे, । • जैसे बटुनावकी (= रस्सीकी पेंठन) वैसे ही उन्नत-अवनत मेरे पीठकी (हड्डीवाले) काँटे हो गये थे । • जैसे पुरानी शालामें कड़ियाँ भबल्लन-विल्लन (= खिलकी) होती हैं, वैसे ही मेरी पसलियाँ हो गईं । • जैसे गहरे कूँड़े (= उदपाप) में (कूँड़की) गहराईके कारण आकाशिक (= तारे) दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही जड़ि-कुपों (= जौंसके गवहों) में नीचे पेंस जानेके कारण जौंसकी पुतलियाँ दिखाई पड़ती थी । • जैसे सारिपुत्र ! कच्चा ही तोंवा कच्चा अलाम् (= लौका) भूप हवासे समुठित (= चिचुक) हो जाता है, सुसा जाता है, ऐसे ही मेरे शिरका चमका हो गया था । • जब मैं सारिपुत्र ! पेटके सभवेको पकवता तो पीठके काँटेकी ही पकव लेता था; पृष्ठकंटकों को पकवते तक पेटके चमवेको ही पकव लेता था । मेरे पेटका चमवा

सारिपुत्र ! दृढ-कंठक से सह गया था । * तो मैं सारिपुत्र ! मल-मूत्रके परित्याग करनेके लिये उठना चाहता था, तो वहीं झड़ाकर गिर जाता था । * उसी कल्पाह्वयताके कारण तो मैं सारिपुत्र ! उस शरीरको सहारा देते माषको (जव) हाथसे सहारता तो सबी जड़वाले लोभ शरीरसे उलझ पड़ते थे ।

“सारिपुत्र ! कोई कोई भ्रमण ब्राह्मण, ‘आहारसे बुद्धि होती है’—इस तरहके वादवाले, इस तरहकी दृष्टिवाले होते हैं । ‘मूँग पर गुजारा करूँगा’ *१ । ‘तिलसे गुजारा करूँगा’—*२ । ‘तंदुलसे गुजारा करूँगा’—कह, वह तंदुल अच्छे हैं, तण्डुल वर्ण खाते हैं, तण्डुलका पानी पीते हैं, * तण्डुलसे घने अनेक प्रकारके आहारको खाते हैं । मैं भी सारिपुत्र ! (एक समय) तण्डुल बराबर आहारको ही जानता था । सायद् सारिपुत्र ! *३ लोभ शरीरसे उलझ पड़ते थे ।

“सारिपुत्र ! उस ह्यौ (= आचार) से भी, उस दुष्कर-कारिका (= तपस्या) से भी मैं उत्तर-अनुष्य-धर्म (= दिव्य-शक्ति) जलमार्प-ज्ञान-दर्शन (= ब्रह्म ज्ञान-दर्शनकी पराकाष्ठा)—को नहीं पा सका । सो किस हेतु ?—इसी आर्य-प्रज्ञा (= उत्तम ज्ञान) के न पानेसे, जो वह आर्य प्रज्ञा किसे, मिलनेपर, वैसा करनेवालेको अच्छी प्रकार दुःख-सखकी ओर ले जाती है ।

९—“सारिपुत्र ! कोई कोई भ्रमण ब्राह्मण—‘संसारके (= जन्म धरण) से बुद्धि होती है’—इस तरहके वादवाले इस तरहकी दृष्टिवाले होते हैं । (किन्तु) सारिपुत्र ! ऐसा संसार सुकन नहीं है, जिसमें इस दीर्घ कालमें मैंने वास न किया हो; निवास शुद्धावास देवताओंके, यदि शुद्धावास देवताओंमें मैं संसरण करता, तो सारिपुत्र ! मैं इस लोकमें न जाता ।

१०—“सारिपुत्र ! कोई कोई भ्रमण ब्राह्मण—‘उत्पत्ति से बुद्धि होती है’—*४ दृष्टिवाले होते हैं *५ न जाता ।

११—“*६—‘आवाससे बुद्धि होती है’—*७ दृष्टिवाले *८ ।

१२—“*९—‘यज्ञसे बुद्धि होती है’—*१० दृष्टिवाले होते हैं । किन्तु सारिपुत्र ! ऐसा यज्ञ सुलभ नहीं, जिसे कि मैंने इस दीर्घ कालमें न किया हो; और उसे (दूसरे) सूर्याभिषिक्त क्षत्रिय राजाने वा महाबाल (= महाबली) ब्राह्मणने किया हो ।

१३—“*११—‘अतिपरिचर्या (= हवन) से बुद्धि होती है’—*१२ ।

१४—“*१३—‘जब तक यह पुरुष दहर (= तखण) युवा बहुत ही काले केशोंवाला प्रबल वयस सुन्दर बौवनसे युक्त होता है; तब (यह) परम प्रज्ञा (और) नैपुण्यसे युक्त होता है । जब यह पुरुष जोर्ण-वृद्ध-महत्सु-अश्वगत-वयःप्राप्त जन्मसे ८०, ९० या सौ वर्षका हो जाता है; तो उस प्रज्ञा (और) नैपुण्यसे व्युत्त होता है । लेकिन सारिपुत्र ! इसे इस तरह नहीं देखता (= मानना) चाहिये । मैं सारिपुत्र ! इस समय जोर्ण-वृद्ध *१४ वयःप्राप्त, मेरी आयु ८० को पहुँच गई है; यहाँ सारिपुत्र ! मेरे चार भावक (= शिष्य) अतर्क आयुपाले-वर्ष-प्राप्त-जीवी, (जो कि) परम गति, स्मृति, मति, दृष्टिसे युक्त, तथा परम प्रज्ञा-नैपुण्य (= वैयक्त्य) से समन्वित हैं । जैसे सारिपुत्र ! सिद्धित-कृतहस्त-कृत-उपासन, बलवान् अनुज्राही शीघ्र, बिना भ्रम (वाण) के—जिह्वा लाल-लपटाका अतिदमण-अतिपाल न करदे; ऐसे ही सारिपुत्र ! *१५ मति, स्मृति, दृष्टिसे युक्त *१६, इस प्रकार परम प्रज्ञा-नैपुण्यसे युक्त हैं । (यदि नह) चारों स्मृतिप्रस्थानों*१७ को लेकर (मुझसे) भ्रम पड़े । छूनेपर मैं उनका उत्तर दूँ । मेरे उत्तरको वह धारण करें । फिर दूसरी बार आयो पढ़ें; सारिपुत्र ! अशान-पान-आदव-दापन (के समय) को छोड़, मल-मूत्र-त्याग

* देखो पृष्ठ ५०, देखी जगह । * देखो ऊपर (९) । * देखी ऊपर (९) । * देखो ऊपर (१२) । * देखो पृष्ठ ९५ ।

(के समय) को छोड़, विद्रो-धकावशके दूर करनेके समयको छोड़ तथागतकी धर्मदेष्टावा अखंड ही रहेगी, सारिपुत्र ! तथागतका धर्मपद—व्याख्यान अखंड ही रहेगा तथागतका प्रश्नोत्तर० । फिर वह मेरे सत्त्वर्ष आशुवाले०^१ चार आकष सौ वर्षके अनन्तर मृत्युके प्राप्त होवें; (तो भी) सारिपुत्र ! किसी तरह मुझे विग्रह नहीं कर सकते, तथागतकी प्रज्ञा-नैपुण्यमें फरक नहीं आसकता ।

“सारिपुत्र ! ठीक कहते हुये यह कहे—‘सम्मोह धर्मसे रहित (एक) सत्त्व (= स्वक्ति) लोकमें षट्पदोंके हितार्थ, षट्पदोंके सुखार्थ, लोकपर अनुकम्पार्थ, देव-मनुष्योंके अर्थ, हित और सुखके लिये उत्पन्न हुआ है’ (तो) वह ठीकसे कहते हुये मेरे ही लिये कहे—सम्मोह धर्मसे रहित ० ० उत्पन्न हुआ है ।”

उस समय आयुष्मान् नागसम्माल भगवान्की पीठकी ओर खड़े होकर भगवान्को पंखा झल रहे थे । तब आयुष्मान् नागसम्मालने भगवान्को यह कहा—“आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते ! भन्ते ! इस धर्मपयाय (= धर्मोपदेश) को सुनकर रोमांच हो गया । भन्ते ! इस धर्मपयायका नाम क्या है ?”

“तो नागसम्माल ! तु इस धर्मपयायको लोमहर्षण-पर्याय ही समझ ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् नागसम्मालने भगवान्के आचणका अभि-मन्दन किया ।

१३—महादुक्खखण्ड-सुत्तन्त (१।२।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाद्यपिष्टिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब बहुतसे भिक्षु पूर्वाह्नके समय पहिनकर पात्रचीवर ले श्रावस्तीमें पिङ्गचारके लिये प्रविष्ट हुये । तब उन भिक्षुोंको हुआ—श्रावस्तीमें भिक्षाचार करनेके लिये अभी बहुत सवेरा है, क्यों न हम जहाँ अन्यतैर्थिक (= दूसरे मतवाले) परित्राजकोंका आराम है, वहाँ चलिं । तब वह भिक्षु जहाँ अन्यतैर्थिक परित्राजकों^१ का आराम था, वहाँ गये, जाकर अन्य तैर्थिक परित्राजकोंके साथ (यथायोग्य कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे उन भिक्षुओंसे अन्य तैर्थिक परित्राजकोंने यह कहा,—

“आहुसो ! अमण गौतम कामों (= भोगों) के परित्यागको कहते हैं, हम भी कामोंके परित्यागको कहते हैं। आहुसो ! अमण गौतम रूपोंके परित्यागको कहते हैं, हम भी ० । ० वेदवाक्यके परित्यागको कहते हैं । यहाँ आहुसो ! हमारे और अमण गौतमके धर्मोपदेशमें या धर्मोपदेशके अनुशासन करनेमें क्या विशेष (= भेद) है, क्या अधिक है, क्या नाशकरण (= अन्तर) है ?”

तब उन भिक्षुओंने उन अन्यतैर्थिक परित्राजकोंके भाषणका न अनुमोदन (= अभिनन्दन) किया, न प्रतिवाद् (= प्रतिकोश) किया । बिना अनुमोदन किये, बिना प्रतिवाद किये यह (सोचकर) आसनसे उठकर चल दिये, कि भगवान्के पास इस भाषणका अर्थ समझेंगे । तब वह भिक्षु श्रावस्तीमें भिक्षाचार करके, भोजनोपरान्त पिङ्गपातसे निवृत्तकर वहाँ भगवाद् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठकर उन भिक्षुओंने भगवान्से यह कहा—

“मन्ते ! (आज) इस पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्रचीवर ले श्रावस्तीमें पिङ्गचारके लिये प्रविष्ट हुये ० ^१, कि भगवान्के पास इस भाषणका अर्थ समझेंगे ।”

“भिक्षुओ ! ऐसा कहनेवाले अन्यतैर्थिकोंको तुम्हें यह कहना चाहिये—‘आहुसो ! क्या है कामों (= भोगों) का आस्वाद, क्या है परिणाम (= आदिभय), क्या है निस्सरण (= विकास) ? क्या है रूपोंका आस्वाद ० ? क्या है वेदवाक्योंका आस्वाद ० ?’ ऐसा कहनेपर भिक्षुओ ! अन्यतैर्थिक परित्राजक नहीं (उत्तर) दे सकेंगे, और (इस) पर विषाद (= रोष) को प्राप्त होंगे । सो किस हेतु ?—क्योंकि भिक्षुओ ! वह (उनका) विषय नहीं है । भिक्षुओ ! देव, मार (= प्रजापति देवता), ब्रह्मा सहित सारे लोकमें, अमण आकण देव-मातुष सहित सारी प्रजामें, मैं उस (पुरुष) को नहीं देखता, जो इन प्रश्नोंका उत्तर दे चित्तको क्षणभङ्ग करे, विषाद तथागत या तथा-

^१ देखो ऊपर ।

गतके शिष्य या यहाँसे मुझे हुयेके ।

१—“भिक्षुओं ! क्या है कामोंका दुष्परिणाम ? भिक्षुओं ! यहाँ कुल-पुत्र जिस (किसी) शिष्य से—चाहे मुद्रासे, या गणनासे, या संख्यानासे, या कृषिसे, या वाणिज्यसे, गो-पालनसे, या वाण-अन्वसे, या राजाकी मौकरीसे, या किसी अन्य शिष्यसे— शीत-उष्ण-पीडित, डंस-अच्छर-हवी-पूष-सरीसृप (= सर्प विषहू) के रस्तेसे उत्पीडित होता, मूख-व्याससे मरता, जीविका करता है । भिक्षुओं ! यह कामोंका दुष्परिणाम है । इसी जन्ममें कामके हेतु = काम-निदान, कामके अधिकरण (= विषय) में (यह लोक) दुःखोंका पुत्र है । भिक्षुओं ! उस कुलपुत्रको यदि इस प्रकार उपयोग करते = उत्थान करते, मेहनत करते, जह भोग नहीं उत्पन्न होते, (तो) वह शोक करता है, दुःखी होता है, चिढ़ाता है, छाती पीटकर कंदन करता है, मूर्छित होता है—‘हाय ! मेरा प्रयत्न व्यर्थ हुआ, मेरी मेहनत निष्फल हुई !’ भिक्षुओं ! यह भी कामोंका दुष्परिणाम है ० । दुःखका पुत्र है । यदि भिक्षुओं ! उस कुलपुत्रको इस प्रकार उपयोग करते ० वह भोग उत्पन्न होते हैं, तो वह उन भोगोंकी रक्षाके लिये दुःख = दौर्मनस्य झेलता है—‘कहीं मेरे भोगको राजा न हर ले, चोर न हर ले जायें, आग न जाहे, पानी न बहा ले जाये, अश्विज लगाद न ले जायें’ उसके इस प्रकार रक्षा = गोपन करते उन भोगोंको राजा हर ले जाते हैं ०, चोर शोक करता है ०—‘जो भी मेरा था, वह भी मेरा नहीं है’ । भिक्षुओं ! यह भी कामोंका दुष्परिणाम ० ।

“और फिर भिक्षुओं ! कामोंके हेतु = काम-निदान, कामोंके विषयमें, कामोंके लिये राजा भी राजाओंसे झगड़ते हैं; अश्विज लोग अश्विजोंसे झगड़ते हैं; ब्राह्मण ब्राह्मणोंसे ०; गृहपति (= वैश्य) गृहपतिवोंसे ०; माता पुत्रके साथ झगड़ती है; पुत्र भी माताके साथ ०; पिता भी पुत्रके साथ ०; पुत्र भी पिताके साथ ०; भाई भाईके साथ ०; भाई भगिनियोंके साथ ०; भगिनियों भाईके साथ ०; मित्र मित्रके साथ झगड़ते हैं । वह यहाँ कलह = विग्रह = विवाद करते, एक दूसरेपर हाथों से भी आक्रमण करते हैं, कलहोंसे भी ०, डंडोंसे भी ० शस्त्रोंसे भी आक्रमण करते हैं । वह यहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं, या मृत्यु-समान दुःखको । भिक्षुओं ! यह भी कामोंका दुष्परिणाम ० ।

“और फिर भिक्षुओं ! कामोंके हेतु बाल-तलवार (= अस्त्र-धर्म) लेकर, तीर-धनुष चढ़ाकर, दोनों ओरसे व्यूह रचे, शीघ्रसमे दौड़ते हैं । पाणोंके चलाये जातेमें, शक्तियोंके फेंके जातेमें, तल-बारोंकी चकाचौंधमें, वह पाणोंसे विद्व होते हैं, शक्तियोंसे ताड़ित होते हैं, तलवारसे शिरच्छिन्न होते हैं । वह यहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं, या मृत्युसमान दुःखको । यह भी भिक्षुओं ! कामोंका दुष्परिणाम ० ।

“और फिर भिक्षुओं ! कामोंके हेतु ०, बाल-तलवार लेकर, धनुर्वाण चढ़ाकर, भोगे-लिये प्राकारों (= उपकारी = शहर-पनाह) की ओर दौड़ते हैं । पाणोंके चलाये जाते में ०^१ ।

“और फिर भिक्षुओं ! कामोंके हेतु ० सेंध भी लगाते हैं, (गाँव) उखाड़ कर ले जाते हैं, चोरों (= एकागारिक, एक धर्ममें तुलकर चुराना) भी, रहस्यमी (= परिपन्थ) भी करते हैं, परस्त्री-गमनभी करते हैं । एवं उन्हें राजा लोग पकड़कर नाना प्रकारके दंड (= क्रमचरण) देते हैं—चाबुकसे भी पिटाते हैं, बेंतसे भी ०, जुमाँना भी करते हैं, हाथ भी काटते हैं, पैर भी काटते हैं, हाथ-पैर भी काटते हैं, काम भी ०, नाक भी ०, कान-नाक भी ०, बिलेंग-थालिक^२ भी करते

^१ डेची क्वर का पैरा ।

^२ खोपड़ी इत्यादि शिरपर लगानेवाला रस्सना ।

है, शंखमुंडिका^१ भी ०, राहुमुख^२ भी ०, उद्योतिमालिका^३ भी ०, हस्त-प्रज्ज्योतिका^४ भी ०, परकवर्तिका^५ भी ०, चौरकवासिका^६ भी ०, ऐरणयक^७ भी ०, बहिशर्मसिका^८ भी ०, कार्पाणक^९ भी ०, खारापतच्छिका^{१०} भी ०, परिवपरिवर्तिका^{११} भी ०, पलाल-पीठक^{१२} भी ०, तथापे वेलसे भी गड़काते हैं, कुचोसे भी कटवाते हैं, जोतेती झुलीपर चढवाते हैं, तलवारसे शिर कटवाते हैं । वह वहाँ मरणको प्राप्त होते हैं, मरण समान दुःखको भी ० । यह भी भिक्षुओ ! कामोका दुष्परिणाम ० ।

“और फिर भिक्षुओ ! कामके हेतु कायासे दुश्चरित (= पाप) करते, वचनसे ०, मनसे दुश्चरित करते हैं । वह काय ०-वचन ० मनसे दुश्चरित करके, शरीर छोड़ने पर करनेके पाप, अपाव=दुर्गति=विनिपात, निरय (= भर्ष) में उत्पन्न होते हैं । भिक्षुओ ! यह कामोका जन्मान्तरमें दुष्परिणाम दुःख-पुल्ल काम-हेतु=काम-निदान (ही है) कामोका समष्टा कामों (= भोगों) हीके लिये होता है ।

१—“क्या है भिक्षुओ ! कामोका निस्सरण (= निवारण) ?—भिक्षुओ ! जो यह कामोंसे छन्द=रागका हटाना, छन्द=रागका परित्याग, यह कामोंका निस्सरण है । भिक्षुओ ! जो कोई अमण ब्राह्मण इस प्रकार कामोंके आत्माद, कामोंके आदिमध (= दुष्परिणाम), दुष्परिणामसे निस्सरण, निस्सरणसे उसे यथाभूत (= उसके स्वरूपको यथार्थ से) नहीं जानते, वह स्वयं कामोंको छोड़ेंगे वा दूसरोंको वैसा (करनेके लिये) शिक्षा देंगे, जिसपर चलकर कि वह (पुरुष) कामोंको छोड़ेंगा; यह सम्भव नहीं । भिक्षुओ ! जो कोई अमण वा ब्राह्मण इस प्रकार कामोंके आत्माद, आत्मादसे दुष्परिणाम, दुष्परिणामसे निस्सरण, निस्सरणसे उसे यथाभूत जानते हैं; वह स्वयं कामोंको छोड़ेंगे, ० यह सम्भव है ।

“क्या है भिक्षुओ ! वेदनाओंका आत्माद ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु कामोंसे विरहित, तुरीयातोंसे विरहित, सचित्तक और सविवार, विवेकसे उत्पन्न प्रीति और सुखवाले ०^{१३} प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरने लगता है । जिस समय भिक्षुओ ! भिक्षु कामोंसे विरहित ० प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है; उस समय न अपनेको पीड़ित करनेका क्याळ रखता है, न दूसरेको पीड़ित करनेका क्याळ रखता है, न (अपने और पराये) दोनोंको ० व्याबाधा (= पीका पहुँचाने)

^१ शिरका कपडा आदि डटाकर उसे छेप लगाना बनाता ।

^२ कानों तक मुँहको फाड़ देना ।

^३ शरीरपरमें तैल-शित्त कपडा लपेट करी लगाना ।

^४ हाथमें कपडा लपेट कर बंधना ।

^५ गद्देन तक खाल खींचकर घसीटना ।

^६ कपड़ोंको बाँधको खींचकर कमरपर छोड़ना, और नीचेको घाँटको झुड़ीपर छोड़ देना ।

^७ केहुनी और पुट्टेमें लोह-शुलाका ठीक उनके मल भूमिपर साधितकर बाँध लगाना ।

^८ केशोंके तरबसे लोह-अंकुशोंको मुँहसे बाँधकर बंधा लगाना ।

^९ पैसे पैसे मरके माँके टुकड़ोंको सोरे शरीरसे काटना ।

^{१०} शरीरमें पावकर छार लगाना ।

^{११} दोनों कानोंसे कौटा पारकर, उसे कमीनमें गाँड़, पैर पकड़ उसीके चारों ओर घुमाना ।

^{१२} मुँहसे धुँडीको भीतर ही भीतर चूरकर, शरीरको मांस-पुञ्ज बना देना ।

^{१३} देखो पृष्ठ १५ ।

से रहित वेदना हीकी उस समय अनुभव करता है, भिक्षुओ ! वेदनाओंके आस्वादको अग्रावाधता पर्यन्त, मैं कहता हूँ ।

“और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु वितर्क और विचारके शान्त होनेपर भीतरी शान्ति तथा चित्तकी एकाग्रतावाले वितर्क-रहित-विचार रहित प्रीति सुखवाले द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । ०^१ तृतीय-ध्यानको ० । ०^२ चतुर्थ-ध्यानको ० । जिस समय भिक्षुओ ! भिक्षु सुख और दुःखके परित्यागने, तौमनस्य (= चित्तोल्लास) और दीर्घमनस्य (= चित्त-सन्ताप)के पहिले ही असह्य हो जानेसे, सुख-दुःख-विरहित उपेक्षासे स्मृतिकी शुद्धिवाले चतुर्थ-ध्यानको प्राप्तहो विहरने लगता है, उस समय न वह अपनेको पीड़ित करता है ० । भिक्षुओ ! वेदनाओंका आस्वादको अग्रावाधता पर्यन्त मैं कहता हूँ ।

“क्या है भिक्षुओ ! वेदनाओंका दुःखपरिणाम ?—जो कि भिक्षुओ ! वेदना अनित्य, दुःख और विपरिणाम (= विकार) स्वभाववाली है; वही वेदनाओंका आदिनव (= दुःखपरिणाम) है ।

“क्या है भिक्षुओ ! वेदनाओंका निस्सरण ?—जो कि भिक्षुओ ! वेदनाओंसे ऊन्द=रागका हटाना, ऊन्द = रागका प्रहाण (= त्याग) वही वेदनाओंका निस्सरण है ।

“भिक्षुओ ! जो कोई भ्रमण ब्राह्मण इस प्रकार वेदनाओंके आस्वादको आस्वादन करते, आदिनवको आदिनवकी भाँति, निस्सरणको निस्सरणकी भाँति ठीक तौरसे नहीं जानते; वह स्वयं वेदनाओंको त्यागेंगे, और मूस्त्रोंको यैसा करनेके लिये अनुशासन करेंगे, यह सम्भव नहीं । किन्तु, भिक्षुओ ! जो कोई भ्रमण ब्राह्मण इस प्रकार वेदनाओंके आस्वादको आस्वादन न करते, आदिनवको आदिनवकी भाँति ० जानते हैं; वह स्वयं वेदनाओंको त्यागेंगे ० यह सम्भव है ।”

भगवान्ने यह कहा; सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणको अभिनन्दन किया ।

१४-चूल-दुक्ख-क्खन्ध-सुत्तन्त (१।२।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् दाक्ष्य (देश)में कपिलवस्तुके ज्योत्स्नाराममें विहार करते थे ।

तब महानाम दाक्ष्य जहाँ भगवान् थे, वहाँ आया । आकर भगवान्‌को अभिवादनकर एक ओर बैठा । एक ओर बैठे महानाम सात्वने भगवान्‌से कहा—

“भन्ते ! दीर्घ-रात्र (= बहुत समय)से भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मको मैं इस प्रकार जानता हूँ—लोभ चित्तका उपक्लेश (= मल) है, द्वेष चित्तका उपक्लेश है, मोह चित्तका उपक्लेश है । तो भी एक समय लोभ-वाले धर्म में चित्तको चिपट रखते हैं । तब मुझे भन्ते ! ऐसा होता है—कौन सा धर्म (= पात) मेरे भीतर (= अण्डात्म)से नहीं छूटा है, जिससे कि एक समय लोभधर्म व ?”

“महानाम ! वही धर्म तेरे भीतरसे नहीं छूटा, जिससे कि एक समय लोभ-धर्म तेरे चित्तको ० । महानाम ! यदि वह धर्म भीतरसे छूटा हुआ होता, तो तू घरमें वास न करता, कामों-पयोग न करता । चूंकि महानाम ! वह धर्म तेरे भीतरसे नहीं छूटा, इसलिये तू गृहस्थ है, कामों-पयोग करता है । (यह) काम (= भोग) अ-प्रसन्न करनेवाले, बहुत दुःख देनेवाले, बहुत उपायान्न (= परेशानी) देनेवाले हैं । इनमें आदिनव (= दुष्परिणाम) बहुत हैं । महानाम ! जब आर्य-आवक यथार्थतः अच्छी प्रकार जानकर इसे देख लेता है, तो वह कामोंसे अकुशल (= बुरे)-धर्मोंसे, अलगहीमें प्रीति-सुख या उससे भी अधिक शीतल (सुखको) नहीं पाता, वह कामोंमें ‘लौटने वाला’ होता है । महानाम ! आर्य-आवकको जब काम (= भोग) अ-प्रसन्न करनेवाले, बहुत दुःख देनेवाले, बहुत परेशानी करनेवाले मालूम होते हैं, इनमें आदिनव बहुत हैं’ इसे महानाम ! जब आर्य-आवक यथार्थतः अच्छी प्रकार जानकर इसे देख लेता है, तो वह कामोंसे अलग, अ-कुशल धर्मोंसे एक ही, प्रीति सुख या उससे शीतल (सुख) पाता है, तब वह कामोंकी ओर ‘न लौटनेवाला’ होता है ।

“मुझे भी महानाम ! संशोधि (शास करने)से पूर्व कुछ न हो, बोधिसत्त्व होते समय, वह अप्रसन्न करनेवाले, बहु दुःख, बहुत परेशानी करनेवाले काम (होते थे), तब ‘इनमें दुष्परिणाम बहुत हैं’—यह ऐसा यथार्थतः अच्छी प्रकार जानकर मैंने देखा, किन्तु कामोंसे अलग, अकुशल धर्मोंसे अलग, प्रीति-सुख, या उससे शीतल (सुख) नहीं पा सका । इसलिये मैंने उतनेसे कामोंकी ओर ‘न लौटने वाला’ (अपने को) नहीं जाना । तब महानाम ! काम अप्रसन्नकर बहु-दुःखद, बहु-आपासकर हैं, इनमें दुष्परिणाम बहुत हैं’ यह ऐसा ० । तो कामोंसे, अकुशलधर्मोंसे अलग ही प्रीति-सुख (तथा) उससे भी शीतल (सुख) पाया; तब मैंने (अपनेको) कामोंकी ओर ‘न लौटनेवाला’ जाना ।

“महानाम ! कामोंका आस्वाद (= स्वाद) क्या है ?—महानाम ! यह पाँच काम-गुण ० । कौनसे पाँच ? (१) इष्ट, कांत, रुचिकर, प्रिय-रूप, काम-युक्त, (चित्तको) रञ्जित करनेवाला, चक्षुसे विज्ञेय (= जानने योग्य) रूप । (२) इष्ट कान्त ० ओष्ठ-विज्ञेय शब्द । (३) ० प्राण-विज्ञेय गंध । (४) ० जिह्वा-विज्ञेय रस । (५) ० काय-विज्ञेय स्पर्श । महानाम ! यह पाँच काम-गुण हैं । महानाम ! इन पाँच काम गुणोंके कारण जो सुख या सौमनस्य (= दिलकी खुशी) उत्पन्न होता है, वही कामोंका आस्वाद है ।

“महानाम ! कामोंका दुष्परिणाम (= दुष्परिणाम) क्या है ? महानाम ! कुल-पुत्र जिस किसी शिल्पसे—चाहे मुद्रासे, या गणनासे, या संस्वानसे, या कृषिसे, या वाणिज्यसे, सोपाकन से, या वाण-बन्धसे, या राजाकी नौकरी (= राज-पोरिस) से, या किसी (अन्य) शिल्पसे, क्रीत-उष्ण-पीकित (= ० पुस्कृत), ईष-मच्छर-हवा-भूष-सरीसृप (= साँप बिच्छू आदि) के स्पर्शसे उत्पीडित होता, गृध्र प्यालेसे मरता, जीविका करता है । महानाम ! यह कामोंका दुष्परिणाम है । इसी जन्ममें (यह) दुःखोंका पुंज (= दुःख-संकुल) काम-हेतु = काम-निदान, काम-अधिकरण (= ० विषय) कामोंहोके कारण है । महानाम ! उस कुल-पुत्रको यदि इस प्रकार उद्योग करते= उत्थान करते, मेहनत करते, वह भोग नहीं मिलते (तो) वह शोक करता है, दुःखी होता है, चिन्ताता है, छाती पीटकर कंदन करता है, मूर्छित होता है—‘हाय ! मेरा प्रयत्न व्यर्थ हुआ, मेरी मेहनत निष्फल हुई !!’ महानाम ! यह भी कामोंका दुष्परिणाम ०, इसी जन्ममें दुःख-संकुल ० । यदि महानाम ! उस कुलपुत्रको इस प्रकार उद्योग करते ० वह भोग मिलते हैं । तो वह उन भोगोंकी रक्षाके विषयमें दुःख = दौर्मनस्य झेलता है—‘कहाँ मेरे भोगको राजा न हर लेजायें, चोर न हर लेजायें, आग न दाहे, पानी न बहावे, अ-प्रिय-दायाद न लेजायें’ । उसके इस प्रकार रक्षा-गोपन करते उन भोगोंको राजा लेजाते हैं ०, वह शोक करता है ०—‘जो भी मेरा था, वह भी मेरा नहीं है’ । महानाम ! यह भी कामोंका दुष्परिणाम ० ।

“और फिर महानाम ! कामोंके हेतु = कामनिदान, कामोंके लगवें (= अधिकरण) से कामोंके लिये राजा भी राजाओंसे लगवते हैं, क्षत्रिय लोग क्षत्रियोंसे ०, ब्राह्मण ब्राह्मणोंसे ०, गृहपति (= वैश्य) गृहपतिवर्गोंसे ०, माता पुत्रके साथ ०, पुत्र भी माताके साथ ०, पिता भी पुत्रके साथ ०, पुत्र भी पिताके साथ ०, भाई भाईके साथ ०, भाई भगिनीके साथ ०, भगिनी भाईके साथ ०, मित्र मित्रके साथ लगवते हैं । वह वहाँ कलह = विग्रह = विवाद करते, एक दूसरे पर हाथोंसे भी आक्रमण करते हैं, चेलोंसे भी ०, बंदोंसे भी ०, शत्रुओंसे भी आक्रमण करते हैं । वह वहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं, या मृत्यु-समान दुःखको । महानाम ! यह भी कामोंका दुष्परिणाम ० ।

“और फिर महानाम ! कामोंके हेतु ० बाल-तलवार (= अग्नि-चम्म) लेकर, धनुष (= धनुष-कलाप = धनुष-लक्ष्मी) चढ़ाकर, दोनों ओरसे व्यूह रचे संग्राममें दौड़ते हैं । पाणोंके चलाये जाते-में, शक्तियोंके फेंके जातेमें, तलवारोंकी चम्मकमें, वह पाणोंसे किह होते हैं, शक्तियोंसे ताकित होते हैं, तलवारसे शिर-च्छिन्न होते हैं । वहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं, या मृत्यु-समान दुःखको । यह भी महानाम ! कामोंका दुष्परिणाम ० ।

“और फिर महानाम ! कामोंके हेतु ०, तलवार लेकर, धनुष चढ़ाकर, भोग-लिये हुये प्राकारों (= उपकारी = शहर-पनाह) को दौड़ते हैं । पाणोंके चलाये जातेमें ० । वह वहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं ० । यह भी महानाम ! कामोंका दुष्परिणाम ० ।

“और फिर महानाम ! कामोंके हेतु ० संध भी लगाते हैं, (गाँव) उजाव कर लेजाते हैं, चोरी (= एकागारिक = एक घरको घेरकर चुराना) भी करते हैं, रहजनी (= परिपन्थ)

हैं, पर-स्त्री-गमन भी करते हैं। तब उसको राजा लोग पकड़ कर नाना प्रकारकी सजा (= कर्म-करण) कराते हैं—बाहुकसे पिटाते हैं, बेंतसे भी ०, लुमांजा करते हैं, हाथ भी काटते हैं, पैर भी काटते हैं, हाथ पैर भी काटते हैं। कान भी ०, नाक भी ०, कान-नाक भी ०। 'विलंगवालिका भी करते हैं, शीश-सूर्यिका भी ०, राहुमुख भी ०, ज्योतिर्नालिका भी ०, हस्त-प्रज्योतिका भी ०, एरक-वर्तिका भी ०, चौरक-वासिका भी ०, ऐणैयक भी ०, वडिश-भासिका भी ०, कार्पापणक भी ०, खारापनच्छिक भी ०, परिष-परिवर्तिका भी ०, पलाल-पीठक भी ०, तपाणे तेलसे भी नहलाते हैं, कुशोंसे भी कटवाते हैं, जीते जो झूलोपर चढ़वाते हैं, तलवारसे शीश कटवाते हैं। वह वहाँ मरणको प्राप्त होते हैं, भयन-समान दुःखोंको भी। यह भी महानाम ! कामोंका दुष्परिणाम ०।

“और फिर महानाम ! कामके हेतु ० कायासे दुष्परिणित (= पाप) करते हैं, वचनसे ०, मनसे ० यह वह काय ०-वचन ०-मनसे दुष्परिणित करके, शरीर छोड़नेपर मरनेके बाद, जन्माय = दुर्गति = विनिपात, निरय (नरक) में उत्पन्न होते हैं। महानाम ! जन्मान्तरमें यह कामोंका दुष्परिणाम दुःख-पुनः काम-हेतु = काम-निदान, कामोंका अगवा कामों हीके लिये होता है।

एक समय महानाम ! मैं राजगृहमें गृध्रकुट पर्वतपर विहार करता था। उस समय बहुतसे निर्गन्ध (= जैन-साधु) ऋषिगिरिकी कालशिलापर खड़े रहने (काव्रत) रहे, आसन छोड़, उपवास करते, दुःख, कष्ट, वीर्य, वेदना होल रहे थे। तब मैं महानाम ! सायंकाल ध्यानसे उठकर, तहाँ ऋषिगिरिके पास कालशिला थी, जहाँपर कि वह निर्गन्ध-थे, पहाँ गया। जाकर उन निर्गन्धोंसे बोला—‘आवुसो ! निर्गन्धो ! तुम खड़े क्यों हो, आसन छोड़ें’ दुःख, कष्ट, वीर्य वेदना होल रहे हो !’ ऐसा कहनेपर उन निर्गन्धोंने कहा—‘आवुस ! निर्गन्ध नाथपुत्त (= जैनतीर्थंकर महावीर) सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, आप अशिल (= अपरितोष) ज्ञान = दर्शनको जानते हैं—‘कहते, खड़े, सोते, जागते, सदा निरंतर (उनको) ज्ञान = दर्शन उपस्थित रहता है’। यह ऐसा कहते हैं—‘निर्गन्धो ! जो तुम्हारा पहिलेका किया हुआ कर्म है, उसे इस कष्टकी दुष्कर-क्रिया (= तपस्या) से नाश करो, और जो इस वक्त यहाँ काय-वचन-मनसे संतुल (= पाप न करनेके कारण शक्ति, शुभ) हो, यह भविष्यके लिये पापका न करना हुआ। इस प्रकार पुराने कर्मोंका तपस्यासे अन्त होनेसे, और नवे कर्मोंके न करनेसे, भविष्यमें चित्त अन्-आसन्न (= निर्मल) होगा। भविष्यमें आसन्न न होनेसे, कर्मका क्षय (होगा), कर्म-क्षयसे दुःखका क्षय, दुःख-क्षयसे वेदना (= झेलना) का क्षय, वेदना-क्षयसे सभी दुःख-मष्ट होगे। इसे वह (विचार) रुचता है = समता है, इससे हम संतुष्ट हैं।’

“ऐसा कहनेपर मैंने महानाम ! उन निर्गन्धोंसे कहा—‘क्या तुम आवुसो ! निर्गन्धो ! जानते हो ‘हम पहिले थे ही, हम नहीं न थे ?’ ‘नहीं आवुस !’ ‘क्या तुम आवुसो ! निर्गन्धो !’ यह जानते हो—‘हमने पूर्वमें पापकर्म किये ही हैं, नहीं नहीं किये ?’ ‘नहीं आवुस !’ ‘क्या तुम आवुसो ! निर्गन्धो ! यह जानते हो—अमुक अमुक पाप कर्म किये हैं ?’ ‘नहीं आवुस !’ ‘क्या तुम आवुसो ! निर्गन्धो ! जानते हो, इतना दुःख नाश होगया, इतना दुःख नाश करना है, इतना दुःखनाश होनेपर सब दुःख नाश हो जायेगा ?’ ‘नहीं आवुस !’ ‘क्या तुम आवुसो ! निर्गन्धो ! जानते हो—इसी जन्ममें अकुशल (= बुरे) धर्मोंका प्रहाण (= विनाश), और कुशल (= अच्छे) धर्मोंका लाभ (होना है) ?’ ‘नहीं आवुस !’ ‘इस प्रकार ० निर्गन्धो ! तुम नहीं जानते—हम पहिले थे, या नहीं ०। इसी जन्ममें अकुशल धर्मोंका प्रहाण, और कुशल धर्मोंका

लान (होना है) । ऐसा ही होने (ही)से तो आबुस ! निर्गंडो ! जो लोकमें रुद्र (= भयंकर) खून-रंगे-हाथवाले, दूर-कर्मों, मनुष्योंमें बीच जातिवाले (= पक्षानाता) हैं, वह निर्गंडोंमें साधु बनते हैं । 'आबुस ! गौतम ! सुखसे सुख प्राप्य नहीं है, दुःखसे सुख प्राप्य है । आबुस ! गौतम ! यदि सुखसे सुख प्राप्य होता, तो राजा मागध श्रेणिक विषसार सुख प्राप्त करता । राजा मागध श्रेणिक विषसार आयुष्मान् (= आप)से बहुत सुख-विहारी है ।' 'आयुष्मान् निर्गंडोंने अवश्य, बिना विचारे जल्दीमें यह बात कही ।' 'आबुस ! गौतम ! सुखसे सुख नहीं प्राप्य है, दुःखसे सुख प्राप्य है । सुखसे यदि आबुस ! गौतम ! सुख प्राप्त होता, तो राजा मागध श्रेणिक विषसार सुख प्राप्त करता, राजा मागध श्रेणिक विषसार आयुष्मान् गौतमसे बहुत सुख-विहारी है । (आप लोगोंको) तो मुझे ही पूछना चाहिये—आयुष्मानोंके लिये कौन अधिक सुख विहारी है, राजा ० विषसार या आयुष्मान् गौतम ?' 'अवश्य आबुस ! गौतम ! हमने बिना विचारे जल्दीमें बात कही । नहीं आबुस ! गौतम ! सुखसे सुख प्राप्य है ० । जाने दीजिये इसे, अब हम आयुष्मान् गौतमसे पूछते हैं—आयुष्मानोंके लिये कौन अधिक सुख-विहारी है, राजा ० विषसार या आयुष्मान् गौतम ?' 'तो आयुसो ! निर्गंडो तुमको ही पूछते हैं, जैसा तुम्हें लगे, वैसा उत्तर दो । तो क्या मानते हो आयुसो ! निर्गंडो ! क्या राजा ० विषसार कायासे बिना हिले, वचनसे बिना बोले, सात रात-दिन केवल (= एकांत) सुख अनुभव करते विहार कर सकता है ?' 'नहीं आबुस !' 'तो क्या मानते हो, आयुसो ! निर्गंडो ! ० छः रात-दिन केवल सुख अनुभव करते विहार कर सकता है ?' 'नहीं आबुस !' '० पाँच रात-दिन ०' '० चार रात-दिन ०' '० तीन रात-दिन ०' '० दो रात-दिन ०' '० एक रात-दिन ०' 'नहीं आबुस !' 'आयुसो ! निर्गंडो ! मैं कायासे बिना हिले, वचनसे बिना बोले एक रात-दिन ०, दो रात-दिन ०, तीन रात-दिन ०, चार ०, पाँच ०, छः ०, सात रात-दिन केवल-सुख अनुभव करता विहार कर सकता हूँ । तो क्या मानते हो आयुसो ! निर्गंडो ! ऐसा होनेपर कौन अधिक सुख-विहारी है । राजा मागध श्रेणिक विषसार, या मैं ?' 'ऐसा होनेपर तो राजा मागध श्रेणिक विषसारसे आयुष्मान् गौतम ही अधिक सुख-विहारी है ।'

मगवान्ने, यह कहा, महानाभ शाक्यने सन्तुष्ट हो मगवान्के भाषणका अभिनन्दन किया ।

१५-अनुमान-सूचन (१।२।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् महामौद्गल्यायन मर्ग^१ (देश)में, सुंस्तुमार-गिरि^२के भेषकलाचन शृगदावर्मे विहार करते थे। वहाँ आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने भिक्षुओंको संबोधित किया—
“आवुसो भिक्षुओ !”

“आवुस !” (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको उत्तर दिया ।

आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने यह कहा—

१—“बाहे आवुसो ! भिक्षु (जयानी) यह कहता भी है—आयुष्मान् कहे, मैं आयुष्मानोंके वचन (= दोष दिखानेवाले शब्द)का पाव हूँ; किन्तु यदि यह दुर्वचनी है, दुर्वचन पैदा करनेवाले धर्मोंसे युक्त है; और अनुशासन ग्रहण करनेमें अ-अम (= असमर्थ) अ-प्रक्षिप्त-प्राही (= उत्साह-रहित) है। तो फिर स-ब्रह्मचारी न तो उसे (शिक्षा) वचनका पाव मानते हैं, न अनुत्तमपत्नीय मानते हैं; न उस व्यक्तिमें विधातोत्पन्न करना (उचित) मानते हैं।

“आवुसो ! कौनसे है दुर्वचन पैदा करनेवाले धर्म ?—यहाँ आवुसो ! भिक्षु पापेष्क (= बदनीयत) हो, पापिका (= बुरी) इच्छाओंके बशीमूत होता है। जो कि आवुसो ! भिक्षु ० पापिका इच्छाओंके बशीमूत है, यह भी आवुसो ! दुर्वचन पैदा करनेवाला धर्म (= पाव) है।

“और फिर आवुसो ! भिक्षु आत्मोत्कर्षक (= अपनी उन्नति या प्रशंसा चाहनेवाला) होता है, और दूसरोंकी पतन (या निंदा) चाहनेवाला । ० यह भी आवुसो दुर्वचन पैदा करनेवाला धर्म है।

“और फिर आवुसो ! भिक्षु क्रोधी होता है, क्रोधके बशीमूत ० । ० ।

“ ० भिक्षु क्रोधी होता है, क्रोधके हेतु उपमाह (= डोंग)से युक्त होता है ० । ० ।

“ ० भिक्षु क्रोधी होता है, क्रोधके हेतु अभिगंग (= डाह)से युक्त होता है ० । ० ।

“ ० भिक्षु क्रोधी होता है, क्रोधपूर्ण वाणीका निकालनेवाला होता है ० । ० ।

“ ० भिक्षु दोष दिखलानेपर दोष दिखलानेवालेके लिये प्रतिस्फुरण (= प्रतिहिंसा)

करता है ० । ० ।

“ ० भिक्षु दोष दिखलानेसे, दोष दिखलाने वाले को नाराज करता है ० । ० ।

“ ० भिक्षु दोष दिखलानेसे, दोष दिखलानेवालेपर उल्टा आरोप करता है ० । ० ।

^१ मर्ग आजकालके मिर्जापुर जिलेका गंगासे दक्षिणी भाग और कुछ आसपासका प्रदेश है, रसकी सोमा-मोंगा-टोल-कर्मनाश नदियाँ एवं विष्णुपर्वतका कुछ भाग रहा होगा ।

^२ वर्तमान सुनार (जि० मिर्जापुर, युक्त प्रान्त) ।

“ ० मिथु दोष दिखलानेपर दोष दिखलानेवालेके साथ दूसरी दूसरी (बात) ले लेता है, बातको (प्रकरणसे) बाहर ले जाता है; कोप, द्वेष, अप्रत्यय (= नाराजगी) उत्पन्न करता है ० । ० ।

“ ० मिथु दोष दिखलानेपर, दोष दिखलानेवालेके साथ अपदान (= साथ छोड़ना) अ-सम्प्रायण (= अ-स्वीकार) करता है ० । ० ।

“ और फिर आतुसो ! मिथु झंसी (= अमरणी) और प्रदाशी । (= निष्ठुर) होता है ० । ० ।

“ ० ईर्ष्यालु और मत्सरी होता है ० । ० ।

“ ० शठ और मायावी ० । ० ।

“ ० सख (= जड़) और अतिमानी (= अभिमानी) ० । ० ।

“ ० संदृष्टिपरामर्षी (= तुरन्त काम चाहनेवाला) और आप्थानग्राही (= हठ) और दुष्प्रति निस्सर्गी (= न त्यागनेवाला) होता है ० । ० ।

२—“ बाहे आतुसो ! मिथु (= यह न भो कहता है—‘आतुप्मान् कहे’ ०; किन्तु यदि वह सुवचनी है, और सुवचन पैदा करनेवाले धर्मोंसे युक्त है; और वह अनुशासन ग्रहण करनेमें धम (= समर्थ) प्रदक्षिण-ग्राही (= उत्साहसे ग्रहण करनेवाला) है, तो फिर सब्रज्जचारी उसे (उप-देशयुक्त) वचनका पात्र मानते हैं, अनुशासनीय मानते हैं, उस व्यक्तिमें विश्वास उत्पन्न करना (उचित) मानते हैं ।

“ आतुसो ! कौनसे है सुवचन पैदाकरनेवाले धर्म ?—यहाँ आतुसो ! मिथु न पापेच्छ होता है, न बुरी इच्छाओंके वशीभूत । जो कि आतुसो ! मिथु न पापेच्छ है, न बुरी इच्छाओंके वशी-भूत; वह भी आतुसो ! सुवचन पैदाकरनेवाला धर्म है ।

“ और फिर आतुसो ! मिथु न आत्मोत्कर्षक होता, न पर-अपकर्षक । ० यह भी आतुसो ! सुवचन पैदा करनेवाला धर्म है ।

“ ० न कोपी होता है, न क्रोधादभिभूत ० । ० ।

“ ० न कोपी ० न कोपके हेतु उपनाही ० । ० ।

“ ० न कोपी ० न कोपके हेतु अभिरिंगी ० । ० ।

“ ० न कोपी ० न कोपपूर्ण बातोंका करनेवाला होता है ० । ० ।

“ ० दोष दिखलानेपर दोष दिखलानेवालेको प्रतिस्फरण (= प्रतिहिंसा) नहीं करता है ० । ० ।

“ ० न ० नाराज करता है ० । ० ।

“ ० न ० दुष्टा आरोप करता है ० । ० ।

“ ० न ० दूसरी दूसरी बात ले लेता है, न बातको प्रकरणसे बाहर लेजाता है, न कोप, द्वेष, अप्रत्यय उत्पन्न करता है ० । ० ।

“ ० न ० अपदान अ-सम्प्रायण करता है ० । ० ।

“ ० न झंसी न प्रदाशी होता है ० । ० ।

“ ० न ईर्ष्यालु और न मत्सरी होता है ० । ० ।

“० न शठ और न मायावी ० । ० ।

“० न स्तब्ध (= जड़) और न अतिमानी (= अभिमानी) ० । ० ।

“० न सन्दृष्टिपरामर्षी न आधानग्राही (= हठी) और ० सुप्रति-निस्सर्गी होता है ।

३—“वहाँ आबुसो ! भिक्षु अपने ही अपनेको इस प्रकार समझावे (= अनुमान करे) वो व्यक्ति पापेच्छ है, पापिका इच्छाओंके वशीभूत है, वह पुद्गल सुखे अप्रिय = अमनाप है । और मैं भी तो पापेच्छ हूँ, पापिका इच्छाओंके वशीभूत हूँ; (इसलिये) मैं भी दूसरोंको अप्रिय = अमनाप होऊँगा—यह जानते हुये आबुसो ! भिक्षुको ऐसा चित्त उत्पन्न करना चाहिये—मैं पापेच्छ नहीं होऊँगा, मैं पापिका इच्छाओंके वशीभूत नहीं होऊँगा ।

“जो पुद्गल आत्मोत्कर्षक होता है, और पर-अपकर्षक, वह सुखे अप्रिय = अमनाप होता है, और (यहाँ) मैं ही आत्मोत्कर्षक, और पर-अपकर्षक हूँ; (इसलिये) मैं भी दूसरोंको अप्रिय = अमनाप होऊँगा—यह जानते हुये आबुसो ! भिक्षुको ऐसा चित्त उत्पन्न करना चाहिये—मैं आत्मोत्कर्षक नहीं होऊँगा, मैं पर-अपकर्षक नहीं होऊँगा ।

“जो पुद्गल क्रोधी होता है, क्रोधके वशीभूत ० ।

“० क्रोधी होता है, क्रोधके हेतु उपनाही ० ।

“० क्रोधी ० क्रोधके हेतु अभिप्रेमी ० ।

“० क्रोधी ० क्रोध-पूर्ण वचन निकालनेवाला ० ।

“जो पुद्गल दोष दिखाने जानेपर, दोष दिखलानेवालेको प्रति-स्फरण करता है ० ।

“० दोष दिखलानेवालेको नाराज कराता है ० ।

“० दोष दिखलानेवालेपर उल्टा आरोप करता है ० ।

“० दूसरी दूसरी बात ले लेता है, बातको प्रकरणसे बाहर ले जाता है; कोप, द्वेष अप्रत्यय (= नाराजगी) उत्पन्न करता है ० ।

“० अपहान और सम्प्रापण करता है ० ।

“० झूठी और प्रदायी होता है ० ।

“० ईर्ष्यालु और भस्वरी होता है ० ।

“० शठ और मायावी होता है ० ।

“० स्तब्ध और अतिमानी होता है ० ।

“जो पुद्गल सन्दृष्टि-परामर्षी आधानग्राही और सुप्रति-निस्सर्गी होता है, वह पुद्गल सुखे अप्रिय है (= अमनाप है) और यहाँ मैं ही हूँ, सन्दृष्टि-परामर्षी ०; (इसलिये) मैं भी दूसरोंको अप्रिय = अमनाप होऊँगा—यह जानते हुये आबुसो ! भिक्षुको ऐसा चित्त उत्पन्न करना चाहिये—मैं सन्दृष्टि-परामर्षी ० नहीं होऊँगा ।

४—“वहाँ आबुसो ! भिक्षुको अपने आप इस प्रकार प्रत्यवेक्षण (= परीक्षण) करना चाहिये—क्या मैं पापेच्छ हूँ, पापिका इच्छाओंके वशीभूत हूँ । यदि आबुसो ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते देखे, कि वह पापेच्छ है, पापिका इच्छाओंके वशीभूत है; तो आबुसो ! उस भिक्षुको उन दुरे = अकुशल धर्मों (= बातों) के परित्यागके लिये उद्योग करना चाहिये । परन्तु यदि आबुसो ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते देखे, कि वह पापेच्छ नहीं है, पापिका इच्छाओंके वशीभूत नहीं है; तो आबुसो ! उस भिक्षुको उसी प्रीति = प्रामोद (= सुखी) के साथ रात दिन कुशल धर्मों (= अच्छी बातों) को सीखते विहार करना चाहिये ।

“और फिर आबुसो ! भिक्षुको अपने आप इस प्रकार प्रत्यवेक्षण करना चाहिये—क्या मैं

आत्मोत्कर्षक हूँ, पर-अपकर्षक । यदि ० ।

“ ० — क्या मैं कोधी, कोधके वशीभूत हूँ ० ।

“ ० — क्या मैं कोधी, कोष-हेतु उपनाही हूँ ० ।

“ ० — क्या मैं कोधी, ० अभियंसी ० ।

“ ० — क्या मैं कोधी, ० कोष-पूर्ण वचन निकालनेवाला ० ।

“ ० — क्या मैं दोष दिखाने जानेपर, दोष दिखानेवालेका प्रतिस्फरण (= प्रतिहिंसा) करता हूँ ० ।

“ ० — ०, दोष दिखानेवालेको नाराज करता हूँ ० ।

“ ० — ० दोष दिखानेवालेपर उठता आरोप करता हूँ ० ।

“ ० — ० दूसरी दूसरी बात ले लेता हूँ, बातको प्रकरणसे बाहर ले जाता हूँ, कोप, हँप, अप्रसन्न उत्पन्न करता हूँ ।

“ ० — ० अपदान और सम्प्राप्ति करता हूँ ० ।

“ ० — ० ब्रवी और प्रदाशी हूँ ० ।

“ ० — ० हृष्यालु और मत्सरी हूँ ० ।

“ ० — ० शठ और सायावी हूँ ० ।

“ ० — ० स्तब्ध और अतिमावी हूँ ० ।

“ ० — ० सन्निहि-परामर्शी, आधानग्राही और दुष्प्रति-निरसर्गी हूँ ० रात दिन कुशल धर्मोंको सीखता विहार करना चाहिये ।

“यदि आनुसो ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते अपनेमें सभी पापक = अकुशल-धर्मों (= बुराइयों) को अप्रहीण (= अ-परिलक्ष्य) देखे; तो आनुसो ! उस भिक्षुको उन सभी पापक = अकुशल धर्मोंके प्रहाण (= नाश) के लिये प्रयत्न करना चाहिये । किन्तु यदि आनुसो ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते अपनेमें सभी बुरे = अकुशल धर्मोंको प्रहीण समझे; तो आनुसो ! उस भिक्षुको उसी प्रीति = प्रामोद-के साथ रात दिन कुशल धर्मोंको अन्यास करते विहार करना चाहिये ।

“जैसे आनुसो ! दहर (= कमसिन) युवा शौकीन की सुष्य परिशुद्ध उज्ज्वल आदर्श (= दर्पण) या स्वच्छ जलपात्रमें अपने मुखके प्रतिबिम्बको देखते हुये—यदि वहाँ रज (= मैल) = अंगणको देखता है, तो उस रज या अंगणके प्रहाण (= दूर करने) की कोशिश करता है; यदि वहाँ रज या अंगण नहीं देखता, तो उसीमें समुष्ट होता है—“अहो ! लान है मुझे ! परिशुद्ध है मेरा (मुख) !!” ऐसेही आनुसो ! यदि भिक्षु प्रत्यवेक्षण कर अपने सभी पापक = अकुशल धर्मोंको अप्रहीण देखे, तो ० प्रयत्न करना चाहिये । किन्तु यदि आनुसो ! ०” सीखते विहार करना चाहिये ।”

आनुष्मान महाभौद्गल्यायनसे यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने आ. महाभौद्गल्यायन के आशयका अभिनन्दन किया ।

१६-चेतोखिल-सुत्तन्त (१।२।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।
वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको सम्बोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भवन्त” — (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

१—भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! जिस किसी भिक्षुके पाँच चेतोखिल (= चित्तके कौल) नष्ट (= प्रहीण) नहीं हुये, पाँच चित्तमें यत्न है, छिन्न नहीं है; वह इस धर्म-विनय (= बुद्ध-धर्म) में वृद्धि = विरुद्धिको प्राप्त होगा, यह सम्भव नहीं । कौनसे इसके पाँच चेतोखिल अप्रहीण हों ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु सास्ता (= आचार्य) में कांक्षा = विचिकित्सा (= संदेह) करता है, (संशयसे) मुक्त नहीं होता, प्रसन्न (= अद्भुत) नहीं होता; (इसलिये) उसका चित्त आतप्य (= तीव्र उद्योग) के लिये, अनुद्योग, सातत्त्व (= निरन्तर सम्बन्ध) (और) प्रधान (= इष्ट उद्योग) के लिये नहीं श्रुता । जो कि उसका चित्त आतप्यके लिये नहीं श्रुता, यह उसका प्रथम चेतोखिल अ-प्रहीण है ।

“और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु धर्ममें ० ^१ द्वितीय ० ।

“और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु संघमें ० ^१ तृतीय ० ।

“ ० शीलमें ० ^१ चतुर्थ ० ।

“ ० समग्रचारियोंके विषयमें कुपित, अत्यन्तुष्ट, दूषित-चित्त, शिलजाल (= काँटा बना) होता है । जो कि भिक्षुओ ! जो वह भिक्षु समग्रचारियोंके विषयमें ० शिलजाल होता है, (इसलिये) उसका चित्त तीव्र उद्योगके लिये नहीं श्रुता; जो कि उसका चित्त तीव्र उद्योग ० के लिये नहीं श्रुता, यह उसका प्रथम चेतोखिल अप्रहीण है ।

“यह इसके पाँचों चेतोखिल अप्रहीण होते हैं ।

“कौनसे इसके पाँच चित्त-बन्धन (जेतसोविनिबन्ध) अ-समुच्छिन्न (= न कटे) होते हैं ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु कामों (= भोगों) में अ-वीतराग = अ-वीतच्छन्द = अ-वीत-प्रेम, अविगतपिपासा (= जिसकी प्यास हटी नहीं), अ-विगत-परिदाह (= जिसकी जलन गई नहीं), अ-विगत-वृष्णा होता है । जो कि भिक्षुओ ! भिक्षु कामोंमें ० अविगत वृष्णा होता है, इसलिये उसका चित्त ० नहीं श्रुता; यह उसका प्रथम चित्त-बन्धन छिन्न नहीं हुआ है ।

“और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु कायामें अ-वीत-राग ० ^१; यह उसका द्वितीय ० ।

“ ० रूपमें अवीतराग ०० ^१; यह तृतीय ० ।

^१ करके ऐसा जैसा ।

“और फिर भिक्षुओं ! यथेच्छ उदरपूर भोजन करके शय्या-सुख, स्पर्श-सुख, सूक्ष्म (= जालस्य) -सुखमें कैसा विहरता है । जो कि, भिक्षुओं ! ०^१; यह उसका चतुर्थ ० ।

“और फिर भिक्षुओं ! भिक्षु किसी देव-निकाय देवयोगिका प्रणिधान (= एक कामना) करके ब्रह्मचर्य चरण करता है—इस शील, व्रत, तप, या ब्रह्मचर्यसे मैं देवता या देवतामेंसे कोई हों। जो कि भिक्षुओं ! ०^१; यह उसका पंचम चित्त-बंधन किन्तु नहीं हुआ है ।

“यह उसके पाँच चेतसो-विनिबंध (= चित्त-बंधन) अ-समुच्छिन्न होते हैं । भिक्षुओं ! जिस किसी भिक्षुके यह पाँच चेतोखिल अप्रहीण हैं, यह पाँच चित्त-विनिबन्धन अ-समुच्छिन्न हैं, यह इस धर्ममें वृद्धि-विरुद्धिको प्राप्त होगा, यह संभव नहीं ।

२—“भिक्षुओं ! जिस किसी भिक्षुके पाँच चेतोखिल प्रहीण हैं, पाँच चेतसो विनिबंध समुच्छिन्न हैं । यह इस धर्ममें वृद्धि-विरुद्धिको प्राप्त होगा, यह संभव है ।

“कौनसे इसके पाँच चेतोखिल प्रहीण हैं ? ० यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु शास्त्रात्मै काक्षा-विचिकित्सा नहीं करता, (संशय-)मुक्त होता है, प्रसन्न होता है; (इसलिये) उसका चित्त आतप्य ०^२ के लिये झुकता है । जो कि उसका चित्त तीन उपयोगके लिये झुकता है; यह उसका प्रथम चेतोखिल प्रहीण हुआ ।

“और फिर भिक्षुओं ! भिक्षु धर्ममें ०^३; ० द्वितीय ० ।

“ ० संघमें ०^४; ० तृतीय ० ।

“ ० शिक्षामें ०^५; ० चतुर्थ ० ।

“ ० सम्ब्रह्मचारियोंके विषयमें कुपित, असन्तुष्ट, दूषित-चित्त, खिलजात (= काँटे सा) नहीं होता; जो यह ०^६; पंचम ० ।

“यह उसके पाँच चेतोखिल प्रहीण होते हैं ।

“कौनसे इसके पाँच चेतसो-विनिबंध (= चित्तके बंधन) समुच्छिन्न होते हैं ?—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु कामोंमें वीतराग=वीतच्छन्द=वीतप्रेम, विगत-विषय, विगत-परिदाह, विगत-तृष्ण होता है; जो कि भिक्षुओं ! भिक्षु कामोंमें वीतराग ० होता है; इसलिये उसका चित्त आतप्य ०^७ झुकता है; यह उसका प्रथम चेतसो-विनिबंध समुच्छिन्न हुआ ।

“और फिर भिक्षुओं ! भिक्षु कायामें वीतराग ०^८ द्वितीय ० ।

“ ० रूपमें वीतराग ०^९ तृतीय ० ।

“ ० यथेच्छ उदरपूर भोजन करके शय्या-सुख, स्पर्श-सुख, सूक्ष्म-सुखमें कैसा नहीं विहरता । जो कि भिक्षुओं ० चतुर्थ ० ।

“और फिर भिक्षुओं ! भिक्षु किसी देव-निकाय^१का प्रणिधान करके ब्रह्मचर्य चरण नहीं करता—०^१ । जो कि भिक्षुओं ! ० यह उसका पंचम चेतसो विनिबंध किन्तु हुआ ।

“यह उसके पाँच चेतसो-विनिबंध समुच्छिन्न हुये ।

“भिक्षुओं ! जिस किसी भिक्षुके पाँच चेतोखिल प्रहीण हैं, पाँच चेतसो-विनिबन्ध समुच्छिन्न हैं, यह इस धर्ममें वृद्धि-विरुद्धिको प्राप्त होगा, यह सम्भव है ।

“यह (१) छन्द-समाधि-प्रधान-संस्कार-मुक्त श्रद्धिपाद^२की भावना करता है; (२) यह

^१ ऊपरके पैरा जैसा । ^२ देखो पृष्ठ १५ । ^३ ऊपरके पैरा जैसा । ^४ भिक्षुओं पृष्ठ १५ ।

^५ ऊपरके पैरा जैसा । ^६ भिक्षुओं ऊपर । ^७ यहाँ चार श्रद्धिपाद या श्रद्धियों हैं, पंचम कस्तोदि है ।

वीर्य-समाधि=प्रधान-संस्कार-युक्त कद्विपाद की भावना करता है; (३) वह चित्त समाधिके प्रधान संस्कारसे युक्त *; (४) वह समाधि-इन्द्रियके प्रधान संस्कारसे युक्त कद्विपादकी भावना करता है। विमर्श समाधिके प्रधान-संस्कारसे युक्त कद्विपादकी भावना है। (यह) चौथी (विमर्श समाधि-प्रधान संस्कार युक्त कद्विपाद, उत्सोदि (= उत्साह) है। भिक्षुओ ! सो वह भिक्षु उत्सोदिके पन्द्रह अंगोंसे युक्त निर्वेद (= वैराग्य) के लिये योग्य है, संबोधि (= परमज्ञान) के लिये योग्य है, सर्वोत्तम (= अनुत्तर) योगक्षेम (= निर्वाण) की प्राप्ति के लिये योग्य है।

“जैसे भिक्षुओ ! आठ, दस या बारह मुर्गी यदि हों, वह मुर्गीद्वारा भली प्रकार सेये-परिस्वेदित, परिभावित हों; चाहे मुर्गीकी यह इच्छा न भी हो—‘अहोवत ! मेरे चूरे (=कुम्हट-पोतक) पादनखसे या मुक्ततुंडसे अंडेको फोड़कर स्वतंत्रतः निकल जायें।’ तो भी वह चूरे पादनखसे, या मुक्ततुंडसे अंडेको फोड़कर स्वतंत्रतः निकल जानेके योग्य हैं, ऐसे ही भिक्षुओ ! उत्सोदिके पन्द्रह अंगोंसे युक्त भिक्षु निर्वेदके लिये योग्य है, सम्बोधिके लिये योग्य है, अनुत्तर योगक्षेमकी प्राप्ति के लिये योग्य है।”

भगवान्ने यह कहा, उन भिक्षुओंने सन्तुष्ट हो, भगवान्के भाषणका अभिनन्दन किया।

१७-वनपत्य-मुत्तन्त (१।२।७)

येसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिण्डिकके आश्रम जेतवनमें विहार करते थे । वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“अदन्त” (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! वनपत्य-परियाय (= नामक उपदेश) को तुम्हें उपदेशता हूँ; इसे सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ?”

“ऐसा ही मन्ते !” (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने कहा—“भिक्षुओ ! यहाँ (कोई) भिक्षु वनप्रस्थ (= जंगल) का आश्रय लेकर विहरता है । वनप्रस्थका आश्रय ले विहरते (भी) उसकी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित नहीं होती; अ-समाहित चित्त, समाहित (= एकग्र) नहीं होता; अ-परिक्षीण आत्मव (= मल) परिक्षीण (= गृष्ट) नहीं होते; अ-लब्ध अनुत्तर योग-क्षेम (= निर्वाण) उपलब्ध नहीं होता । प्रमज्जित (= लस्यत्सी) के लिये जो यह अपेक्षित सामग्रियाँ हैं—चीवर (= वस्त्र), पिण्डपात (= भिक्षालन), शयनासन, ग्लान-प्रत्यय-भेषज्य (= रोगीके पथ्य औषध) के सामान, वह (भी) कठिनाईसे जुटते हैं । भिक्षुओ ! उस भिक्षुको इस प्रकार सोचना चाहिये—‘मैं इस जंगलमें विहर रहा हूँ; किन्तु इस वनमें विहरते (भी) मेरी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित नहीं होती • जुटते हैं’; और भिक्षुओ ! उस भिक्षुको रातके वक्त या दिनके वक्त उस वनसे चला जाना चाहिये, (वहाँ) नहीं बसना चाहिये ।

“यहाँ भिक्षुओ ! (एक) भिक्षु वनप्रस्थका आश्रय लेकर विहरता है । • उसकी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित नहीं होती •^१, अलब्ध अनुत्तर योग-क्षेम उपलब्ध नहीं होता; किन्तु प्रमज्जितके लिये जो यह अपेक्षित सामग्रियाँ हैं—चीवर • वह आसानीसे जुट जाती हैं । भिक्षुओ ! उस भिक्षुको इस प्रकार सोचना चाहिये—‘मैं इस वनप्रस्थको आश्रय लेकर • जुट जाती हूँ; लेकिन मैं चीवरके लिये वरसे बेघर हो प्रमज्जित नहीं हुआ, न पिण्डपातके लिये •, न शयनासनके लिये •, न ग्लान-प्रत्यय-भेषज्यके लिये • । और इस वनप्रस्थका आश्रय लेकर विहरते मेरी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित नहीं होती • ।’ भिक्षुओ ! उस भिक्षुको • उस वनसे चला जाना चाहिये • ।

“यहाँ, भिक्षुओ ! • अनुपस्थित स्मृति उपस्थित होती है, असमाहित चित्त समाहित होता है, अपरिक्षीण आत्मव परिक्षीण होते हैं; अप्राप्त अनुत्तर योगक्षेम प्राप्त होता है; किन्तु

^१ पिछले पेरसे भिक्षुओ ।

प्रमत्तके लिये जो वह अपेक्षित सामग्रियाँ हैं—'०, यह कठिनाईसे छुटती है। भिक्षुओं ! उस भिक्षुको इस प्रकार सोचना चाहिये—०, लेकिन मैं चीवरके लिये घरसे बेघर हो प्रमत्त नहीं हुआ ० । ० मेरी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित होती है ०' । भिक्षुओं ! उस भिक्षुको यह जानकर उस वनप्रस्थमें बसना चाहिये, नहीं जाना चाहिये ।

"० उसकी अनुपस्थित स्मृति उपस्थित होती है ०, प्रमत्तके लिये अपेक्षित सामग्रियाँ—० आसानीसे मिल जाती है । भिक्षुओं ! उस भिक्षुको जीवन भर उसी वनमें बसना चाहिये, नहीं जाना चाहिये ।

"यहाँ भिक्षुओं ! (यदि) भिक्षु किसी ग्रामका आश्रय लेकर विहरता है ०^१ । निगम (= कस्बा) ०^१ । ० नगर ०^१ । ० व्यक्ति (= पुट्गल) ०^१ । ० भिक्षुओं ! उस भिक्षुको जीवन भर उस व्यक्तिके साथ रहना चाहिये इतानेपर भी छोड़कर नहीं जाना चाहिये ।"

भगवान् ने यह कहा, समुत्त हो उन भिक्षुओंसे भगवान् के श्रापणका अभिनन्दन किया ।

^१ वनप्रस्थकी तरह यहाँ भी पाठ दुहराना चाहिये ।

१८—मधुपिंडक-सुत्तन्त (१।२।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् शाक्य (देश) में कपिलवस्तुके न्यग्रोधाराममें निहार करते थे । तब भगवान् पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्रचीवर ले कपिलवस्तुमें पिंडधारके लिये प्रविष्ट हुये । कपिल-वस्तुमें पिंडधार करके भोजनोपरान्त पिंडपातसे तिष्ठत्कर, जहाँ महावन था, वहाँ दिनके विहारके लिये गये । जाकर महावनमें प्रविष्ट हो वेलुव-लट्टिका (= बाँस) वृक्षके नीचे बैठे । दण्डपाणि श्राव्य भी टश्रुने (= जंघा विहार) के लिये, जहाँ महावन था वहाँ गया । जाकर, महावनमें प्रविष्ट हो, जहाँ वेलुव-लट्टिका (= वेणुपट्टिका) थी, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान् के साथ..... (यथायोग्य कुशल प्रश्न एव) उण्डेके सहारे एक ओर खड़ा होगया । एक ओर खड़े हो दण्डपाणि श्राव्यने भगवान् से यह कहा—

“अमण (आप) किस वादके माननेवाले, किस (सिद्धान्त) के बक्ता हैं ?”

“आहुस ! जिस वादका मानने वाला, देव-भार-ब्रह्मासहित सारे लोकमें अमण-ब्राह्मण-देव मानुष सारी प्रजायें, लोकमें किसीके साथ विग्रह न करके रहता है; जैसे कामोंसे रहित विहस्ते हुये उस अक्षयंकयी, तिष्ठ-कौटला (= संदेह-रहित), भव-अभयमें तृणारहित उस ब्राह्मणको संज्ञा (= सोच) नहीं पीछा करती; आहुस ! मैं ऐसे वाद-वाला ऐसे (सिद्धान्तका) बक्ता हूँ ।”

ऐसा कहनेपर दण्डपाणि श्राव्य गिरको हिला, जीम चला, ललाटपर तीन बलें चढ़ाकर, डंडा उठा चल दिया ।

तब भगवान् सायंकाल प्रतिसैल्यन (= एकान्तचिन्तन) से उठकर जहाँ न्यग्रोधाराम था वहाँ गये, जाकर बिछे आसनपर बैठे । बैठ कर भगवान् ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

“भिक्षुओ ! आज मैं पूर्वाह्न समय पहिन कर पात्रचीवर ले ०^१ डंडा उठा चल दिया ।”

ऐसा कहनेपर एक भिक्षुने भगवान् से यह कहा—“भन्ते ! क्या वादी हैं भगवान्, कि, देव-भार-ब्रह्मासहित सारे लोकमें ०^१ संज्ञा नहीं पीछा करती ?”

“भिक्षुओ ! जिसके कारण पुरुषको प्रपंच संज्ञाका ज्ञान (= संस्था) जाती है, जहाँ अभि-नन्दन योग्य नहीं, अभिवादन योग्य नहीं, गवेषण योग्य नहीं, वही है अन्त रामा-अनुशयो (= रामरूपी भर्त्ता) का; ० प्रतिघ (= प्रतिहिंसा)-अनुशयो का ०; ० दष्टि-अनुशयो ०; ० विचिकित्सा-अनुशयो ०; ० मान-अनुशयो ०; ० भयसाम-अनुशयो ०; ० अविद्या-अनुशयो ०; यही अन्त है इन्द्रग्रहण, राक्षसग्रहण, कलह, विग्रह, विवाद, ‘तू तू मैं मैं’, पिशुनता (= चुगली),

^१ ऊपर आपेकी पुनरावृत्ति ।

और सुषानाद (= अष्ट) का । वहाँ यह पापक=कुशल धर्म (= सुराहण) निःशेषतया गूढ़ हो जाते हैं ।”

भगवान् ने यह कहा, यह कहकर सुगत (= बुद्ध) आसनसे उठकर विहार (= कोठरी) में चले गये ।

तब, भगवान् के जानेके धोबी ही देर बाद उन भिक्षुओंको यह हुआ—“आवुसो ! भगवान्—‘भिक्षुओ ! जिसके कारण ० गूढ़ हो जाती है ।’ इसे संक्षेपसे गिनकर, विस्तारसे अर्थको बिना विमाजित किये ही आसनसे उठकर विहारमें चले गये । कौन है, जो इस संक्षेपसे कहे ‘विस्तार से न बिनाजित किये (उपदेश) का विस्तारसे अर्थ-विभाग करेगा ?’”

तब उन भिक्षुओंको हुआ—“यह आवुष्मान् महाकात्यायन शास्ता (= बुद्ध) द्वारा प्रशंसित, चित्र सम्राट् चारियोंद्वारा सम्मानित है । आवुष्मान् महाकात्यायन शास्ताद्वारा इस संक्षेपसे कहे ‘विस्तारसे न विमाजित किये (उपदेश) का विस्तारसे अर्थ-विभाग करनेमें समर्थ है । क्यों न हम आवुष्मान् महाकात्यायनसे इसके अर्थको पूछें ।”

तब वह भिक्षु जहाँ आ. महाकात्यायन थे, वहाँ गये । जाकर आ. महाकात्यायनके साथ—(यथायोग्य कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर—“बैठकर—आ. महाकात्यायनसे यह बोले—“आवुस कात्यायन ! भगवान्—‘भिक्षुओ ! जिस कारणसे ०’, जो यह संक्षेपसे कह विस्तारसे विमाजित किये बिना ही ० विहारमें चले गये । तब आवुस कात्यायन ! भगवान् के जानेके धोबी ही देर बाद ०’ । तब हमें हुआ—यह आवुष्मान् महाकात्यायन ०’ पूछें । आवुष्मान् कात्यायन (आप) इसका विभाजन करें ।”

“जैसे, आवुसो ! साराथी, सारगवेयी पुरुष सारको सोजते, सारवाले अपने मायुष्मके मूलको छोड़, स्कन्धको छोड़, शाखा-पत्रको छोड़, सार खोजना चाहे, ऐसे ही अब शास्ता (= बुद्ध) के सामने रहनेपर उन भगवान् को छोड़ आवुष्मानोंकी हम दोनों (जैसे) से पूछनेकी इच्छा है । आवुसो ! वह भगवान् जानकार हैं, देखनहार हैं । वह भगवान् चक्षुर्भूत (= अर्थ समझ), शान्भूत, धर्मभूत, अज्ञभूत (हैं) । तत्का प्रपन्ना (हैं) । अर्थके निर्णेतार, अमृतके दाता, धर्म-स्वामी, तथगत हैं । इसीका काल था, कि भगवान् को ही इसका अर्थ पूछते, जैसे भगवान् इसका व्याख्यान करते, वैसा धारण करते ।”

“ठीक आवुस कात्यायन !—‘भगवान् जाननहार हैं ०’ वैसा धारण करते । आवुष्मान् महाकात्यायन भी वो शास्ताद्वारा प्रशंसित ०’ विस्तारसे अर्थ विभाग करनेमें समर्थ हैं । आवुष्मान् कात्यायन (आप) इसे सरल करके विभाजन करें ।”

“तो आवुसो ! सुनो अच्छी तरह समझें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा आवुस !” (कह) उन भिक्षुओंने आवुष्मान् महाकात्यायनकी उत्तर दिया ।

आ. महाकात्यायनने यह कहा—“आवुसो ! हमारे भगवान्—‘भिक्षु ! जिस कारणसे ०’, जो यह संक्षेपसे कह, विस्तारसे विमाजित किये बिना ही ० विहारमें चले गये । आवुसो ! भगवान् के इस संक्षेपसे कहे विस्तारसे न विमाजित किये उपदेशका अर्थ मैं इस प्रकार जानता हूँ । आवुसो ! चक्षु करके, रूपमें चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता है । तीनों (= चक्षु-इन्द्रिय, रूप-विषय और

^१ देखो ऊपर ।

^२ देखो ऊपर ।

^३ देखो ऊपर ।

^४ पूर्व पैरा पैरा ।

^५ देखो ऊपर ।

विज्ञान) का समागम स्पर्श (कहा जाता है) । स्पर्श करके वेदना (होती है) । जिसे वेदन (= अनुभव) करता है, उसका संज्ञान (= समझना) करता है । जिसे संज्ञान करता है, उसके (धारमें) वितर्क करता है । जिसे वितर्कता है, उसे प्रपञ्चन करता है । इसके कारण पुरुषको भूत भविष्य-वर्तमान संबंधी चक्षु-श्रोत्र-विलेय रूपोंमें प्रपञ्च-संज्ञाका संस्मान आता है । बाबुसो ! श्रोत्र करके शब्दमें-श्रोत्र विज्ञान उत्पन्न होता है । तीनोंका समागम स्पर्श है ० । ० प्राण करके गंधमें ० । ० जिह्वा करके रसमें ० । ० काया करके स्प्रष्टव्यमें काय-विज्ञान उत्पन्न होता है । ० । ० मन करके धर्ममें ० मनो-विज्ञान ० ।

“बाबुसो ! यदि चक्षु, रूप और चक्षुर्विज्ञान हैं, तभी स्पर्शका प्रज्ञापन (= जानना) संभव है । स्पर्शकी प्रज्ञप्ति होनेपर वेदनाका प्रज्ञापन संभव है । ० संज्ञाका प्रज्ञापन संभव है । ० वितर्क प्रज्ञप्ति ० । वितर्क-प्रज्ञप्ति होनेपर प्रपञ्च-संज्ञा संख्या-समुदाचरण-प्रज्ञप्ति (= ज्ञानके उपचारका जानना) संभव है । बाबुसो ! श्रोत्र, शब्द, और श्रोत्रविज्ञानके होनेपर स्पर्शकी प्रज्ञप्ति है । ० प्राण, गंध और प्राण-विज्ञान ० । ० जिह्वा, रस, और जिह्वा-विज्ञान ० । ० काया, स्प्रष्टव्य, और काय-विज्ञान ० । ० मन, धर्म और मनोविज्ञानके होनेपर स्पर्शकी प्रज्ञप्ति संभव है । स्पर्शकी प्रज्ञप्ति होनेपर वेदनाका प्रज्ञापन संभव है । ०^१ संज्ञा ० । ० वितर्क ० । ० प्रपञ्च-संज्ञा-संख्या-समुदाचरण-प्रज्ञप्ति संभव है ।

“बाबुसो ! चक्षु, रूप और चक्षुर्विज्ञानके न होनेपर स्पर्शकी प्रज्ञप्ति संभव नहीं । स्पर्श-प्रज्ञप्तिके बिना वेदना-प्रज्ञप्ति संभव नहीं । ० संज्ञा-प्रज्ञप्ति संभव नहीं । ० वितर्क-प्रज्ञप्ति ० वितर्क-प्रज्ञप्तिके बिना प्रपञ्च-संज्ञा-संख्या-समुदाचरण-प्रज्ञप्ति संभव नहीं ।

“बाबुसो ! श्रोत्र, शब्द, और श्रोत्रविज्ञानके न होनेपर ०^२ । ० प्राण ०^३ । ० जिह्वा ०^४ । ० काय ०^५ । ० मन ०^६ । ० समुदाचरण-प्रज्ञप्ति संभव नहीं ।

“बाबुसो ! भगवान्—“भिष्णु ! जिस कारणसे ०^७; जो यह संक्षेपसे कह, विस्तारसे विभाजित किये बिना ही ० विहारमें चले गये । बाबुसो ! ०^८ उपदेशका अर्थ मैं इस प्रकार जानता हूँ । चाहें, तो आप बाबुष्मान् भगवान्के पास भी जाकर इस अर्थको पूछें; जैसा हमारे भगवान् व्याख्यान करें, वैसा धारण करें ।”

तब वह भिक्षु आ. महाकाल्यायनके भाषणका अभिनन्दन = अनुमोदन कर आत्मनसे उठ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर भगवान्को अभिवादन कर—“एक ओर बैठ—” वह बोले—

“मन्ते ! भगवान्—“भिष्णु जिस कारणसे ०^९ नष्ट हो जाती है, जो यह संक्षेपसे कह, विस्तारसे विभाजित किये बिना ही ० विहारमें चले गये । तब भगवान्के जानेके बोधी ही देर बाद ०^{१०} ०^{११} महाकाल्यायनसे (इस) अर्थको पूछें । तब हम मन्ते ! जहाँ आ. महाकाल्यायन थे, वहाँ गये ०^{१२} आ. महाकाल्यायनसे इस अर्थको पूछा । हमारे वैसा पूछने पर आ. महाकाल्यायनने इन आकारोंसे, इन पदोंसे, इन अक्षरोंसे अर्थ-विभाजित किया ।”

“भिष्णुओ ! पंडित है महाकाल्यायन, महाप्राज्ञ है ० । यदि भिक्षुओ ! तुमने सुने इस अर्थको पूछा होता, तो मैं भी वैसेही इसका व्याख्यान करता, जैसे कि महाकाल्यायनने इसका अर्थ व्याख्यान किया । यही इसका अर्थ है, ऐसे ही इसे धारण करो ।”

^१ देखो ऊपर । ^२ ऊपरके पैरा पैरा । ^३ पूर्वके पैरा पैरा । ^४ देखो पृष्ठ ७१ ।

^५ देखो ऊपर । ^६ देखो पृष्ठ ७१ । ^७ देखो पृष्ठ ७१ ।

ऐसा कहने पर आमुष्मान् आनन्दने भगवान्से यह कहा—

“जैसे मन्ते ! मूखकी दुर्बलतासे पीडित पुरुष मधु-पिंड (= छद्म) पा जाये; यह जहाँ जहाँसे जाये (वहाँ वहाँसे उसमें) स्वादु, रुचि-कर रसको पाये, ऐसेही मन्ते ! चेतक (= होशियार) दर्मजातिक (= कुशाग्र-बुद्धि) मिथु इस धर्मपर्याय (= धर्मोपदेश) के अर्थको जितर जितरसे प्रज्ञासे परखे; ऊपर उपरसे ही सन्तोषको पावेगा, चित्तकी प्रसन्नताको ही पावेगा । मन्ते ! क्या नाम है, इस धर्मपर्यायका ?”

“तो आनन्द ! तू इस धर्मपर्यायको मधु-पिंड-धर्मपर्यायहीके नामसे धारण कर ।”

“भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आमुष्मान् आनन्दने भगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१६-द्वेषा-वितर्क-सुत्तन्त (१।२।६)

ऐसा मैं सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे । वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको सम्बोधित किया—भिक्षुओ !”

“भदन्त !” (कइ) उन भिक्षुजोंने भगवान्को उत्तर दिया !

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! संबोध (= बुद्धत्व-प्राप्ति)से पूर्वमी, धोचि-सत्त्व होते वक्त मेरे (मनमें) ऐसा होता था—‘क्यों न दो दूक (= द्वेष) वितर्क करते करते मैं विहर्कूँ ।’ सो भिक्षुओ ! जो काम-वितर्क, व्यापाद-वितर्क, विहिंसा-वितर्क (= हिंसाके विषयमें मनमें तर्क वितर्क) इन (तीनों)को मैंने एक भागमें किया; और जो नैष्काम्य (= फलकी इच्छासे रहित कर्म करना)-वितर्क, अव्यापाद-वितर्क, अवि-हिंसा वितर्क इन (तीनों)को एक भागमें किया ।

“भिक्षुओ ! सो इस प्रकार प्रमाद-रहित, आतापी (= उद्योगी), प्रहितत्ता (= आत्म संयमी) हो विहरते (भी) मुझे काम-वितर्क उत्पन्न होता था । सो मैं इस प्रकार जानता था—उत्पन्न हुआ यह मुझे काम-वितर्क, और यह आत्म-व्याधाधा (= अपनेको पीड़ित करने)के लिये है, पर-व्याधाधाके लिये है, उन्मय (= आत्म-पर-) व्याधाधाके लिये है । (यह) प्रज्ञा-निरोधक (= ज्ञानका नाशक), विघात-पक्षिक (= हानिके पक्षिका), निषाणको नहीं ले जानेवाला है । आत्म-व्याधाधाके लिये है—यह सोचते भिक्षुओ ! (यह) अन्न हो जाता था । पर-व्याधाधाके लिये है ० । उन्मय-व्याधाधाके लिये है ० । प्रज्ञा-निरोधक, विघात-पक्षिक, न-निषाण-संवर्तनिक—यह सोचते भिक्षुओ ! (यह) अन्न हो जाता था । सो मैं भिक्षुओ ! बार बार उत्पन्न होनेवाले काम-वितर्कोंको छोड़ता ही था, हटाता ही था, अलग करता ही था ।

“भिक्षुओ ! सो इस प्रकार ०^१ व्यापाद-वितर्क उत्पन्न होता था ० ।”

“भिक्षुओ ! सो इस प्रकार ०^१ विहिंसा-वितर्क ०^१ ।

“भिक्षुओ ! भिक्षु जैसे जैसे ही अधिकतर अनुवितर्क (= वितर्क) करता है, अनुविचार (= विचार) करता है, वैसे ही वैसे चित्तको झुकना होता है । यदि भिक्षुओ ! भिक्षु काम-वितर्कको अधिकतर अनुवितर्क करता है, अनुविचार करता है; तो वह निष्काम (= कामना-रहित वितर्क)को छोड़ता है, और काम-वितर्कको बढ़ाता है; (और) उसका चित्त काम-वितर्कको ओर झुकता है । यदि भिक्षुओ ! भिक्षु व्यापाद-वितर्क ०; तो वह अव्यापाद वितर्कको छोड़ता है; ० । यदि भिक्षुओ ! भिक्षु विहिंसा (= हिंसा)-वितर्कको ०, तो वह अविहिंसा (= अहिंसा)-वितर्कको छोड़ता है; ० । जैसे भिक्षुओ ! वर्षोंके जन्तितम मासमें शरद्-कालमें (जब चारों ओर)

^१ ऊपरके पैरा जैसा पाठ ।

फलत भरी रहती है (इस समय) म्वाला (अपनी) गायोंकी रखवाली करता है, वह उन गायोंको वहाँ वहाँसे ढंसे डौकता है, मारता है, रोकता है, निवारता है । सो किस हेतु ?—मिथुओ ! वह म्वाला उस (जेतोंमें चरने) के कारण भय, घन्घन, हानि या मित्दा (होने)को देखता है, ऐसे ही मिथुओ ! मैंने अकुशल-धर्मों (= बुराइयों) के दुष्परिणाम, अपकार, संस्लेश (= मँल) को; (और) कुशल-धर्मों (= अच्छे कामों) की निष्कामतामें सुपरिणाम (= आनन्दस्य) और परिशुद्धताका संरक्षण देखता था ।

“मिथुओ ! सो इस प्रकार प्रमाद-रहित ०^१ विहस्ते निष्कामता-वितर्क उत्पन्न होता था । सो मैं इस प्रकार जानता था—‘उत्पन्न हुआ वह मुझे निष्कामता-वितर्क; और वह न आत्म-व्यापादा (= आत्म-पीडा) के लिये है, न पर-व्यापादा के लिये है, न उन्मत्त (= आत्म-पर) व्यापादा के लिये है । यह प्रज्ञा-पर्यंक है, अ-विघात (= अ-हानि)-पक्षिक, और निर्वाणको और ले जानेवाला है । रातको भी मिथुओ ! यदि मैं उसे अनुवितर्क करता, अनुविचार करता, (तो भी) उसके कारण भय नहीं देखता । दिनको भी ० । रात-दिनको भी ० । किन्तु, बहुत देर तक अनुवितर्क, अनुविचार करते मेरी काया क्लान्त (= थकी) हो जाती; कायाके क्लान्त होने पर चित्त अपहृत (= दिव्यिध) हो जाता; चित्तके अपहृत होने पर चित्त समाधिसे दूर (हट) जाता था । सो मैं मिथुओ ! अपने भीतर (= अध्यात्म) ही चित्तको स्थापित करता था, बैठाता था, एकाग्र करता था, समाहित करता था । सो किस हेतु ?—मेरा चित्त (कहीं) अपहृत न हो जाये ।

“सो इस प्रकार प्रमाद-रहित ०^१ विहस्ते अ-व्यापाद-वितर्क उत्पन्न होता था ०^२ । ०^३ अ-विहिंसा-वितर्क उत्पन्न होता था ०^४ ।

“मिथुओ ! मिथु जैसे-जैसे ही अधिकतर अनुवितर्क करता है ०^५, तो वह कामवितर्कको छोड़ता है, और निष्कामता-वितर्कको पक़ाता है; (और) उसका चित्त निष्कामता-वितर्कको ओर झुकता है । यदि मिथुओ ! मिथु अ-व्यापाद-वितर्क ०, तो वह व्यापाद-वितर्कको छोड़ता है, और अ-व्यापाद-वितर्क को पक़ाता है; और उसका चित्त अ-व्यापाद-वितर्ककी ओर झुकता है । यदि मिथुओ ! मिथु अ-विहिंसा-वितर्क ०, तो वह विहिंसा-वितर्कको छोड़ता है, और अ-विहिंसा-वितर्कको पक़ाता है; और उसका चित्त अ-विहिंसा-वितर्ककी ओर झुकता है । जैसे मिथुओ ! घोषके अन्तिम मासमें, जब सभी फल (= सस्य) जमाकर गाँवमें खली जाती है, म्वाला गायोंको रखता है, वृक्षके नीचे या चौबेंमें रह कर उन्हें केवल घाद रखता होता है—‘यह गाये हैं’; ऐसे ही मिथुओ ! घाद रखना (मात्र) होता था—‘यह धर्म है’ । मिथुओ ! मैंने न दूषनेवाला वीर्य (= उद्योग) आरम्भ कर रखा था, न भूलनेवाली स्मृति (मेरे) सम्मुख थी, शरीर (मेरा) अर्धचल, शान्त था, चित्त समाहित = एकाग्र था ।

“सो मैं मिथुओ ! कामोंमें विहरित ०^६ प्रथम-ध्यानको प्राप्तको विहरने लगा । ०^७ द्वितीय ध्यानको ०^८ । तृतीय-ध्यानको । ०^९ ०^{१०} चतुर्थ-ध्यानको ०^{११} । ०^{१२} (= पूर्व-निवासाऽनु-स्मृति) ०^{१३} । ०^{१४} प्राणिपोंके ध्युति-उत्पादके ज्ञानके लिये ०^{१५} । ०^{१६} आश्रवोंके क्षयके ज्ञानके लिये ०^{१७} ।

^१ देखो पृष्ठ ७४ । ^२ ऊपरके पैरा जैसा । ^३ ऊपरके पैरा जैसा । ^४ देखो पृष्ठ ७४ ।

^५ देखो पृष्ठ ८५ ।

“जैसे भिक्षुओ ! (किली) महावनमें गहरा महान् जलाशय (= पल्लव) हो, (और) उसका आश्रय ले महान् मृगोंका समूह विहार करता हो । कोई पुरुष उस (मृग-समूह)का अनर्य-आकांक्षी अ-हित-आकांक्षी = अन्योन-क्षेम-आकांक्षी उत्पन्न होवे । वह उस (मृगसमूह)के क्षेत्र (= सुरक्षित), कल्याणकारक, प्रीतिपूर्वक गन्तव्य मार्गको बन्द कर दे, और अकेले चलने लायक (= एक-चर) कुमारको छोड़ दे, और एक-चारिका (= जाल) रख दे । इस प्रकार वह महान् मृगसमूह दूसरे समयमें विपत्तिमें तथा क्षीयताको प्राप्त होवे । और भिक्षुओ ! उस महान् मृगसमूहका कोई पुष्ट हिताकांक्षी = योग-क्षेमकांक्षी उत्पन्न होवे । वह उस (मृग-समूह)के क्षेत्र ० मार्गको छोड़ दे, एक-चर कुमारको बन्द कर दे और एक चारिका (= जाल)का नाश कर दे । इस प्रकार वह महान् मृगसमूह दूसरे समय बुद्धि = विरुद्धि (और) विप्लवताको प्राप्त होवे ।

“भिक्षुओ ! अर्थके समझाने (= विज्ञापन)के लिये मैंने उपमा (= दृष्टान्त) कही । यहाँ यह अर्थ है । भिक्षुओ ! ‘गहरा महान् जलाशय’ यह कामों (= कामलाभों, भोगों)का नाम है । ‘महान् मृगसमूह’ यह प्राणिजोंका नाम है । अनर्थाकांक्षी अहिताकांक्षी अन्योन-क्षेमकांक्षी पुरुष यह मार = बुराईयाँ (= पाप्मा)का नाम है । कुमार यह आठ प्रकारके मिथ्या मार्ग है; जैसे—(१) मिथ्या दृष्टि (= झूठी धारणा), (२) मिथ्या-संकल्प, (३) मिथ्या-वचन, (४) मिथ्या कर्मान्त (= ० कायिककर्म), (५) मिथ्या-आजीव (= ० जीविका), (६) मिथ्या व्यायाम (= ० कोशिश), (७) मिथ्या स्मृति, (८) मिथ्या समाधि । ‘एक-चर’, भिक्षुओ ! यह नन्दी = रागका नाम है । ‘एक-चारिका’ भिक्षुओ ! यह अविद्याका नाम है । भिक्षुओ ! अर्थाकांक्षी, हिताकांक्षी, योग-क्षेमकांक्षी पुरुष—वह तथागत अर्हत् सम्यक् संतुष्टका नाम है । क्षेत्र = स्वस्तिक ०, प्रीति-गमनोप मार्ग, यह आर्य-अष्टांगिक-मार्गका नाम है, जैसे कि—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक्-संकल्प, (३) सम्यग् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यगाजीव, (६) सम्यग् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति, (८) सम्यक् समाधि । इस प्रकार भिक्षुओ ! मैंने क्षेत्र = स्वस्तिक, प्रीति-गमनोप मार्गको छोड़ दिया; दोनों ओरसे एक-चर कुमारको बन्द कर दिया, एक-चारिका (= अविद्या)को नाश कर दिया । भिक्षुओ ! आवकोंके हितैषी, अनुकम्पक, शास्ताओं अनुकम्पा करके जो करना था, वह तुम्हारे लिये मैंने कर दिया । भिक्षुओ ! वह वृक्ष-मूल हैं, यह सुने घर हैं, प्यानरत होओ । भिक्षुओ मत प्रमाद करो, मत पीछे अफसोस करनेवाले बनना—यह तुम्हारे लिये हमारा अनुशासन है ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणका अनुमोदन किया ।

२०—वितर्क-सण्ठान-मुत्तन्त (१।२।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् ध्यावन्तीमें, अनाथपिटृहिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित (= आमंत्रित) किया—“भिक्षुओ !”

“मदन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया !

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! चित्त (के अनुशीलन) में लगे भिक्षुको पाँच निमित्तों (= आकारों)का समय-समय पर मनमें (चिन्तन) करना चाहिये । कौनसे पाँच ?—यहाँ भिक्षुओ ! भिक्षुको जिस निमित्तको लेकर, निमित्तको मनमें करके राग-द्वेष-मोह वाले पापक-अकुशल (= बुरे) वितर्क (= खयाल) उत्पन्न होते हैं, भिक्षु……उस निमित्तको (छोड़) दूसरे कुशल-सम्बन्धी निमित्तको मनमें करे । उसके उस निमित्तको (छोड़) दूसरे कुशल-सम्बन्धी निमित्तको मनमें करके छन्द-सम्बन्धी • अकुशल वितर्क भट्ट होते हैं, भल होते हैं, उनके नाशसे अपने भीतर ही चित्त ठहरता है, स्थिर होता है, एकाम होता है, समाहित होता है । जैसे भिक्षुओ ! चतुर पल्लवण्ड (= राज) या पल्लवण्डका अन्तेवासी (= दागिर्द) सूक्ष्म भाषी (= पूर ?) से छोटी भाषाको निकाल ले (= अभिवीहरण करे) = अभिनिवर्जन करे, ऐसे ही भिक्षुओ ! भिक्षु जिस निमित्तको लेकर • समाहित होता है ।

“भिक्षुओ ! उस भिक्षुको उस निमित्तको (छोड़) दूसरे कुशल-सम्बन्धी निमित्तको मन में करने पर भी यदि छन्द-सम्बन्धी • अकुशल वितर्क उत्पन्न होते ही हैं, तो भिक्षुओ ! उस भिक्षुको उन वितर्कोंके आदिनव (= कारण, दुष्परिणाम)को जाँच करनी चाहिये—यह मेरे वितर्क अकुशल हैं, यह मेरे वितर्क सायस (= दोष-मुक्त) हैं, यह मेरे वितर्क दुःख-विपाक (= दुःखद) हैं । उन वितर्कोंके आदिनवकी परीक्षा करनेपर उसके राग • बुरे खयाल नष्ट होते हैं, भल होते हैं, उनके नाशसे चित्त अपने ही भीतर ठहरता है •^१ । जैसे, कि भिक्षुओ ! मंछव (= विमूषण) पसन्द करनेवाला अल्पवयस्क तरुण पुरुष या स्त्री मरे साँप, या मरे कुत्ता, या आदमीके मुँदके कंठमें लग जानेसे घृणा = लुगुप्सा करे, ऐसे ही भिक्षुओ ! यदि उस भिक्षुको उस निमित्तको छोड़ • ।

“भिक्षुओ ! यदि उस भिक्षुको उन वितर्कोंके आदिनवकी जाँचते हुये भी छन्द-सम्बन्धी • अकुशल वितर्क उत्पन्न होते ही हैं; तो भिक्षुओ ! उस भिक्षुको उन वितर्कोंको यादमें लाना नहीं चाहिये, मनमें न करना चाहिये । उन वितर्कोंको यादमें न लानेसे मनमें न करनेसे, उसके रागवाले •^२ बुरे वितर्क (= खयाल) नाश होते हैं, उनके नाशसे चित्त अपने ही भीतर ठहरता है •^३ । जैसे

^१ देखो पिच्छा पैरा ।

^२ देखो पूर्व पैरा ।

कि मिथुओ ! नगरके सामने आने वाले रूपोंके देखनेका अनिच्छुक जाँच-पाला आदमी (जाँचोंको) सूँढ़ ले, या दूसरी ओर देखने लगे; ऐसे ही मिथुओ ! यदि उस मिथुको उन वितकोंको जाँचते हुये भी ० ।

“मिथुओ ! यदि उस मिथुको उन वितकों (= क्यालों)के मनमें न जाने, मनमें न करनेसे भी रागवाले ० बुरे क्याल (= वितर्क) उत्पन्न होते ही हैं; तो मिथुओ ! उस मिथुको उन वितकों (= क्यालों)के संस्कारका संस्थान (= साकार) मनमें करना चाहिये । उन वितकोंके वितर्क-संस्कार-संस्थान (मात्र)को मनमें लानेसे उसके रागवाले ०^१ बुरे क्याल नाश होते हैं ०^२ । जैसे कि मिथुओ ! पुरुष मोड़ जाता हो, उसको ऐसा हो—कहाँ मैं झोझ जाता हूँ, क्यों न धीरे से कूट, फिर वह धीरे-धीरे जाये । उसको ऐसा हो—क्यों मैं धीरे धीरे चलता हूँ, क्यों न मैं बैठ जाऊँ, फिर वह बैठ जाये । उसको ऐसा हो—क्यों मैं बैठा हूँ, क्यों न मैं छेद जाऊँ, फिर वह छेद जाये । ऐसे ही मिथुओ ! वह पुरुष मोटे ईर्ष्यापथ (= शारीरिक गति)से हटकर सूक्ष्म ईर्ष्यापथको स्वीकार करे; ऐसे ही मिथुओ ! यदि उस मिथुको उन वितकोंके मनमें न लाने ०^३ ।

“मिथुओ ! यदि उस मिथुको उन वितकोंके वितर्क-संस्कार-संस्थानको मनमें करनेसे भी ०^४; तो मिथुओ ! उस मिथुको दाँतोंको दाँतों पर रख कर, जिह्वाको तालसे चिपटा कर, चित्तसे चित्तका निग्रह करना चाहिये, सन्तापन करना, निष्पीडन करना चाहिये, उसके ० निष्पीडन करनेसे, उसके रागवाले ०^५ बुरे क्याल नाश होते हैं ०^६ । जैसे मिथुओ ! घलवान् पुरुष दुर्बल पुरुषको शिरसे, या कन्धसे, पकड़ कर, निग्रहीत करे, निष्पीडित करे, सन्तापित करे; ऐसे ही मिथुओ ! वह मिथु उन वितकोंके वितर्क-संस्कार-संस्थानके मनमें करनेसे भी ०^७ ।

“चुंकि मिथुओ ! मिथुको जिस निमित्तको लेकर, जिस निमित्तको मनमें करके, राग-द्वेष-मोह वाले बुरे क्याल पैदा होते हैं; उस निमित्तको छोड़ ०^८ दूसरे ० निमित्तको मनमें करनेसे ० चित्त ० समाहित होता है । उन वितकोंके आदितव (= दुष्परिणाम)की जाँच करनेसे राग ० वाले बुरे क्याल नष्ट होते हैं ०^९ चित्त ० समाहित होता है । उन वितकोंके पादमें न लानेसे मनमें न करनेसे ०^{१०} चित्त समाहित होता है, उन वितकोंके वितर्क-संस्कार-संस्थानको मनमें करने-से ०^{११} चित्त समाहित होता है । दाँतोंको दाँतों पर रख कर ०^{१२} निष्पीडन करनेसे ०^{१३} चित्त समाहित होता है । मिथुओ ! ऐसा मिथु वितर्क (= क्याल)के नाना माँगोंको वशमें करनेवाला कहा जाता है । वह जिस वितर्कको चाहेगा, उसका वितर्क करेगा, जिस...को नहीं चाहेगा... नहीं वितर्क करेगा । (उसने) वृष्णा (रूपी) बंधनको हटा दिया; अच्छी प्रकार जान कर साक्षात् कर, दुःख का अन्त कर दिया ।”

भगवान् ने यह कहा, समुद्र हो उन मिथुओंके भगवान् के मापणका अभिनन्दन किया ।

(२-इति सीहनाद वण ११२) ।

^१ देखो पूर्व पैरा ।

^२ देखो पृष्ठ ७७ ।

^३ देखो पिछला पैरा ।

^४ देखो पृष्ठ ७७ ।

२१—ककचूपम-सुत्तन्त (१।२।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनार्थपिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् मोलिय फग्गुण भिक्षुणियोंके साथ अत्यधिक संसर्ग रखते थे। इतना संसर्ग रखते थे, कि यदि (उनके) सामने कोई भिक्षुणियोंकी शिकायत करता, तो उससे आयुष्मान् मोलिय फग्गुण कुपित = असन्तुष्ट हो अधिकरण (= संघके सामने अभियोग) भी करते। यदि कोई उन भिक्षुणियोंके सामने आयुष्मान् मोलिय फग्गुणकी शिकायत करता, तो वह (भी) कुपित असन्तुष्ट हो अधिकरण करती। ...।

तब कोई भिक्षु वहाँ भगवान् थे, वहाँ जाकर, भगवान्को अभिवादन कर, एक ओर बैठ भगवान्से बोला—

“भन्ते ! आयुष्मान् मोलिय फग्गुण भिक्षुणियोंके साथ अत्यन्त संसर्ग रखते हैं ।”

तब भगवान्ने एक भिक्षुको संबोधित किया—

“आओ भिक्षु ! तुम मेरे वचनसे मोलिय फग्गुण भिक्षुको कहो—‘आयुस फग्गुण ! (= फग्गुण) ! शास्ता तुम्हें बुला रहे हैं’ ।”

“अच्छा, भन्ते !” (कह) भगवान्को उत्तर दे, वह भिक्षु आयुष्मान् मोलिय फग्गुणके पास जाकर यह बोला—

“आयुस फग्गुण ! तुम्हें शास्ता बुला रहे हैं ।”

“अच्छा आयुस !” कह आयुष्मान् मोलिय फग्गुण भगवान्के पास जाकर, एक ओर बैठ गये ।

एक ओर बैठे आयुष्मान् ० फग्गुणको भगवान्ने यह कहा—“फग्गुण ! सचमुच ही तू भिक्षुणियोंके साथ अत्यन्त संसर्ग रखता है, ० कुपित असन्तुष्ट हो अधिकरण करती है !”

“हाँ, भन्ते !”

“क्यों फग्गुण ! तू कुलपुत्र (हो) अर्द्धपूर्वक घरसे बेघर बन प्रव्रजित हुआ है ?”

“हाँ, भन्ते !”

“फग्गुण ! यह तेरे समान अर्द्धपूर्वक घरसे बेघर हो प्रव्रजित कुलपुत्रके लिए योग्य नहीं, कि तू भिक्षुणियोंके साथ अत्यन्त संसर्ग रखे। इसलिए फग्गुण ! चाहे तेरे सामने भी कोई भिक्षुणियोंकी शिकायत करे, तो फग्गुण ! जो तेरे भीतर घर किये राम हैं, जो घर किये बितर्क (= झगडा) हैं, उनको डोक देना। वहाँ फग्गुण ! तुझे इस प्रकार सीखना चाहिये—‘मेरे चित्तमें विकार नहीं आने पायेगा, दुर्बचन मैं मुँहसे नहीं निकालूँगा, द्वेषरहित हो मैत्रीभावसे हित और अनुकम्पक हो विहरूँगा’। इस प्रकार फग्गुण ! तुझे सीखना चाहिये। इसलिये फग्गुण ! चाहे तेरे

सामने कोई उन भिक्षुजियोंको हाथसे पीटे भी, डेलेसे... दण्डसे... शस्त्रसे प्रहार भी करे, तो भी फगुण ! जो तेरे भीतर घर किये राग हैं ० अनुकम्पक हो विहसूँगा । इस प्रकार फगुण ! ० । इसलिये फगुण ! चाहे तेरे सामने ० शिकायत करें; ० । चाहे तेरे सामने ० प्रहार भी करें ० । ० सीखना चाहिये ।"

तब भगवानने उन भिक्षुओंको संबोधित किया—

"भिक्षुओ ! एक बार भिक्षुओंमें मेरे चित्तको प्रसन्न (= आराधित) किया था । एक बार भिक्षुओ ! मैंने भिक्षुओंको संबोधित किया... 'भिक्षुओ ! मैं एकासन (एक-) भोजन सेवन करता हूँ ।'... एकासन-भोजनका सेवन करते मैं स्वास्थ्य, शिरोर, स्फूर्ति, वज्र और प्राणुविहार (= सुखपूर्वक रहना) (अपनेमें) पाता हूँ । जाओ । भिक्षुओ ! तुम भी एकासन भोजन-सेवन... 'कर स्वास्थ्य ० को प्राप्त करो' । भिक्षुओ ! उन भिक्षुओंको मुझे अनुशासन (= उपदेश) करनेकी आवश्यकता नहीं थी ।... उन भिक्षुओंको पाद दिला देना भर ही मेरा काम था । जैसे भिक्षुओ ! उद्यान (= सुभूमि) में चौरस्तेपर कोषा सहित, घोड़े जुता आज्ञानेय (= उषम घोषों) का रथ सजा हो, उसे एक घनुर रथाचार्य, अश्वको दमन करनेवाला सारथी चढ़कर, जायें हाथ से जोत (= रस्म) को पकड़ कर, दाहिने हाथमें कोरेको ले, जैसे चाहे, जिनपर चाहे खेजावे लौटावे; ऐसे ही भिक्षुओ ! उन भिक्षुओंको मुझे अनुशासन करनेकी आवश्यकता न थी ० मेरा काम था ।

"इसलिये भिक्षुओ ! तुम भी अनुशाल (= पुराई) को छोड़ो । कुशल घर्मा (= नेकियों) में लगे । इस प्रकार तुम भी इस घर्मा... में बुद्धि = विरुद्धि, विपुलताको प्राप्त होगे । जैसे भिक्षुओ ! गाँव या निगम (= कस्बे) के पाल (= भ-विद्व) कलंगी (= सधनता) से आच्छादित महान् शाल (= खाव्)-वन हो, उसका कोई अर्थकारी = हितकारी = योगक्षेमकारी पुरुष उत्पन्न हो; वह उस शालके रस (= ओज) की अपहरण करनेवाली ठेकी पक्षियोंको काटकर बाहर ले जाये, वनके भीतरों भागको अच्छी तरह साफ करदे; और जो शाल-पक्षियाँ लोधी सुन्दर तीरसे निकली हैं, उन्हें अच्छी तरह रखते । इस प्रकार भिक्षुओ ! वह शाल वन दूसरे समय पीछेबुद्धि = विरुद्धि = विपुल-ताको प्राप्त होते । ऐसे ही भिक्षुओ ! तुमभी पुराईको छोड़ो ० विपुलताको प्राप्त होगे ।

"भिक्षुओ ! भूतकालमें इसी श्रावस्तोमें वैदेहिका नामक गृह-पत्नी (= गृहस्थ स्त्री, वैश्य स्त्री) थी । वैदेहिका गृहपत्नीकी ऐसी मंगल कीर्ति फैली हुई थी—वैदेहिका गृहपत्नी सौस्ता (= सुरत) है; निचाता (= निष्कलह) है, उपसान्त है । वैदेहिका गृहपत्नीके पास काली नामक पक्ष, जालस्वरहित, अच्छे प्रकार काम करनेवाली दासी थी । तब भिक्षुओ ! काली दासीके (मनमें) यह हुआ—'मेरी आर्या (= अय्या = स्वामिनी) को ऐसी मंगलकीर्ति फैली हुई है— ० । क्या मेरी आर्या भीतरमें कोचके विषमान रहते उसे प्रकट नहीं करती, या अविषमान रहते ? चूँकि मेरे काम अच्छी तरह किये होते हैं, इसलिये मेरी अय्या भीतरमें कोच होते हुये भी प्रकट नहीं करती, नहीं है (यह बात) नहीं । क्यों न मैं अय्याको परीक्षा करूँ ।' तब भिक्षुओ ! काली दासी दिन (चढ़ने पर) उठी । तब भिक्षुओ ! वैदेहिका गृहपत्नीने काली दासीसे यह कहा— 'अरे हे काली !'

'क्या है अय्या !'

'क्यों रे दिन चढ़ने पर उठी है ?'

'कुछ नहीं अय्या !'

'कुछ नहीं रे ! (यह) हमारी दुष्टा दासी दिन (चढ़ने पर) उठती है'—(कह) कुपित,

असन्नुष्ट हो भीवें देड़ी करली ।

“तब भिक्षुओ ! काली दासीको यह हुआ—मेरी अग्या भीतरमें जोषके विद्यमान रहते उसे प्रकट नहीं करती, अविद्यमान रहते नहीं, ० नहीं है (यह बात) नहीं । क्यों न मैं फिर अग्या को अच्छी तरह परखूँ ।’ तब भिक्षुओ ! काली दासी और दिन (चढ़ाकर) उठी । तब वैदेहिका गृहपत्नीने काली दासीसे यह कहा—

‘अरे हे काली !’

‘क्या है अग्या !’

‘क्यों रे ! और दिन (चढ़ाकर) उठी है ?’

‘कुछ नहीं अग्या !’

‘कुछ नहीं रे ! (यह) हमारी दुष्टा दासी और दिन (चढ़ाकर) उठती है’—(कह) कुपित असन्नुष्ट हो भीवें देड़ी कर कटुवचन कहा । तब भिक्षुओ ! काली दासीको यह हुआ—मेरी अग्या भीतरमें जोषके विद्यमान रहते ० नहीं है (यह बात) नहीं । क्यों न मैं फिर अग्याको अच्छी तरह परखूँ ।’ तब भिक्षुओ ! काली दासी और दिन (चढ़ाकर) उठी । फिर भिक्षुओ ! वैदेहिका गृहपत्नीने काली दासीसे यह कहा—

‘अरे हे काली !’

‘क्या है अग्या !’

‘क्यों रे ! और भी दिन चढ़ाकर उठी है ?’

‘कुछ नहीं अग्या !’

‘कुछ नहीं रे ! (यह) हमारी दुष्टा दासी और भी दिन चढ़ाकर उठती है ।’—(कह) कुपित असन्नुष्ट हो, किताबकी बिलाई (= सूची) उठाकर उसे भारा । शिर फूट गया । तब भिक्षुओ ! काली दासीने फूटे शिरसे लोहू बहाते पद्मसियोंको चिह्ना कर कहा—‘देखो अग्या ! सौरताके कामको ! देखो अग्या ! निवाताके कामको !! देखो अग्या ! उपशान्ताके कामको !!! कैसे (कोई) अकेली दासीको ‘तु दिन (चढ़े) उठी’—(कह) कुपित असन्नुष्ट हो किताबकी बिलाई (= सूची) उठाकर मारेंगी, और शिरको फोड़ डालेंगी !!!’ तब भिक्षुओ ! वैदेहिका गृहपत्नीके इस प्रकारके अपकीर्तिके शब्द कैके—‘विचार है, वैदेहिका गृहपत्नीको ! अनौरता है वैदेहिका गृहपत्नी, अनिवाता है ०, अनुपशान्ता है वैदेहिका गृहपत्नी ।’

“इसी प्रकार भिक्षुओ ! यहाँ एक भिक्षु तभीतक सोपत रहता है, निवात (= निष्कलह) उपशान्त, होता है, जब तक अग्रिय शब्द-पथमें वह नहीं पड़ता, जब (उस) भिक्षुपर अ-ग्रिय शब्द-पथ पड़ता है, तबमी (खे) तो (उसे) सोपत जानना चाहिये, निवात ०, उपशान्त जानना चाहिये । भिक्षुओ ! मैं उस भिक्षुको सुवच नहीं कहता, जो कि चीवर, निवात, शयन-आसन, रोगीके पथ्य-औषध सामग्रीके कारण सुवच होता है, सृष्टुभाषिताको प्राप्त होता है । सो किस हेतु ?—भिक्षुओ ! (वह) भिक्षु, चीवर, पिच्छपात (= मिश्राण) शयन-आसन, रोगीके पथ्य-औषध सामग्रीके न मिलनेपर सुवच नहीं होता है, न सृष्टुभाषिताको प्राप्त होता है । सो किस हेतु ?—भिक्षुओ ! (वह) भिक्षु, चीवर, पिच्छपात (= मिश्राण), शयन-आसन, रोगीके पथ्य-औषध-सामग्रीके न मिलने पर सुवच नहीं रहेगा, न सृष्टुभाषिताको रखेगा । भिक्षुओ ! जो भिक्षु केवल धर्मका सत्कार करते, ० गुरुकार करते, ० पूजा करते, सुवच होता है, सृष्टुभाषिताको प्राप्त होता है, उसे मैं सुवच कहता हूँ । इसलिये भिक्षुओ ! तुम्हें इस प्रकार सोखना चाहिये—

‘केवल धर्मका सत्कार करते • पूजा करते सुवच होईगा, सुदुभाषिता (सौवचस्पता) को प्राप्त होईगा । भिक्षुओं ! तुम्हें इस प्रकार सीखना चाहिये ।

“भिक्षुओं ! यह पाँच वचन-पथ (= वात कहनेके भाग) हैं, जिनसे कि दूसरे तुममें वात करते बोलते हैं—(१) कालसे वा अकालसे; (२) भूत (= यथार्थ) से वा अ-भूतसे; (३) स्नेहसे वा परुषता (कटुता) से; (४) सार्थकतासे वा निरर्थकतासे; (५) मैत्रीपूर्ण चित्तसे वा द्वेषपूर्ण चित्तसे । भिक्षुओं ! चाहे दूसरे कालसे वात करें, वा अकालसे; • भूतसे •; • स्नेहसे •; सार्थकतासे •; • मैत्रीपूर्णचित्तसे वात करें, वा द्वेषपूर्णचित्तसे; वहाँ भिक्षुओं ! तुम्हें इस प्रकार सीखना चाहिये—मैं अपने चित्तको विकार-युक्त न होने दूँगा, और न दुर्वचन (झूठसे) निकालूँगा, मैत्री भावसे हितानुकम्पी होकर विदहूँगा, न कि द्वेषपूर्ण चित्तसे । उस (विरोधी) व्यक्तिको भी मैत्री-पूर्ण चित्तसे जागृत कर विदहूँगा । उसको लक्ष्य (= आरम्भण) करके सारे लोकको विपुल, विमाल, = अप्रमाण मैत्रीपूर्ण चित्तसे जागृतकर, अ-वैरता = अ-व्यापादितता (= द्वेष-नहितता) से परिग्राहित कर विदहूँगा ।—इस प्रकार भिक्षुओं ! तुम्हें सीखना चाहिये ।

“जैसे भिक्षुओं ! (कोई) पुरुष (हाथमें) कुदाल लेकर आये, और वह ऐसा कहा—
‘मैं इस महा-पृथिवीको अ-पृथिवी कहूँगा । वह वहाँ वहाँ छोड़े, वहाँ वहाँ (मिटिको) फेंके, वहाँ वहाँ रखे, वहाँ वहाँ छोड़े—’ (अथ) ए अ-पृथिवी हुई, (अथ) ए अ-पृथिवी हुई । तो क्या मानते हो भिक्षुओं ! क्या वह पुरुष इस महापृथिवीको अ-पृथिवी कर सकेगा ?”

“नहीं मन्ते !”

“सो किस हेतु ?”

“मन्ते ! यह महापृथिवी गर्भोर है, अ-प्रमेय है, यह अ-पृथिवी (= पृथिवीका अभाव) वहाँ की जा सकती, वह पुरुष (नाहकमें) हैरानी और परेशानीका भागी होगा ।”

“ऐसे ही भिक्षुओं ! यह पाँच वचन-पथ जिनके द्वारा दूसरे तुम्हें बोलेंगे—(१) काल से वा अकालसे • उसको लक्ष्य मानकर सारे लोकको पृथिवीके समान, विपुल, विमाल •^१ जल-रतासे, परिग्राहित कर विदहूँगा ।—इस प्रकार भिक्षुओं ! तुम्हें सीखना चाहिये ।

“जैसे भिक्षुओं ! (कोई) पुरुष लाल वा हल्दी वा नील, वा मज्जीठ लेकर आये, (और) यह कहे—‘मैं इस आकाशमें रूप (= चित्र) लिखूँगा, रूप प्रकट करूँगा’ । तो क्या मानते हो भिक्षुओं ! क्या वह पुरुष इस आकाशमें रूप लिख सकेगा ? रूप प्रकट कर सकेगा ?”

“नहीं मन्ते !”

“सो किस हेतु ?”

“मन्ते ! यह आकाश अ-रूपी = अ-दर्शन (= अ-निर्दर्शन) है, वहाँ रूप लिखना... रूपका प्रादुर्भाव करना सुकर नहीं । यह पुरुष (नाहकमें) हैरानी और परेशानीका भागी होगा ।”

“ऐसे ही भिक्षुओं, यह पाँच वचन-पथ जिनके द्वारा दूसरे तुम्हें बोलेंगे—(१) कालसे •^१, उसको लक्ष्य मानकर सारे लोकको आकाश-समान विपुल विमाल •^१ विदहूँगा ।

—इस प्रकार भिक्षुओं ! तुम्हें सीखना चाहिये ।

“जैसे भिक्षुओं ! (कोई) पुरुष जलती लूणकी उल्का (= लुकारी) को लेकर आये, (और) यह कहे—‘मैं इस लूण-उल्कासे गंगानदीको संतप्त करूँगा, परितप्त करूँगा’ । तो क्या

मानते हो भिक्षुओ ! क्या वह पुरुष उस जलती तृण-उल्लासे गंगानदीको सन्तप्त कर सकेगा, परितप्त कर सकेगा ?^१

“नहीं भन्ते !”

“तो किस हेतु ?”

“भन्ते ! गंगानदी गम्भीर है, अग्रमेव है, वह जलती तृण-उल्लासे नहीं सन्तप्त की जा सकती, परितप्त नहीं की जा सकती । वह पुरुष (नाहकमें) ० ।

“ऐसे ही भिक्षुओ ! यह पाँच वचन-पथ, जिनके द्वारा दूसरे तुमसे बोलेंगे—(१) कालमें ०^१ उसको लक्ष्य मानकर सारे लोकको गंगा-समान विपुल विद्याल ०^२ विहरूँगा ।

“जैसे भिक्षुओ ! (एक) मर्दित, सुमर्दित, सु-परिमर्दित, शूद्र, तूलवाकी, जलराहत-रहित, भरभराहत-रहित विहीके (चमड़ेकी) काल (= भस्मा) हो । तब कोई पुरुष काठ या कठला (= ठोकरा) लेकर जाने और बोले—मैं इस ० विहीकी खालको (इस) काठ या कठलाते सुर्चुरी पनाऊँगा, भर्मरी पनाऊँगा । तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! ० ।

“नहीं भन्ते !”

“तो किस हेतु ?”

“भन्ते ! यह विहीकी खाल मर्दित ०^३ है, काठ या कठलाते सुर्चुरी, भर्मरी नहीं पनाई जा सकती । वह पुरुष (नाहकमें) ०^४ ।”

“ऐसे हो भिक्षुओ ! यह वचनपथ ०^५—कालमें ०^६ उसको लक्ष्य मानकर सारे लोकको विहीकी खालके समान ०^७ विहरूँगा ।

“भिक्षुओ ! चार लुटेरे चाहे दोनों ओर सुडिया लगे आरेसे भी अंग अंगको चीरे, तो भी यदि वह मनको द्रोणुक (= दूषित) करे, तो वह मेरा दासनकर (= उपदेशानुसार चलनेवाला) नहीं है । यहाँ पर भी भिक्षुओ ! ऐसा सीखना चाहिये—‘मैं अपने चित्तको ०^८ कम्पायादितासे श्रवित कर विहरूँगा । ऐसा भिक्षुओ ! तुम्हें सीखना चाहिये ।

“भिक्षुओ ! तुम इस ककचूपम (= ककचोपम = आरेके दृष्टान्तवाले) उपदेशको बार बार मनमें करो । देखते हो भिक्षुओ ! उस वचनपथको श्रणु या स्थूल, जिसे तुम नहीं पसन्द करते ?

“नहीं भन्ते !”

“इसलिये भिक्षुओ ! इस ककचूपम उपदेशको निरन्तर मनमें करो, वह तुम्हें चिरकाल तक हित, सुखके लिये होगा ।”

भगवान् ने वह कहा, सन्तुष्ट हो उस भिक्षुओने भगवान् के भाषणकर अभिमन्दन किया ।

^१ देखो पृष्ठ ८३ ।

^२ देखो ऊपर ।

^३ देखो पृष्ठ ८२ ।

२२-अलगदूपम-मुत्तन्त (१।३।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिटिकके आराम जेतवनमें विशार करते थे । उस समय गन्धवाधि-पुण्य (= भूतपूर्व गन्धवाधि = गिद्ध मारनेवाले) अरिष्ट (= अरिष्ट) भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (= धारणा) उत्पन्न हुई थी—‘मैं भगवान्‌के उपदेश किये धर्मको ऐसे जानता हूँ, जैसे कि जो (निर्वाण आदि के) अन्तरायिक (= विप्रकारक) धर्म (= कार्य) भगवान्‌ने कहे हैं, सेवन करने पर भी वह अन्तराय (= विप्र) नहीं कर सकते ।’ बहुतसे भिक्षुओंने सुना कि, अरिष्ट भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—‘अन्तराय नहीं कर सकते’ । तब वह भिक्षु जहाँ ० अरिष्ट भिक्षु था, वहाँ गये, जाकर ० अरिष्ट भिक्षुसे यह बोले—

“आबुस अरिष्ट ! सचमुच ही, तुम्हें इस प्रकारकी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—‘अन्तराय नहीं कर सकते ।’”

“आबुसो ! मैं भगवान्‌के उपदेश किये धर्मको ऐसे जानता हूँ ० अन्तराय नहीं कर सकते ।”

तब वह भिक्षु ० अरिष्ट भिक्षुको उस बुरी दृष्टि (= धारणा)से हटानेके लिये कहते, समझाते बुझाते थे—‘आबुस अरिष्ट ! मत ऐसा कहो, मत आबुस अरिष्ट ऐसा कहो । मत भगवान्‌ पर झूठ लगानो (= अन्यायमान करो), भगवान्‌ पर झूठ लगाना अच्छा नहीं है । भगवान्‌ ऐसा नहीं कह सकते । अनेक प्रकारसे भगवान्‌ने आबुस अरिष्ट ! अन्तरायिक (= विप्रकारक) धर्मोंको अन्तरायिक कहा है । सेवन करनेपर वह अन्तराय करते हैं—कहा है । भगवान्‌ने कामों (= भोगों)को बहुत दुःखदायक, बहुत परेशान करनेवाले कहा है । उनमें बहुत दुःखपरिणाम (घटलाये हैं) । भगवान्‌ने कामोंको अस्थिरकाल-समान^१ कहा, मांस-पेशी-समान ०, तृण-उत्का-समान ०, अंगारक (= अग्निचूर्ण)के समान ०, स्वप्न-समान ०, याचितकोपम (= मंगनीके आभूषणके समान) ०, वृक्ष-फल-समान^२ ०, असिसूनूपम शक्ति-शूल-समान ०, सर्प-शिर-समान ०, भगवान्‌ने कामोंको बहुत दुःखदायक ० बहुत दुःखपरिणामी घटलाये हैं ।”

उन भिक्षुओं द्वारा ० अरिष्ट भिक्षु ऐसा कहे जाने, समझाये बुझाये जाने पर भी उसी बुरी दृष्टिको दृढ़तासे पकड़ अभिविवेश (= आग्रह) करके (उसे) व्यवहार करता था—“मैं भगवान्‌के उपदेश किये धर्मको ऐसे जानता हूँ ०” अन्तराय नहीं कर सकते ।”

जब वह भिक्षु ० अरिष्ट भिक्षुको उस बुरी दृष्टिसे नहीं हटा सके, तब वह भगवान्‌के पास जाकर अभिवादन कर, एक ओर... बैठ... यह बोले—

^१ इन उपमाओंके लिये पोतलिय-सुत्त (मज्झिम नि० ५४) देखो । ^२ देखो ऊपर ।

“भन्ते ! ० अरिष्ट भिक्षुको इस प्रकारकी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—‘मैं भगवान्‌के ०’ भन्ते ! हमने सुना, कि ० अरिष्ट भिक्षुको ० इस प्रकारकी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—‘०’ । तब हमने मन्ते ! ” अरिष्ट भिक्षुके पास ” जाकर ” यह पूछा—‘आबुस अरिष्ट ! सचमुच ०’ ? ऐसा कहने पर ० अरिष्ट भिक्षुने हमें यह कहा—‘आबुसो ! मैं भगवान् ०’ नहीं कर सकते’ । तब भन्ते ! हम ० अरिष्ट भिक्षुको ० समझाते बुझाते थे—० । हमारे द्वारा ०’ ऐसा ० समझाये जाने पर भी ०’—‘मैं भगवान्‌के ०’ । जब हम भन्ते ! ० अरिष्ट भिक्षुको उस बुरी दृष्टिसे नहीं हटा सके, तब हम इसे भगवान्‌को कह रहे हैं ।”

तब भगवान्‌ने एक भिक्षुको संबोधित किया—“आ भिक्षु ! तू मेरे वचनसे ० अरिष्ट भिक्षुको कह—आबुस अरिष्ट ! तुझे शास्ता बुझा रहे हैं ।”

“अच्छा, भन्ते !”—कह उस भिक्षुने ० अरिष्ट भिक्षुके पास ” जाकर ” यह कहा—

“आबुस अरिष्ट ! शास्ता तुम्हें बुझा रहे हैं ।”

“अच्छा, आबुस !”—(कह) उस भिक्षुको उत्तर दे ० अरिष्ट भिक्षु ” भगवान्‌के पास ” जाकर ” अभिवादन कर ” एक ओर बैठा । एक ओर बैठे ० अरिष्ट भिक्षुको भगवान्‌ने यह कहा—

“सचमुच अरिष्ट ! तुझे इस प्रकारकी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—मैं भगवान्‌के ०’ अन्तराय नहीं कर सकते हैं ?

“हाँ, भन्ते ! मैं भगवान्‌के उपदेश किये धर्मको ऐसे जानता हूँ, जैसे कि जो अन्तरायिक धर्म भगवान्‌ने कहे हैं, सेवन करने पर भी वह अन्तराय नहीं कर सकते ।”

“मोघपुरुष (= निकम्मा आदमी) ! किसको मैंने ऐसा धर्म उपदेश किया, जिसे तू ऐसा जानता है—मैं भगवान् ० । क्यों मोघपुरुष ! मैंने तो अनेक प्रकारसे अन्तरायिक धर्मोंको अन्तरायिक कहा है ०’ बहुत दुष्परिणाम बतलाये हैं । और तू मोघपुरुष (= मोघिया) अपनी उखी धारणासे हमें झूठ लगा रहा है, और अपनी भी हानि का रहा है, बहुत अ-युष्य कमा रहा है । मोघपुरुष ! यह चिरकाल तक तेरे लिये अ-हित और दुःखके लिये होगा ।”

तब भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

“तो क्या मानते हो भिक्षुजो ! क्या यह ० अरिष्ट भिक्षु उन्मोक्त (= छू तक गया) भी इस धर्ममें नहीं है ?”

“कैसे होगा भन्ते ! नहीं भन्ते !”

ऐसा कहने पर ० अरिष्ट भिक्षु चुप हो, भूक हो, कन्धा मिरा कर, आधोमुख चिन्ता करते प्रतिभा-शून्य हो बैठा रहा । तब भगवान् ० अरिष्ट भिक्षुको चुप ० प्रतिभाशून्य जान कर ० अरिष्ट भिक्षुसे बोले—

“तू मोघपुरुष ! अपनी इस बुरी दृष्टिको जानेगा, जब मैं भिक्षुओंको पूछूँगा ।”

तब भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

“भिक्षुओ ! क्या तुम भी मेरे ऐसे उपदेश किये धर्मको जानते हो, जैसा कि यह ० अरिष्ट भिक्षु अपनी ही उखी धारणासे हमें झूठ लगा रहा है, और अपनी भी हानि कर रहा है, बहुत अयुष्य कमा रहा है ?

* वेत्तो एण्ड ८४ ।

* एण्ड ८४ में भगवान्‌की जगह, मैं रखकर ।

“नहीं मन्ते ! भगवान्ने तो अनेक प्रकारसे अन्तराधिक धर्मोंको अन्तराधिक कहा है ०^१ बहुत दुष्परिणाम घटलाये हैं ।”

“तो वह ० भरिष्ठ भिक्षु अपनी डब्बी धारणासे हमें कड़ लगा रहा है, और अपनी भी हानि कर रहा है, बहुत अ-सुख (= पाप) कमा रहा है । यह इस मोक्षपुरुषके लिये चिरकाल तक अहित और दुःखके लिये होता । और यह भिक्षुओं ! कामोंसे भिन्न, काम-अंशसे भिन्न, काम वितर्कसे भिन्न (किसी वस्तुका) सेवन करेगा, यह संभव नहीं ।

“यहाँ भिक्षुओं ! कोई कोई मोक्षपुरुष—मेघ, व्याकरण, गाथा, उद्दान, इतिवृत्तक, जातक, अद्भुत-धर्म, वैदस्य—(इन ती प्रकारके) धर्म (= उपदेश) को धारण करते^२ हैं । वह उन धर्मोंको धारण करते भी उनके अर्थको प्रज्ञासे परखते नहीं हैं । अर्थको प्रज्ञासे परखे बिना धर्मों का आशय नहीं समझते । वह या तो उपारम्भ (= अहरवता) के लाभके लिये धर्मोंको धारण करते हैं; या बादमें प्रसुप्त बतनेके लाभके लिये धर्मोंको धारण करते हैं; और उसके अर्थको नहीं अनुभव करते । उनके लिये यह डब्बी तौरसे धारण किये धर्म अहित (और) दुःखके लिये होते हैं । सो किस हेतु ?—धर्मोंको उन्हा धारण करनेसे भिक्षुओं ! जैसे भिक्षुओं ! कोई अलगद (= साँप) चाहनेवाला अलगद-गवेपी पुरुष अलगदकी खोजमें घूमता एक महान् अलगदको पाये; और उसे भोग (= देह) से वा पँठ (= नंगुठ) से पकड़े; उसको वह अलगद बलट कर हाथमें, बाँहमें वा अन्य किसी अंगमें बँध ले । वह उसके कारण मरण या मरण-समान दुःखको प्राप्त होवे । सो किस हेतु ?—भिक्षुओं ! अलगदके दुर्बहोत (= डब्बी तरहसे पकड़ा) होनेसे । ऐसेही यहाँ भिक्षुओं ! कोई कोई मोक्षपुरुष ० ।

“किन्तु भिक्षुओं ! कोई कोई कुलपुत्र—सूत्र ०^३ धर्मोंको धारण करते हैं । वह उन धर्मोंको धारण कर उनके अर्थको प्रज्ञासे परखते हैं । प्रज्ञासे परखकर धर्मोंके अर्थको समझते हैं । वह उपारम्भ (= धनलाभ) के लिये ० वा बादमें प्रसुप्त बतनेके लिये धर्मोंको धारण नहीं करते । वह उनके अर्थको अनुभव करते हैं । उनके लिये यह सुप्रहोत (= ठीक तौरसे धारण किये) धर्म चिरकाल तक हित और सुखके लिये होते हैं । जैसे भिक्षुओं ! कोई ० अलगद-गवेपी पुरुष अलगदकी खोजमें घूमता एक महान् अलगदको देखे । उसको वह अज्ञपद ईंड (= साँप पकड़नेका डंडा जिसके डोर पर बकरीके पैरकी तरह चिरवा संकसीधुमा हथियार लगा रहता है) से लूब अच्छी तरह पकड़े । अच्छी तरह पकड़कर गर्दनसे डीक तौरपर पकड़े । फिर भिक्षुओं ! चाहे वह अलगद उस पुरुषके हाथ, बाँह वा किसी और अंगको अपने भोग (= देह) से परिवेष्टित करे, किन्तु वह उसके कारण न मरण न मरण-समान दुःखको प्राप्त होवे । सो किस हेतु ?—भिक्षुओं ! अलगदके सुप्रहोत होनेसे । ऐसे ही भिक्षुओं ! कोई कोई कुल-पुत्र ० ।

“इसलिये भिक्षुओं ! मेरे जिस भाषण का अर्थ तुम समझे हो, उसे वैसे धारण करना, और जिसका अर्थ तुम नहीं समझे, उसे मुझसे पूछना, वा (दूसरे) जानकार भिक्षुसे ।

“भिक्षुओं ! मैं वेड़े (= कुल) की भाँति निस्तरण (= निस्तार, = पार जाने) के लिये तुम्हें धर्मोंको उपदेशता हूँ, पकड़ रखनेके लिये नहीं । उसे सुनो, अच्छी तरह मर्ममें करो, कहता हूँ ।”

^१ देखो पृष्ठ ८४ (भगवान्की जगह, मैं रखकर) ।

^२ उस समय और उसके बाद पाँच शताब्दियों तक बुद्धके उपदेश अठसवी तक के होते थे ।

^३ देखो पिछला पैरा ।

“अच्छा मन्ते !”—(कह) उन भिक्षुजोने भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ने यह कहा—“जैसे भिक्षुओ ! पुरुष ज-स्थान-भारी (= वे स्थानके रास्ते) पर जाते एक ऐसे महान्‌ जल-अर्णवको प्राप्त हो, जिसका उरला तीर खतरा और भयसे पूर्ण हो, और परला तीर क्षेमयुक्त और भयरहित हो । वहाँ न पार लेजानेवाली नाव हो, न इधरसे उधर जाने आनेके लिये पुल हो । (तब) उस (के मनमें) हो—‘अहो ! यह महान्‌ जल-अर्णव है, इसका उरला तीर ० न इधरसे उधर जाने आनेके लिये पुल है । क्यों न मैं तृण-काष्ठ-पत्र जमाकर बेटा बाँधूँ, और उस बेटेके सहारे हाथ और पैरसे मेहनत करते स्वल्प-पूर्वक पार उतर जाऊँ ।’ तब भिक्षुओ ! वह पुरुष ० बेटा बाँधकर, उस बेटेके सहारे ० पार उतर जाये । उत्तीर्ण होजाने पर, पार चले जानेपर उसके (मनमें) ऐसा हो—‘यह बेटा मेरा बड़ा उपकारी हुआ है, इसके सहारे ० मैं पार उतरा हूँ, क्यों न मैं इस बेटेको शिरपर रखकर, या कन्धेपर उठाकर जहाँ इच्छा हो वहाँ जाऊँ ।’ तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या यह ऐसा करनेवाला पुरुष उस बेटेमें कर्तव्य पालनेवाला होगा ?”

“नहीं, मन्ते !”

“भिक्षुओ ! वह पुरुष उस बेटेसे दुःख उठानेवाला (= कष्टकारी) होगा । भिक्षुओ ! यदि उत्तीर्ण पारगत उस पुरुषको ऐसा हो—‘यह बेटा मेरा बड़ा उपकारी हुआ है, इसके सहारे ० मैं पार उतरा हूँ, क्यों न मैं इसे स्थलपर रखकर, या पानीमें डालकर जहाँ इच्छा हो वहाँ जाऊँ ।’ भिक्षुओ ! ऐसा करनेवाला वह पुरुष उस बेटेमें कर्तव्य पालनेवाला होगा । ऐसेही भिक्षुओ ! मैंने बेटेकी भाँति निस्तरणके लिये तुम्हें धर्मोको उपदेशा है, पकड़ रखनेके लिये नहीं । धर्मोको बेटेके समान (= कुल्लूपम) उपदेशा जानकर तुम धर्मोको भी छोड़ दो, ज-धर्मोकी तो पात ही क्या ।

“भिक्षुओ ! यह छः दृष्टि (= धारणा)-स्थान हैं कौनसे छः ?—भिक्षुओ ! आर्योंके दर्शनसे वंचित ०^१ अज्ञ बनायी पुरुष (१) रूप (= Matter)^२ को—‘यह मेरा है,’ ‘यह मैं हूँ,’ ‘यह मेरा आत्मा है’—इस प्रकार समझता है । (२) वेदनाको ० । (३) संज्ञाको ० । (४) संस्कारको ० । (५) विज्ञानको—‘यह मेरा है,’ ‘यह मैं हूँ,’ ‘यह मेरा आत्मा है’—इस प्रकार समझता है । (६) जो कुछ भी वह देखा, सुना, यादमें आया, ज्ञात, प्राप्त, पर्योषित (= खोजा), और मनद्वारा अनुविचारित (पदार्थ) है, उसे भी (वह)—‘यह मेरा है,’ ‘यह मैं हूँ,’ ‘यह मेरा आत्मा है’—इस प्रकार समझता है । जो यह (छः) दृष्टि-स्थान हैं, ‘सो लोक है, सोई आत्मा हूँ, मैं मरकर सोई निल, ध्रुव, शाश्वत, निर्विकार (= अविपरिणामधर्मा) आत्मा होऊँगा, और अनन्त वर्षों (= शाश्वती सभा) तक वैसे ही स्थित रहूँगा’—इसे भी ‘यह मेरा है,’ ‘यह मैं हूँ,’ ‘यह मेरा आत्मा है’—इस प्रकार समझता है ।

“भिक्षुओ ! आर्योंके दर्शनसे दुःख, आर्यधर्मसे परिचित, आर्यधर्ममें विनीत (= प्राप्त); सत्पुरुषोंके दर्शनसे दुःख, ० परिचित, ० विनीत, ब्रुतवान् (= ज्ञानी) आर्य आचक—(१) रूप

^१ देखी शृष्ठ ३ ।

^२ रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान यही पाँच स्कंध जगत्‌की नियोजक सामग्री है । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु यह चार रूप-स्कंध हैं । जिसमें सारोपन है, और जो जगत्‌ घेरता है, वह रूप (= Matter) है । उससे उल्ला विज्ञान (= Mind) स्कंध है । दोनोंके सम्पर्कसे होनेवाली विज्ञानकी तीन अवसाधें बाकी तीन स्कंध हैं ।

को—‘यह मेरा नहीं’, ‘यह मैं नहीं हूँ’, ‘यह मेरा आत्मा नहीं है,—इस प्रकार समझता है। (२) वेदनाको ०। (३) संज्ञाको ०। (४) संस्कारको ०। (५) विज्ञानको ०। (६) जो कुछ भी यह देखा ०। जो यह (ऊः) दृष्टि-स्थान है ० ‘यह मेरा आत्मा नहीं है’—इस प्रकार समझता है। यह इस प्रकार समझते हुये अज्ञान-वास (= भय) को नहीं प्राप्त होता ।”

ऐसा कहनेपर किसी भिक्षुने भगवान्से यह कहा—“भन्ते ! क्या बाहर अज्ञान-परिवास है ?”

भगवान्ने कहा—“होता है भिक्षु ! यहाँ ! भिक्षु ! किसीको ऐसा होता है—‘अहो ! (पहले) यह मेरा था’, ‘अहो ! अब यह मेरा नहीं है’, ‘अहो ! मेरा होवे’, ‘अहो ! उसे मैं नहीं पाता हूँ’—(यह) इस प्रकार शोक करता है, दुःखित होता है, रोता है, छाती पीटकर क्रन्दन करता है, मूर्छित होता है। इस प्रकार भिक्षु ! बाहर अज्ञान-परिवास होता है ।”

“किन्तु, भन्ते ! क्या बाहर अज्ञान-अपरिवास होता है ?”

भगवान्ने कहा—“होता है भिक्षु ! यहाँ भिक्षु ! किसी (पुरुष) को ऐसा नहीं होता—‘अहो ! (पहले यह) मेरा था’, ० ‘अहो ! उसे मैं नहीं पाता हूँ’—(यह) इस प्रकार शोक नहीं करता ० मूर्छित नहीं होता। इस प्रकार भिक्षु ! बाहर अज्ञानिका परिवास नहीं होता ।

“कैसे भन्ते ! भीतरमें अज्ञान-परिवासन होता है ?”

भगवान्ने कहा—“होता है भिक्षु ! यहाँ भिक्षु ! किसीकी यह दृष्टि (= धारणा) होती है—‘सो लोक है, सोई आत्मा है; मैं भरकर सोई नित्य, भुव, शाश्वत, निर्विकार होऊँगा, और अनन्त वर्षोंतक वैसेही स्थित रहूँगा ।’ वह तथागत (= बुद्ध) तथागत-आवक (= ०-शिष्य) को सारे ही दृष्टि-स्थानों, (दृष्टियोंके) अधिष्ठान (= रहनेके स्थान), पशुत्पान (= उठने उपजने), अभिनिवेश (= आप्रह) और अनुशयों (= मलों) के विनाशके लिये सारे संस्कारों (= दिलके प्रभाषों) के शमन करनेके लिये, सारी उपाधियोंके परित्यागके लिये, (और) मृणाके शयके लिये, विराग, भिरोध (= राग आदिके नाश) और निर्वाणके लिये धर्म उपदेस करते सुनता है। उसको ऐसा होता है—अहो ! मैं उच्छिन्न होऊँगा, अहो ! मैं यह होजाऊँगा, (हाय !) मैं नहीं रहूँगा !!—यह शोक करता है ०” मूर्छित होता है। इस प्रकार भिक्षु ! वह अज्ञान-परिवास (= बिजलीसा भय) होता है ।

“कैसे भन्ते ! (धिक्के) भीतर अज्ञानिका-परिवास नहीं होता ?”

भगवान्ने कहा—“होता है भिक्षु ! यहाँ भिक्षु ! किसीकी यह दृष्टि नहीं होती—‘सो लोक है ०’ न मूर्छित होता है। इस प्रकार भिक्षु ! वह अज्ञानिका परिवास नहीं होता ।

“भिक्षुओ ! उस परिग्रह (= ग्रहणकरनेकी वस्तु) को परिग्रहण (= ग्रहण) करना चाहिये, जो परिग्रह कि नित्य, भुव, शाश्वत, निर्विकार अनन्त वर्ष वैसेही (= एक समान) रहे। भिक्षुओ ! देखते हो ऐसे परिग्रहको, जो कि ० अनन्त वर्ष तक वैसेही रहे ?”

“नहीं भन्ते !”

“आहु, भिक्षुओ ! मैं जो ऐसे परिग्रहको नहीं देखता, जो कि ० अनन्त वर्षतक वैसेही रहे। भिक्षुओ ! उस आत्म-वाद (= आत्माके सिद्धान्त)-स्वीकारको स्वीकारे, जिस आत्मवाद-स्वीकारके स्वीकारने (= स्तकारने)से शोक, परिदेव (= कलपकर रोना), दुःख = दीर्घमस्य, उपायस (= परेशानी) न उत्पन्न हों। भिक्षुओ ! देखते हो, ऐसे आत्मवाद-स्वीकारको, जिस आत्मवादके स्वीकारसे शोक परिदेव ० न उत्पन्न हों ।

“नहीं, भन्ते !”

“साधु, भिक्षुओ ! मैं भी ऐसे आत्मवाद-स्वीकारको नहीं देखता, जिस आत्मवाद-स्वीकारसे शोक ० न उत्पन्न हो । भिक्षुओ ! उस दृष्टि-निश्चय (= पारणाके विषय) का आश्रय लेना चाहिये जिस दृष्टि-निश्चयके आश्रय लेनेपर शोक ० न उत्पन्न हो । भिक्षुओ ! देखते हो, ऐसे दृष्टि-निश्चयको, जिस ० ?”

“नहीं, भन्ते !”

“साधु, भिक्षुओ ! मैं भी ऐसे दृष्टि-निश्चयको नहीं देखता ० । भिक्षुओ ! आत्माके होने पर ‘(यह) मेरा आत्मीय है’—यह हो सकता है ?”

“हाँ, भन्ते !”

“भिक्षुओ ! आत्मीय होनेपर, ‘(यह) मेरा आत्मा (है)’—हो सकता है ?”

“हाँ, भन्ते !”

“भिक्षुओ ! आत्मा और आत्मीयके ही सत्यतः = स्थिरतः उपलब्ध होनेपर, जो यह दृष्टि-स्थान—‘सोई लोक है, सोई आत्मा है, मैं भरकर सोई नित्य ०’ अनन्त वर्षों तक वैसे ही स्थित रहूँगा ।’ भिक्षुओ ! क्या यह केवल पूरा बाल-धर्म (= बच्चोंकीसी बात) नहीं है ?”

“क्यों नहीं ? है भन्ते ! केवल पूरा बाल-धर्म ।”

“तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! रूप नित्य है या अनित्य ?”

“अनित्य है, भन्ते !”

“जो अनित्य है वह दुःख (रूप) है या सुख (रूप) ?”

“दुःख (रूप) है भन्ते !”

“जो अनित्य, दुःख (स्वरूप) और विपरिणाम-धर्मा (= परिवर्तनशील, विकारी) है, क्या उसके लिये ऐसा देखना—‘यह मेरा है’, ‘यह मैं हूँ’, ‘यह मेरा आत्मा है’—योग्य है ?”

“नहीं, भन्ते !”

“तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! वेदना नित्य है या अनित्य ?”

“अनित्य है, भन्ते !” ०^१ ।

“० संज्ञा ०^२, ० संस्कार ०^३, ० विज्ञान नित्य है या अनित्य ?”

“अनित्य है, भन्ते !”

“जो अनित्य, दुःख, और विपरिणाम-धर्मा है, क्या उसके लिये ऐसा देखना—० ‘यह मेरा है’ ०—योग्य है ?”

“नहीं, भन्ते !”

“इसलिये भिक्षुओ ! भीतर (शरीरमें) या बाहर, स्थूल या सूक्ष्म, उत्तम या निम्न, दूर या नजदीक, जो कुछ भी भूत भविष्य वर्तमानका रूप है, वह सब—‘यह मेरा नहीं है’, ‘यह मैं नहीं हूँ’, ‘यह मेरा आत्मा नहीं है’,—ऐसे ही यथावतः ठीकसे जानकर देखना चाहिये । ० जो कुछ भी ० वेदना है ० । ० जो कुछ भी ० संज्ञा है ० । ० जो कुछ भी ० संस्कार है ० । ० जो कुछ भी ० विज्ञान है, वह सब—‘यह (= विज्ञान) मेरा नहीं है’, ‘यह मैं नहीं हूँ’, ‘यह मेरा आत्मा नहीं है’—० जानकर देखना चाहिये ।

^१ देखो ऊपर ।

^२ कम्भी मति यहाँ भी प्रयुक्त है ।

“मिथुनों! ऐसा देखनेपर बहुसुत आवेधात्मक रूपमें भी निर्वेद (= ब्रह्मासीनता) को प्राप्त होता है, वेदनामें भी ०, संज्ञामें भी ०, संस्कारमें भी ०, विज्ञानमें भी निर्वेदको प्राप्त होता है। निर्वेदमें विरागको प्राप्त होता है। विराग प्राप्त होनेपर (राग आदिसे) विमुक्त हो जाता है। विमुक्त (= मुक्त) होने पर ‘मैं विमुक्त होगया’—यह ज्ञान होता है; फिर जानता है—जन्म क्षय हो गया, जन्मचर्यवास पूरा हो गया, करणीय कर लिया, यहाँ और (कुछ भी) करनेको नहीं है। मिथुनों! यह मिथु उत्कृष्ट-परिध (= वैसेसे मुक्त) भी, संकीर्ण-परिध (= छाई पार) भी, अ-व्यूढ-हरीसिक (= जो हल्की हरीस जैसे दुनियाके भारोंको नहीं उठाये है) भी, निरर्गल (= लगातारूपी संसारके बंधनसे मुक्त) भी, आर्य, पन्त-ध्वज (= जिसकी राग आदि रूपी ध्वजा गिर गई है), पन्त-भार (= जिसका भार गिर गया है), वि-संयुक्त (= राग आदिसे विमुक्त) भी कहते हैं। मिथुनों! कैसे मिथु उत्कृष्ट-परिध होता है?—यहाँ मिथुनों! मिथुने अ-विद्याको नाश कर दिया है, उच्छिद्रमुल, मलकच्छिन्न ताड़के वृक्ष जैसा, जमावको प्राप्त, भविष्यमें न डरपत्र होने लायक कर दिया है। इस प्रकार मिथुनों! मिथु उत्कृष्ट-परिध होता है। कैसे मिथुनों! मिथु संकीर्ण-परिध होता है?—० मिथुने पौनर्मिक (= पुनर्जन्म-संबंधी) जालि-संस्कार (= जन्म दिलानेवाले पूर्वजन्तु कर्मोंके चित्रप्रवाहपर पड़े संस्कार) को नाश कर दिया है ०* संकीर्ण-परिध होता है। कैसे मिथुनों! मिथु अ-व्यूढ-हरीसिक होता है?—०* तृष्णाको नाश कर दिया है ०* ० निरर्गल होता है?—० पाँच अक्षरभागीय* संयोजनों (= बंधनों) को नाश कर दिया है ०। कैसे मिथुनों! मिथु आर्य, पन्त-ध्वज, पन्त-भार, वि-संयुक्त होता है?—यहाँ मिथुनों! मिथुका अस्मिमान (= हूँका अस्मिमान) नष्ट होता है ० भविष्यमें न डरपत्र होने लायक किया गया होता है। इस प्रकार मिथुनों! मिथु आर्य होता है। मिथुनों! इस प्रकार मुक्तचित्त मिथुको इन्द्र, महा प्रजापति सहित (सारे) देवता नहीं जान सकते, कि इस तथ्यागतका विज्ञान इसमें निहित है। सो किस हेतु?—मिथुनों! इसी शरीरमें ही तथ्यागत अन्-अनुवेष्ट (= अ-वेष्ट) है—यह कहता हूँ।

“मिथुनों! ऐसे वाद (को मानने)वाले, ऐसा कहनेवाले मुझे, कोई कोई भ्रमण-ब्राह्मण अ-सत्य, गुच्छ, मृषा = अ-भूतसे ही झूठ लगाते हैं—भ्रमण गौतम वैमथिक (= बिना या नहींके वादको माननेवाला) है, (वह) विद्यमान सत्त्व (= जीव, आत्मा) के उच्छेद = विनाश = विभवका उपदेश करता है। मिथुनों! जो कि मैं नहीं कहता, वह आप भ्रमण ब्राह्मण लोग इस असत्य, गुच्छ, मृषा अ-भूत (कवन)से (मुझपर) झूठ लगाते हैं—भ्रमण गौतम ० विभवका उपदेश करता है। मिथुनों! पहिले भी और अब भी मैं उपदेश करता हूँ—दुःखको, और दुःख-निरोध को ०। वहाँ यदि मिथुनों! दूसरे तथ्यागतको निन्दते=परिचापते, सुनसते हैं; उससे मिथुनों! तथ्यागतको घोट (= आघात), अ-प्रत्यय (= अ-संतोष) और चित्त-विकार नहीं होता। और यदि मिथुनों! दूसरे तथ्यागतका सत्कार = गुणकार, मानन = पूजन करते हैं; तो मिथुनों! उससे तथ्यागतको आनन्द = सौमनस्य चित्तका प्रसन्नताऽतिरेक नहीं होता। मिथुनों! जब दूसरे तथ्यागतका सत्कार ० करते हैं, तो तथ्यागतको ऐसा होता है—जो पहिले (ही) ज्ञान दिया है, उसीके विषयमें इस प्रकारके कार्य किये जा रहे हैं। इसलिये मिथुनों! यदि दूसरे तुम्हें भी निन्दें, तो उसके शिष्टे

* पहले वैसे । * वरजे मागवाले अर्थात् संसारमें कैसा रहनेवाले, वह पाँच है—(१) सत्काय, इष्टि (= आत्मवादकी धारणा), विचिकित्सा (= संकल्प), शीलमत-परामर्श (= प्रत्यक्ष आचरणका अनुचित-अभिमान), कामचन्द (= भोगोंमें रान), व्यापाद (= पीड़कशक्ति)।

तुम्हें घोट, असन्तोष, विल-विकार नहीं आने देना चाहिये । और इसलिये मिश्रुओं ! यदि दूसरे तुम्हारा सत्कार ० करें, तो उसके लिये तुम्हें आनन्द ० नहीं करना चाहिये । अतः मिश्रुओं ! यदि दूसरे तुम्हारा सत्कार ० करें, तो उसके लिये तुम्हें भी ऐसा होना चाहिये—जो पहिले त्याग दिया है, उसीके विषयमें इस प्रकारके कार्य किये जा रहे हैं ।

“इसलिये मिश्रुओं ! जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ो, उसका छोड़ना चिरकालतक तुम्हारे हित सुखके लिये होगा । मिश्रुओं ! क्या तुम्हारा नहीं है ?—रूप मिश्रुओं ! तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ो, उसका छोड़ना चिरकाल तक तुम्हारे हित सुखके लिये होगा । ० वेदना ० । ० संज्ञा ० । ० संस्कार ० । ० विज्ञान ० । तो क्या भानते हो मिश्रुओं ! इस जेतवन में जो वृण, काष्ठ, शाखा, पत्र है; उसे (कोई) आदमी अपहरण करे, जालिये या (अपनी) इच्छानुसार (जो चाहे सो) करे, तो क्या तुम्हें ऐसा होना चाहिये—हमारी (चीज़) को (वह) आदमी अपहरण ० कर रहा है ?”

“नहीं, भन्ते !”

“तो किस हेतु ?”

“भन्ते ! वह हमारा आत्मा या आत्मीय नहीं है ।”

“ऐसे ही मिश्रुओं ! जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ो, ० उसका छोड़ना, चिरकाल तक तुम्हारे हित-सुखके लिये होगा । मिश्रुओं ! क्या तुम्हारा नहीं है ?—रूप ०^१ । ० वेदना ० । ० संज्ञा ० । ० संस्कार ० । ० विज्ञान ० ।

“मिश्रुओं ! इस प्रकार मैंने धर्मका उत्थान = विवृत = प्रकाशित, आवरणरहित (= लिङ्ग-विलोपित) (करके) अच्छी तरह ध्याक्यान किया (= स्वाक्यात) है । ऐसे ० स्वाक्यात धर्ममें, उन मिश्रुओंके लिये कुछ उपदेश करनेकी जरूरत नहीं है, जो कि (१) अहंत्, क्षीणाम्रव (= राग आदि मल जिनके नष्ट हो गये हैं), मद्वाचर्यावास पूरा कर चुके, कृतकरणीय, भारमुक्त, सत्त्वे अर्थको प्राप्त, परिक्षीण-भय-संयोजन (= जिनके भवसागरमें डालनेवाले र्वजन नष्ट हो गये हैं), सम्यग्ज्ञानविमुक्त (= यथापे ज्ञानसे जिनकी मुक्ति होगई है) हैं । (२) मिश्रुओं ! ऐसे ० स्वाक्यात धर्ममें जिन मिश्रुओंके पाँच अवरोधयोगीय संयोजन^२ नष्ट हो गये हैं, वह सभी औपपातिक (= अपोनिज, देव) हो वहाँ (देवलोकमें) जा परिनिर्वाणको प्राप्त होनेवाले हैं, (वह) इस लोकसे लौटकर नहीं आनेवाले (= जनावृत्तिधर्मा = जनानामी) हैं, (३) मिश्रुओं ! ऐसे ० स्वाक्यातधर्ममें जिन मिश्रुओंके तीन संयोजन नष्ट हो गये हैं, राग-द्वेष-मोह निर्बल (= तनु) हो गये हैं, वह सारे सद्बुद्धानामी = सद्बुद्ध (= एक धार) ही इस लोकमें आकर दुःखका अन्त करेंगे । ... (४) मिश्रुओं ! ऐसे स्वाक्यात धर्ममें जिन मिश्रुओंके तीन संयोजन नष्ट हो गये, वह सारे न पतित होनेवाले संबोधि (= बुद्धके ज्ञान)-परायण क्षोत-अपन्न (= निर्वाणकी ओर ले जाने-वाले प्रवाहमें स्थिर रीतिसे आरुढ़) हैं । ... मिश्रुओं ! ऐसे ० स्वाक्यात धर्ममें जो मिश्रु अज्ञानुसारी, धर्मानुसारी हैं, वह सभी संबोधि-परायण हैं । इस प्रकार मैंने धर्मका ० अच्छी तरह ध्याक्यान किया है । ऐसे ० स्वाक्यात धर्ममें जिनकी मेरे विषयमें थहा मात्र प्रेम मात्र (भी) है, वह सभी स्वर्ग-परायण (= स्वर्गगामी) हैं ।”

भगवान्ने यह कथा, सन्तुष्ट हो उन मिश्रुओंके भगवान्के भाषणका अभितन्दन किया ।

^१ देखो ऊपर ।

^२ देखो पृष्ठ ९० दिव्यणी ।

२२—वर्मिक-सुत्तन्त (१।३।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् भ्रावस्तीमें अनाथ-पिटृदिके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् कुमार काश्यप अन्धवनमें विहार करते थे। तब उन्हेली रातमें कोई अभिधान् वर्ण (= प्रकाशमय) देवता सारे अन्धवनको प्रभासित कर, जहाँ आयुष्मान् कुमार काश्यप थे वहाँ जाकर, एक ओर खड़ा हुआ। एक ओर खड़े हुये उस देवताने आयुष्मान् कुमार काश्यपसे यह कहा—

“मिथु ! मिथु ! यह कभीक रातको धूर्धुवाता (= धूर्वा देता) है, दिनको काता (= ज्वलित होता) है। ब्राह्मणने ऐसा कहा—

‘सुमेध ! शक ले अभीक्षण (= काट) ।’

सुमेधने शक ले काटे लंगीको देखा—‘लंगी है भदन्त (= स्वामी) !’

ब्राह्मणने यह कहा—‘लंगीको फेंक, सुमेध ! शक ले काट ।’

सुमेधने • धूर्धुवाना देखा—‘धूर्धुवाता है, भदन्त !’

ब्राह्मणने यह कहा—‘धूर्धुवानेको फेंक, सुमेध ! • ।’

सुमेधने • दो रास्ते देखे—‘दो रास्ते है, भदन्त !’

ब्राह्मणने •—‘दो रास्ते फेंक (= छोड़), सुमेध ! • ।’

सुमेधने • चंगवार (= चंगौरा = टोकरा) देखा—‘चंगवार है, भदन्त !’

ब्राह्मणने •—‘चंगवार फेंक दे, सुमेध ! • ।’

सुमेधने • कूर्म (= कछुवा) देखा—‘कूर्म है, भदन्त !’

ब्राह्मणने •—‘कूर्म फेंक दे, सुमेध ! • ।’

सुमेधने • असिसूना (= पशु मारनेका पीड़ा) देखा—‘असिसूना है, भदन्त !’

ब्राह्मणने •—‘असिसूना फेंक दे, सुमेध ! • ।’

सुमेधने • मांसपेक्षी (= मांसका टुकड़ा) देखा—‘मांसपेक्षी है, भदन्त !’

ब्राह्मणने •—‘मांसपेक्षी फेंक दे, सुमेध ! • ।’

सुमेधने • नाग देखा—‘नाग है, भदन्त !’

ब्राह्मणने •—‘रहने दे नागको, मत उसे घटा दे, नागको तमास्कार कर ।’

“मिथु ! इस प्रश्नोंको तुम भगवान्के पास जाकर पूछना। भगवान् जैसा इसका उत्तर दें, उसे धारण करता। मिथु ! देव-भार-ब्रह्मा सहित सारे लोकमें, भ्रमण-ब्राह्मण देव-भानुष सहित सारी प्रजायें, मैं ऐसे (पुरुष)को नहीं देखता, जो इस प्रश्नका उत्तर दे चित्तको तन्तुष्ट करे, सिवाय तथामत, तथामत-आवक या वहाँसे सुने हुयेके।”

यह देवता यह कह कर वहाँ अन्तर्ध्यान होगया।

तब आयुष्मान् कुमार काश्यप उस रातके पीतनेपर जहाँ भगवान् थे, वहाँ जाकर, अभिवादनकर, एक ओर... बैठ, भगवान्से यह बोले—

“भन्ते ! आज रातको एक अभिकान्तवर्ण देवता सारे अन्धधनको प्रभावित कर, जहाँ मै बा, वहाँ आकर एक ओर जडा हुआ, एक ओर जडा हो उस देवताने मुझे यह कहा—०^१ । यह देवता यह” कहकर वहीं अन्तर्धान होगया ।

“भन्ते ! (१) क्या है कल्मीक ? (२) क्या है रातका घुँघुवाना ? (३) क्या है दिनका कोकना ? (४) कौन है माण्डण ? (५) कौन है सुमेध ? (६) क्या है पाछ ? (७) क्या है अमीक्षण (= काटना) ? (८) क्या है लंगी ? (९) ० घुँघुवाना ? (१०) ० दो रास्ते ? (११) ० चंगवार ? (१२) ० कूर्म ? (१३) ० अति-सूना ? (१४) ० मातपेशी ? (१५) क्या है नाम ? ”

“भिन्नु ! (१) कल्मीक यह माता-पिता से उत्पन्न मात-दाहसे वर्धित, इसी चातुर्नहा-भौतिक कायाका नाम है, जो कि अनित्य तथा, उत्सादन (= इटाने) मर्दन, मेदन, विष्व-सन स्वभाववाला है । (२) भिन्नु ! जो दिन के कार्मिक लिये रातको सोचता है, विचारता है, यही रातका घुँघुवाना है । (३) भिन्नु ! जो कि रातको सोच विचारकर दिनको काया और वचनसे कार्मिक योग देता है, यह दिनका कोकना है । (४) ” माण्डण यह तवामत, भर्तृ, सम्पत्-संतुद्धर नाम है । (५) सुमेध यह नैद्य (= जिसको शिक्षाकी अभी आवश्यकता है, ऐसा निर्बोध-मार्गाक्ष्य व्यक्ति) भिन्नुका नाम है । (६) ० पाछ (= इधियार) यह अर्थ प्रज्ञा (= उत्तम ज्ञान) का नाम है । (७) ० अमीक्षण (= काटना) यह वीर्यारम्भ (= उद्योग) का नाम है । (८) ० लंगी अधिष्ठाका नाम है । ‘लंगीको फेंक, सुमेध !’ अधिष्ठा को छोड़, सुमेध ! अक्ष से काट—यह इसका अर्थ है । (९) ० घुँघुवाना यह कोषकी परेशानीका नाम है, घुँघु-आना फेंक दे, सुमेध ! कोष-उपायासको छोड़, पाछ से काट—यह इसका अर्थ है । (१०) ० दो रास्ते (= द्विपथ) यह विचिकित्सा (= संशय) का नाम है । दो रास्ते फेंक दे, विचिकित्सा छोड़, सुमेध ! ० । (११) ० चंगवार यह पाँच नीवरणों (= आवरणों) का नाम है, (जैसे कि) कामच्छन्द (= भोगोंमें राग)-नीवरण, व्यापाद (= परपीडाकरण)-नीवरण, स्वानन्द (= धार्मिक मानसिक आनन्द)-नीवरण, औद्धत्य-कौकृत्य (= उपहृणकता और प्रधाताप)-नीवरण, विचिकित्सा (= संशय)-नीवरण । ‘चंगवार फेंक दे’—पाँच नीवरणोंको छोड़ दे, सुमेध ! ० । (१२) ० कूर्म यह पाँच उपादान-स्वर्णों^२ का नाम है, जैसे कि—रूप-उपादान-स्वन्व, वैदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ० । ‘कूर्मको फेंक दे’—अर्थात् पाँच उपादान-स्वर्णोंको छोड़, सुमेध ! ० । (१३) ० अतिसूना यह पाँच काम-गुणों (= भोगों) का नाम है, (जैसे कि) इष्ट कान्त मनाप = प्रिय, कमनीय, रंजनीय वस्तुद्वारा विशेष रूप ०, श्रोत्र-विशेष शब्द ०, घ्राण-विशेष शब्द ०, जिह्वा, विशेष रस-इष्ट, कान्त, मनाप = प्रिय, कमनीय = रंजनीय काय-विशेष स्पर्श ०, विज्ञान, विशेष रस-इष्ट, कान्त, मनाप = प्रिय, कमनीय = रंजनीय काय-विशेष स्पर्श ० । ‘अतिसूना फेंक दे’—पाँच कामगुणों को छोड़, सुमेध ! ० । (१४) मातपेशी यह नन्दी = रागका नाम है । ‘मातपेशी फेंक दे’—नन्दी रागको छोड़ दे, सुमेध ! ० । (१५) भिन्नु ! नाम यह वीणास्व (= अहंत्) भिन्नुका नाम है । रहने दे मागको, मत उसे ब्रह्मा दे, मागको नमस्कार कर, यह इसका अर्थ है । ”

भगवान् ने यह कहा, तन्तुष्टो जायुमान् कुमार-काश्यपने भगवान् के भाषणका अभि-नन्दन किया ।

^१ पछि कहे गयेकी वास्तुति ।

^२ रूप आदि पाँच स्वरूपोंमें व्यक्ति के अङ्गका विषयवाला अष्ट उपादान-स्वर्ण कहा जाता है ।

२४-रयविनीत-सुत्तन्त (१३।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें कलन्दक-निचाप वैष्णवतमें विहार करते थे। तब बहुतसे जातिभूमिक (= भगवान्‌की जन्मभूमि कपिल वस्तुमें रहनेवाले) जातिभूमि (= कपिल-वस्तु)में वर्षावास कर, जहाँ भगवान्‌ थे, वहाँ गये। जाकर भगवान्‌की अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे उन भिक्षुओंको भगवान्‌ने यह कहा—

“भिक्षुओ ! जातिभूमिमें जातिभूमिके भिक्षुओंका कौन ऐसा सम्भावित (= प्रतिष्ठित) भिक्षु है, जो स्वयं अक्षेप्य (= निर्लोभ) हो, और भिक्षुओंके लिये अक्षेप्य-कथा (= निर्लोभोपनके उप-देश)का कहनेवाला हो; स्वयं सन्तुष्ट हो, और भिक्षुओंके लिये सन्तोष-कथाका करनेवाला हो; स्वयं प्रविचिक (= एकान्त-चिन्तनशील) हो, * प्रविचिक-कथा *; स्वयं असंस्पृष्ट (= अतल्लस्य) हो, * असंसर्ग-कथा *; स्वयं आरब्ध-वीर्य (= उद्योगी) हो, * वीर्यारम्भ-कथा *; स्वयं शील-सम्पन्न (= सदाचारी) हो, * शील-सम्पदा-कथा *; स्वयं समाधि-सम्पन्न हो, * समाधि-सम्पदा-कथा *; स्वयं प्रज्ञा-सम्पन्न हो, * प्रज्ञा-सम्पदा-कथा *; स्वयं विमुक्ति (= मुक्ति)-सम्पन्न हो, * विमुक्ति-सम्पदा-कथा *; स्वयं विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न (= मुक्तिके ज्ञानका साक्षात्कार जिसने कर लिया) हो, * विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन-सम्पदा-कथा *; जो सम्यग्चारियों (= सद्दर्शनियों)के लिये अववादक (= उपदेशक), = विज्ञापक = सन्दर्शक, समादपक = समुत्तेजक, सम्ग्रहर्षक (= उत्साह देनेवाला) हो ?”

“अन्ते ! जाति-भूमिमें, आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र है, जाति भूमिके सम्यग्चारि भिक्षुओंके ऐसे सम्भावित है, जो स्वयं अक्षेप्य * सम्ग्रहर्षक है ।”

उस समय आयुष्मान् सारिपुत्र भगवान्‌के पास (= अवस्थित)में बैठे हुए थे। तब आयुष्मान् सारिपुत्रको ऐसा हुआ—“जहो ! लाभ है (= धन्य है) आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र को, सुलब्ध (= सुन्दर तौरसे मिले है) लाभ आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको, जिसकी प्रशंसा समझ समझ कर विश सम्यग्चारि (= गुरु-भाई) शालाके सामने कर रहे हैं; और शाला (= बुद्ध) उसका अनुमोदन करते हैं। क्या कभी हमारा आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रके साथ समागम होगा, कभी कुछ कथा-संलाप होगा !”

तब भगवान् राजगृहमें यथेच्छ विहार कर, जिधर आवस्ती है, उधर चारिका (= रासत) के लिये चल पड़े। क्रमशः चारिका करते जहाँ आवस्ती है, वहाँ पहुँचे। वहाँ भगवान् आवस्ती में जनाय-पिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रने सुना,

* कपिलके पैरा जैसा ।

कि भगवान् आकस्तीमें पहुँच गये हैं, (और) • जेतवनमें विहार करते हैं । तब आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र अपने-आसन संभालकर, पात्र-बीवर ले निधर आवस्ती है, ऊपर चारिकाके लिये चल पड़े । क्रमशः धारिका करते जहाँ आवस्ती, अनाथ-पिंडिका आराम जेतवन, (और) जहाँ भगवान् ये वहाँ पहुँचे । पहुँचकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठे । एक ओर बैठे आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको भगवान्ने धार्मिक कथा द्वारा संदर्शित=समादित=समुत्तेजित सम्प्रहर्षित किया । तब आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र भगवान्की धार्मिक कथा द्वारा • सम्प्रहर्षित हो, भगवान्के भाषणका अभिनन्दन = अनुमोदन कर, आसनसे उठ भगवान्को अभिवादनकर, प्रदक्षिणाकर, जहाँ अन्धवन है, वहाँ दिनके विहारके लिये गये ।

तब कोई भिक्षु... आयुष्मान् सारिपुत्रके पास जाकर... यह बोला—“आवुस सारिपुत्र ! जिन पूर्ण मैत्रायणीपुत्र... भिक्षुका आप बराबर नाम लिया करते थे, वह भगवान्की धार्मिक कथा द्वारा • प्रहर्षित हो, • भगवान्को अभिवादनकर • जहाँ अन्धवन है, वहाँ दिनके विहारके लिये गये ।”

तब आयुष्मान् सारिपुत्र शीघ्रतासे आसन ले आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रके पीछे (डनका) शिर देखते चल पड़े । तब आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र अन्धवनमें घुसकर एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये बैठे । आयुष्मान् सारिपुत्र भी अन्धवनमें घुसकर एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये बैठे । तब आयुष्मान् सारिपुत्र सार्यकालको प्रतिसँल्लवन (= ध्यान) से उठ, जहाँ आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्र थे, वहाँ गये, जाकर आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रके साथ... (सपा-योग्य कुल प्रश्न पूछ) एक ओर... बैठ, आयुष्मान् सारिपुत्रने आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रसे यह कहा—

“आवुस ! हमारे भगवान्के पास (आप) महाचर्यवास करते हैं ?”

“हाँ, आवुस !”

“क्यों आवुस ! शील-विशुद्धि (= आपार-शुद्धि) के लिये भगवान्के पास महाचर्यवास करते हैं ?”

“नहीं, आवुस !”

“क्या फिर आवुस ! चित्त-विशुद्धिके लिये • ?”

“नहीं, आवुस !”

“क्या फिर • दृष्टि-विशुद्धि (= सिद्धान्त ठीक करने) के लिये • ?”

“नहीं, आवुस !”

“क्या फिर • सन्देह दूर करनेके लिये (= काँक्षा-वितरण-विशुद्धि) • ?”

“नहीं, आवुस !”

“क्या फिर • मार्ग-अमार्ग-ज्ञानके दर्शन (= समझ, साक्षात्कार) की विशुद्धिके लिये • ?”

“नहीं, आवुस !”

“क्या फिर • प्रतिपद् (= मार्ग)-ज्ञान-दर्शनकी विशुद्धिके लिये • ?”

“नहीं, आवुस !”

“क्या फिर • ज्ञान-दर्शनकी विशुद्धिके लिये ?”

“नहीं, आवुस !”

“आवुस ! ‘शील-विशुद्धिके लिये क्या आप भगवान्के पास महाचर्यवास करते हैं’, पहलेपर ‘नहीं आवुस !’ कहते हो । • ‘ज्ञान-दर्शनकी विशुद्धिके लिये क्या आप भगवान्के पास महाचर्यवास

करते हैं—पूछनेपर भी 'नहीं, आतुस !'—कहते हो । तो आतुस ! किसलिये भगवान्‌के पास आप ब्रह्मचर्यवास करते हैं ?'

"उपादान (= परिग्रह) रहित परिनिर्वाणके लिये आतुस ! मैं भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्य-वास करता हूँ ।"

"क्या आतुस ! शील-विशुद्धि उपादानरहित परिनिर्वाण है ?"

"नहीं, आतुस ।" ०^१

"क्या आतुस ! ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि उपादान-रहित परिनिर्वाण है ?"

"नहीं, आतुस !"

"क्या आतुस ! इन (ऊपर गिनाये) धर्मोंसे अलग है, उपादानरहित परिनिर्वाण ?"

"नहीं, आतुस !"

"क्या आतुस ! शील-विशुद्धि उपादानरहित परिनिर्वाण है ?—पूछनेपर 'नहीं आतुस !' कहते हो । ० । 'क्या आतुस ! इन धर्मोंसे अलग है, उपादान-रहित परिनिर्वाण ?'—पूछनेपर 'नहीं आतुस ० ।' तो फिर आतुस ! इस (आपके) कथनका अर्थ किस प्रकार समझना चाहिये ?"

"आतुस ! शील-विशुद्धिको यदि भगवान्‌ उपादानरहित परिनिर्वाण कहते, तो उपादान-रहित परिनिर्वाणहीको उपादानरहित परिनिर्वाण कहते । ०^१ । आतुस ज्ञान-दर्शन-विशुद्धिको यदि भगवान्‌ उपादान-रहित परिनिर्वाण कहते, तो उपादानरहित परिनिर्वाणहीको उपादान-रहित परिनिर्वाण कहते । आतुस ! इन धर्मोंसे अलग यदि उपादानरहित परिनिर्वाण होता, तो पृथग्जन (= निर्वाणका जनधिकारी) भी परिनिर्वाणको प्राप्त होगा । (क्योंकि) आतुस ! पृथग्जन इन धर्मोंसे अलग है । तो आतुस ! तुम्हें एक उपमा (= दृष्टान्त) कहता हूँ, उपमासे भी कोई कोई विज पुष्ट कहेंका अर्थ समझते हैं ।

"जैसे आतुस ! राजा प्रसेनजित् कोसलको आचस्तोमें बसते कोई अत्यावश्यक काम साकेतमें उत्पन्न हो जाये । (तब) उसके लिये आचस्तो और साकेतके बीचमें सात रथविनीत (= डाक) स्थापित करें । तब आतुस ! राजा प्रसेनजित् कोसल आचस्तोसे निकलकर अन्तःपुर (= राजमहल वाला भीतरी दुर्ग) के द्वारपर पहिले रथ-विनीत (= रथकी डाक) पर चढ़े, पहिले रथविनीतसे दूसरे रथविनीतको प्राप्त होवे, (वहाँ) पहिले रथविनीतको छोड़दे, और दूसरे रथविनीतपर आरुढ़ हो । दूसरे रथविनीतसे तृतीय रथविनीतको प्राप्त होवे, (वहाँ) द्वितीय रथविनीतको छोड़दे, और तीसरे रथविनीतपर आरुढ़ हो । ० चौथे ० । ० पाँचवें ० । छठे रथविनीतको छोड़दे, और सातवें रथविनीतपर आरुढ़ हो । सातवें रथविनीतसे साकेतके अन्तःपुर के द्वारपर पहुँच जाये । तब अन्तःपुरके द्वारपर प्राप्त उसे मित्र, अमात्य, ज्ञाति—साक्षोहित ऐसा पूँछे—'क्या महाराज ! इसी रथविनीतद्वारा आचस्तोसे (चलाकर) साकेतके अन्तःपुर द्वारपर पहुँच गये ? आतुस ! किस तरह उत्तर देनेपर राजा प्रसेनजित् (= प्रसेनदी) कोसलका डीक उत्तर होगा ?"

"आतुस ! इस प्रकार उत्तर देनेपर राजा प्रसेनजित् कोसलका उत्तर डीक उत्तर होगा—मुझे आचस्तोमें बसते मेरा कोई अत्यावश्यक काम साकेतमें उत्पन्न होगा । (तब) उसके लिये आचस्तो और साकेतके बीचमें सात रथविनीत स्थापित किये गये । तब मैं आचस्तोसे निकलकर ०^१ सातवें रथ-विनीतपर आरुढ़ हो सातवें रथविनीतसे साकेतके अन्तःपुर-द्वारपर पहुँच गया । इस प्रकार उत्तर देनेपर राजा प्रसेनजित् कोसलका उत्तर डीक उत्तर होगा ।"

^१ पहिलेको तरह दूसरा चाहिये ।

“ऐसे ही आहुस ! शील-विशुद्धि तभी तक (है) जब तक कि (पुरुष) चित्त-विशुद्धि-को (प्राप्त नहीं होता) ; चित्त-विशुद्धि तभी तक जब तक कि दृष्टि-विशुद्धि-को (प्राप्त नहीं होता) ; दृष्टि-विशुद्धि तभी तक जब तक कि कांक्षावितरण-विशुद्धि-को (प्राप्त नहीं होता) ; • जब तककि मार्गोन्मार्ग-ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि-को • ; • जब तक कि प्रतिपद्-ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि-को ; • जब तक कि ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि-को • , ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि तभी तक (है) जब तक कि उपादान-रहित परिनिर्वाण-को (प्राप्त नहीं होता) । आहुस ! अनुपादा (= उपादान-रहित) परिनिर्वाण-के लिये भगवान्-के पास ब्रह्मचर्य-वास करता हूँ ।”

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् सारिपुत्रने आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रसे यह कहा—“आयुष्मान्-का क्या नाम है; समझ-चारी आयुष्मान्-को (किस नामसे) जानते हैं ?”

“आहुस ! पूर्ण (मेरा) नाम है, मैत्रायणीपुत्र करके समझ-चारी मुझे जानते हैं ।”

“आश्चर्य है आहुस ! अद्भुत आहुस !! जैसे शास्ता (= हुद्द) के शासन (= उपदेश) को भली प्रकार जाननेवाला बहुधुत श्रावक गंभीर गंभीर प्रश्नोंको समझ समझ कर व्याख्यान करे, वैसे ही आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रने (व्याख्यान किया) । लाभ है समझ-चारियोंको, लाभ सुलभ हुआ समझ-चारियोंको, जो कि आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको दर्शन, और सेवनके लिये पाते हैं । केलपुत्र (= अंगोला) से भी यदि समझ-चारी आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको हावसे धारण करके दर्शन और सेवनके लिये पावें; उनको भी लाभ है, उनको भी लाभ सुलभ हुआ है । हमें भी लाभ है, हमें भी लाभ सुलभ हुआ है, जोकि हम आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रको दर्शन और सेवनके लिये पाते हैं ।”

ऐसा कहने पर आयुष्मान् पूर्ण मैत्रायणीपुत्रने आयुष्मान् सारिपुत्रसे यह कहा—“आयुष्मान्-का क्या नाम है; समझ-चारी आयुष्मान्-को (किस नामसे) जानते हैं ?”

“आहुस ! उपतिष्ठ मेरा नाम है, सारिपुत्र करके मुझे समझ-चारी जानते हैं ।”

“अहो ! भगवान्-के समान (= शास्त्र-कल्प) श्रावक (= हुद्द-क्षिप्य) से संलाप करते हुये भी मैं नहीं जान सका, कि (यह) आयुष्मान् सारिपुत्र है । यदि हम जानते कि यह आयुष्मान् सारिपुत्र है, तो इतना भी हमें न सूझ पड़ता । आश्चर्य आहुस ! अद्भुत आहुस !! जैसे शास्ताके शासनको समझ जाननेवाला बहुधुत श्रावक गंभीर गंभीर प्रश्नोंको समझ समझ कर व्याख्यान करे, वैसे ही आयुष्मान् सारिपुत्रने (व्याख्यान किया) । लाभ है समझ-चारियोंको, लाभ सुलभ हुआ समझ-चारियोंको • जो कि हम आयुष्मान् सारिपुत्रको दर्शन और सेवनके लिये पाते हैं ।”

इस प्रकार दोनों महानायों (= महावीरों) ने एक दूसरेके सुभाषितका समनुमोदन किया ।

२५-निवाप-मुत्तन्त (१।३।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिटिकके बाराम जेतवनमें विहार करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भदन्त !” (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! नैवापिक (= बहेलिया) सृगोंको (यह सोचकर) निवाप (सृगोंके शिकारके लिये जंगलके भीतर घोंये खेत) नहीं दोता, कि इस मेरे घोंये निवापको खाकर सृग दीर्घायु वर्णवान् (= सुन्दर) (हो) चिरकाल तक गुजारा करें। भिक्षुओ ! नैवापिक सृगोंके लिये (यह सोच) निवाप दोता है, कि सृग इस मेरे घोंये निवापको अनुप-खन्न (= खा कर) मूर्छित (= बेसुध) हो भोजन करेंगे, ...मूर्छित हो भोजन कर भदको प्राप्त होंगे, भदको प्राप्त हो प्रमादी होंगे; प्रमादी हो इस निवापके विषयमें स्वेच्छाचारी होंगे।

“भिक्षुओ ! पहिले सृगोंने नैवापिकके इस घोंये निवापको ...मूर्छित हो भोजन किया; ...मूर्छित हो भोजन कर भदको प्राप्त हुये, भदको प्राप्त (= मत्त) हो प्रमादी हुये; प्रमादी हो ...स्वेच्छाचारी हुये। इस प्रकार भिक्षुओ ! वह पहिले सृग नैवापिकके चमत्कार (= कदव-नुभाव)से मुक्त नहीं हुये।

“वहाँ भिक्षुओ ! दूसरे सृगोंने यह सोचा—‘जिन उन पहिले सृगोंने नैवापिकके इस घोंये निवापको ...मूर्छित हो भोजन किया ०’; नैवापिकके चमत्कारसे मुक्त नहीं हुये। क्यों न हम निवाप-भोजनसे सर्वथा ही विरत हो जायें, भयभोगसे विरत हो अरण्य-स्थानोंमें अवगाहन कर विहरें।’ (तब) वह निवाप-भोजनसे सर्वथा विरत हुये, भय-भोग (= भयपूर्ण भोग)से विरत हो अरण्य-स्थानोंको अवगाहन कर विहरने लगे। प्रीप्सके अन्तिम भासमें घास-पासी (= लृण-उद्क)के छय होनेसे, उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया। अत्यन्त दुर्बल कायावाले उन (सृगों)का बल-वीर्य नष्ट हो गया। बलवीर्यके नष्ट हो जाने पर नैवापिकके घोंये हुये उसी निवापको खानेके लिये लाँटे। उन्होंने ...मूर्छित हो भोजन किया ०’ इस प्रकार भिक्षुओ ! वह दूसरे सृग भी नैवापिकके चमत्कार (= जादू)से मुक्त नहीं हुये।

“भिक्षुओ ! तीसरे सृगोंने यह सोचा—‘जिन उन पहिले सृगोंने नैवापिकके इस घोंये निवापको ...मूर्छित हो भोजन किया ० मुक्त नहीं हुये। (तब) जिन उन दूसरे सृगोंने यह सोचा—०’ निवाप-भोजनसे सर्वथा विरत हुये ० यह दूसरे सृग भी नैवापिकके ... (फन्दे)से मुक्त नहीं हुये। क्यों न हम नैवापिकके घोंये इस निवापका काश्य छें। वहाँ आश्रय ले ...इस ...

^१ पीछे जाये पाठको फिर आकृष्टि ।

निवापको...अमूर्छित (= न वेमुच) हो भोजन करें, अमूर्छित हो भोजन करनेसे हम मदको प्राप्त न होंगे; मदको न प्राप्त होनेसे प्रमादी नहीं होंगे, प्रमादी न होनेसे नैवापिकके इस निवापमें स्वेच्छाचारी नहीं होंगे। (यह सोच) उन्होंने नैवापिकके बोधे उस निवापका आश्रय लिया। आश्रय ले...निवापको...अमूर्छित हो भोजन किया, ० मदको प्राप्त नहीं हुये, ० प्रमादी नहीं हुये, ० स्वेच्छाचारी नहीं हुये। तब भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्को यह हुआ—‘यह चौथे स्रग शठ पाखंडी (= केटुमी) है; यह तीसरे स्रग कदिमान परजन है; यह हम छोड़े निवापको खाते हैं, किन्तु हम इनके गमन-आगमनको नहीं जानते। क्यों न हम इस छोड़े निवापके सारे प्रदेशको घबे घबे डंडोंके रूखानसे चारों ओरसे घेर दें, जिसमें कि (इन) तीसरे स्रगोंके आश्रयको देखें; जहाँ पर कि वह पकड़े जा सकते हैं।’ (यह सोच) उन्होंने ० डंडोंके रूखानसे घेर दिया। (फिर) भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्ने तीसरे स्रगोंके आश्रय (= स्थान) को देखा, जहाँ कि वह पकड़े गये। इस प्रकार भिक्षुओ! वह तीसरे स्रग भी नैवापिकके... (कंदेसे) मुक्त नहीं हुये।

‘भिक्षुओ! चौथे स्रगोंने यह सोचा—‘जिन पहिले स्रगोंने ०^१ मूर्छित हो भोजन किया ०^१ मुक्त नहीं हुये। जिन दूसरे स्रगोंने ०^१, निवाप भोजनसे सर्वथा विरत हुये ०^१ मुक्त नहीं हुये। जिन तीसरे स्रगोंने ०^१ अमूर्छित हो भोजन किया ०^१ मुक्त नहीं हुये। क्यों न हम (जहाँ) आश्रय (= स्थान) ग्रहण करें, जहाँ नैवापिक और नैवापिक-परिषद्की गति नहीं है। जहाँ आश्रय ग्रहण कर नैवापिकके इस चौथे निवापको...अमूर्छित हो भोजन करें;...अमूर्छित हो भोजन करनेसे मदको न प्राप्त होंगे, ०^२। ०^२ ‘स्वेच्छाचारी न होंगे’ उन्होंने (तब) जहाँ नैवापिक और नैवापिक-परिषद्की गति न थी, वहाँ आश्रय ग्रहण किया। ० अमूर्छित हो भोजन किया ०^२ स्वेच्छाचारी नहीं हुये। तब भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्को यह हुआ—‘यह चौथे स्रग शठ (= सच) पाखंडी (= केटुमी) है, यह चौथे स्रग कदिमान् (= होशियार) परजन है। (यह) हमारे छोड़े निवापको भोजन करते हैं, किन्तु हम इनके गमन-आगमनको नहीं जानते। क्यों न हम ०^३ चारों ओरसे घेर दें; जिसमें कि चौथे स्रगोंके आश्रयको देखें; जहाँ पर कि वह पकड़े जा सकते हैं।’ (यह सोच) उन्होंने ० सारे प्रदेशको घेर दिया। (किन्तु) भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्ने चौथे स्रगोंके आश्रयको नहीं देखा पाया, जहाँ पर कि वह पकड़े जाते। तब भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्को यह हुआ—‘यदि हम चौथे स्रगोंको घटित (= रगड़) करेंगे, तो वह घटित हो दूसरोंको घटित करेंगे, और वह घटित हो दूसरोंको घटित करेंगे। इस प्रकार सारे स्रग इस चौथे निवापको छोड़ देंगे; क्यों न हम चौथे स्रगोंको उपेक्षा करें।’ (तब) भिक्षुओ! नैवापिक और नैवापिक-परिषद्ने चौथे स्रगोंको उपेक्षित किया। इस प्रकार भिक्षुओ! चौथे स्रग नैवापिकके... (कंदे) से छूटे।

‘भिक्षुओ! अर्थको समझानेके लिये मैंने यह उपमा (= उद्धान्त) कही है। भिक्षुओ! निवाप यह पाँच काम-गुणों (= भोगों) का नाम है;...नैवापिक यह पापो मारका नाम है;...नैवापिक-परिषद् यह मार-परिषद्का नाम है; भिक्षुओ! स्रग-समूह यह समण-ब्राह्मणोंका नाम है।

‘भिक्षुओ! उन पहले समण-ब्राह्मणोंने उस चौथे निवाप (अर्थात्) मारके इस लोक-वामिष (= विषयों) को...मूर्छित हो भोजन किया;...वह मूर्छित हो भोजन कर मदको प्राप्त

हुये, भवको प्राप्त हो प्रमादी हुये, प्रमादी हो मारके इस निवापमें, इस लोकाभिषमें स्वेच्छाचारी हुये । इस प्रकार भिक्षुओ ! वह पहिले अमण-ब्राह्मण मारके... (फंदे) से नहीं छूटे । जैसे कि वह पहिले सृग (ये), भिक्षुओ ! उन्होंने समान मैं (इन) पहिले अमण-ब्राह्मणको कहता हूँ ।

“भिक्षुओ ! दूसरे अमण-ब्राह्मणोंने यह सोचा—‘जिन उन प्रथम अमण-ब्राह्मणोंने मारके बोये इस निवापको = लोकाभिषको मूर्छित हो खाया ० । इस प्रकार ० वह ० मारके... (फंदे) से नहीं छूटे । क्यों न हम लोक-आभिष रूपी निवाप-भोजनसे सर्वथा ही विरत हो जावें, भव-भोगसे विरत हो अरण्य-स्थानोंको अवगाहन कर विहरें’ । (तब वह) लोक-आभिष रूपी निवाप-भोजनसे सर्वथा ही विरत हो गये, ० अरण्य स्थानोंको अवगाहन कर विहरने लगे—वह वहाँ शाकाहारी भी हुये, सर्वाँ (= श्यामाक)-भोजी भी हुये, नीवार (= तिन्नी) खाही भी हुये ०^१ (जमीन पर) पड़े फलोंके खानेवाले भी हुये । मोक्षके अन्तिम समयमें घास पानीके श्रव होनेसे ०^२ शय-वीर्य नष्ट हो जातेसे (उनकी) चित्तकी विसृक्ति (= मुक्ति = शांति) नष्ट होगई, चित्तकी विसृक्तिके नष्ट होने पर, लोक-आभिष रूपी मारके बोये उसी निवापको लौट कर खाने लगे । उन्होंने ० मूर्छित हो खाया ० । इस प्रकार भिक्षुओ ! वह दूसरे अमण-ब्राह्मण भी मारके... (फंदे) से नहीं छूटे । जैसे कि वह दूसरे सृग (ये) भिक्षुओ ! उन्होंने समान मैं (इन) दूसरे अमण-ब्राह्मणोंको कहता हूँ ।

“भिक्षुओ ! तीसरे अमण-ब्राह्मणोंने यह सोचा—‘जिन उन प्रथम अमण-ब्राह्मणोंने ० मूर्छित हो भोजन किया ०^३ (वह) मारके... (फंदे) से नहीं छूटे । ० दूसरे अमण-ब्राह्मण ०^४ भोजनसे सर्वथा विरत हो गये ०^५,—(फिर) उसी निवापको लौट कर खाने लगे ०^६ वह मारके... (फंदे) से नहीं छूटे । क्यों न हम मारके बोये लोकाभिष-रूपी इस निवाप का आश्रय लें । वहाँ आश्रय ले... इस... लोकाभिष रूपी निवापको अमूर्छित (= न-वेसुष) हो भोजन करें । ०^७ लोकाभिष रूपी निवापोंमें स्वेच्छाचारी नहीं होंगे ।’ (तब) उन्होंने मारके बोये लोक-आभिष-रूपी निवापका आश्रय लिया । आश्रय लेकर... निवापको अमूर्छित हो भोजन किया ०^८ वह मारके बोये लोकाभिष-रूपी निवापमें स्वेच्छाचारी नहीं हुये ; किन्तु उनकी यह दृष्टियाँ (= धारणायें) हुई—(१) ‘लोक आश्रय (= नित्य) है’, (२) ‘लोक अशाश्रय है’, (३) ‘लोक अन्तवान् है’, (४) ‘अन्त-रहित (= अमन्तवान्) लोक है’, (५) ‘सोई जीव है सोई शरीर है’, (६) ‘जीव अन्य, शरीर अन्य है’, (७) ‘तथागत (= बुद्ध, मुक्त) मरनेके बाद होते हैं’, (८) ‘तथागत मरनेके बाद नहीं होते’, (९) ‘तथागत मरनेके बाद होते भी हैं, नहीं भी होते हैं’, (१०) ‘तथागत मरनेके बाद न होते हैं, न नहीं होते हैं’ ।—इस प्रकार भिक्षुओ ! वह तीसरे अमण-ब्राह्मण भी मारके... (फंदे) से नहीं छूटे । जैसे कि वह तीसरे सृग (ये), भिक्षुओ ! उन्होंने समान मैं (इन) तीसरे अमण-ब्राह्मणोंको समझता हूँ ।

“भिक्षुओ ! उन चौथे अमण-ब्राह्मणोंने सोचा—‘जिन उन प्रथम अमण-ब्राह्मणोंने ० मूर्छित हो भोजन किया ० (वह) मारके... (फंदे) से नहीं छूटे । जो वह दूसरे अमण ब्राह्मण ० भोजनसे सर्वथा विरत होगये ० (फिर) उसी निवापको लौटकर खाने लगे ० वह (भी) मारके... (फंदे) से नहीं छूटे । जो वह तीसरे अमण-ब्राह्मण ० अमूर्छित हो भोजन करने लगे ०, उनकी यह दृष्टियाँ (= धारणायें) हुई—०, (और) वह तीसरे अमण-ब्राह्मण भी मारके... (फंदे) से नहीं छूटे । क्यों न हम वहाँ आश्रय ग्रहण करें, वहाँ मार और मार-परिपक्व

^१ देखो पृष्ठ ४८-४९ । ^२ देखो पृष्ठ ९८ । ^३ ऊपरकी आकृति । ^४ देखो पृष्ठ ९९ ।

की गति नहीं है। वहाँ आश्रय ग्रहण कर मारके धोये इस लोकामिष-रूपी निवापको...अमूर्छित हो भोजन करें।...अमूर्छित हो भोजन करनेसे भवको न प्राप्त होंगे, ० स्वेच्छाचारी न होंगे। (तब) उन्होंने वहाँ आश्रय ग्रहण किया जहाँ मार और मार-परिषद्की गति नहीं। वहाँ आश्रय ग्रहण कर...अमूर्छित हो उन्होंने मारके धोये लोकामिष-रूपी निवापको भोजन किया। ० लोकामिष-रूपी निवापमें स्वेच्छाचारी नहीं हुये। इस प्रकार भिक्षुओं! वह चतुर्थे श्रमण-ब्राह्मण मारके... (कंदे) से छूटे। जैसे भिक्षुओं! चौथे सुग धे, उन्हींके समान मैं इन चौथे श्रमण-ब्राह्मणोंको कहता हूँ।

‘भिक्षुओं! कैसे मार और मार-परिषद्की गति नहीं होती?—(१) यहाँ भिक्षुओं! भिक्षु कामोंसे रहित बुरी बातोंसे रहित ०^१ प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। भिक्षुओं! इसे कहते हैं—‘भिक्षुने मारको अंधा कर दिया, मार-चक्षुसे अपद् (= अगम्य) बन कर वह पापीसे अदर्शन हो गया। (२) और फिर ०^२ द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन हो गया। (३) और फिर ०^३ तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन हो गया। (४) और फिर ०^४ चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन हो गया। (५) और फिर ०^५—‘आकाश अनन्त है’—इस आकाश-आनन्द-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन होगया। (६) और फिर ०^६ विज्ञान-आनन्द-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन हो गया। (७) और फिर ०^७ आर्किचन्द्रायतनको प्राप्त हो विहरता है। ० अदर्शन होगया। (८) और फिर ०^८ नैव-संज्ञा-न-असंज्ञा-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। मार-चक्षुसे अपद् (= अगम्य) बन कर पापीसे अदर्शन हो गया; लोकसे पिसचिक (= अनासक्त) हो उत्तीर्ण होगया है।’

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के माथणका अनुसोदन किया।

२६—पास-रासि(= अरिय-परियेसन)-सुत्तन्त (१।३।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। भगवान् पूर्वाह्णके समय पहिनकर, पात्र चीवर ले श्रावस्तीमें पिड(= भिक्षाचार)के लिये प्रविष्ट हुये। तब बहुतसे भिक्षु “आयुष्मान् आनन्दके पास” जाकर “बोले—

“आयुस आनन्द ! भगवान् के सुखसे धर्मोपदेश सुने देर हो गई। अच्छा हो आयुस आनन्द ! हमें भगवान् के सुखसे धर्मोपदेश सुननेको मिले।”

“तो आयुष्मानो ! जहाँ रम्यक (= रमक) ब्राह्मणका आश्रम है, वहाँ चलो, शायद भगवान् के सुखसे धर्मोपदेश सुननेको मिले।”

“अच्छा, आयुस !” (कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् आनन्दको उत्तर दिया।

तब भगवान्ने श्रावस्तीमें पिडचार कर, भोजनोपरान्त पिडघातले निवटकर आयुष्मान् आनन्दको संबोधित किया।—

“बलो, आनन्द ! दिनके विहारके लिये (वहाँ चलो) जहाँ, मृगारमाता (= भिगार-माता=विशाखा)का प्रासाद पूर्वाराम है।”

“अच्छा, भन्ते !” (कह) आयुष्मान् आनन्दने भगवान्को उत्तर दिया।

तब भगवान् आयुष्मान् आनन्दके साथ दिनके विहारके लिये मृगारमाताके प्रासाद पूर्वाराम गये। तब भगवान्ने सायंकाल प्रतिरोहयन (= एकान्तचिन्तन, भावना)में उठ आयुष्मान् आनन्दको संबोधित किया—

“बलो, आनन्द ! मात्र-परिसिचन (= नहाने)के लिये जहाँ पूर्वकोष्ठक है, वहाँ (चलो)।”

“अच्छा, भन्ते !” (कह) आयुष्मान् आनन्दने भगवान्को उत्तर दिया।

तब भगवान् आयुष्मान् आनन्दके साथ “पूर्वकोष्ठक गये। पूर्वकोष्ठकमें मात्र-परिसिचन कर, निकल कर शरीरको सुखाते एक चीवर धारण किये लड़े हुये। तब आयुष्मान् आनन्दने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! यह पासमें रम्यक ब्राह्मणका आश्रम है। भन्ते ! रम्यक ब्राह्मणका आश्रम रमणीय है=० प्रसादनीय है। अच्छा हो भन्ते ! यदि भगवान् कृपाकर जहाँ रम्यक ब्राह्मणका आश्रम है (वहाँ) चलो।”

भगवान्ने मौन रह स्वीकृति दी। तब भगवान् जहाँ रम्यक ब्राह्मणका आश्रम था, (वहाँ) गये। उस समय बहुतसे भिक्षु रम्यक ब्राह्मणके आश्रममें धर्मकथा कहते बैठे थे। भगवान् कथा की समाप्तिकी प्रतीक्षा करते बाहरवाले द्वारकोष्ठक (= फाटक) पर ठहरे। तब भगवान्ने कथाकी समाप्ति जानकर काँसकर जंजीर (= अंगुली) खटखटाई। उन भिक्षुओंने भगवान्के लिये द्वार खोल

दिया। भगवान् रम्यक भाषणके आश्रममें प्रविष्ट हो बिते आसन्नपर बैठे। बैठकर भगवान्ने भिक्षुओंको सम्बोधित किया—

“भिक्षुओ ! किस कथाको लेकर तुम बैठे थे, क्या तुम्हारे बीचमें कथा उठी थी ?”

“अन्ते ! भगवान्के सम्बन्धकी ही धार्मिक-कथा लेकर हम बैठे थे, भगवान्के विषयकी कथा ही हमारे बीचमें उठी थी। इतनेमें भगवान् पहुँच गये।”

“साधु, भिक्षुओ ! भिक्षुओ ! अद्वारपूर्वक घरसे बेघर हो प्रमत्तित हुये तुम कुल-पुत्रोंके लिये यही उचित है, कि तुम धार्मिक-कथामें बैठो। एकत्रित होनेपर भिक्षुओ ! तुम्हारे लिये दो ही कर्तव्य है—(१) धार्मिक कथा, या (२) आर्य तूष्णीभाव (= उत्तम मौन)।

“भिक्षुओ ! दो प्रकारकी पर्येषणा (= शोच, गवेषणा) है—(१) आर्य (= उत्तम, ज्ञानियोंकी) पर्येषणा, और (२) अनार्य पर्येषणा। क्या है भिक्षुओ ! अनार्य पर्येषणा ?—भिक्षुओ ! कोई (पुरुष) स्वयं जाति-धर्मा (= जन्मके स्वभाववाला) होते जातिधर्मका ही पर्येषण (= शोच) करता है। स्वयं जराधर्मा (= बूढ़ा होना जिसका स्वभाव है) होते, जराधर्मका ही पर्येषण करता है। स्वयं व्याधिधर्मा ०। स्वयं मरण-धर्मा ०। स्वयं शोक-धर्मा ०। स्वयं संक्षेप-धर्मा (= मल)-धर्मा संक्षेप धर्मका ही पर्येषण करता है।

“भिक्षुओ ! किसको जातिधर्मा कहे ?—पुत्र, भार्या भिक्षुओ ! जातिधर्मा है; दासी, दास जातिधर्मा है; भेद-बकरी जातिधर्मा है; सुती-सुखर (= कुकुट-शूकर) ०; हाथी, गाय, घोड़ा-बोकी ०; सोना-चाँदी। भिक्षुओ ! यह उपधिर्मा (= योग-पदार्थ) जातिधर्मा है, इनमें यह (पुरुष) प्रथित, मूर्खित, आसक्त हो, स्वयं जातिधर्मा हो दूसरे जाति-धर्मा (पदार्थों)की पर्येषणा करता है।

“भिक्षुओ ! किसको जराधर्मा कहे ?—पुत्र, भार्या ० । जराधर्मा (पदार्थों)की पर्येषणा करता है।

“० व्याधि-धर्मा ० ? ० ।

“० मरण-धर्मा ० ? ० ।

“० शोक-धर्मा ० ? ० ।

“० संक्षेप-धर्मा ० ? ० ।

“भिक्षुओ ! क्या है आर्य पर्येषणा ?—भिक्षुओ ! कोई (पुरुष) स्वयं जातिधर्मा होते, जाति-धर्ममें दुष्परिणाम देख, अ-जात (जन्म-रहित), अनुत्तर (= अतीतम), योग-क्षेम (= मंगलमय) निर्वाणकी पर्येषणा करता है। स्वयं जराधर्मा, जराधर्ममें दुष्परिणाम देख, अ-जर (= जरा-रहित) अनुत्तर, योग-क्षेम, निर्वाणकी पर्येषणा करता है। स्वयं व्याधिधर्मा ० व्याधि-रहित ० स्वयं मरण-धर्मा ० अ-मृत ० स्वयं शोक-धर्मा ० अ-शोक ०। स्वयं संक्षेप-धर्मा ० अ-संक्षिप्त (= मल-रहित) अनुत्तर, योगक्षेम, निर्वाणकी पर्येषणा करता है। भिक्षुओ ! यह है आर्य पर्येषणा।

“मैं भिक्षुओ ! सम्बोध (= बुद्ध-पद-प्राप्ति)से पूर्व, अ-संबुद्ध बोधिसत्त्व (= बुद्ध-पदका दम्भेद्वार) होते समग्र, स्वयं जातिधर्मा होते जाति-धर्मा (पदार्थों)की ही पर्येषणा करता था ०। जराधर्मा ०। ० व्याधि-धर्मा ०। ० मरणधर्मा ०। ० शोकधर्मा ०। ० संक्षेप-धर्मा ०। तब मुझे—ऐसा हुआ—‘क्या मैं जाति-धर्मा होते जाति-धर्मा (पदार्थों)की पर्येषणा करता हूँ ? ० ० संक्षेपधर्मा ० ? क्यों न मैं स्वयं जाति-धर्मा होते जातिधर्मा (पदार्थों)में दुष्परिणाम देख,

अ-जाव, अजुत्तर, योगक्षेम, निर्वाणकी पर्येषणा कहें ? ० ० क्यों न मैं स्वयं संक्लेश-धर्मा होते, संक्लेश-धर्मा (पदार्थों) में दुस्परिणाम देख, अ-संछिद्र (= निर्मल), अजुत्तर, योगक्षेम, निर्वाण की पर्येषणा कहें ?

“तब मैं भिक्षुओं ! दूसरे समय तब, जलन्त काळे केसोंवाला, भद्र (= सुन्दर) वीपनसे युक्त, पहिले धयस्में अनिच्छुक भाता-पिताको अक्षुमुख रोते (जोष), केश श्मश्रु (= दाढ़ी-मुँछ) हुँका, काषाय वस्त्र पहिन धरसे वेधरधन प्रमजित (= संन्यासी) हुआ । सो इस प्रकार प्रमजित हो किंकुमाल (= क्या उत्तम है) की गवेषणा करते, उत्तम शान्ति-पदको खोजते (= पर्येषणा करते) जहाँ आलार कालाम रहते थे, वहाँ पहुँचा । पहुँचकर आलार कालामसे यह बोला—‘आवुस कालाम ! इस (तुम्हारे) धर्म-विनय (= धर्म) में ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हूँ । ऐसा कहनेपर भिक्षुओं ! आलार कालामने मुझे यह कहा—‘विहरो आवुष्मान् ! यह ऐसा धर्म-विनय है, (जहाँ) विज्ञ-गुरुष न चिरमें अपने आचार्यक (= विशेषज्ञता) को स्वयं जानकर साक्षात्कर प्राप्तकर विहरेंगे’ । सो मैंने भिक्षुओं ! न चिरमें ही—क्षिप्रही उस धर्म (= अभ्यास) को प्राप्तकर लिया । सो मैं भिक्षुओं ! उतने मात्रसे ओठ लगे मात्रसे, कहने-कहाने आशये ज्ञानवाद भी ज्ञाप्ता था, ‘मैं स्वचिर (= दृढ़ोंके) वादको जानता देखता (= वृद्धता) हूँ—दावा करता था, और दूसरे भी । तब भिक्षुओं ! मुझे ऐसा हुआ—आलार कालाम ‘अद्वा मात्रसे मैं इस धर्मको स्वयं जानकर, साक्षात्कर, प्राप्तकर, विहरता हूँ’—वह नहीं बतलाता । जरूर आलार कालाम इस धर्मको जानकर देखकर विहरता है । तब मैंने भिक्षुओं ! ‘आलार कालाम’ के पास जाकर—‘यह कहा—‘आवुस कालाम ! कितना तक इस धर्मको स्वयं जानकर साक्षात्कर, प्राप्तकर हमें बतलाते हो ?’ ऐसा कहनेपर भिक्षुओं ! आलार कालामने आर्किचन्यायतन^१ बतलाया ।

“तब भिक्षुओं ! मुझे ऐसा हुआ—‘आलार कालामके पास ही अद्वा नहीं है, मेरे पास भी अद्वा है । आलार कालामके पास ही वीर्य (= उद्योग) नहीं है, मेरे पास भी वीर्य है । ० स्मृति ० । ० समाधि ० । ० प्रज्ञा ० । क्यों न मैं, जिस धर्मको—‘आलार कालाम स्वयं जानकर साक्षात् कर, प्राप्तकर विहरता हूँ’—कहता है, उस धर्मके साक्षात्के लिये प्रयत्न कहें । तब मैं भिक्षुओं ! न चिरमें—क्षिप्रही उस धर्मको स्वयं जान, साक्षात् कर, प्राप्तकर विहरने लगा । तब मैं भिक्षुओं ! आलार कालामके पास जाकर—‘यह बोला—‘आवुस कालाम ! इतने ही मात्र इस धर्मको स्वयं जान, साक्षात् कर, प्राप्तकर हमें बतलाते हो ?’

“इतने ही मात्र आवुस ! मैं इस धर्मको स्वयं जानकर, साक्षात् कर, प्राप्तकर बतलाता हूँ ।”

“मैं भी आवुस ! इतने मात्र इस धर्मको स्वयं जानकर ० विहरता हूँ ।”

“लाम है हमें आवुस ! सुन्दर लाम हुआ हमें आवुस ! जो हम आप जैसे समझचारोंको देखते हैं, (जोकि) जिस धर्मको मैं स्वयं जानकर ० बतलाता हूँ, उस धर्मको तुम स्वयं जानकर ० विहरते हो । जिस धर्मको तुम स्वयं जानकर ० विहरते हो, उस धर्मको मैं स्वयं जानकर ० बतलाता (= उपदेसता) हूँ । जिस धर्मको मैं जानता हूँ, उस धर्मको तुम जानते हो । जिस धर्मको तुम जानते हो, उस धर्मको मैं जानता हूँ । इस प्रकार जैसे तुम, तैसा मैं, जैसा मैं वैसे तुम । आओ अब आवुस ! (हम) दोनों इस गग (= सम्वासियोंकी जमावत) को धारण करें ।”

“इस प्रकार भिक्षुओं ! आलार कालामने आचार्य होते भी मुझ अन्तेवासी

(= शिष्य) को सम्मान (पद) पर स्थापित किया । वही सम्मानसे सम्मानित किया । तब भिक्षुओं ! मुझे ऐसा हुआ—‘यह धर्म न निर्वेद (= उदासीनता) के लिये (है), न विराग के लिये, न निरोध के लिये, न उपशान्त के लिये, न अभिज्ञा (= दिव्य ज्ञान) के लिये, न संबोध के लिये, न निर्वाण के लिये है, केवल आर्किचन्य-आयतन (= दिव्य स्थान) में उत्पन्न होने के लिये है ।’ तब मैं उस धर्म को अपयांत (समझ) कर, उस धर्म से विरक्त हो चल दिया ।

‘सो मैं भिक्षुओं ! किङ्कशक-गवेयी, अनुत्तर शक्तिके श्रेष्ठ पद को खोजते जहाँ उद्रक (= उद्रक) रामपुत्र था, वहाँ गया । जाकर उद्रक रामपुत्र से बोला—

“आहुस राम ! इस धर्म-विनयमें मैं ब्रह्मचर्य-वास करना चाहता हूँ ।”

“ऐसा कहने पर भिक्षुओं ! उद्रक रामपुत्र ने मुझे यह कहा—‘विहरो आहुष्मान् ! यह ऐसा धर्म-विनय है, जिसमें विल पुरुष न-चिरमें अपने आचार्यक (= विशेषज्ञता) को स्वयं जानकर, साक्षात् कर, प्राप्तकर विहरेगा ।” ०^१ । तब मैंने भिक्षुओं ! “उद्रक रामपुत्र” के पास जाकर यह कहा—‘आहुस राम ! कितने तक इस धर्म को स्वयं जानकर ० हमें बतलाते हो ?’ ऐसा कहने पर भिक्षुओं ! उद्रक रामपुत्र ने नैवसंज्ञा-नाऽसंज्ञा-आयतन^२ बतलाया ।

“तब भिक्षुओं ! मुझे ऐसा हुआ—‘उद्रक रामपुत्र के पास ही भ्रष्टा नहीं है, मेरे पास भी भ्रष्टा है । ० धौर्य ० । ० स्मृति ० । ० समाधि ० । ० प्रज्ञा ० । क्यों न मैं ०^३ । तब मैं उद्रक रामपुत्र के पास जाकर बोला—

“आहुस राम ! इतने ही मात्र इस धर्म को स्वयं जानकर ० हमें बतलाते हो ?”

“इतना ही मात्र आहुस ! मैं इस धर्म को स्वयं जानकर ० बतलाता हूँ ।”

“मैं भी आहुस ! ०^४ लाभ है आहुस ! ०^५ । इस प्रकार जिस धर्म को मैं स्वयं जानकर ० बतलाता हूँ, उस धर्म को तुम स्वयं जानकर ० विहस्ते हो । जिस धर्म को तुम स्वयं जानकर ० विहस्ते हो, उसे राम स्वयं जानकर ० बतलाता है ०^६ । इस प्रकार जैसा राम है, वैसे तुम हो, जैसे तुम (हो) तैसा राम है । ०^७ आओ आहुस ! हम दोनों इस गण (= भिक्षुओं की जमावत) को धारण करें ।”

“इस प्रकार भिक्षुओं ! समझाचारी होते ही, “मुझे आचार्य के पद पर स्थापित किया, (और) वही सम्मानसे सम्मानित किया । तब भिक्षुओं मुझे ऐसा हुआ—‘यह धर्म न निर्वेद के लिये है ०^८ । सो मैं भिक्षुओं ! उस धर्म को अपयांत (समझ) कर, उस धर्म से विरक्त हो चल दिया ।

‘सो मैं भिक्षुओं ! किङ्कशक-गवेयी ० शक्तिके श्रेष्ठ पद को खोजते, भगधर्म कमलः चारिका (= रामत) करते जहाँ उरुवेला सेनानी निगम था वहाँ पहुँचा । वहाँ मैंने एक रमणीय = प्रासादिक भूमि-भागमें, वन बीचमें एक नदी को बहते देखा जिसका घाट, रमणीय और श्वेत था । चारों ओर फिरने के लिये गाँव थे । वहाँ मुझे यह हुआ—यह भूमि-भाग रमणीय है । यह पनसंबंध प्रासादिक है । श्वेत, सुन्दर घाटवाली रमणीय नदी^९ बह रही है । चारों ओर फिरने के लिये गाँव हैं । परमार्थमें उद्योगी कुलपुत्र के लिये ध्यान-रत होने के वास्ते यह बहुत उपयोगी है । तब मैं, भिक्षुओं !—वही ध्यान योग्य स्थान है (सोच) वहाँ बैठ गया । सो भिक्षुओं ! स्वयं जन्मने के स्वभाववाले मैंने जन्मने के दुष्परिणाम को जानकर अजन्मा, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को खोजता अजन्मा, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को पा लिया । स्वयं जरा-धर्मवाला होते मैंने जरा-धर्म के दुष्परिणाम को जानकर जरा-रहित, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को खोज अजर, अनुपम, योगक्षेम

^१ देखो पृष्ठ १०४ । ^२ देखो पृष्ठ २७, २८ । ^३ देखो ऊपर । ^४ वर्तमान नीजजन (गया) ।

निर्वाणको पालिया । स्वयं व्याधि-धर्मा ० व्याधि धर्म-रहित ० स्वयं मरण-धर्मा ० ज्ञानर ० । स्वयं शोकधर्म-बाला ० शोकरहित ० । स्वयं संक्लेश (= मल)-युक्त ० संक्लेश रहित ० । मेरा ज्ञान, दर्शन (= साक्षात्कार) बन गया, मेरे चित्तकी मुक्ति अबल होगई; यह अन्तिम जन्म है, फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं (होगा) ।

“तब भिक्षुओ ! मुझे ऐसा हुआ—

“मैंने गंभीर, दुर्दर्शन, दुर्-ज्ञेय, शांत, उत्तम, तर्कित अप्राप्य, निपुण, पण्डितों द्वारा जानने योग्य, इस धर्मको पालिया । यह जनता काम-वृणा (= आलस्य) में रमण करने वाली, काम-रत, काममें प्रसक्त है । काममें रमण करनेवाली इस जनताके लिये, यह जो कार्य-कारण रूपी प्रतीत्य-समुत्पाद है, वह दुर्दर्शनीय है । और यह भी दुर्दर्शनीय है, जो कि यह सभी संस्कारोंका शमन, सभी सम्मोहोंका परित्याग, वृणा-क्षय, विराग, निरोध (= दुःख-निरोध), और निर्वाण है । मैं यदि धर्मोपदेश भी करूं और दूसरे उसको न समझ पावें, तो मेरे लिये यह तरदुद् और पीडा (मात्र) होगी ।

“उसी समय मुझे पहिले फभी न सुनी यह अद्भुत गायत्री सुन पड़ी—

‘यह धर्म पाया कहसे, इसका न युक्त प्रकाशना ।

नहिं राग-द्वेष-प्रलितको है सुकर इसका जानना ॥

गंभीर उन्नी-वार-युत दुर्दृश्य सूक्ष्म प्रवीणका ।

तम-पुंज-कादित रागरतद्वारा न संभव देखना ॥’

“मेरे ऐसा समझनेके कारण, मेरा चित्त धर्म-प्रचारकी ओर न कुछ जल्प-उत्सुकताकी ओर झुक गया । तब सहापति ब्रह्माने मेरे चित्तकी बातको जानकर क्या-किया—‘लोक नाम हो जायगा रे ! लोक विनाश हो जायगा रे ! जब तथामत अर्हत् सम्बद्ध-संयुक्तका चित्त धर्म-प्रचारकी ओर न झुक, जल्प-उत्सुकता (= उदासीनता) की ओर झुक जाये’ (ऐसा ब्यालकर) सहापति ब्रह्मा, जैसे बलवान् पुरुष (बिना परिश्रम) कौली बाँहको समेट ले, समेटो बाँहको फैलादे, ऐसेही ब्रह्मलोकमें जनार्दन हो, मेरे सामने प्रकट हुआ । फिर सहापति ब्रह्माने उपरना (= चर) एक कंधेपर करके, दाहिने जानुको पृथिवीपर रख, जिधर मैं या उधर हाथ जोड़, कहा—‘भस्ते ! भगवान् धर्मोपदेश करें, सुगत ! धर्मोपदेश करें । अल्प मलवाले प्राणी भी हैं, धर्मके न सुननेसे वह नष्ट हो जायेंगे । (उपदेश करें) धर्मको सुननेवाले (भी होंगे)’ । सहापति ब्रह्माने यह कहा, और यह कहकर यह भी कहा—

‘भगवन् प्रलिन चित्तवालोंसे चिन्तित, पहिले अशुद्ध धर्म पैदा हुआ । अशुद्धके इसको खोलनेवाले विमल (पुरुष) द्वारा जाने गये इस धर्मको (अब लोक) सुने । पथरीले पर्वतके शिखरपर खड़ा (पुरुष) जैसे चारों ओर जनताको देखे । उसी तरह हे सुमेध ! हे सर्वत्र नेत्र वाले ! धर्मरूपी महलपर चढ़ सब जनताको देखो । हे शोक-रहित ! शोक-निमग्न जन्म-व्रतासे पीडित जनताकी ओर देखो । उठो वीर ! हे संशयजित् ! हे सार्धबाह ! उष्ण-वर्ण ! जगमें विचरो ! धर्म-प्रचार करो ! भगवान् ! जाननेवाले मिलेंगे ।’

“तब मैंने ब्रह्माके अभिप्रायको जानकर, और प्राणियोंपर दया करके, बुद्ध-नेत्रसे लोकका अवलोकन किया । बुद्ध-चक्षुसे लोकको देखते हुये मैंने जीवोंको देखा, उनमें कितने ही अल्प-मल, तीक्ष्ण-बुद्धि, सुन्दर-स्वभाव, समझानेमें सुगम, प्राणियोंको भी देखा । उनमें कोई कोई परलोक और दोषसे भय करते, विहर रहे थे । जैसे उत्पलिनी, पद्मिनी (= पद्मसमुदाय) या पुंडरीकिनीमें से कितने ही उत्पल, पद्म या पुंडरीक वृक्षमें पैदा हुये वृक्षमें रूचे उदकसे बाहर न निकल

(उदकके) भीतरही हुक्कर पोषित होते हैं। कोई कोई उत्पल (= नीलकमल), पद्म (= रक्तकमल) या पुंडरीक (= श्वेतकमल) उदकमें उत्पन्न, उदकमें बँधे (भी) उदकके बराबरही भवे होते हैं। कोई कोई उत्पल, पद्म या पुंडरीक उदकमें उत्पन्न, उदकमें बँधे (भी), उदकसे बहुत ऊपर निकलकर, उदकसे अलिप्त (हो) भवे होते हैं। इसी तरह भगवान्ने कुछकुछसे लोकको देवते हुये—अल्पमल, वीक्षणदुष्टि, सुखभाव, सुखोप्य प्रणियोंको देखा; जो परलोक तथा बुराईसे भय खाते विहर रहे थे। देखकर सहापति ब्रह्मासे गाथाद्वारा कहा—

‘उमके लिये अमृतका द्वार पंच होगया है, जो कानबाले होनेपर भी, अमृतको छोन देते हैं। हे ब्रह्मा ! (हुआ) पीवाका फ्वात्कर मैं मनुष्योंको निपुण, उत्तम, धर्मको नहीं कहता या ।’

‘तब ब्रह्मा सहापति—‘भगवान्ने धर्मोपदेशके लिये मेरी बात मानली’ यह ज्ञान, सुश्रुको अभिवादनकर प्रदक्षिणाकर वहीं अन्तर्धान होगया। उस समय मेरे (मनमें) हुआ—‘मैं पहिले किसे इस धर्मकी देशना (= उपदेश) करूँ; इस धर्मको शीघ्र ही जान लेगा?’ फिर मेरे (मनमें) हुआ—‘यह आलार-कालाम पण्डित, चतुर, मेधावी चिरकालसे अल्प-सलिन-चित्त है; मैं पहिले क्यों न आलार-कालामको ही धर्मोपदेश करूँ? वह इस धर्मको शीघ्रही जान लेगा।’ तब (गुरु) देवताने मुझसे कहा—‘भन्ते ! आलार-कालामको भरे सप्ताह होगया।’ मुझको भी ज्ञान-दर्शन हुआ—‘आलार कालामको भरे सप्ताह होगया।’ तब मेरे (मनमें) हुआ—‘आलार कालाम महा जाजी-नीय था, यदि वह इस धर्मको सुनता, तो शीघ्रही जान लेगा।’ फिर मेरे (मनमें) हुआ—‘यह उदक-रामपुत्र पण्डित, चतुर, मेधावी, चिरकालसे अल्प-सलिन चित्त है, क्यों न मैं पहिले उदक-रामपुत्रको ही धर्मोपदेश करूँ? वह इस धर्मको शीघ्रही जान लेगा।’ तब (गुरु = अन्तर्धान) देवताने आकर कहा—‘भन्ते ! रातही उदक-रामपुत्र मर गया। मुझको भी ज्ञान-दर्शन हुआ।’ फिर मेरे (मनमें) हुआ—‘पञ्चवर्गीय भिक्षु मेरे बहुत काम करनेवाले थे, उन्होंने साधनामें लगे मेरी सेवा की थी। क्यों न मैं पहिले पञ्चवर्गीय भिक्षुओंको ही धर्मोपदेश करूँ?’ मैंने सोचा—‘इस समय पञ्चवर्गीय भिक्षु कहाँ विहर रहे हैं?’ मैंने ज-मालुष विमुक्त दिव्य चक्षुसे देखा—‘पञ्चवर्गीय भिक्षु धारापत्तीके ‘ऋषिपतन मृग-दाघमें विहार कर रहे हैं।’

‘तब मैं उड़नेलाने इच्छानुसार विहारकर, विहर वाराणसी है, उधर चारिका (= रामत) के लिये निकल पड़ा। उपक आजोवक* ने देखा—‘मैं बोधि (= बोधगया) और गयाके बीचमें जा रहा हूँ। देखकर मुझसे बोला—‘आलुप्मान् (आलुस) ! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, तेरा ऋषि-वर्ण (= कासि) परिशुद्ध तथा उज्ज्वल है। किसको (गुरु) भानकर हे आलुस ! तू प्रसन्नित हुआ है ? तेरा दास्ता (= सुत) कौन ? तू किसके धर्मको भानता है ?’ यह कहनेपर मैंने उचक आजी-वकसे गाथामें कहा—

‘मैं सबको पराजित करनेवाला, सबका जाननेवाला हूँ; सभी धर्मोंमें निर्लेप हूँ। सर्व-त्यागी (हूँ), लुण्णाके लवसे विमुक्त हूँ; मैं अपनेही जानकर उपदेश करूँगा।

मेरा आचार्य नहीं है मेरे सत्स (कोई) विद्यमान नहीं।

देवताओं सहित (सारे) लोकमें मेरे समान पुरुष नहीं।

* केशवान सारनाथ, बनारस।

* उस समयके जयवादी नग्न छात्रोंका एक सम्प्रदाय, नन्द वात्स्य, कुछ संस्कृत और मगधली-गोसाल जिसके प्रधान आचार्य थे।

मैं संसारमें अर्हत् हूँ, अपूर्व प्राप्ता (= मुक्त) हूँ ।
 मैं एक सम्मक् संजुद्ध, शीतल तथा निर्वाणप्राप्त हूँ ।
 धर्मका चक्का बुझानेके लिये काशियोंके नगरको जा रहा हूँ ।
 (वहाँ) अपने हुने लोकमें अमृत-दुग्धभी वज्राईगा ॥'

'आयुष्मन् ! तू जैसा दावा करता है, उससे तो अनन्त जिन हो सकता है ।'

'मेरे ऐसेही सत्त्व जिन होते हैं, जिनके कि आत्मत्व (= क्लेश = मल) नष्ट हो गये हैं ।

मैंने पाप (= बुरे)-धर्मोंको जीत लिया है, इसलिये हे उपक ! मैं जिन हूँ ।' ऐसा कहनेपर उपक आजीवक—'होवोगे आयुस !' कह, शिर हिला, घेरावो चल दिया । 'तब मैं, भिक्षुगो ! क्रमशः पापा (= धारिका) करते हुए, जहाँ धाराणसी श्रमि-पतन मृग-दाह था, जहाँ पञ्चवर्गीय भिक्षु थे, वहाँ पहुँचा । दूरीसे आते हुये मुझे पञ्चवर्गीय भिक्षुओंने देखा । देखतेही आपसमें पका किया—'आयुसो ! यह बाहुलिक (= बहुत जमा करने वाला) साधना-अष्ट बाहुल्य-परायण (= जमा करनेमें लगा) श्रमण गौतम आ रहा है । इसे अभिवादन नहीं करना चाहिये, न प्रत्युत्थान (= सत्कारार्थ झुका होना) करना चाहिये । न इसके पात्र चीकरको (आगे बढ़कर) लेना चाहिये, केवल आसन रख देना चाहिये, यदि इच्छा होगी तो बैठेगा ।'

'जैसे जैसे मैं पञ्चवर्गीय भिक्षुओंके समीप आता था, वैसेही वैसे वह... अपनी प्रतिज्ञा-पर स्थिर न रह सके । (अन्तमें) मेरे पास आ, एकने मेरे पात्र चीकर लिये, एकने आसन बिछाया, एकने पादोदक (= पैर धोनेका जल) पादपीठ (= पैरका पीड़ा), पादकलिका (पैर रगड़नेकी छकड़ी) ला पास रखी । मैं बिछाये आसनपर बैठा । बैठकर मैंने पैर धोये । वह मेरे लिये 'आयुस' शब्दका प्रयोग करते थे । ऐसा करनेपर मैंने कहा—'नहीं भिक्षुगो ! तथागतको नाम-लेकर या 'आयुस' कहकर मत पुकारो । भिक्षुगो ! तथागत अर्हत् सम्मक्-संजुद्ध हैं । इधर जान दो, मैंने जिस अमृतको पाया है, उसका तुम्हें उपदेश करता हूँ । उपदेशानुसार आचरण करनेपर, जिसके लिये कुलपुत्र करते बेघर हो संन्यासी होते हैं, उस अनुसम नक्षत्रफलको, इसी जन्ममें शीघ्रही स्वयं ज्ञान कर = साक्षात्कार कर = लाभ कर विचरोगे ।'

'ऐसा कहनेपर पञ्चवर्गीय भिक्षुओंने मुझे कहा—'आयुस गौतम ! उस साधनामें, उस धारणामें, उस हुकर तपस्यामें भी तुम भाग्योके श्रमदर्शनकी पराकाष्ठाकी किमोक्षा, उत्तर-अनुत्त-धर्म (= दिव्य शक्ति)को नहीं पा सके, फिर अब बाहुलिक साधना-अष्ट, बाहुल्यपरायण तुम ज्ञान-दर्शनकी पराकाष्ठा, उत्तर-अनुत्त-धर्मको क्या पाओगे ?'

'यह कहनेपर मैंने पञ्चवर्गीय भिक्षुओंसे कहा—'भिक्षुगो ! तथागत बाहुलिक नहीं है, और न साधनासे अष्ट है, न बाहुल्यपरायण है । भिक्षुगो ! तथागत अर्हत् सम्मक् संजुद्ध हैं ० । ० कामकर विहार करोगे ।

'दूसरी बार भी पञ्चवर्गीय भिक्षुओंने मुझे कहा—'आयुस ! गौतम ० ।' दूसरी बार भी मैंने फिर (वही) कहा ० । तीसरी बार भी पञ्चवर्गीय भिक्षुओंने मुझसे (वही) कहा ० । ऐसा कहनेपर मैंने पञ्चवर्गीय भिक्षुओंको कहा—'भिक्षुगो ! इससे पहिले भी क्या मैंने कभी इस प्रकार कहा है ?'

'अन्ते ! नहीं'

'भिक्षुगो ! तथागत अर्हत् विहार करोगे ।'

'(तब) मैं पञ्चवर्गीय भिक्षुओंको समझानेमें समर्थ हुआ ।

'वहाँ मैं दो भिक्षुओंको उपदेश करता था, तो तीन भिक्षु भिन्नाके लिये जाते थे । तीन

भिन्नु भिक्षाचार करके जो खाते थे, उसीसे छ:ओं जाने निर्वाह करते थे । (जब) तीन भिक्षुओंको मैं उपदेश करता था, तो दो भिक्षु भिक्षाके लिये जाते थे । दो भिक्षु भिक्षाचार करके जो खाते थे, उसीसे छ:ओं जाने निर्वाह करते थे । तब भिक्षुओ ! इस प्रकार मेरे उपदेश करनेसे, अववाद करनेसे पञ्चवर्गीय भिक्षु स्वयं जन्मनेके स्वभाववाले, जन्मनेके दुष्परिणामको जानकर ०^१ फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं ।^१

“भिन्नुओ ! यह पाँच कामगुण (= काम-भोग) हैं । कौनसे पाँच ?—(१) चक्षुद्वारा ज्ञेय इष्ट=काम्त=मनाप=प्रियरूप=कामोपसंहित, रंजनीय रूप । (२) श्रोत्रद्वारा ज्ञेय ० शब्द । (३) घ्राणद्वारा ज्ञेय ० गंध । (४) जिह्वा द्वारा ज्ञेय ० रस । (५) काया (= त्वक्) द्वारा ज्ञेय ० स्पर्श । भिक्षुओ ! यह पाँच कामगुण हैं । भिक्षुओ ! जो कोई भ्रमण या वाहण इन पाँच कामगुणोंमें वैधे, मूर्छित (= मूर्ख), लिप्त हो, (उनके) दुष्परिणामको न देख, निकलनेकी बुद्धि न रख (उनका) उपभोग करते हैं; उनके लिये समझना चाहिये कि वह ज-नय (= बुराई)में पड़े है, दुःखमें पड़े है, पापी (दुर्भावनाओं की इच्छानुसार करनेवाले) हैं । जैसे, भिक्षुओ ! जंगली सुग पाश-राशि (= जालके बर)में बैठा सोवे; उसे समझना होगा—(वह सुग) बुराईमें पड़ा है, व्यसनमें पड़ा है । शिकारीकी इच्छानुसार करनेवाला है । शिकारीके जाने पर (अपनी) इच्छाके अनुसार नहीं भाग सकेगा । इसी प्रकार भिक्षुओ ! जो कोई भ्रमण या वाहण इन पाँच कामगुणोंमें वैधे ० पापी (= दुर्भावनाओं)के इच्छानुसार करनेवाले हैं ।

“भिन्नुओ ! जो कोई भ्रमण या वाहण इन पाँच काम-गुणोंमें न-वैधे, अ-मूर्छित, अ-लिप्त हो, दुष्परिणामको देख, निकलनेकी बुद्धि रख उपभोग करते हैं; उनके लिये समझना चाहिये; कि वह ज-नयमें पड़े नहीं है, व्यसनमें पड़े नहीं है; पापीकी इच्छानुसार करनेवाले नहीं है । जैसे, भिक्षुओ ! जंगली सुग पाश-राशिसे न बैठा सोवे, उसके लिये समझना होगा—यह सुग ज-नयमें नहीं पड़ा है । व्यसनमें नहीं पड़ा है । शिकारीकी इच्छानुसार नहीं करनेवाला है । शिकारीके जानेपर अपनी इच्छाके अनुसार भाग सकेगा । इसी प्रकार भिक्षुओ ! जो कोई भ्रमण या वाहण इन पाँच कामगुणोंमें न-वैधे ० पापीकी इच्छानुसार करनेवाले नहीं हैं । जैसे, भिक्षुओ ! जंगली सुग पवनके चलने पर निश्चिन्त चलता है, निश्चिन्त खड़ा होता है, निश्चिन्त बैठा है, निश्चिन्त लेटा है । सो क्यों ?—भिन्नुओ ! (वह) शिकारीकी पहुँचसे बाहर है । इसी प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु ०^२ प्रथम ज्ञानको प्राप्त हो विहरता है । भिक्षुओ ! उस भिक्षुके लिये इसलिये कहा जाता है—इसने मारको जंघा कर दिशा; मार की आँख को—मारकर, वह पापीके सामनेसे अन्तर्धान हो गया ।

“और फिर, भिक्षुओ ! भिक्षु ०^३ द्वितीय ज्ञानको प्राप्त हो विहरता है । भिक्षुओ ! इस भिक्षुके लिये कहा जाता है—० पापीके सामनेसे अन्तर्धान हो गया ।

“ ०^४ तृतीय ज्ञान ० ।

“ ०^५ चतुर्थ ज्ञान ० ।

“ ०^६ आकाशानन्त्यायतन ० ।

“ ०^७ विज्ञानानन्त्यायतन ० ।

“ ०^८ आर्किचन्त्यायतन ० ।

“ ०^९ नैवर्सजा-नासेजायतन ० ।

“०” संज्ञावेदित-निरोधको प्राप्त हो बिहरता है । प्रज्ञासे देखकर उसके धाखण (=चित्त-मल) नष्ट होगये । भिक्षुजो ! इस भिक्षुके लिये कहा जाता है—० पापीके सामनेसे अन्तर्धान हो गया । वह लोकमें फन्देके पार हो गया । वह निश्चित चलता है, निश्चित खड़ा होता है, निश्चित बैठता है, निश्चित सोता है । सो क्यों ?—भिक्षुजो ! वह पापीकी पहुँचसे बाहर हो गया ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान् के भाषणको अतिरिहित किया ।

२७—चूल-हृत्पिपदोपम-सुत्तन्त (१३।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तोमें अनाव-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

उस समय जानुत्तोणि (= जानुश्रोणि) बाह्यण सर्वदेवत घोड़ियोंके रखपर खगार हो, मध्याह्नकी आवलीसे बाहर जा रहा था । जानुश्रोणि बाह्यणने पिलोतिक परित्राजककी बुरसे ही आते देखा । देखकर पिलोतिक परित्राजकसे यह कहा—

“इन्त ! वात्स्यायन (= वच्छायन) ! आप मध्याह्नमें कहाँसे जा रहे हैं ?”

“मो ! मैं अमण गौतमके पाससे जा रहा हूँ ।”

“तो आप वात्स्यायन अमण गौतमकी प्रज्ञा, पाण्डित्यको क्या समझते हैं ? पंडित मानते हैं ?”

“मैं क्या हूँ, जो अमण गौतमका प्रज्ञा-पाण्डित्य जानूँगा ?”

“आप वात्स्यायन उदार (= षष्ठी) प्रशंसाद्वारा अमण गौतमकी प्रशंसा कर रहे हैं ?”

“मैं क्या हूँ, और मैं क्या अमण गौतमकी प्रशंसा करूँगा ? प्रसन्न प्रसन्न (ही) हैं । आप गौतम, देव-मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं ।”

“आप वात्स्यायन किस कारणसे अमण गौतमके विषयमें इतने अभिप्रसन्न हैं ?”

“(जैसे) कोई चतुर नाग-वनिक् (= हाथीके जंगलका आदमी) नाग-वनमें प्रवेश करे । वह वहाँ यदे भारी (कंठे-चौड़े) हाथीके पैर (= हस्ति-पद) को देखे । उसको विश्वास हो जाय—अरे, बड़ा भारी नाग है । इसी प्रकार जब मैंने अमण गौतमके चार पद देखे, तो विश्वास होगया—कि (वह) भगवान् सन्यक्-संबुद्ध है, भगवान्का धर्म स्वात्घात है, भगवान्का आवक-संब सुप्रतिपन्न (= सुन्दर प्रकारसे रास्तेपर लगा) है । कौनसे चार ?—(१) मैं देखता हूँ, पादकी खाल उतारनेवाले, दूसरोंसे वाद-विवाद किये हुए, निपुण, कोई कोई लज्जित पंडित—भारों प्रज्ञामें स्थित, (तत्त्व) से दक्षिणत (= चारणामें स्थित तत्त्व) को खंडा-खंडी करते चलते हैं—सुनते हैं—अमण गौतम असुक ग्राम वा निगममें आवेगा । वह प्रश्न तैयार करते हैं—‘इस प्रश्नको हम अमण गौतमके पास जाकर पूछेंगे । ऐसा हमारे पूछनेपर, यदि वह ऐसा उत्तर देगा, तो हम इस प्रकार वाद (= शास्त्रार्थ) रोपेंगे ।’ वह सुनते हैं—अमण गौतम असुक ग्राम वा निगममें जागया । वह जहाँ अमण गौतम होता है, वहाँ जाने हैं । उनको अमण गौतम धार्मिक उपदेश कर दर्शाता है, समादपन, संसुचेजन, संप्रशंसन करता है । वह अमण गौतमसे धार्मिक उपदेश होता संदर्शित, समादपित, संसुचेजित, संप्रशंसित हो, अमण गौतमसे प्रश्न भी वहाँ पूछते, उसके (संब) वाद कहाँसे रोपेंगे ? वल्कि और भी अमण गौतमके ही आवक (= शिष्य) हो जाते हैं । ओ ! जब मैंने अमण गौतममें यह प्रथम पद देखा, तब मुझे विश्वास हो गया—भगवान् सन्यक्-संबुद्ध है ० ।

“(२) और फिर भो ! मैं देखता हूँ, यहाँ कोई कोई बालकी साल उतारने वाले, दूसरोंसे वाद-विवादमें सफल, निपुण ब्राह्मण पण्डित ० । मैंने श्रमण गौतममें यह दूसरा पद देखा ।

“(३) ० गृहपति (= वैश्य)-पण्डित । ० यह तीसरा पद ० ।

“(४) ० श्रमण (= ब्रह्मजित)-पण्डित ० । वह श्रमण गौतमके धार्मिक उपदेशद्वारा ० समु-
ज्जित संप्रशंसित हो, श्रमण गौतमसे प्रश्न भी नहीं पूछते, उसके (साथ) वाद कहॉसे रोपेंगे ?
बलिक और भी श्रमण गौतमसे घरसे बेघर (ढोंकर मिलनेवाली) प्रमात्माके लिये जाज्ञा भोगते हैं ।
उनको श्रमण गौतम प्रब्रजित करता है, उपसम्पन्न करता है । वह नहीं प्रब्रजित हो, अकेले
एकात्मसेवी, प्रमाद्वहित, तत्पर, आत्म-संयमी हो विहार करते, अचिरहीमें, जिसके लिये
कुल-पुत्र घरसे बेघर हो, प्रब्रजित होते हैं, उस अनुपम ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं जान का,
साक्षात् कर, प्राप्त कर, विहरते हैं । वह ऐसा कहते हैं—‘मनको भो ! नाश किया, मनको भो !
प्र-नाश किया । हम पहिले अ-श्रमण होते हुये भी ‘हम श्रमण हैं’—दावा करते थे; अ-ब्राह्मण होते
हुये भी ‘हम ब्राह्मण हैं’—दावा करते थे । अन्-अर्हत् होते हुये भी ‘हम अर्हत् हैं’—दावा करते
थे । अब हम श्रमण हैं, अब हम ब्राह्मण हैं, अब हम अर्हत् हैं ।’ श्रमण गौतममें जब इस चौथे
पदको देखा, तब मुझे विचार हो गया—भगवान् सम्यक् संबुद्ध हैं ० । भो ! मैंने अब इन चार
पदोंको श्रमण गौतममें देखा, तब मुझे विश्वास हो गया ० ।”

ऐसा कहनेपर जानुश्रोणी ब्राह्मणने सर्व-श्वेत बोधीके रथमें उतरकर, एक कंधेपर उत्तरतसंग
(= चादर) करके, जिधर भगवान् थे उधर अङ्गलि जोड़कर, तीन धार यह उद्गान कहा—
“नमस्कार है, उस भगवान् अर्हत् सम्यक् संबुद्धको, ‘नमस्कार है ० ।’ ‘नमस्कार है ० ।’ क्या मैं
कभी किसी समय उन आप गौतमके साथ मिल सकूँगा ? क्या कभी कोई कथा-संलाप हो सकेगा ?”

तब जानु श्रोणि ब्राह्मण जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । डाकर भगवान्के साथ ० संबोदन-
कर—“(कुशलप्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे हुये जानु-श्रोणि ब्राह्मणने, जो कुछ
पिबोतिष्ठ परिभाषकके साथ कथा-संलाप हुआ था, सब भगवान्से कह दिया । ऐसा कहनेपर
भगवान्ने जानु-श्रोणि ब्राह्मणसे कहा—

“ब्राह्मण ! इतने (ही) कितारसे हस्ति-पद-उपमा परिपूर्ण नहीं होती । ब्राह्मण ! जिस
प्रकारके कितारसे हस्ति-पद-उपमा परिपूर्ण होती है, उसे सुनो और मनमें (धारण) करो—”

“अच्छा भो !” कह जानु-श्रोणि ब्राह्मणने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने कहा—“जैसे ब्राह्मण नाग-वनिक नाग-वनमें प्रवेश करे । वहाँपर नाग-वनमें
वह धड़े भारी ० हस्ति-पदको देखे । जो चतुर-नाग-वनिक होता है वह विश्वास नहीं करता—
‘अरे ! क्या भारी नाग है ।’ किसलिये ? ब्राह्मण ! नाग-वनमें ब्रामकी (= बँवनी) नामकी हथिनियाँ
भी महा-पदवाली होती हैं, उनका वह पैर हो सकता है । उसके पीछे चलते हुए वह नाग-वनमें
धड़े भारी—(लम्बे चौड़े)—हस्ति-पद और ऊँचे ढोँल्लाको देखता है । जो चतुर नाग-वनिक होता
है, वह तब भी विश्वास नहीं करता—‘अरे क्या भारी नाग है ।’ किसलिये ? ब्राह्मण ! नाग-वनमें
ऊँची कालारिका नामक हथिनियाँ धड़े पैरवाली होती हैं, वह उनका पद हो सकता है । वह
उसका अनुगमन करता है, अनुगमन करते नाग-वनमें देखता है—वहे भारी लम्बे चौड़े हस्ति-पद,
ऊँचे ढोँल और ऊँचे दाँतोंसे आरजित (प्राणो)को । जो चतुर नाग-वनिक होता है, वह तब भी
विश्वास नहीं करता ० । सो किसलिये ? ब्राह्मण ! नाग-वनमें ऊँची करेणुका नामक हथिनियाँ

महा-पद्माली होती है। वह उनका भी बंद हो सकता है। वह उसका अनुगमन करता है। उसका अनुगमन करते नागवनमें, बड़े भारी, ... (लम्बे-चौड़े) इति-पद, ऊँचे डोह, ऊँचे दूर्तिंति मुचांभित (वाणी), और शास्त्राको ऊँचेसे दृढ़ देखता है। और वहाँ वृक्षके नीचे, वा चौड़ेमें जाते, लंबे, बड़े वा छोटे उस नागको देखता है। वह विश्वास करता है, यही वह महानाग है।

“इसी प्रकार आश्रय यहाँ तथागत, अर्द्ध-सम्पत्-समुद्र, विद्या-आचरण-सम्पत्, सुगत, लोकविदु, अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथी, देव-मनुष्योंके शासक, बुद्ध भगवान् लोकमें उत्पन्न होते हैं। वह इस देव-भार-बद्धा सहित लोक, अमण-आश्रय-देव-मनुष्य-सहित प्रजाको, स्वयं जान कर, साक्षात् कर, लज्जितो है। वह आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याणवाले धर्मका उपदेश करते हैं। अर्थ-सहित अंजन-सहित, केवल परिपूर्ण परिशुद्ध, अक्ष-धर्मको प्रकाशित करते हैं। उस धर्मको गृह-पति या गृह-पतिका पुत्र, या और किसी छोटे कुलमें उत्पन्न (पुरुष) सुनता है। वह उस धर्मको सुन-कर तत्प्राप्तके विषयमें अद्वा कान करता है। वह उस अद्वा-कामसे संतुष्ट हो, यह सोचता है— गृह-वास अंजाल अलका आगे है। प्रज्ज्या मंदान (= चौड़ा) है। इस एकान्त सर्वथा-परिपूर्ण, सर्वथा परिशुद्ध, स्वरादे अक्ष जैसे अक्षधर्मका पाठन, धर्ममें बसते हुयेके लिये सुकर नहीं है। क्यों न मैं सिर-दाही ऊँचा कर, कापायबद्ध पहिन, घरसे बेचर हो प्रज्जित हो जाऊँ ? सो वह दूसरे समय अपनी लज्ज (= धोखा) भोग-राशि, या महा-भोग-राशिको छोड़, अल्प-जाति-मंडल या महा-जाति-मंडलको छोड़, सिर-दाही ऊँचा कर, कापायबद्ध पहिन, घरसे बेचर हो, प्रज्जित होता है। वह इस प्रकार प्रज्जित हो, भिक्षुओंकी शिक्षा, समान-जीविकाको प्राप्त हो, प्राणातिपात छोड़ प्राणहितासे विरत होता है। ईड-स्वामी, अक्ष-स्वामी, लक्ष्मी, ध्यातु, सर्व-प्राणों सर्व-दाय-भूतोंका हित और अनुकंपक हो, विहार करता है। अ-दिवादान (= चोरी) छोड़ दिवादायो (= दियेको लेनेवाला), दत्त-प्रति-काक्षी (= दियेका चाहनेवाला), ... पवित्रात्मा हो, विहरता है। अ-प्रक्षयधर्मको छोड़कर अक्ष-चारी, प्राम्यधर्म प्रभुनसे विरत हो, आत्-चारी (= दूर रहनेवाला) होता है। सुपावाद्यको छोड़, सुपावाद्यसे विरत हो, सत्य-वादी, सत्य-संध, लोकका अ-विलंबाद्य = विचार-पात्र ... होता है। पिशुन-वचन (= चुनौती) छोड़, पिशुन-वचनसे विरत होता है, —वहाँ सुनकर इनके फोड़नेके लिये, वहाँ नहीं फोड़नेवाला होता; या, वहाँ सुनकर उनके फोड़नेके लिये, यहाँ कहनेवाला नहीं होता। इस प्रकार मित्रों (= फुटों)को मिलानेवाला, मिले हुओंको मित्र न करनेवाला, एकतामें प्रसन्न, एकतामें रत, एकतामें आनन्दित हो, समग्र (= एकता)-करणी वाणीका बोलने-वाला होता है, परुष (= रुद्ध) वचनको छोड़, परुष वचनसे विरत होता है। जो वह वाणी ... कर्ण-मुखा, प्रेमणीया, हृदयकामा, दौरी (= नागरिक, सम्ब) बहुजन-कान्ता = बहुजन-अनाथा है, वैसी वाणीका बोलनेवाला होता है। प्रलापको छोड़कर प्रलापसे विरत होता है। काल-वादी = समय देखकर बोलनेवाला), भूत (= यथार्थ)वादी, धर्म-वादी, धर्म-वादी, विनय-वादी हो, तात्पर्य-सहित, पर्यन्त-सहित, अर्थ-सहित, निधान-वती वाणीका बोलनेवाला होता है।

“वह धीम-समुदाय नृत्त-समुदायके विनाश (= समाखण्ड)से विरत होता है। एका-हारी, रातको उपरत = विकल (= मग्नाहोत्तर) भोजनसे विरत होता है। माला, गंध और विलेपनके धारण, मंडन और निभूषणसे विरत होता है। उच्छासन और महाशयन (= राजसी शय्या)से विरत होता है। जातकप (= सोना)-रत्नके प्रतिग्रहणसे विरत होता है। कचे अनाजके प्रतिग्रहण (= लेना)से विरत होता है। कच्चा मांस लेनेसे विरत होता है। स्त्री-कुमारी • ।

* समाखण्ड = समाकम्प = हिंसा, जैसे अनाकम्प, यथाकम्प ।

दासी-दास ० । मेघ-वहरी ० । सुर्गि-सुखर ० । हावी-गाय ० । बोझा-बोझी ० । खेत-वर ० । वृत्त धनकर जाने... ० । ऋत-विक्रय ० । तराजूकी ठगी, कसिकी ठगी, मान (= तेर मन जादि) की ठगी ० । घूस, घंचना, जाल-साजी, कुटिल-योग ० । छेदन, बध, बंधन, छाया मारने, आलोप (भ्राम आदिका विनाश) करने, डाका डालने ० ।

“वह शरीरपरसे चीवरसे, पेटके खानेसे सन्तुष्ट होता है । वह जहाँ जहाँ जाता है, (अपना सामान) लिये ही जाता है ; जैसे कि पक्षी जहाँ कहीं उड़ता है, अपने पक्ष-भार सहितही उड़ता है । इसी प्रकार भिक्षु शरीरके चीवरसे, पेटके खानेसे, सन्तुष्ट होता है । ० । वह इस प्रकार आर्य-शील (= निर्दोष सहाचारी)-मर्कष (= राशि)से युक्त हो, अपनेमें (= अध्यात्म) निर्दोष सुख अनुभव करता है ।

“वह चक्षुसे रूपको देखकर, निमित्त (= किंग, आकृति आदि) और अनुपमंजनका ग्रहण करनेवाला नहीं होता । चूँकि चक्षु इन्द्रियको अ-रक्षित रख बिहरनेवालेको, राग द्वेष वाप = अ-कुशल धर्म उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिये उसको रक्षित रखता (= संवर करता) है । चक्षु इन्द्रियको रक्षा करता है = चक्षु इन्द्रियमें संवर ग्रहण करता है । वह श्रोतसे शब्द सुनकर निमित्त और अनुपमंजनका ग्रहण करनेवाला नहीं होता ० । आणसे गंध ग्रहणकर ० । जिह्वासे रस ग्रहणकर ० । काणसे स्पर्श ग्रहणकर ० । मनसे धर्म ग्रहण कर ० । इस प्रकार वह आर्य-इन्द्रिय-संवरसे युक्त हो, अपनेमें निर्मल सुखको अनुभव करता है ।

“वह भाने जानेमें, जानकर करनेवाला होता है । अवलोकन विलोकनमें, संप्रजन्य-युक्त (= जानकर करनेवाला) होता है । समेटने-कैलानेमें संप्रजन्य-युक्त होता है । संघाटी पात्र-चीवर धारण करनेमें ० । खाना-पीना भोजन-आस्वादनमें ० । पाखाना-पेशाबके काममें ० । जाते-छाड़े होते, बैठने, सोते-जागते, बोलते-बुप रहते, संप्रजन्य-युक्त होता है । वह इस आर्य शील-मर्कषसे युक्त, इस आर्य इन्द्रिय-संवरसे युक्त, इस आर्य स्मृति-संप्रजन्यसे युक्त हो, पदान्तमें—अरण्य, वृक्षके नीचे, पर्वत, कन्दरा, गिरि-गुहा, इमशान, वन-प्रान्त, चौड़े, या पुआलके गंजमें—वास करता है । वह भोजनके पश्चात् “आसन मार कर, कायाको सीधा कर, स्मृतिको समुत्पन्न रख बैठता है । वह लोकमें (१) अभिष्या (= लोभ)को छोड़, अभिष्या-रहित-चित्त हो, विहरता है ; चित्तको अभिष्यासे परिशुद्ध करता है । (२) व्यापाद (= द्वेष)-दोषको छोड़कर, व्यापाद-रहित चित्तसे, सर्व प्राणिमोंका हितानुकम्पी हो, विहरता है ; व्यापाद दोषसे चित्तको परिशुद्ध करता है । (३) स्त्यानमृद (= शरीर-मनके आसस)को छोड़, स्त्यान-मृद-रहित हो, आलोक-संज्ञावाला, स्मृति, संप्रजन्यसे युक्त हो विहरता है । औदत्य-कौहृत्यको छोड़ अन्-उद्धत हो भीतरसे प्रान्त हो, विहरता है । (४) औदत्य-कौहृत्यसे चित्तको परिशुद्ध करता है । (५) विचिकित्सा (= संन्देह)को छोड़ विचिकित्सा-रहित हो, कुशल (= उत्तम)-धर्मोंमें विवाह रहित (= अकथकवी) हो, विहरता है ; चित्तको विचिकित्सासे परिशुद्ध करता है ।

“वह इन पाँच नीचरणोंको चित्तसे छोड़, उप-क्लेशों (= चित्त-मलों)को जान, (उनके) दुर्बल करनेके लिये, कामोंसे पृथक् हो, अ-कुशल-धर्मोंसे पृथक् हो, स-वितर्क, स-विचार विवेकसे उत्पन्न, प्रीति-सुखवाले प्रथम ध्यानको प्राप्त हो, विहरता है । ब्राह्मण ! यह पद भी तथा-गतका पद कहा जाता है, यह (पद) भी तथगतसे सेवित है, यह (पद) भी तथागत-रक्षित है । किन्तु आर्य-आवक इतनेही से विधास नहीं कर लेता—भगवान् सम्यक् संबुद्ध हैं, भगवान्का धर्म स्वास्वात है, भगवान्का आवक-संघ सु-प्रतिपक्ष है ।

“और फिर ब्राह्मण ! भिक्षु वितर्क और विचारके उपशान्त होनेपर, भीतरके संप्रसाद,

(= प्रसन्नता) = चित्तकी एकाग्रताको प्राप्त हो, विसर्क-विचार-रहित, समाधिसे उत्पन्न प्रीति-सुखवाले, द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ब्राह्मण ! यह पद भी तथ्यागत-पद कहा जाता है, यह भी तथ्यागत-सेवित है, यह भी तथ्यागत-रहित है। किन्तु आर्य-आपक इतनेहीसे विश्वास नहीं कर लेता—भगवान् सम्यक्-संबुद्ध हैं ० ।

“और फिर ब्राह्मण ! भिक्षु प्रीति और विरागसे उपेक्ष्य हो, स्मृति और संप्रत्ययसे युक्त हो, कायासे सुखको अनुभव करता विहरता है, जिसको (और) कि आर्य-जन उपेक्ष्य स्मृतिमान् सुख-विहारो कहते हैं, ऐसे तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो, विहरता है। ब्राह्मण ! यह पद भी तथ्यागत-पद कहा जाता है ० । किन्तु आर्य आपक इतनेहीसे विश्वास नहीं कर लेता ० ।

“और फिर ब्राह्मण ! भिक्षु सुख और दुःखके विनाशसे, सौमनस्य और दोर्मनस्यके पूर्वही अलग हो जानेसे, दुःख-रहित, सुख-रहित उपेक्ष्य हो, स्मृतिको परिशुद्धता-युक्त चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यह भी ब्राह्मण ! तथ्यागत-पद कहा जाता है ० । किन्तु आर्य आपक इतनेहीसे विश्वास नहीं कर लेता—भगवान् सम्यक्-संबुद्ध हैं ० ।

“सो इस प्रकार चित्तके—परिशुद्ध=परि-अवदात, अंगण-रहित=उपकेल (= मल) रहित, शुद्ध हुये, काम-लापक, स्थिर-अचलता-प्राप्त=समाहित—हो जानेपर, पूर्वजन्मोंकी स्मृतिके ज्ञान (= पूर्व-निवासाऽनुस्मृति-ज्ञान) के लिये चित्तको झुकाता है। फिर वह अनेक पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगता है—जैसे ‘एक जन्म भी, दो जन्म भी, तीन जन्म भी, चार०, पाँच०, छः०, इस०, बीस०, तीस०, चालीस०, पचास०, सौ०, हजार०, सौहजार०, अनेक संवर्त (= प्रलय) कल्प, अनेक विवर्त (= सृष्टि)-कल्प, अनेक संवर्त-विवर्त-कल्पको भी,—इस नामवाला, इस गोत्रवाला, इस वर्णवाला, इस आहारवाला, इस प्रकारके सुख दुःखको अनुभव करनेवाला, इतनी आयु-पर्यन्त, मैं अमुक स्थानपर रहा। सो मैं वहाँसे व्युत्त हो, यहाँ उत्पन्न हुना।’ इस प्रकार आकार-सहित उद्देश्य-सहित अनेक किये गये निवासोंको स्मरण करता है। यह भी ब्राह्मण ! तथ्यागत-पद कहा जाता है ० ।

“सो इस प्रकार चित्तके परिशुद्ध ० समाहित होनेपर प्राणियोंके जन्म-मरणके ज्ञान (= व्युत्ति-उत्पाद-ज्ञान) के लिये चित्तको झुकाता है। सो अ-भानुष विजुद्ध दिव्य जडुसे अच्छे बुरे, सु-वर्ण, दुर्बर्ण, सुगत, दुर्गत, मस्ते, उत्पन्न होते, प्राणियोंको देखता है। उनके कर्मोंके साथ सबोंको जानता है—‘यह जीव काल-दुश्चरित-सहित, वचन-दुश्चरित-सहित, मन-दुश्चरित-सहित थे, आयोंके निन्दक (= उपवादक) मिथ्या-दृष्टिवाले, मिथ्यादृष्टि-सम्बन्धी कर्मोंसे युक्त थे। यह काया-पद, मरनेके बाद अ-वाय = दुर्गति = विनिपात = नर्कमें उत्पन्न हुये हैं। और यह जीव (= सत्त्व) काय-सुचरित-सहित, वचन-सुचरित-सहित, मन-सुचरित-सहित थे, आयोंके अ-निन्दक सम्यग्-दृष्टिवाले सम्यग्-दृष्टि-सम्बन्धी कर्मोंसे युक्त थे। यह कामसे अलग हो—‘मरनेके बाद सुगति = स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार अ-भानुष विजुद्ध दिव्य जडुसे प्राणियोंको ० देखता है। यह भी ब्राह्मण ! तथ्यागत-पद कहा जाता है ० ।

“सो इस प्रकार चित्तके ० समाहित हो जानेपर आलस्य-अय-ज्ञान (= रागादि चित्त-मल्लोके बाध होनेका ज्ञान) के लिये चित्तको झुकाता है। सो ‘यह दुःख है’ इसे यथार्थसे जानता है, ‘यह दुःख-समुद्भव है’ इसे यथार्थसे जानता है, ‘यह दुःख-निरोध है’ इसे यथार्थसे जानता है। ‘यह आलस्य है’ ० । ‘यह आलस्य-समुद्भव है’ ० । ‘यह आलस्य-निरोध है’ ० । ‘यह आलस्य-निरोध-गामिनी-प्रतिपद् (= रागादि चित्त-मल्लोके बाधकी और ले जानेवाला मार्ग) है’ ० । यह भी ब्राह्मण ! तथ्यागत-पद कहा जाता है ० । ० ।

“इस प्रकार जानते, इस प्रकार देखते, इस (पुरुष)के चित्तको काम-आलस भी छोड़ देता है, भय-आलस भी ०, अ-विद्या-आलस भी ० । छोड़ देने (-विमुक्त हो जाने)पर, ‘कूट गया हूँ’ ऐसा ज्ञान होता है । ‘जन्म स्वप्न हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, करना था, सो कर लिया, अब यहाँके लिये कुछ नहीं’—यह भी जानता है । ब्राह्मण ! यह भी तत्वागत-पद कहा जाता है ० । इतनेसे ब्राह्मण ! आर्य-आयक विधास करता है—भगवान् सम्यक-संशुद्ध हैं ० ।

“इतनेसे ब्राह्मण ! हस्ति-पदकी उपमा (हस्ति-पदोपमा) विलारपूर्वक पूरी होती है ।”

ऐसा कहनेपर जालुश्रोणि ब्राह्मणने भगवान्को यह कहा—

“आचार्य ! ओ गौतम !! आचार्य ! ओ गौतम !! ०” मैं आप गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी । आपसे (मुझे) आप गौतम अजित-वद उपासक धारण करें ।

२८—महाहत्थिपदोपम-सुत्तन्त (१।३।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तोमें जनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ आयुष्मान् सारिपुत्रने भिक्षुओंको संबोधित किया—

“आहुसो ! भिक्षुओ !”

“आहुस” —कह, उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया ।

आयुष्मान् सारिपुत्रने कहा—

“जैसे आहुसो ! जंगली प्राणियोंके जितने पद हैं, वह सभी हाथीके पैर (= हस्ति-पद) में समा जाते हैं । वषाईमें हस्ति-पद उनमें उभ (= छेद) गिना जाता है । ऐसे ही आहुसो ! जितने कुशल धर्म हैं, वह सभी चार आर्य-सत्त्वोंमें सम्मिलित हैं । कौनसे चारोंमें ?—दुःख आर्य-सत्त्वमें, दुःख-समुदय आर्य-सत्त्वमें, दुःख-निरोध आर्य-सत्त्वमें, और दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपद आर्य-सत्त्वमें ।

“क्या है आहुसो ! दुःख आर्य-सत्त्व ?—जन्म भी दुःख है । जरा (= बुढ़ापा) भी दुःख है । मरण भी दुःख है । शोक, रोगा-पिट्ठा, दुःख है । मनःसंताप, परेशानी भी दुःख है । जो इच्छा करके नहीं पाता वह भी दुःख है । संक्षेपमें पाँच उपादान-स्फंध दुःख हैं ।

“आहुसो ! पाँच उपादान-स्फंध कौनसे हैं ?—(पाँच उपादान-स्फंध हैं) जैसे कि—रूप-उपादान स्फंध, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ० । आहुसो ! रूप-उपादान-स्फंध क्या है ?—चार महाभूत, और चारों महाभूतोंको लेकर (बननेवाले) रूप । आहुसो ! चार महाभूत कौनसे हैं ?—पृथिवी-धातु, आप (= पानी) ०, तेज (= वायु) ०, वायु ० । आहुसो ! पृथिवी-धातु क्या है ?—पृथिवी धातु है (दो), जाष्वात्मिक (= शरीरमें) और बाहरी । आहुसो ! जाष्वात्मिक पृथिवी-धातु क्या है ?—जो शरीरमें (= अर्थात्म) इरण्ड शरीरमें कंकण कंडोर (पदार्थ) हैं, जैसे कि—केश, लोम, मल, दन्त, त्वक् (= चमड़ा), मांस, लायु (= नहाव), अस्थि, अस्थिके भीतरको मज्जा, शुक्ल, हृदय, चक्रे, छोमक, उद्वा, फुस्फुस, अर्ति, तली-अर्ति, उदरका मल (= कुरीप) । और भी जो कुछ शरीरमें प्रतिशरीरके भीतर कंकण, कंडोर (पदार्थ) गृहीत हैं । यह आहुसो ! जाष्वात्मिक पृथिवी-धातु कही जाती है । जो कि जाष्वात्मिक पृथिवी धातु है, और जो बाहरी (= बाहिरा) पृथिवी-धातु है, वह पृथिवी धातुही है । ‘वह वह (पृथिवी) न मेरी है, न यह मैं हूँ, न यह मेरा आत्मा है’ यह यथावृत्ते अच्छी प्रकार जानकर देखना चाहिये । इस प्रकार इने पदार्थोंके अच्छो प्रकार जानकर देखनेसे, (द्रष्टा) पृथिवी-धातुसे निर्वेद (= उदासीनता) को प्राप्त होता है । पृथिवी धातुसे चित्तको चित्त करता है ।

“आलुसो ! ऐसा भी समय होता है, जब बाहरी पृथिवी-धातु कुपित होती है, उस समय बाहरी पृथिवी धातु अन्तर्धान होती है । (तब) आलुसो ! इतनी महान् बाहरी पृथिवी-धातुकी भी अनित्यता = क्षय-धर्मता = वि-परिणाम-धर्मता जान पड़ती है । इस क्षुद्र कायाका तो क्या (कहना है) ? तृष्णासे कैसा (= सण्हुपादिण) जिसे ‘मैं’, ‘मेरा’ या ‘मैं हूँ’ (कहता); वही इसकी नहीं होती ।

“मिथुसो ! जब दूसरे आक्रोश = परिहास = रोष = पोषा देते हैं, तो वह समझता है—‘यह उत्पन्न दुःस्वरूप-वेदना (= अनुभव) मुझे ओत्रके सम्बन्ध (= संस्पर्श) से उत्पन्न हुई है । और यह कारणसे (उत्पन्न हुई है) अ-कारणसे नहीं । किस कारणसे ?—स्पर्शके कारण । ‘स्पर्श अनित्य है’—यह वह देखता है । ‘वेदना अनित्य है’ ० ‘संज्ञा अनित्य है’ ० । ‘संस्कार अनित्य है’ ० । ‘विज्ञान अनित्य है’ ० । उसका चित्त धातु (= पृथिवी) रूपी विषयसे पृक्, प्रसन्न (= स्वच्छ), स्थिर, विमुक्त होता है । उस मिथुके साथ आलुसो ! यदि दूसरे, हाथके योग (= संस्पर्श) से, डेढके योगसे, घँठके योगसे, शस्त्रके योगसे अन्-इष्ट = अ-काल = अ-मनाप (व्यवहार) से वर्ताव करते हैं । वह यह जानता है—कि ‘यह इस प्रकारकी काया है, जिसमें पाणि-संस्पर्श भी लगते हैं, डेढके संस्पर्श भी ०, घँठके संस्पर्श भी ०, शस्त्रके संस्पर्श भी ० । भगवान्ने एक-चोपम (= आराके समान) अववाद (= उपदेश) में कहा है—‘मिथुसो ! यदि चौर डाहू (= ओचरक = टूटका) दोनों ओर दूधेवाले आरसे भी एक एक भंग काटें, वहाँपर भी जो मनको दूषित करे, वह मेरे शासन (= उपदेश) (के अनुकूल आचरण) करनेवाला नहीं है ।’ मेरा वीर्य (= उद्योग) चकता रहेगा, विस्मरण-रहित स्मृति मेरी उपस्थित (रहेगी), काया स्थिर (= प्रभञ्ज) अ-संचल (= अ-सारद), चित्त समाहित = एकाम (रहेगा) । चाहे इस कायामें पाणि-संस्पर्श हो, पैदा भगना हो, डण्डा परे, शस्त्र लगे, (किंतु) सुदोंका उपदेश (पूरा) करना ही होता ।’

“आलुसो ! उस मिथुको, इस प्रकार बुद्धको याद करते, इस प्रकार धर्मको याद करते, इस प्रकार संघको याद करते, कुशल-संयुक्त (= निर्मल) उपेक्षा जब नहीं रहती । वह उससे उदास होता है, संवेगको प्राप्त होता है—‘अहो ! अ-काम है मुझे, मुझे लान नहीं हुआ, मुझे दुर्लभ है, सुलभ नहीं हुआ, जो मुझे इस प्रकार बुद्ध-धर्म-संघको स्मरण करते कुशल-युक्त उपेक्षा नहीं रहती, जैसे कि आलुसो ! घट्ट (= तुण्डिका) ससुरको देखकर संविभ्र होती है, संवेगको प्राप्त होती है । इसी प्रकार आलुसो ! उस मिथुको ऐसे बुद्ध-धर्म-संघ (के तुणों) को याद करते कुशल-संयुक्त उपेक्षा नहीं रहती, वह उससे ० संवेगको प्राप्त (= उदास) होता है—मुझे अलाम है ० । आलुसो ! उस मिथुको यदि इस प्रकार बुद्ध-धर्म-संघको अनुस्मरण करते कुशल-युक्त उपेक्षा रहती है, तो वह उससे सन्तुष्ट होता है । इतनेसे भी आलुसो ! मिथुने बहुत कर लिया ।

“क्या है आलुसो ! आप-धातु ?—आप (= जल)-धातु दो होती है, आध्यात्मिक और बाहरी । आलुसो ! आध्यात्मिक आप-धातु क्या है ?—जो शरीरमें प्रतिशरीरमें पानी, या पानीका (पदार्थ) है, जैसे कि पित्त, श्लेष्म (= कफ), घाघ, कोट्ट, त्वेद (= पसीना), मेद, अश्रु, कृता (= चर्बी), रास, नासिका-मल, कर्ण-मल (= कसिका), मूत्र, और जो कुछ और भी शरीरमें पानी या पानीका है । आलुसो ! यह आप-धातु कही जाती है । जो आध्यात्मिक आप-धातु है, और जो बाहरी आप-धातु है, वह आप-धातुही है । ‘यह मेरा नहीं’, ‘यह मैं नहीं’, ‘यह मेरा आत्मा नहीं’—इस प्रकार इसे यथार्थ जानकर, देखना चाहिये । इस प्रकार मधार्थतः

अच्छी तरह, जानकर, देखकर, आप-धातुसे निर्वेदको प्राप्त (= उदास) होता है। आप-धातुसे चित्तको विरक्त करता है।

“आतुसो ! ऐसा ३१ समय होता है, जब कि बाह्य आप-धातु प्रकुपित होती है। वह गाँवको भी, निगमको भी, नगरको भी, जनपदको भी, जनपद-प्रदेशको भी बहा देती है। आतुसो ! ऐसा समय होता है, जब महासमुद्रमें सौ योजन, दो सौ योजन, सात सौ योजनके भी पानी जाते हैं। आतुसो ! सो भी समय होता है, जब महासमुद्रमें सात ताल, ८० ताल, पाँच ताल, चार ताल, तीन ताल, दो ताल, तालभर भी पानी होता है। आतुसो ! सो समय होता है, जब महासमुद्रमें सात पोरिया (= पुरुष-परिमाण), ० पोरिया भर पानी रह जाता है। ० जब महासमुद्रमें आप-पोरिया, कमर भर, जाँघ भर, बुढ़ी भर पानी ठहरता है। ० जब महासमुद्रमें अंगुलिके पोर घाँते भरके लिये भी पानी नहीं रह जाता। आतुसो ! उस इतनी बड़ी बाह्य आप-धातुकी अनित्यता ० । ० । आतुसो ! इतनेसे भी भिक्षुने बहुत किया।

“आतुसो ! तेज-धातु क्या है ?—तेज-धातु है आध्यात्मिक और बाह्य। आतुसो ! आध्यात्मिक तेज-धातु क्या है ?—जो शरीरमें प्रतिशरीरमें तेज (= अग्नि) या तेजका है, जैसे कि—जिससे संतप्त होता है, ऊर्ध्वरिक्त होता है, परिवृष्य होता है, खाया पीया अच्छी प्रकार दबम होता है, या जो कुछ और भी शरीरमें, प्रति-शरीरमें, तेज या तेज-विषय है। यह कहा जाता है आतुसो ! तेज-धातु। जो यह आध्यात्मिक (= शरीरमेंकी) तेज-धातु है, और जो कि यह बाह्य तेज-धातु है, यह तेज-धातु ही है। ‘न यह मेरी है’, ‘न यह मैं हूँ’, ‘न यह मेरा आत्मा है’—इस प्रकार इसे यथार्थ जानकर देखना चाहिये। इस प्रकार इसे यथार्थतः जानकर, देखनेसे तेज-धातुसे निर्वेदको प्राप्त होता है, तेज-धातुसे चित्तको विरक्त करता है। ० ।

“आतुसो ! ऐसा समय (भी) होता है, जब बाह्य तेज-धातु कुपित होती है। वह गाँव, निगम, नगर ० को भी जलाती है। वह इरिवाली महामार्ग (= पन्थान), या ग्रीक या पानी (या) भूमि-भागकी प्राप्त हो, आहार न पा कुछ जाती है। आतुसो ! ऐसा भी समय होता है, जब कि इसे सुर्गीके पर भर भी, चमकेके छिलके भर भी ईँके हैं। आतुसो ! उस इतने बड़े तेज-धातुकी अनित्यता ० । ० । आतुसो ! इतनेसे भी भिक्षुने बहुत किया।

“आतुसो ! वायु-धातु क्या है ?—वायुधातु आध्यात्मिक भी है, बाह्य भी। आध्यात्मिक वायु-धातु कौन है ?—जो शरीरमें प्रति-शरीरमें वायु या वायुका (पदार्थ) है, जैसे कि ऊर्ध्वगामी वात, अधोगामी वात (= इवा), कुक्षि (= पेट) के वात, कोठें रहनेवाले वात, अङ्ग प्रत्यङ्गमें अनुसरण करनेवाले वात, या आघास-प्रणाल, और जो कुछ और भी ० । यह आतुसो ! आध्यात्मिक वायु-धातु ० । कहा जाता है।

“आतुसो ! ऐसा समय भी होता है, जब कि बाह्य वायु-धातु कुपित होती है, वह गाँवको भी ० उड़ा ले जाती है। आतुसो ! ऐसा समय (भी) होता है, जब धीमेके पिछले महीनेमें ठाण्ठा पंजा हुआकर भी हवाको खोजते हैं, “आतुसो ! इस इतनी बड़ी वायुधातु ० । उस भिक्षुको यदि आक्रोश ० । ० । इतनेसे आतुसो ! भिक्षुने बहुत कर लिया।

“जैसे, आतुसो ! काष्ठ, धल्ली, तृण और मृत्तिकासे चिरा आकाश पर कहा जाता है, ऐसेही आतुसो ! अस्थि, स्नायु, मांस और चर्मसे चिरा आकाश, रूप (= मूर्ति-शरीर) कहा जाता है। (जब) आध्यात्मिक (शरीरमेंकी) अस्थि अ-विकृत होती है, (किन्तु) बाह्य रूप खामने नहीं आते; (तो) उनसे समन्वाहार (= मनसिकार-पूर्वक विषय-ज्ञान) उत्पन्न नहीं होता, उनसे उत्पन्न विज्ञान-भाग प्रादुर्भूत नहीं होता। जब आतुसो ! शरीरमेंकी अस्थि अ-विकृत होती

है, बाह्य रूप सामने आते हैं, तो उनसे विषय-ज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार उनसे उत्पन्न (स्कन्धके) विज्ञान-भागका प्रादुर्भाव होता है ।

“जो बहु-विज्ञानके साधका रूप है, वह रूप-उपादान-स्कन्ध गिना जाता है । जो वेदना है, वेदना-उपादान-स्कन्ध गिना जाता है । ० संज्ञा ० संज्ञा-उपादान-स्कन्ध ० । ० संस्कार ० संस्कार-उपादान-स्कन्ध ० । ० विज्ञान ० विज्ञान-उपादान-स्कन्ध ० । सो इस प्रकार जानता है—इस प्रकार इन पाँचों उपादान-स्कन्धोंका संग्रह=सन्निपात=समवाय होता है । यह भगवान् ने भी कहा है—“जो प्रतीत्य-समुत्पादको देखता (=साक्षात् करता) है, वह धर्मको देखता है, जो धर्मको देखता है, वह प्रतीत्य-समुत्पाद (=कार्य कारणसे सभी चीज़ोंको उत्पत्ति) को देखता है । यह प्रतीत्य-समुत्पन्न (=कारण करके उत्पन्न है) जो कि यह पाँच उपादान-स्कन्ध हैं । जो इन पाँच उपादान-स्कन्धोंमें जन्म (= हवि)=आलय=अनुगम=अध्यवसान है, वही दुःख समुदय है । जो इन पाँच उपादान-स्कन्धोंमें जन्म राम का हदना, डोपना है, वह दुःख निरोध है । इतनेसे भी आहुसो ! भिक्षुने बहुत किया । ० ।

“आहुसो ! यदि आध्यात्मिक (= शरीरमेंका) भोजन ज-विकृत होता है । ० । ० ब्राह्म ० । ० विद्धा ० । ० काम ० । ० मन ० । इतनेसे भी, आहुसो ! भिक्षुने बहुत किया । ० । ”

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा । सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रके माथणको अनुमोदित किया ।

२६—महा-सारोपम-सुत्तन्त (१३।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय, देवदत्तके निकल जानेके थोड़े ही समय बाद अयबान् राजगृहमें गृध्रकूट-पर्वत पर विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको देवदत्तके संबंधमें सम्बोधित किया ।

“भिक्षुओ ! कोई कुलपुत्र श्रद्धापूर्वक करते बेपर हो प्रमजित (= संन्यासी) होता है—‘मैं जन्म, जरा, मरण, शोक, रोदन, कंदन, दुःख = दुर्मनस्कता, परेशानोंमें पड़ा हुआ हूँ । दुःखमें पड़ा, दुःखसे किस मेरे लिये क्या कोई इस केवल (= जालिस) दुःख-रुक्च (= दुःखपुत्र) के अन्त करनेका उपाय है ?’ वह इस प्रकार प्रमजित हो, लाभ, सत्कार, श्लोक (= प्रशंसा) का भागी होता है । उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे संतुष्ट हो (अपनेको) परिपूर्ण-संकल्प समझता है । वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे अपने लिये अभिमान करता है और दूसरेको नीच समझता है—‘मैं लाभवाला, सत्कारवाला, श्लोकवाला हूँ और वह दूसरे भिक्षु अप्रसिद्ध शक्तिहीन है । वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे भतवाला होता है, प्रमादी बनता है, प्रमाद (= मूल) करने लगता है । प्रमत्त हो दुःखमें पड़ता है ।

“जैसे भिक्षुओ ! सार चाहनेवाला = सारगवेपी पुरुष, सार (= हीर) की चीजमें धूमता हुआ एक सारवाले महान् वृत्तके रहते, उसके सारको छोव, फल्यु^१ को छोव, जालको छोव, पपड़ीको छोव, शाखा पत्तेको काट, ‘यही सार है’—समझ लेकर चला जाए । उसको आँखवाला पुरुष देखकर ऐसा कहे—‘हे पुरुष ! आपने सारको नहीं समझा, फल्युको नहीं समझा, जालको नहीं समझा, पपड़ीको नहीं समझा, शाखा-पत्तेको नहीं समझा, जो कि आप सार चाहनेवाले, सार-गवेपी ० ‘यही सार है’—समझ ले जा रहे हैं । सारले जो काम करना है वह..... इससे न होगा’ । ऐसे ही भिक्षुओ ! यहाँ एक कुल-पुत्र ० दुःखमें पड़ता है । भिक्षुओ ! इसे कहते हैं कि भिक्षुने मध्यमार्थके शाखा-पत्तेको ग्रहण किया और उतने ही से (अपने कूलको) समाप्त कर दिया ।

“यहाँ भिक्षुओ ! कोई कुल-पुत्र श्रद्धासे ० वह इस प्रकार प्रमजित हो, लाभ, सत्कार श्लोकका भागी होता है । (किन्तु) वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे संतुष्ट नहीं होता (अपने को) परिपूर्ण-संकल्प नहीं समझता । वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे न अपने लिये प्रसंग करता है, न दूसरों को नीच समझता है । वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे, भतवाला नहीं होता, प्रमादी नहीं होता, प्रमादमें लिस नहीं होता । प्रमादरहित हो शील (= सदाचार) का आराधन

^१ हीर और छिलकेके बीचका काष्ठ ।

करता है। उस शीलके आराधनसे संतुष्ट होता है। (अपनेको) पूर्ण-संकल्प समझता है। वह उस शील-संपदासे अपने लिये अभिमान करता है और दूसरोंको नीच समझता है—'मैं शीलवान् (= सदाचारी), कल्याण-धर्मा (= पुण्यात्मा) हूँ और वे दूसरे भिक्षु दुराचारी, पापधर्मा हैं'। वह उस शीलकी संपदासे मतवाला हो जाता है, प्रमादी होता है, प्रमादमें लिस होता है, प्रमादी होकर दुःखित होता है।

"जैसे भिक्षुओ! सारका चाहनेवाला, सारका खोजी, पुरुष सारकी तलाशमें फिरते (धूमते हुए) • फलु छोड़कर छाल और पपहीको काटकर—'यही सार है'—समझ लेकर चला जाय। उसको आँखवाला पुरुष देखकर ऐसा कहे—आप सारको नहीं समझे, नहीं फलुको समझे, नहीं छालको समझे, नहीं पपहीको समझे, नहीं ज्ञाना-पत्रको समझे। यह आप सार चाहनेवाले • लेकर जा रहे हैं; • ऐसेही भिक्षुओ! यहाँ कोई कोई कुल-पुत्र • दुःखित होता है। यह कहा जाता है भिक्षुओ! कि भिक्षुने मन्त्रचर्यकी पपहीको ग्रहण किया, उसीसे (अपने कृतकी) समाप्ति कर दी।

"और भिक्षुओ! कोई कुल-पुत्र • लाभ सत्कार इलाक़से संतुष्ट न हो • वह उस शील-संपदासे नहीं मतवाला होता • प्रमाद-रहित हो • उस समाधिकी संपदासे संतुष्ट होता है (अपनेको) परिपूर्ण-संकल्प समझता है। वह उस समाधि-संपदासे अपने लिये अभिमान करता है और दूसरोंको नीच समझता है—'मैं समाधि-युक्त-चित्तवाला हूँ, एकाग्र चित्त हूँ, किन्तु वे, दूसरे भिक्षु समाधि-रहित, विक्षित-चित्तवाले हैं। वह उस समाधि-संपत्तिसे मतवाला होता है • प्रमादी हो दुःखित होता है। जैसे भिक्षुओ! सार चाहनेवाला • सार (= हीर) को छोड़कर फलु और छालको काटकर, यही सार है—समझ लेकर चला जाय। उसको आँखवाला पुरुष • ऐसे ही भिक्षुओ! यहाँ कोई कुल-पुत्र • दुःखी होता है। यह कहा जाता है भिक्षुओ! कि भिक्षुने मन्त्रचर्यकी छालको ही ग्रहण किया •।

"और भिक्षुओ! कोई कुल-पुत्र • वह उस समाधि-संपदासे नहीं मतवाला होता •; प्रमाद-रहित हो ज्ञान-दर्शन (= तत्त्व-साक्षात्कार) का आराधन करता है। वह उस ज्ञान-दर्शनसे संतुष्ट होता है, परिपूर्ण-संकल्प (समझता है)। वह ज्ञान-दर्शनसे अपने लिये अभिमान करता है, दूसरोंको नीच समझता है—'मैं ज्ञानता देखता (= तत्त्व-साक्षात्कार करता) विहरता हूँ', किन्तु, वे दूसरे भिक्षु न जानते, न देखते विहरते हैं वह उस ज्ञान-दर्शनसे मतवाला होता है • दुःखी होता है। जैसे भिक्षुओ! सार चाहनेवाला • सारको छोड़कर फलुको काट, यही सार है—समझ लेकर चला जाय। • ऐसेही भिक्षुओ! यहाँ कोई कुल-पुत्र • दुःखित होता है। यह कहा जाता है भिक्षुओ! कि भिक्षुने मन्त्रचर्यके फलुको ग्रहण किया •।

"और भिक्षुओ! कोई कुल-पुत्र • वह उस ज्ञान-दर्शनसे संतुष्ट होता है; किन्तु, परिपूर्ण संकल्प नहीं होता। वह उस ज्ञान-दर्शनसे न अपने लिये अभिमान करता है; और न दूसरोंको नीच समझता है। वह उस ज्ञान-दर्शनसे मतवाला नहीं होता; प्रमाद नहीं करता.....। प्रमाद-रहित हो अकालिक (= सद्यः प्राप्य) मोक्षको आराधित करता है। भिक्षुओ! यह संभव नहीं, इसका अवकाश नहीं, कि वह भिक्षु उस अकालिक मोक्षसे स्तुत होवे। जैसे भिक्षुओ! सार चाहनेवाला • सारको ही काटकर 'यही सार है'—समझ ले जाये। उसे आँखवाला पुरुष देखकर यह कहे—'अहो! आपने सारको समझा है • ज्ञाना-पत्रको समझ लिया है; सो यह आप सार चाहनेवाले = सार-गवेषी, सारकी खोजमें धूमते, सारवाले महात्, बुद्धके कर्ने रहते सारको ही—'यह सार है' (समझ), काटकर ले जा रहे हैं। जो इन्हें सारसे काश लेना है वह मतकल्प पूरा

होगा । ऐसेही भिक्षुओं । यहाँ कोई कुल-दुख ० उस अकालिक मोक्षसे च्युत होवे ।

“इस प्रकार भिक्षुओं ! यह ब्रह्मचर्य लाभ, साकार, इलोच धामके लिये नहीं है । शील-संपत्तिके लाभके लिये नहीं है, न समाधि-संपत्तिके लाभ लिये है, न ज्ञान-दर्शन (= तत्त्वके ज्ञान और साक्षात्कार)के लाभके लिये है । भिक्षुओं ! जो यह न च्युत होनेवाली चित्तधी मुक्ति है, इसीके लिये यह ब्रह्मचर्य है । यही सार है, यही अन्तिम निष्कर्ष है ।”

भगवान्ने यह कहा, संतुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के आशयको अभिनन्दित किया ।

३०-चूल-सारोपम-सुत्तन्त (१।३।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आश्रम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब पिंगलकोच्छ ब्राह्मण, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्के साथ.....
(कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे पिंगलकोच्छ ब्राह्मणने भगवान्से यह कहा—

“ओ मौलम ! जो वह संघपति = गण-पति ज्ञात, यशस्वी तीर्थंकर (= मतस्थापक) हैं, जैसे कि—पूर्ण काट्यप, मकखली गोसाल, अजित केश-कम्बली, प्रकुप कात्यायन, संजय वैलट्टि-पुत्त, निगंठ नात-पुत्त, सभी अपनी प्रतिज्ञा (= मत) को समझते हैं; या सभी नहीं समझते या कोई कोई समझते हैं; कोई कोई नहीं समझते ?”

“यस ब्राह्मण ! रहने दे इसे—‘सभी अपने ० नहीं समझते ।’ ब्राह्मण तुझे धर्मका उपदेश करता हैं, उसे सुन अच्छी तरह मनमें कर, कहता हैं ।”

“अच्छा, भो !”—(कह) पिंगलकोच्छ ब्राह्मणने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“जैसे ब्राह्मण ! सार चाहनेवाला पुरुष ०^१ शाखापत्रकों काट, यही सार है—समझ लेकर चला जाय । तो सार (= हीन) से जो काम करना है, वह उससे न होगा ।

“जैसे कि ब्राह्मण ! सार चाहनेवाला पुरुष ०^२ तालको काटकर—‘यही सार है’—समझ लेकर चला जाय; तो सारसे जो काम करता है वह उससे न होगा ।

“जैसे ब्राह्मण ! ०^३ पपवीको काटकर, यही सार है—समझ लेकर चला जाय । ० ।

“जैसे ब्राह्मण ! ०^४ कलपुको काटकर, यही सार है—समझ लेकर चला जाय । ० ।

“जैसे ब्राह्मण ! ०^५ सारको ही काट कर-‘यही सार है’—समझ ले जाय । उसे आँस वाला पुरुष देख कर यह कहे—अहो ! आपने सारको समझा है ०^६ सारसे जो काम आपको करना है वह इससे होगा ।

“ऐसे ही ब्राह्मण ! कोई पुरुष अज्ञापूर्वक घरसे बेघर हो प्रमत्तित होता है ०^७ वह उस लाभ, सत्कार, श्लोकसे संतुष्ट हो अपनेको परिपूर्ण-संकल्प समझता है । वह उस लाभ, सत्कार श्लोकसे अपने लिये अभिमान करता है, और दूसरेको नीच समझता है—मैं लाभ-सत्कार श्लोक वाला हूँ, और वे दूसरे मित्र अमत्तिज्ञ, शक्ति-हीन हैं । वह उस लाभ, सत्कार श्लोकके कारण,

^१ देखो पृष्ठ १२२ । ^२ देखो पृष्ठ १२२ । ^३ देखो पृष्ठ १२२ । ^४ देखो पृष्ठ १२२ ।

^५ देखो पृष्ठ १२२ । ^६ देखो पृष्ठ १२२ ।

जो दूसरे उत्तम=प्रणीततर पदार्थ (= धर्म) हैं, उनके साक्षात्कारके लिये रुचि नहीं उत्पन्न करता, उद्योग नहीं करता, आलसी और शिथिल होता है। जैसे ब्राह्मण ! वह सार चाहने वाला ० शाखा पत्र को ० लेकर चला जाय ० वह बात उससे न हो। उसीके समान, ब्राह्मण ! मैं इस मनुष्यको कहता हूँ ।

“और फिर ब्राह्मण ! यहाँ कोई पुरुष श्रद्धापूर्वक ०^१ वह उस शीलका आराधन करता है, वह उस शील-संपदासे अपने लिये अभिमान करता है ०^२ वह उस शील-संपदाके कारण जो दूसरे उत्तम ० पदार्थ हैं, उनके साक्षात्कारके लिये रुचि नहीं उत्पन्न करता, उद्योग नहीं करता ० । जैसे ब्राह्मण ! वह सार चाहनेवाला ० आलसी ० लेकर चला जाय ० वह इससे न होगा । उसीके समान ब्राह्मण ! मैं इस मनुष्यको कहता हूँ ।

“और फिर ब्राह्मण ! कोई पुरुष श्रद्धापूर्वक ०^३ वह न उस शील-संपदासे अपने लिये अभिमान करता है न दूसरेको नीच समझता है । शील-संपदासे जो उत्तम=प्रणीततर पदार्थ हैं, उनके साक्षात्कारके लिये रुचि उत्पन्न करता है, उद्योग करता है, आलसी नहीं होता, शिथिल नहीं होता । (और) वह समाधि-संपदाका आराधन करता है । वह उस समाधि-संपदासे सन्तुष्ट होता है; (अपनेको) परिपूर्ण-संकल्प समझता है ०^४ विभ्रान्त-चित्त है । समाधि-संपदा से जो दूसरे पदार्थ उत्तम=प्रणीततर हैं, उनके साक्षात्कार करनेके लिये रुचि नहीं उत्पन्न करता ० । जैसे ब्राह्मण ! वह सार चाहने वाला ० पपहीको ० लेकर चला जाय ० वह बात इससे न हो । उसीके समान ब्राह्मण ! मैं इस मनुष्यको कहता हूँ ।

“और फिर ब्राह्मण ! कोई पुरुष श्रद्धापूर्वक ०^५ वह उस समाधि-संपदासे न अपने लिये अभिमान करता है ० । समाधि संपदासे जो उत्तम ० पदार्थ हैं, उनके साक्षात्कारके लिये रुचि उत्पन्न करता है ० । (और) वह ज्ञान-दर्शनका आराधन करता है । वह उस ज्ञान-दर्शनसे सन्तुष्ट होता है ० । जैसे ब्राह्मण ! वह सार चाहनेवाला पुरुष ० फल्युको ० लेकर चला जाय ० उसीके समान ब्राह्मण ! मैं इस मनुष्यको कहता हूँ ।

“और फिर ब्राह्मण ! कोई पुरुष श्रद्धापूर्वक ०^६ वह उस ज्ञान-दर्शनसे सन्तुष्ट होता है । किन्तु परिपूर्ण-संकल्प नहीं समझता । वह उस ज्ञान-दर्शनसे न अपने लिये अभिमान करता है न दूसरेको नीच समझता है । उस ज्ञानदर्शनसे जो दूसरे पदार्थ उत्तम ० हैं; उनके साक्षात्कारके लिये रुचि उत्पन्न करता है ० ।

“ब्राह्मण ! कौनसे पदार्थ ज्ञान-दर्शनसे उत्तम=प्रणीततर हैं ?—ब्राह्मण ! ०^७ प्रथम-ध्यान को प्राप्त हो विहरता है । ब्राह्मण ! यह पदार्थ भी ज्ञान-दर्शनसे उत्तम ० है । और फिर ब्राह्मण ! ०^८ द्वितीय-ध्यानको ० । ०^९ तृतीय-ध्यानको ० । ०^{१०} चतुर्थ-ध्यानको ० । ०^{११} आकाशा नन्त्यायतनको ० । ०^{१२} विज्ञानानन्त्यायतनको ० । ०^{१३} आकिञ्चन्यायतनको ० । ०^{१४} नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको ० । ०^{१५} संशोवेदित-निरोधको प्राप्त हो विहरता है । प्रज्ञासे देखकर उसके आत्मव (= चित्तमल) नष्ट होते हैं । ब्राह्मण ! यह पदार्थ भी ज्ञान-दर्शनसे उत्तम ० है । जैसे ब्राह्मण ! सार चाहनेवाला ०^{१६} सारको ही काट कर, ‘पही सार है’—तमझ ले जाने । जो उसे सारसे काम करता है वह उत्तका होगा । ब्राह्मण ! उसीके समान मैं इस पुरुषको कहता हूँ ।

^१ देखो पृष्ठ १२४ ।^२ देखो पृष्ठ १५ ।^३ देखो पृष्ठ १७, २८, ११० ।^४ देखो पृष्ठ १२३ ।

“इस प्रकार आश्रय ! यह आश्रय लाभ ०^१ के लिये नहीं है । आश्रय ! जो यह म
प्युत होने वाली वस्तु की सुक्ति है, इसीके लिये यह आश्रय है, यही सार है, यही अन्तिम
निष्कर्ष है ।”

ऐसा कहने पर पिगल्लकोच्छ आश्रयने भगवान्से यह कहा—

“आश्रय भो गौतम ! ०^१ आजसे आप गौतम मुझे अञ्जलि-वद धारणामत उपासक
स्वीकार करें ।”

३—(इति) श्रोपम्मवग्ग (११३)

३१-चूल-गोसिङ्ग-सुचन्त (१।४।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् पादिक^१ के गिजकावस्थथमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् अनुसुद्ध, आयुष्मान् नन्दिय, आयुष्मान् किम्बिल, गोसिङ्ग-सालवनदायमें विहार करते थे।

तब भगवान् सार्वकालको एकान्तचिन्तनसे उठकर जहाँ गोसिङ्ग सालवनदाय था, वहाँ गये। दावपालक (= वनपाल) ने दूरसे ही भगवान्को आते देखा। देख कर भगवान्से कहा—

“महाश्रमण ! इस दावमें प्रवेश मत करो। यहाँपर तीन कुलपुत्र बघाकाम (= मौजसे) बिहर रहे हैं। इनको तकलीफ मत दो।”

आयुष्मान् अनुसुद्धने दाव-पालको भगवान्के साथ बात करते सुना। सुन कर दाव-पालसे यह कहा—

“आयुस ! दाव-पाल ! भगवान्को मत मना करो। हमारे शास्त्रा भगवान् आये हैं।”

तब आयुष्मान् अनुसुद्ध जहाँ आयुष्मान् नन्दिय और आयु० किम्बिल थे, वहाँ गये। जाकर बोले—

“आयुष्मानो ! चलो आयुष्मानो ! हमारे शास्त्रा भगवान् आ गये।”

तब आयुष्मान् अनुसुद्ध, आयु० नन्दिय, आयु० किम्बिलने भगवान्की आज्ञाकारी कर, एकमे पात्र-बीवर ग्रहण किया, एकने आसन बिछाया, एकने पादोत्क रक्ता। भगवान्ने बिछाये आसन पर बैठ पैर धोया। वे भी आयुष्मान्, भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे हुए आयुष्मान् अनुसुद्धको भगवान्ने कहा—

“अनुसुद्धो ! लम्बीय तो है ? = बापनीय तो है ? पिण्डके लिये तो तुम लोग तकलीफ नहीं पाते ?”

“लम्बीय है भगवान् ! ० ”

“अनुसुद्धो ! क्या एक चित्त, परस्पर मोद-सहित, दूध-पानी हुए, परस्पर प्रिय दृष्टिमें देखते, बिहरते हो ?”

“हाँ भन्ते ! हम एक-चित्त ० ।”

“तो कैसे अनुसुद्धो ! तुम एक-चित्त ० ?”

“भन्ते ! मुझे यह विचार होता है—‘मेरे लिये श्रम है’ ‘मेरे लिये सुखाम प्राप्त हुआ है’ जो ऐसे स-ब्रह्मचारियों (= सुव भाइयों) के साथ बिहरता हूँ भन्ते ! इन आयुष्मानोंमें मेरा काविक कर्म अन्दर और बाहरसे मिश्रतापूर्ण होता है, पाविक कर्म अन्दर और बाहरसे मिश्रतापूर्ण

^१ संभवतः वर्तमान जेवरदीह, मसरुल (जि० तारन) ।

होता है, मानसिक कर्म अन्दर और बाहर ० । तब भन्ते ! मुझे यह होता है—क्यों न मैं अपना मन हटाकर, इन्हीं आयुष्मानोंके चित्तके अनुसार चरूँ । लो भन्ते ! मैं अपने चित्तको हटा कर इन्हीं आयुष्मानोंके चित्तोंका अनुवर्तन करता हूँ । भन्ते ! हमारा शरीर बाना है किन्तु चित्त एक... ।”

आयुष्मान् नन्दिनने भी कहा—“भन्ते ! मुझे यह होता है ० ।”

आयुष्मान् किम्बिलने भी कहा “भन्ते ! मुझे यह ० ।”

“साधु, साधु, अनुस्सो ! अनुस्सो ! क्या मुझ प्रमाद-रहित, आलस्य-रहित, संयमी हो, विहरते हो ?”

“भन्ते ! हाँ ! हम प्रमाद-रहित ० ।”

“साधु, साधु, अनुस्सो ! क्या अनुस्सो ! इस प्रकार प्रमाद-रहित उद्योगी और एकाम चित्त हो विहरते, तुम्हें उत्तर-मनुष्य वर्ग (= दिव्य-शक्ति =) अलमार्ग-ज्ञान-दर्शन सुखपूर्वक विहार करना प्राप्त हुआ ?”

“क्या होगा भन्ते ! हमें ?—यहाँ हम भन्ते ! यथेच्छ ०^१ प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरते हैं । भन्ते ! प्रमाद-रहित ० विहरते यह उत्तर-मनुष्य-वर्ग ० प्राप्त हुआ है ।”

“साधु, साधु, अनुस्सो ! किन्तु इन विहारोंको पार करनेके लिये, इस विहारको ध्यात करनेके लिये, क्या अनुस्सो ! दूसरा कोई उत्तर-मनुष्य-वर्ग प्राप्त हुआ ?”

“क्या होगा भन्ते ! हमें ?—यहाँ हम भन्ते ! यथेच्छ ०^१ द्वितीय ध्यान ० । ०^१ तृतीय ध्यान ० । ०^१ चतुर्थ ध्यान ०^१ आकाशावकाशतन ० । ०^१ विज्ञानावकाशतन ० । ०^१ नैव-संज्ञानावकाशतनको प्राप्त हो विहरते हैं । प्रज्ञासे देखाकर, हमारे आलस्य नष्ट हो गये । भन्ते ! इस विहारके अतिशयणके लिये, इस विहारको शास्त्र करनेके लिये, यह दूसरा उत्तर-मनुष्य-वर्ग ० प्राप्त हुआ है । भन्ते ! इस सुखपूर्वक विहारसे यह कर उत्तम दूसरे सुख विहारको हम नहीं जानते ।”

“साधु, साधु, अनुस्सो ! इस सुख-पूर्वक विहारसे बढ़कर उत्तम दूसरा सुख पूर्वक विहार नहीं है ।”

तब भगवान् आयुष्मान् अनुस्स, आयुष्मान् नन्दिन, और आयुष्मान् किम्बिलको धार्मिक कथा द्वारा संवर्धित, सुमुत्तेजित, वसंस्मित कर आलस्यसे उठ कर, चले गये ।

तब आयुष्मान् अनुस्स, आयुष्मान् नन्दिन, और आयुष्मान् किम्बिल भगवान्को (कुछ दूर) पहुँचा कर लौट आये । आयुष्मान् नन्दिन और आयुष्मान् किम्बिलने आयुष्मान् अनुस्ससे यह कहा—

“क्या हमने आयुष्मान् अनुस्सको यह कहा था—‘हम इन इन विहारोंकी पूर्णताको प्राप्त हैं’ जो कि आयुष्मान् अनुस्सने भगवान्के स्तुत्य हमारे बारेमें धास्यवैकिं स्तव पर्यन्त (की बात) कही ?”

“मुझे आयुष्मानोंने नहीं कहा—‘हम इन इन विहारोंकी पूर्णताको प्राप्त हैं’ किन्तु मैंने आयुष्मानोंके चित्त (की बात)को अपने चित्तसे जान कर जाना कि, यह आयुष्मान् हम इन विहारोंकी पूर्णताको प्राप्त हैं । देवताओंने मुझे इस बातको वतसाया है—यह आयुष्मान् ० । उसे मैंने भगवान्के प्रदत्त करनेपर कहा ।”

तब दीर्घ-परजन नामक यज्ञ (= देवता) जहाँ भगवान् थे वहाँ गया; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर खड़ा हुआ। एक ओर खड़े हुए दीर्घपरजन यज्ञने भगवान्‌से यह कहा—

‘वज्रियो’ को लाभ है। सुन्दर लाभ मिला है, भन्ते ! यही जनताओं, जहाँ कि तब-गत अर्हद्-सम्यक्-सम्बुद्ध विहरते हैं, और आयुष्मान् अमरुद्ध, आयुष्मान् नन्दिष, आयुष्मान् किम्बिल—ये तीन कुल-पुत्र भी (विहरते) हैं । ०—

दीर्घपरजन यज्ञके शब्दको सुनकर भूमिवासी देवताओंने शब्द किया—वज्रियोंको ० । भूमिवासी देवताओंके शब्दको सुनकर वातुर्महाराजिक देवताओंने ० । ० आयस्विंश-देवताओंने ० । ० याम देवताओंने ० । ० तुषित देवताओंने ० । ० निर्माण-रति देवताओंने ० । पर-निर्मित-वशरती देवताओंने ० । ० ब्रह्म-कायिक देवताओंने ० । इस प्रकार उती क्षण उती सुहृत् में यह आयुष्मान् ब्रह्मलोक पर्यन्त विदित हो गये ।—

‘ऐसा ही है दीर्घ ! यह, ऐसा ही है दीर्घ ! यह, क्योंकि दीर्घ ! जिस कुलसे यह तीनों कुलपुत्र घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुए यदि वह कुल भी इन तीनों कुलपुत्रोंको प्रसन्नचित्तसे कारण करे तो वह उसके लिये दीर्घ-काल तक हितकर सुखकर होगा । दीर्घ ! जिस कुल-समुदायसे ० । ० जिस ग्रामसे ० । ० जिस निगम (= ऋष्ये) से ० । ० जिस नगरसे ० । ० जिस जन-पद (= देश) से यह तीनों कुलपुत्र घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुए, यदि वह जनपद भी इन तीनों कुलपुत्रोंको प्रसन्नचित्तसे कारण करे, तो वह उसके लिये दीर्घकाल तक हितकर सुखकर होगा ।

“यदि दीर्घ ! शविष ० । ० आग्रण ० । ० वैश्य ० । ० क्षत्र भी प्रसन्नचित्त ० सुखकर होगा । दीर्घ ! देवता-भार-ब्रह्मा-सहित, अमण-ब्राह्मण, देव-मनुष्य पुत्र सारी प्रजा इन तीनों कुलपुत्रोंका प्रसन्नचित्तसे कारण करे, तो देवता-भार-ब्रह्मा-सहित अमण-ब्राह्मण, देव-मनुष्य पुत्र सारी प्रजाके लिये दीर्घकाल तक हितकर, सुखकर होगा । “क्योंकि यह तीनों कुलपुत्र बहुत जनोंके सुखके लिये, बहुत जनोंके हितके लिये, लोककी अनुकंपाके लिये देव-मनुष्योंके अर्थ, हित, सुखके लिये तत्पर हैं ।”

भगवान्ने यह कहा, संतुष्ट हो दीर्घ-परजन यज्ञने भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१ वक्ता (= वर्तमान मुजफ्फरपुर और पणारनके निकले तथा दरभंगा और सारन जिलेका कुछ भाग ; प्रसन्नचित्त रहनेवाले ।

३२—महा-गोसिंग-सुचन्त (११४२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् गोसिंग-साल वनदायमें बहुतसे प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्वविर (= वृद्ध) शिष्योंके साथ विहार करते थे; जैसे कि—आयुष्मान् सारिपुत्र, आयुष्मान् महामौद्गल्यायन, आयुष्मान् महाकाश्यप, आयुष्मान् अनुरुद्ध, आयुष्मान् रेवत, और आयुष्मान् आनन्द तथा दूसरे भी प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्वविर शिष्योंके साथ। तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायन सार्धकाल ध्यानमें बैठकर जहाँ आयुष्मान् महाकाश्यप थे वहाँ गये। जाकर आयुष्मान् महाकाश्यपसे यह बोले—

“चलो आयुस काश्यप ! जहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र हैं वहाँ धर्म सुननेके लिये चले।”

“अच्छा आयुस !” (कह) आयुष्मान् महाकाश्यपने आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको उत्तर दिया।

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायन और आयुष्मान् महाकाश्यप और आयुष्मान् अनुरुद्ध वहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र थे वहाँ धर्म सुननेके लिये गये। आयुष्मान् आनन्दने दूरसे ही आ. महामौद्गल्यायन, आ. महाकाश्यप, और आ. अनुरुद्धको जिकिर आ. सारिपुत्र थे उधर धर्म सुननेके लिये जाते देखा। देखकर जहाँ आयुष्मान् रेवत थे वहाँ गये। जाकर आयुष्मान् रेवतसे यह बोले—

“अनुस ! यह स्वरूप जहाँ आ. सारिपुत्र हैं वहाँ धर्म सुननेके लिये जा रहे हैं। चलो आयुस ! जहाँ आ. सारिपुत्र हैं वहाँ हम भी धर्म सुननेके लिये चले।”

“अच्छा आयुस !” (कह) आ. रेवतने आ. आनन्दको उत्तर दिया।

तब आयुष्मान् रेवत और आ. आनन्द जहाँ आ. सारिपुत्र थे वहाँ धर्म सुननेके लिये चले। आयुष्मान् सारिपुत्रने दूरसे ही आ. रेवत और आयुष्मान् आनन्दको जाते देखा। देखकर आ. आनन्दसे कहा—

“आइये आ. आनन्द ! स्वागत है भगवान् के उपस्थाक (= निरंतर-सेवक) भगवान् के सदा समीप रहनेवाले आनन्दका। आयुस आनन्द ! रमणीय है गोसिंग सालवन। चाँदनी रात है। सारी पीतियोंमें साल फूले हुए हैं। मानो दिव्य गंध बह रहे हैं। आयुस आनन्द ! किस प्रकार के (भिक्षु) से यह गोसिंग सालवन शोभित होवेगा ?”

“आयुस सारिपुत्र ! भिक्षु यदि बहुश्रुत, श्रुतधर, श्रुत-संचयी (= सुनी शिक्षाओंका संचय करनेवाला) हो। जो वह धर्म आदिमें कल्याण, अर्थमें कल्याण और अन्तमें कल्याण रखने वाले, सार्धक स-व्यंजन केवल परिपूर्ण, परिशुद्ध, ब्रह्मचर्यको ब्रह्मचर्यमानेवाले हैं, वैसे धर्मोंको उस (भिक्षु) ने बहुत सुना हो, धारण किया हो, वचनसे परिचय किया हो, मनसे परमा हो, दृष्टि (= साक्षात्कार) में ऐसा लिया हो; (ऐसा भिक्षु) चार (प्रकार) की परिशुद्धको सर्वोत्तम पूर्ण, पद-व्यंजन-युक्त, स्वतंत्रता पूर्वक धर्म को अनुशयो (= चित्तमग्न) के नाशके लिये उपदेशों। आयुस सारिपुत्र ! इस प्रकारके भिक्षु द्वारा गोसिंग सालवन शोभित होगा।”

ऐसा कहने पर आबुलमान् सारिपुत्रने आ, रेवतसे यह कहा—“आबुस रेवत ! आ, आनंदने अपने विचारके अनुसार कह दिया । अब मैं आ, रेवतसे पूछता हूँ । आ, रेवत रमणोच है गोसिंग सालवन । ० आबुस रेवत ! किस प्रकार (के भिक्षु)ने यह गोसिंग सालवन शोभित होगा ?”

“यहाँ आबुस सारिपुत्र ! भिक्षु यदि ध्यान-रत, ध्यान-प्रेमी होवे, अपने (मनके) भीतर चित्तकी एकाग्रतामें तत्पर और ध्यानसे न हटनेवाला, विषयना (= साक्षात्कार किने गये ज्ञान) से युक्त, शून्य गृहोंको बनानेवाला होवे । आबुस सारिपुत्र ! इस प्रकारके भिक्षुद्वारा गोसिंग सालवन शोभित होगा ।”

ऐसा कहने पर आ, सारिपुत्रने आ, अनुब्रूते कहा—

“आबुस अनुब्रू ! आ, रेवतने अपने विचारके अनुसार कह दिया ० किस प्रकार (के भिक्षु)से गोसिंग सालवन शोभित होगा ?”

“आबुस सारिपुत्र ! भिक्षु अ-मानव विबुध दिव्यचक्षुसे सहस्रों लोकोंको जलजोवन करे, (वैसे ही) जैसे कि आबुस सारिपुत्र ! आँखवाला पुरुष महलके ऊपर सड़ा सहस्रों चबूतोंके समुदाय को देखे, वैसेही आबुस सारिपुत्र ! ० दिव्यचक्षुसे सहस्रों लोकोंको देखे । आबुस सारिपुत्र ! ऐसे भिक्षुसे गोसिंग सालवन शोभित होगा ।”

ऐसा कहने पर आ, सारिपुत्रने आ, महाकाश्यपसे यह कहा—“आबुस काश्यप ! आ, अनुब्रूने अपने विचारके अनुसार कह दिया ० !”

“आबुस सारिपुत्र ! भिक्षु स्वयं आरण्यक (= वनमें रहनेवाला) हो और अरण्यकताका प्रशंसक हो । स्वयं पिंडपातिक (= मजूकरी माँगनेवाला) हो और पिंडपातिकताका प्रशंसक हो । स्वयं पांसुकूलिक (= फेंके विषयोंकी पहिनेवाला) हो ० । स्वयं त्रैचीवरिक (= सिर्फ तीन चबूतोंकी पासमें रखनेवाला ० । स्वयं-अल्लेच्छ ० । स्वयं-संतुष्ट ० । ० अनिविक्त (= एकान्त चित्त-रत) ० । ० संसर्गरहित ० । ० उद्योगी ० । ० सदाचारी ० । ० समाधिपुक्त ० । ० प्रज्ञा-युक्त ० । ० विमुक्ति-युक्त ० । ० विमुक्तिके ज्ञान-दर्शन (= साक्षात्कार)से युक्त ० । आबुस सारिपुत्र ! इस प्रकारके भिक्षुसे ० ।”

ऐसा कहने पर आ, सारिपुत्रने आ, मौद्गल्यायनसे यह कहा—

“आबुस मौद्गल्यायन ! आ, महाकाश्यपने अपने विचारके अनुसार कह दिया ० !”

“आबुस सारिपुत्र ! दो भिक्षु अभिधर्म (= धर्म-संबंधी) क्या कहें, वह एक दूसरेसे प्रभू पूछें, एक दूसरेके प्रभका उत्तर दें, क्रिद न करें, उनकी क्या धर्म-संबंधी चले । आबुस सारिपुत्र ! इस प्रकारके भिक्षुसे ० ।”

तब आ, मौद्गल्यायनने आ, सारिपुत्रसे यह कहा—“आबुस सारिपुत्र ! हमने अपने विचारके अनुसार कह दिया । अब हम आ, सारिपुत्रसे पूछते हैं ० ?”

“आबुस मौद्गल्यायन ! एक भिक्षु चित्तको वशमें करता है, (स्वयं) चित्तके वशमें नहीं होता । वह जिस विहार (= ध्यान-प्रकार)को प्राप्तकर पूर्वाह्न समय विहरना चाहता है उसी विहारसे पूर्वाह्न समय विहरता है । जिस विहारसे मध्याह्न समय ० । ० सन्ध्या समय ० । जैसे आबुस मौद्गल्यायन ! किसी राजा या राज-मंत्रीके पास नाना रंगके दुशालोंके करंडक (= वस्त्र) मरे हों; वह जिस दुशालेको पूर्वाह्न समय धारण करना चाहे उसे पूर्वाह्न समय धारण करे; जिस दुशालेको मध्याह्न समय ० । ० सायंकाल ० । ऐसे ही आबुस मौद्गल्यायन ! जो भिक्षु चित्तको वशमें करता है स्वयं चित्तके वशमें नहीं होता वह जिस विहारको प्राप्त कर ० । आबुस मौद्गल्यायन ! इस प्रकारके भिक्षुसे ० ।”

तब आ. सारिपुत्रने उन आयुष्मानोंसे यह कहा—

“आयुसो ! हमने अपने विचारोंके अनुसार यह दिया । आओ आयुसो ! जहाँ भगवान् हैं वहाँ चलो । चलकर भगवान्से यह बात कहें । जैसे हमें भगवान् दत्तलायें वैसे उसे धारण करें ।”

“अच्छा आयुस !” (कह) उन आयुष्मानोंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया ।

तब यह आयुष्मान् जहाँ भगवान् थे वहाँ गये । जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठे । आयुष्मान् सारिपुत्रने भगवान्से कहा—

“भन्ते ! आ. रेवत और आ. जानंद जहाँ मैं था वहाँ धर्म सुननेके लिये आये । भन्ते ! मैंने दूरसे ही * १ । दो भिक्षु अभिधर्म कहा कहें, * १ ।”

“साधु, साधु, सारिपुत्र ! मौद्गल्यायन ही ठीकसे कथन करेगा क्योंकि सारिपुत्र ! मौद्गल्यायन धर्म-कथिक (= धर्मका यज्ञ) है ।”

ऐसा कहने पर आ. मौद्गल्यायनने भगवान्से यह कहा—

“तब मैंने भन्ते ! आ. सारिपुत्रको यह कहा—“आयुस सारिपुत्र । * १ । ऐसे ही आयुस मौद्गल्यायन * १ ।”

“साधु साधु मौद्गल्यायन ! सारिपुत्र ही ठीकसे कथन करेगा क्योंकि मौद्गल्यायन ! सारिपुत्र चित्तको वशमें रखता है । स्वयं चित्तके वशमें नहीं होता । वह तिल विहार * सायंकाल विहरता है ।”

ऐसा कहने पर आ. सारिपुत्रने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! किसका (भाषित = कथन) सुभाषित है ?”

“सारिपुत्र ! तुम सभीका (भाषित) एक एक करके सुभाषित है । और मेरी भी सुनो । किस प्रकारके भिक्षुसे गोसिंग सालवन शोभित होगा ?—वहाँ सारिपुत्र ! भिक्षु भोजनके बाद मिट्टी से निषटकर, आसन पार शरीरको सीधा रख, स्मृतिको सामने उपस्थित कर, (यह संकल्प करता है—) मैं तब तक इस आसनको नहीं छोड़ूँगा, जब तक कि मेरे चित्त-मल चित्तको न जोत देंगे । सारिपुत्र ! ऐसे भिक्षुसे गोसिंग सालवन शोभित होगा ।”

भगवान्ने यह कहा । संतुष्ट हो उन आयुष्मानोंने भगवान्के भाषणका अभिनंदन किया ।

३३—महा-गोपालक-सुत्तन्त (१।४।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिटृकके आराम जैनव्रतमें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भगन्त !” (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! ग्यारह बातों (= वगों) से युक्त गोपालक-गोप्यकी रक्षाकरनेके अयोग्य है। कौनसे ग्यारह ?—(१) गोपालक रूप (= वर्ण) का जानने वाला नहीं होता; (२) लक्षण (= चिह्न) में भी चतुर नहीं होता; (३) काली भिक्षुओंको हटाने-पाकाला नहीं होता; (४) धावका ढाँकनेवाला नहीं होता; (५) शुभा नहीं करता; (६) तीर्थ (= जलका उतार) नहीं जानता; (७) पानको नहीं जानता; (८) बीबी (= डगर) को नहीं जानता; (९) चरागाहका आनकार नहीं होता; (१०) बिना छोपे (गारे) को दूध लेता है; (११) जो वह गायोंके पितर गायोंके स्वामी वृषभ (= सार्व) हैं उनको अधिक पूजा (= भोज-नादि प्रदान) नहीं करता। भिक्षुओ ! इन ग्यारह बातोंसे युक्त गोपालक गोप्यकी रक्षाकरनेके अयोग्य है।

“ऐसेही भिक्षुओ ! ग्यारह बातोंसे युक्त भिक्षु इस धर्म-विनय (= वृद्धधर्म) में वृद्धि विरुद्धि-विपुलता पानेके अयोग्य है। कौन ग्यारह ?—वहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु (१) रूपका जानने वाला नहीं होता; (२) लक्षणमें भी चतुर नहीं होता; (३) आसाटिकों (= काली भिक्षुओं) को हटाने वाला नहीं होता; (४) वष (= धाव) का ढाँकने वाला नहीं होता; (५) शुभा नहीं करता; (६) तीर्थ नहीं जानता; (७) पानको नहीं जानता; (८) बीबीको नहीं जानता; (९) गोचर (= चरागाह) को नहीं जानता; (१०) बिना छोपे (= अनेपका) दूधने वाला होता है; (११) जो वह रक्षक (= अनुरक्त) चिरकालसे प्रयत्नित, संघके पितर, संघके नायक स्वविर भिक्षु हैं उन्हें अतिरिक्त पूजासे पूजित नहीं करता।

“कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु रूपका न जाननेवाला होता ?—वहाँ भिक्षुओ ! जो कोई रूप है, वह सब चार महाभूत (= पृथ्वी, जल, वायु, तेज) और चारों भूतोंको लेकर बना है। इसे प्रभाव से नहीं जानता। इस प्रकार भिक्षुओ ! भिक्षु रूपका न जानने वाला होता है।”

“कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु लक्षणमें चतुर नहीं होता ?—वहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु यह प्रभावसे नहीं जानता कि कर्मके लक्षण (= कारण) से बाल (= अज्ञ) होता है और कर्मके लक्षणसे धिक्क होता है। इस प्रकार ०।

“कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु आसाटिकका हटाने वाला नहीं होता ?—वहाँ भिक्षुओ ! भिक्षु उत्पन्न काम (= भोग-वासना) के वितर्क का स्वागत करता है, छोड़ता नहीं, हटाना नहीं, अलग नहीं करता, अभावको नहीं प्राप्त करता; उत्पन्न व्यापाद (= पर-पीडा) के वितर्कको ०; उत्पन्न

हिंसाके वितर्कको; ० परावर उत्पन्न होती बुराईयों = अकुशल धर्मोंका स्वागत करता है ० । इस प्रकार ० ।

“कैसे भिक्षुओं ! भिक्षु वणका ढाँकने वाला नहीं होता है ?—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु आँख से रूप देखकर उसके निमित्त (= अनुकूल प्रतिकूल होने) का ग्रहण करने वाला होता है, अनु-ध्वंजन (= पहिचान) का ग्रहण करने वाला होता है । जिस विषयमें इस चक्षु-इन्द्रियको संयत न रखनेपर लोभ और दोर्मनस्य (रूपी) बुराईयाँ-अकुशल धर्म आ बिपद्यते हैं, उससे संयम करनेके लिये तत्पर नहीं होता । चक्षुइन्द्रियकी रक्षा नहीं करता; चक्षुइन्द्रियसे संयम (= संवर) में लग्न नहीं होता । श्रोत्रये शब्द सुनकर ० । घ्राणसे रस सूँघ कर ० । जिह्वासे रस चख कर ० । कायासे स्पृष्टव्यको स्पर्श कर ० । मनसे धर्मोंको जानकर निमित्तका ग्रहण करनेवाला होता है ० मन-इन्द्रियके संयममें लग्न नहीं होता । इस प्रकार भिक्षुओं ० !

“कैसे भिक्षुओं ! भिक्षु धूमका न करनेवाला होता है ?—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु सुने अनु-सार, जाने अनुसार, धर्मको दूसरोंके लिये विस्तारसे उपदेश करने वाला नहीं होता, इस प्रकार ० ।

“कैसे भिक्षुओं ! भिक्षु तीर्थको नहीं जानता ?—यहाँ भिक्षुओं ! जो वह भिक्षु बहु-श्रुत, आगम-प्राप्त, धर्म-धर, विनय-धर, मात्रिका-धर, है उनके पास सम्यक् समसंवर जाकर नहीं पहुँचा, नहीं प्रश्न करता—भन्ते ! यह कैसे, इसका क्या अर्थ है ? उसके लिये वह आशुभान्, अविवृतको विवृत (= खोलकर पतलाना) नहीं करते; अस्पष्टको स्पष्ट नहीं करते जनेक प्रकारके शंका-श्याम वाले धर्मोंमें उठी शंकाका निवारण नहीं करते । इस प्रकार ० ।

“कैसे भिक्षुओं ! भिक्षु पानको नहीं जानता—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु तथागतके पतञ्जाले धर्म-विनयके उपदेश किये जाते सम्यक् (उसके) अर्थ-वेद (= अर्थ-ज्ञान) को नहीं पाता, धर्म-वेदको नहीं पाता, धर्म संबंधी प्रमोद (= खुशी) को नहीं पाता । इस प्रकार ० ।

“कैसे भिक्षुओं ! भिक्षु वीथीको नहीं जानता ?—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु आर्य-अष्टांगिक धर्मोंको ठीक ठीक नहीं जानता । इस प्रकार ० ।

“कैसे भिक्षुओं ! भिक्षु गोचरमें कुशल नहीं होता ?—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु चार स्मृति-प्रस्थानोंको ठीक ठीक नहीं जानता । इस प्रकार ० ।

“कैसे भिक्षुओं ! भिक्षु अशेषका बूढ़नेवाला होता है ?—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षुको अज्ञात गृहपति ब्रह्म, भिक्षात्र, निवात्र, आसन, रोगीके (उपयोगी) पच-भोज्यकी सामग्रियोंसे अच्छी तरह संतुष्ट करते हैं, यहाँ भिक्षु मात्रासे ग्रहण करना नहीं जानता । इस प्रकार ० ।

“कैसे भिक्षुओं ! भिक्षु ० स्वविर भिक्षुओंको अतिरिक्त पूजासे पूजित नहीं करता ?—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु ० ० जो वह स्वविर भिक्षु है, उनके लिये गुप्त और प्रकट भैरवी-युक्त कायिक कर्म नहीं करता; ० वाचिक कर्म नहीं करता; ० मानस-कर्म नहीं करता । इस प्रकार भिक्षुओं ० ।

“भिक्षुओं ! इन ग्यारह धर्मोंसे युक्त भिक्षु इस धर्म-विनयमें वृद्धि विरुद्धिको प्राप्त करनेमें अव्योग्य है ।

“भिक्षुओं ! ग्यारह अंगोंसे युक्त गोपालक गोप्यकी रक्षा करनेके योग्य होता है । कौनसे ग्यारह ?—यहाँ भिक्षुओं ! गोपालक (१) रूपका जानने वाला होता है; (२) लक्षण-कुशल होता है; (३) आसादिका हटाने वाला होता है; (४) वणका ढाँकने वाला होता है; (५) धुँवाँ करनेवाला होता है; (६) तीर्थको जानता है; (७) पीत (= पान) को जानता है; (८) वीथीको जानता है; (९) गोचर-कुशल होता है; (१०) स-सौष्ट बूढ़नेवाला होता है; (११) जो वह नृपण ० उन्हें अतिरिक्त पूजासे पूजित करता है । भिक्षुओं ! इन ग्यारह बातोंसे

युक्त गोपालक गोप्यके धारण करने, बसानेके योग्य होता है। इसी प्रकार भिक्षुओं ! ग्यारह धर्मोंसे युक्त भिक्षु इस धर्म-विनयमें वृद्धि = विरुद्धि = विपुलता प्राप्त करनेके योग्य है। कौनसे ग्यारह ?—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु (१) रूपका जानने वाला होता है • १ (११) जो यह भिक्षु • उन्हें अतिरिक्त पूजासे पूजित करता है ।

“कैसे भिक्षुओं ! भिक्षु रूपका जानने वाला होता है ?—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु जो कुछ रूप है • उसे पदार्थसे जानता है । इस प्रकार • ।

“कैसे भिक्षुओं ! भिक्षु लक्षण-कुशल होता है ?—यहाँ भिक्षुओं ! भिक्षु इसे पदार्थसे जानता है कि कर्म-लक्षणसे बाल होता है और कर्म-लक्षणसे पंडित । इस प्रकार • ।

“• उत्पन्न काम-वितर्क • व्यापाद-वितर्क • द्वेष-वितर्क • लोभ, दौर्मनस्य (रूपी) बुराईयों-अकुशल धर्मोंका स्वागत नहीं करता • । इस प्रकार • ।

“यसुने रूपको देखकर निमित्त-धात्री नहीं होता • इस प्रकार • ।

“• धुँएँका करने वाला होता है ?—सुने अनुसार, जाने अनुसार, दूसरोंके लिये धर्मको वित्तारसे उपदेश करता है । इस प्रकार • ।

“कैसे • तीर्थको जानता है ?—• बहु-श्रुत भिक्षुओंके पास समय समय पर जाकर प्रश्न पूछता है • । इस प्रकार • ।

“कैसे • पीतको जानता है ?—• तवागतके बतलाये धर्म और विनयके उपदेश किये जाते समय अर्थवेदको पाला है • । इस प्रकार • ।

“कैसे • बीधीको जानता है ?—• आर्य-अष्टांगिक मार्गको ठीक ठीक जानता है । इस प्रकार • ।

“कैसे • गोचर कुशल होता है ?—• चारों स्मृति-प्रस्थानोंको ठीक ठीक जानता है । इस प्रकार • ।

“कैसे • संश्लेष बुझने वाला होता है—• रोगीके पय्य औषध आदि सामग्री देते हैं, उसके ग्रहण करनेमें मायाको जानता है । इस प्रकार • ।

“कैसे भिक्षुओं ! • स्वविर भिक्षुओंको अतिरिक्त पूजासे पूजित करता है ?—• उन स्व-विर भिक्षुओंके लिये गुप्त और प्रकट मंत्रोयुक्त काविक कर्म करता है; • वाचिक कर्म •; • मान-सिद्ध कर्म करता है । इस प्रकार • ।

“भिक्षुओं ! इन ग्यारह धर्मों (= बातों)से युक्त भिक्षु इस धर्म-विनयमें वृद्धि = विरुद्धि = विपुलताको प्राप्त होने योग्य है ।”

भगवान्ने यह कहा । संतुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणका अभिनंदन किया ।

३४—चूल-गोपालक-सुत्तन्त (१।४।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वज्री (देश) के ^१ उक्ताचैल (= उक्ताचैल) में गंगानदीके तीर पर विहार करते थे ।

वहाँ, भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भवन्त !” (कह) उस भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा “भिक्षुओ ! पूर्वकालमें भगवत्के रहनेवाले एक मूर्ख गोपालकने अपने अन्तिम मासमें श्रावककालमें, गंगानदीके इस पारको बिना सोचे, उस पारको बिना सोचे, बेघाट ही विदेह (देश) की ओर दूसरे तीरको गायें हाँक दीं । तब भिक्षुओ ! वह गायें गंगा नदीके खोलेके मध्यमें मँवरमें पहुँचकर वहीं बिगड़की प्राप्त हो गई । सो किस लिये ?—क्योंकि भिक्षुओ ! उस भगवत्वासी मूर्ख गोपालकने ० गायें हाँक दीं । इसी प्रकार भिक्षुओ ! जो कोई भ्रमण (= सन्ध्यासी) या माद्वण इस लोकसे नावाकिर (= अकुशल) है, परलोकसे नावाकिर है, मार के लक्ष्यसे नावाकिर है, भारके अलक्ष्यसे नावाकिर है, मृत्युके लक्ष्य ० मृत्युके अलक्ष्यसे नावाकिर है, उनके (उपदेशों) को जो सुनने योग्य, श्रद्धा करने योग्य समझेंगे उनके लिये वह चिरकाल तक अहितकर, दुःखकर होगा ।

“भिक्षुओ ! पूर्वकालमें एक भगवत्वासी बुद्धिमान् बालेने अपने अन्तिम मासमें श्रावककालमें गंगानदीके इस पार को ० सोचकर घाटसे उत्तर तीर पर विदेहकी ओर ० गायें हाँकीं । उसने जो वह गायोंके पितर, भावोंके नायक वृषभ (= सौंड) थे उन्हें पहिले हाँका । वह गंगाकी धारको तिरछे काटकर स्वलिपूर्वक दूसरे पार चले गये । तब उसने दूसरी बलवान् क्षितिज गायोंको हाँका ० । फिर वल्ले और बलियोंको हाँका ० । फिर दुर्बल बलियोंको ० । भिक्षुओ ! उस समय तरुण कुल ही दिनोंका पैदा एक बड़ा भी माताकी गर्दनके सहारे तैरते गंगाकी धारको तिरछे काटकर स्वलिपूर्वक पार चला गया । सो क्यों ?—क्योंकि भिक्षुओ ! उस भगवत्वासी बुद्धिमान् बालेने ० हाँकी । ऐसेही भिक्षुओ ! जो कोई भ्रमण या माद्वण इस लोकके जानकार ० उनको (उपदेशों) जो सुनने योग्य ० समझने हैं, उनके लिये वह चिरकाल तक हितकर सुखकर होगा ।

“जैसे भिक्षुओ ! वह गायोंके पितर ० वृषभ गंगाकी धारको तिरछे काटकर स्वलिपूर्वक उस पार चले गये, ऐसे ही भिक्षुओ ! जो यह अर्हत् क्षीण-आकृष, (अक्षय-) वास-समाप्त, कृत-कृत्य, भार-मुक्त, सत्यदार्थ-को-प्राप्त, मय-बंधन-रहित, सम्बन्ध-ज्ञान-द्वारा-मुक्त हैं, वह मारकी धारा को तिरछे काटकर स्वलिपूर्वक पार जायेंगे ।

^१ संभवतः मोनपुर वा हाजीपुर (विहार) ।

“जैसे भिक्षुओं ! शिक्षित बलवान् गायें ०; ऐसे ही भिक्षुओं ! जो वह भिक्षु पाँच अक्षर-भागीय-संयोजनोंके क्षयसे औपपातिक (= अयोनिज देव) हो, उस (देव-)लोकसे लौटकर न आ वहीं निर्वाण प्राप्त करनेवाले हैं; वह भी मारकी धाराको ० ।

“जैसे, भिक्षुओं ! वह पहले घलघिर्पा ०; वैसे ही भिक्षुओं ! जो भिक्षु तीन संयोजनोंके क्षयसे राग-द्वेष-मोहके निर्बल होनेसे सकृदागामी हैं, सकृत् (= एक बार) ही इस लोकमें जाकर दुःखका अंत करेंगे; वह भी ० ।

“जैसे भिक्षुओं ! वह एक निर्बल बड़वा गंगाकी धाराको तिरछे काटकर स्वर्णिपूर्वक दूसरे पार चला गया; वैसे ही भिक्षुओं ! जो वह भिक्षु तीन संयोजनोंके क्षयसे स्रोतआपन्न हैं, नियम-पूर्वक संबोधि (= परमज्ञान)-परायण, (निर्वाण-गामी-पक्षसे) न भ्रष्ट होनेवाले हैं; वह भी ० ।

“भिक्षुओं ! मैं इस लोकका जानकार हूँ, परलोक ०, ० मृत्युके जलक्षयका जानकार हूँ; भिक्षुओं ! ऐसे मेरे (उपदेश)को जो सुनने योग्य, श्रद्धाके योग्य मानेंगे उनके लिये वह चिरकाल तक हितकर सुखकर होगा ।”

भगवान्ने यह कहा; यह कहकर सुगत प्राप्ताने यह भी कहा—

“जानकारने इस लोक परलोकको सुप्रकाशित किया ;

जो मारकी पहुँचमें है और जो मृत्यु (= मार)की पहुँचमें नहीं है ।

जानकार संजुद्धने सब लोकको जानकर ।

निर्वाणकी प्राप्तिके लिये क्षेम (सुक्त) अमृतद्वारको खोल दिया ।

धापी (= मार)के स्रोतको लिप्त, विष्वन्त, किर्द्वलित कर दिया ।

भिक्षुओं ! प्रमोदयुक्त होवो, क्षेमकी चाह करो ।”

३५-चूल-सच्चक-सुत्तन्त (१।४।५)

पैसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वैशालीमें महाविनयी कृपागारशालामें विहार करते थे ।

उस समय वैशालीमें सच्चक (= सत्तक) नामक निगण्ड-पुत्र (= नंगे साधुका पुत्र) रहता था, (जो कि) वक्तादी पंडितमानी और बहुतसे लोगोंसे सम्मानित था । वह वैशालीमें मन्नाके भीतर पैसा कहता था—‘मैं ऐसे किसी अमण या ब्राह्मण, संघपति = मणपति, मणायार्य—पत्तिक (अपनेको) अर्हत् सम्मक् सम्युद्ध कहनेवालेको भी—नहीं देखता जो मेरे साथ वाद रोपकर कम्पित, सम्प्रकम्पित = सम्प्रवेधित न हो; जिसकी काँचसे पसीना न छूटने लगे । यदि मैं अचेतन जन्मसे भी शास्त्रार्थ आरम्भ करूँ तो वह भी मेरे वादके मारे कम्पित, सम्प्रकम्पित, सम्प्रवेधित होवे, आदमीकी तो बात ही क्या कहनी’ ?

तब आयुष्मान् अश्वजित् पूर्वाह्नके समय (पक्ष) पहनकर पात्र-वीचर ले वैशालीमें शिक्षाके लिये प्रविष्ट हुए । वैशालीमें टहलते, अनुचंक्रमण करते = अनुविचरण करते सच्चक निगण्ड-पुत्रसे दूरसे ही आयुष्मान् अश्वजित्को आते देखा । देखकर जहाँ आयुष्मान् अश्वजित् थे वहाँ गया । जाकर आयुष्मान् अश्वजित्के साथ वचायोग्य—(कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर खड़ा हो गया । एक ओर खड़े हुए सच्चक निगण्डपुत्र ने आयुष्मान् अश्वजित्से यह कहा—

“ओ अश्वजित् ! कैसे अमण गौतम शिष्योंको शिक्षा देते हैं ? किस प्रकारका उपदेश अमण गौतमके शिष्योंमें अधिक प्रचलित है ?”

“अग्निवेश ! इस प्रकार भगवान् आचकोंको शिक्षा देते हैं; इस प्रकारका उपदेश भगवान्के शिष्योंमें अधिक प्रचलित है—‘भिक्षुओ ! रूप अनात्मा (= आत्मा नहीं) है; वेदना अनात्मा है, संज्ञा ०; संस्कार ०; विज्ञान ०; सारे धर्म (= पदार्थ) अनात्मा हैं ।’ अग्निवेश ! इस प्रकार भगवान् आचकोंको शिक्षा देते हैं ० ।”

“ओ अश्वजित् ! ऐसे वादवाले अमण गौतमके बारेमें जो हमने सुना, वह ठीक नहीं सुना । क्या कभी हमारा उन आप गौतमके साथ समागम होगा ? क्या कोई कथा-संलाप होगा ? क्या हमारी वह बुरी धारणा छूटेगी ?”

उस समय पाँच सौ लिच्छवी संस्थागार (= प्रजातन्त्र-भवन)में किसी कामसे एकत्रित हुये थे । तब सच्चक निगण्डपुत्र, जहाँ वह लिच्छवी थे, वहाँ गया । जाकर उन लिच्छवियोंसे बोला—

“चलो आप लिच्छवी ! आज मेरा अमण गौतमके साथ कथा-संलाप होगा । यदि अमण गौतम जैसे (वाद)में स्थिर रहेगा जैसा कि उसके एक प्रसिद्ध शिष्य अश्वजित् नामक भिक्षुने कहा; तो जैसे पलवान् पुरुष दीर्घ लोमोंवाली भेड़को लोमसे पकड़कर निकाले, हुमावे, किरावे;

इसी प्रकार मैं अमण गौतमको बाद द्वारा निकालूँगा, धुमाऊँगा, चिराऊँगा । जैसे बलवान् शरापकी भट्टोका कर्मचारी शौण्डिका (= मट्टी) के किलमज (= छत्ते) को गम्भीर जलाशयमें फेंक, कानसे पकड़ कर, निकाले, धुमावे, चिरावे, इसी प्रकार मैं ० । जैसे शौण्डिका धुत (= शरापमें मस्त) बन्नेको कानसे पकड़कर हिलावे, डुलावे, कँपावे, इसी प्रकार ० । जैसे सोड बत्सका यट्टा (हाथी) गहरी पोखरीमें डुलकर सनघोवन नामकी कीड़ाको सेले इसी प्रकार ० । चलो आप लिच्छवी ० । ”

वहाँ कोई कोई लिच्छवी कहने लगे—‘अमण गौतम सत्त्वक निगण्ठ-पुत्तके साथ क्या वाद कर सकता है ? हाँ, सत्त्वक निगण्ठ-पुत्त अमण गौतमके साथ (सफलता पूर्वक) वाद कर सकता है ।’ कोई कोई लिच्छवी कहने लगे—‘क्या होकर सत्त्वक निगण्ठ-पुत्त भगवान् के साथ वाद करेगा ? हाँ भगवान् सत्त्वकके साथ वाद कर सकते हैं ।’

तब सत्त्वक निगण्ठ-पुत्त पाँच सौ लिच्छवियोंके साथ जहाँ महावनमें कूटामार-वाला भी वहाँ गया । उस समय बहुतसे भिक्षु खुली जगहमें टहल रहे थे । तब सत्त्वक निगण्ठ-पुत्त जहाँ यह भिक्षु थे वहाँ गया । जाकर उन भिक्षुओंसे बोला—

“ओ ! इस समय आप अमण गौतम कहाँ विहार करते हैं ? हम आप गौतमका दर्शन करना चाहते हैं ।”

“अग्निवेश ! यह भगवान् महावनमें प्रतिष्ठ हो एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिए बैठे हैं ।”

तब सत्त्वक निगण्ठ-पुत्त यही भारी लिच्छवी-परिपत्रके साथ प्रवेश कर, जहाँ भगवान् थे वहाँ गया । जाकर भगवान् के साथ वधावोम..... (कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया । वह लिच्छवी भी भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये ० । ० एक ओर बैठे सत्त्वक निगण्ठ-पुत्तने भगवान् से यह कहा—

“यदि आप गौतम प्रश्न करनेकी आज्ञा दें, तो कोई बात आप गौतमसे पूछूँ ?”

“अग्निवेश ! जो चाहो सो पूछो ।”

“कैसे आप गौतम शिष्योंको शिक्षा देते हैं ० ?”

“अग्निवेश ! मैं इस प्रकार शिष्योंको शिक्षा देता हूँ ०—‘भिक्षुओ ! रूप अनित्य है, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ० । रूप अनात्मा है, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान अनात्मा है । सारे संस्कार (= गतिचीं) अनित्य हैं । सारे धर्म (= पदार्थ) अनात्मा हैं । अग्निवेश ! इस प्रकार मैं शिष्योंको शिक्षा देता हूँ ० ।”

“ओ गौतम ! मुझे एक उपमा याद आती है ।”

भगवान् ने कहा—“अग्निवेश ! (कहां क्या) उपमा याद आती है ?”

“ओ गौतम ! जैसे-जो कोई भी यह चीज समुदाय, प्राणिसमुदाय, वृद्धि-विरुद्धि-विपु-लताको प्राप्त होते हैं; वह सभी पृथ्वीका आश्रय लेकर, पृथ्वीमें प्रतिष्ठित होकर । इस प्रकार यह वीजग्राम, भूतग्राम (= प्राणि-समुदाय), वृद्धि, विरुद्धि, विपुलताको प्राप्त होते हैं । जैसे-ओ गौतम ! जो कोई पहले किये जाने वाले कर्मान्त (= काम) हैं, वह सभी पृथ्वीका आश्रय लेकर ० । इसी प्रकार यह पहले किये जानेवाले कर्मान्त किये जाते हैं । ऐसे ही ओ गौतम ! यह दुस्व-दुर्दृगल रूपके कारण रूपमें प्रतिष्ठित हो, पुण्य वा अपुण्यको उत्पन्न करता है । वेदना ० । संज्ञा ० । संस्कार ० । विज्ञान ० ।”

“क्या अश्विनेश ! तू यह कहता है—‘रूप मेरा आत्मा है, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ०’ ?”

“ओ गौतम ! मैं यह कहता हूँ—रूप मेरा आत्मा है, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ०; और यह वही जगता भी (कहती है) ।”

“अश्विनेश ! यह वही जगता क्या कहेगी ? तू अपने ही अपने वादको ब्रह्मा ।”

“ओ गौतम ! मैं यह कहता हूँ—रूप मेरा आत्मा है ० ।”

“तो अश्विनेश ! तुमसे ही यह पूछता हूँ, जैसे तुमने जैवे वैसा उत्तर दे । तो क्या मानता है, अश्विनेश ! क्या मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा अपने राज्यमें ‘मारो’—कह सकता है, ‘जलाओ’—कह जलवा सकता है, ‘देशसे निकालो’—कह देशसे निकलवा सकता है; जैसे कि राजा प्रसेनजित् कौसल या जैसे मगधराज वैदेही-पुत्र अज्ञातशत्रु ?”

“हाँ, ओ गौतम ! मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा अपने राज्यमें ० देशसे निकलवा सकता है ० जैसे मगधराज वैदेहीपुत्र अज्ञातशत्रु । ओ गौतम ! यह जो संघ (= व्रजातंत्र) है जैसे कि घञ्जी या मल्ल वह भी अपने राज्यमें ० देशसे निकलवा सकते हैं; राजा प्रसेनजित् कौसल या मगधराज वैदेही-पुत्र अज्ञातशत्रु—मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजाओंके लिए तो क्या ? होता है हे गौतम ! हो सकता है ।”

“तो क्या मानता है अश्विनेश ! जो तू कहता है—रूप मेरा आत्मा है । क्या वह रूप तेरे वशका है—मेरा रूप ऐसा होवे, मेरा रूप ऐसा न होवे ?”

ऐसा कहनेपर सत्त्वक निगण्ड-पुत्र चुप हो गया । दूसरी बार भी भगवान् ने सबक निगण्ड-पुत्रसे यह कहा—‘तो क्या मानता है ० ?’ दूसरी बार भी ० चुप हो गया । तब भगवान् ने सबक निगण्ड-पुत्रसे यह कहा—

“अश्विनेश ! अब जवाब दो । यह चुप रहनेका समय नहीं है । अश्विनेश ! जो कोई तपस्वी गतहारा धार्मिक प्रश्न पूछनेपर तीसरी बार तक चुप रहता है; यही उसका शिर सात टुकड़े हो जाता है ।”

उस समय वज्रपाणि वरुणादीश = सम्प्रज्वलित आग-समान दृष्टते लोहके वज्रको लेकर सबक निगण्ड-पुत्रके ऊपर आकाशमें कहा था—यदि यह सबक निगण्ड-पुत्र भगवान् के धार्मिक प्रश्न पूछनेपर तीसरी बार भी उत्तर न देगा तो वहीं इसके शिरके सात टुकड़े कहेगा । उस वज्रपाणि वरुणादीश भगवान् देखते थे और सत्त्वक निगण्ड-पुत्र देखता था । तब सत्त्वक निगण्ड-पुत्रने भयभीत, डरिज, रोमाञ्चित हो भगवान् को शरण पाया, भगवान् को ही शरण पाया, भगवान् ही को श्रवण (= आश्रय-स्थान) पाया; और भगवान् से कहा—

“पूछें आप गौतम ! मैं उत्तर दूँगा ।”

“तो क्या मानता है अश्विनेश ! जो तू यह कहता है—रूप मेरा आत्मा है । क्या रूप तेरे वशमें है ० ?”

“नहीं, ओ गौतम !”

“अश्विनेश ! होश कर । अश्विनेश ! होश करके उत्तर दे । तेरा पूर्वका (कथन) पिछलेसे नहीं मिलता है; पिछला, पहिलेसे नहीं मिलता है । तो क्या मानता है अश्विनेश ! वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ० ।”

“नहीं ओ गौतम !”

“होश कर अश्विनेश ! होश करके अश्विनेश उत्तर दे ० । तो क्या मानता है अश्विनेश ! रूप नित्य है या अनित्य ?”

“अनित्य है, भो गौतम !”

“जो अनित्य है वह दुःख है या सुख ?”

“दुःख है, भो गौतम !”

“जो अनित्य दुःख परिवर्तन-शील है, क्या उसके लिये यह क्याल करना उचित है—
‘यह मेरा है,’ ‘यह मैं हूँ,’ ‘यह मेरा आत्मा है’ ?”

“नहीं भो गौतम !”

“तो क्या मानता है, अग्निवेश ! वेदन्ता ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान ० ।”

“नहीं भो गौतम !”

“तो क्या मानता है अग्निवेश ! जो कोई दुःखमें पड़ा है, दुःखमें लिपटा है, दुःखको बलु-
भव कर रहा है, दुःखको—‘यह मेरा है,’ ‘यह मैं हूँ,’ ‘यह मेरा आत्मा है,’—समझता है; क्या
वह स्वयं (उस) दुःखको हटा सकेगा; दुःखको दूर फेंक कर विहर सकेगा ?”

“भो गौतम ! कैसे होगा ? नहीं होगा, भो गौतम ।”

“तो क्या मानता है अग्निवेश ! इस प्रकार तू दुःखमें पड़ा है ० दुःखको दूर फेंककर
विहर सकेगा ?”

“भो गौतम ! कैसे होगा ? नहीं होगा, भो गौतम ।”

“जैसे अग्निवेश ! सार चाहनेवाला, सार सोजनेवाला पुरुष, सार (= हीर) की ओरमें
विचरते तीक्ष्ण कुल्हाड़ेको लेकर वनमें प्रविष्ट हो । वह वहाँ सीधे, नये, पड़े भारी केड़ेके
तनेको देखे । उसे वह जड़से काटे । जड़से काटकर सिरसे काटे । सिरसे काट कर पत्थरकी छेदनको
उधेरे । वहाँपर वह पत्थरकी छेदनको उधेरेते हुये फलभूको भी न पावे, सार कहाँसे पायेगा ?
इसी प्रकार अग्निवेश ! अपने पादमें धूमसे प्रभ करनेपर, आपण करनेपर तू रिक्त = तुच्छ
अपराधी (सा जान पड़ा) । और अग्निवेश ! तूने वैशालीमें समाके भीतर यह बात कही—“मैं
ऐसे किसी धम्म या ब्राह्मण ०” आदर्मीकी तो बात ही क्या कहती ?” अग्निवेश ! तेरे कलाठपर
कोई कोई पर्यायकी बूँद आ गई हैं, उत्तरासंग (= उपरना) छूटकर जमीनपर गिर पड़ा है । मेरे
तो अग्निवेश ! कायामें पसीना नहीं ।”—

यह (कह कर) भगवान् ने सभामें (अपने) सुवर्ण-वर्ण शरीरको जोल दिया । ऐसा कहने
पर सत्त्वक निगण्डपुत्र तृष्णी हो, मूक हो, कन्धेको गिराकर, पीठेकी ओर मुँह कर, प्रतिभा-हीन
हो, सोचते बैठा रहा । तब दुर्मुख लिच्छवि-पुत्र सत्त्वकको ० सोचते देख, भगवान् से यह बोला—

“भन्ते ! वहाँ मुझे एक उपमा याद आती है ।”

भगवान् ने यह कहा—“(कहो)-दुर्मुख ! (क्या) उपमा याद आती है ?”

“जिस प्रकार भन्ते ! गाँव या कस्बेके पासमें पुष्करणी हो । वहाँ एक केकड़ा हो । तब
भन्ते ! प्रहृतसे लड़के या लड़कियाँ उस गाँव या कस्बेसे निकल कर वहाँ वह पुष्करणी है, वहाँ
जायें । जाकर उस केकड़ेको पानीसे निकाल सबलपर रखें । वह केकड़ा जिस जिस आरको
निकाले उसी उसीको वह बालक बालिकायें काँठसे वा कटला (= ठीकरे)से काटें, तोड़ें, भग्न
करें, इस प्रकार भन्ते ! वह केकड़ा सारे लिच्छ, भग्न, परिभग्न आरोंके कारण उस पुष्करणीमें फिर
उतरनेके असमर्थ हो जायें । ऐसे ही भन्ते ! सत्त्वक निगण्ड-पुत्रके जो कोई अभिमान, अह-
ङ्कार थे, वह सभी भगवान् ने काट दिये, तोड़ दिये, भग्न कर दिये । भन्ते ! अब सत्त्वक

निगण्ड-पुत्र फिर भगवान्‌के साथ वादके लिये जाने योग्य नहीं है ।”

ऐसा कहनेपर सबक निगण्ड-पुत्रने दुर्मुख लिच्छवी-पुत्रने यह कहा—

“ठहरो, दुर्मुख ! ठहरो, दुर्मुख ! हम तुम्हारे साथ वाद नहीं कर रहे हैं । हम यहाँ आप गौतमके साथ वाद कर रहे हैं । भो गौतम ! रहने दो, हमारे और दूसरे अमण-ब्राह्मणोंके इस वाचिक प्रलाप.....को; कैसे आप गौतमके आवक शासन-कर (= उपदेशके अनुसार चलनेवाले) संदेह-रहित, वाद-विवादसे-रहित, विचारवृत्ता प्राप्त हो, दूसरेके अनाश्रित बन, अपने शास्त्रा (= उपदेशक)के शासन (= धर्म)में विहरते हैं ?”

“अग्निवेश ! यहाँ मेरे आवक भूत, भविष्य, वर्तमानका, शरीरके भीतर या बाहरका, स्मूल या सूक्ष्म, हीन या उत्तम, दूर या नजदीक—जो कुछ भी रूप है, सभी रूपको—‘न यह मेरा है’, ‘न यह मैं हूँ’, ‘न यह मेरा आत्मा है’,—इस प्रकार इसे यथार्थतः सम्यक् प्रज्ञासे देखते हैं । ० वेदना ० । ० संज्ञा ० । ० संस्कार ० । ० । इस प्रकार अग्निवेश ! मेरे, शिष्य शास्त्राके पासनमें विहरते हैं ।”

“भो गौतम ! किस प्रकार भिक्षु अर्हत् = क्षीणाश्रय, समाप्त (ब्रह्मचर्य)—वास कृत-कर्णीय, भार-मुक्त, सत्पदार्थ-प्राप्त भय-बंधन-रहित, सम्यक्-ज्ञान-से मुक्त होता है ?”

“अग्निवेश ! यहाँ भिक्षु ० जो कुछ रूप है सभी रूपको—‘न यह मेरा है’ ०; इस प्रकार इसे ठीक ठीक सम्यक् प्रज्ञासे जान कर (उसे) न ग्रहण कर मुक्त होता है । ० वेदना ० । ० संज्ञा ० । ० संस्कार ० । ० विज्ञान ० । इस प्रकार अग्निवेश ! भिक्षु अर्हत् ० होता है । इस प्रकार अग्निवेश ! भिक्षु तीन अनुत्तरीय (= अनुपम पदार्थों)से मुक्त होता है—दर्शन (= साक्षात्कार) अनुत्तरीय, प्रतिपद् (= लाभ)-अनुत्तरीय विमुक्ति (= मुक्ति)-अनुत्तरीय । इस प्रकार मुक्त हुआ भिक्षु अग्निवेश ! तथ्यागतका ही सत्कार = मुक्तकार = सम्मान = पूजन करता है—यह भगवान्‌ पुत्र है, बोधके लिये धर्म-उपदेश करते हैं, वह भगवान्‌ दान्त है, दुमनके लिये उपदेश करते हैं, वह भगवान्‌ शान्त है, शान्तिके लिये धर्म-उपदेश करते हैं; वह भगवान्‌ तीर्ण है, तरनेके लिये ०; ० परिनिर्वाण है, परिनिर्वाण (= निर्वाण) के लिये धर्म-उपदेश करते हैं ।”

ऐसा कहनेपर सबक निगण्ड-पुत्रने भगवान्‌से यह कहा—

“भो गौतम ! हमही अभिमानों हैं, हमही प्रगल्भ हैं; जो कि हमने आप गौतमके साथ विवाद करनेका स्वाद लेना चाहा । भो गौतम ! मुक्त हार्थीके साथ भिड़कर पुरुषका कल्याण हो जाय, किन्तु, आप गौतमसे भिड़कर पुरुषका कल्याण नहीं हो सकता । भो गौतम ! घोर विष वाले आशीविष (= सर्प)से भिड़कर पुरुषका कल्याण हो जाय ० । ० जलते अग्निपुंजसे भिड़कर ० । भो गौतम ! हमही अभिमानों हैं ० । आप गौतम भिक्षु-संघके साथ कलके लिये मेरा भोजन स्वीकार करें ।”

भगवान्‌ने मौनसे स्वीकार किया ।

तब सबक निगण्ड-पुत्रने भगवान्‌की स्वीकृतिको जान, उन लिच्छवियोंको संबोधित किया—

“सुनें आप सब लिच्छवि ! मैंने कलके भोजनके लिये भिक्षु-संघ सहित अमण गौतमको निर्वासित किया है; सो वैता करै जैसा कि इसके लिये योग्य समर्थ । तब उन लिच्छवियोंने उस रातके बीच जानेपर सबक निगण्ड-पुत्रके पास भोजनार्थ पाँच सौ स्यालोंपाकों (= क्षीरों) को पहुँचा दिया । तब सत्त्वक निगण्ड-पुत्रने अपने बाराममें उत्तम आस भोग्य संपादितकर भगवान्‌के पास कालकी सूचना दी—“भो गौतम ! काल हो गया, भोजन तैयार है ।”

तब भगवान्‌ पूर्वाह्न समय पहिन कर पाजघीवर ले, जहाँ सत्त्वक निगण्ड-पुत्रका बाराम था,

वहाँ गये । जाकर भिक्षु-संघके साथ बिले आसनपर बैठे । तब सन्धक निर्गठ-पुत्तने दुःख-प्रसुख भिक्षु-संघको उत्तम स्वाद्य भोजन द्वारा अपने हाथसे संतर्पित=संप्रवारित किया । तब भगवान्‌के भोजन कर हाथ हटा लेनेपर, सन्धक निर्गठ-पुत्त एक छोटे आसनको लेकर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे सन्धक निर्गठ-पुत्तने भगवान्‌से यह कहा—

“भो गौतम ! जो यह दानमें पुण्य है, वह दायकोंके सुखके लिये हो ।”

“अग्निवेश ! जो अ-वीतराग, अ-वीतद्वेष, अ-वीत-मोह, दान-पात्रको देनेसे (पुण्य होता है) वह दायकोंको होगा; और अग्निवेश ! जो मेरे ऐसे वीत-राग, वीत-द्वेष, वीत-मोह, दान-पात्रों (को दान देनेसे पुण्य है) वह तेरे लिये होगा ।”

३६—महा-सच्चक-सुत्त (१।४।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वैशालीमें महावनकी कूटागार-शालामें विहार करते थे ।

उस समय भगवान् पूर्वाह्न समय पहिन कर पाण्डोवर ले वैशालीमें भिक्षाके लिये प्रविष्ट होना चाहते थे । तब सच्चक निर्गठ-पुत्त जंवाविहार (= टहलने) के लिये अनुचैक्रमण करता, अनुविचरण करता, जहाँ महावनकी कूटागार-शाला थी, वहाँ गया । आयुष्मान् आनन्दने दूरसे ही सच्चक निर्गठ-पुत्तको आते देखा । देखकर भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! यह सच्चक निर्गठ-पुत्त आरहा है (जो कि) बहुत बकवादी पंडित-मानी और बहुत जनों द्वारा सम्मानित है । भन्ते ! यह बुद्धकी निन्दा चाहने वाला, धर्मकी निन्दा चाहने वाला, संघकी निन्दा चाहनेवाला है । अच्छा हो भन्ते ! यदि भगवान् कृपा करके थोड़ी देर यहीं बैठें ।”

भगवान् बिले आसनपर बैठ गये । तब सच्चक निर्गठ-पुत्त जहाँ भगवान् थे वहाँ गया । जाकर भगवान्के साथ सभाषोप्य (कुशल प्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे सच्चक निर्गठ-पुत्तने भगवान्से यह कहा—

“भो गौतम ! कोई कोई भ्रमण माह्यण कायिक भावनामें तत्पर हो विहरते हैं, चित्तकी भावनामें नहीं (तत्पर होते) । वह शारीरिक दुःखसमय, वेदनाको पाते हैं । भो गौतम ! पहिले शारीरिक दुःख-वेदनामें पड़े हुएका उरस्तंभ (= जॉबोका कठिया जाना) भी होगा, हृदय भी विदीर्ण होगा, मुखसे गरम खून भी निकल भायेगा, उन्माद, चित्त-विक्षेप भी होगा । भो गौतम ! उसका यह चित्त काय ही तो है, कायाके ही वशमें तो है । सो क्यों ?—चित्तकी भावना न करने से । भो गौतम ! यहाँ कोई कोई भ्रमण माह्यण चित्तकी भावनामें तत्पर हो विहरते हैं । कायाकी भावनामें नहीं । भो गौतम ! वह चैतन्यिक दुःख-वेदनामें पड़ते हैं । भो गौतम ! चैतन्यिक दुःख-वेदनामें पड़नेसे (उस समय) (उनका) उरस्तंभ भी होगा ० सो क्यों ?—कायाकी भावना न करनेसे । भो गौतम ! मुझे ऐसा होता है, जरूर आप गौतमके शिष्य, चित्तकी भावनामें तत्पर हो विहरते हैं, कायाकी भावनामें नहीं ।”

“अप्रियेण ! तुने काय-भावना क्या सुनी है ?”

“जैसे कि यह मन्द वात्स्य, कृश सांस्कृत्य, मक्खली-गोखाल (मानते हैं) । भो गौतम ! यह अवेकक (= नष्ट), सुक्त-आचार ०^१ साहादिक भी आहार करते हैं । ऐसे इस प्रकार बीचमें अन्तर देकर अधैमासिक आहारको ग्रहणकर विहरते हैं ।”

^१ देखो एड ४८ ।

“अग्निवेश ! क्या वह उतनेहीसे गुज़ारा करते हैं ?”

“नहीं भो गौतम ! कमी कभी उत्तम उत्तम भोजनोंको खाते हैं । उत्तम उत्तम ज्ञानियोंको ग्रहण करते हैं । उत्तम उत्तम स्वादनीय (पदार्थों)को स्वादन करते हैं । उत्तम उत्तम धानोंको पीते हैं । वह इस शरीरको धोते हैं, पोषते हैं, चरपी पैदा करते हैं । इस प्रकार इस शरीरका संस्कार-व्यवस्था होता है ।”

“अग्निवेश ! चित्त-भावना होने कैसी सुनी है ?”

भगवान्‌के चित्त-भावनाके विषयमें पूछने पर सचक मिगंड-पुत्र कुछ न बोला । तब भगवान्‌ ने सचक निगंड-पुत्रसे यह कहा—

“अग्निवेश ! जो होने यह पहले काय-भावना कही वह भी आर्पेधिनिय (= धर्म)में धार्मिक काय-भावना नहीं है । अग्निवेश ! होने काय-भावनाको ही नहीं जाना, चित्त-भावनाको तो क्या जानेंगा ? अग्निवेश ! जैसे कायासे अभावित, चित्तसे अभावित, (एवं) कायासे भावित और चित्तसे भावित होता है, उसे सुन अच्छी तरह मनमें कर कहता हूँ ।”

“अच्छा भो !” (वह) सचक मिगंडपुत्रने भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ने यह कहा—

“अग्निवेश ! कैसे (पुरुष) कायासे अभावित और चित्तसे अभावित होता है ?—यहाँ अग्निवेश ! अज्ञ ज्ञानही जगको जब सुख-वेदना (= सुखका अनुभव) होती है तो वह सुख-वेदनासे स्थित हो, सुखमें रागी होता है, सुखकी रागित्वको प्राप्त होता है । (कालान्तरमें जब) उसको वह सुख-वेदना निरुद्ध हो जाती है । सुख-वेदनाके निरुद्ध होनेसे दुःख-वेदना उत्पन्न होती है । दुःख-वेदनामें पड़कर वह शोक करता है, कलपता है, क्लिप्त करता है, जाली पीठकर रोता है, मूर्छित होता है । (इस प्रकार) अग्निवेश ! उसके लिये उत्पन्न हुई वह सुख-वेदना कायाके भावित न होनेसे चित्तको पकड़कर ठहरती है; चित्तकी भावना न करनेसे उत्पन्न हुई दुःख-वेदना चित्तको पकड़कर ठहरती है । अग्निवेश ! जिस किसीको इस प्रकार दोनों ओरसे ० उत्पन्न सुख-वेदना, दोनों ओरसे चित्तकी भावना न करनेसे उत्पन्न हुई दुःख वेदना चित्तको पकड़कर ठहरती है; अग्निवेश ! (वह)—(पुरुष) कायासे भावना-रहित और चित्तसे भावना-रहित होता है ।

“कैसे अग्निवेश ! (पुरुष) भावित-काय और भावित-चित्त होता है ?—अग्निवेश बुद्धिमान्‌ आर्पे धावकको जब सुख-वेदना उत्पन्न होती है, तो वह सुख-वेदनाको पाकर सुख-रागी नहीं होता, सुखमें रागित्वको प्राप्त नहीं होता । (जब) उसको वह सुख-वेदना नष्ट होती है; सुख-वेदनाके निरोध (= नाश)से दुःख-वेदना उत्पन्न होती है; (तब) वह दुःख-वेदनामें पड़कर न शोक करता है ० न मूर्छाकी प्राप्त होता है । अग्निवेश ! कायाके भावित होनेसे उसकी वह उत्पन्न हुई सुख-वेदना चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती; ० दुःख-वेदना चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती । अग्निवेश ! इस प्रकार दोनों ओरसे कायाके भावित होनेसे जिस किसीकी उत्पन्न सुख-वेदना भी चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती, चित्तके भावित होनेसे उत्पन्न दुःख-वेदना भी चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती; अग्निवेश ! (वह)—(पुरुष) भावितकाय और भावितचित्त होता है ।”

“भो गौतम ! मेरा विश्वास है, कि ज्ञाप गौतम भावित-काय (शरीरकी साधना जिसनेकी है) और भावित-चित्त (= चित्तकी साधना जिसने की है) है ।”

“अब, अग्निवेश ! होने जानेसे यह बात कहो । अच्छा, तो मैं तुझसे कहता हूँ—जब कि, अग्निवेश ! मैं केश-दात्री सुँवा, कायाय-वस्त्र पहिन धरसे बेघर हो प्रमत्तित हुआ ० तो उत्पन्न हुई सुख-वेदना चित्तको पकड़कर ठहरती उत्पन्न दुःख-वेदना चित्तको पकड़कर ठहरती—यह संभव नहीं ।”

“क्या, आप गौतमको वैसी दुःख-वेदना उत्पन्न होती है, जैसी उत्पन्न हुई दुःख-वेदना चित्तको पकड़कर ठहरती है ? क्या आप गौतमको वैसी दुःख-वेदना उत्पन्न होती है, जैसी उत्पन्न हुई दुःख-वेदना चित्तको पकड़कर ठहरती है ?”

“हमें क्या होगा अग्निवेश ! यहाँ, अग्निवेश ! कुछ होनेसे पूर्व, कुछ न हो बोधिसत्त्व होते समय मुझे ऐसा हुआ—घरका निवास जंगल है, मलका मार्ग है, प्रव्रज्या (= संन्यास) सुला स्थान है । इस सर्वथा परिपूर्ण, सर्वथा परिशुद्ध, किले शंखसे (उज्ज्वल) महाचर्यका पालन घरमें रहकर सुकर नहीं है; क्यों न मैं केश-दाही सुँवा, कापाय-वस्त्र पहन घरसे बेघर हो प्रव्रजित हो जाऊँ । सो मैं, अग्निवेश ! दूसरे समय ०^१ । सो मैं अग्निवेश ! उस धर्मको अपर्णास मान, उस धर्मसे उद्वास हो चल दिया । ०^२ प्रगल्भमें कमलाः चारिका करता, जहाँ उलखेला सेनानी-रिगम था, ०^३ वहीं बैठ गया । मुझे, अग्निवेश ! (उस समय) अद्भुत, अश्रुत-पूर्व तीन उपमायें नासित हुई—

(१) “जैसे गीला काष्ठ भीगे पानीमें डाला हो ०^४ ।

(२) “० जैसे स्नेह-युक्त गीला काष्ठ जलके पास खल पर फँका हो ०^५ ।

(३) “० जैसे गीरास शुष्क काष्ठ जलसे दूर स्थलपर फँका हो ०^६ ।

“तब अग्निवेश ! मेरे (मनमें) हुआ—‘क्यों न मैं दाँतोंके ऊपर दाँत रख, जिह्वा द्वारा लालको दया ०^७ । उस समय मैंने न-दूषनेवाला वीर्य (= उत्तोग) आरम्भ किया हुआ था, न-सूखी स्मृति मेरी जाग्रत थी, उसी दुःखमय प्रधान (= साधना) से पीड़ित होनेके कारण मेरी काया चंचल अ-स्थान्त हो गई ।—इस प्रकार अग्निवेश ! उत्पन्न हुई वेदना चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती ।

“तब, अग्निवेश ! मेरे (मनमें) हुआ—‘क्यों न मैं धार-रहित ध्यान धरूँ ?—सो मैंने अग्निवेश ! मुख और नासिकासे श्वासका आना जाना रोक दिया । ०^८ । उसी दुःखमय प्रधान के कारण ० ।

“०^९ मैंने अग्निवेश ! मुख और नासिकासे श्वासका आना जाना रोक दिया । ०^९ । उसी दुःखमय प्रधानके कारण ० ।

“०^{१०} मैंने अग्निवेश ! मुख, नासिका और कानसे श्वासका आना जाना रोक दिया । ०^{१०} । उसी दुःखमय प्रधानके कारण ० ।

“०^{११} मैंने अग्निवेश ! मुख, नासिका और कानसे श्वासका आना जाना रोक दिया । ०^{११} ।

“तब मुझे अग्निवेश ! यह हुआ—‘क्यों न मैं आहारको विलुल ही ढोव देना स्वीकार करूँ ०^{१२} । अग्निवेश ! मेरा वैसा परिशुद्ध, पर्यवदात (= सफेद, गोरा), उद्विग्न (= चमड़ेका रंग) नष्ट हो गया था । ०^{१३} सो मैं अग्निवेश ! स्थूल आहार औदन कुल्माष ग्रहण करने लगा । ०^{१४} प्रथम ध्यान ०^{१५} । ०^{१६} द्वितीय ध्यान ०^{१७} । ०^{१८} तृतीय ध्यान ०^{१९} । ०^{२०} चतुर्थ ध्यानको प्राप्त कर विहरने लगा । अग्निवेश ! उत्पन्न हुई दुःखवेदना इस प्रकार मेरे चित्तको पकड़कर नहीं ठहरती ।

“सो मैंने अग्निवेश ! इस प्रकार चित्तके ०^{२१} परिशुद्ध होनेपर पूर्वजन्मोंकी स्मृतिके लिये चित्तको झुकाया ०^{२२} । अग्निवेश ! रात्रिके प्रथम याममें यह प्रथम विद्या प्राप्त हुई ०^{२३} ।

^१ देखो पृष्ठ १०४-५ । (अरिषपरिवेसन-मुत्तना २६), भिक्षुओंको संबोधित करनेकी वगइ, अग्नि-वेशको संबोधित करनेके साथ । ^२ देखो बोधिराजकुमार-मुत्तना ८५, राजकुमारकी वगइ अग्निवेशको संबोधित कर । ^३ देखो पृष्ठ १५ । ^४ देखो तीन विधावे, पृष्ठ १५, १६ ।

“०” विशुद्ध दिव्य-पञ्चमे ०” प्राणियोंको देखने लगा ०” । रातके दिक्छले पहर यह द्वितीय विद्या प्राप्त हुई ।

“०” अगलवोंके क्षयके ज्ञानके लिये चित्तको झुकाया ०” अब यहाँके लिये कुल (करणीय) नहीं” —इसे जाना । अग्निवेश ! रातके पिछले घासमें यह तृतीय विद्या प्राप्त हुई ०” । ० इस प्रकार अग्निवेश ! उत्पन्न हुई सुखवेदना मेरे चित्तको पकड़ कर नहीं ठहरती ।

“अग्निवेश ! मैं अनेक लीकी परिपद्में व्यावृत्त देता था, और उनमेंसे हर एक समझता था, कि अमण गौतम मेरेही लिये धर्म-उपदेश कर रहा है । अग्निवेश ऐसा न समझो, कि तथागत केवल विज्ञापनके लिये दूसरोंकी धर्म-उपदेश करते हैं । मैं अग्निवेश उन्म कषाके समाप्त होने पर उन्ही पहिलेके समाधि-निमित्त (= चित्त-एकाग्रताके आकार) में, अपने भीतर ही चित्तको ठहराता हूँ, बैठाता हूँ, एकाग्र करता हूँ, समाहित करता हूँ, उसके साथ-साथ सर्वदा विहार करता हूँ ।”

“अर्हत् सम्मक् संतुद्धको भौति आप गौतमको यह योग्य ही है । क्या आप गौतम दिव्यको सोते हैं ?”

“सोता हूँ, अग्निवेश ! ग्रीष्मके अन्तिम मासमें मौजान्तर भिक्षासे निवृत्त कर, धौपेती संवाटीको बिट्वा दाहिनी करवटसे स्मृति-संप्रज्ञान्य युक्त हो निद्रित होता हूँ ।”

“भो गौतम ! इसे कोई कोई अमण बाह्यण संमोह (= मूढता) का विहार करते हैं ।”

“अग्निवेश ! इतनेसे संमूह (= मूढ) या अ-संमूह नहीं होता । अग्निवेश ! जैसे संमूह या अ-संमूह होता है, उसे सुन लची तरह मनमें कर, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भो !” (कह) सचक निर्गठपुत्ते भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“अग्निवेश ! जिस किसीके वह संक्लेशिक (= मलिन करनेवाले), पुनर्जन्म देनेवाले, दुःख-परिणामवाले, भविष्यमें जन्म-जरा-मरण देनेवाले आश्रव (= चित्त-मल) नष्ट नहीं हुये, उसे मैं संमूह (= मूढ) कहता हूँ । अग्निवेश ! आश्रवोंके नाश न होनेसे (पुरुष) संमूह होता है । अग्निवेश ! जिस किसीके वह आश्रव ० नष्ट हो गये, उसे मैं अ-संमूह कहता हूँ । अग्निवेश ! आश्रवोंके नाश होनेसे अ-संमूह होता है । अग्निवेश ! तथागतके वह आश्रव—०—हो गये, उच्छिन्न-मूल, अभावकी प्राप्त, भविष्यमें न उत्पन्न होने लायक सिर-कटे ताड़ जैसे हो गये । जैसे, अग्निवेश ! सिर-कटा ताड़ फिर बढ़ने योग्य नहीं रहता, ऐसे ही अग्निवेश ! तथागतके वह आश्रव-०-०, उच्छिन्न-मूल ० सिरकटे ताड़ जैसे हो गये ।”

ऐसा कहने पर सच्चक निर्गठपुत्ते भगवान्से यह कहा—“आश्चर्य है, भो गौतम ! अद्भुत है भो गौतम ! इतना चिदा चिदा (ताना दे दे) कर कहे जानेपर, सुमनेवाले वचनोंके प्रयोगसे भो आप गौतमका लुक्कर्ण (बैसा ही) स्वच्छ प्रसन्न है, जैसा कि अर्हत् सम्मक् संतुद्धका । भो गौतम ! मैंने पूर्ण कायस्थके साथ वाद किया है । वह दूसरी दूसरी (बात) करने लगता था, वह बातको (विषयसे) बाहरले जाता था; कोप, द्वेष, नाराजगी प्रकट करने लगता था । किन्तु इतना चिदा चिदाकर कहे जानेपर ० । ० मक्खलि गोसाळ ० । ० अजित केश-कम्बली ० । ० प्रकुध कात्यायन ० । ० संजय घेलट्टिपुत्त ० । मैंने निर्गठ नातपुत्तके साथ वाद किया है ० । भो गौतम ! अब हम जायेंगे । हमें बहुत काम बहुत करणीय हैं ।”

“अग्निवेश ! जिसका तू इस समय काल समझता है, (उसे कर) ।”

तब सचक निर्गठपुत्त भगवान्के भाषणका अभिनन्दन, अनुमोदन कर आसनसे उठकर चला गया ।

३७-चूल-तण्डा-संख्य-सुत्तन्त (१।४।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें सुगारमाताके प्रासाद पूर्वोराममें विहार करते थे ।

तब देवताओंका इन्द्र शक्र तहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर सभा होगया । एक ओर खो देवेन्द्र शक्रने भगवान्से यह कहा—

"कैसे, भन्ते ! भिक्षु संक्षेपमें तूष्णाके लय द्वारा सुक हो, अत्यन्त-निष्ठ अत्यन्त योग-क्षेम (= कल्याण)-वाला, अत्यन्त ब्रह्मचारी, अत्यन्त पर्यवसान (= कर्तव्य जिसके समाप्त हो गये), देव-अनुष्योंमें श्रेष्ठ होता है ?"

"देवोंके इन्द्र ! भिक्षु यह सुने होता है—सारे धर्म (= पदार्थ) अभिनिवेश (= राग) करने लायक नहीं है । जब देवोंके इन्द्र ! भिक्षु यह भी सुने होता है—“सारे धर्म अभिनिवेश करने लायक नहीं है ।” वह सारे धर्मोंको जानता है—“सारे धर्मोंको जानकर सब धर्मोंको छोड़ता है । सारे धर्मोंको छोड़कर, जिस किसी सुखा, दुःखा या अ-दुःख-अ-सुखा वेदनाको अनुभव करता है, उसमें वह अनिहानुदर्शी (= यह अनिष्य है, ऐसा समझनेवाला) हो विहरता है, विराग-अनुदर्शी, निरोध (= नाश)-अनुदर्शी, प्रतिविस्तरी (= त्याग)-अनुदर्शी हो विहरता है । वह उन वेदनाओंमें ० प्रतिनिस्तर्गानुदर्शी हो विहरते, लोकमें किसी वस्तुका उपादान (= रागलुक्त ग्रहण) नहीं करता । उपादान न करनेसे (किछोदके) धातुको नहीं पाता । परि-वाल न पानेसे दूसी शरीरमें परिनिर्वाण (= दुःखके सर्वथा अभाव)को प्राप्त होता है;—“जन्म शीघ्र हो गया, ब्रह्मचर्य समाप्त हो गया, करना या सो कर लिया, और कुछ (कर्तव्य) यहाँके लिये नहीं रहा”—जानता है । देवोंके इन्द्र ! ऐसे भिक्षु संक्षेपमें ० देव-अनुष्योंमें श्रेष्ठ होता है ।"

तब देवोंका इन्द्र शक्र भगवान्के भाषणका अभिनन्दन कर, अनुमोदन कर, भगवान्को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर वही अन्तर्धान हो गया ।

उस समय आनुष्मान् महामौद्गल्यायन भगवान्के अ-विदुर (= समीप)में बैठे थे । तब आनुष्मान् महामौद्गल्यायनको यह हुआ—“क्या उस यक्ष (= देव)ने भगवान्के भाषणको समझकर अनुमोदित किया, या बिना (समझे) ? क्यों न मैं उस यक्षको पूछूँ, कि उस यक्षने भगवान्के भाषणको समझकर अनुमोदित किया, ० ?” तब आनुष्मान् महामौद्गल्यायन, जैसे यक्षान् पुरुष समेटी बाँहकी (बिना प्रयास) फैला दे, और कैली बाँहकी समेट ले, वैसे ही, सुगारमाता के प्रासाद पूर्वोरामसे अन्धध्यान हो आपस्मिन्श देव (- लोक)में प्रकट हुये ।

उस समय देवोंका इन्द्र शक्र एकपुंडरीक उद्यानमें पाँच प्रकारके दिव्य वायोंसे सम्-

^१ सुगारमाता विशाखाका नाम था, विशेषके लिये देखो बुद्धचर्य, पृष्ठ २३२ ।

चित्त-समंगीभूत हो चिरा बैठा था । ० शकने दूरसे ही आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको आते देखा । देखकर उन पाँच प्रकारके दिव्य वाद्योंको बटाकर, जहाँ आयुष्मान् महामौद्गल्यायन थे, वहाँ गया । जाकर आयुष्मान् महामौद्गल्यायनसे यह प्रोण—

“आओ, मार्प मौद्गल्यायन ! स्वागत है मार्प मौद्गल्यायन ! चिरकालके बाद मार्प मौद्गल्यायन ! आपका—यहाँ आना हुआ । बैठिये मार्प मौद्गल्यायन ! यह आसन विद्या है ।”

आयुष्मान् महामौद्गल्यायन बिछे आसनपर बैठ गये । देवोंका इन्द्र शक भी एक सीधे आसनको लेकर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे ० शकसे आयुष्मान् महामौद्गल्यायनसे यह कहा—

“कौशिक ! किस प्रकार भगवान्ने तुम्हें संक्षेपसे तुण्डा-अश्व द्वारा मुक्तिके पारमें कहा है ? अच्छा हो, हम भी उस कथाके श्रवण करनेके भागी हों ।”

“मार्प मौद्गल्यायन ! हम बहुकृत्य बहुकरणीय हैं; अपना करणीय (काम) तो बोधा ही है, प्रायश्चित्त देवोंका ही करणीय (बहुत है) । और मार्प मौद्गल्यायन ! सु-क्षुत (= अच्छी प्रकार सुना), सुगुहोत = सु-भगसीकृत, सु-प्रधारित (धात) भी हमें शीघ्र ही भूल जाता है । मार्प मौद्गल्यायन ! पूर्वकालमें देवासुर-संग्राम जिता था । उस संग्राममें, मार्प मौद्गल्यायन ! देव विजयी हुये, असुर पराजित हुये । तो मार्प मौद्गल्यायन ! उस संग्रामको जीत, विजित-संग्राम हो, लौटकर मैंने वैजयन्त नामक प्रासादको बनवाया । मार्प मौद्गल्यायन ! वैजयन्त प्रासादके एक आसन (= तल)में सौ निर्यूह (= संक) हैं । एक एक निर्यूहमें सात कूटागार हैं । एक एक कूटागारमें सात अप्सरायें हैं । एक एक अप्सराके पाँच सात सात परिचारिकायें हैं । मार्प मौद्गल्यायन ! क्या वैजयन्त प्रासादकी रमणीकताको देखना चाहते हो ?”

आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने मौन रह स्वीकार किया ।

तब देवोंका इन्द्र शक आयुष्मान् महा मौद्गल्यायनको आगे आगे कर, जहाँ वैजयन्त प्रासाद था, वहाँ गया । ० शकको परिचारिकाओंने दूरसे ही आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको आते देखा । देखकर, लजाती शर्माती अपनी अपनी कौठरियोंमें धुल गई । यह समुद्रको देखकर जैसे लजाती शर्माती है, वैसेही ० शकको परिचारिकायें आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको देख लजाती शर्माती अपनी अपनी कौठरियोंमें धुल गई ।

तब देवेन्द्र शक और महाराज वैश्रवण, आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको वैजयन्त प्रासाद दिखाने टहलाने लगे—

“मार्प मौद्गल्यायन ! देवों वैजयन्त प्रासादकी इस रमणीकताको भी । मार्प मौद्गल्यायन ! देवों वैजयन्त प्रासादकी इस रमणीकता को ।”

“पहिले पुण्य किये आयुष्मान् कौशिकका यह (भवन) सोहता है ।”

“मनुष्यभी थोड़ी रमणीकता देखकर कहते हैं—‘प्रायश्चित्त देवोंका (भवन) सोहता है, पहिले पुण्य किये आयुष्मान् कौशिकका यह (भवन) सोहता है’ ।”

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको ऐसा हुआ—‘यह शक बहुत अधिक प्रमादी हो विहर रहा है; क्यों न मैं इस यक्षको उद्देवित करूँ ।’

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने ऐसी कवि प्रदर्शितकी, कि वैजयन्त प्रासादको पैरके अंगूठेमें संकम्पित (= कम्पित) = संग्रकम्पित-संप्रवेधित कर दिया । तब ० शक वैश्रवण

१ देवता लोग अपने समान शक्तिको मार्प कहकर संबोधित करते हैं ।

महाराज, और आयुष्मिन् देव आश्चर्य-चकित... हो गये—'अहो ! अमणको महा-वृद्धि-मन्त्रा-महा-
नुभावता ! जो कि (जलने) दिव्य-भयनको ऐसे अंगूठेसे संकम्पित ० कर दिया ।

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायन ० शकको उद्भिन्न रोमांचित जान, शकसे यह कहा—

“कौशिक ! किस प्रकार भगवान् ने तुम्हें ०^१ मुक्तिके बारेमें कहा ० ।”

“भार्य मौद्गल्यायन ! मैं जहाँ भगवान् थे, वहाँ, जाकर भगवान् को अभिवादनकर एक
ओर खड़ा हो गया । एक ओर खड़े मैंने भगवान् से यह कहा—‘कैसे भन्ते ! ०^२ देव-मनुष्योंमें
श्रेष्ठ होता है ।’ भार्य मौद्गल्यायन ! इस प्रकार भगवान् ने मुझे ०^३ मुक्तिके बारेमें कहा ।”

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायन ० शकके भाषणका अभिनन्दन अनुमोदन कर, जैसे
यक्षान् पुरुष समेटी घौहको फैलादे ०^४, वैसेही आयुष्मिन् देव (लोक)में अन्तर्धान हो,
सुगारभाताके प्रसाद पूर्वोराममें प्रकट हुये । आयुष्मान् महामौद्गल्यायनके चले जानेके बोझीही
देर बाद ० शककी परिचारिकाओंने देवेन्द्र, शकसे पूछा—

“भार्य ! यही वह तुम्हारे शास्ता (= गुरु) थे ?”

“भार्य ! यह मेरे शास्ता नहीं थे, यह मेरे सम्बन्धचारी (= गुरुभाई) आयुष्मान् महा-
मौद्गल्यायन थे ।”

“जान है, भार्य ! जबकि तेरे सम्बन्धचारी ऐसे महा-वृद्धिमान् ऐसे महानुभाव हैं । अहो !
यह तुम्हारे भगवान् शास्ता (कैसे होंगे) !!”

तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायन, जहाँ भगवान् थे, वही गये, जाकर भगवान् को
अभिवादनकर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने भगवान् से
यह कहा—

“जानते हैं, भन्ते ! जन्मी एक प्रसिद्ध महाप्रतापी यक्षको भगवान् ने संक्षेपसे तृष्णा-अथ
विमुक्तिको वतलाया था ?”

“जानता हूँ, मीगवत्यायन !—देवेन्द्र शक जहाँ मैं था, वहाँ आया । आकर मुझे
अभिवादनकर एक ओर खड़ा हो गया । एक ओर खड़े देवेन्द्र शकने मुझसे यह कहा—०^५ देव-
मनुष्योंमें श्रेष्ठ होता है । मौद्गल्यायन ! मैं जानता हूँ—ऐसे मैंने देवेन्द्र शकको संक्षेपसे
तृष्णा-अथ-विमुक्तिको वतलाया था ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने भगवान् के भाषणका अभि-
नन्दन किया ।

३८—महा-तण्हा-संखय-सुत्तन्त (११४।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे । उस समय साति केवट्ठपुत्त भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (= धारणा) उत्पन्न हुई थी—“मैं भगवान्‌के उपदेश किये धर्मको इस प्रकार जानता हूँ, कि वही विद्वान् संस्करण (जन्म-मरणमें जाना) करता है, संघावन (= घावन) करता है, बन्धन बन्धों ।

पहलेसे भिक्षुओंने सुना कि—साति केवट्ठपुत्त (= कैवर्त्त-पुत्त) भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि उत्पन्न हुई है—“ संघावन करता है ” । तब वह भिक्षु जहाँ साति केवट्ठपुत्त भिक्षु था, वहाँ गये । जाकर साति केवट्ठपुत्त भिक्षुसे यह बोले—

“सखमुच, आवुस साति ! तुम्हें इस प्रकारकी बुरी धारणा उत्पन्न हुई है ?—“संघावन करता है !”

“हाँ आवुसो ! “ संघावन करता है “ ।”

तब वह भिक्षु उस बुरी धारणासे दूरानेके लिये साति केवट्ठपुत्त भिक्षुको समझाते बुझाते समनुवाचण करने लगे—

“आवुस साति ! मत ऐसा कहो, मत भगवान् पर झूठ लगानो । भगवान् पर झूठ लगाना ठीक नहीं है । भगवान् ऐसा नहीं कहते । आवुस साति ! भगवान्‌ने बनेक प्रकारसे विद्वान्‌को प्रतीग्य-समुत्पन्न (कार्य-कारणसे उत्पन्न) कहा है । प्रत्यय (= हेतु) के बिना विद्वान् (= चेतना) का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता ।”

इस प्रकार उन भिक्षुओंद्वारा समझाये बुझाये जाने पर भी केवट्ठपुत्त साति भिक्षु, उसी बुरी धारणाको हलसे पकड़े कहता था—“मैं भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ “ । जब वह भिक्षु केवट्ठपुत्त साति भिक्षुको उस बुरी धारणाको न हटा सके, तब जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये—“उन भिक्षुओंने भगवान्‌से यह कहा—

“मन्ते ! केवट्ठपुत्त साति भिक्षुको ऐसी बुरी धारणा (= पापदृष्टि) उत्पन्न हुई है—“मैं भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ “ । हमने मन्ते ! “सातिकी इस बुरी धारणाको सुना । तब हम मन्ते ! “साति भिक्षुके पास—“जाकर यह बोले—सखमुच आवुस साति ! तुम्हें इस प्रकार “ ? “हाँ आवुसो ! “ जब हम मन्ते ! “साति भिक्षुकी इस बुरी धारणाको न हटा सके, तब हमने जाकर इस बातको भगवान्‌से कहा ।”

तब भगवान्‌ने एक भिक्षुको संबोधित किया—“आओ भिक्षु ! तुम मेरी ओरसे केवट्ठपुत्त

१ देखो ऊपर ।

साति भिक्षुको बोलता—‘आबुस साति ! शास्ता (= उपदेशक, बुद्ध) तुम्हें बुला रहे हैं ।’

‘अच्छा, भन्ते !—’ (कह) वह भिक्षु ‘‘साति भिक्षुके पास’’ जाकर यह बोला—
‘‘आबुस ! शास्ता तुम्हें बुला रहे हैं ।’’

‘‘अच्छा, आबुस !’’—कहा ‘‘केवट्ठपुस साति भिक्षु जहाँ भगवान् थे, वहाँ जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे ‘‘साति भिक्षुको भगवान्‌ने यह कहा—

‘‘सचमुच, साति ! तुझे इस प्रकारकी बुरी धारणा हुई है—‘मैं भगवान्‌के ० ?’’

‘‘हाँ, भन्ते ! मैं भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ; कि वही विज्ञान संस्मरण, संधावन करता है, वृत्त राहो ।’’

‘‘साति ! वह विज्ञान क्या है ?’’

‘‘यह जो भन्ते ! वक्ता, अनुभव-कर्ता है, जो कि तहाँ तहाँ (जन्म लेकर) अच्छे, बुरे कर्मोंके विपाकको अनुभव करता है ।’’

‘‘मोघपुरुष ! तुमने किसको मुझे ऐसा उपदेश करते सुना ? मैंने तो मोघपुरुष ! अनेक प्रकारसे विज्ञानको प्रतीत्य-समुत्पन्न कहा है; प्रत्ययके बिना विज्ञानका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता (—कहा है) । मोघपुरुष ! तू अपनी ठीकसे न समझी बातका हमारे पर लांछन लगाता है; अपना नुकसान कर रहा है, और बहुत पाप कमा रहा है; मोघपुरुष ! यह तेरे लिये दीर्घकाल तक बहितकर, दुःखकर होगा ।’’

तब भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

‘‘तो क्या मानते हो, भिक्षुओ ! क्या इस ‘‘साति भिक्षुने इस धर्म-विनय (= धर्म) में जोधा भी अवगाहन कर पाया (= उलझीकत) है ?’’

‘‘क्या कर पायेगा, भन्ते ? नहीं भन्ते !’’

ऐसा कहने पर केवट्ठपुस साति भिक्षु सुस्-गुम् हो, सूक हो, कंधा गिराकर, नीचे मुँह करके चिन्तामें पड़, प्रतिमाहीन हो बैठा रहा । तब भगवान्‌ने ‘‘साति भिक्षुको सुस्-गुम् हो ० प्रतिमा हीन हो बैठे देख ‘‘ (उसे) यह कहा—

‘‘मोघपुरुष ! जानेगा तू इस अपनी बुरी धारणाको । अब मैं भिक्षुओंको पूछता हूँ ।’’

तब भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

‘‘भिक्षुओ ! तुमने मुझे ऐसा धर्म उपदेश करते देखा है, जैसे कि ‘‘साति भिक्षु अपनी ठीकसे न समझी बातका, हमारे पर लांछन लगाता है; अपना नुकसान कर रहा है; और बहुत पाप कमा रहा है ?’’

‘‘नहीं भन्ते ! भगवान्‌ने तो भन्ते ! हमें अनेक प्रकारसे विज्ञानको प्रतीत्य-समुत्पन्न कहा है; प्रत्ययके बिना विज्ञानका प्रादुर्भाव नहीं होता है (—कहा है) ।’’

‘‘साधु, भिक्षुओ ! तुम इस प्रकार मेरे उपदेशित धर्मको ठीकसे जानते हो—‘अनेक प्रकारसे ० प्रादुर्भाव नहीं हो सकता’ तो भी यह ‘‘साति भिक्षु अपनी ठीकसे न समझी ० यह उसके लिये दीर्घकाल तक बहितकर दुःखकर होगा ।

‘‘भिक्षुओ ! जिस जिस प्रत्यय (= निमित्त) से विज्ञान उत्पन्न होता है, वही वही उसकी संज्ञा (= नाम) होती है । चक्षु (= आँख) के निमित्तसे रूपमें (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है,

^१ मोघी (बनारसी हिन्दी) = फटूका आदमी ।

संज्ञा-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। श्रोत्र-के निमित्तसे शब्दमें (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, श्रोत्र-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। घ्राण (= नाक) के निमित्तसे रसमें (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, घ्राण-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। जिह्वा-के निमित्तसे रसमें (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, रस-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। काया-के निमित्तसे स्पर्श (= छूने जानेवाले विषय) में (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, काय-विज्ञान ही उसका नाम होता है। मन-के निमित्तसे धर्म (= उपरोक्त पाँच बाहरी इन्द्रियोंसे प्राप्त ज्ञान) में (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, मनो-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है।

“जैसे कि, मिथुनो ! जिस जिस निमित्त (= प्रत्यय) को लेकर (जो) आग जलती है, वही वही उसकी संज्ञा होती है। काष्ठ-के निमित्तसे (जो) आग जलती है, काष्ठ-अग्नि ही उसकी संज्ञा होती है। (लकड़ोंकी) चुट्टी-के निमित्तसे जो आग जलती है, चुट्टी-की आग ही उसकी संज्ञा होती है। तृण-के निमित्तसे (जो) आग जलती है, तृण-अग्नि ही उसकी संज्ञा होती है। कंद (= गोमय) के निमित्तसे (जो) आग जलती है, कंद-की आग ही उसकी संज्ञा होती है। भूसी (= तृण) के निमित्तसे (जो) आग जलती है, भूसी-की आग ही उसकी संज्ञा होती है। कूले (= संस्कार) के निमित्तसे (जो) आग जलती है, कूले-की आग ही उसकी संज्ञा होती है। ऐसे ही मिथुनो ! जिस जिस निमित्तसे विज्ञान उत्पन्न होता है, वही वही उसकी संज्ञा होती है। चक्षु-के निमित्तसे ०^१ मनो-विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है।

“मिथुनो ! इस (पाँच स्कंधों^२) को उत्पन्न देखते हो ?”

“हाँ, भन्ते !”

“मिथुनो ! अपने आहारसे (उन्हें) उत्पन्न हुआ देखते हो ?”

“हाँ, भन्ते !”

“मिथुनो ! जो उत्पन्न होने वाला है, अपने आहार-के निरोधसे वह निरुद्ध (= नष्ट) होनेवाला होता है—इसे देखते हो ?”

“हाँ, भन्ते !”

“मिथुनो ! ‘यह (पाँच स्कंध) उत्पन्न हुआ है, या नहीं’—यह दुविधा करते सम्यग् (= विचिकित्सा) उत्पन्न होती है न ?”

“हाँ, भन्ते !”

“मिथुनो ! अपने आहारसे उत्पन्न हुआ है, या नहीं—० ?”

“हाँ, भन्ते !”

“मिथुनो ! जो उत्पन्न होनेवाला है, (यह) अपने आहार (= स्थितिके आधार) के निरोधसे निरुद्ध होनेवाला होता है, या नहीं—यह दुविधा करते सम्यग् उत्पन्न होता है न ?”

“हाँ, भन्ते !”

“मिथुनो ! ‘यह (= पाँच स्कंध) उत्पन्न है’—यह अपनी प्रकार प्रज्ञासे देखने पर सम्यग् नष्ट हो जाता है न ?”

^१ देखो पृष्ठ १५२-५३ । ^२ रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान यह पाँच स्कंध हैं। वेदना, संज्ञा, संस्कार रूपसे संबंधसे विज्ञान-हीकी तीन अवस्थाएँ हैं, इस प्रकार यह उसके अन्तर्गत है। पृथिवी, अल, अग्नि, वायु रूप-स्कंध हैं। जिसमें न भारीपन है, और जो न जगह धरता है, वह विज्ञान-स्कंध है। रूप (= Matter) और विज्ञान (= Mind) के मेलसे ही सारा संसार बना है।

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! इसे अपने आहारसे उत्पन्न ० । ० 'जो उत्पन्न होनेवाला है, (यह) अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होने वाला होता है'—यह ठीकसे अच्छी प्रकार प्रज्ञाते देखने पर सन्देह नष्ट हो जाता है न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! 'यह (यह) उत्पन्न है'—इस (विषयमें) तुम सन्देह-रहित हो न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! 'यह अपने आहारसे उत्पन्न है'—इस (विषय)में भी तुम सन्देह-रहित हो न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"० अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होनेवाला होता है—इस (विषय)में भी तुम सन्देह-रहित हो न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! 'यह उत्पन्न है'—इसे ठीकसे अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट (= अच्छा दर्शन) है न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! ' (यह) अपने आहारसे उत्पन्न है—० । ० अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होने वाला होता है'—यह ठीकसे अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट है न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! क्या तुम इस ऐसे परिशुद्ध, उज्जल, हृष्ट (= दर्शन, ज्ञान)में भी आसक्त होगे, रमोगे, ' (मेरा) धन है'—समझोगे, ममता करोगे ? भिक्षुओ ! (मेरे) उपदेसों धर्मको कुल (= नदी पार करनेके घेरे)के समान, (यह) पार होनेके लिये है, पकड़ कर रखनेके लिये नहीं है— (समझोगे) ?"

" (पकड़ कर रखनेके लिये) नहीं है भन्ते !"

"भिक्षुओ ! तुम इस ऐसे परिशुद्ध, उज्जल, हृष्टमें भी आसक्त न होना, न रमना, ' (मेरा) धन ' है—न समझना, ममता न करना । बल्कि भिक्षुओ ! मेरे उपदेसों धर्मको कुल (= वेड़े)के समान समझना, (यह) पार होनेके लिये है, पकड़ रखनेके लिये नहीं है ।"

"हाँ, भन्ते !"

"भिक्षुओ ! उत्पन्न प्राणियोंकी स्थितिके लिये, आगे उत्पन्न होने वाले (सत्त्वों)की सहायता (= अनुग्रह)के लिये यह चार आहार हैं । कौनसे चार ?—(पहिला) स्थूल वा सूक्ष्म कवलीकार (= कवल, कवल करके लाने योग्य) आहार; दूसरा स्पर्श (आहार); तीसरा मनः-संवेतना (= मनसे विषयका व्यालकरणके तृप्तिप्रदान करना), चौथा विज्ञान (= चेतना) ।

"भिक्षुओ ! इन चार आहारोंका क्या निदान (= हेतु) है = क्या समुदय है ? (यह) किससे जन्मे है = किससे संभूत है ?—भिक्षुओ ! इन चारों आहारोंका निदान है तृष्णा । ० समुदय है, तृष्णा । यह जन्मे है तृष्णासे = यह संभूत है तृष्णासे ।

"भिक्षुओ ! इस तृष्णाका क्या निदान है ० ?—० वेदना ० ।

"० वेदना ० ?—० स्पर्श ० ।

“० स्पर्श ०^१ ?—० षड्-आयतन^१ ० ।

“० षड्-आयतन ०^१ ?—० नाम-रूप^१ ० ।

“० नाम-रूप ०^१ ?—० विज्ञान ० ।

“० विज्ञान ०^१ ?—० संस्कार ० ।

“० संस्कार ०^१ ?—० अविद्या ० ।

“इस प्रकार भिक्षुओ ! अ-विद्याके कारण संस्कार होता है, संस्कारके कारण विज्ञान, विज्ञानके कारण नाम-रूप, नाम-रूपके कारण षड्-आयतन, षड्-आयतनके कारण स्पर्श, स्पर्शके कारण वेदना, वेदनाके कारण तृष्णा, तृष्णाके कारण उपादान (= ग्रहण या ग्रहण करनेकी इच्छा), उपादानके कारण भव (= संसार), भवके कारण जन्म, जन्मके कारण जरा-मरण, शोक, रोना-काँदना, दुःख = दीर्घमनस्य, हेरानी-परेशानी होती है । इस प्रकार इस केवल (= सात्त्विक) दुःख-स्कन्ध (= दुःख-समुदाय) की उत्पत्ति होती है ।

“भिक्षुओ ! जाति (= जन्म) के कारण जरा-मरण होता है—यह जो कहा । भिक्षुओ ! जातिके कारण जरा-मरण होता है या नहीं—इसमें तुम्हें क्या जान पड़ता है ?

“जातिके कारण जरा-मरण होता है । भन्ते ! हमको यही जान पड़ता है, कि जातिके कारण जरा-मरण होता है ।

“भिक्षुओ ! भवके कारण जाति (= जन्म) होती है—यह जो कहा । भिक्षुओ ! भवके कारण जाति होती है या नहीं—इसमें तुम्हें क्या जान पड़ता है ?”

“० भवके कारण, भन्ते ! जाति होती है ० ।”

“० उपादानके कारण ०^१ ?—० ।”

“० तृष्णाके कारण ०^१ ?—० ।”

“० वेदनाके कारण ०^१ ?—० ।”

“० स्पर्शके कारण ०^१ ?—० ।”

“० षड्-आयतनके कारण ०^१ ?—० ।”

“० नाम-रूपके कारण ०^१ ?—० ।”

“० विज्ञानके कारण ०^१ ?—० ।”

“० संस्कारके कारण ०^१ ?—० ।”

“० अविद्याके कारण ०^१ ?—० ।”

“साधु, भिक्षुओ ! तुमभी भिक्षुओ ! इस प्रकार कहो, मैं भी ऐसेही कहता हूँ—‘इसके होनेपर वह होता है, इसके उत्पन्न होनेसे वह उत्पन्न होता है’—जो कि यह अविद्याके कारण संस्कार, संस्कारके कारण विज्ञान, विज्ञानके कारण नाम-रूप, नाम-रूपके कारण षड्-आयतन, षड्-आयतनके कारण स्पर्श, स्पर्शके कारण वेदना, वेदनाके कारण तृष्णा, तृष्णाके कारण उपादान, उपादानके कारण भव, भवके कारण जाति, जातिके कारण जरा-मरण, जरा-मरणके कारण शोक, रोना-काँदना, दुःख = दीर्घमनस्य, हेरानी-परेशानी होती है ।—इस प्रकार इस केवल दुःख-स्कन्ध (= दुःख-सुख) की उत्पत्ति होती है ।

^१ ऊपरकी तरह ।

^२ चक्षु आदि पाँच बाहरी इन्द्रियों और छठा भीतरी इन्द्रिय मन, यह छः आयतन है । ^३ रूप भूषणोंकी कहे हैं, और नाम विज्ञानकी (देखो टिप्पणी पृष्ठ १५३) ।

“अविद्याके पूर्णतया विरक्त होनेसे, (अविद्याके) नष्ट होनेसे संस्कारका नाश (= निरोध) होता है, संस्कारके निरोधसे विज्ञानका निरोध होता है, विज्ञानके निरोधसे नाम-रूपका निरोध होता है, नाम-रूपके निरोधसे षड्-आयतनका निरोध होता है, षड्-आयतनके निरोधसे स्वप्नका निरोध होता है, स्वप्नके निरोधसे वेदनाका निरोध होता है, वेदनाके निरोधसे तृष्णाका निरोध होता है, तृष्णाके निरोधसे उपादानका निरोध होता है, उपादानके निरोधसे भवका निरोध होता है, भवके निरोधसे जातिका निरोध होता है, जातिके निरोधसे जरा-मरण, शोक, रोने-काँदने, दुःख = दुर्मनस्स, हैरानी-परेशानीका निरोध होता है।—इस प्रकार इस केवल दुःख-स्योध्यका निरोध होता है।

“भिक्षुओ ! ‘जातिके निरोधसे जरा-मरणका निरोध होता है’—यह जो कहा। भिक्षुओ ! जातिके निरोधसे जरामरणका निरोध होता है या नहीं होता—यहाँ मुझे कैसा जान पड़ता है ?”

“ ‘जातिके निरोधसे जरामरणका निरोध होता’ भन्ते ! (यहाँ) भन्ते ! हमें होता है—जातिके निरोधसे जरा-मरणका निरोध होता है ।”

“० भवके निरोधसे ० ?—० ।”

“० उपादानके निरोधसे ० ?—० ।”

“० तृष्णाके निरोधसे ० ?—० ।”

“० वेदनाके निरोधसे ० ?—० ।”

“० स्पृशक के निरोधसे ० ?—० ।”

“० षड्-आयतनके निरोधसे ० ?—० ।”

“० नाम-रूपके निरोधसे ० ?—० ।”

“० विज्ञानके निरोधसे ० ?—० ।”

“० संस्कारके निरोधसे ० ?—० ।”

“० अविद्याके निरोधसे ० ?—० ।”

“साधु, भिक्षुओ ! सुममी भिक्षुओ ! इस प्रकार कहो, मैं भी ऐसे कहता हूँ—‘इसके न होनेपर यह नहीं होता, इसके निरोध होनेपर इसका निरोध होता है’; जो कि यह अविद्याके निरोधसे संस्कारका निरोध होता है; संस्कारके निरोधसे विज्ञानका निरोध होता है, ० नाम-रूप ०, ० षड्-आयतन ०, ० स्पृशक ०, ० वेदना ०, ० तृष्णा ०, ० उपादान ०, ० भव ०, ० जातिके निरोधसे जरा-मरण, शोक, रोने-काँदने, दुःख = दुर्मनस्स, हैरानी-परेशानीका निरोध होता है।

“भिक्षुओ ! इस प्रकार (पूर्वोक्त क्रमसे) जानते देखते हुये क्या तुम पूर्वके डोर (= पूर्व-अन्त = पुराने समय या पुराने जन्म) की ओर दौड़ोगे—‘अहो ! क्या हम अतीत-कालमें थे, या हम अतीत-कालमें नहीं थे ? अतीत-कालमें हम क्या थे ? अतीत-कालमें हम कैसे थे ? अतीत-कालमें क्या होकर हम क्या हुये थे ?’”

“नहीं, भन्ते !”

“भिक्षुओ ! इस प्रकार जानते देखते हुये, क्या तुम बादके डोर (= अपर-अन्त = आगे जाने वाले समय) की ओर दौड़ोगे—‘अहो ! क्या हम भविष्य कालमें होंगे, या हम भविष्य कालमें नहीं होंगे ? भविष्य कालमें हम क्या होंगे ? ० हम कैसे होंगे ? भविष्य कालमें क्या होकर हम क्या होंगे ?’”

“नहीं, मन्ते !”

“मिथुजो ! इस प्रकार जानते देखते हुये, क्या तुम इस वर्तमान कालमें अपने भीतर इस प्रकार कहने-सुनने वाले (= कथकथो) होगे—‘अहो ! क्या मैं हूँ, ० या मैं नहीं हूँ ? मैं क्या हूँ ? मैं कैसा हूँ ? यह सत्य (= प्राणी) कहाँसे आया ? वह कहाँ जानेवाला होगा ?’—?”

“नहीं, मन्ते !”

“मिथुजो ! इस प्रकार देखते जानते क्या तुम ऐसा कहोगे—‘शास्त्रा (= उपदेश) हमारे गुरु हैं, शास्त्राके गौरव(के ज्वाल)में हम ऐसा कहते हैं’—?”

“नहीं, मन्ते !”

“० ऐसा कहोगे—‘अमण(= संन्यासी)ने हमें ऐसा कहा, अमणके वचनसे हम ऐसा कहते हैं’—?”

“नहीं, मन्ते !”

“मिथुजो ! इस प्रकार देखते जानते क्या तुम दूसरे शास्त्राके अनुगामी होगे ?”

“नहीं, मन्ते !”

“० क्या तुम नाना अमण ब्राह्मणोंके (जो यह) मत, कौतुक, संगल (संबंधी क्रियायें) हैं, उन्हें सारेके तीर पर महज करोगे ?”

“नहीं, मन्ते !”

“क्या मिथुजो ! जो तुम्हारा अपना जाना है, अपना देना है, अपना अनुभव किया है, उसीको तुम कहते हो ?”

“हाँ, मन्ते !”

“साधु, मिथुजो ! मैंने मिथुजो ! तुम्हें समयान्तरमें नहीं तत्काल फलदायक, यही दिखाई देनेवाले, विज्ञों द्वारा अपने आपमें जानने योग्य इस धर्मके प्राप्त उपनीत किया (= पहुँचाया) है। मिथुजो ! ‘यह धर्म समयान्तरमें नहीं’ तत्काल फलदायक है, (इसका परिणाम) यही दिखाई देनेवाला है, (यह) विज्ञोंद्वारा अपने आपमें जानने योग्य है’—यह जो कहा है, वह इसी (उक्त कारण)से ही कहा है।

“मिथुजो ! तीनोंके एकत्रित होनेसे गर्भ धारण होता है—माता और पिता एकत्र होते हैं, किन्तु माता क्लृप्त होती नहीं होती और गंधर्व^१ उपस्थित नहीं होता; तो गर्भ-धारण नहीं होता। माता-पिता एकत्र होते हैं, माता क्लृप्त होती है; किन्तु, गंधर्व उपस्थित नहीं होता, तो भी गर्भ-धारण नहीं होता। जब माता-पिता एकत्र होते हैं, माता क्लृप्त होती है, और गंधर्व उपस्थित होता है; इस प्रकार तीनोंके एकत्रित होनेसे गर्भ-धारण होता है। तब उस गर्भ-धारण-वाले गर्भको बड़े संशयके साथ माता कोलमें ली या इस मात धारण करती है। फिर उस गर्भ-धारण-वाले गर्भको बड़े संशयके साथ माता ली या इस मातके बाद जनती है। तब उस बात (= जन्तव)को मिथुजो ! माता अपनेही लोहितसे पोसती है। मिथुजो ! आपोंके मतमें यह लोहित (= दूध) ही है, जो कि यह माताका दूध है।

“तब मिथुजो ! वह कुमार क्या होने पर, इन्द्रियोंके परिपक्व होने पर जो वह बच्चोंके लिलौने हैं, जैसे कि—वंकक (= बंका), घटिक (= घबिया), मोक्षविक (= मुँहका छट्ट),

^१ उत्पन्न होनेवाला चेतना-प्राद । देखो अभिषर्मेकोश (२१२), पृष्ठ ३५४ ।

चिगुलक (= चिगुलिया), पात्र-भाइक (= तराजूका बिलौना), रघक (= बिलौनेकी गायी), चतुक् (= चतुही)—इन्से खेलता है।

“तब भिक्षुओ ! वह कुमार (और) वषा होने पर, इन्द्रियोंके परिपक्व होने पर, संदुक्क ललित हो, पाँच (प्रकारके) काम-गुणों (= विषय-मोर्गों)—चक्षुसे विज्ञेय इष्ट (= अभिलषित) कान्त (= कमनीय), मनोज्ञ, प्रिय, कामनायुक्त, रजनीय रूपों; श्रोत्रसे विज्ञेय ० शब्दों; घ्राणसे विज्ञेय ० गंधों; जिह्वासे विज्ञेय ० रसों; कायासे विज्ञेय ० स्पर्शों—को संलग्न करता है। वह चक्षु (= आँख) से प्रिय रूपोंको देखकर राग-युक्त होता है, श्र-प्रिय रूपोंको देखकर द्वेष-युक्त होता है। कायिक स्मृति (= होश) को न कायम रख छोटे चित्तसे विहरता है। (वह) उस चित्तकी विमुक्ति और प्रज्ञाकी विमुक्ति (= मुक्ति) का ठीकसे ज्ञान नहीं करता; जिससे कि उसकी सारी बुराइयाँ = अकुशल-धर्म निरुद्ध हो जायें। वह इष्ट प्रकार अनुरोध (= राग), विरोधमें पड़ा, सुखमय दुःखमय न-सुख-न-दुःखमय—जिस किसी वेदनाको वेदन (= अनुभव) करता है; उसका वह अभिनन्दन करता है, अभिवादन करता है, अवगाहन करता है। इस प्रकार अभिनन्दन करते, अभिवादन करते, अवगाहन करते रहते उसे नन्दी (= तृष्णा) उत्पन्न होती है। वेदनाओंके विषयमें जो यह नन्दी है, (यही) उसका उपादान है, उसके उपादानके कारण भव होता है, भवके कारण जाति, जातिके कारण जारामरण, शोक, रोता-काँदना, दुःख = दीर्घमरण, हैरानी-परेशानी होती है। इस प्रकार इन केवल दुःख-स्वर्षकी उत्पत्ति = समुदय, होता है। वह ओषसे प्रिय शब्दोंको सुन कर ०^१ ० घ्राणसे प्रिय गंधोंको सूँघ कर ०^१ । ० जिह्वासे प्रिय रसोंको चख कर ०^१ । ० कायासे प्रिय स्पर्शोंको छू कर ०^१ । ० मनसे प्रिय धर्मोंको जान कर ० । इस प्रकार इस केवल दुःख-स्वर्षकी उत्पत्ति होती है।

“भिक्षुओ ! यहाँ लोकमें तथगत, महत्, सम्मक-संदुद्ध, विद्या-आचरण-युक्त, सुगत, लोक-विद्, पुरुषोंके अनुपम-बाहुक-सवार, देवताओं-और-मनुष्योंके उपदेष्टा भगवान् बुद्ध उत्पन्न होते हैं। वह ब्रह्मलोक, मारलोक, देवलोक सहित इस लोकको, देव-मनुष्य-सहित भ्रमण-यात्रा-युक्त (सभी) प्रजाको स्वर्ग समझ कर = लाजान्कार कर (धर्मको) बतलाते हैं। वह जादिते कल्याण-कारी), मध्यमें कल्याण-कारी), अन्तमें कल्याण-कारी) धर्मको जय-सहित = अभ्युत्थन-सहित उपदेष्टते हैं। वह केवल (= भ्रमण-रहित) परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्यको प्रकाशित करते हैं। उस धर्मको गृहपति या गृहपतिष्ठा पुत्र, या और किसी छोटे कुलमें उत्पन्न (पुरुष) सुनता है। वह उस धर्मको सुनकर तथगतके विषयमें अद्भुत ज्ञान करता है। वह इस अद्भुत-ज्ञानसे संयुक्त हो सोचता है—‘गृह-बाल जंगल है, मैलका भारी है। प्रमत्ता (= संन्यास) सौदाग (या मुला न्याय) है। इस नितान्त सर्वथा-परिपूर्ण, सर्वथा-परिशुद्ध, सारादे संक जैसे (उज्जल) ब्रह्मचर्यका पालन घरमें रहते मुकर नहीं है। क्यों न मैं सिर-दाढ़ी झुँटाकर, कायाय वस्त्र पहन, घरसे बेचर हो प्रमज्जित हो जाऊँ ?’ सो वह दूसरे समय अपनी अवय मोग-राशिको या भद्रा-मोग-राशिको अवय-शक्ति-मंडलको या भद्रा-शक्ति-मंडल को छोड़; सिर-दाढ़ी झुँटा, कायाय वस्त्र पहिन घरसे बेचर हो प्रमज्जित (= संन्यासी) होता है।

“वह इस प्रकार प्रमज्जित हो, भिक्षुओंकी शिक्षा, समान-जीविकाको प्राप्त हो, प्राणालि पात छोड़, प्राणिहिंसासे क्लृप्त होता है। ईद-जामी, द्रव्य-त्यागी, छज्जालु, दमालु, सर्व प्राणियों, सारे प्राणि-भूतोंका हित और अनुकंपक हो विहरता है। अ-दिक्कादार (= चोरी)

^१ रूपकी तरह इसे भी ।

छोप, विद्यादायी (= दियेका लेनेवाला), दियेका चाहनेवाला, "चञ्चितात्मा हो विहरता है। अ-महाचर्यको छोप महाचारी हो, आनन्द-धर्म मैथुनसे विरत हो, आर-वारी (= दूर रहनेवाला) होता है। सुधावादको छोप, सुधावादसे विरत हो, सत्यवादी सत्य-संघ, शोकका अ-विश्रवाद्क = विश्वास-पात्र होता है। पिङ्गुन-वचन (= सुगली) छोप, पिङ्गुन-वचनसे विरत होता है—इन्हें फोड़नेके लिये यहाँसे सुनकर वहाँ कहनेवाला नहीं होता; या इन्हें फोड़नेके लिये वहाँसे सुनकर यहाँ कहनेवाला नहीं होता। (वह तो) छूटोंको मिलानेवाला, मिले कुभोंको न फोड़नेवाला, एकतामें प्रसन्न, एकतामें रत, एकतामें आबन्धित हो, एकता करनेवाली वाणीका बोलनेवाला होता है। कटुवचन छोप कटु-वचनसे विरत होता है। जो वह वाणी... कर्ण-सुखा, प्रेमणीया, हृदयंगमा, सम्म, बहुजन-कान्ता = बहुजन-मनापा है, वैसी वाणीका बोलनेवाला होता है। प्रसापको छोप प्रसापसे विरत होता है। सम्य देखकर बोलनेवाला, अचार्यवादी = अर्थ-वादी, धर्म-वादी, विषय-वादी हो, सान्धर्व-युक्त, फल-युक्त, सार्थक, सारयुक्त वाणीका बोलनेवाला होता है।

"वह बीज-समुदाय, भूत-समुदायके बिनावासे विरत होता है। एकहारी, रातको उपरत-विद्याल (= मध्याह्नोत्तर)-भोजनसे विरत होता है। माता, गंध, विक्षेपनके धारण, मंथन, विमू-षणसे विरत होता है। उत्पन्न-शयन और महाशयनसे विरत होता है। सोना चढ़ी लेनेसे विरत होता है। कन्या अनाज लेनेसे विरत होता है। कन्या मांस लेनेसे विरत होता है। की-कुमारी ०, दासी-दास ०, भेद-बहरी ०, मुर्गी-मुजर ०, दायी-गाम ०, बोधा-बोधी ०, श्वेत-श्वर लेनेसे विरत होता है। वृत्त धन कर जानेसे विरत होता है। कथ-विकथ करनेसे विरत होता है। तराजूकी ठगी, काँसेकी ठगी, मान (= मन, सेर आदि तोल) की ठगीसे विरत होता है। घूम, बंचना, जाल-साजी, कुटिल-योग ०। छेदन, कथ, पंथन, छाप्रा मारने, ग्राम आदिके विनाश करने, हाका डालनेसे विरत होता है।

"वह शरीरके वस्त्र, और पेटके लानेसे सन्तुष्ट रहता है। वह जहाँ जहाँ जाता है (अपना सामान) लिये ही जाता है; जैसे कि पक्षी जहाँ कहीं उड़ता है, अपने पक्ष-भारके साम ही उड़ता है। इसी प्रकार भिक्षु शरीरके वस्त्र, और पेटके लानेसे सन्तुष्ट रहता है। ०। वह इस प्रकार आर्य (= निर्दोष) शील-स्वर्गंध (= सदाचार-समूह) से युक्त हो, अपने भीतर निर्मल सुखको अनुभव करता है।

"वह अंगसे रूपको देखकर, निमित्त (= आकृति आदि) और अनुपपन्न (= चिन्ह) का ग्रहण करनेवाला नहीं होता। चूँकि चक्षु इन्द्रियको अ-रक्षित रख विहरनेवालोंको, राग, द्वेष, दुःखाद्याँ = अ-कुशल धर्म उत्पन्न होते हैं; इसलिये वह उसे सुरक्षित रखता है; चक्षु-इन्द्रियकी रक्षा करता है = चक्षु-इन्द्रियमें संवर ग्रहण करता है। वह अंगसे शब्द सुनकर निमित्त और अनुपपन्नका ग्रहण करनेवाला नहीं होता ०। श्रावसे संघ ग्रहण कर ०। विद्यासे रस ग्रहण कर ०। कानसे स्पर्श ग्रहण कर ०। मयसे धर्म ग्रहण कर ०। इस प्रकार वह आर्य इन्द्रिय-संवरसे युक्त हो, अपने भीतर निर्मल सुखको अनुभव करता है।

"वह आने-जानेमें, जानकर करनेवाला (= संप्रजन्य-युक्त) होता है। अवलोकन-विलोकनमें संप्रजन्य-युक्त होता है। समेटने-कैलागेमें ०, संधाटी-पात्र-बोकरके धारण करनेमें ०, क्षानधान, मोक्षन-आश्वादनमें ०। मल-मूत्र विसर्जनमें ०, जाते-सदे होते, बैठते, सोते-जागते, बोलते धुप रहते ०। इस प्रकार वह आर्य स्मृति-संप्रजन्यसे युक्त हो, अपनेमें निर्मल सुखको अनुभव करता है।

"वह इस आर्य-शील-स्वर्गंधसे युक्त, इस आर्य इन्द्रिय-संवरसे युक्त, इस आर्य स्मृति-संप्र-जन्यसे युक्त हो, एकान्तमें—गरुड, हृल-काया, पर्वत, कन्दरा, गिरि-गुहा, ह्यशान, वन-प्रान्त,

सुखे मैदान, या पुआलके गंजमें—वास करता है। वह मोक्षके बाद—आसन मार कर, कायाको सीधा रख, स्मृतिको सम्मुख धरा कर बैठता है। वह लोकमें (१) अभिध्या (= लोभ) को छोड़, अभिध्या-रहित चित्त वाला हो विहरता है; चित्तको अभिध्यासे शुद्ध करता है। (२) व्यापाद (= द्वेष) को छोड़ कर, व्यापाद-रहित चित्त-वाला हो, सारे प्राणियोंका हितानुकम्पी हो विहरता है; व्यापादके दोषसे चित्तको शुद्ध करता है। (३) स्त्यान-भृद् (= शारीरिक मानसिक आलस्य) को छोड़ स्त्यान-रहित-रहितहो, आलोक-संज्ञा वाला (= रोशन-स्वात) हो, स्मृति और संप्रजन्म (= होश) से युक्त हो विहरता है ०। (४) औद्धत्य-कौकृत्य (= उद्धतपने और हिचकिचाहट) को छोड़, अनुद्धत भीतरसे शान्त हो विहरता है ०। (५) विचिकित्सा (= संदेह) को छोड़, विचिकित्सा-रहित हो, निस्संकोच महाइयोंमें (लक्ष्य) हो विहरता है; विचिकित्सासे चित्तको शुद्ध करता है।

“वह इन (अभिध्या आदि) पाँच नोचरणोंको चित्तसे दृढ़, उपक्लेशों (= चित्त-मलों) को जान, उनके दुपेक्ष करनेके लिये, काम (= विषयों) से अलग हो, बुराइयोंसे अलग हो, विकेस उत्पन्न एवं चित्तके-विचार-युक्त प्रीति-सुख-वाले प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। और फिर मिथुजो ! वह चित्तको और विचारके शान्त होने पर, भीतरकी प्रसन्नता = चित्तकी एकाग्रताको प्राप्त कर, चित्तके-विचार-रहित, समाधिसे उत्पन्न प्रीति-सुखवाले द्वितीय ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। और फिर मिथुजो ! वह प्रीति और विरागसे उपेक्षा वाला हो, स्मृति और संप्रजन्म से युक्त हो, कायासे सुख अनुभव करता विहरता है। जिस (से युक्त) को कि आवै लोभ उपेक्षक, स्मृतिमान् और सुख विहारी कहते हैं, ऐसे तृतीय ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। और फिर मिथुजो ! वह सुख और दुःखके विनाशसे, सौमनस्य (= चित्त-तृप्ति) और दोर्मनस्य (= चित्तकी असंतुष्टि) के पूर्व ही भला हो जानेसे, दुःख-सुख-रहित और उपेक्षक हो, स्मृतिकी शुद्धतासे युक्त चतुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है।

“वह चतुसे रूपको देखकर, प्रिय रूपमें राग-युक्त नहीं होता, अप्रिय रूपमें द्वेष-युक्त नहीं होता; विद्याल चित्तके साथ कायिक स्मृतिको कायम रखकर विहरता है। (वह) उस चित्तकी विमुक्ति (= मुक्ति) और प्रज्ञाकी विमुक्तिको ठीकसे जानता है; जिसमें कि उसकी सारी बुराइयाँ—अकुशल-धर्म निरुद्ध हो जाते हैं। वह इस प्रकार अनुरोध विरोधसे रहितहो, सुखमय, दुःखमय, न-सुख-न-दुःख-मय—जिस किसी वेदनाको अनुभव करता है;—“उसका वह अभिनन्दन नहीं करता, अभिवादन नहीं करता, (उसमें) अवगाहन कर नहीं स्थित होता। इस प्रकार अभिनन्दन न करते, अभिवादन न करते, अवगाहन न करते, जो वेदना-विषयक नन्दी (= तृष्णा) है, वह उसकी निरुद्ध (= नष्ट) हो जाती है। उस नन्दीके निरोधसे उपादान (= रागयुक्त प्रदण) का निरोध होता है। उपादानके निरोधसे भवका निरोध, भवके निरोधसे जाति (= जन्म) का निरोध, जातिके निरोधसे जरा-मरण, शोक, रोने-काँदने, दुःख-दौर्मनस्य, हैरानी-परेशानीका निरोध होता है। इस प्रकार इस केवल दुःख-स्वयं (= दुःख-पुंज) का निरोध होता है। ओषसे शब्द सुन कर ०। प्राणसे गंध सूँघ कर ०। जिह्वासे रसकी चस कर ०। कायासे स्पृश्य (स्पर्श वस्तु) को छू कर ०। मनसे धर्मको जान कर प्रिय धर्मोंमें राग-युक्त नहीं होता, अप्रिय धर्मोंमें द्वेष-युक्त नहीं होता ०। इस प्रकार इस केवल दुःख-स्वयंका निरोध होता है।

“मिथुजो ! मेरे संक्षेपसे कहे इस तृष्णा-संज्ञय-विमुक्ति (= तृष्णाके विनाशसे होनेवाली मुक्ति) को धारण करो; केवल्युक्त सान्ति मिथुजो तृष्णाके महाजाल-तृष्णाके महा-संघाटमें पैसा (जानो) ।” भगवान् ने वह कहा, समुह हो उन मिथुजोंने भगवान् के माधनका अमितन्दन किया ।

२६—महा-अस्सपुर-सुत्तन्त (१४१६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् जंग (देश) में भगवान्‌लोक अस्सपुर नामक नगरमें विहरते थे ।

तब भगवान्‌ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भवन्त !” (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ने यह कहा—

“भिक्षुओ ! ‘अमण’, ‘अमण’ कह लोग तुम्हारा नाम धरते हैं । तुम भी ‘तुम कौन हो ?’

—यह पूछने पर ‘अमण (हैं)’—उत्तर देते हो । भिक्षुओ ! तुम्हारी यह संज्ञा होते हुए, तुम्हारी यह प्रतिज्ञा होते हुए, तुम्हें सीख लेनी चाहिये—‘जो अमण बनाने वाले धर्म हैं, जो अमण बनाने वाले धर्म हैं, उन्हें लेकर हम धर्तरे, इस प्रकार हमारी संज्ञा (= नाम) सची होगी, हमारी प्रतिज्ञा यथार्थ होगी । और जिन (गृहस्थों)के (दिने) भय, क्षय, निवास, रोगमें पण्य-शौच हम उपमोग करते हैं; उनका वह हमपर किया उपकार भी महाफलदायक, = महा-आनन्दस्प होगा । हमारी यह प्रवच्य (= संन्यास) भी अ-वच्य = सफल = स-उद्घा होगी’ ।

“भिक्षुओ ! कौनसे धर्म अमण बनानेवाले हैं, आह्वय बनानेवाले हैं ?—हम लज्जा और संकोचवाले धर्तरे—यह भिक्षुओ ! तुम्हें सीखना चाहिये । शायद् भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा हो—‘हम लज्जा-संकोच (= डी, अपप्रपा)वाले हैं; इतना काफ़ी है, इतना धर्म है । अमण-वन (= आनन्द) का अर्थ हमें मिल गया । (इससे) आगे हमारे लिये कुछ करणीय नहीं है’—मत इतनेसे सन्तोष कर लेना ।

“भिक्षुओ ! तुम्हें कहता हूँ, तुम्हें समझाता हूँ, मत अमणपनको कामना (दोष) रखते, आगे करणीय धार्मी रहनेके कारण, अमणपनका अर्थ तुमसे निकल जाये । क्या है भिक्षुओ ! आगे करणीय ?—भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये—‘हमारा काविक आचार परिशुद्ध होगा, उत्तात = सुल्ला होगा, यह छिद्र (= दोष) मुक्त और ढँका न होगा । उस काविक आचारके शुद्ध होनेसे न हम अपने लिये अमिमान करेंगे, न दूसरेको नीच कहेंगे’ । शायद् भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा हो—‘हम लज्जा-संकोच वाले हैं, हमारा काविक आचार परिशुद्ध है । इतना काफ़ी है ०’—मत इतनेसे सन्तोष कर लेना ।

“भिक्षुओ ! तुम्हें कहता हूँ, तुम्हें समझाता हूँ ० । क्या है भिक्षुओ ! आगे करणीय ?—भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये—‘हमारा वाचिक आचार परिशुद्ध होगा ० । शायद् भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा हो—‘हम लज्जा-संकोच वाले हैं । हमारा काविक आचार परिशुद्ध है ।

१ काविक आचारकी मोलि दुहराना चाहिये ।

हमारा वाचिक आचार परिशुद्ध है । इतना काफी है ०'—सब इतनेसे सन्तोष कर लेना ।

“मिथुनों ! ०—‘हमारा भावसिक आचार (= आचरण = कर्म) परिशुद्ध होगा ० । ० १’

“० —‘हमारी जीविका परिशुद्ध होगी ० । ० १’ ।

“० —‘हम इन्द्रियोंमें संयम रखेंगे । चक्षुसे रूपको देखकर निमित्तघादी, अलुब्धजन-प्राप्ती^१ नहीं होंगे । चक्षु-इन्द्रियोंमें संयम न करके विहरने वाले (व्यक्तियों) अनिच्छा (= लोभ) दीर्घमन्य (= दुर्मनता), (आदि) दुरादृश^२ = अकुशल-धर्म आपवते हैं । (इसलिये) उसके संयममें तत्पर होंगे । चक्षु-इन्द्रियकी रक्षा करेंगे = चक्षु इन्द्रियका संवर करेंगे । श्रोत्रसे शब्द सुन ० । घ्राणसे गंध सूँघ ० । जिह्वासे रस चख ० । कायासे स्पर्श (वस्तु) को छू ० । मनसे धर्मको जान ० । शायद् मिथुनों ! तुम्हें ऐसा हो ० ।

“० —‘हम भोजनमें मात्रा (= परिमाण) का खयाल रखेंगे । ठीकसे जानकर, न दूध (= मखी) के लिये, न मक्खन के लिये, न मंडन के लिये, न विभूषण के लिये; (बलिष्ठ) जितना इस कायाकी स्थितिके लिये, गुबारके लिये, पीड़ाको रोकनेके लिये, और ब्रह्मचर्यकी सहायताके लिये (आवश्यक है, उतनाही) आहार ग्रहण करेंगे । इस प्रकार पुरानी वेदता (= भोग) को नाश करेंगे, और नई वेदनाको नहीं उत्पन्न करेंगे; हमारी (शरीर-) पाया भी चलेगी, निर्दोषपन भी रहेगा, सुखपूर्वक विहार होवेगा ० । शायद् ० । ० ।

“० —‘जागरणमें तत्पर रहेंगे । दिनमें टहलने, बैठने, या आचरणीय धर्मों द्वारा चित्त को शोषित करेंगे । रातके प्रथम याममें टहलने, बैठने, या (अन्य) आचरणीय धर्मोंके द्वारा चित्तको शोषित करेंगे । रातके मध्यम (बिचले) याममें पैरपर पैर रखकर, स्मृति-संप्रजन्मके साथ उत्पन्नका खयाल मनमें रख दाहिनी कर्षट सिद्ध-शय्या करके (सोयेंगे) । रातके अन्तिम याममें उठकर टहलने, बैठने या (अन्य) आचरणीय धर्मोंसे चित्तको शुद्ध करेंगे ० । शायद् ० ।

“० —‘स्मृति और संप्रजन्मसे मुक्त रहेंगे । जाने जानेमें संप्रजन्ममुक्त, संप्रजानकारी (= होश कर करनेवाला) ० १’ धोलने-तुप खनेमें संप्रजानकारी होंगे ० । शायद् ० ।

“० —‘यहाँ मिथुनों ! मिथु एकान्तमें—अरण्य ० १’ चित्तको विचिक्किता (= संदेह) से मुक्त करता है ।

“जैसे मिथुनों ! (कोई) पुरुष कृष्ण लेजर कर्मान्त (= घेती) में लगावे । उसका कर्मान्त ढीक उठरे । सो वह अपने पुराने कणके धनको दे डाले; और दारा (= दासी) के भरण-पोषणके लिये भी (उसके पास कुछ) बच रहे । तब उसको ऐसा हो—‘मैंने पहिले कण लेजर कर्मान्तमें लगाया । मेरा कर्मान्त ढीक उठरा । सो मैंने अपने पुराने कणके धनको दे डाला; और दाराके भरण-पोषणके लिये भी बच रहा है’ । सो उसके कारण उसे प्रसन्नता हो, सन्तोष हो ।

‘जैसे मिथुनों ! (कोई) पुष्प मारी बीमारीसे पीड़ित हो, रोगी हो । उसे भोजन (= भक्ष) अच्छा न लगता हो, और न उसके शरीरमें बलकी मात्रा हो । वह दूसरे सम्व उस बीमारीसे मुक्त हो जाये, उसे भोजन भी अच्छा लगने लगे, तथा उसके शरीरमें बलकी मात्रा भी आजावे । तब उसको ऐसा हो—‘मैं पहिले मारी बीमारीसे पीड़ित था, रोगी था ० । सो मैं उस बीमारीसे मुक्त हो गया हूँ, मुझे भोजन भी अच्छा लगता है, और मेरे शरीरमें बलकी मात्रा भी आगई है’ । सो उसके कारण उसे प्रसन्नता हो, सन्तोष हो ।

^१ वाचिक आचारकी भाँति दुहराना चाहिये ।

^२ देखो छ १५९ (स्मृति-संप्रजन्म) ।

“जैसे मिथुनो ! (कोई) पुरुष बंधनागारमें बँधा हो । वह दूसरे समय सङ्क्रान्त बिना हानिके उस बंधनसे मुक्त होवे, और उसके मोनों (= धन)की कुछ हानि न हो । तब उसको ऐसा हो—‘मैं पहिले बंधनागारमें बँधा था ० । १ ।’

“० जैसे मिथुनो ! (कोई) पुरुष अ-स्वाधीन, पराधीन जहाँ चाहे तहाँ (न जा सकने वाला) दास हो । वह दूसरे समय उस दासतासे मुक्त हो, स्वाधीन, अ-पराधीन, मोक्ष-योग जहाँ चाहे तहाँ जाने वाला हो । उसको ऐसा हो— ० । ० ।

“जैसे मिथुनो ! (कोई) धनवान् भोगवान् पुरुष कान्तार (= रेगिस्तान)के शस्तेमें जा रहा हो । सो दूसरे समय सङ्क्रान्त, बिना हानिके उस कान्तारको पार हो जावे, और उससे मोनों (= धन)की भी कोई हानि न होवे । उसको ऐसा हो— ० । ० ।

“ऐसे ही मिथुनो ! मिथु ऋणके समान, रोगके समान, बंधनागारके समान, दासताके समान, (और) कान्तार-मार्गके समान इन न-बूढ़े (अभिष्या आदि) पाँच मोक्षरणोंको अपनेमें समाप्ता है । इन पाँच मोक्षरणोंके छूट जाने पर अपने भीतर वह ऋण-मुक्ति, रोग-मुक्ति, बंधन-मुक्ति, स्वतंत्रता, (और) क्षेमयुक्त भूमि जैसा समाप्ता है ।

“वह इन पाँच मोक्षरणोंको धिक्से हटा, उपकलेषोंको ज्ञान, उनके दुर्घल करनेके लिये काम (= विषयों)से अलग हो, बुराईयोंसे अलग हो ० । प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह इसी कायाको विवेक (= एकान्त-चिन्तन)से उत्पन्न प्रीति-सुखसे परिपूर्ण, निमग्न = संलग्न, लिप्त करता है । उसकी चारी कायाका कुछ भी (भाग) विवेक प्रीति-सुखसे वंचित नहीं रहता । जैसे मिथुनो ! चतुर नहापक (= नहलानेवाला) या नहापकका प्रागिर्द कौंसिही बालीमें स्नान-चूर्ण डालकर पानीका छौंटा दे दे दिखावे । सो वह स्नेह (= गीलापन, नमी)से अनुगत, सोहसे परिगत भीतर बाहर सोहसे तर, न-पिपछने-वाली स्नान-पिंडी हो जावे । ऐसे ही मिथुनो ! मिथु इसी कायाको विवेकसे उत्पन्न ० ।

“और फिर मिथुनो ! मिथु ० । द्वितीय-ध्यान ० । ० उसकी कायाका कुछ भी (भाग) समाधि प्रीतिसुखसे अलिप्त नहीं रहता । जैसे मिथुनो ! (कोई) उदक-इंद्र (= जलाशय) (पाताल) पूरे जल वाला हो । उसमें न पूर्व दिशासे जलके आनेका मार्ग हो, न पश्चिम दिशा से ०, न उत्तर दिशासे ०, न दक्षिण दिशासे जलके आनेका मार्ग हो । देव (= वृष्टि) भी समय-समय पर (उसमें) अपनी प्रकार धाराका प्रवेश न करता हो । तो भी उसी उदक-इंद्रसे भीतल जलधारा छूटकर उस उदक-इंद्रको भीतल जलसे परिप्लित, संसिक्त, परिपूर्ण = सम्पूर्ण करे; चारों ओर उस उदक-इंद्रका कुछ भी (भाग) भीतल जलसे अ-लिप्त न हो । ऐसे ही मिथुनो ! ० ।

“और फिर मिथुनो ! मिथु ० । तृतीय ध्यान ० । वह इसी कायाको निष्प्रीतिक सुखसे अभिष्यन्दिता, परिष्यन्दिता, परिपूर्ण, तर करता है । उसकी कायाका कुछ भी (भाग) निष्प्रीतिक सुखसे अलिप्त नहीं रहता । जैसे, मिथुनो ! उत्पल-समूह, पद्म-समूह, या गुण्डरीक-समूहमें, कोई कोई उत्पल, पद्म या गुण्डरीक उदकमें उत्पन्न उदकमें संघटित उदकसे उपर न निकल उदकमें निमग्न हुये ही पोषित हों । वह मूलसे अग्र भाग तक भीतल जलसे अभिषिक्त, परिप्लित, परिपूर्ण, और तर हों; उनका कुछ भी (भाग) भीतल जलसे अ-लिप्त न हो । ऐसे ही मिथुनो ! ० ।

“और फिर मिथुनो ! मिथु ० । चतुर्थ-ध्यान ० । वह इसी कायाको परिशुद्ध, उज्ज्वल

चित्तसे व्यास कर आसीन होता है। उसकी कायाका कुछ भी भाग परितुष्ट उन्मूल चित्तसे अव्यास नहीं होता। जैसे, मिथुनो ! (कोई) पुरुष श्वेत वस्त्रसे सिरतक डीक कर पैठा हो; उसकी शरीर कायाका कोई भी (भाग) श्वेत वस्त्रसे ढिगा डीका न हो। ऐसे ही मिथुनो ! ० ।

“वह इस प्रकार चित्तके एकत्र ०” होनेपर पूर्व जन्मोंकी स्मृतिके ज्ञानके लिये चित्तको झुकाता है। फिर वह १ ।—इस प्रकार आकार, उद्देश्यके सहित अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगता है ।

“वह इस प्रकार चित्तके एकत्र ०” होनेपर ० १ । ० अ-मानुष, विन्दु, दिव्य-चक्षुसे ० प्राणियोंको पहचानता है ।

“वह इस प्रकार ० आत्मबोधके क्षणके ज्ञानके लिये चित्तको झुकाता है। फिर वह—“वह दुःख है”—इसे यथार्थसे जानता है ० १ “जय यहाँ (करने) के लिये कुछ (दोष) नहीं है”—इसे जान लेता है ।

“मिथुनो ! वह (ऊपर वर्णित) मिथु अमण भी कहा जाता है, ब्राह्मण भी, स्नातक भी, वेदगू भी, श्रोत्रिय भी, आर्य भी, अर्हत् भी (कहा जाता है) ।

“मिथुनो ! कैसे मिथु अमण होता है ?—इसके अभिन करनेवाले, पुनर्जन्मदेनेवाले, नयप्रद, दुःख-विपाकवाले, भविष्यमें जन्म-जरा-मरणमें डालनेवाले, अकृशाल-धर्म-पुराणों ज्ञान (= ज्ञान = अमण) होगई हैं। इस प्रकार मिथुनो ! मिथु अमण (= समन) होता है ।

“मिथुनो ! कैसे मिथु ब्राह्मण होता है ?—इसकी ० पुराणों पढ़ा दीगई (= वाहित होगई) हैं” । ० ।

“० स्नातक ० ?—इसकी ० पुराणों सुनगई (= नहात) हैं । ० ।

“० वेदगू ० ?—इसकी ० पुराणों विदित हैं । ० ।

“० श्रोत्रिय ० ?—इसकी ० पुराणों विच्छलगई (= नि-स्तुत) हैं । ० ।

“० आर्य ० ?—इससे ० पुराणों दूर (= जारक) होती हैं । ० ।

“० अर्हत् ० ?—इससे ० पुराणों दूर (= जारक) होती हैं । ० ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिथुनोंने भगवान् के मापणको अभिनन्दित किया ।

४०—चूल-अस्सपुर-सुत्तन्त (१४।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् उरंग (देश)में अंगोंके कत्ते अश्वपुरमें विहार करते थे । वहाँ भगवान्ने मिथुओंको संबोधित किया—“मिथुओ !”

“मदन्त !” कह उन मिथुओंने भगवान्को उत्तर दिया । भगवान्ने कहा—

“मिथुओ ! ‘अमण’ ‘अमण’ लोग नाम धरते हैं । तुमलोग भी, ‘तुम कौन हो’—पूछनेपर ‘(हम) अमण हैं’ उत्तर देते हो । ऐसी संज्ञा ऐसी प्रतिज्ञावाले तुम लोगोंको यह सीखना चाहिये—‘जो वह अमणको सच करनेवाला मार्ग है, हम उस मार्गपर आरुढ़ होंगे, इस प्रकार यह हमारी संज्ञा सच होगी, हमारी प्रतिज्ञा (= दावा) यथार्थ होगी । (और) जिनके (दिये) चीवर (= वस्त्र), पिङ्ग-पात (= मिश्र), अयनासन (= निवास), प्लाव-प्रत्यय-अपत्य (= रोगी के औषधि-पथ्य) सामग्रीका हम उपभोग करते हैं । उनके (किये) हमारे प्रति वह (दान-) कार्यभी महाफलवाले महाभाहात्म्यवाले होंगे, और हमारी भी यह प्रमत्तता निमग्न सफल-स-उदय होगी ।’

“मिथुओ ! मिथु अमणको सच करनेवाले मार्ग (= अमण-सामीची प्रतिपदा)पर कैसे आरुढ़ नहीं होता ?—मिथुओ ! जिस किसी अभिध्यातु (= सोमी) मिथुकी अभिध्या नष्ट नहीं होती, ज्ञेय-रहित चित्तवाले (= व्यापकचित्त)का व्यापाद् (= ज्ञेय) नष्ट नहीं हुआ रहता, कोषोंका क्रोध ०, पार्श्वी (= उपनाही)का पार्श्व ०, मर्माको कलक (= क्षाम्य-अमरस) ०, पलासी (= प्रदाशी-निष्ठुर)का पलास ०, ईर्ष्यालुकी ईर्ष्या ०, मत्सरीका मत्सर (= कृपणता) ०, शठकी शठता ०, मायावी (= वंचक)की माया ०, पापेष्णु (= बद-नीयत)की पापेष्णु ०, मिथ्या-दृष्टि (= गटे सिद्धान्तवाले)की मिथ्या दृष्टि (= गूढ़ी धारणा) नष्ट नहीं हुई रहती । वह इन अमण-मलों-अमण-दोषों-अमण-कसरों, अपायको से जानेवाले, दुर्गतिको अनुभव करानेवाले कारणोंके स-विनाशसे ‘अमण-सामीची-प्रतिपद्पर आरुढ़ नहीं हुआ,’ (ऐसा) मैं कहता हूँ । जैसे मिथुओ ! मटज नामक...तेज, दुधारा आदुध (= हथियार) संघाटी (= साबुके बच्चों)में ईका लिपटा हो; उसके ही समान मिथुओ ! मैं इस मिथुकी प्रमत्तता कहता हूँ ।

“मिथुओ ! मैं संघाटी (= मिथु-बच्चा)वालेके संघाटी-धारण मात्रसे, अमणता (= आमण्य) नहीं कहता । जपेलक (= बच्चा-रहित)के नंगे रहने मात्रसे आमण्य (= साधुपन) नहीं कहता । मिथुओ ! रजोजलिक (= कीचड़-वासी साबु)की रजोजलिकता मात्रसे आमण्य नहीं कहता ।... उदकावरोद्ध (= जल-वासी)के जलवास मात्रसे ० । ० वृजमूलिक (= सदा वृक्षके नीचे रहने-वाले)के वृक्षके नीचे वास मात्रसे ० । ० जप्पककाशिक (= चौड़ेमें रहनेवाले) ० । ० उम्मट्टक (= सदा सड़े रहनेवाले) ० । ० पर्याय-मत्तिक (घोंच ढोचमें निराहार रह, मोचन करनेवाले)

० । ० मंत्र-अध्यायक (= वेद-पाठी) के मंत्र-अध्ययन मात्रसे मैं आत्मण्य नहीं कहता । ० जटिलकके जटा-धारण मात्र से ० ।

“मिश्रुओ ! यदि संघाटिकके संघाटी-धारण मात्रसे, अमिष्यालुका लोभ हट जाता, ० स्वापाद हट जाता, ० कोष ०, ० उपनाह ०, ० मर्ष ०, ० पलासी ०, ० ईर्ष्या ०, ० मात्सर्य ०, ० घातता ०, ० माया ०, ० पारेच्छा ०, मिथ्या-दृष्टिकी मिथ्या-दृष्टि हट जाती, तो उसको मित्य-अमात्र्य जाति-यन्त्रु पैदा होते ही, संघाटिक बना देते, संघाटिकताका ही उपदेश करते—‘आ भद्रमुल ! तू संघाटिक हो जा । संघाटिक होनेपर संघाटी-धारण मात्रसे, तुझ अमिष्यालुका लोभ नष्ट हो जायगा । ० । मिथ्या-दृष्टिकी मिथ्या-दृष्टि नष्ट हो जायगी ।’ क्योंकि मिश्रुओ ! मैं किसी किसी संघाटिकको भी अमिष्यालु, व्यापक-चित्त, क्रोधी, उपनाही, मर्षी, पलासी, ईर्ष्यालु, मात्सर्यी, घाठ, मायावी, पारेच्छु, मिथ्या-दृष्टि देखता हूँ, इसलिये संघाटिकके संघाटी-धारण मात्रसे आत्मण्य नहीं कहता ।

“मिश्रुओ ! यदि अचेलककी अचेलकता-मात्रसे ० । ० रजोवलिककी रजोवलिकता मात्रसे ० । ० उदकावरोहकके उदकावरोहण मात्रसे ० । ० वृक्ष-मूलिककी वृक्ष-मूलिकता मात्रसे ० । ० अध्वयकाशिक ० । ० उन्मत्तिक ० । ० पर्याप्त-सक्तिक ० । ० मंत्र-अध्यायक ० । ० जटिलकके जटा-धारण मात्रसे ० अमिष्या ०—० मिथ्या-दृष्टि नष्ट होती ० ।

“मिश्रुओ ! मिश्रु अमण-सामीची-प्रतिपदू (= सच्चा अमण बनानेवाले मार्ग) पर कैसे मार्गात्क होता है ?—मिश्रुओ ! जिस किसी अमिष्यालु मिश्रुकी अमिष्या (= लोभ) नष्ट होती है, ०—० मिथ्यादृष्टि नष्ट होती है, (वह) इन अमण-मर्लों ० के विनाशसे अमण-सामीची-प्रतिपदूपर मार्गात्क कहता हूँ । (फिर) वह इन सभी पापक अ-कुशल धर्मोंसे, अपने को विमुक्त देखता है, अपनेको विमुक्त देखता है । (फिर) इन सभी पापक ० धर्मोंसे अपनेको विमुक्त ० विमुक्त देखनेवाले उस (पुरुष) को, प्रमोद उत्पन्न होता है । प्रमुदितको प्रीति उत्पन्न होती है । प्रीतिमानकी काया स्थिर होती है । स्थिर-शरीर सुख अनुभव करता है । सुखितका चित्त समाहित (= एकाग्र) होता है । वह (१) मैत्रीयुक्त चित्तसे एकदिशाको प्रीतिकर विहरता है, और दूसरी दिशा ०, और तीसरी ०, और चौथी ० इसी प्रकार ऊपर, नीचे, तिष्ठे, सशक्ती इच्छासे सबके अर्थ, सभी लोकको विपुल, महान्, अ-प्रमाण, अ-वैर, द्वेष-रहित मैत्री-पूर्ण चित्तसे प्रीति कर विहरता है । (२) करुणा-युक्त चित्तसे ० । (३) मुदित-युक्त चित्तसे ० । (४) उपात्ता-युक्त चित्तसे ० ।

“जैसे मिश्रुओ ! मक्ख, भयुर, शीतल, जलवाली रमणीय सुन्दर घाटोंवाली पुष्करणीय हो । यदि पूर्वदिशासे भी घाममें तपा (= धर्म-अभितप्त) = धर्म-परेत, बका, नृषित = पिपासित पुरुष आवे, वह उस पुष्करणीमें उतर कर उदक-पिपासताको दूर करे, घामके तापको दूर करे । पश्चिम-दिशासे भी ० । उत्तर-दिशासे भी ० । दक्षिण-दिशासे भी ० । जहाँ कहींसे भी ० । ऐसेही मिश्रुओ ! यदि अश्विन-कुलसे चले बेघर प्रव्रजित होने, और वह तयागतके उपदेश किये धर्मको प्राप्तकर, इस प्रकार मैत्री, करुणा, मुदित, उपेक्षाकी भावना करे, (तो वह) आध्यात्मिक शांतिको प्राप्त करता है । आध्यात्मिक शान्ति (= उपशम) से ही ‘अमण-सामीची-प्रतिपदूपर आरूढ है’ कहता हूँ । ० यदि माग्नान-कुलसे ० । ० यदि वैश्वकुलसे ० । ० जिस किसी कुलसे भी घरसे बेघर प्रव्रजित ० ।

“अश्विन-कुलसे भी घरसे बेघर प्रव्रजित हो । और वह आचर्यों (= चित्त-दोषों) के अन्वसे, आश्रय-रहित चित्त-विमुक्ति प्रज्ञा-विमुक्तिको, इसी जन्ममें स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर

विहरता है । आसनोंके साथसे अमण होता है । ब्राह्मण-कुलसे भी ० । वैश्य-कुलसे भी ० । क्षत्र-कुलसे भी ० । मिस किसी कुलसे भी ० ।"

भगवान्ने यह कहा, लम्पट हो उन मिथुर्जनि भगवान्के भाषणको अनुमोदित किया ।

(४-इति महायमक-वग्ग १।४)

४१—सालेय्य-सुचन्त (१।५।१)

ऐसा प्रीने सुना—

एक समय भगवान् महान् मिथु-संघके साथ कोसल (देश)में विचरते जहाँ कोसल (= वासियों) का साला (= शाला) नामक माझण-ग्राम है, वहाँ पहुँचे ।

शालाके माझण गृहस्थोंने सुना—शाक्य-कुलसे प्रवृत्त शाक्य-पुत्र अमण गौतम महान् मिथु-संघके साथ कोसलमें विचरते शालामें आ पहुँचे हैं । उन भगवान् गौतमका ऐसा संग्रह कीर्तिशब्द उठा हुआ है—‘वह भगवान् अर्हत् हैं ०’, भगवान् बुद्ध हैं । वह अल्ललोक-सहित ०’ अल्लवर्यको प्रकाशित करते हैं । ऐसे अर्हतोंका दर्शन अच्छा होता है ।

तब शाला-निवासी माझण गृहस्थ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर (कोई कोई) भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । कोई कोई भगवान्से कुछ श्रेय पूछ एक ओर बैठ गये । कोई कोई तब भगवान् थे, उधर हाथ जोड़कर ० । कोई कोई नाम-गोत्र सुनाकर एक ओर बैठ गये । कोई कोई चुप-चाप एक ओर बैठ गये ।

एक ओर बैठे शाला-निवासी माझण गृहस्थोंने भगवान्से यह कहा—

“हे गौतम ! क्या हेतु है = क्या प्रत्यय है, जो कोई प्राणी काया छोड़ मरनेके बाद अणु = दुर्गति, पतन नर्कमें उत्पन्न होते हैं ? हे गौतम ! क्या हेतु है = क्या प्रत्यय है, जो कोई प्राणी काया छोड़ मरनेके बाद सुगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न होते हैं ?

“गृहपतियो ! अधर्माचरणके कारण कोई प्राणी ० नर्कमें उत्पन्न होते हैं । धर्माचरणके कारण गृहपतियो ! कोई प्राणी सुगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न होते हैं ।

“हम लोग आप गौतमके इस विस्तारसे न विमाजित किये, संश्लिप्त भाषणका विस्तारपूर्वक अर्थ नहीं समझ रहे हैं । अच्छा हो, आप गौतम हमें इस प्रकार धर्म उपदेश करें, जिसमें आप गौतमके इस विस्तारसे न विमाजित किये, संश्लिप्त भाषणका विस्तारपूर्वक अर्थ हम समझ सकें ।”

“तो गृहपतियो ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, सो !”—कह, शाला-निवासी माझण गृहस्थोंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“गृहपतियो ! काविक अधर्माचरण, विषम आचरण तीन प्रकारका होता है । वाचिक अधर्माचरण, विषम-आचरण चार प्रकारका होता है । मानसिक अधर्माचरण, विषम-आचरण तीन प्रकारका होता है । गृहपतियो ! कैसे काविक अधर्माचरण ० तीन प्रकारका होता है ?—यहाँ गृहपतियो ! कोई (पुरुष) (१) हिंसक, क्रूर, मोहित-पाणि (= खून रंगे हाथोंवाला), भार-काटमें रत, प्राणियोंके प्रति निर्दयी होता है । (२) अदिभ्रादायो (= चोर)

* देखो पृष्ठ २४ ।

* देखो, पृष्ठ २५८ ।

होता है, जो दूसरेका बिना दिया, चोरीका कहा जानेवाला गैरिमें या जंगलमें खला धन-सामान है, उसका लेनेवाला होता है। (१) कामों (= खी संभोग) में मिथ्याचारी (= दुराचारी) होता है; उन (खियों) के साथ संभोग करता है, जो कि माता द्वारा रक्षित है, पिता द्वारा रक्षित, चाचा-पिता द्वारा रक्षित, जाति-वालों द्वारा रक्षित, भगिनो द्वारा रक्षित, जातिवालों द्वारा रक्षित, गोत्रवालों द्वारा रक्षित, धर्मसे रक्षित है, पतिवाली द्रुमुक्त है, अन्तमें (विवाह संबंधी) माला मात्र मी जिनपर डाल दी गई है। इस प्रकार गृहपतियो ! तीन प्रकारका कायिक अधर्माचरण ० होता है।

“कैसे गृहपतियो ! चार प्रकारका वाचिक अधर्माचरण ० होता है ?—यहाँ गृहपतियो ! कोई (पुरुष) (१) मिथ्यावादी होता है। सनामें, या परिष्कृतमें, या जातिके मध्यमें, या रूप (= पंचायत) के मध्यमें, राजद्वारमें, बुलानेपर साहोके लिये—‘हे पुरुष ! जो जानते हो, वह कहो।’—(एकनेपर) ; वह न जानते हुए कहता है—‘मैं जानता हूँ’, जानते हुये कहता है—‘मैं नहीं जानता’। न देखे कहता है—‘मैंने देखा है’, देखे हुए कहता है—‘मैंने नहीं देखा।’ इस प्रकार अपने लिये या परायेके लिये, या थोड़े आसिप (= भोगस्तु) के लिये जानपूझकर झूठ बोलता है। (२) चुगुलखोर होता है—दुनमें फूट डालनेके लिये यहाँ सुनकर यहाँ कहता है; उनमें फूट डालनेके लिये, यहाँ सुनकर यहाँ कहता है। इस प्रकार भेलजालवालोंको फोफने-वाला, फूटे तुओं (फी फूट) को सह देनेवाला, वर्ग (= पार्टीवाली) में लुल, वर्गमें सत, वर्गमें आनन्दित, वर्गकरणी वाणोंका बोलनेवाला होता है। (३) परुष (= कटु)-भाषी होता है—जो वाणों तंत्र, कर्म, दूसरेको कबू लगनेवाली, दूसरेको पीड़ित करनेवाली, फोषपूर्ण, अशांति-पैदाकरनेवाली है, वैसी वाणोंका बोलनेवाला होता है। (४) प्रस्तापी होता है—देवक बोलने-वाला, अथवा बोलनेवाला = अतथ्यवादी, अधर्मवादी, अ-विनय (= अवीति)-वादी, बिना समय, बिना-इहैयके सत्पर्य-रहित, अनर्थयुक्त निस्तार वाणोंका बोलनेवाला होता है। इस प्रकार गृह-पतियो ! चार प्रकारका वाचिक अधर्माचरण ० होता है।

“कैसे गृहपतियो ! तीन प्रकारका मानसिक अधर्माचरण ० होता है ?—यहाँ गृह-पतियो ! कोई (पुरुष) (१) अभिघ्यालु (= लोभी) होता है; जो दूसरेका धन-सामान (= वित्त-उपकरण) है, उसका लोन करता है—‘अहो ! जो दूसरेका (धन) है, वह मेरा हो जाता।’ (२) व्यापञ्चचित्त = द्वेषपूर्ण संकल्पवाला होता है—‘यह प्राणी मारे जायें, पध किये जायें, उच्छिन्न होवें, विनष्ट होवें, मृत रहें’—इत्यादि। (३) मिथ्यादृष्टि = झूठी धारणावाला होता है—‘दान कुछ नहीं’, यज्ञ कुछ नहीं, इवन कुछ नहीं, सुकृत दुष्कृत कर्मोंका कोई फल = विपाक नहीं, यह लोक नहीं, परलोक नहीं, माता नहीं, पिता नहीं, औपपातिक सत्त्व (अयोनिज प्राणी = देवता भोग) नहीं हैं। लोकमें डीक-पहुँचवाले डीक-रास्ते-पर-कनो ऐसे प्रमथ ग्राह्यन नहीं हैं, जो इस लोक और परलोकको स्वयं जान कर साक्षात्कार कर (औरोंको) जतलावेंगे। इस प्रकार गृहपतियो ! तीन प्रकारका मानसिक अधर्माचरण ० होता है।

“गृहपतियो ! इस प्रकार अधर्माचरण = विषम-आचरणके कारण कोई प्राणी काया ठोड़ मरनेके बाद ० नरकमें जाते हैं।

“गृहपतियो ! तीन प्रकारका कायिक धर्माचरण = सम-आचरण होता है। चार प्रकारका वाचिक धर्माचरण = सम-आचरण होता है। तीन प्रकारका मानसिक धर्माचरण = सम-आचरण होता है। कैसे गृहपतियो ! तीन प्रकारका कायिक धर्माचरण ० होता है ?—यहाँ गृहपतियो ! कोई (पुरुष) (१) प्राणातिपात (= हिंसा) ठोड़ प्राणातिपातसे विस्त होता है—वह

दण्ड-भागी, सचवाणी कर्ता, दण्ड, सारे प्राणियोंका हित और अनुकंपक हो विहरता है। (२) अदिक्षादान (= चोरी) को छोड़, अदिक्षादानसे विरत होता है—जो दूसरेका बिना दिया * उसका न लेनेवाला होता है। (३) कामों (= स्त्री-संयोग) के मिथ्याचारको छोड़, काम-मिथ्याचारसे विरत होता है। इन छियोंके साथ संयोग नहीं करता, जो कि माता द्वारा रक्षित हैं *। इस प्रकार गृहपतियों ! तीन प्रकारका वाचिक धर्माचरण * होता है।

“कैसे गृहपतियो ! चार प्रकारका वाचिक धर्माचरण * होता है ?—यहाँ गृहपतियो ! कोई (पुरुष) (१) मृपावादको छोड़ मृपावादसे विरत होता है। सभामें * जानबूझकर झूठ नहीं बोलता। (२) पिशुनवचन (= झुगली) छोड़, विशुनवचनसे विरत होता है। इनमें फूट डालने * कूटे डुबोंका मिलानेवाला होता है, मेलजोलवालोंको सहायता देनेवाला होता है। मेलमें रस, मेलमें प्रसन्न, मेलमें आनंदित, मेलकरणी वाणीका बोलनेवाला होता है। (३) परपवचनको छोड़, परपवचनसे विरत होता है। जो वह वाणी मधुर, कर्णमुक्त, प्रेमणीय, हृदयंगम, सम्म (= पौरी), बहुजन-कान्ता = बहुजन-मनापा होती है, उसका बोलनेवाला होता है। (४) प्रलापकी छोड़ प्रलापसे विरत होता है।—समय देव बोलनेवाला * अर्धमुक्त सारवती वाणीका बोलनेवाला होता है। इस प्रकार *।

“कैसे गृहपतियो ! तीन प्रकारका मानसिक धर्माचरण * होता है ?—यहाँ गृहपतियो ! कोई (पुरुष) (१) अभिष्या-रहित (= निर्लौभ) होता है—जो दूसरेका धन-सामान * उसका लोभ नहीं करता। (२) अव्यापन्न चित्त रहित-द्वेष संकल्पवाला होता है—यह प्राणी वैर-रहित, व्यापाद (= द्वेष)-रहित प्रसन्न सुखी हो अपनेको धारण करे। (३) सम्यग्-दृष्टि = ठीक धारणावाला होता है—बल है, हवन है * ऐसे श्रमण ब्राह्मण हैं, * जलकार्यमें। इस प्रकार गृहपतियो ! तीन प्रकारका धर्माचरण * होता है।

“गृहपतियो ! इस प्रकार धर्माचरण = सम-आचरणके कारण कोई प्राणी काया छोड़ भरनेके बाद सुगति, स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं।

“गृहपतियो ! यदि धर्मचारी = समचारी इच्छा करे—‘अहो ! मैं काया छोड़ भरनेके बाद महाधनी शक्ति हो उत्पन्न होऊँ; वह हो सकता है, कि वह * भरनेके बाद महाधनी शक्ति हो उत्पन्न होये। सो किस कारण ?—यह वैसा धर्माचरण करनेवाला है, सम-आचरण करनेवाला है। गृहपतियो ! यदि धर्मचारी इच्छा करे—‘अहो ! मैं * महाधनी ब्राह्मण हो उत्पन्न होऊँ; *। *—‘अहो मैं महाधनी गृहपति (= वैश्य) हो उत्पन्न होऊँ; *।

“गृहपतियो ! यदि धर्मचारी * इच्छा करे—‘अहो ! मैं * चातुर्महाराजिक देवताओंमें उत्पन्न होऊँ; *। * त्रायस्त्रिंश देवताओंमें *। * तुषित देवताओंमें *। * निर्माणरति देवताओंमें *। * परनिर्मित-वशयती देवताओंमें *। * ब्रह्म-कायिक देवताओंमें *। * आमा देवताओंमें *। * परीक्षाम देवताओंमें *। * अग्रमाणा देवताओंमें *। * आभस्वर देवताओंमें *। * शुभ देवताओंमें *। * परीक्ष-शुभ देवताओंमें *। * अग्रमाण-शुभ देवताओंमें *। * शुभकृष्ण देवताओंमें *। * ब्रह्मफल देवताओंमें *। * अविम देवताओंमें *। * आतप्य देवताओंमें *। * सुदर्शन देवताओंमें *। * सुदर्शी देवताओंमें *। * अकनिष्ठक देवताओंमें *। * आकाशानन्त्यायतनके देवताओंमें *। * विज्ञानानन्त्यायतनके देवताओंमें *।

* देवी गूढ १६५ (जो अर्चनीकारात्मक करके)।

* गूढ १६५ (निषेधको हटा कर)।

० आर्किचन्द्रायतनके देवताओंमें ० । ० नैवस्तंशानास्तंशापतनके देवताओंमें ० ।

“गृहपतिषो ! यदि धर्मचारी = समचारी इच्छा करें—‘अहो ! मैं आत्माओं (= चित्त-मलों) के क्षयसे आत्मव-रहित चित्तकी विमुक्ति, प्रज्ञाकी विमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं जानकर साक्षात्कार कर प्राप्त कर बिहरेँ । यह हो सकता है, कि वह आत्मवोंके क्षयसे ० प्राप्त कर बिहरे । सो किस कारण ?—यह वैसा धर्मचारी = समचारी है ।”

ऐसा कहनेपर शाला-निवासी ब्रह्मण गृहस्थोंने भगवान्से यह कहा—

“आश्चर्य भो गौतम ! आश्चर्य भो गौतम ! जैसे औषधको सीधा कर दे ०^१ यह हम भगवान् गौतमकी शरण जाते हैं, धर्म और मिश्र-संनिको भी । आजसे आप गौतम हमें अंजलिबद्ध शरणागत उपसन्न स्वीकार करें ।

४२-वेरंजक-सुत्तन्त (१।५।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिटिकके आराम उेतवनमें विहार करते थे ।

उस समय वेरंजा-निवासी ब्राह्मण-गृहस्थ किसी काममें श्रावस्तीमें रहते थे ।

वेरंजा-निवासी ब्राह्मण-गृहस्थोंने सुना—‘साम्बकूलसे प्रसवित ०’^१ एक और बैठे वेरंजा-निवासी ब्राह्मण-गृहस्थोंने भगवान्से यह कहा—

“जो मौलम ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, जो कोई प्राणी काया छोड़ मरनेके बाद अपाय, दुर्गति, पतन, नर्कमें उत्पन्न होते हैं ? ०’^२ आजसे आप मौलम हमें खंजलिपद्ध सरणागत उपासक समझें ।

^१ देखो पृष्ठ ११८ । ^२ देखो पृष्ठ १४८-४९ (४१ साम्बकूलजन्तकी तरह) ।

४३—महा-वेदल्ल-सुत्तन्त (१।५।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब आयुष्मान् महाकोटिल (= कोटित) सायकाल प्रतिस्नलपन (= एकान्त चिन्तन, ध्यान)से उठ वहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र थे, वहाँ गये । जाकर आयुष्मान् सारिपुत्रके साथ “यथा-योग्य संमोदन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् महाकोटितने आयुष्मान् सारिपुत्रसे यह कहा—

“आवुस ! ‘दुःप्रज्ञ’ ‘दुःप्रज्ञ’ कहा जाता है, किस (कारण)से वहदुःप्रज्ञ कहा जाता है ?”

“चूँकि नहीं समझता, (= न प्रजानाति) इसलिये आवुस ! वह दुःप्रज्ञ कहा जाता है ।”

“क्या नहीं समझता ?”

“‘यह दुःख है’—इसे नहीं समझता, ‘यह दुःख-समुदय (= दुःखका कारण) है’—इसे नहीं समझता, ‘यह दुःख-निरोध है’—इसे नहीं समझता, ‘यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् (= मार्ग) है’—इसे नहीं समझता । नहीं समझता है, इसलिये आवुस ! वह दुःप्रज्ञ कहा जाता है ।”

“आहु, आवुस !”—(कह) आयुष्मान् महाकोटितने आयुष्मान् सारिपुत्रके मायणका भगिनन्दन कर अनुमोदन कर, आयुष्मान् सारिपुत्रसे आगेका प्रश्न पूछा—

“आवुस ! ‘प्रज्ञावान्’ ‘प्रज्ञावान्’ कहा जाता है, किस (कारण)से प्रज्ञावान् कहा जाता है ?”

“चूँकि वह समझता है (= प्रजानाति), इसलिये आवुस ! वह प्रज्ञावान् कहा जाता है ।”

“क्या समझता है ?”

“‘यह दुःख है’—इसे समझता है ० ; ० ‘यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है’—इसे समझता है । समझता है, इसलिये आवुस ! वह प्रज्ञावान् कहा जाता है ।”

“आवुस ! ‘विज्ञान’ ‘विज्ञान’ कहा जाता है, किससे विज्ञान कहा जाता है ?”

“चूँकि आवुस ! (वह) जानता है (= विजानाति), इसलिये विज्ञान कहा जाता है ?”

“क्या जानता है ?”

“‘(यह) सुख है’—(इसे) जानता है ; (यह) दुःख है’—(इसे) जानता है ; ‘(यह) न-सुख-न-दुःख है’—(इसे) जानता है । जानता है, इसलिये आवुस ! विज्ञान कहा जाता है ।”

“आहुस ! जो यह प्रज्ञा है, और यह जो विज्ञान, यह दोनों पदार्थ मिले-जुले (= संसृष्ट) हैं, या अलग अलग ? इन (दोनों) पदार्थों (= धर्मों)को विलग विलग कर उनका भेद जतलाया जा सकता है ?”

“आहुस ! यह जो प्रज्ञा है, और यह जो विज्ञान है, यह दोनों पदार्थ मिले जुले हैं, अलग अलग नहीं हैं; किन्तु इन (दोनों) पदार्थोंको विलग विलग कर उनका भेद नहीं जतलाया जा सकता ।”

“आहुस ! जो यह प्रज्ञा है, और जो यह विज्ञान है; इन (दोनों) मिले-जुले न-विलग पदार्थोंका क्या भेद है ?”

“आहुस ! ० इन दोनों ० पदार्थोंका यह भेद है—प्रज्ञा भावना (= मनोयोग) करने योग्य है, और विज्ञान परिश्रेय (= ज्ञेय) है ।”

“आहुस ! ‘वेदना’ ‘वेदना’ कही जाती है; किस (कारण)से वेदना कही जाती है ?”

“क्योंकि आहुस ! (यह) वेदन (= अनुभव) करती है, इसलिये वेदना कही जाती है ?”

“क्या वेदन करती है ?”

“सुखको भी वेदन करती है । दुःखको भी वेदन करती है, न दुःख न सुखको भी वेदन करती है । वेदन करती है इसलिये ० ।”

“आहुस ! ‘संज्ञा’ ‘संज्ञा’ कही जाती है ; ० ?”

“क्योंकि आहुस ! (यह) संज्ञानन (= पहिचान) करती है, ० ।”

“क्या संज्ञानन करती है ?”

“नीलेको भी संज्ञानन करती है, पीलेको भी ०, लालको भी ०, सफेदको भी ० । संज्ञानन करती है, इसलिये ० ।”

“आहुस ! जो संज्ञा है, जो वेदना है, और जो विज्ञान है; यह धर्म (= पदार्थ) मिले-जुले हैं, या अलग ? इन धर्मोंको विलग विलग कर इनका भेद जतलाया जा सकता है ?”

“आहुस ! ० यह (तीनों) धर्म मिले जुले हैं, विलग नहीं हैं । और इन (तीनों) पदार्थोंको विलग विलग करके उनका भेद नहीं जतलाया जा सकता ।”

“आहुस ! ० इन (तीनों) धर्मोंका क्या भेद है ?”

“आहुस ! जिसको वेदन^१ (= अनुभव) करता है, उसका संज्ञानन करता है; उसका विज्ञानन करता है । इसलिये यह धर्म मिले-जुले हैं, विलग नहीं; और उन्हें ० विलग करके, उनका भेद नहीं जतलाया जा सकता है ।”

“आहुस ! घाँच (चबु आदि घण्ट) इन्द्रियोंसे अस्वच्छ शुद्ध मनो-विज्ञान द्वारा क्या विज्ञेय (= जानने योग्य) है ?”

^१ वस्तुके दुःखात्मक, सुखात्मक, न-दुःख-न-सुखात्मक मात्र अनुभवको वेदना कहते हैं, जैसे कष्ट-घाति बल उसका स्वाद मात्र जानना । वस्तु क्या है, इस परिचय-युक्त ज्ञानको संज्ञा कहते हैं; जैसे यह मूँगका लक्षण है, पीला है; इसके बाद यथार्थ ज्ञानकी आवश्यकता विज्ञान है । जो ज्ञान भाग्यपर आरुढ़ करनेमें समर्थ होता है, वह प्रज्ञा है । उच्चर-उत्तरवाले पूर्व-पूर्वकी क्रियाके संपादक होते हैं । वेदना, संज्ञा, प्रज्ञा, अक्षर-फिर्कीकी राशिके पास बैठे कच्चे, गैरार और सराफकी तरह हैं । कच्चा अक्षरफिर्कीके चिध-विचित्र रूपहीको जानता है, गैरार उनके झरा ज्ञानकी जीवे छोटो-बड़ेके उपयोगको भी जानता है, किन्तु खरे खोटेकी बात नहीं जानता; सराफ सब जानता है ।

“आहुस ! ० कुछ मनोविज्ञान द्वारा ‘आकाश’ अनन्त है—यह आकाश-आनन्द-आव-
लन विशेष है; ‘विज्ञान अनन्त है’—यह विज्ञान-आनन्द-आवलन विशेष है; ‘कुछ नहीं है’ (= अ-
किंचित्) —यह आकिंचित्य-आवलन विशेष है ।”

“आहुस ! विशेष धर्मों (= पदार्थों) को किससे प्रमानन करता (= अच्छी तरह जानता)
है ?”

“आहुस ! विशेष धर्मोंको प्रज्ञा-श्रुत्ये प्रमानता है ।”

“आहुस ! प्रज्ञा किस लिये है ?”

“आहुस ! प्रज्ञा अभिज्ञाके लिये है, परिज्ञाके लिये है, प्रहाण (= त्याग) के लिये है ।”

“आहुस ! सम्पग-दृष्टि (= ठीक धारणा) के ग्रहणमें कितने प्रत्यय (= हेतु) हैं ?”

“आहुस ! ० दो प्रत्यय होते हैं—(१) दूसरोंसे बोध (= उपदेश-अवगण), और (२)
योगिनाः मनस्कार (= मूलपर विचार करना) । ० । यह दोनों ० ।”

“आहुस ! किन अंगोंसे युक्त होनेपर, सम्पग-दृष्टि चेतो-विमुक्ति-फलवाली, तथा चेतो-
विमुक्ति-फलके माहात्म्यवाली होती है; प्रज्ञा-विमुक्ति-फलवाली तथा प्रज्ञा-विमुक्ति-फलके माहा-
त्म्यवाली होती है ?”

“आहुस ! पाँच अंगोंसे युक्त सम्पग-दृष्टि ० माहात्म्यवाली होती है ।—यहाँ आहुस !
सम्पग-दृष्टि (१) शील (= सदाचार) से युक्त होती है; (२) श्रुत (= धर्मपरिदेश-अवगण) से युक्त
होती है; (३) साक्षात्कार (= साक्षात् = भावना आदिको प्रक्रियाके जानमेंके लिये अभिज्ञसे
वातालाप) ०; (४) जसय (= समाधि) ०; (५) विपश्यना (= परम-ज्ञान) से युक्त
होती है । इन पाँच ० ।”

“आहुस ! भव कितने हैं ?”

“आहुस ! यह तीन भव (= लोक) हैं—काम-भव, रूप-भव, अरूप-भव ।”

“कैसे आहुस ! भविष्यमें पुनर्भव (= पुनर्जन्म) संभव होता है ?”

“आहुस ! जविद्या नीचरणों (= डकनों) वाले, तृण्णा (रूपी) संशोचनों (= बंधनों)
वाले प्राणिनोंकी वहाँ वहाँ अमिनन्दना (= कालसा) होती है; इस प्रकार आहुस ! भविष्यमें ० ।”

“आहुस ! प्रथम-ध्यान क्या है ?”

“आहुस ! यहाँ मिश्र काममाओंसे रहित बुराह्मोंसे रहित, वितर्क-विचार-रहित, विषेकसे
उत्पन्न प्रीतिसुखवाले प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । यह आहुस ! प्रथम-ध्यान कहा
जाता है ।”

“आहुस ! प्रथम-ध्यान किस अंगवाला है ?”

“आहुस ! प्रथम-ध्यान पाँच अंगोंवाला है । आहुस ! प्रथम-ध्यान प्राप्त मिश्रको वितर्क
रहता है, विचार रहता है, प्रीति रहती है, सुख रहता है, और चित्तकी एकामता रहती है ।
आहुस ! इस प्रकार प्रथम-ध्यान पाँच अंगोंवाला है ।”

“आहुस ! प्रथम-ध्यान किन अंगोंसे विहीन और किन अंगोंसे युक्त है ?”

“आहुस ! प्रथम-ध्यान पाँच अंगोंसे विहीन और पाँच अंगोंसे युक्त होता है । आहुस !
प्रथम-ध्यान-प्राप्त मिश्रका कामच्छन्द (= विषयमें अनुराग) प्रहीण (= दृष्ट गया) होता है,
व्यापाद (= मोह) ०, स्थान-सृष्ट (= कालम्ब) ०, औदत्त्य-कौकुत्स (= बदतपना-द्विष-
चिकाहट) ०, विचिकित्सा (= संशय) प्रहीण होती है । वितर्क रहता है, विचार रहता है,
प्रीति रहती है, सुख रहता है, चित्तकी एकामता रहती है । ० ।”

“आतुस ! यह पाँच इन्द्रियों, जैसे कि—चक्षु-इन्द्रिय, श्रोत्र ०, घ्राण ०, जिह्वा ०, काय-इन्द्रिय—मिष्ट मिष्ट विषयोंवाली = मिष्ट मिष्ट गोचरोंवाली है; (यह) एक दूसरेके विषय = गोचरको नहीं ग्रहण कर सकती; आतुस ! मिष्ट मिष्ट विषयोंवाली ०, एक दूसरेके विषय = गोचरको न ग्रहण कर सकने वाली इन पाँच इन्द्रियोंका क्या प्रतिशरण (= आश्रय) है, इनके गोचर = विषयको कौन अनुभव करता है ? ”

“आतुस ! इन पाँच ० इन्द्रियोंका प्रतिशरण मन है; मन इनके ० विषयको अनुभव करता है । ”

“आतुस ! यह चक्षु ० पाँच इन्द्रियों किसके आश्रय (= आश्रय)से स्थित है ? ”

“आतुस ! यह ० पाँच इन्द्रियाँ आयुके आश्रयसे स्थित हैं । ”

“आतुस ! आयु किसके आश्रयसे स्थित है ? ”

“आयु उष्मा (= उष्णता, शरीरकी गर्मी)के आश्रयसे स्थित है । ”

“आतुस ! उष्मा किसके आश्रयसे स्थित है ? ”

“उष्मा आयुके आश्रयसे स्थित है । ”

“आतुस ! अभी हम आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणको सुने हैं—‘आयु उष्माके आश्रयसे स्थित है; अभी (फिर) हम आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणको सुनते हैं—‘उष्मा आयुके आश्रयसे स्थित है’ । आतुस ! इस कथनका मतलब हमें कैसे समझना चाहिये ? ”

“तो आतुस ! मैं तुम्हें उष्मा देता हूँ; उष्मासे भी कोई कोई विज्ञ पुरुष भाषणका अर्थ समझ जाते हैं । आतुस ! जैसे जलते हुये तेलके दीपकमें, लौके सहारे प्रकाश दिखाई पड़ता है, प्रकाशके सहारे लौ दिखाई पड़ती है; ऐसे ही आतुस ! आयु उष्माके आश्रयसे स्थित है, उष्मा आयुके आश्रयसे स्थित है । ”

“आतुस ! वही आयु-संस्कार है, और वही वेदनीय (= अनुभवके विषय) धर्म (= पदार्थ) है; अथवा आयु-संस्कार दूसरे है, और वेदनीय-धर्म दूसरे है ? ”

“आतुस ! आयु-संस्कार और वेदनीय-धर्म एक नहीं हैं; यदि आयु-संस्कार और वेदनीय-धर्म एक होते; तो संज्ञा-वेदित-निरोध (ध्यान)में अवस्थित मिथुका (वेदना-रहित अवस्थासे वेदनासहित अवस्थामें) उठना न होता । चूँकि आतुस ! आयु-संस्कार दूसरे है, और वेदनीय-धर्म दूसरे है, इसलिये संज्ञा-वेदित-निरोधमें अवस्थित मिथुका उठना होता है । ”

“आतुस ! कितने धर्म (= पदार्थ) इस कायाको छोड़ते हैं, जब कि यह छोटा फँका हुआ अचेतन (शरीर) काठकी भाँति खोता है ? ”

“आतुस ! जब इस कायाको आयु, उष्मा और विज्ञान—यह तीन धर्म छोड़ते हैं; तो यह ० अचेतन काठकी भाँति खोता है । ”

“आतुस ! यह जो भरा हुआ = कालकृत है, और जो यह संज्ञा-वेदित-निरोध (ध्यान)-में अवस्थित मिथु है; इन दोनोंमें क्या भेद है ? ”

“आतुस ! यह जो भरा हुआ = कालकृत है, इसके काय-संस्कार (= शारीरिक गति) निरुद्ध, शान्त हो गये होते हैं, उसके वाचिक संस्कार निरुद्ध, शान्त हो गये होते हैं, चित्त-संस्कार निरुद्ध शान्त हो गये रहते हैं; आयु श्रोत्र, उष्मा शक्ति, इन्द्रियाँ उच्छिन्न हो गई रहती हैं । जो यह संज्ञा-वेदित-निरोधमें अवस्थित मिथु है, उसके भी काय-संस्कार (= कायिक क्रियायें), वाचिक-संस्कार, चित्त-संस्कार निरुद्ध और प्रतिप्रशब्ध होते हैं, किन्तु उसकी आयु श्रोत्र नहीं होती, उष्मा शान्त नहीं होती, इन्द्रियाँ विलोपतः प्रसव (= निर्मल) होती हैं । यह है आतुस ! ० (दोनों) का भेद । ”

“आहुस ! सुख-दुःख (दोनों)-रहित चेतो-विमुक्तिकी समापत्ति (= प्राप्ति) के कितने प्रत्यय (= प्रत्यय) हैं ?”

“आहुस ! चार हैं ० (जब) मिथु सुख और दुःखके परित्यागसे; सौमनस्य (= चित्तो-शास), और दौर्मनस्य (= चित्त संताप) के पहिलेही अन्त हो जानेसे, सुख-दुःख रहित उपेक्षासे स्मृतिकी परिशुद्धि वाले चतुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । यह आहुस ! सुख-दुःख-रहित चेतो-विमुक्ति समापत्तिके चार प्रत्यय हैं ।”

“आहुस ! आनिमित्त-चेतो-विमुक्तिकी समापत्तिके कितने प्रत्यय हैं ?”

“आहुस ! ० दो प्रत्यय हैं—(१) सारे निमित्तों (= रूप-आकृति आदि) का मनमें न करना; और (२) अनिमित्त धातु (= लोक) का मनमें करना । यह आहुस ! ० ।”

“आहुस ! आनिमित्त-चेतो-विमुक्तिकी स्थितिके लिये कितने प्रत्यय हैं ?”

“आहुस ! ० तीन प्रत्यय हैं—(१) सारे निमित्तोंको मनमें न करना; (२) अनिमित्त धातुको मनमें करना; और (३) पूर्वका अनिसंस्कार (= संस्कार) । यह आहुस ! ० ।”

“आहुस ! आनिमित्त-चेतो-विमुक्तिके उत्थानके कितने प्रत्यय हैं ?”

“आहुस ! ० दो प्रत्यय हैं—(१) सारे निमित्तोंको मनमें न करना; और (२) अनिमित्त-धातुको मनमें न करना । यह आहुस ! ० ।”

“आहुस ! जो यह अप्रमाणा चेतो-विमुक्ति है, जो यह आकिचन्या चेतो-विमुक्ति है, जो यह शून्यता चेतो-विमुक्ति है, और जो यह आनिमित्त-चेतो-विमुक्ति है; यह धर्म (= पदार्थ) नाना-अर्थ-वाले और नाना-व्यञ्जन-वाले है, अथवा एक-अर्थ-वाले किन्तु नाना-व्यञ्जन-वाले हैं ?”

“आहुस ! ० ऐसा मतलब (= पर्याय) है, जिससे यह (चारों) धर्म नाना-अर्थ-वाले, नाना-व्यञ्जन-वाले हैं; ऐसा मतलब भी है, जिससे कि यह एक-अर्थ-वाले हैं व्यञ्जन ही (इनका) नाना है । क्या है यह मतलब जिससे यह ० ?—आहुस ! (जब) मिथु (१) मैत्रीयुक्त चित्तसे एक दिशाको पूर्ण कर विहरता है, वैसे ही दूसरी दिशाको, वैसे ही तीसरी दिशाको, वैसे ही चौथी दिशाको, इस प्रकार ऊपर नीचे, आगे-पेछे, सबके विचारसे सबके अर्थ, त्रिपुल, महान्, प्रमाण-रहित (= अति-विशाल), वर-रहित, व्यापाद-रहित, मैत्री-युक्त चित्तसे सभी लोकको पूर्ण कर विहरता है । (२) करणायुक्त चित्तसे ० । (३) मुद्रिता-युक्त चित्तसे ० । (४) उपेक्षा-युक्त चित्तसे ० । यह आहुस ! अप्रमाणा चेतो-विमुक्ति कही जाती है ।

“क्या है आहुस ! आकिचन्या चेतो-विमुक्ति ?”—आहुस ! (जब) मिथु विज्ञान-आवतनको अतिक्रमण कर, ‘कुछ नहीं है’ (= अ-किचन)—इस आकिचन्य-आवतनको प्राप्त हो विहरता है; यह आहुस ! आकिचन्या चेतो-विमुक्ति है ।

“क्या है आहुस ! शून्यता चेतो-विमुक्ति ?”—आहुस ! (जब) मिथु अरण्य, वृक्ष-छाया वा शून्य-आगारमें रहते यह सोचता है—‘यह सभी (जगत्) आत्मा या आत्मीयसे शून्य है’; यह आहुस ! ० । क्या है आहुस ! आनिमित्त-चेतो-विमुक्ति ? आहुस ! (जब) मिथु सभी निमित्तोंको मनमें न कर, अनिमित्त चित्तकी समापत्तिको प्राप्त कर विहरता है; यह है आहुस ! ० । यह है आहुस ! मतलब, जिस मतलबसे यह धर्म नाना-अर्थ-वाले और नाना-व्यञ्जन-वाले हैं ।

“क्या है आहुस ! मतलब, जिस मतलबसे यह एक-अर्थ-वाले हैं, व्यञ्जन ही (इनके) नाना है ?—आहुस ! राग, द्वेष, मोह (—यह तीनों) प्रमाण करनेवाले हैं; किन्तु क्षीणाक्षय (= चित्तमल्लोसे युक्त, ज/द) मिथुके यह क्षीण हो गये, जरासे उच्छिन्न हो गये हैं, सिर-कटे शाफकी तरह हो गये हैं, जमावकी प्राप्ति हो गये हैं, अक्षिपमें उत्पन्न होने योग्य नहीं रह गये हैं ।

आबुस ! जितनी अप्रमाणा चेतोविमुक्तियाँ हैं, अकोप्या (चेतो-विमुक्ति) उनमें (सबसे) श्रेष्ठ है । अकोप्या चेतो-विमुक्ति राग-द्वेष-मोहसे शुन्य है । आबुस ! राग किंचन है, द्वेष किंचन है, मोह किंचन है । वह (राग, द्वेष, मोह), क्षीणात्म्य मिश्रके क्षीण हो गये ० । आबुस ! जितनी आकिंचन्या चेतोविमुक्तियाँ हैं, अकोप्या चेतोविमुक्ति उनमें (सर्व-)श्रेष्ठ है । और वह अकोप्या चेतोविमुक्ति राग-द्वेष-मोहसे शुन्य है । आबुस ! राग निमित्त-करण है, द्वेष निमित्त-करण है, मोह निमित्त-करण है । वह, क्षीणात्म्य मिश्रके क्षीण हो गये ० । आबुस ! जितनी अनिमित्ता चेतोविमुक्तियाँ हैं, अकोप्या चेतोविमुक्ति उनमें (सर्व-)श्रेष्ठ है । वह अकोप्या चेतोविमुक्ति राग-द्वेष-मोहसे शुन्य है । आबुस ! यह अतल्लय (= पर्याय) है, जिस अतल्लयसे यह धर्म एक-अर्थ-वाले हैं, व्यंजन हो (इनके) जाना हैं ।"

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् महाकोट्टितने आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणको जमिनंघित किया ।

४४-चूल-वेदल्ल-सुत्तन्त (१।५।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें कलम्बकनिवाप वेशुवनमें विहार करते थे ।

तब उपासक विशाख जहाँ धम्मदिशा^१ भिक्षुणो थी, वहाँ गया, जाकर धम्मदिशा भिक्षुणीको अभिवादन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठे उपासक विशाखने धम्मदिशा भिक्षुणी को यह कहा—

“आर्ये (= अर्या) ! ‘सत्काय’ ‘सत्काय’ कहा जाता है; आर्ये ! भगवान्ने किसे सत्काय कहा है ?”

“यह जो रूप उपादान-स्कंध, वेदना उपादान-स्कंध, संज्ञा उपादान-स्कंध, संस्कार-उपादान-स्कंध, विज्ञान उपादान-स्कंध है, आतुस विशाख ! इन्हीं पाँच उपादान-स्कंधों^२ को भगवान्ने सत्काय कहा है ।”

“साधु, आर्ये !”—(कह) उपासक विशाखने धम्मदिशा भिक्षुणीके भाषणको अभि-
मंदित कर= श्रुत्योदित कर; धम्मदिशा भिक्षुणीसे आगेका प्रश्न पूछा—

“अर्या ! ‘सत्काय-समुदय’, ‘सत्काय-समुदय’ कहा जाता है; अर्या ! भगवान्ने किसे सत्काय-समुदय कहा है ?”

“आतुस विशाख ! जो यह सुल-संबंधी इच्छासे संयुक्त, उन उन (विषयों) को अभिमन्दन करने वाली आवागमनकी सृष्णा है; जैसे कि काम-सृष्णा, मय (= जन्म)-सृष्णा, विभव-सृष्णा, आतुस विशाख ! इसी(सृष्णा) को भगवान्ने सत्काय-समुदय (= आत्मवादका कारण) कहा है ।”

“अर्या ! ‘सत्काय-निरोध’, ‘सत्काय-निरोध’ कहा जाता है । अर्या ! भगवान्ने किसे सत्काय-निरोध (= आत्माके ब्यालका नाश) कहा है ?”

“आतुस विशाख ! उसी सृष्णाका जो सम्पूर्णतया वैराग्य विनाश (= निरोध), त्याग=

^१ धम्मदिशा (= धर्मदेखा) राजगृहके इसी विद्यालये बैठकी आर्यो थी; पीछे पतिव्रती सम्प्रतिसे भिक्षुणी हो, एक बहुत ही प्रभावशालिनी प्रभोवैद्वी हुई ।

^२ परापर जगत्का उपादान-कारण रूप आदि पाँच स्कंधोंमें बैठा है । इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञानकी ही अवस्था-विशेष होनेसे इन्हें रूप और विज्ञान दो स्कंधोंमें विभक्त किया जा सकता है । विज्ञान-को नाम भी कहते हैं । यह पाँच स्कंध सब व्यक्तियों किये जाते हैं, तो इन्हें उपादान-स्कंध कहते हैं । इन स्कंधोंसे परे जीव या चेतन कोई पदार्थ नहीं । पाँच उपादान-स्कंधोंसे मनी इत ‘कायामे सत्ता’ (= सत्+काय) है आत्माकी—यह मिथ्याज्ञान होता है ।

प्रतिनिस्सर्ग, मुक्ति, अनालय (= अवासकि) है; आधुस विज्ञान ! इसे मगवान्ने सत्काय-निरोध कहा है ।”

“अथवा ! ‘सत्काय-निरोध गामिनी प्रतिपद्’, ‘सत्काय-निरोध-गामिनी प्रतिपद्’ कहा जाता है । अथवा ! मगवान्ने किसे सत्काय-निरोध-गामिनी प्रतिपद् (= आत्माके क्वालके वाशकी ओर ले जानेवाला मार्ग) कहा है ?”

“आधुस विज्ञान ! मगवान्ने सत्काय-निरोध-गामिनी प्रतिपद् कहा है, इसी आर्य-अष्टांगिक-मार्ग को; जैसे कि—सम्यग्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यग्-वचन, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यग्-आजीव, सम्यग्-स्वाध्यास, सम्यक्-स्मृति, सम्यक्-समाधि ।”

“अथवा ! वही उपादान है, और वही उपादान-स्वर्ध है; अथवा उपादान पाँच उपादान स्वर्धोंसे अलग है ?”

“आधुस विज्ञान ! न उपादान और पाँच उपादान-स्वर्ध एक है, न उपादान पाँच उपादान स्वर्धोंसे अलग है । आधुस विज्ञान ! पाँच उपादान-स्वर्धोंमें जो छन्द = राग है, वही वहाँ उपादान है ।”

“कैसे अथवा ! सत्काय-दृष्टि होती है ?”

“आधुस विज्ञान ! (जय) आर्योंके दर्शनसे वंचित, आर्य-धर्मसे अपरिचित, आर्य-धर्ममें अ-विनीत (= न पहुँचे) ; सत्पुरुषोंके दर्शनसे वंचित, सत्पुरुष-धर्मसे अपरिचित, सत्पुरुष-धर्ममें अ-विनीत, अज्ञ, अनायी (= पुरुषजन) पुरुष रूपको आत्माके तौर पर देखता है, या रूपवान्को आत्मा, आत्मामें रूपको, रूपमें आत्माको (देखता है) । वेदनाको आत्माके तौर पर ० । संज्ञाको आत्माके तौर पर ० । संस्कारको आत्माके तौर पर ० । विज्ञानको आत्माके तौर पर ० । इस प्रकार आधुस विज्ञान ! ० ।”

“क्या है अथवा ! आर्य अष्टांगिक मार्ग ?”

“आधुस विज्ञान ! आर्य अष्टांगिक मार्ग है वही—सम्यग्-दृष्टि ० ।”

“अथवा ! आर्य अष्टांगिक मार्ग संस्कृत (= कृत) है वा अ-संस्कृत ?”

“आधुस विज्ञान ! ० संस्कृत है ।”

“अथवा ! आर्य अष्टांगिक मार्गमें तीनों स्वर्ध संगृहीत हैं, वा तीनों स्वर्धोंमें आर्य अष्टांगिक मार्ग संगृहीत है ?”

“आधुस विज्ञान ! आर्य अष्टांगिक मार्गमें तीनों स्वर्ध संगृहीत नहीं हैं, (वकि) तीन स्वर्धोंमें आर्य अष्टांगिक मार्ग संगृहीत है । आधुस विज्ञान ! जो सम्यग्-वचन, सम्यग्-आजीव और सम्यक्-कर्मान्त हैं, वह...दीर्घ-स्वर्धमें संगृहीत है । जो सम्यग्-स्वाध्यास, सम्यक्-स्मृति, और सम्यक्-समाधि है, वह...समाधि-स्वर्धमें संगृहीत है । जो सम्यग्-दृष्टि और सम्यक्-संकल्प हैं, वह...प्रज्ञा-स्वर्धमें संगृहीत है ।”

“अथवा ! क्या है समाधि, क्या है समाधि-निमित्त, क्या है समाधि-परिष्कार, और क्या है समाधि-मात्रता ?”

“आधुस विज्ञान ! जो चित्तकी एकाग्रता है, वही समाधि है । चार स्मृति-प्रस्थान ० समाधि - निमित्त (= ० चिह्न) है । चार सम्यक्-प्रधान समाधिके परिष्कार हैं । जो उन्हीं

१ इसके अर्थके लिये देखो सतिषट्कान्त-सूत्र (३५-४०)

२ देखो सूत्र ३३ ।

३ देखो सतिषट्कान्त-सूत्र, पृष्ठ ३५-४० ।

धर्मों (= पदार्थों) का ध्यान करना = भावना करना, धराना, यही समाधि भावना है ।"

"अव्या ! संस्कार कितने हैं ?"

"आवुस विद्याव ! यह तीन संस्कार हैं—काय-संस्कार (= कायिक गति या क्रिया) वचन-संस्कार, चित्त-संस्कार ।"

"अव्या ! क्या है काय-संस्कार, क्या है वचन-संस्कार, क्या है चित्त-संस्कार ?"

"आवुस विद्याव ! आश्वास-प्रश्वास काय-संस्कार है, वितर्क-विचार वचन-संस्कार है, संज्ञा और वेदना चित्त-संस्कार है ।"

"क्यों अव्या ! आश्वास-प्रश्वास काय-संस्कार है ? क्यों वितर्क-विचार वचन-संस्कार है ? क्यों वेदना, संज्ञा चित्त-संस्कार है ?"

"आवुस विद्याव ! आश्वास-प्रश्वास (= साँस लेना छोड़ना) यह कायासे संबद्ध कायिक धर्म (= क्रियामें) है, इसलिये आश्वास-प्रश्वास काय-संस्कार है । आवुस विद्याव ! पहिले वितर्क करके विचारकरके पोछे वचन निकालता है, इसलिये वितर्क-विचार वचन-संस्कार है । आवुस विद्याव ! संज्ञा और वेदना चित्तसे संबद्ध चेतनिक धर्म हैं, इसलिये संज्ञा और वेदना चित्त-संस्कार हैं ।"

"अव्या ! कैसे संज्ञा वेदित-निरोध समापत्ति होती है ?"

"आवुस विद्याव ! संज्ञा-वेदित-निरोध को समापत्त (= प्राप्त) हुये भिक्षुको यह नहीं होता—'मैं संज्ञा-वेदित-निरोधको समापत्त होऊँगा', 'मैं संज्ञा-वेदित-निरोधको समापत्त हो रहा हूँ' या 'मैं संज्ञा-वेदित-निरोध को समापत्त हुआ' । बल्कि उसका चित्त पहिलेहीसे इस प्रकार भावित (= अनपन्न) होता है, कि वह उस स्थितिको पहुँच जाता है ।"

"अव्या ! तो संज्ञा-वेदित-निरोधमें समापत्त हुआ है, उसके कौनसे धर्म पहिले निरुद्ध (= रुद्ध) होते हैं—क्या काय-संस्कार या वचन-संस्कार या चित्त-संस्कार ?"

"आवुस विद्याव ! ० समापत्त हुये भिक्षुका पहिले वचन-संस्कार निरुद्ध होता है, फिर काय-संस्कार, तब चित्त-संस्कार ।"

"अव्या ! संज्ञा-वेदित-निरोध समापत्तिसे उद्दान (= उठना) कैसे होता है ?"

"आवुस विद्याव ! संज्ञा-वेदित-निरोध समापत्तिसे उद्दान करते भिक्षुको यह नहीं होता—'मैं संज्ञा ० से उठूँगा', या 'मैं ० उठ रहा हूँ', या 'मैं ० उठा' । बल्कि उसका चित्त पहिलेहीसे इस प्रकार भावित होता है, कि वह उस स्थितिको पहुँच जाता है ।"

"अव्या ! संज्ञा-वेदित-निरोध समापत्तिसे उठते हुये भिक्षुको कौनसे धर्म पहिले उत्पन्न होते हैं—क्या काय-संस्कार, या वचन-संस्कार या चित्त-संस्कार ?"

"आवुस विद्याव ! ० उठते हुये भिक्षुको पहिले चित्त-संस्कार उत्पन्न होता है, फिर काय-संस्कार तब वचन-संस्कार ।"

"अव्या ! संज्ञा-वेदित-निरोध समापत्तिसे उठे भिक्षुको कितने स्पर्श स्पर्श करते हैं ?"

"० तीन स्पर्श स्पर्श करते हैं—शून्यता-स्पर्श, अनिमित्त-स्पर्श, और अप्रणिहित (= लब्ध)-स्पर्श ।"

"अव्या ! ० से उठे भिक्षुका चित्त किधर निष्ठ=किधर प्रवण,=किधर झुका (= प्राग्भा-पहान) होता है ?"

"० का चित्त विवेक (= एकान्त चिन्ता) की ओर निष्ठ,=विवेक-प्रवण=विवेक-प्राग्भा होता है ।"

“अध्या ! कितनी वेदनायें हैं ?”

“आहुत विद्यान् ! यह तीन वेदनायें हैं—सुखा (= सुखमय) वेदना, दुःखा वेदना, और अदुःख-असुखा वेदना ।”

“अध्या ! क्या सुखा वेदना है, क्या दुःखा वेदना है, और क्या अदुःख-असुखा वेदना है ?”

“आहुत विद्यान् ! जो कोई कायिक वा मानसिक अनुभव (= वेदित, वेदयित) सात (= अनुकूल), सुखमय प्रतीत होता है; वह सुखा वेदना है । जो कायिक वा मानसिक अनुभव असात (= प्रतिकूल), दुःखमय प्रतीत होता है; वह दुःखा वेदना है । और जो कायिक वा मानसिक अनुभव न सात न असात प्रतीत होता है; वह अदुःख-असुखा वेदना है ।”

“अध्या ! सुखा वेदना क्या सुखा है, क्या दुःखा है ? दुःखा वेदना क्या सुखा है, क्या दुःखा है ? अदुःख-असुखा वेदना क्या सुखा है, क्या दुःखा है ?”

“आहुत विद्यान् ! सुखा वेदना रहते वक्त (= स्थिति) सुखा है, परिणाममें दुःखा है । दुःखा वेदना रहते वक्त दुःखा है, परिणाममें सुखा है । अदुःख-असुखा वेदना ज्ञानमें सुखा है, अज्ञानमें दुःखा है ।”

“अध्या ! सुखा वेदनामें कौन अनुशय (= चित्त-मल) चिपटता है ? दुःखा वेदनामें कौन अनुशय चिपटता है ? अदुःख-असुखा वेदनामें कौन अनुशय चिपटता है ?”

“आहुत विद्यान् ! सुखा वेदनामें राग-अनुशय चिपटता है; दुःखा वेदनामें प्रतिघ (= प्रतिहिंसा) अनुशय चिपटता है; अदुःख-असुखा वेदनामें अविद्या-अनुशय चिपटता है ।”

“अध्या ! क्या सभी सुखा वेदनाओंमें राग-अनुशय चिपटता है ? क्या सभी दुःखा-वेदनाओंमें प्रतिघ-अनुशय चिपटता है ? क्या सभी अदुःख-असुखा वेदनाओंमें अविद्या-अनुशय चिपटता है ?”

“आहुत विद्यान् ! सभी सुखा वेदनाओंमें राग-अनुशय नहीं चिपटता, न सभी दुःखा वेदनाओंमें प्रतिघ-अनुशय चिपटता है, और न सभी अदुःख-असुखा वेदनाओंमें अविद्या-अनुशय चिपटता है ।”

“अध्या ! सुखा वेदनामें क्या प्रहातव्य (= त्याग्य) है ? दुःखा वेदनामें क्या प्रहातव्य है ? अदुःख-असुखा वेदनामें क्या प्रहातव्य है ?”

“आहुत विद्यान् ! सुखा वेदनामें राग-अनुशय प्रहातव्य है, दुःखा वेदनामें प्रतिघ-अनुशय, अदुःख-असुखा वेदनामें अविद्या-अनुशय प्रहातव्य है ।”

“अध्या ! क्या सभी सुखा वेदनाओंमें राग-अनुशय प्रहातव्य है ? ० प्रतिघ-अनुशय प्रहातव्य है ? ० अविद्या-अनुशय प्रहातव्य है ?”

“आहुत विद्यान् ! सभी सुखा वेदनाओंमें राग-अनुशय प्रहातव्य नहीं है, ० प्रतिघ-अनुशय प्रहातव्य नहीं, सभी अदुःख-असुखा वेदनाओंमें अविद्या-अनुशय प्रहातव्य नहीं है । आहुत विद्यान् ! (जय) मिश्र कामनाओंसे रहित, दुराद्योंसे रहित, विवेकसे उत्पन्न चित्तक-विचार-रहित, प्रीति और सुखवाले प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । उस (ध्यान) से वह रागको छोड़ता है; वहाँ राग-अनुशय नहीं चिपटता । (जय) आहुत विद्यान् ! मिश्र ऐसा सोचता है— कैसे उस आपत्तन (= ध्यान) को प्राप्त हो चिहरेगा, जिस आपत्तनको प्राप्तकर आर्य (लोग) इस समय विहर रहे हैं; इस प्रकार अनुत्तर (= उत्पन्न) विमोक्षोंमें सदा उपस्थित करने पर शृङ्गाके कारण दीर्घमनस्य उत्पन्न होता है, उससे (वह) प्रतिघको छोड़ता है; वहाँ प्रतिघ-अनुशय नहीं चिपटता । आहुत विद्यान् ! (जय) मिश्र सुख और दुःखके परित्यागसे, सौमनस्य

और दौर्मनस्य (= चित्त-संतोष) के अन्त हो जानेसे, सुख-दुःख-विरहित, उपेक्षा द्वारा स्थिति की परिशुद्धिवाले चतुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है; इससे वह अविद्याको छोड़ता है; उसमें अविद्या-अनुशास नहीं चिपटता ।”

“अध्या ! सुखा वेदनाका क्या प्रतिभाग (= विपक्षी) है ?”

“० दुःख-वेदना प्रतिभाग है ।”

“अध्या ! दुःखा वेदनाका क्या प्रतिभाग है ?”

“० सुखा वेदना प्रतिभाग है ।”

“अध्या ! अदुःख-असुखा वेदनाका क्या प्रतिभाग (= सपक्षी) है ?”

“० अविद्या प्रतिभाग है ।”

“० अध्या ! अविद्याका क्या प्रतिभाग है ?”

“० विद्या ० ।”

“अध्या ! विद्याका क्या प्रतिभाग (= सपक्षी) है ?”

“० तिसुक्ति ० ।”

“अध्या ! तिसुक्तिका क्या प्रतिभाग (= सपक्षी) है ?”

“० निर्वाण ० ।”

“अध्या ! निर्वाणका क्या प्रतिभाग है ?”

“आलुस विद्यान्व ! तुम प्रश्नको अतिरुक्षण कर गये । प्रश्नोंके पर्यन्त (= सीमा,)को नहीं पकड़ रख सके । आलुस विद्यान्व ! ब्रह्मचर्ये निर्वाणपर्यन्त है, निर्वाण-परायण है = निर्वाण-पर्यवसान है । आलुस विद्यान्व ! यदि चाहो तो भगवान्‌से जाकर इस प्रश्नको पूछो, जैसा तुम्हें भगवान्‌ कहें, वैसा धारण करना ।”

सब उपासक विद्यान्व धम्मदिक्षा भिक्षुणीके भाषणको अभिनन्दित कर अनुश्रोतित कर, आलससे उठ धम्मदिक्षा भिक्षुणीको अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर जहाँ भगवान्‌ थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठे उपासक विद्यान्वने जो कुछ धम्मदिक्षा भिक्षुणीके साथ कथा-संलाप हुआ था, वह सब भगवान्‌से कह दिया । ऐसा कहने पर भगवान्‌ने उपासक विद्यान्वसे यह कहा—

“विद्यान्व ! धम्मदिक्षा भिक्षुणी वंदिता है । विद्यान्व ! धम्मदिक्षा भिक्षुणी महाप्रज्ञा है । विद्यान्व ! यदि तुम सुने भी इस बातको पूछते, तो मैं भी ऐसे ही उत्तर देता, जैसे कि धम्मदिक्षा भिक्षुणीने उत्तर दिया । यही इसका अर्थ है । इसी तरह इसे धारण करो ।”

भगवान्‌ने यह कहा, संतुष्ट हो उपासक विद्यान्वने भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दित किया ।

४५-चूल-धम्मसमादान-सुत्तन्त (१।५।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् धावस्तीमें अनाथपिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने मिथुजोंको संबोधित किया—“मिथुजो !”

“भक्त ! (कह) उन मिथुजोंमें भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“मिथुजो ! यह चार धर्मसमादान (= धर्मकी स्वीकृतियाँ) हैं । कौनसे चार !—मिथुजो ! (१) एक धर्मसमादान वर्तमानमें सुखद किन्तु भविष्यमें दुःख-विपाक वाला होता है ।” (२) वर्तमानमें भी दुःखद और भविष्यमें भी दुःखद होता है ।” (३) वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें सुखद होता है ।” (४) वर्तमानमें भी सुखद और भविष्यमें भी सुखद होता है ।

(१) “मिथुजो ! कौनसा धर्मसमादान वर्तमानमें सुखद, (किन्तु) भविष्यमें दुःखद होता है ?—मिथुजो ! कोई कोई धर्मण ब्राह्मण इस वाक्यके माननेवाले इस दृष्टि (= धारणा) वाले होते हैं—‘काम (= विषय) में कोई दोष नहीं ।’ वह कामोंमें पतित होते हैं । वह भौतिक (= ज्ञा)-बद्ध परिभाजिका (= लाभुनी क्षियों) का सेवन करते हैं । वह कहते हैं—‘क्यों वह धर्मण ब्राह्मण कामोंके विषयमें भविष्यका भय देव कामोंके छोड़नेको कहते हैं, कामोंकी परिक्षा (= परित्याग) को कहते हैं । इस तरुण, मृदुल, लोभश परिभाजिकाका पाँहसे स्पर्श (तो) सुखमय है’—और कामोंमें पतित होते हैं । वह कामोंमें पतित हो, काया लोभ मरनेके बाद अपाय = दुर्गति, विनिपात = नरकमें उत्पन्न होते हैं । वह वहाँ दुःखमय, तीव्र, कटु वेदनाओंको झेलते हैं । (तब) वह यह कहते हैं—‘वह आप समण ब्राह्मण कामोंमें इसी भविष्यके भयकी देव कामोंके प्रहाणको कहते थे, कामोंकी परिक्षा (= त्याग) को कहते थे । यह हम कामोंके हेतु, कामोंके कारण दुःखमय, तीव्र कटु वेदना झेल रहे हैं ।’ जैसे मिथुजो ! भोष्मके अन्तिम-मासमें मालुवा (लता) का पका फल गिर पड़े । और मिथुजो ! वह मालुवाका बीज किसी बाल (= सान्) के वृक्षके भीचे पड़े । तब मिथुजो ! जो बाल वृक्ष पर रहनेवाला देवता है, वह भयभीत, उद्भिन्न हो संवासको प्राप्त होवे । तब उस बालवृक्ष पर रहनेवाले देवताके मित्र अमाय, जाति-विरादरीवाले आराम-देवता, वन-देवता, वृक्ष-देवता, औषधि-नृण-वस्त्रपतियोंमें घसनेवाले देवता आकर जमा हो उसे इस प्रकार आश्वासन दें—‘आप भत डरें, क्या जाने इस मालुवाके बीजको भोर निगल जाये, या भूमि खा जाये, या जंगलकी आगसे जल जाये, या वनमें कामकरनेवाले उठाते-जायें, या कियरनेवाले खा जायें, या बिना बीजकी होवे । तब मिथुजो ! उस मालुवाके बीजको न भोर निगले, न भूमिछाये, न कियरनेवाले खायें, और उसको बीज होवे । वह वर्षा कालीन मेघसे सिक्तही अच्छी प्रकार उगे । उस (वृक्ष) पर तरुण, मृदुल, लोभश मालुवा लता निर्दिष्ट होवे । वह

उस बालको छपेट ले । तब मिश्रुओ ! उस बालपर धमनेवाले देवताको ऐसा हो । क्यों उन (मेरे) मित्र-अमात्य ० देवताओंने आकर जमा हो सुझे इस प्रकार आश्वासन दिया—आप मत डरें ० । इस कारण, खुदुल, लोमसा, किल्विनी मालुवा लताका स्पर्श (तो) सुखमय है ।—यह (लता) उस बालको पकड़े । पकड़कर ऊपर उठा घुमावे । ऊपर उठा घुमाकर नीचे घुमा करे । नीचे घुमाकर उस बालके बड़े बड़े स्कन्धोंको प्रदरित करे । तब उस बालपर रहनेवाले देवताको ऐसा हो—उन (मेरे) मित्र-अमात्य ० देवताओंने आकर सुझे इस प्रकार आश्वासन दिया—आप मत डरें ० । और मैं अब उस मालुवा-बीजके कारण दुःखमय, तीव्र, कटु वेदनाओंको झेल रहा हूँ । ऐसे ही मिश्रुओ ! वह धम्म-आलक्षण इस वादके माननेवाले ०^१ झेल रहे हैं । मिश्रुओ ! यह वर्तमानमें सुखमय, भविष्यमें दुःखमय धर्मसमादान कहा जाता है ।

(२) “मिश्रुओ ! कौनसा धर्मसमादान वर्तमानमें भी दुःखमय और भविष्यमें भी दुःखमय है ?—मिश्रुओ ! यहाँ कोई क्षत्तेलक (= तंगा साधु) होता है ०^२ कामको बलशयनके व्यापारसे लभ होता है, वह काया को छेद मरनेके बाद ० नरकमें उत्पन्न होता है । मिश्रुओ ! यह कहा जाता है वर्तमानमें भी दुःखद, और भविष्यमें भी दुःखद धर्मसमादान ।

(३) “मिश्रुओ ! कौनसा धर्मसमादान वर्तमानमें दुःखद, (किन्तु) भविष्यमें सुखमय है ?—मिश्रुओ ! यहाँ कोई (पुरुष) स्वभावसे ही तीव्र रागवाला होता है, वह निरन्तर रागसे उत्पन्न दुःख, दोर्मनस्यको झेलता रहता है । स्वभावसे ही तीव्र द्वेषवाला होता है ० । स्वभावसे ही तीव्र मोहवाला होता है; वह निरन्तर मोहसे उत्पन्न दुःख दोर्मनस्यको झेलता रहता है । वह दुःख = दोर्मनस्यके साथ भी बहुमुख, रुदन करते परिपूर्ण परिशुद्ध प्रत्यक्ष्यका आचरण करता है । वह काया को छेद मरनेके बाद सुगति स्वर्ग लोकमें उत्पन्न होता है । मिश्रुओ ! यह कहा जाता है ० ।

(४) “मिश्रुओ ! कौनसा धर्मसमादान वर्तमानमें भी सुखद है, भविष्यमें भी सुखमय है ?—मिश्रुओ ! यहाँ कोई (पुरुष) सनातनसे ही तीव्र रागवाला नहीं होता, वह निरन्तर रागसे उत्पन्न दुःख दोर्मनस्यको नहीं अनुभव करता । ० तीव्र द्वेषवाला नहीं होता ० । ० तीव्र मोहवाला नहीं होता ० । वह ०^३ प्रथम-भ्यान ० द्वितीय-भ्यान ० तृतीय-भ्यान ० चतुर्थ-भ्यानको प्राप्तही विहरता है । वह काया को छेद मरनेके बाद सुगति स्वर्ग लोकमें उत्पन्न होता है । मिश्रुओ ! यह वर्तमानमें भी सुखद, भविष्यमें भी सुखमय धर्मसमादान कहा जाता है । मिश्रुओ ! यह चार धर्म-समादान हैं ।”

भगवान्ने यह कहा, भक्तुष्ट हो उन मिश्रुओने भगवान्के भाषणको अभिर्नन्दित किया ।

^१ देखो पृष्ठ १८४ ।

^२ देखो पृष्ठ ४८-४९ ।

^३ देखो पृष्ठ १५ ।

४६—महा-धम्मसमादान-सुत्तन्त (१।५।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् धावस्तीमें अनाधर्पिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने मिश्रुओंको संबोधित किया—“मिश्रुओ !”

“मदन्त !”—(कह) उन मिश्रुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“मिश्रुओ ! अधिकतर प्राणी इस प्रकारकी कामनावाले, इस प्रकारकी इच्छावाले, इस प्रकारके अभिप्रायवाले होते हैं—‘अहो ! अनिष्ट = अकान्त = अमानाप धर्म (= पदार्थ) क्षीण हो जायें । इष्ट = कान्त = मनाप धर्म वृद्धिको प्राप्त होवें’ । मिश्रुओ ! इस प्रकारकी कामनावाले • उन प्राणियोंके अनिष्ट • धर्म बढ़ते हैं; इष्ट • धर्म क्षीण होते हैं । वहाँ मिश्रुओ ! तुम्हें क्या हेतु जान पड़ता है ?”

“भन्ते ! हमारे धर्मके भगवान् ही मूल हैं, भगवान् ही नेता हैं, भगवान् ही प्रति-धारण हैं । अच्छा हो भन्ते ! भगवान् ही इस भाषणका अर्थ कहें, भगवान्से सुनकर मिश्रु उसे धारण करेंगे ।”

“तो मिश्रुओ ! सुनो, अच्छी प्रकार मनमें धारण करो कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !” (कह) उन मिश्रुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“यहाँ मिश्रुओ ! आर्योंके दर्शनसे वंचित •^१ अज्ञ, अनापी जन्, सेवन करने योग्य धर्मोंको नहीं जानता, अ-सेवन करने योग्य धर्मोंको नहीं जानता; मज्जनीय (= सेवनीय) धर्मोंको नहीं जानता, अ-मज्जनीय धर्मोंको नहीं जानता । वह सेवनीय धर्मोंको न जानते • असेवनीय धर्मोंका सेवन करता है, सेवनीय धर्मोंको सेवन नहीं करता • । असेवनीय धर्मोंको सेवन करते, सेवनीय धर्मोंको न सेवन करते • उसके अनिष्ट • धर्म बढ़ते हैं, इष्ट • क्षीण होते हैं । सो किस हेतु ?—मिश्रुओ ! उस अज्ञको यह ऐसा ही होता है ।

“मिश्रुओ ! आर्योंके दर्शनको प्राप्त •^२ बहुश्रुत आर्षधाराक सेवनीय धर्मोंको जानता है, असेवनीय धर्मोंको जानता है • । • जानते हुये असेवनीय धर्मोंको सेवन नहीं करता, सेवनीय धर्मोंको सेवन करता है • । • सेवन करते • अनिष्ट • धर्म क्षीण होते हैं, इष्ट • धर्म वृद्धिको प्राप्त होते हैं । सो किस हेतु ?—मिश्रुओ ! उस अज्ञको ऐसा ही होता है ।

“मिश्रुओ ! यह चार धर्म-समादान हैं । कौनसे चार ?—(१) वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें भी दुःखद धर्मसमादान; (२) वर्तमानमें सुखद, भविष्यमें दुःखद; (३) वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें सुखद; (४) वर्तमानमें सुखद, भविष्यमें भी सुखद ।

^१ देखो पृष्ठ १ ।

^२ देखो पृष्ठ ७ ।

“वहाँ, मित्रुओ ! जो यह वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें भी दुःखद धर्मसमादान है, उसे भविष्यामें पढ़ा भविद्वान् ठीकसे नहीं जानता, कि यह धर्मसमादान वर्तमानमें दुःखद ० । भविष्यामें पढ़ा भविद्वान् उसे ठीकसे न जानते हुये उसका सेवन करता है, उसे छोड़ता नहीं । उसे सेवन करते, उसको न छोड़ते हुये उस (पुरुष) के अनिष्ट ० धर्म बढ़ते हैं, इष्ट ० धर्म क्षीण होते हैं । सो किस हेतु ?—अज्ञको ऐसा ही होता है ।

“वहाँ, मित्रुओ ! जो यह वर्तमानमें सुखद, भविष्यमें दुःखद धर्मसमादान है, उसे भविष्यामें पढ़ा भविद्वान् ठीकसे नहीं जानता ० ।

“वहाँ, मित्रुओ ! जो यह वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें सुखद, धर्मसमादान है, उसे भविष्यामें पढ़ा भविद्वान् ठीकसे नहीं जानता ० ।

“वहाँ, मित्रुओ ! जो यह वर्तमानमें सुखद भविष्यमें भी सुखद धर्मसमादान है, उसे भविष्यामें पढ़ा भविद्वान् ठीकसे नहीं जानता ० । उसका सेवन नहीं करता, उसे छोड़ता है । ० ।

“वहाँ, मित्रुओ ! जो यह वर्तमानमें दुःखद भविष्यमें भी दुःखद धर्मसमादान है, उसे विद्यायुक्त विद्वान् ठीकसे जानता है, कि यह ० । विद्यायुक्त विद्वान् उसे ठीकसे जानते हुये उसका सेवन नहीं करता, उसे छोड़ता है । उसे सेवन न करते, उसको छोड़ते हुये, उस के अनिष्ट ० धर्म क्षीण होते हैं, इष्ट ० धर्म बढ़ते हैं । सो किस हेतु ?—विद्वान्को ऐसा ही होता है ।

“वहाँ, मित्रुओ ! जो यह वर्तमानमें सुखद, भविष्यमें दुःखद धर्मसमादान है, उसे विद्यायुक्त विद्वान् ठीकसे जानता है, कि यह ० । ० ।

“ ० जो यह वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें सुख ० । ० ।

“ ० जो यह वर्तमानमें सुखद, धर्मसमादान है, उसे विद्यायुक्त विद्वान् ठीकसे जानता है, कि यह ० । ० उसका सेवन करता है, छोड़ता नहीं । उसे सेवन करते, उसे न छोड़ते हुये, उस (पुरुष) के अनिष्ट ० धर्म क्षीण होते हैं, इष्ट ० धर्म बढ़ते हैं । सो किस हेतु ?—विद्वान्को ऐसा ही होता है ।

“मित्रुओ ! कौनसा धर्मसमादान वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें भी दुःखद है ?—(जब) मित्रुओ ! कोई (पुरुष) दुःखके साथ भी, दौर्मनस्यके साथ भी प्राणातिपाती (= हिंसक) होता है । प्राणातिपात (= हिंसा) के कारण दुःख-दौर्मनस्यको झेलता है । दुःख दौर्मनस्यके साथ भी अदिवादायी (= चोरी करनेवाला) होता है । अदिवादान (= चोरी करने) के कारण दुःख दौर्मनस्य भी झेलता है । ० काम-मिथ्याचारी (= ध्वमिचारी) ० । ० भ्रष्टावादी ० । ० सुगुलबोर ० । ० परुष-भाषी ० । ० प्रलापी ० । ० क्षमिध्यालु (= लोभी) ० । ० व्यापन्न-चित्त (= द्वेषी) ० । ० मिथ्या-दष्टि (= झूठी धारणा वाला) ० । वह काया बोध करनेके बाद ० नरकमें उत्पन्न होता है । मित्रुओ ! यह वर्तमानमें दुःखद भविष्यमें दुःखद धर्मसमादान कहा जाता है ।

“मित्रुओ ! कौनसा धर्मसमादान वर्तमानमें सुखद भविष्यमें दुःखद होता है ?—(जब) कोई (पुरुष) दुःख दौर्मनस्यके साथ भी प्राणातिपाती होता है । ० । ० ।

“ ० धर्मसमादान (= धर्मस्वीकार, विचार-स्वीकार) वर्तमानमें दुःखद भविष्यमें सुखद है ? ० । ० ।

“ ० धर्मसमादान वर्तमानमें सुखद, भविष्यमें भी सुखद होता है ?—(जब) मित्रुओ ! कोई (पुरुष) सुख-दौर्मनस्यके साथ भी प्राणातिपातसे विरत होता है । प्राणातिपातसे विरत

^१ कयर ता ही वहाँ भी पाठ है, अन्तमें (२) धर्मसमादान आता है ।

होनेके कारण मुख लौमन्त्यको अनुभव करता है । ० अदिवादान ० । ० । ० मिथ्या-दृष्टि ० । वह काया छोड़ मरनेके बाद ० स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है । भिक्षुओ ! यह वर्तमानमें भी सुखद भविष्यमें भी सुखद धर्मसमादान कहा जाता है ।

“जैसे भिक्षुओ ! विषसे लिप्त कन्या लौका ही, तब कोई जीवनको इच्छा वाला, मरनेकी इच्छा न रखनेवाला, सुखेच्छुक, दुःखानिच्छुक पुरुष आवे । उसे (लोभ) यह कहें—‘हे पुरुष ! यह विषसे लिप्त कन्या लौका है, यदि इच्छा हो तो पिओ । उसे पीते वक्त भी वह तुम्हें कर्ण-गंध-रसमें अच्छा न लगेगा । पीनेके बाद मृत्यु को प्राप्त होगा, या मृत्यु-तुल्य दुःखको । यदि वह बिना सोचे विचारे उसे पिये, छोड़े नहीं; तो उसे पीते वक्त ० मृत्यु-तुल्य दुःखको । भिक्षुओ ! वर्तमानमें दुःखद, भविष्यमें भी दुःखद धर्मसमादानको उस (लौके) के समान कहता हूँ ।

“जैसे, भिक्षुओ ! (सुंदर) वर्ण-रस-गंध भुक्त आकषरो (= चापाजीम कांस) हो, और वह विषसे संलित हो । तब कोई जीवनको इच्छावाला ० पुरुष आवे । ० । उसे पीते वक्त वह वर्ण-गंध-रसमें अच्छा लगेगा; (किन्तु) पीनेके बाद वह मृत्युको प्राप्त होगा, या मृत्यु-तुल्य दुःख को । ० । भिक्षुओ ! वर्तमानमें सुखद और भविष्यमें दुःखद धर्मसमादानको मैं उस (आकषरो) के समान कहता हूँ ।

“जैसे, भिक्षुओ ! नागा औषधियोंसे मिश्रित गोमूत्र (= इति-मुत्त) हो । तब (कोई) पांडुरोगी पुरुष आवे । उसको ऐसा कहें—‘हे पुरुष ! यह नागा औषधियोंसे मिश्रित गोमूत्र है; यदि चाहो तो पिओ । तुम्हें पीते वक्त यह वर्ण-गंध-रसमें अच्छा न लगेगा; (किन्तु) पीनेके बाद तुम सुखी (= निरोग) होगे’ । वह खोच विचारकर उसे पिये, छोड़े नहीं । ० । भिक्षुओ ! वर्तमानमें दुःखद और भविष्यमें सुखद धर्मसमादानको मैं उस (गोमूत्र) के समान कहता हूँ ।

“जैसे, भिक्षुओ ! दही, मधु, घी, खॉइ (= फाणित) एकमें मिला हो । तब (कोई) लोह गिरनेवाला (= अतिशयकारोगी) पुरुष आवे । उसको ऐसा कहें—‘हे पुरुष ! यह एकमें मिला दही, मधु, घी, खॉइ है; यदि चाहो तो पिओ । पीते वक्त यह वर्ण-गंध-रसमें अच्छा लगेगा पीनेके बाद (भी) तुम सुखी रहोगे । ० । भिक्षुओ ! वर्तमानमें भी सुखद और भविष्यमें सुखद धर्मसमादानको मैं उस मिश्रित दधि-मधु-सर्विष्-फाणितके समान कहता हूँ ।

“जैसे, भिक्षुओ ! वर्षाके अन्तिममासमें शरद-कालके समग्र मेघरहित वनमें कमकता हुआ सूर्य सारे आकाशके अंधकारको ध्वस्तकर प्रकाशते, तपे, और माते; ऐसेही भिक्षुओ ! यह वर्तमानमें भी सुखद और भविष्यमें भी सुखद धर्मसमादान, अन्य सारे अमण-आद्याणिके प्रवाद (= मत) को ध्वस्तकर प्रकाशता है, तपता है, मासता है ।”

अगवान्ने यह कथा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने अगवान्के आपणको अभिनंदित किया ।

४७-वीमंसक-सुचन्त (१।५।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आवस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब भगवान्ने मिथुजोंको संबोधित किया—“मिथुजो !”

“मदन्त !”—(कह) उन मिथुजोंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“मिथुजो ! दूसरेके चित्तकी घात न जाननेवाले वीमंसक (= बीमांसक = विमर्शक = सत्वात्मक-परीक्षक) मिथुको सम्यक्-संबुद्ध (= परमार्थ ज्ञानी) है या नहीं यह ज्ञानमेंके लिये तथ्यागत (= लोकगुरु)के विषय में समन्वेषण (= तद्वाकीकृत) करना चाहिये ।”

“साधु, मन्ते ! हमारे धर्मके भगवान् ही मूल हैं *” भगवान्ने सुनकर मिथु उसे धारण करने ।”

“जो मिथुजो ! सुनो, अच्छी प्रकार मनमें धारण करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, मन्ते !”—(कह) उन मिथुजोंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“मिथुजो * विमर्शक मिथुको तथ्यागत के विषयमें चक्षु-श्रोत्र द्वारा जानने धीम्य (= विज्ञेय) धर्मों (= बातों)के संबंधमें जाँच करने चाहिये—जो चक्षु-श्रोत्र-विज्ञेय मलिन धर्म (= पाप) है, वह (इस) तथ्यागतके है, या नहीं ? उसकी जाँच करते हुये (जब) यह यह देखता है—चक्षु-श्रोत्र-विज्ञेय मलिन धर्म तथ्यागतमें नहीं है ।” तब आगे जाँच करता है—जो चक्षु-श्रोत्र-विज्ञेय ध्यतिमिश्र (= पाप-गुण्य-मिश्रित) धर्म है, वह तथ्यागतमें है या नहीं ?—ध्यति-मिश्र धर्म तथ्यागतमें नहीं है ।” तब आगे जाँच करता है—जो चक्षु-श्रोत्र-विज्ञेय अवदात (= पुण्य)-धर्म (= गुण्य) है, वह तथ्यागतमें है, या नहीं ?—* अवदात-धर्म तथ्यागतमें है ।” तब आगे जाँच करता है—दोष कालसे यह आयुष्मान् इस कुशल-धर्म (= गुण्य-आचरण) को कर रहे हैं, या अचिर कालसे हो कर रहे हैं ?—दोषकालसे यह आयुष्मान् इस कुशल-धर्मसे युक्त है, अचिरकालसे नहीं ।” तब आगे जाँच करता है—स्वाति-प्राप्त, यक्ष-प्राप्त इन आयुष्मान् मिथुमें कोई आदिनय (= दोष) है या नहीं ? मिथुजो ! जब तक मिथु स्वाति प्राप्त यक्ष-प्राप्त नहीं होता, तब तक कोई कोई दोष उसमें नहीं आते । जब मिथुजो ! मिथु स्वाति-प्राप्त यक्ष-प्राप्त होता है, तब कोई कोई दोष उसमें आते हैं । उसकी जाँच करते हुये वह यह देखता है—यह आयुष्मान् मिथु स्वाति-प्राप्त यक्ष-प्राप्त है, (और) इनमें कोई दोष नहीं आये है ।” तब आगे जाँच करता है—यह आयुष्मान् मयके बिना विरागी हुये हैं, मयसे तो विरागी नहीं हुये, रामके कण्ठके कारण वीतराग होनेसे (वह) कामों (= भोगों)को नहीं सेवन करते ?—* वीतराग

होनेसे कामोंको सेवन नहीं करते । मिश्रुओ ! उस मिश्रुसे यदि दूसरे यह पूछें—‘(उन) आयुष्मान्-के क्या आकार-प्रकार (= ० अन्वय) हैं, जिससे कि (आप) आयुष्मान् ऐसा कह रहे हैं—यह आयुष्मान् मयके बिना विरागी हुये हैं, मयसे विरागी नहीं हुये; रागके क्षयके कारण वीतराग होनेसे यह कामोंको सेवन नहीं करते ।’ तो ठीक तौरसे उत्तर देते हुये (यह) मिश्रु (उन्हें) ऐसा उत्तर दे—‘क्योंकि संघमें विहरते (= रहते) या अकेले विहरते, यह आयुष्मान्, सुगत (= शून्यमार्गस्थ), दुर्गत (= कुमार्गस्थ)-गण-उपदेशक, आमिष (= मोक्षनाशक)-रक्त, आमिष-अनुपलिप्त (किसीभी व्यक्ति)का विरसकार नहीं करते । मैंने इसे भगवान्के मुखसे सुना है, भगवान्के मुखसे ग्रहण किया है—‘मैं मयके बिना विरागी हूँ, मयसे विरागी नहीं हूँ; रागके क्षयके कारण वीतराग होनेसे मैं कामोंका सेवन नहीं करता ।’

“आगे फिर मिश्रुओ ! तथ्यागतको ही पूछना चाहिये—चक्षु-श्रोत्र-विज्ञेय मलिन धर्म तथ्यागतमें हैं या नहीं ? उत्तर देते वक्त तथ्यागत ऐसा उत्तर देंगे—० मलिन धर्म (= पाप) तथ्यागत में नहीं हैं । ० व्यतिमिश्र (= पाप-गुण-मिश्रित) धर्म ० । ० अवज्ञात-धर्म तथ्यागतमें हैं या नहीं ? ०—अवज्ञात-धर्म तथ्यागतमें हैं । इसी (अवज्ञात-धर्मवाले) पक्षपर मैं (= तथ्यागत) आरुढ़ हूँ, यही मेरा मोचर (= विषय) है; मैं उससे रिक्त नहीं हूँ ।”

“मिश्रुओ ! ऐसे वाद (= सिद्धान्त) वाले शास्ता (= उपदेशक, तथ्यागत)के पास आवक (= शिष्य)को धर्म सुननेके लिये जाना चाहिये । उसे शास्ता, कृष्ण-मुह (= अच्छे बुरे)के विभागके साथ उत्तमोत्तम = प्रणीत-प्रणीत धर्म उपदेशता है । मिश्रुओ ! जैसे जैसे शास्ता उस मिश्रुको ० धर्म उपदेशता है, वैसे वैसे वह यहाँ धर्मोंको समझ कर धर्मोंमेंसे किसी धर्ममें आस्था प्राप्त करता है; शास्तामें श्रद्धा करता है—(हमारे) भगवान् सम्यक्-संशुद्ध हैं, भगवान्का (उपदेश) धर्म स्वाक्यात (= सुन्दर प्रकारसे स्वाक्यात) भगवान्का (शिष्य-)संघ सुप्रतिपन्न (= सुमार्गस्थ) है ।

“मिश्रुओ ! यदि उस मिश्रुको दूसरे ऐसा पूछें—‘(उस) आयुष्मान्के क्या आकार प्रकार है, जिससे (आप) आयुष्मान् (यह) कह रहे हैं—‘भगवान् सम्यक्-संशुद्ध हैं, भगवान्का धर्म स्वाक्यात है, संघ सुप्रतिपन्न है’ ? अच्छी तरह उत्तर देते हुये मिश्रुओ ! (उस) मिश्रुको कहना चाहिये—‘जबसो ! जहाँ भगवान् थे, वहाँ मैं धर्म सुननेके लिये गया । (तब) मुझे भगवान्ने ० उत्तमोत्तम = प्रणीत-प्रणीत धर्म उपदेश दिया ० संघ सुप्रतिपन्न है’ ।”

“मिश्रुओ ! जिस किसी (पुरुष)को इन आकारों = इन पक्षों = इन ध्यंजनोंसे तथ्यागतमें श्रद्धा निविष्ट होती है, मूल-यद् हो प्रतिष्ठित होती है;—‘यह आकारवती दर्शन-भूतक इस श्रद्धा कही जाती है । वह (किसी भी) अमण, ब्राह्मण, देव, भार (= प्रजापति) मद्भा या लोकमें किसीभी (व्यक्ति)से इटाई नहीं जा सकती ।”

“मिश्रुओ ! इस प्रकार धर्म-समन्वेषण होती है; इस प्रकार तथ्यागतकी धर्मता (= तथ्य) का समन्वेषण (= अन्वेषण) होता है ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिश्रुओंने भगवान्के भाषणको अनिर्नदित किया ।

४८—कोसम्बिय-सुचन्त' (१।५।८)

ऐसे मैंने सुना—

एक समय भगवान् कौशाम्बी (= कोसम्बी) के घोषिता-राममें बिहार करते थे।

उस समय कौशाम्बीमें मिथु भंडन करते-कलह करते, विवाद करते एक दूसरेको मुख (रूपी) शक्ति (= हथियार) से बेचते फिरते थे। वह न एक दूसरेको संज्ञापन (= समझाना) करते थे, न संज्ञापनके पास उपस्थित होते थे; न एक दूसरेको निष्ठापन (= समझाना) करते थे, न निष्ठापनके पास उपस्थित होते थे। तब कोई मिथु जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान्को अनिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे उस मिथुने भगवान्से यह कहा—

“वहाँ मन्ते ! कौशाम्बीमें मिथु भंडन करते • बेचते फिरते हैं • न निष्ठापनके पास उपस्थित होते हैं।”

तब भगवान्ने किसी मिथुको संबोधित किया—“भायो, मिथु, तुम मेरे वचनसे उन मिथुनोंसे कदो—आयुष्मानोंको शाखा जुला रहे हैं।”

“अच्छा, मन्ते !”—(कह) भगवान्को उत्तर दे, उस मिथुने जहाँ वह (शाखाजाल) मिथु थे, वहाँ—जाकर उन मिथुनोंसे कहा—आयुष्मानोंको शाखा जुला रहे हैं।”

“अच्छा, आयुस !”—(कह) उस मिथुको उत्तर दे, वह मिथु जहाँ भगवान् थे, वहाँ—जाकर भगवान्को अनिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे उन मिथुनोंको भगवान्ने यह कहा—

“सचमुच मिथुओ ! तुम भंडन करते • न निष्ठापनके पास उपस्थित होते हो ?”

“हाँ, मन्ते !”

“तो क्या मानते हो, मिथुओ ! जिस समय तुम भंडन करते • बेचते फिरते हो; क्या उस समय सनकचारियों (= सवर्भिषों) के प्रति गुप्त और प्रकट तुम्हारा मैत्रीपूर्ण कायिक कर्म, “मैत्रीपूर्ण धार्मिक कर्म, “मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म उपस्थित रहता है ?”

“नहीं, मन्ते !”

“इस प्रकार मिथुओ ! जिस समय तुम भंडन करते •, उस समय • मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म उपस्थित नहीं रहता। तो मोक्ष-पुरुषो ! तुम क्या जानते क्या देखते भंडन करते • बेचते फिरते हो ? • न निष्ठापनके पास उपस्थित होते हो ? मोक्ष-पुरुषो ! यह तुम्हें चिरकाल तक अदित और दुःखके लिये होता।”

तब भगवान्ने (सभी) मिथुनोंको संबोधित किया—“मिथुओ ! यह कः धर्म सारा-

* कोसम् (जि० इलाहाबाद) से ई० पू० ५२१से उपरिष्ठ ।

योग्य=प्रियकारक गुणकारक हैं, (वह) संग्रह (= मेल), अविवाद, सामग्री (= एकता)=एकी-भावके लिये हैं । कौनसे छः ?—मिथुनो ! (१) (जब) मिथुनका सम्बन्धचारियोंके प्रति गुप्त और प्रकट मैत्रीपूर्ण वाचिक कर्म उपस्थित होता है । मिथुनो ! वह भी धर्म साराणीय ० एकीभावके लिये है ।

“और फिर मिथुनो ! (२) ० मैत्रीपूर्ण वाचिक कर्म ० ।

“ ० (३) ० मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म ० ।

“और फिर मिथुनो ! (४) मिथुनके जो धार्मिक धर्मसे प्राप्त लाभ है, चाहे पाप सुपवने मात्र भी; उन लाभोंको शीलवान् सम्बन्धचारियोंके साथ साधारण-भोगी—वैटकर उपभोग करने-वाला होता है । मिथुनो ! वह भी धर्म साराणीय ० ।

“और फिर मिथुनो ! (५) उन शीलों (= सदाचारों) से संयुक्त हो सम्बन्धचारियोंके साथ विहरता है, जो शील कि अ-बल=अ-विद्व (= दोषरहित) अ-शयल=अ-कलम, सेवनीय, विज्ञांसे प्रशंसित, अ-मिन्दित, समाधि-प्राप्तक हैं । मिथुनो ! वह भी धर्म साराणीय ० ।

“और फिर मिथुनो ! (६) उस दृष्टि (= दर्शन, ज्ञान)से युक्त हो, सम्बन्धचारियोंके साथ विहरता है, जो दृष्टि कि आर्य (= निर्मल), निन्ताक है; वैसा करनेवालेको अच्छो प्रकार दुःख-सम्झी ओर लेजाती है । मिथुनो ! वह भी धर्म साराणीय ० ।

“मिथुनो ! वह छः धर्म साराणीय ० एकीभावके लिये हैं । मिथुनो ! जो वह दृष्टि आर्य ० है, वह इन छःओ साराणीय धर्मोंमें अग्र (= श्रेष्ठ) संग्राहक=संघातक (= समूह-प्रधान) है । जैसे मिथुनो ! कृतानारका कूट (= शिखर)अग्र, संग्राहक=संघातक होता है; ऐसे ही जो वह दृष्टि आर्य ० ।

“क्या है मिथुनो ! वह दृष्टि आर्य ० दुःख-सम्झी ओर लेजाती है ?—(१) (जब) मिथुनो ! अल्प, वृक्ष-शामा वा जल्य-आगारमें स्थित मिथु यह सोचता है—क्या मेरे भीतर वह परि-उत्थान (= चंचलता) अक्षीण नहीं हुआ है, जिस पर्युत्थानसे पर्युत्थित चित्त हो मैं यथा-भूत (= यथार्थ)को नहीं जान सकता, नहीं देख सकता । मिथुनो ! यदि मिथु काम-राग (= भोग-इच्छा) से पर्युत्थित होता है, (तो) वह पर्युत्थित-चित्त (= चंचल-चित्त) ही होता है । मिथुनो ! यदि मिथु व्यापाद (= द्वेष)से पर्युत्थित होता है ० । ० स्त्यान-मृद (= काविक मानसिक आलस्य) ० । ० औदत्य-कौटस्य (= उद्वेगपना, हिचकिचाहट) ० । ० शिथिलित्वा (= संशय) ० । ० इस लोककी चिन्तामें कैसा ० । परलोककी चिन्तामें कैसा ० । मिथुनो ! जब मिथु मंडन करते ० शेषते फिरते हैं, (तो) वह पर्युत्थित-चित्त ही होते हैं । वह इस प्रकार जानता है—मेरे भीतर वह पर्युत्थान अ-क्षीण नहीं है ० । मेरा मानस सत्त्वोंके बोधके लिये सुप्रतिष्ठित (= पक्का, निश्चल) है । पृथग्जनो (= जनों)को न होनेवाला यह उसे प्रथम लोकोत्तर आर्य-ज्ञान प्राप्त होता है ।

“और फिर मिथुनो ! (२) आर्यभावक (= सत्पुरुष शिष्य) यह सोचता है—क्या मैं इस दृष्टिको लेखन करते, माचते, षाते अपनेमें शमय (= शान्ति), निर्वृत्ति (= सुख)को पाता हूँ ?—यह इस प्रकार जानता है—० निर्वृत्तिको पाता हूँ । ० यह उसे द्वितीय लोकोत्तर आर्य-ज्ञान प्राप्त होता है ।

“और फिर मिथुनो ! (३) आर्यभावक यह सोचता है—मैं जिस दृष्टिसे युक्त हूँ, क्या इससे बाहर मैं दूसरे अमण भाक्षण ऐसी दृष्टिसे युक्त हूँ ?—० दूसरे अमण भाक्षण ऐसी दृष्टिसे युक्त नहीं हूँ । ० वह उसे तृतीय लोकोत्तर आर्य-ज्ञान प्राप्त होता है ।

“और फिर मिथुनो ! (५) आर्यशास्त्रक यह सोचता है—दृष्टि-सम्पन्न (= आर्य-दर्शन युक्त) पुरुष (= पुद्गल) जैसी धर्मता (= समान, गुण) में युक्त होता है, क्या मैं भी वैसी धर्मतासे युक्त हूँ ?—मिथुनो ! दृष्टि-सम्पन्न पुरुषको यह धर्मता है, कि वह ऐसी आपत्ति (= अपराध) का भागी होता है, जिस आपत्तिसे उद्धान (= उठना) हो सके । (आपत्ति हो जानेके) बाद ही वह शांति या विज्ञान-साक्षात्कारोंके प्राप्त उसकी देशना (= अपराध निवेदन), विवरण (= प्रकट करना) = उच्चारण करता है; वेदना करके, विवरण करके, उत्थान करके अविषयमें संवर (= रक्षा) के लिये तत्पर होता है । जैसे मिथुनो ! अविषय, उत्थान सोनेवाला छोटा बच्चा हाथसे या पैरसे जंगार कुत्तेपर तुरन्त ही समेट लेता है, ऐसे ही मिथुनो ! दृष्टि-सम्पन्नकी यह धर्मता है, कि वह ऐसी आपत्तिका भागी होता है • अविषयमें संवरके लिये तत्पर होता है । (वैसा सोचते) वह जानता है—दृष्टि-सम्पन्न पुरुष जैसी धर्मतासे युक्त होता है, मैं भी वैसी धर्मतासे युक्त हूँ । • यह उसे चतुर्थ लोकोत्तर आर्य-ज्ञान प्राप्त होता है ।

“और फिर मिथुनो ! (५) आर्यशास्त्रक यह सोचता है—दृष्टि-सम्पन्न पुरुष जैसी धर्मतासे युक्त होता है, क्या मैं भी वैसी धर्मतासे युक्त हूँ ?—मिथुनो ! दृष्टि-सम्पन्न पुरुषकी यह धर्मता है कि वह साक्षात्कारोंके छोटे घरे (= उच्चावच) करणोंका भुवाल रखता है, (उनकी) झोल-संबंधिनी, चित्त-संबंधिनी, प्रज्ञा-संबंधिनी शिक्षाओंमें वह तीन अंगना (= अंगना) रखता है । जैसे मिथुनो ! छोटे बच्चेवाली माय घास चरती जाती है, और बच्चेकी ओर देखती रहती है, ऐसे ही मिथुनो ! दृष्टि-सम्पन्न पुरुषकी यह धर्मता है • । (वैसा सोचते) वह जानता है—• मैं भी वैसी धर्मतासे युक्त हूँ । • यह उसे पंचम लोकोत्तर आर्य-ज्ञान प्राप्त होता है ।

“और फिर मिथुनो ! (६) आर्यशास्त्रक यह सोचता है—दृष्टि सम्पन्न पुरुष जैसी बलतासे (= सामर्थ्य) में युक्त होता है, क्या मैं भी वैसी बलतासे युक्त हूँ ?—मिथुनो ! दृष्टि-सम्पन्न पुरुषकी यह बलता है, कि दृष्टि-सम्पन्न पुरुष तत्वागतके वतलासे धर्म-विनय (= धर्म) के उपदेश किये जाते समस्त • मन लगाकर चित्तको एकत्र कर ज्ञान लगा धर्मको सुनता है । (वैसा सोचते) वह जानता है—• मैं भी वैसी बलतासे युक्त हूँ । • यह उसे षष्ठ लोकोत्तर आर्यज्ञान प्राप्त होता है ।

“और फिर मिथुनो ! (७) आर्यशास्त्रक यह सोचता है—• क्या मैं भी वैसी बलतासे युक्त हूँ ?—मिथुनो ! दृष्टि-सम्पन्न पुरुषकी यह बलता है, कि तत्वागतके वतलासे धर्म-विनयके उपदेश किये जाते समय (वह) अर्थ-वेद (= अर्थ-ज्ञान) को पाता है, धर्म-वेदको पाता है, धर्म सम्बन्धी प्रामोद (= प्रमोद) को पाता है । (वैसा सोचते) वह जानता है—• मैं भी वैसी बलतासे युक्त हूँ । • यह उसे सप्तम लोकोत्तर आर्यज्ञान प्राप्त होता है ।

“मिथुनो ! इस प्रकार स्रोत-आपत्ति-फलके साक्षात्कारके लिये सात अंगोंसे युक्त आर्यशास्त्रकी इस प्रकार सुसमन्विष्ट (= अच्छी प्रकार जोड़ी गई) धर्मता होती है । मिथुनो ! इस प्रकार सात अंगोंसे युक्त आर्यशास्त्रक स्रोत-आपत्ति-फलसे युक्त होता है ।”

मगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिथुनोंमें मगवान्ने आपणको अभिनन्दित किया ।

* त्रिभोग-ग्रामी पय स्त्री नदीके स्रोतपर निवसतया नाक्य स्मृति ।

४६-वद्धा-निमन्तनिक-सुत्तन्त (१।५।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आचस्तीमें अनार्थापिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भदन्त !”—(यह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—“एक समय मैं भिक्षुओ ! उक्कुट्टाके सुभगवनमें शालराजके नीचे विहरता था। उस समय भिक्षुओ ! घक (नामक) ब्रह्माको ऐसी बुरी धारणा उत्पन्न हुई थी—
‘यह (ब्रह्मलोक) निरा है, ध्रुव, शाश्वत, केवल (= शुद्ध), अनन्त्यवन-धर्मा (= जहाँने च्युति नहीं होती) है, यह स जन्मता है, न जीर्ण होता है, न भरता है, न क्षुप्त होता है, न उपजता है। इससे आगे दूसरा निस्सरण (= भिक्षुओंका स्थान) नहीं है।’

“तब भिक्षुओ ! मैं चित्तसे एक ब्रह्माके चित्तकी बात जानकर, जैसे बलवान् पुरुष (अप्रमाद) अपनी फैलादे घाँहकी समेट ले, या समेटीको फैलादे, ऐसे ही उक्कुट्टाके सुभगवनमें शालराजके नीचे अन्तर्धान हो उस ब्रह्मलोकमें (जाकर) प्रकट हुआ।

“भिक्षुओ ! घक ब्रह्माने दूरसे ही मुझे आते देखा। देखकर मुझसे यह कहा—‘आओ मार्ग !’ स्वागत, मार्ग ! चिरकालके बाद मार्ग ! वहाँ जाना हुआ। मार्ग ! यह निरा है ० इससे आगे दूसरा निस्सरण नहीं है।’

“भिक्षुओ ! ऐसा कहने पर मैंने घक ब्रह्माको यह कहा—‘अविद्यामें पड़ा है, अहो ! वह ब्रह्मा, अविद्यामें पड़ा है, अहो ! वह ब्रह्मा, जो कि अनिरय होतेको निरय कहता है ० इससे आगे (= पकड़) दूसरा निस्सरण होते भी, इससे आगे दूसरा निस्सरण नहीं है—कहता है।

“तब भिक्षुओ ! पापात्मा मार एक ब्रह्म-पार्षदके (प्ररीरके) भीतर प्रविष्ट हो मुझसे बोला—
‘भिक्षु ! भिक्षु ! मत इन (ब्रह्मा) का अपमान करो, मत इनका अपमान करो। भिक्षु ! यह ब्रह्मा है, महाब्रह्मा, अभिभू (= विजेता), अन्-अभिभूत, (सर्व-) दर्शी, वशावर्ती, हेतुवर, (घृष्टि-) कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्रष्टा, वशी, भूत-भक्ष्य (प्राणियों) के पिता है। भिक्षु ! तुझसे पूर्व भी लोकमें पृथिवी-निन्दक, पृथिवी-शुश्रूषु, ब्रह्म-निन्दक ०, तेज-निन्दक ०, अन्तु-निन्दक ०, भूत-निन्दक ०, देव-निन्दक ०, प्रजापति-निन्दक ०, ब्रह्मा-निन्दक ०, अमण ब्राह्मण हुये थे; वह काया शोष प्राणके विच्छेद होनेपर हीन कायामें प्रतिष्ठित हुये। भिक्षु ! तुझसे पूर्व भी लोकमें पृथिवी प्रशंसक = पृथिवी-अभिनिन्दी, ०, ० ब्रह्मा-प्रशंसक ०, अमण ब्राह्मण हुये थे; वह काया शोष प्राणके विच्छेद होनेपर उत्तम कायामें प्रतिष्ठित हुये। तो मैं भिक्षु ! तुझे यह कहता हूँ—जरे मार्ग ! जो कुछ ब्रह्मा तुझे

१ देवताओंका समान व्यक्तिने शाव-संशोधनका शब्द।

कहें, तू वही कर, मत ब्रह्माके वचनका अतिक्रमण कर । यदि तू मिथु ! ब्रह्माके वचनका अतिक्रमण करेगा; तो जैसे आदमी जाती की (= लक्ष्मी) को इन्टेंसे लौटा दे, या जैसे आदमी नरकके प्रपात (= खड्ग) में गिरता हाथ-पैरसे पृथिवीको विरक्त (= त्यक्त) करे, ऐसी ही हालत मिथु ! तेरी होगी । अरे माय ! जो कुछ ब्रह्मा तुझे कहें, तू वही कर, मत ब्रह्माके वचनको अतिक्रमण कर । क्यों मिथु ! ब्रह्मा (= ब्रह्माकी) परिषद्को बैठी देख रहा है तू ?' इस प्रकार मिथुओ ! पाषाणमात्रा ब्रह्मा परिषद्की ओर (मेरा कपाल) ले गया ।

“ऐसा कहतेपर मिथुओ ! मैंने पाप्मा ब्रह्मको यह कहा—‘पापी ! मैं तुझे जानता हूँ, मत समझ कि मैं तुझे नहीं जानता । पापी ! तू मार है । पापी ! जो ब्रह्मा है, जो ब्रह्म-परिषद् है, और जो ब्रह्मपार्षद हैं, सभी तेरे हाथमें हैं, सभी तेरे वशमें हैं । पापी ! तुझे ऐसा होता है, यह (= मैं) भी मेरे हाथमें आये, यह भी मेरे वश में हो । किन्तु पापी ! मैं तेरे हाथमें नहीं आया, मैं तेरे वशमें नहीं हुआ हूँ ।

“ऐसा कहतेपर मिथुओ ! वह ब्रह्माने तुझे यह कहा—‘माय ! मैं तिस्र होतृहीको नियम कहता हूँ, * आगे दूसरा निस्सरण न होने ही पर, आगे दूसरा निस्सरण नहीं है—कहता हूँ । मिथु ! तुझसे पूर्व भी लोकमें अमण ब्राह्मण हुये । जितनी तेरी सारी आयु है, उतना उनका (केवल) तप-कर्म (का समय) था । यह आगे दूसरा निस्सरण होनेपर ‘आगे दूसरा निस्सरण है’, आगे दूसरा निस्सरण न होनेपर ‘आगे दूसरा निस्सरण नहीं है’, यह जान सकते थे । सो मिथु ! मैं तुझसे यह कहता हूँ, तू आगे दूसरा निस्सरण नहीं देख पायेगा, सिर्फ परेशानीका भागी बनेगा । यदि मिथु ! तू पृथिवीकी अध्येषणा (= प्रार्थना) करेगा, तो तू मेरा पार्श्वपर, गृह-धायी, यथेष्टकारी, स्वल्पकारी होगा । यदि मिथु तू जलकी ०, तेजकी ०, वायुकी ०, भूतकी ०, देवताकी ०, प्रजापतिकी ०, ब्रह्माकी ० ।

“ब्रह्मा ! मैं भी इसे जानता हूँ, (कि) यदि मैं पृथिवीकी अध्येषणा करूँगा, तो मैं तेरा पार्श्वपर ० होऊँगा । ० । ब्रह्माकी ० । किन्तु ब्रह्मा ! मैं तेरी गति (= निरपत्ति), और प्रभाव (= क्षति) को जानता हूँ—ऐसा महर्षिक (= महाकृद्भिषाळा) वहक ब्रह्मा है, ऐसा महाबुभाव (= महाप्रभावशाली) वहक ब्रह्मा है, ऐसा ब्रह्मिणाली (= महेसन्ध) वहक ब्रह्मा है ।’

“‘क्या तू माय ! मेरी गति, क्षतिको जानता है—ऐसा महर्षिक वहक ब्रह्मा है ० ?’

‘चौद-सूर्य जितनेको धारण करते हैं, (जितनी) दिशाएँ प्रकाशसे प्रकाशित होती हैं ।

उसने हजार लोक यहाँ (= जगत्में) तेरे वशमें हैं ।

तू रामो-विरागियोंके वार-वारको जानता है ।

प्राणियोंके हृत्थमाय, अन्यथा-माय, गति और अ-गतिको जानता है ।

“‘ब्रह्मा ! इस प्रकार मैं तेरी गति क्षतिको जानता हूँ—ऐसा महर्षिक ० । ब्रह्मा ! और भी तीन काय (= लोक-समूह) हैं, जिन्हें तू नहीं जानता देखता, (किन्तु) मैं उन्हें जानता देखता हूँ । ब्रह्मा ! आभास्वर नामक (देव-) काय है, जहाँसे च्युत होकर कि तू यहाँ उत्पन्न हुआ । चिराकालके (यहाँके) निवाससे तुझे उसका स्मरण नहीं, जितसे तू उसे नहीं जानता देखता, (किन्तु) उसे मैं जानता देखता हूँ । इस तरह भी ब्रह्मा ! अभिज्ञा (= ज्ञान) में मैं तेरे बराबर नहीं हूँ बल्कि तुझसे परकर हूँ : कम कहाँसे हूँगा । ब्रह्मा ! शुभकृत्स्न नामक (देव-) काय भी है, ० । ब्रह्मा ! बृहन्पल नामक (देव-) काय भी है ० बल्कि तुझसे परकर हूँ । ब्रह्मा ! मैं पृथिवीकी

पृथिवीके तौरपर जानकर, जो (निर्वाण) = पृथिवीके पृथिवीत्वसे परे है, उसे भी जानकर, मैंने (कृष्णाकी दृष्टि, या सावके ग्रहणसे) पृथिवीको नहीं (पकड़ा) था, पृथिवीका नहीं था, पृथिवीसे नहीं था, पृथिवी मेरी है (यह मुझे) नहीं हुआ; पृथिवीका अभिवादन (= प्रशंसा) मैंने नहीं किया। इस तरह भी मझा ! अभिज्ञानमें मैं तेरे धरावर नहीं, बल्कि तुझसे बहुत ऊँचा, कम कहाँसे हूँगा। मझा ! मैं जलको जलके तौरपर जानकर ० । ० तेजको ० । ० वायुको ० । ० शून्यको ० । ० देवताको ० । ० प्रजापतिको ० । ० ब्रह्माको ० । मझा ! मैं सर्व (= सारे विश्व) को सर्वके तौरपर जानकर ० सर्व मेरा है (यह मुझे) नहीं हुआ, ० ।

“ यदि मार्ष ! तेरा सर्व (= सारा) सर्वत्वसे अनु-अनुभूत (= अनु-प्राप्त) है; तो तेरा (सारा वचन) रिक्त (= खाली, निरर्थक) = तुच्छ ही है ! ”

“ विज्ञान अनु-निर्वाण (= अनुभूत अनु-विषय) है, अमृत (और) सर्वत्र अनु-प्राप्त है; यह पृथिवीके पृथिवीत्वसे अनु-प्राप्त है, जलके जलत्वसे अनु-प्राप्त है, तेजके तेजस्त्वसे अनु-प्राप्त है, वायुके वायुत्वसे अनु-प्राप्त है, शून्यके ०, देवोंके ०, प्रजापतिके ०, ब्रह्माके ० आमास्वरोंके ०, सुभहत्तनोंके ०, बृहत्तल्लोकके ०, सर्वके सर्वत्वसे अनु-प्राप्त है । ”

“ हन्त ! मार्ष ! तुझे मैं (अपनी दिव्यशक्तिके) अन्तर्धान करता हूँ । ”

“ हन्त ! मझा ! यदि चाहता है तो तू मुझे अन्तर्धान कर । ”

“ तब भिक्षुओं ! एक मझाने (१६ मनोबल को लगाया —) ‘अमण गौतमको अन्तर्धान करूँ, अमण गौतमको अन्तर्धान करूँ—किन्तु मुझे अन्तर्धान नहीं कर सका। ऐसा होने पर भिक्षुओं ! मैंने एक मझाको यह कहा—‘हन्त ! मझा ! मैं तुझे अन्तर्धान करता हूँ ।’ ‘हन्त ! मार्ष ! यदि चाहता है, तो मुझे अन्तर्धान कर ।’ तब भिक्षुओं ! मैंने इस प्रकारका कृद्धि-वचन प्रयोग किया, कि जिससे मझा, मझ-परिपद, और मझ-पार्षद मेरे शब्दको सुनते थे, किन्तु मुझे देखते न थे; और अन्तर्धान हुये मैंने यह गाथा कही—

“ भव (= संसार) में भयको देखकर, और भयको विभयका हृत्पुट (देख) ;

मैंने भयका स्वागत नहीं किया, और नन्दी (= तुष्णा) को नहीं स्वीकार किया ।

“ तब भिक्षुओं ! मझा, मझ-परिपद और मझ पार्षद आश्चर्य चकित होगये—‘आश्चर्य भो ! अनुसुत भो !! अमण गौतमकी महा-कद्विमत्ता, = महा-अनुभावता !!! वह शाक्यपुत्र, शाक्यकुलसे प्रसूत अमण गौतम जिस प्रकारका है, ऐसा महाद्विक = महानुभाव दूसरा अमण या ब्राह्मण हमने इससे पहिले नहीं देखा । अहो ! भयमें लुप्त, भय-रत, भय-समुदित (= भयसे उत्पन्न) मझाका इसने उद्घाटन किया । ”

“ तब भिक्षुओं ! पापी मारने एक मझ-पार्षदमें आवेश कर मुझे यह कहा—‘यदि मार्ष ! तू ऐसा जानता है, यदि तू ऐसा अनुबुद्ध (= ज्ञानी) है, (तो) मत आवकोंको (इस धर्ममार्ग पर) लेता, मत प्रव्रजितों (= संन्यासियों) को लेता, मत आवकोंको धर्म उपदेश कर, मत प्रव्रजितों को धर्म-उपदेश कर । मत आवकों के विषयमें लोभ कर, मत प्रव्रजितोंके विषय में (लोभ कर) । भिक्षु ! तुझसे पूर्व भी लोकमें अहंत्व, सम्यक्-संयुद्धका दावा करनेवाले अमण हुये थे । वह आवकों प्रव्रजितोंको (अपने धर्ममार्ग पर) ले गये, आवकों प्रव्रजितोंको (उन्होंने) धर्म-उपदेश किया, आवकों प्रव्रजितोंके विषयमें लोभ किया । वह आवकों प्रव्रजितोंको लेताकर, ० धर्म-उपदेश कर, ० लोभ कर, काया लोभ प्राणोंके विच्छेद होनेपर हीन काय (= योनि) में प्रतिष्ठित हुये । भिक्षु ! (किन्तु) तुझसे पूर्व लोकमें (दूसरे भी) अहंत्व सम्यक्-संयुद्धका दावा करनेवाले अमण हुये । वह आवकों प्रव्रजितोंको (अपने धर्ममार्ग पर) न ले गये, ० धर्म-उपदेश नहीं किया, ० लोभ नहीं

किपा, वह ०, काया छोड़ प्राणोंके विच्छेदके बाद उत्तम काय (= योनि)में प्रतिष्ठित हुये। तुझे भिक्षु ! मैं यह कहता हूँ—'अरे मार्व ! तू बेपनी हो वर्तमानके सुख-विहारसे मुक्त हो विहार कर, मार्व ! आश्चर्य न करना सुन्दर है, भत दूसरोंको उपदेश कर ।'

'ऐसा कहनेपर भिक्षुओ ! मैंने पापी मार्वसे कहा—'पापी ! मैं जानता हूँ तुझे; तू भत समझ कि मैं तुझे नहीं पहिचानता। पापी ! तू मार है। पापी ! हित, अनुकम्पक हो तू मुझे यह नहीं कह रहा है। पापी ! अहित, अन्-अनुकम्पक हो तू मुझे यह कह रहा है। पापी ! तुझे ऐसा हो रहा है—अमण मौतम जिनको धर्म-उपदेश करेगा, वह मेरे विषय (= अधिकार)से निकल जायेंगे। पापी ! (उपदेश न देनेवाले) वह अमण ब्राह्मण सम्यक् संबुद्ध न होते हुये, 'हम सम्यक् संबुद्ध हैं'—दावा करते थे। पापी ! आदकोंको उपदेश करते भी तथागत वैसे ही हैं, ० न उपदेश करते भी ०, आदकोंको उपनयन (= धर्ममार्गपर ले जावा) करते भी ०, ० न उपनयन करते भी ०। सो किस हेतु ?—तथागतके वह आक्षेप (= चित्त-मल) क्षीण होगये, उच्छिन्न-मूल होगये, सिरकटे ताड़से होगये, अभावको प्रसन्न होगये, मविष्यमें न उत्पन्न होने लायक होगये; जो (आक्षेप)कि समल, पुनर्जन्मकारक, मय-युक्त, दुःख-विपाकवाले, मविष्यमें जरा-मरण देनेवाले हैं। जैसे पापी ! सिरकटा ताड़ फिर घड़नेके अयोग्य है, ऐसे ही पापी ! तथागतके वह आक्षेप क्षीण होगये ० मविष्यमें न उत्पन्न होने लायक होंगये ।"

इस प्रकार यह (सूत्र) मार्वके अन्-उत्थापन (= प्रलोभनमें न पड़ने)के लिये, और ब्राह्मके निर्मत्तन (= निमंथन)ले (कहा गया), इसलिये इस व्याकरण (= उपदेश)का नाम ब्राह्म-निमन्तनिक पड़ा।

५०—भारतउजनीय-सुत्तन्त (१।५।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् महामोगलान (= महामौगल्यवाहन) भरी (देश) में सुंसुमार-गिरि के भेसकलापन मृगदास में बिहार करते थे ।

उस समय आयुष्मान् महामोगलान खुली जगहमें टहल रहे थे । उस समय पापी मार आयुष्मान् महामोगलानकी कुक्षिमें घुसा था, कोठेमें प्रविष्ट हुआ था । तब आयुष्मान् महामोगलानको ऐसा हुआ—अरे ! क्यों मेरा पेट जड़ मरसा गुबगुबा रहा है । तब आयुष्मान् महामोगलान टहलने के स्थानसे उत्तर बिहार (= कोठरी) में प्रवेश कर बिस्ते आसनपर बैठे । बैठ कर आयुष्मान् महामोगलान अपने मनमें कारण खोजने लगे । (तब) आयुष्मान् महामोगलानने पापी मारको कुक्षिमें सुना • ऐसा । देखकर पापी मारको यह कहा—“निकल, पापी ! मत तयागत या तयागतके श्रावक (= शिष्य) को मत्ता, मत (यह) चिरकाल तक तेरे लिये बहिष्कर दुःखकर हो ।” तब पापी मारको यह हुआ—“यह श्रमण मुझे बिना जाने, बिना देखे यह कह रहा है—‘निकल, पापी ! •’ । जो इसका शास्त्र (= गुरु) है, वह भी मुझे जल्दी नहीं जान सकता, यह श्रावक (= शिष्य) मुझे क्या जानेगा ?”

तब आयुष्मान् महामोगलानने पापी मारको यह कहा—“पापी ! मैं यहाँ तुझे पहिचान रहा हूँ, तू मत समझ—(यह) मुझे नहीं पहिचानता । तू मार है पापी ! मुझे यह हो रहा है, पापी !—‘यह श्रमण मुझे बिना जाने, बिना देखे, मार कह रहा है • यह श्रावक मुझे क्या जानेगा ।’

तब पापी मारको यह हुआ—“यह श्रमण मुझे जान कर ही, देखकर ही, ऐसा कह रहा है—निकल पापी ! • दुःख कर हो ।” तब पापी मार आयुष्मान् महामोगलानके मुखसे निकल कर किवाचके सामने खड़ा हुआ ।

आयुष्मान् महामोगलानने मार पापीको किवाचके सामने खड़ा देखा । देखकर मार पापी को यह कहा—पापी ! यहाँ भी मैं तुझे देखता हूँ । तू मत समझ—यह मुझे नहीं देख रहा है । पापी ! यह तू किवाच (= अर्जुन) के सामने खड़ा है । पापी ! भूतकालमें मैं दुस्ती नामक मार था । उस (समय) मेरी काली नामक बहिन थी, उसका तू पुत्र था, इस तरह (तब) तू मेरा भाता था । पापी ! उस समय भगवान् ककुत्स्थ (= ककुत्स्थ) अर्हत् सम्बन्ध-संबुद्ध लोकमें उपपन्न हुये थे । अर्हत् सम्बन्ध-संबुद्ध भगवान् ककुत्स्थके विधुर और संजीव नामक प्रधान श्रावक-गुरु (= शिष्योंकी गोपी), मद्र-गुरु था । पापी ! • भगवान् ककुत्स्थके जितने श्रावक थे, उनमें कोई धर्म-उपदेश करनेमें आयुष्मान् विधुरके बराबर नहीं था । इसी (विधुर = अ-समान) मतवशसे आयुष्मान् विधुरका ‘विधुर’ नाम पड़ गया । और आयुष्मान् संजीव अस्थ,

दृक्छाया या शुक्ल-आगारमें बिना कठिनाईके संज्ञा-वेदित-निरोध (- समाधि) में प्राप्त हो जाते थे । पापी ! किसी एक समय आधुष्मान् संजीव एक वृक्षके नीचे संज्ञा-वेदित-निरोध (समाधि) में स्थित थे । तब गोपालकों, पशुपालकों, कृषकों, घटोहियाने आधुष्मान् संजीवको एक वृक्षके नीचे संज्ञा-वेदित-निरोध (समाधि) में स्थित हो बैठे देखा । देखकर उनके (मनमें) यह हुआ—आश्चर्य है ! अद्भुत है ! यह भ्रमण बैठेही बैठे भर गया, आओ ! इसे जता दें । ...तब वह गोपालक ० गृण, काष्ठ, कंडा जमाकर, (उसपर) आधुष्मान् संजीवके शरीरको रखकर जाग दे चले गये । ...तब आधुष्मान् संजीव उस रातके प्रोतनेपर उस समाधिसे उठकर, चौकरी (- वल्ली) की झाड़कर पूर्वाह्न समय पहिचकर पात्र-बीजर से गोपीमें पिडचारके लिये प्रविष्ट हुये । ...उस गोपालकों ० ने आधुष्मान् संजीवको पिडचार करते देखा । देखकर उन्हें यह हुआ—'आश्चर्य है ! अद्भुत है ! यह भ्रमण बैठेही बैठे भर गया था, और (अब) संजीवित (= जीवित) हो गया । पापी ! इसी (संजीवित होने) के मतलबसे आधुष्मान् संजीवका संजीव नाम पड़ गया ।

'तब फिर' भारको यह हुआ—इन शीलवान्, कल्याणधर्मा भिक्षुओंको मैं गति अ-गतिको नहीं जानता; क्यों न मैं ब्राह्मण गृहस्थोंको भरमाऊँ—आओ ! तुम शीलवान् कल्याणधर्मा भिक्षुओंको निन्दो, परिहास करो, विज्ञाओ, सताओ; जिसमें कि तुमसे निन्दित, परिहास किये, विज्ञाये, सताये जानेपर इनके चित्तमें विकार पैदा हो; फिर दूसरी भारको मौका मिल जाये । ...तब पापी ! दूसरी भार द्वारा इस-भरमाये वह ब्राह्मण गृहस्थ इन शीलवान्, कल्याणधर्मा भिक्षुओंको निन्दने लगे ०—'यह नीच, काले, बदमाके पदसे ऊपर, सुंदर भ्रमण—इन ध्वानी है—यह जमिमान करते अधोमुख आछरी हो ध्याते (= ध्यान लगाते) हैं, प्र-ध्याते, नि-ध्याते, अप-ध्याते हैं; जैसेकि उल्टे वृक्षकी शाखापर चूहेकी तलाशमें ध्याता है, प्रमाता ०; ऐसे ही यह नीच ० अप-ध्याते हैं । जैसेकि, गीद्व (= कोन्धु) नदीके तीरे मछलियोंकी तलाशमें ध्याता है ० । जैसेकि पिछो कोने-पासाने-झूमें चूहोंकी तलाशमें ध्याता है ० । जैसेकि लापोसे छूटा गददा, कोने-पासाने-झूमें ध्याता है ० । पापी ! उस समय जो मनुष्य मरते थे, (उसी पापसे) अधिकतर काया छोड़ मरनेके बाद अपाव, दुर्गति=विनिपात, नरकमें उत्पन्न होते थे ।

'तब ० भगवान् ककुत्स्थने भिक्षुओंको संबोधित किया—भिक्षुओ ! ब्राह्मण-गृहपति दूसरी भार द्वारा भरमाये गये हैं—'आओ ! तुम ० दूसरी भारको मौका मिले । आओ, भिक्षुओ ! तुम मैत्रोयुक्त चित्तसे एक दिशाको पूर्णकर विहार करो, वैसे ही दूसरी (दिशा) की, वैसे ही तीसरीकी, वैसे ही चौथीकी । इस प्रकार ऊपर नीचे जावे-वेवे भी सबका ब्याहकर, सबके हितार्थ, विपुल, महान, प्रमाणरहित, वैररहित, व्यापाद (= हिंसा)-रहित, मैत्रोयुक्त चित्तसे सारे लोकको पूर्णकर विहरो । तुम करुणायुक्त चित्तसे ० सारे लोकको पूर्ण कर विहरो । तुम मुदितायुक्त चित्तसे ० । तुम उपेक्षायुक्त चित्तसे ० ।'

'...तब ० भगवान् ककुत्स्थ द्वारा इस प्रकार उपदेशित, अनुपासित हो, (वह भिक्षु) अरण्य, दृक्छाया या शुक्ल-आगारमें (जहाँ भी) रहते मैत्रोयुक्त चित्तसे ० सारे लोकको पूर्णकर विहस्ते थे । करुणायुक्त ० । मुदितायुक्त ० । उपेक्षायुक्त ० ।

'तब पापी ! दूसरी भारको यह हुआ—ऐसा करते भी इन शीलवान् (= सदाचारी) कल्याणधर्मा भिक्षुओंकी गति, आगतिको मैं नहीं जान सका, क्यों न मैं ब्राह्मण-गृहपतियोंको भरमाऊँ—'आओ ! तुम इन ० भिक्षुओंका सत्कार=सुन्दर, मानन=पूजन करो, बता जाने ... तुम्हारे सत्कार ० करनेसे इनके चित्तमें विकार पैदा हो; जिसमें कि दूसरी भारको मौका मिले ।'

“तब दूसी बार द्वारा भरमाने (= आवेश किये) ब्राह्मण गृहपतियोंमें ० मिथुओंका सत्कार किया।

“पापी ! उस समय जो मनुष्य मरते थे, (उनमें) अधिकतर काया छोड़ मरनेके बाद सुगति धर्मलोकमें उत्पन्न होते थे।

“तब ० भगवान् ककुत्स्थने मिथुओंको संबोधित किया—‘मिथुओं ! ब्राह्मण-गृहपति दूसी बार द्वारा भरमाने गये हैं—आओ ! तुम ० । आओ, मिथुओं ! कायामें अशुभ (= गंदगी) देखते, आहारमें प्रतिकूलताका स्वाद रखते, सारे लोकमें वैराग्य रखते, सारे संस्कारोंमें (= कृत, उत्पन्न वस्तुओं)में अनिच्छता देखते बिहरो’।

“तब ० भगवान् ककुत्स्थ द्वारा इस प्रकार उपदेशित-अनुशासित हो, अरण्यमें, वृक्षके नीचे, या शून्य-आगारमें रहते वह मिथु कायामें अशुभ देखते ० बिहरने लगे।

“तब ० भगवान् ककुत्स्थ पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्र-चीवर ले आयुष्मान् विधुरको पीछे पीछे ले गाँवमें पिंड (= मिश्रा) के लिये प्रविष्ट हुये। तब दूसी बारने एक यज्ञमें आवेश करके रोषा ले आयुष्मान् विधुरके सिरमें प्रहार किया। सिर फट गया। आयुष्मान् विधुर जून गिरते पड़े सिरसे भी ० भगवान् ककुत्स्थका अनुगमन करते रहे। तब ० भगवान् ककुत्स्थने माग-अवलोकन (= नाम ग्रहाण्य जैसा अवलोकन) किया। दूसी बार इस मंत्रको नहीं जानता था। अवलोकन मात्र हीसे दूसी बार अपने स्थानसे झुल हो महानरकमें उर्लें उत्पन्न हुआ।

“उस महानरकके तीन नाम थे—छा-स्पर्श-आयतनिक,^१ स-अंकुश-आहत, और प्रयात्म-वेदनीय। तब मेरे (= दूलीके) पास आकर नरकवालोंने यह कहा—‘मार्य ! जब (शरीरके चारों ओरसे प्रहारित होते) शूल तेरे हृदयमें आकर एक दूसरेसे मिल जायें, तब समझना, कि नरकमें पकते तुझे एक हजार वर्ष हो गये’। सो पापी ! मैं उस महानरकमें अनेक वर्षों, अनेक शतवर्षों अनेक सहस्रवर्षों तक पकता रहा। उस हजार वर्ष तक उसी नरकके उत्सव (= उपनयन)में इस वेदनाको सहते पकता रहा। उस (समय) मेरा शरीर मनुष्य जैसा था, और मेरा सिर मज्जीका था।

वह नरक कैसा था, जिसमें दूली पकता रहा ;
विधुर आक और ककुत्स्थ ब्राह्मणको सता कर ?
सौ लोहके शूल थे जो सभी हर एकको वेदना देनेवाले थे।
ऐसा वह नरक था, जिसमें दूली पकता रहा।
विधुर आक और ककुत्स्थ ब्राह्मणको सताकर।
जो बुद्धका आक मिथु इसे जानता है,
ऐसे मिथुको सताकर काले दुःखको पाता है ॥ (१) ॥

शरीरके बीचमें कल्प-पर्यन्त रहने वाले विमान हैं,
(जो कि) वैदूर्यवर्ण, रुचिर, अर्चि-मान-प्रभास्वर हैं।
अलग अलग नाना वर्णोंकी अप्सरायें वहाँ नाचती हैं।
जो बुद्धका आक ० काले दुःखको पाता है ॥ (२) ॥

जिसने बुद्धकी प्रेरणासे मिथु-संघके देखते हुये,
सृगार-भाताके प्रासादको पैरके अँगूठेमें कैपा दिया ।^१

जो बुद्धका आवक ० ॥ (३) ॥

जिसने वैजयन्त प्रासादको पैरके अँगूठेमें कैपा दिया ।

और कद्रि-यलसे पूर्ण जिसने देवताओंको उद्दिष्ट किया ।

जो बुद्धका आवक ० ॥ (४) ॥

जिसने वैजयन्त प्रासादमें शक्रको पूजा—

‘क्या आबुस ! तू तुम्हारे क्षयवाली मुक्तिको जानता है ?’

उसके पूछनेपर शक्रने यवातया उत्तर दिया ।

जो बुद्धका आवक ० ॥ (५) ॥

जिसने सुधर्मामें, समाके सामने ब्रह्माको पूजा—

‘आबुस ! आज भी मेरी वही दृष्टि है, जो पहिले थी ,

तु ब्रह्मलोकमें उस प्रभास्वर वीतिवत्त (= यरिवर्तन)को देखता है ?’

तब उसे ब्रह्माने कमलाः यवातया उत्तर दिया—

‘मार्घ ! मेरी वह दृष्टि नहीं है, जो पहले थी ।

मैं ब्रह्मलोकमें उस प्रभास्वर वीतिवत्तको देखता हूँ ।

तो मैं आज कैसे कह सकता हूँ कि, मैं शास्वत हूँ ।

जो बुद्धका आवक ० ॥ (६) ॥

जिसने मझमेरुके शिल्लको विमोक्ष (= ध्यान)से सू द्रिया ।

पूर्व चिदेहके प्रसक्तों, और जो भूमिपर सोनेवाले मर रहे (= उन्हें)भी ।

जो बुद्धका आवक ० ॥ (७) ॥

अग्नि नहीं चाहती, कि मैं बाल (= सुख)को चाहूँ ।

बालही जलती आगमें भिड़ कर जलता है ।

इसी प्रकार मार ! तू तथामागसे काम करके

आग पकड़ते बालकी भाँति मर्य जलेगा ।

मार ! तथामागसे काम कर तूने (बहुत) पाप कमाया ।

यार्थ ! क्या तू समझता है, कि तुझे पाप नहीं पकायेगा ?

अन्ततक, चिरकालतक करते रहनेसे पाप संचित होजाता है ।

मार ! बुद्धसे दृढ़ जा, मिथुनोंले (गिरनेकी) आशा मत कर ।

इस प्रकार मिथुने भेसकलावनने मारको डोँटा ।

तब वह यथ उदात्त हो वहीं अन्तर्धान होगया ॥

५-(इति बृह-यमक-वग्ग १५)

इति मूल-पञ्चासक १ ।



मज्झिम-परणासक

[द्वितीय-पंचाशक ५१-१००]

पुस्तकालय-संयोजक

पुस्तकालय-संयोजक

अथ मज्झिम-परणासक

५१-कन्दरक-सुत्त (२।१।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् बड़े भारी मिथु-संघके साथ चम्पा में गङ्गा-पुष्करिणीके तीर विहार करते थे ।

तब हाथीवान्का पुत्र ऐस्स और कन्दरक परिभाजक जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर • ऐस्स भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया, और कन्दरक परिभाजक भगवान्के साथ • कुशल प्रश्न पूछ एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे कन्दरक परिभाजकने सुषचाप बैठे मिथु-संघको देखकर भगवान्से यह कहा—

“आश्चर्य ! भो गौतम ! अद्भुत !! भो गौतम ! आप गौतमने कैसे अच्छी तरह मिथु-संघको पताचा है । हे गौतम ! भूत-कालमें भी जो अर्हत् सम्यक्-संजुह हुये, इन भगवानेने भी इतने ही मात्र अच्छी तरह मिथु-संघको प्रतिपन्न किया (= पताचा) होगा; जैसा कि इस वक्त आप गौतमने अच्छी तरह मिथु-संघको प्रतिपन्न किया है । भो गौतम ! भविष्य-कालमें भी जो अर्हत् सम्यक्-संजुह होंगे • ।”

“ऐसा ही है, कन्दरक ! ऐसा ही है, कन्दरक ! जो कोई कन्दरक ! भूत कालमें अर्हत् सम्यक्-संजुह हुये • । • भविष्य-कालमें अर्हत् सम्यक्-संजुह होंगे • । कन्दरक ! इस मिथु-संघमें क्षीणाक्षर, (वक्त्रचर्य-) वास्तवनास, कुत-कृत्य, आरमुक्, सत्य-अर्थ-प्राप्त, भय-बंधन-मुक्त, सम्यग्ज्ञान-द्वारा-मुक्त अर्हत् भी हैं । कन्दरक ! इस मिथु-संघमें निरन्तर शील(-युक्त), निरन्तर (सु-) दृति (-युक्त), सन्तोषी, सन्तोष-वृत्ति-युक्त तैजस (= सीखनेवाले) भी हैं, जोकि चारों स्मृति-प्रस्थानों-में स्थिर-चित्त हो विहरते हैं । कौनसे चार (स्मृति-प्रस्थानों) में ?—• धर्मोंमें धर्मानुपश्यी • ।

ऐसा कहनेपर • ऐस्सने भगवान्से यह कहा—

“आश्चर्य ! भन्ते ! अद्भुत !! भन्ते ! भगवान्ने भन्ते ! प्राणियोंकी विभुश्रिके लिये, शोक-पीडा हटानेके लिये, दुःख = दीर्घमनस्य मिटानेके लिये, न्याय (= परमज्ञान) की प्राप्ति के लिये, निर्वाणके भाषात्कारके लिये, इन चार स्मृति-प्रस्थानोंको कितनी अच्छी तरह बतलाया है । इतनेवक्त्रधारी हम गृही भी समय समयपर, इन चार स्मृति-प्रस्थानोंमें चित्तको सुप्रतिष्ठित कर विहरते हैं । भन्ते ! हम कायामें • काय-अनुपश्यी विहरते हैं • धर्मोंमें धर्मानु-पश्यी विहरते हैं । आश्चर्य ! भन्ते ! अद्भुत !! भन्ते ! इनकी मनुष्योंकी गहनता (= दुरुह)

* देखी सतिपट्ठान-सुत्त (५४ ३५-४०)

(होनेपर भी) इतने मनुष्योंके कलह (= मैल), इतनी मनुष्योंकी घाटा होनेपर भी, मन्ते ! मगवान् प्राणिनोंके हिताहितको देखते हैं । मन्ते ! मनुष्य गहन हैं, मन्ते ! जो पशु हैं वह उत्तान (= खुले, सरल) हैं । मन्ते ! मैं हाथीके स्वभावको जानता हूँ, स्वप्नामें जितने समयमें वह (= हाथी) समन-आगमन करेगा, (बघरी) सजी घाटा, कुटिलता, बकता = विज्ञाताको प्रकट कर देगा । किन्तु, मन्ते ! हमारे दास=प्रेम्य या कर्मकर हैं, (वह) कामात्मे कुराही करते हैं, वचनमे दूसरा कहते हैं और उनके चित्तमें और ही होता है । आश्चर्य ! मन्ते ! अद्भुत !! मन्ते ! मनुष्योंकी इतनी गहनता • जो पशु है, वह उत्तान है । ”

“यह ऐसा ही है ऐस्स ! यह ऐसा ही है ऐस्स ! जो मनुष्य गहन हैं, पशु उत्तान हैं । ऐस्स ! लोकमें यह चार (प्रकार)के पुद्गल (= पुरुष) होते हैं । कौनसे चार ?—ऐस्स ! (१) यहाँ कोई पुद्गल आत्मंतप—अपनेको संताप देनेवाले कामोंमें लगा होता है, (२) “कोई पुद्गल परंतप—परको संताप देनेवाले उद्योगोंमें लगा होता है, (३) “कोई पुद्गल आत्मंतप-परंतप होता है—अपनेको संताप देनेवाले उद्योगोंमें भी लगा होता, परको संताप देनेवाले उद्योगोंमें भी लगा होता है, (४) “कोई पुद्गल न आत्मंतप-न-परंतप होता है—(वह) न अपनेको संताप देनेवाले उद्योगोंमें लगा होता, न परको संताप देनेवाले उद्योगोंमें लगा होता है । अन्-आत्मंतप-अ-परंतप हो, वह जात, सुखी, शीतल (स्वभाव), सुख-अनुभव, मग्ननूत (= विमुक्त) -आत्मासे विहरता है । ऐस्स ! इन चार पुद्गलोंमें कौनसा तेरे चित्तको पसन्द आता है ?”

“मन्ते ! जो यह आत्मंतप • पुद्गल है, वह मेरे चित्तको पसन्द नहीं है । जो यह परंतप • पुद्गल है, वह भी • पसन्द नहीं है । जो यह आत्मंतप-परंतप • पुद्गल है, वह भी पसन्द नहीं है । जो यह अन्-आत्मंतप-अ-परंतप • पुद्गल है, वह • मुझे पसन्द है ।”

“ऐस्स ! क्यों यह तीन पुद्गल तेरे चित्तको पसन्द नहीं है ?”

“मन्ते ! जो आत्मंतप • पुद्गल है, वह सुखेच्छुक, दुःख-प्रतिकूल हो अपनेको आतापित परितापित करता है, इसलिये मन्ते ! यह पुद्गल मेरे चित्तको पसन्द नहीं आता । जो यह मन्ते ! परंतप • पुद्गल है, यह सुखेच्छुक दुःख-प्रतिकूल दूसरेको आतापित परितापित करता है । इसलिये मन्ते ! यह पुद्गल • । जो यह मन्ते ! आत्मंतप-परंतप • पुद्गल है । यह सुखेच्छुक, दुःख-प्रतिकूल अपनेको और दूसरेको • । जो यह मन्ते ! • अन्-आत्मंतप-अ-परंतप • पुद्गल • मग्ननूत-आत्मासे विहरता है, यह सुखेच्छु दुःख-प्रतिकूल हो अपने और परके चित्तको नहीं तपाता, न संताप देता, इसलिये मन्ते ! यह पुद्गल मेरे चित्तको पसन्द आता है । इन्त ! मन्ते ! अब हम जाते हैं, बहुकृत्य-बहुकरणीय हैं हम, मन्ते !”

“जिसका ऐस्स ! तू समय समझता है, (बैसा कर) ।”

तब हाथीवान्का पुत्र ऐस्स मगवान्के माथनको जमिनदित अनुमोदित कर आसन्ने उठ, मगवान्को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चला गया ।

तब ऐस्सके जानेके बोधे हो समय बाद मगवान्ने मिथुजोंको संबोधित किया—

“मिथुजो ! ऐस्स पछित है । महाप्रज्ञ है मिथुजो ! ऐस्स । यदि मिथुजो ! ऐस्स सुहृत्तर भर और बैठता, जितनेमें कि मैं इन चारों पुद्गलोंको विस्तारसे विनाजित करता, (तो वह) यों अर्थसे सुख होजाता । परन्तु, इतनेसे भी मिथुजो ! ऐस्स यों अर्थसे सुख है ।”

“इसीका मगवान् ! समय है, इसीका सुगत ! काह है, कि मगवान् इन चारों पुद्गलोंको विस्तारसे विनाजित करें । मगवान्ने सुनकर मिथु धारण करेंगे !”

“तो मिथुजो ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, बध्ता हूँ ।”

“जल्दा, मन्ते !”—(कह) उन मिथुनोंने भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ने यह कहा—“मिथुओ ! कौनसा पुद्गल आत्मंतप—अपनेको संताप देनेवाले कामोंमें लड़ा है ?—मिथुओ ! यहाँ कोई पुद्गल अचेतक (= नंगा) ०^१ ऐसे अनेक प्रकारसे कावके आतापन सन्तापनके व्यापारमें लड़ा हो विहरता है । मिथुओ ! यह पुद्गल आत्मंतप ० कहा जाता है ।

“मिथुओ ! कौनसा पुद्गल परंतप ० है ?—मिथुओ ! यहाँ कोई पुद्गल औरधिक (= भेड़ मारनेवाला), शूकरिक, शाकुन्तिक, मार्गविक (= घृग मारनेवाला), रुद्र, मत्स्य-घातक, चौर, चौरघातक, कन्धनागारिक (= जेलर) और जो दूसरे भी क्रूर व्यवसाय हैं (उगका करनेवाला होता है) । मिथुओ ! यह पुद्गल परन्तप ० कहा जाता है ।

“मिथुओ ! कौनसा पुद्गल आत्मंतप-परंतप ० है ?—मिथुओ ! यहाँ कोई पुरुष स्वो-पिष्टिक शक्तिव राजा होता है या महाशाल (= महाधनो) बाधण होता है । वह नगरके पूर्व द्वार पर नये संस्थागार (= गृहशाला) को बनवा दारी-मैल झुँका वस्-अग्नि धारणकर वी तेकसे शरीर को चुपड़, मृगके सींगसे पीठको चुनकाते डूधे (अपनी) महिषो (= पटरानी) और बाधण पुरोहितके साथ संस्थागारमें प्रवेश करता है । वह वहाँ गोबरसे ज़िपी नंगी भूमिपर शय्या करता है । समान रूपके बच्चेवाली एक (ही) गायके एक स्तनके दूधसे राजा गुजारा करता है; जो दूसरे स्तनमें दूध है, उससे महिषो गुजारा करती है; जो तीसरे स्तनमें दूध है, उससे बाधण पुरो-हित ०; जो चौथे स्तनमें दूध है, उससे अग्निमें हवन करता है; शेष बचेसे बछ्वा ० । वह (यज-मान) ऐसा कहता है—बछ्वाके लिये हूतने बैल मारे जायें, ० बछ्वा ०, ० हूतनी बछियाँ ०, ० हूतनी बकरियाँ ०, ० हूतनी भेड़ें, ०, ० हूतने वृद्ध काटे जायें, वेदी (= वहिष)के लिये हूतना कुश काटा जावे । जो इसके दास=ग्रेष्य या कर्मकर होते हैं, यह भी दंडसे तर्जित, भयभीत अधु-मुख होते कामोंको करते हैं । मिथुओ ! यह कहा जाता है आत्मंतप-परंतप ० पुद्गल ।

“मिथुओ ! कौनसा पुद्गल अन्-आत्मंतप-अ-परंतप ० है ?—मिथुओ ! यहाँ (लोकमें) तथागत ० उत्पद्य होते हैं ०^२ चतुर्गुह्यमानको प्राप्त हो विहरता है ।

“सो वह इस प्रकार चित्तके ‘एकाग्र, परिशुद्ध ०’^३ भव यहाँ करनेके लिये कुछ शेष नहीं है—यह जान लेता है । मिथुओ ! यह कहा जाता है अन्-आत्मंतप-अ-परंतप ० पुद्गल ० ।”

भगवान्‌ने यह कहा, समुत्पद्य हो उन मिथुनोंने भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दित किया ।

^१ देखो पृष्ठ ४८ ।

^२ देखो पृष्ठ १११ ।

^३ देखो पृष्ठ १५-१६ (वाक्योंमें उत्तम पुरुषके

५२—अटुकनागर-सुत्तन्त (२।१।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् आनन्द वैशालीके केतुवगामक (= वेतुग्राम) में विहरते थे ।

उस समय अटुकनागर दसम गृहपति किसी कामसे पाटलिपुत्र आया हुआ था । तब दसम गृहपति, जहाँ कुष्कुटाराममें कोई भिक्षु था, वहाँ गया; जाकर उस भिक्षुको अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे ० दसम गृहपतिने उस भिक्षुसे यह कहा—“भन्ने ! आयुष्मान् आनन्द इस समय कहाँ विहार करते हैं ? हम उन आयुष्मान् आनन्दके दर्शनाकांक्षी हैं ।”

“गृहपति ! आयुष्मान् आनन्द वैशालीके केतुवगामकमें विहार कर रहे हैं ।”

तब ० दसम गृहपति पाटलिपुत्रमें उस कामको करके, जहाँ वैशाली थी, जहाँ केतुवगामकमें आयुष्मान् आनन्द थे, वहाँ गया । जाकर आयुष्मान् आनन्दको अभिवादन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठे दसम गृहपतिने आयुष्मान् आनन्दसे यह कहा—

“भन्ने, आनन्द ! क्या उन भगवान् ज्ञाननहार, देखनहार अर्हत् सम्यक्-संमुखने ऐसा एक धर्म उपदेश किया है, जिसमें प्रमादरहित, एकाग्रतायुक्त चित्त हो विहरते, भिक्षुका अ-सुक्त चित्त विमुक्त (= मुक्त) हो जाये, अक्षीण आत्मत्व क्षीण हो जाये, अ-प्राप्त अनुपम योग-क्षेम (= निर्वाण) प्राप्त हो जाये ?”

“किया है गृहपति ! उन भगवान् ० ने ऐसे एक धर्मका उपदेश ० अनुपम योगक्षेम प्राप्त हो जाये ।”

“भन्ने आनन्द ! उन भगवान् ० ने ऐसा कौनसा एक धर्मका उपदेश किया है ० ?”

“यहाँ गृहपति ! भिक्षु कामसे विरहित ०^१ प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह ऐसा सोचता है—‘अरे ! यह प्रथम-ध्यान भी संसृष्ट (= कृत) = अमि-संसृष्ट = अमिसंकेतयित है । जो कुछ भी संसृष्ट ० है, वह अनित्य = निरोध-धर्मों है’—यह समझता है । उस (ध्यान) में अवस्थित हो आत्माओं (= चित्त-मत्तों) के क्षयको प्राप्त होता है । यदि आत्माओंके क्षयको प्राप्त नहीं होता, तो उसी धर्म-अनुरागसे = उसी धर्म-नन्दीसे पाँचो अवसर-भागोय (= ओरभगिय) संयो-जनोंके क्षयसे उस लोकसे फिर न लौटकर वहाँ निर्वाणको प्राप्त होनेवाला औपपातिक (= जयो-मित्र देव) होता है । गृहपति ! वह भी उन भगवान् ० ने ऐसे एक धर्मको उपदेश किया है ० ।

“और फिर गृहपति ! ०^१ द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह ऐसा सोचता है ० । वह भी उन भगवान् ० ने ऐसे एक धर्मका उपदेश किया है ० ।

“और फिर गृहपति ! ०^१ तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह ऐसा सोचता है ० ।

^१ देखो ४४ १५ ।

“और फिर गृहपति ! ०” चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यह ऐसा सोचता है ० ।

“और फिर गृहपति ! मिश्र मैत्री-युक्त चित्तसे एक विज्ञाको परिपूर्ण कर विहरता है। जैसे ही दूसरी ०” । मैत्री-युक्त चित्तसे सारे लोकको परिपूर्ण कर विहरता है। वह करुणा-युक्त चित्तसे ० । मुद्रिता-युक्त चित्तसे ० । उपेक्षा-युक्त चित्तसे ० । वह यह सोचता है—० ।

“और फिर गृहपति ! मिश्र रूप-संज्ञाको सर्वथा छोड़नेसे, प्रतिहिंसाकी संज्ञाओं (= कपाल) के सर्वथा अस्त हो जानेसे, नावापनकी संज्ञाओंके न करनेसे, ‘आकाश अनन्त’ है, इस आकाश-आनन्द-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। वह यह सोचता है—० ।

“और फिर गृहपति ! मिश्र आकाशानन्द-आयतनको सर्वथा अतिप्रमणकर ० ३ विज्ञान-आनन्द-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। वह यह सोचता है—० ।

“०” आकिंचन्प-आयतनको प्राप्त हो विहरता है। वह यह सोचता है—० ।

“०” नैव-संज्ञा-न-असंज्ञा-आयतन ० । वह यह सोचता है—० ।”

ऐसा कहनेपर अट्टकनागर दसम गृहपतिने आयुष्मान् जानन्दसे यह कहा—“मन्ते आनन्द ! जैसे पुरुष एक निधि-मुक्त (= अजानेके मुँह) को खोजता एक ही बार म्यारह निधि-मुक्तोंको पा जाये ऐसेही मन्ते आनन्द ! मैंने एक अमृत-द्वारको खोजते, एकही द्वार म्यारह अमृतद्वार सुननेको पाये। मन्ते आनन्द ! जैसे (किसी) पुरुषके पास म्यारह द्वारोंवाला आगार हो, वह उस घरमें आग कम जानेपर किसी एक द्वारसे अपनी रक्षा कर सकता है; ऐसे ही मन्ते आनन्द ! मैं इन म्यारह अमृतद्वारोंमेंसे किसी एक अमृत-द्वारसे अपनी स्वस्ति (= मंगल) कर सकता हूँ। यह, मन्ते। दूसरे तीर्थ (= मत) वाले भी आचार्यकी (पूजाके) लिये आचार्य-धन (= आचार्यको देने लायक पूजा द्रव्य) की खोज करते हैं; फिर मैं क्यों न आयुष्मान् आनन्दकी पूजा करूँ ?”

तब, दसम गृहपतिने पाटलिपुत्रके तथा वैशालीके मिश्र-संघको एकत्रित कर, अपने हाथसे उत्तम खाद्य-भोग्यद्वारा सन्तुष्टित = सम्प्रवासित किया; एक एक मिश्रको एक एक दुस्स-पुत्रा (= पूसेका बच्चा, भानबच्चा) बोवाया, और आयुष्मान् आनन्दको तीनों चौहरों (= मिश्रके तीन वक्त्र—संघाटी, उत्तरसर्ग, अन्तर्वासक) से आच्छादित किया; तथा आयुष्मान् आनन्दके लिये पाँचसौ विहार (= रहनेकी ओढरियाँ) बनवाये।

५३—सेख-सुत्तन्त (२।१।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् शाक्य (ऐल) में कपिलवस्तुके न्यायोधाराममें विहार करते थे ।

इस समय कपिलवस्तुके शाक्योंने अभीही अभी एक नया संस्थागार (= गण-संस्थाका आगार) बनवाया था; भ्रमण ब्राह्मण या किसी मनुष्य-भूत द्वारा जिसका अभी उपयोग नहीं हुआ था । तब कपिलवस्तुके शाक्य जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठ कपिलवस्तुके शाक्योंने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! यहाँ (हम) कपिलवस्तुके शाक्योंने अभी ही अभी एक नया संस्थागार बनवाया है ० । इसका भन्ते ! भगवान् पहिले उपयोग करें । भगवान्के पहिले परिभोग करलेनेके बाद कपिलवस्तुके शाक्य इसका परिभोग करेंगे । यह कपिलवस्तुके शाक्योंको चिरकालतकके-हित सुखके लिये होगा ।”

भगवान्ने मौनसे स्वीकार किया । तब कपिलवस्तुके शाक्य भगवान्की स्वीकृतिको जानकर, आसनसे उठ भगवान्को अभिवादनकर प्रदक्षिणाकर, वहाँ संस्थागार था, वहाँ गये । जाकर संस्थागारमें सब ओर फर्छा बिछा, आसनोंको स्थापित कर, पावीके मटके रख, तेलके प्रदीप आरोपित कर; जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर भगवान्को अभिवादनकर ० एक ओर खड़े हो—

“भन्ते ! संस्थागार सब ओरसे बिछा हुआ है, आसन स्थापित किये हुये हैं, पावीके मटके रखे हुये हैं, तेल-प्रदीप आरोपित किये हैं । भन्ते ! अब भगवान् जिसका काल धर्ममें (पैसा) करें ।”

तब भगवान् पहिले कर पाव-धीवर ले, मिथुसंघके साथ जहाँ संस्थागार था, वहाँ गये । जाकर पैर पखार, संस्थागारमें प्रवेश कर, पूर्वकी ओर मुँह कर बैठे, मिथु संघ भी पैर पखार ० पच्छिमकी मोतके सहारे भगवान्को आगे कर बैठा । कपिलवस्तुवाले शाक्य भी पैर पखार, संस्थागारमें प्रवेश कर पच्छिमकी ओर मुँह कर पूर्वकी मोतके सहारे भगवान्को सम्मुख रख कर बैठे । तब भगवान्ने कपिलवस्तुके शाक्योंको बहुत रात तक धार्मिक कथासे संदर्शित = समादित, सुसुत्तेजित, सम्प्रशस्ति कर आमुष्मान् आनन्दको संवोधित किया—

“आनन्द ! अब कपिलवस्तुके शाक्योंकी धाकी उपदेश तु कर; मेरी पीठ जगिया रही है; सो मैं लेटूँगा ।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) आमुष्मान् आनन्दने भगवान्को उत्तर दिया ।

तब भगवान्ने चौपैती संघाटी (= मिथुकी ऊपरी दोहरी चदर) बिछवा, दाहिनी कर-वटके धल, पैरपर पैर रख, स्मृति-सम्प्रज्ञत्यके क्षण, उत्थानकी संज्ञा (= क्याल) मनमें कर सिंह-शय्या जगाई ।

तब आमुष्मान् आनन्दने महानाम शाक्यको संवोधित किया—

“महानाम ! (जप) आर्य श्रावक शील (= सदाचार) से युक्त, इन्द्रियों संयत (= गुप्त-द्वार), भोजनमें मात्राको जाननेवाला, जागरणमें तत्पर, सात सख्दमोंके सहित, इसी जन्ममें सुखसे विहारके उपयोगी चारों चेतसिक धानोंका पूर्णतया लामी (= पानेवाला), बिना कठिनाईके लामी = (अ-कष्ट-लामी) होता है ।

“महानाम ! कैसे आर्यश्रावक शील-संयत होता है ?—जप महानाम ! आर्यश्रावक शीलवान् (= सदाचारी) होता है । प्रातिमोक्ष (= भिक्षुनियम)-संवर (= रक्षा) से संयुक्त (= रक्षित) हो विहरता है । आचार-गोचर-संपन्न (हो) अशुभाज दोषोंमें भी मग्न देखनेवाला (होता है) । शिक्षापदों (= सदाचार-नियमों) को स्वीकार कर (उनका) अन्वय करता है । इस प्रकार महानाम ! आर्यश्रावक शील-संयत होता है ।

“महानाम ! कैसे आर्यश्रावक इन्द्रियोंमें गुप्तद्वार होता है ?—जप महानाम ! आर्यश्रावक चक्षु (= आँख) से रूपको देख कर न निमित्त (= आकार, रंग) का ग्रहण करनेवाला होता है, न जलुर्ध्वजन (= लक्षण) का ग्रहण करनेवाला होता है । जितर विषयमें चक्षु-इन्द्रियके अ-संयुक्त (= अ-रक्षित) हो विहरनेपर अभिप्रा (= जोम), दोर्मनस्व (रूपी) पाप = बुराईयाँ आ घुसती हैं; उसके संवर (= रक्षा) में तत्पर होता है, चक्षु-इन्द्रियकी रक्षा करता है = चक्षु-इन्द्रियमें संवरयुक्त होता है । श्रोत्रसे शब्द सुन कर ० । घ्राणसे गंध सूँघ कर ० । जिह्वासे रस चख कर ० । कायासे कप्रष्टव्य (विषय) को स्पर्श कर ० । मनसे धर्मोंको जान कर ० । मन-इन्द्रियमें संवर-युक्त होता है; इस प्रकार महानाम ! आर्यश्रावक इन्द्रियोंमें गुप्तद्वार होता है ।

“कैसे महानाम ! आर्यश्रावक भोजनमें मात्राका जाननेवाला होता है ?—महानाम ! भिक्षु ठीकसे जानकर आहार ग्रहण करता है, कौवा, भद, मंदन-विभूषणके लिये न करके (उतना ही आहार सेवन करता है) जितना कि शरीरकी स्थितिके लिये (आवश्यक) है, (भूखके) प्रकोपके क्षमनकरने तथा मण्डचर्यमें सहायताके लिये (आवश्यक है) । (यह सोचते हुये, कि) पुरानी (कर्म-विपाक रूपी) वेदनाओं (= पीड़ाओं) को स्वीकार करेगा, नई वेदनाओंके उत्पन्न होनेकी (नीकत) न आने लेंगा, मेरी शरीरबान्ना निर्दोष होगी, और विहार निर्द्वन्द्व होगा । इस प्रकार महानाम ! आर्यश्रावक भोजनमें मात्राज्ञ होता है ।

“कैसे महानाम ! आर्यश्रावक जागरणमें तत्पर होता है ?—महानाम ! भिक्षु दिनमें दहलखे बैठने ०^१ या (अन्य) आचरणीय धर्मोंसे चित्तको झुझ करता है । इस प्रकार ० ।

“कैसे महानाम ! आर्यश्रावक सात सख्दमों से युक्त होता है ?—महानाम ! भिक्षु (१) श्रद्धालु होता है—तथागतकी बोधि (= परमज्ञान) में श्रद्धा करता है—‘वह भगवान् अर्हत ०’^२ देव-मनुष्योंके जाला बुद्ध भगवान् हैं । (२) ह्रीमान् (= लजाशील) होता है—कायिक, वाचिक, मानसिक बुराचारोंसे लजित होता है, पापों-बुराईयोंके आचरणसे लजित होता है । (३) अपजयो (= संकोची) होता है—० पापों-बुराईयोंके आचरणसे संकोच करता है । (४) बहुभुत श्रुत-धर-श्रुत-संचयी होता है—जो वह धर्म आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याण, सार्वक-स-स्योजन हैं, (जो) केवल, परिपूर्ण, परिशुद्ध मण्डचर्यको पकानते हैं, वैसे धर्म (= उपदेश) उसके बहुत सुने, वचनसे धारित, परिचित, मनसे चिन्तित, दृष्टि (= दर्शन, ज्ञान) से अवगाहित (= प्रतिबिम्ब) होते हैं । (५) आरब्धवीर्य (= उद्योगी) होता है—बुराईयों (= अकृशाल-धर्मों)

^१ देखो पृष्ठ २६२ ।

^२ देखो पृष्ठ २४ ।

के छोड़नेमें, और भलाइयोंके ग्रहण करनेमें, स्थिर रह-पराक्रमी होता है। भलाइयोंमें स्थिर, अ-निश्चिन्त-धुर (= कृपा न उतार फेंकनेवाला) होता है। (६) स्मृतिमान् होता है—परम परिपक्व स्मृति (= याद)से युक्त होता है। चित्तकालके किये और कहेका स्मरण करनेवाला, अनुस्मरण करनेवाला होता है। (७) प्रज्ञावान् होता है—उत्पत्ति-विनाशको प्राप्त होनेवाला, अच्छी तरह दुःखके सबकी ओर से जानेवाली आर्य निर्वैधिका (= वस्तुके वह तक पहुँचनेवाली) प्रज्ञासे युक्त होता है। इस प्रकार महानाम ! ० ।

“कैसे महानाम ! आर्यआवक इसी जन्ममें सुख-विहारके उपयोगी चारों चेतसिक ध्यानोका पूर्णतया लाभो, विना कठिनाईके लाभो, अकृच्छ-लाभो होता है ?—महानाम ! आर्यआवक कार्यों से विरहित ०^१ प्रथम-ध्यानको ० । ०^२ द्वितीय-ध्यानको ० । ०^३ तृतीय-ध्यानको ० । ०^४ चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। इस प्रकार महानाम ! ० ।

“जब महानाम ! आर्यआवक इस प्रकार शील-सम्पन्न होता है, इस प्रकार इन्द्रियोंमें गुप्तद्वार होता है, इस प्रकार भोजनमें भावग्रस्त होता है, इस प्रकार जागरणमें तत्पर (= अनुयुक्त) होता है, इस प्रकार सात सद्धर्मों^५ से सम्मन्वित होता है, इस प्रकार ० चारों चेतसिक ध्यानोका पूर्णतया लाभो ० होता है। महानाम ! वह आर्यआवक दीक्ष्य (= निर्धोष प्राप्तिके लिये जिसे अभी कुछ करना है) प्रातिपद (= मार्गाब्द) कहा जाता है। (वह) न-जड़े-जड़े (की भाँति) (पुरुष) निर्मेद (= वह तक पहुँचने)के योग्य है, संशोध (= परमज्ञान)के योग्य है, अनुपम योग-क्षेम (= निर्धोष)की प्राप्तिके योग्य है।

“कैसे महानाम ! आठ, दस या बारह सुगीके जड़े हों ०^६ तो भी वह चूने पाद-नखसे या सुख-मुँहसे भेड़को फोड़कर स्वस्तिपूर्वक निकल आनेके योग्य हैं, ऐसे ही महानाम ! जब आर्यआवक इस प्रकार शील-सम्पन्न होता है ०, तो महानाम ! यह आर्यआवक दीक्ष्य ० कहा जाता है, ० (वह) अनुपम योग-क्षेमकी प्राप्तिके योग्य है।

“महानाम ! वह आर्यआवक इसी अनुपम स्मृतिकी परिशुद्धि (करनेवाली) उपेक्षा^७ द्वारा अनेक प्रकारके पूर्व निवासों (= पूर्वजन्मों)को स्मरण करने लगता है ०^८ इस प्रकार आकार और उद्देक्षसहित अनेक प्रकारके पूर्व निवासोंको स्मरण करने लगता है। यह महानाम ! सुगीके चूनेका अग्नेके कोतसे पहिला फूटना होता है।

“महानाम ! फिर वह आर्यआवक इसी ० उपेक्षा द्वारा अ-मानुष विभुद दिव्य, चक्षुसे ०^९ कर्मानुसार गतिको प्राप्त होते प्राणियोंकी पहिचानता है। यह महानाम ! ० दूसरा फूटना है।

“महानाम ! फिर वह आर्यआवक इसी ० उपेक्षा द्वारा आसुर्योंके अपसे आत्मरहित चित्त-विमुक्ति (= मुक्ति) प्रज्ञा-विमुक्तिको इसी जन्ममें जानकर साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरता है। यह महानाम ! ० तीसरा फूटना है।

“महानाम ! जो कि आर्यआवक शील-सम्पन्न होता है, यह भी उसके स्मरण (= यद् वा आचरण)में है। जो कि महानाम ! आर्यआवक इन्द्रियोंमें गुप्तद्वार होता है, यह भी उसके स्मरणमें है। ० भोजनमें भावग्रस्त ० । ० जागरणमें अनुयुक्त ० । ० सात सद्धर्मोंसे संयुक्त ० । ० चार आभिवेत्तसिक (= हृद् चित्तवाले) ध्यानोका पूर्णतया लाभो ० ।

“महानाम ! जो कि आर्यआवक अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको जानता है ०^{१०} । यह भी उसकी विद्यामें है। ० विभुद दिव्य-क्षु ०^{११} । ० आसुर्योंके अप ०^{१२} ।

“महानाम ! ऐसे आर्यवाक्क विद्या-सम्पन्न कहा जाता है, इस प्रकार चरण-सम्पन्न (कहा जाता है) । इस प्रकार विद्या-चरण-सम्पन्न (होता है) ।

“महानाम ! सनत्कुमार ब्रह्मने भी यह गाथा कही है—

‘गोपिका बाल करनेवाले लोगोंमें जन्मसे क्षत्रिय श्रेष्ठ है ।

जो विद्या-चरण-सम्पन्न है, वह देव-मनुष्योंमें (सबसे) श्रेष्ठ है ॥’

“महानाम ! सनत्कुमार ब्रह्मकी गाई यह गाथा सु-गीता (= उचित कथन) है, दुर्गीता नहीं; सुनायिता है, दुर्नायिता नहीं; अर्थ-युक्त है अर्थ-अर्थ-युक्त नहीं; भगवान् द्वारा भी (यह) अनुमत है ।”

तब भगवान्ने उठकर आयुष्मान् आनन्दको संबोधित किया—

“साधु, साधु (= शाश्वत), आनन्द ! तुने कपिलवस्तुके शाक्योंके लिये जैश्व भार्गवा अच्छी तरह व्याख्यान किया ।”

आयुष्मान् आनन्दने यह कहा, शास्ता (= कुह) उसने सहमत हुये । कपिलवस्तुके शाक्योंने आयुष्मान् आनन्दके भाषणको अभिनेदित किया ।

५४-पोतलिय-सुत्तन्त (२।१।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् अंगुत्तरायण (देश) में अंगुत्तराणोके आपण नामक निगम (= कस्ते) में विहार करते थे^१ ।

तब भगवान् पूर्वाह्न समय (चीकर) पहिनकर पात्र-चोकर ले, भिक्षा-चारके लिये आपणमें प्रविष्ट हुये । आपणमें पिंड-चार करके पिंड-पात्र (= भोजन)-समाप्तकर, एक वन-खंडमें दिनके विहारके लिये गये । भीतर जाकर दिनके विहारके लिये एक वृक्षके नीचे बैठे । पोतलिय गृह-पति भी निवासन (= पोत्राक) प्राचरण (= चार) पहिने, जाता नृता आरण किये, जंघा-विहार (= चहल-कदमो) के लिये टहलता, जहाँ वह वनखंड था वहाँ गया । वनखंडमें घुसकर, जहाँ भगवान् थे, वहाँ पहुँचा । जाकर भगवान् के साथ "संमोदन कर" (और) एक ओर खड़ा हो गया । एक ओर खड़े हुये पोतलिय गृह-पतिको भगवान् ने यह कहा—

"गृहपति ! आत्मन विद्यमान है, यदि चाहते हो, तो बैठो ।"

ऐसा कहनेपर पोतलिय गृह-पति—'गृहपति (= गृहस्थ, वैश्य) कहकर मुझे अमण गौतम

^१ (यहाँ अट्टकथामें है)—"अज्झरी यह वनपद है । मही (१ गंगा) नदीके उत्तरमें जो पानी है, उसके अ-दूर उत्तर होनेसे उत्तरायण कहा जाता है । किंतु महीके उत्तरमें" " १ महीमहीके ।" " यह जम्बुद्वीप दश-सहस्र-योजन बड़ा है । इसमें चार द्वार योजन प्रदेश जलसे ढका होनेसे, समुद्र कहा जाता है । (और) तीन द्वार योजनमें मनुष्य बस्ते हैं । तीन द्वार योजनमें चौरासी द्वार नृप्यो (= कोठियों) से सुशोभित, चारों ओर बहती पाँच सौ नदियोंसे विविध, पाँच सौ योजन लंबा हिमवान् (= हिमालय) है । जहाँपर कि—तम्वारि, लीकरी, गहराईमें पचास पचास योजन; जेरेमें केदली योजन, अनंततल-दह, कण्ठमुंड-दह, रथकार-दह, छदन्त-दह, कुमाळ-दह, मंदाकिनी सिङ्गपपास्तक (= सिङ्ग-पपास्तक) यह सात महासरोवर प्रतिष्ठित हैं । अनेकतल-दह, सुदर्शन-कूट, विष-कूट, काल-कूट, गंधमादन-कूट, कैलाश-कूट इन पाँच नृप्यो (= गिरिखिन्नरो) से घिरा है ।" " इसके चारों ओर सिङ्ग-मुख, इन्दि-मुख, लक्ष्म-मुख, गो (= वृषभ)-मुख—चार मुख हैं; जिनसे चार तरिबों निकलती हैं । सिङ्ग-मुखसे निकली नदीके किनारे सिङ्ग बहुत होते हैं । इन्दि आदि मुखोंसे (निकली नदियोंके किनारे) इल्ली, अश्न और बैल ।" " गङ्गा, यमुना, अचिरवती (= राप्ती), सरयू (= सरजू, घागरा), अही (= गंडक)" " यह पाँच नदियों हिमवान् से निकलती हैं । इनमें जो यह पाँचवीं नदी है, वही इस महीसे अभिसेत है ।" " इस अंगुत्तरायण वनपदमें आपण" " निगममें बीस द्वार आपणों (= दुकानों) के मुख विभक्त थे । इस प्रकार आपणों (= दुकानों) से घेर होनेसे, आपण नाम हो गया । उस निगमके अ-दूर, नदीतीर-पर वनी छाकाकाला रमणीय भूमि-नामका वन-खंड था । उसमें भगवान् विहरते थे ।

पुकारता है—'कुपित और अ-सन्तुष्ट हो चुप रहा ।

बूसरी बार भी ० । ० । तीसरी बार भी ० ।

तब पोतलिय गृहपतिने—'गृहपति कहकर ०'—कुपित और अ-सन्तुष्ट हो भगवान्‌ने कहा—

'भो गौतम ! तुम्हें यह उचित नहीं, तुम्हें यह योग्य नहीं, जो मुझे गृहपति कहकर पुकारते हो ।'

'गृहपति ! तेरे यही आकार है, यही लिङ्ग है; यही निमित्त (= लिङ्ग) है, जैसे कि गृह-पति के ।'

'ईंकि भो गौतम ! मैंने सारे कर्मान्त (= खेती) छोड़ दिये, सारे व्यवहार (= व्यापार, वाणिज्य) समाप्त कर दिये । भो गौतम ! मेरे पास जो धन, धान्य, रजत (= चाँदी), वातरूप (= सोना) था, सब पुष्टोंको तकी दे दिया ! सो मैं (खेती आदिमें) न ताकीद करनेवाला, न कटु कहनेवाला हूँ ; सिर्फ कामे पहिरने भरसे वाला रहनेवाला (हो), विहरता हूँ । ...'

'गृहपति ! तू जिस प्रकार व्यवहारके उच्छेदको कहता है । आर्थोके विनयमें व्यवहार-उच्छेद, (इससे) बूसरी ही प्रकार होता है ।'

'तो भन्ते ! आर्य-विनयमें व्यवहार-उच्छेद कैसे होता है ? अच्छा ! भन्ते ! भगवान्‌ मुझे उस प्रकारका धर्म-उपदेश करें, जैसेकि आर्य-विनयमें व्यवहार-उच्छेद होता है ।'

'तो गृहपति ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।'

'अच्छा भन्ते !'—पोतलिय गृह-पतिने भगवान्‌से कहा । भगवान्‌ने कहा—

'गृहपति ! आर्य-विनय (= आर्य-धर्म, आर्य-नियम) में यह आठ धर्म व्यवहार-उच्छेद करनेके लिये हैं । धीनसे आठ ?—(१) अ-प्राणातिपात (= अहिंसा)के लिये, प्राणातिपात छोड़ना चाहिये । (२) दिया लेने (= दिवादान)के लिये, अ-दिवादान (= चोरी, न दिया लेना) छोड़ना चाहिये । (३) सत्य बोलनेके लिये, वृषावाद् छोड़ना चाहिये । (४) अ-विशुद्ध-वचन (= न चुगली करने)के लिये, पिशुन-वचन छोड़ना चाहिये । (५) अ-गृह-लोभ (= निर्लोभ)के लिये, गृह-लोभ छोड़ना चाहिये । (६) अ-मिन्दा-दोषके लिये, मिन्दा छोड़नी चाहिये । (७) अ-क्रोध उपायास (= परेझानी)के लिये, क्रोध-उपायास छोड़ना चाहिये । (८) अन्-अतिमानके लिये, अतिमान (= अमिमान)को छोड़ना चाहिये । गृहपति ! संक्षिप्तसे कहें, विस्तारसे न विभाजित किये, यह आठ धर्म, आर्य-विनयमें व्यवहार-उच्छेद करनेके लिये हैं ।'

'भन्ते ! भगवान्‌ने जो मुझे विस्तारसे न विभाजित किये, संक्षिप्तसे, आठ धर्म ० कहे । अच्छा हो भन्ते ! (यदि) भगवान्‌ अतुक्कम्पाकर (उन्में) विस्तारसे विभाजित करें ।'

'तो गृहपति ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।'

'अच्छा भन्ते !'—पोतलिय गृहपतिने भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ बोले—'गृहपति ! अ-प्राणातिपातके लिये प्राणातिपात छोड़ना चाहिये,' यह जो कहा, किस कारणसे कहा ?—गृहपति ! आर्य-आपक ऐसा सोचता है—'जिन संयोजनोंके कारण मुझे प्राणातिपाती होना है, उन्ही संयोजनोंको छोड़नेके लिये, उच्छेदके लिये मैं लगा हूँ, और मैं ही प्राणातिपाती हो गया । प्राणातिपातके कारण, आत्मा (= अपना चित्त)भी मुझे धिक्कारता है । प्राणातिपातके कारण, विद्व लोग भी जानकर धिक्कारते हैं । प्राणातिपातके कारण, काया छोड़नेपर, मरनेके पाप, दुर्गति भी होनी है । यही संयोजन (= बंधन) है, यही नीचरण (= उच्च) है, जो कि प्राणातिपातके कारण उत्पन्न होनेवाले विषात-परिहाद (= द्वेष-जलन) और आसन्न (= चित्त-दोष) प्राणातिपातसे बिरतको नहीं उत्पन्न होते । अ-प्राणातिपातके लिये, प्राणातिपात

छोड़ना चाहिये' यह जो कहा, वह इसी कारणसे कहा ।

"दिक्षादानके लिये अदिक्षादान छोड़ना चाहिये, यह जो कहा, किस कारणसे कहा ?— गृहपति ! आर्य-आवक ऐसा सोचता है, जिन संयोजनोंके हेतु मुखे अदिक्षादामी (= बिना दिया लेनेवाले) होता है, उन्हीं संयोजनोंके छोड़नेके लिये, उच्छेद करनेके लिये, मैं ज्ञाता हुआ हूँ; और मैं ही अ-दिक्षादामी होगया ! अ-दिक्षादानके कारण आत्मा भी मुखे चिखारता है । अ-दिक्षादानके कारण विज्ञ लोग भी जानकर चिखारते हैं । अ-दिक्षादानके कारण काया छोड़नेपर, मरनेके बाद पुनर्जि भी होनी है । यही संयोजन है, यही नीचरण है, जो कि यह अ-दिक्षादान । अ-दिक्षादानके कारण विज्ञात (= पीडा) परिहात (= कलन) (और) आत्मन उत्पन्न होते हैं; अ-दिक्षादान-निराकरण ० नहीं होते । 'दिक्षादानके लिये अ-दिक्षादान छोड़ना चाहिये' यह जो कहा, वह इसी कारण कहा ।

"अ-पिशुन-वचनके लिये ० ।

"अ-गृह-सीमके लिये ० ।

"अ-मिन्दा-शेषके लिये ० ।

"अ-श्रोत्र-उपायासके लिये ० ।

"अन्त-अतिमानके लिये ० ।

"गृहपति आर्य-विनयमें यह आठ ! संक्षिप्तसे कहे, विस्तारसे विभाजित, व्यवहार-उच्छेद करनेवाले हैं ।" (किंतु इससे) सर्वथा सब कुछ व्यवहारका उच्छेद नहीं होता । "

"तो कैसे मन्ते ! आर्य-विनयमें...सर्वथा सब कुछ व्यवहार-उच्छेद होता है ? अच्छा हो मन्ते ! भगवान् मुखे जैसे धर्मका उपदेश करें, वैसे कि आर्य-विनयमें...सर्वथा सब कुछ व्यवहारका उच्छेद होता है ? "

"तो गृहपति ! सुनी, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ । "

"अच्छा मन्ते । " ० । ० ।

"गृहपति ! जैसे मुखसे अति-दुर्बल कुम्भुर गो-घातकके सूना (= काँस काटनेके पीछे) छिपाया गया हो । चतुर गो-घातक वा गोघातकका अन्तेपासी उसको मौत-रहित सोहृमें सनी...हड्डी पोंछ दे । तो क्या मानते हो, गृहपति ! क्या वह कुम्भुर उस हड्डी...को व्याकर, मुखको दुर्बलताको हटा सकता है ? "

"नहीं, मन्ते ! "

"तो किस हेतु ? "

"मन्ते ! वह सोहृमें चुपची मौत-रहित हड्डी है । वह कुम्भुर केवल परेशानी = पीडाका ही भागी होगा । "

"जैसे ही गृहपति ! आर्य-आवक सोचता है—हड्डी (असिसूना) के प्रमाण...भगवान् ने भोगोंको 'बहुत दुःख' बहुत परेशानीवाला कहा है, इसमें बहुतसी तुराइमई हैं । अतः इसको सवायसे, अच्छी तरह प्रशस्त, देखकर, जो यह अनेकतावाली अनेकमें लगी उपेक्षा है, उसे छोड़, जो यह एकान्तातावाली एकान्तमें लगी (उपेक्षा) है, जिसमें लोभके आमिष (= विष) के उपादान (= महान्, स्वीकार) सर्वथा ही टूट जाते हैं; उसी उपेक्षाकी भावना करता है ।

"जैसे गृहपति ! गिद्ध, कौवा वा चीन्हा मौतके टुकड़ोंको लेकर उड़े, उसको गिद्ध भी, कौवे भी, चीन्हा भी पीछे उस उड़कर नोचें, समोड़ें । तो क्या मानता है, गृहपति ! वह गिद्ध कौवे

या चीरह, यदि भीत्र ही उस मांसके टुकड़ेको न छोड़ दें, तो क्या वह उसके कारण मरणको या मरणान्त दुःखको पावेंगे न ?”

“ऐसा ही, भन्ते !”

“ऐसे ही, गृहपति ! आर्य-आवक सोचता है—भगवान् ने मांसके टुकड़े मांस-पेशीकी भाँति कामोंको बहुत दुःखवाले बहुत परेशानीवाले कहा है, इनमें धदुत्तरी घुराइयाँ हैं । इस प्रकार इसको अच्छी तरह प्रज्ञासे देखकर, जो वह अनेकताकी, अनेकमें लगी उपेक्षा है, उसे छोड़, जो यह एकान्तताकी एकान्तमें लगी उपेक्षा है, जिसमें लोकामिषके उपादान (= ग्रहण) सर्वथा ही उच्छिन्न हो जाते हैं; उसी उपेक्षाकी भावना करता है ।

“जैसे गृहपति ! पुरुष तृणकी उल्का (= मशाल, लुकारी) को ले, हवाके रुख जावे । तो क्या मानते हो, गृहपति ! यदि वह पुरुष भीत्र ही उस तृण-उल्काको न छोड़ दे तो (क्या) वह तृण-उल्का उसके हथेलीको (न) जला देगी, या बाँहको (न) जला देगी, या दूसरे अंग प्रत्यंगको न जला देगी... ?”

“ऐसा ही, भन्ते ।”

“ऐसे ही, गृहपति ! आर्य-आवक सोचता है—तृण-उल्काकी भाँति बहुत दुःखवाले बहुत परेशानीवाले ० हैं ० । ० ।

“जैसे कि गृहपति ! धूम-रहित, अर्ध (= लौ)-रहित अंगारका (= भस्म, अग्नि-पूर्ण) हो । तब जीवन-इच्छुक, मरण-अनिच्छुक, सुख-इच्छुक, दुःख-अनिच्छुक पुरुष जावे, उसको दो पलवान् पुरुष अनेक बाहुओंसे पकड़कर अङ्गारकामें डाल दें । तो क्या मानते हो गृहपति ! क्या वह पुरुष इस प्रकार धिताहीमें शरीरको (नहीं) जालेगा ?”

“हाँ भन्ते !”

“तो किस हेतु ?”

“भन्ते ! उस पुरुषको मालूम है, यदि मैं इन अङ्गारकाओंमें गिरूँगा, तो उसके कारण मरूँगा या मरणान्त दुःखको पावूँगा ।”

“ऐसेही गृहपति ! आर्य-आवक यह सोचता है—अङ्गारकाकी भाँति दुःखद ० । इसमें बहुत घुराइयाँ हैं । ० ।

“जैसे गृह-पति ! पुरुष आरामकी रमणीयता-युक्त, जन-रमणीयता-युक्त, भूमि-रमणीयता-युक्त, पुष्करिणी-रमणीयता-युक्त स्वप्नको देखे । सो जाननेपर कुछ न देखे । ऐसेही गृहपति ! आर्य-आवक यह सोचता है—भगवान् ने स्वप्न-समान (= स्वप्नोपम) बहुत दुःखद ० कहा है । ० ।

“जैसे कि गृह-पति ! (किसी) पुरुष (के पास) मैगनीके भोग, धान या पुरुषके उत्तम मणि-कुंडल हों । वह ० इन मैगनीके भोगोंके साथ... वातावरणमें जावे । उसको देखकर आदमी कहें—कैसा भोग-संपन्न पुरुष है ! भोगी लोग ऐसे ही भोगका उपभोग करते हैं ! सो उसके मालिक (= स्वामी) ० जहाँ देखें वहाँ कनात लगा दें । तो क्या मानते हो, गृहपति ! क्या उस पुरुषको दूसरा (भाव समझना) युक्त है ?”

“हाँ, भन्ते !”

“तो किस हेतु ?”

“(क्योंकि जेवरोंके) मालिक कनात खेर देते हैं ।”

“ऐसेही गृहपति ! आर्य-आवक ऐसा सोचता है—मैगनीकी चीज़के समान (= याचित-कूपम) ० कहा है । ० ।

“जैसे गृहपति ! ग्राम या निगमसे अ-दूर, भारी वन-क्षण्ड हो । वहाँ फल-सम्पन्न = उत्पन्न-फल वृक्ष हो; कोई फल भूमिपर न गिरा हो । तब फल-इच्छुक, फल-गोपक = फल-खोजी पुरुष घूमते हुये आवे । वह उस वनके भीतर जाकर, उस फल-संपन्न = वृक्षको देखे । उसको यह हो—यह वृक्ष फल-सम्पन्न = है, कोई फल भूमिपर नहीं गिरा है; मैं वृक्षपर चढ़ना जानता हूँ । क्यों न मैं चढ़कर इच्छा-भर खाऊँ, और फाँव (= दण्ड, दण्ड) भर ले चले । तब दूसरा फल-इच्छुक, फल-गोपक = फलखोजी, पुरुष घूमता हुआ तेज़ कुल्हाड़ा लिये उस वन-क्षण्डके भीतर जाकर, उस वृक्षको देखे । उसको ऐसा हो—यह वृक्ष फल-सम्पन्न = है, मैं वृक्षपर चढ़ना नहीं जानता; क्यों न इस वृक्षको जड़से काटकर इच्छा भर खाऊँ, और फाँव भर ले चले । वह उस वृक्षको जड़से काटे । तो क्या मानते हो, गृहपति ! वह जो पुरुष पैदलपर पहिले चढ़ा था, यदि जख्मी ही न उठार आवे, तो (क्या) वह गिरता हुआ वृक्ष उसके हाथको (न) तोव देगा, पैरको (न) तोव देगा, या दूसरे अङ्ग-प्रत्यङ्गको (न) तोव देगा ? वह उसके कारण क्या मरणको (न) प्राप्त होगा, या मरणान्त दुःखको (न) प्राप्त होगा ?”

“हाँ, भन्ते !”

“ऐसे ही गृह-पति ! आर्य-आवक सोचता है—वृक्ष-फल-सम्पन्न कामोंको = कहा है; इनमें बहुत सी बुराईयाँ (= आदि-व्य) हैं । इस प्रकार इसको यथार्थतः, अच्छी प्रकार, प्रज्ञासे देखकर, जो यह अनेकता-बाढी अनेकमें लगी उपेक्षा है, उसे छोड़; जो वह एकांतकी एकांतमें लगी उपेक्षा है, जिसमें लोक-आमिषका उपादान (= ग्रहण) सर्वथा ही उच्छिन्न हो जाता है, उसी उपेक्षाकी भावना करता है ।

“तो वह गृह-पति ! आर्य-आवक इसी अनुपम (= अनुसार) उपेक्षा, स्मृतिकी पारिशुद्धि (= स्मरणको शुद्धि करनेवाली उपेक्षा) को पाकर, अनेक प्रकारके पूर्व-निवासों (= पूर्व जन्मों)की स्मरण करता है;—जैसे कि एक जन्म भी, दो जन्म भी, तीन जन्म भी =” इस प्रकार आकार-सहित उद्देश (= नाम)-सहित, अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको स्मरण करता है ।

“तो वह गृह-पति ! आर्य-आवक इसी अनुपम उपेक्षा स्मृति-पारिशुद्धिको पाकर, वि-शुद्ध अ-मानुष दिव्य-चक्षुसे, मते उत्पन्न होते, बीच-डँच, सुकर्ण-दुर्बल, सुगत-दुर्गत =” कर्मानुसार (फलको) प्राप्त, प्राप्तिमेंको जानता है ।

“तो वह गृह-पति ! आर्य-आवक इसी अनुपम उपेक्षा स्मृति-पारिशुद्धिको पाकर, इसी जन्ममें आसनों (= चित्त-दोषों)के अघते, अन्-आत्मव चित्त-विमुक्तिको जानकर, प्राप्तकर, विहरता है । गृहपति ! आर्य-विनयमें इस प्रकार—“सर्वथा सभी कुछ सब व्यवहारका उच्छेद होता है । तो क्या मानता है, गृह-पति ! जिस प्रकार आर्य-विनयमें—“सर्वथा सभी कुछ व्यवहार-उच्छेद होता है, क्या तू वैसा व्यवहार-समुच्छेद अपनेमें देखता है ?”

“भन्ते ! कहीं मैं और कहीं आर्य-विनयमें—“व्यवहार-समुच्छेद !! भन्ते ! पहिले अन्-आजानीय अन्-तैर्थिक (= पंचाई) परिवाजकोंको, हम आजानीय (= परिशुद्ध, शुद्धचित्तिके) समझते थे, अनाजानीय होतोंको आजानीयका भोजन कराते थे, अन्-आजानीय होतोंको आजानीय-स्नानपर स्थापित करते थे । आजानीय निजुओंको अन्-आजानीय समझते थे, आजानीय होतोंको अन्-आजानीय भोजन कराते थे, आजानीय होतोंको अन्-आजानीय स्नानपर रखते थे । भन्ते !

अब हम अन्-आजानीय होते अन्य-तैरिहिक पस्त्रिजकोंको अन्-आजानीय जानेंगे, ० अन्-आजानीय मोजन करावेंगे, ० अन्-आजानीय स्थानपर स्थापित करेंगे। मन्ते ! अब हम आजानीय होते भिक्षुओंको आजानीय समझेंगे, ० आजानीय मोजन करावेंगे, ० आजानीय स्थानपर रखवेंगे। अहो ! मन्ते ! भगवान् ने मुझे अमणोंमें अमण-प्रेम पैदा कर दिया, अमणों (= साधुओं) में अमण-प्रसाद (= अमणोंके प्रति प्रसन्नता), ० अमण-गौरव०। आश्चर्य ! मन्ते ! आश्चर्य ! मन्ते ! ०^१ आजसे भगवान् मुझे अजलि-वद्ध शरणागत उपासक धारण करें।”

५५-जीवक-सुत्तन्त (२।१।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें जीवक कौमारभृत्यके आश्रयमें विहार करते थे ।

तब जीवक कौमारभृत्य जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे जीवकने भगवान्से यह कहा—

“मन्ते ! मैंने सुना है—‘अमण गौतमके उद्देश्यसे (लोग) जीव आये हैं, अमण गौतम जानते हुये (अपने) उद्देश्यसे आये (अपने) उद्देश्यसे किये कर्मवाले मांसको खाता है ’। मन्ते ! जो यह कहते हैं—‘अमण गौतम ० खाता है’ क्या मन्ते ! वह भगवान्के विषयमें अथार्थ-वादी हैं ? वह भगवान्पर बड़ा इच्छाम तो नहीं लगाते ? सत्यके अनुसार कहते हैं ? (उनके इस कथनसे) किसी धर्मानुसार वचन-अनुवचनकी निन्दा तो नहीं हो जाती ?”

“जीवक ! जो यह कहते हैं—‘अमण गौतम ० खाता है’, वह मेरे विषयमें अथार्थवादी नहीं हैं; वह सुष्ठुपर बड़ा इच्छाम (= अन्वाषट्ठम) लगाते हैं ।” जीवक ! मैं तीन प्रकारके मांसको अ-भोज्य कहता हूँ—‘एष्ट, श्रुत और परिशंकित ।” जीवक ! तीन प्रकारके मांसको मैं भोज्य कहता हूँ—अ-एष्ट, अ-श्रुत, अ-परिशंकित ।”

“जीवक ! कोई मिथु किसी गाय, या गिलम (= कत्तरे) के पास विहार करता है । वह मैत्री-पूर्ण चित्तसे ०* सारे लोकको पूर्णकर विहरता है । उसके पास जाकर कोई गृहपति या गृहपति-पुत्र दूसरे दिनेके भोजनके लिये निमंत्रण देता है । इच्छा होनेपर जीवक ! मिथु (उस निमंत्रण) को स्वीकार करता है । वह उस रातके पीतने पर इच्छा समय पहिन कर पात्र-पीवर ले, वहाँ उस गृहपति या गृहपति-पुत्रका घर होता है, वहाँ जाता है । जाकर बिठे आसन पर बैठता है । उसे वह गृहपति या गृहपति-पुत्र उत्तम पिंडपात (मित्राङ्ग) परोसता है । उस (मिथु) को यह नहीं होता—‘अहो ! यह गृहपति या गृहपति-पुत्र मुझे उत्तम पिंडपात परोसे । अहो ! यह ० आगे भी इसी प्रकारका पिंडपात परोसे ।” वह उस पिंडपातको अ-लोलुप = अ-मूर्छित हो, अना-सक हो अक्षुण्णका स्वाद रखते, निस्तारकी बुद्धिसे खाता है । तो क्या मानते हो, जीवक ! क्या वह मिथु उस समय आत्म-पीडा (की बात) को सोचता है, पर-पीडाको सोचता है, (आत्म-पर-) उसय-पीडाको सोचता है ?”

“नहीं, मन्ते !”

“क्यों जीवक ! उस समय वह निर्दोष (= अतृप्त) वाहारहीका ग्रहण कर रहा है न ?”

“हाँ, मन्ते ! मैंने सुना है मन्ते ! कि ब्रह्मा मैत्री-विहारी (= सदा सबको मित्र भावसे

* जीवक अपने किये सारा जाना देना, सुनना, या रोक देना । * देखो पृष्ठ २५ ।

देखनेवाला) है, तो मैंने मन्ते ! भगवान्‌को साक्षात् देख लिया । मन्ते ! भगवान्‌ मेरी विहारी हैं ।”

जीवक ! जिस रागसे, जिस द्वेषसे, जिस मोहसे (जादमी) व्यापादवान् (= द्वेषी, उत्पीडक) होता है, वह राग-द्वेष-मोह तथागतका नष्ट होगया, उच्छिन्न-मूल, कटे सिरवाले-ताड़-जैसा, अ-मात्र-प्राप्त, भविष्यमें उत्पन्न-होनेके-अयोग्य होगया । यदि जीवक ! तुने वह खाल करके कहा, तो मैं सहमत हूँ ।”

“यही खाल कर मन्ते ! मैंने कहा ।”

“यहाँ जीवक ! कोई भिक्षु किसी गाँव या निगमके पास विहार करता है । वह करुणा-पूर्ण चित्तसे ०^१ । मुदिता-पूर्ण चित्तसे ०^२ । उपेक्षा-पूर्ण चित्तसे ०^३ धारे लोकको पूर्ण कर विहरता है । उसके पास आकर कोई गृहपति या गृहपति-पुत्र दूसरे दिनके लिये भोजनका निमन्त्रण देता है । ०^४”

“यहाँ खाल कर मन्ते ! मैंने कहा ।”

“जो कोई जीवक ! तथागत या तथागतके आचकके उद्देश्यसे जीव मारता है, वह पाँच स्थानोंसे अ-पुण्य (= पाप) कमाता है (१) जो वह यह कहता है—‘जाओ, असुख जीवको जाओ’, इस पहिले स्थान (= वातसे) वह बहुत अ-पुण्य कमाता है । (२) जो वह गलेमें (रस्ती) बाँधकर खींच कर लाने (पशु)को (देव) दुःख-दौर्मनस्य अनुभव करता है, यह दूसरे स्थान ० । (३) जो वह यह कहता है—‘जाओ, इस जीवको मारो’ इस तीसरे स्थान ० । (४) जो वह जीवोंको मारते समय दुःख = दौर्मनस्य (= संताप) अनुभव करता है, इस चौथे स्थान ० । जो वह तथागत या तथागतके आचकको अ-कल्प्य (= अनुचित, अ-विहित)को चिन्ताता है, इस पाँचवें स्थान ० । जो कोई जीवक ! तथागत या तथागतके आचकके उद्देश्यसे जीव मारता है, वह इन पाँच स्थानोंसे अ-पुण्य कमाता है ।”

यह कहनेपर जीवक कौमारभृत्यने भगवान्‌से यह कहा—“आश्चर्य ! मन्ते ! अद्भुत !! मन्ते ! कल्प्य (= उचित, विहित) आहारको मन्ते ! भिक्षु ग्रहण करते हैं । अहो ! निर्दोष आहार को मन्ते ! भिक्षु ग्रहण करते हैं । आश्चर्य ! मन्ते ! अद्भुत !! मन्ते ! जैसे धींधेको सीधा करदे ०^१ । यह मैं मन्ते ! भगवान्‌की कारण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी ! भगवान्‌ आजसे मुझे अंतलिङ्गद्वारा तथागत उपपासक स्वीकार करें ।”

^१ देखो पृष्ठ २५ ।

^२ पहिलेकी आवृत्ति ।

^३ देखो पृष्ठ १६ ।

देना) को अच्छी प्रकार जाननेवाले, बहुश्रुत आश्रय दीर्घ-तपस्वी निर्गन्धने अमण गीतमको बतलाया । यह सुना मन-दंष्ट, इस महान् काय-दंष्टके सामने क्या सोचता है ? पाप-कर्मके करने = पाप कर्मकी प्रवृत्तिके लिये काय-दंष्ट ही महादायी है, वचन दंष्ट, मन-दंष्ट वैसे नहीं ।”

ऐसा कहनेपर उपासी गृहपतिने निर्गन्ध नात-पुत्रसे यह कहा—

“साधु ! साधु !! भन्ते तपस्वी ! जैसा कि शास्त्राके शास्त्रके मर्मज्ञ, बहुश्रुत आश्रय भदन्त दीर्घ-तपस्वी निर्गन्धने अमण गीतमको बतलाया । यह सुना ० । तो भन्ते ! मैं जाऊँ, इसी कथा-वस्तुमें अमण गीतमके साथ विवाद रोपूँ ? यदि मेरे (सामने) अमण गीतम वैसे (ही) ठहरा रहा, जैसा कि भदन्त दीर्घ-तपस्वीने (उसे) ठहराया । तो जैसे बलवान् पुरुष लम्बे बाल वाली भेषको बालोंसे पकड़कर निकाले, सुमावे, डुलावे, उसी प्रकार मैं अमण गीतमके वादको” निकालूँगा, सुमाऊँगा, डुलाऊँगा । (अथवा) जैसे कि गहरे बलवान् शौचिक-कर्मकर (= धराप-बनानेवाला) भट्टीके छत्ते (= शौचिका-किल्लज) को पानी (वाले) तालाबमें फेंककर; कानोंको पकड़ निकाले, सुमावे, डुलावे, ऐसे ही मैं ० । (अथवा) जैसे बलवान् सराबी, बालककी कागसे पकड़कर हिलावे, ० डुलावे”, ऐसे ही मैं ० । (अथवा) जैसे कि साठ वर्षका पट्टा हाथी गहरी पुष्करिणीमें घुसकर घन-घोवन नामक खेलको खेले, ऐसे ही मैं अमण गीतमको धर-घोवन ० । हाँ ! तो भन्ते ! मैं जाता हूँ । इस कथा-वस्तुमें अमण गीतमके साथ वाद रोपूँगा ।”

“जा गृहपति ! जा, अमण गीतमके साथ इस कथा-वस्तुमें वाद रोप । गृहपति ! अमण गीतमके साथ मैं वाद रोपूँ, या दीर्घ-तपस्वी निर्गन्ध रोपे, या नू ।”

ऐसा कहनेपर दीर्घ-तपस्वी निर्गन्धने निर्गन्ध नात-पुत्रको कहा—

“भन्ते ! (आपको) यह मत रुके, कि उपासि गृहपति अमण गीतमके पास जाकर वाद रोपे । भन्ते ! अमण गीतम साक्षात् ही है, (भति) करनेवाली भाषा जानता है, जिससे दूसरे तैर्धियों (= पंथाद्यों) के आश्रयों (को अपनी ओर) फेर लेता है ।”

“तपस्वी ! यह संभव नहीं, कि उपासी गृहपति अमण गीतमका आश्रय होजाय । संभव है कि अमण गीतम (ही) उपासी गृहपतिके आश्रय होजाय । जा गृहपति ! अमण गीतमके साथ इस कथा-वस्तुमें वाद रोप । गृहपति ! अमण गीतमके साथ मैं वाद रोपूँ, या दीर्घ-तपस्वी निर्गन्ध रोपे, या नू ।”

दूसरीबार भी दीर्घ-तपस्वी निर्गन्धने ० । तीसरीबार भी ० ।

“अच्छा भन्ते !” कह, उपासि गृहपति निर्गन्ध नात-पुत्रको अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर, जहाँ प्राच्यारिक आश्रयन था, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे हुये उपासि गृहपतिने भगवान्से कहा—

“भन्ते ! क्या दीर्घ-तपस्वी निर्गन्ध यहाँ आये थे ?”

“गृहपति ! दीर्घ-तपस्वी निर्गन्ध यहाँ आया था ।”

“भन्ते ! दीर्घ-तपस्वी निर्गन्धके साथ आपका कुछ कथा-संलाप हुआ ?”

“गृहपति ! दीर्घ-तपस्वी निर्गन्धके साथ मेरा कुछ कथा-संलाप हुआ ।”

“तो भन्ते ! दीर्घ-तपस्वी निर्गन्धके साथ क्या कुछ कथा-संलाप हुआ ?”

तब भगवान्ने दीर्घ-तपस्वी निर्गन्धके साथ जो कुछ कथा-संलाप हुआ था, उस सबको उपासी गृहपतिसे कह दिया । ऐसा कहने पर उपासी गृहपतिने भगवान्से कहा—

“साधु ! साधु ! भन्ते तपस्वी ! जैसाकि शास्त्राके शास्त्रके मर्मज्ञ, बहु-श्रुत, आश्रय

दीर्घ-तपस्वी निर्गठने भगवान्को घटलाया ॥ यह मुर्दा मन-दंड इस महान् काया-दंडके सामने क्या शोभता है ? पाप-कर्मकी प्रवृत्तिके लिये काय-दंडही महा-दोषी है, वैसे वचन-दंड नहीं है, वैसे मन-दंड नहीं है ।”

“गृहपति ! यदि तू सत्यमें स्थिर हो मंत्रणा (= विचार) करे, तो हम दोनोंका संलाप हो ।”

“मन्ते ! मैं सत्यमें स्थिर हो मंत्रणा करूँगा । हम दोनोंका संलाप हो ।”

“क्या मानते हो गृहपति ! (यदि) यहाँ एक बीमार = दुःखित नरककर रोग-ग्रस्त शीत-जल-न्यासी इष्ण-जल-जैवी निर्गठ..... शीत-जल न पानेके कारण मर जाये, तो निर्गठ नात-पुत्र उसकी (पुत्रः) उत्पत्ति कहाँ घटलायेगा ?”

“मन्ते ! (जहाँ) मन-सत्त्व नामक देवता है, वह वहाँ उत्पन्न होगा ।”

“तो किस कारण ?”

“मन्ते ! वह मनसे बँधा हुआ मरा है ।”

“गृहपति ! गृहपति ! मनमें (सोच) करके कहो । तुम्हारा पूर्व (पश्च)से पश्चिम (पश्च) नहीं मिलता, तथा पश्चिमसे पूर्व नहीं ठीक खाता । और गृहपति ! तुमने वह बात (सी) कही है—मन्ते ! मैं सत्यमें स्थिर हो मंत्रणा करूँगा, हम दोनोंका संलाप हो ।”

“और मन्ते ! भगवान्ने भी ऐसा कहा है—पापकर्म करनेके लिये ० काय-दंडही महादोषी है, वैसे वचन-दंड..... (और) मन-दंड नहीं ?”

“तो क्या मानते हो गृह-पति ! यहाँ एक *चातुर्याम-संवरसे रक्षित (= गोपित, रक्षित), सब *वारिसे निवारित, सब वारि(= वास्तियों)को निवारण करनेमें तत्पर, सब (पाप-) वारिसे भुला हुआ, सब (पाप) वारिसे छूटा हुआ, निर्गठ (= जैन-साधु) है । वह आते जाते बहुतसे छोटे-छोटे प्राणि-समुदायको भारता है । गृहपति ! निर्गठ नात-पुत्र इसका क्या निपाक (= फल) घटलाते हैं ?”

“मन्ते ! अज्ञानको निर्गठ नात-पुत्र महादोष नहीं कहते ।”

“गृहपति ! यदि जानता हो ।”—“(तब) मन्ते ! महादोष होगा ।”

“गृहपति ! जाननेको निर्गठ नात-पुत्र किसमें कहते हैं ?”—“मन्ते ! मन-दंडमें ।”

“गृहपति ! गृहपति ! मनमें (सोच) करके कहो । ० ।”

“और मन्ते ! भगवान्ने भी ० ।”

“तो गृहपति ! क्या वह नालन्दा सुख-संपत्ति-युक्त, बहुत जनोंवाली, (बहुत) सन्तुष्टोंसे भरी है ?”—“हाँ मन्ते !”

“तो गृहपति ! (यदि) यहाँ एक पुरुष (नंगी) तलवार उठाये आये, और कहे—इस नालन्दामें जितने प्राणी हैं, मैं एक क्षणमें एक गृहस्थमें, उन (सब)का एक मौस का लकियान, एक मौसका डेर कर दूँगा । तो क्या गृहपति ! वह पुरुष एक मौसका डेर कर सकता है ?”

“मन्ते ! दश भी पुरुष, बीस भी पुरुष, तीस ०, चालीस ०, पचास भी पुरुष, एक मौसका डेर नहीं कर सकते, वह एक मुवा क्या है ।”

* (१) प्राण-हिंसा न करना, न कराना, न अनुमोदन करना, (२) चोरी न० । (३) शूद्र न० । (४) माषित (= विषय-भोग) न पावना ० । यह चातुर्याम है । * शिष्य शीतल जल वा पापक्षयी बल ।

“तो...गृहपति ! यहाँ एक कदिमान्, पिचको वनमें किया हुआ, भ्रमण या माझण आये, यह ऐसा बोले—मैं इस नालन्दाको एक ही मनके कोपसे भस्म कर दूँगा । तो क्या...गृहपति ! यह भ्रमण या माझण ० इस नालन्दाको (अपने) एक मनके कोपसे भस्म कर सकता है ?”

“मन्ते ! दश नालन्दाओंको भी ० पचास नालन्दाओंको भी ० वह भ्रमण या माझण (अपने) एकके कोपसे भस्म कर सकता है । एक मुई नालन्दा क्या है ।”

“गृहपति ! गृहपति ! मनमें (सोच) कर...कहो ० ।”

“और भगवान्ने भी ० ।”

“तो...गृहपति ! क्या तुमने दंडकारण्य, कटिंगारण्य, मेघारण्य (= मेक्कारण्य), मातङ्गारण्यका ज्ञाप्य होना सुना है ?”—“हाँ, मन्ते ० ।”

“तो...गृहपति ! तुमने सुना है, कैसे दण्डकारण्य ० हुआ ?”

“मन्ते ! मैंने सुना है—कपिवेकें मनके-कोपसे दंडकारण्य ० हुआ ।”

“गृहपति ! गृहपति ! मनमें (सोच) कर...कहो ० । तुम्हारा पूर्वसे पश्चिम नहीं मिलता, पश्चिमसे पूर्व नहीं मिलता । और तुमने गृहपति ! यह बात कही है—‘सत्यमें स्थिर हो मैं मन्ते ! भ्रंशणा (= वाद्) कहूँगा, हमारा संताप हो ।’”

“मन्ते ! भगवान्की पहिली उपमासे ही मैं समुष्ट = अभिरत होगया था । विचित्र प्रकृति के व्याख्यान (= पटिमान्) को और भी सुनकेही इच्छासेही मैंने भगवान्की प्रतिपादी बनाना पसन्द किया । आश्चर्य ! मन्ते !! आश्चर्य ! मन्ते !! जैसे बीजेको बोधा करदे ०^१ आजसे भगवान् मुझे साविकि धारणागत उपसक धारण करें ।”

“गृहपति ! सोच-समझकर (काम) करो । तुम्हारे जैसे मनुष्योंका सोच-समझकर ही करना अच्छा होता है ।”

“मन्ते ! भगवान्के इन कथनसे मैं और भी प्रसन्न-मन, समुष्ट और अभिरत हुआ, जोकि भगवान्ने मुझे कहा—‘गृहपति ! सोच-समझकर करो ० ।’ मन्ते ! दूसरे तैर्धिक (= पंधाई) मुझे आवाक पाकर, सारे नालन्दाओं पलाका उवाते—‘उपाधि गृहपति हमारा आवाक होगया’ । और भगवान् मुझे कहते हैं—‘गृहपति ! सोच-समझकर करो ०’ । मन्ते ! यह दूसरी बार मैं भगवान्की धारण जाता हूँ, धर्म और मिश्र संघको भी ०^२ ।”

“गृहपति ! दीर्घ-कालसे तुम्हारा कुल (= कुल) निगण्ठोंके क्लिष्टे स्वाजकी तरह रहा है, उनके जानेपर ‘पिच नहीं देना चाहिये’—यह मत समझना ।”

“मन्ते ! इससे और भी प्रसन्न-मन, समुष्ट और अभिरत हुआ, जो मुझे भगवान्ने कहा—दीर्घकालसे तेरा घर ० । मन्ते ! मैंने सुना था कि भ्रमण गौतम ऐसा कहता है—मुझेही दान देना चाहिये, दूसरोंको दान न देना चाहिये । मेरेही आवाकोंको दान देना चाहिये, दूसरोंको दान न देना चाहिये । मुझेही देनेका महा-फल होता है, दूसरोंको देनेका महा-फल नहीं होता । मेरेही आवाकोंको देनेका महाफल होता है, दूसरोंके आवाकोंको देनेका महाफल नहीं होता । और भगवान्ने मुझे निगण्ठोंको भी दान देनेको कहते हैं । मन्ते ! इस भी इसे तुम समझोगे । मन्ते ! यह मैं तीसरी बार भगवान्की धारण जाता हूँ ०^३ ।”

तब भगवान्ने उपाधि गृहपतिको आनुपूर्वी-कथा कही ०^४ । जैसे कालिमा-रहित शुद्ध-

^१ देखो पृष्ठ २६ ।

^२ देखो शुद्धनर्था, पृष्ठ २५ ।

वस्त्र अच्छी प्रकार रंगको पक्कता है, इसी प्रकार उपालि गृहपतिको उसी आसनपर विरज = विमल धर्म-बहु उत्पन्न हुआ—“तो कुछ समुद्य-धर्म है, वह सब निरोध-धर्म है” । तब उपालि गृहपतिने रज-धर्म ^१ हो भगवान्‌से कहा—

“भन्ते ! अब हम जाते हैं, हम बहुतकृत्य = बहुतकरणीय हैं ।”

“गृह-पति ! जिसका तुम काष्ठ समझो (वैसा करो) ।”

तब उपालि गृह-पति भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दन कर, अनु-मोदनकर, आसनसे उठ, भगवान्‌को अभिवादनकर, प्रदक्षिणाकर, जहाँ उसका घर था, वहाँ गया । जाकर द्वारपालसे बोला—

“सौम्य ! दौवारिक ! आजसे मैं निगण्ठों और निगण्ठियोंके लिये द्वार बन्द करता हूँ, भगवान्‌के मित्र मित्रुनी, उपासक और उपासिकाओंके लिये द्वार खोलता हूँ । यदि निगण्ठ आवे, तो कहना—‘उहरे भन्ते ! आजसे उपालि गृह-पति भ्रमण गौतमका आवक हुआ । निगण्ठों, निगण्ठियोंके लिये द्वार बन्द है; भगवान्‌के मित्र, मित्रुनी, उपासक, उपासिकाओंके लिये द्वार खुला है । यदि भन्ते ! तुम्हें पिंड (= भिक्षा) चाहिये, यहीं उहरे, (हम) यहीं ला देंगे ।”

“अच्छा भन्ते !” (कह) दौवारिकने उपालि गृह-पतिको उच्चर दिया ।

दीर्घ-तपस्वी निर्गठने सुना—‘उपालि गृह-पति भ्रमण गौतमका आवक होगया’ । तब दीर्घ-तपस्वी निर्गठ, जहाँ निर्गठ नात-पुत्र थे, वहाँ गया । जाकर निर्गठ नात-पुत्रसे बोला :—

“भन्ते ! मैंने सुना है, कि उपालि गृह-पति भ्रमण गौतमका आवक हो गया ।”

“यह स्थान नहीं, यह अवकाश नहीं (= यह असम्भव) है, कि उपालि गृह-पति भ्रमण गौतमका आवक हो जाये, और यह स्थान (= संभव) है, कि भ्रमण गौतम (ही) उपालि गृह-पतिको आवक (= शिष्य) हो ।”

तब दूसरी धार भी दीर्घ तपस्वी निर्गठने कहा— ० ।

मर्कः तीसरी धार भी दीर्घ तपस्वी निर्गठने ० ।

“तो भन्ते ! मैं जाता हूँ, और देखता हूँ, कि उपालि गृह-पति भ्रमण गौतमका आवक हो गया, या नहीं ।”

“जा तपस्वी ! देख कि उपालि गृहपति भ्रमण गौतमका आवक होगया, या नहीं ।”

तब दीर्घ-तपस्वी निर्गठ जहाँ उपालि गृहपतिका घर था, वहाँ गया । द्वार-पालने दूरसे ही दीर्घ-तपस्वी निर्गठको आते देखा । देखकर दीर्घ-तपस्वी निर्गठसे कहा—

“भन्ते ! उहरो, मत प्रवेश करो । आजसे उपालि गृहपति भ्रमण गौतमका आवक होगया ० । यहीं उहरो, यहीं तुम्हें पिंड ले आ देंगे ।”

“आजुत ! तुमसे पिंडका काम नहीं है ।”

—यह कह दीर्घ-तपस्वी निर्गठ जहाँ निर्गठ नात-पुत्र थे, वहाँ गया । जाकर निर्गठ नात-पुत्रसे बोला—

“भन्ते ! सब ही है । उपालि गृहपति भ्रमण गौतमका आवक होगया । भन्ते ! मैंने तुम से पहिले ही न कहा था, कि मुझे यह पसन्द नहीं कि उपालि गृहपति भ्रमण गौतमके साथ वाद करे । भ्रमण गौतम भन्ते ! मायावी है, आवर्तनी माया जानता है, जिससे दूसरे तैर्थिकोंके आवकों को घेर लेता है । भन्ते ! उपालि गृहपतिको भ्रमण गौतमने आवर्तनी-मायासे घेर लिया ।”

“तपस्वी ! यह... (संभव नहीं)... कि उपाधि गृहपति अमण गौतमका आवक होना ० ।”

दूसरी बार भी दीर्घ-तपस्वी निर्गन्धने निर्गन्ध नात-पुत्रसे यह कहा— ० । तीसरी बार भी दीर्घ-तपस्वी ० ।

“तपस्वी ! यह... (संभव नहीं)... ० । अच्छा तो तपस्वी ! मैं जाता हूँ । स्वयं जानता हूँ, कि उपाधि गृह-पति अमण गौतमका आवक हुआ था नहीं ।”

तब निर्गन्ध नात-पुत्र वही भारी निर्गन्धकी परिष्कृष्टे साथ, जहाँ उपाधि गृहपतिका पर था, वहाँ गया । द्वार-पाकने दूरसे आते हुये निर्गन्ध नात-पुत्रको देखा । (और) कहा—

“ठहरें भन्ते ! मत प्रवेश करें । आजसे उपाधि गृहपति अमण गौतमका उपासक हुआ ० । यहीं ठहरें, यहीं तुम्हें (पिंड) ले आ देंगे ।”

“तो सौम्य दीवारिक ! जहाँ उपाधि गृहपति है, वहाँ जाओ । जाकर उपाधि गृहपतिको कहो—भन्ते ! वही भारी निर्गन्ध-परिष्कृष्टे साथ निर्गन्ध नात-पुत्र काटके बाहर खड़े हैं, (और) तुम्हें देखना चाहते हैं ।”

“अच्छा भन्ते ।”—निर्गन्ध नात-पुत्रको कह (द्वारपाक) जहाँ उपाधि गृहपति था, वहाँ गया । जाकर उपाधि गृहपतिसे बोला—

“भन्ते ! ० निर्गन्ध नात-पुत्र । ०”

“तो सौम्य ! दीवारिक ! बिचली द्वार-शाला (= दाखान) में आसन बिछाओ ।”

“अच्छा भन्ते !”—उपाधि गृहपतिसे यह, बिचली द्वार-शालामें आसन बिछा—

“भन्ते ! बिचली द्वार-शालामें आसन बिछा दिये । अब (आप) जिसका काल समझें

तब उपाधि गृह-पति जहाँ बिचली द्वार-शाला थी, वहाँ गया । जाकर जो वहाँ की ओर, उत्तम = प्रणीत आसन था, उसपर बैठकर दीवारिकसे बोला—

“तो सौम्य दीवारिक ! जहाँ निर्गन्ध नात-पुत्र है, वहाँ जाओ, जाकर निर्गन्ध नात-पुत्र कहो—“भन्ते ! उपाधि गृहपति कहता है—यदि चाहें तो भन्ते ! प्रवेश करें ।”

“अच्छा भन्ते !”—(कह)... दीवारिकने... निर्गन्ध नात-पुत्रसे कहा—

“भन्ते ! उपाधि गृहपति कहते हैं—यदि चाहें तो, प्रवेश करें ।”

निर्गन्ध नात-पुत्र वही भारी निर्गन्ध-परिष्कृष्टे साथ जहाँ बिचली द्वारशाला थी, वहाँ गये । पहिले जहाँ उपाधि गृहपति, वृत्तेही निर्गन्ध नात-पुत्रको आते देखता, देखकर आवाजी कर वहाँ जो अग्र = श्रेष्ठ, उत्तम = प्रणीत आसन होता, उसे (अपनी) चादरसे ढाँककर, उसपर बैठाता था । सो आज जो वहाँ ० उत्तम ० आसन था, उसपर चादर बैठकर निर्गन्ध नात-पुत्रसे बोला—

“भन्ते ! आसन मौजूद है, यदि चाहें तो बैठें ।”

ऐसा कहनेपर निर्गन्ध नात-पुत्रने उपाधि-गृहपतिसे कहा—

“उत्तम होगया है गृहपति ! जग होगया है गृहपति ! तू—“भन्ते ! जाता हूँ अमण-गौतमके साथ वाद रोपूंगा”—(कहकर) जानेके बाद वही भारी वादके संघाट (= जाल) में बैठकर खड़ा है । जैसे कि अंड (= अण्डकोश)-द्वारक निकाले अंडोंके साथ आवे, जैसे कि... अग्नि (= अँस)-द्वारक दुग्ध निकाले अँसोंके साथ आवे, वैसेही गृहपति ! तू—“भन्ते ! जाता हूँ, अमण गौतमके साथ वाद रोपूंगा” (कहकर) जा, वही भारी वाद-संघाटमें बैठकर खड़ा है । गृहपति ! अमण गौतमने आवाजनी-भाषासे खरी (मत) फेली है ।”

“सुन्दर है, भन्ते ! जानतेनी भाषा । कल्याणी है भन्ते ! आवाजनी भाषा । (यदि) मेरे

प्रिय जातिभाई भी इस आवर्तनी-भाषा द्वारा फेर लिये जायें, (तो) मेरे प्रिय जाति-भाइयोंका दीर्घ-कालतक हित-सुख होगा । यदि मन्ते ! सभी क्षत्रिय इस आवर्तनी-भाषासे फेर लिये जायें, तो सभी क्षत्रियोंका दीर्घ-कालतक हित-सुख होगा । यदि सभी ब्राह्मण ० । यदि सभी वैश्य ० । यदि सभी शूद्र ० । यदि देव-मार-महा-सहित सारी लोक, अमण-ब्राह्मण-देव-अनुष्य-सहित सारी प्रजा (= जनता) इस आवर्तनी भाषासे फेर लीजाय, तो'' (उसका) दीर्घकालतक हित-सुख होगा । मन्ते ! आपको उपमा कहता हूँ, उपमासे भी कोई कोई बड़ पुरुष आपणका कथं समझ जाते हैं—

“पूर्वकालमें मन्ते ! किसी जीर्ण = बूढ़े = महत्क ब्राह्मणकी एक नव-वपस्का (= दूधर) माणविका (= तरुण ब्राह्मणी) भायां गर्भिणी आसन्न-प्रसवा हुई । तब मन्ते ! उस माणविकाने ब्राह्मणसे कहा—ब्राह्मण ! जा बाजारसे एक बानरका बच्चा (बिलौना) खरीद ला, वह मेरे कुमार (= बच्चे)का खेल होगा ।”

“ऐसा बोलनेपर, मन्ते ! उस ब्राह्मणने उस माणविकासे कहा—भवती (= आप) ! दहरिये, यदि आप कुमार जन्मेनी, तो उसके लिये मैं बाजारसे मर्कट-बावक (बिलौना) खरीद कर लाऊँगा, जो आपके कुमारका खेल होगा । दूसरी बार भी मन्ते ! उस माणविकाने ० । तीसरी बार भी ० । तब मन्ते ! उस माणविकामें अति-अनुत्क = प्रतिबद्ध-चित्त उस ब्राह्मणने बाजारसे मर्कट-बावक खरीदकर, लाकर, उस माणविकासे कहा—‘भवती ! बाजारसे वह तुम्हारा मर्कट-बावक खरीदकर लाया हूँ, वह तुम्हारे कुमारका बिलौना होगा ।’ ऐसा कहनेपर मन्ते ! माणविकाने उस ब्राह्मणसे कहा—‘ब्राह्मण ! इस मर्कट, बावकको लेकर, वहाँ जाओ जहाँ रक्त-पाणि रजक-पुत्र (= रंगरेवका बेटा) है । जाकर रक्त-पाणि रजक-पुत्रसे कहो—‘सौम्य ! पाणि ! मैं इस मर्कट-बावककी पीतावलेपन रंगसे रंगा मला, दोनों ओर पात्रिय किया हुआ रहता हूँ ।’ तब मन्ते ! उस माणविकामें अति-अनुत्क = प्रतिबद्ध-चित्त वह ब्राह्मण उस मर्कट-बावकको लेकर जहाँ रक्त-पाणि रजक-पुत्र था, वहाँ गया, जाकर रक्त-पाणि रजक-पुत्रसे बोला—‘सौम्य ! रक्तपाणि ! इस ०’ । ऐसा कहनेपर रक्त-पाणि रजक-पुत्रने उस ब्राह्मणसे कहा—‘मन्ते ! वह तुम्हारा मर्कट-बावक न रंगने योग्य है, न मलने योग्य है, न भोजने योग्य है ।’ इसी प्रकार मन्ते ! बाल (= भ्रू) निर्गठोंका वाद (विद्वान्त), बालों (= भजों)को रंजन करने लायक है, पंडितोंको नहीं । (यह) न परीक्षा (= अनुयोग)के योग्य है, न भीमांसाके योग्य है । तब मन्ते ! वह ब्राह्मण दूसरे समय नवा पुस्तकेका जोड़ा ले, जहाँ रक्त-पाणि रजकपुत्र था, वहाँ गया । जाकर रक्त-पाणि रजक-पुत्रसे बोला—‘सौम्य ! रक्त-पाणि ! पुस्तकेका जोड़ा पीतावलेपन (= पीछे) रंगसे रंगा, मला, दोनों ओरसे भीजा (= पात्रिय किया) हुआ चाहता हूँ ।’ ऐसा कहनेपर मन्ते ! रक्त-पाणि रजक-पुत्रने उस ब्राह्मणसे कहा—‘मन्ते ! वह तुम्हारा पुस्तक-जोड़ा रंगने योग्य है, मलने योग्य भी है, भोजने योग्य भी है ।’ इसी तरह मन्ते ! उस भगवान् आर्त्त सम्यक् संबुद्धका वाद, पंडितोंको रंजन करने योग्य है, बालों (= भजों)को नहीं । (यह) परीक्षा और भीमांसाके योग्य है ।”

“गृहपति ! सत्ता-सहित सारी परिषद् जानती है, कि उपाधि गृह-पति निर्गठ नाटपुस्तका आवक है । (अब) गृहपति ! तुझे किसका आवक समझें । ऐसा कहनेपर उपाधि गृहपति आसनसे उठकर, (दाहिने कन्धेको बगलकर) उत्तरार्ध्या (= चर)को, एक कंधेपर कर, निधर भगवान् से उत्तर हाथ जोड़, निर्गठ नाट-पुस्तके बोला—‘मन्ते ! तुमने मैं किसका आवक हूँ ?—

धीर-विगत-भोह्म-संशित-कील-विजित-विजय,
 निहृत्-सु-सम-चित्त-बृद्ध-वीर्य-सुन्दर-प्रज्ञ,
 विभक्त-साधक, विमल—उस भगवान्का मैं आक्क हूँ ॥ १ ॥
 अक्षय-कपी, संतुष्ट, लोभ-भोगकी चमन करनेवाले, सुदित,
 अमण-दुष्ट-मनुज अतिम-शरीर-नर,
 अनुपम, विरज—उस भगवान्का मैं आक्क हूँ ॥ २ ॥
 संशय-रहित, कुशल, विनय-युक्त-यवानेवाले, अष्ट-सारथी,
 अनुत्तर (= सर्वोत्तम), रुचिर-धर्म-वान्, निराकांक्षी, प्रभाकर,
 मान-शेदक, वीर—उस भगवान्का मैं आक्क हूँ ॥ ३ ॥
 उत्तम (= निरुत्तम) अ-प्रमेय, यम्भीर, सुनिश्च-प्राप्त,
 क्षेमकर, शान्ति, धर्मार्थ-वान्, संयत-आत्मा,
 संग-रहित, सुक—उस भगवान्का मैं आक्क हूँ ॥ ४ ॥
 नाग, एकांत-आसन-वान्, संयोजन (= यन्त्र)-रहित, सुक,
 प्रति-मंथक (= वाद-रक्ष), धीर, प्राप्त-ध्वज, धीर-राग,
 दान्त, विप्रर्षण, उस भगवान्का मैं आक्क हूँ ॥ ५ ॥
 क्षति-रहित, अ-पावर्तकी, त्रि-विद्या-युक्त, ब्रह्म (= निर्वाण)-प्राप्त,
 सातक, पदक (= कवि), प्रबल, विदित-वेद,
 सुन्दर, धातु—उस भगवान्का मैं आक्क हूँ ॥ ६ ॥
 आर्य, भावितात्मा, प्राप्त-प्राप्त-यथाकरण,
 स्मृतिमान्, विपश्यन्, अन्त-अभिमानो, अन्-अवतत,
 अ-चंचल, वशी—उस भगवान्का मैं आक्क हूँ ॥ ७ ॥
 तन्मय-गत, ध्यानी, अ-लक्ष-चित्त (= अन्-अनुगत-अन्तर), सुदृढ ।
 अ-सित (= सुदृढ), अ-प्रहीण, प्रविवेक-प्राप्त, क्षम-प्राप्त,
 तीर्थ, शारक—उस भगवान्का मैं आक्क हूँ ॥ ८ ॥
 धीर, वीर (= यहु)-प्रज्ञ, महा-प्रज्ञ विगत-लोभ,
 तथामातृ, सुगत, अ-प्रति-तुदगल (= अ-सुलभीय) = अ-सम,
 विशारद, विपुण—उस भगवान्का मैं आक्क हूँ ॥ ९ ॥
 लक्ष्मी-रहित, सुदृढ, धूम-रहित, अ-लक्ष,
 पूजनीय = ब्रह्म, उत्तम-पुद्गल, अ-सुल,
 महान् उत्तम-यथा-प्राप्त—उस भगवान्का मैं आक्क हूँ ॥ १० ॥

“गृहपति ! अमण गौतमके (यह) गुण तुझे क्या (से) सुझे ?”

“भन्ते ! जैसे नागा पुष्पोंकी एक पुष्प-नामि (ले) एक धतुरे माछी या माछीका भन्ते-
 वाली विचित्र माछा गूँथे; उसी प्रकार, भन्ते ! वह भगवान् अनेक वर्ण (= गुण)वाले अनेक
 बात वर्णवाले हैं । भन्ते ! प्रशंसनीयकी प्रशंसा कौन न करेगा ?”

निर्गन्ध नात-पुत्तने भगवान्के स्तुत्यारको व सहस्रकर, वहीं सुँहसे गर्म छोड़ केँक दिया ।

५७—कुक्कुर-वतिक-सुत्तन्त (२।१।७)

कहा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कोलि (देश) में कोलियोंके हलिद्वयसन (= हरिद्वयसन) नामक विग्रहमें विहार (= निवास) करते थे ।

तब गोवतिक (= गायकी भौंति आने पीनेका व्रत रखने वाला) कोलिय-पुत्त पूर्ण और कुक्कुर-वतिक अचेल (= नंगा) सेनिय (= श्रेणिक) जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर गोवतिक कोलियपुत्त पूर्ण, भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गया । कुक्कुर-वतिक अचेल सेनिय भगवान्के साथ सम्मोद (= कुशल-संगल पूछ) कर कुक्कुरकी भौंति गेंदुरी मार, एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे ० पूर्णने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! यह कुक्कुर-वतिक अचेल सेनिय क्या मुश्किल करनेवाला (= दुष्कर-काश्क) है, भिमें रखे (भोजन) को खाता है । इसने इस कुक्कुर-वतिको दीर्घकालसे निरन्तर ले रक्खा है । उसकी क्या गति = क्या अभिसम्पराय (= जन्मांतर फल) (होगा) ?”

“बस, रहने दे, पूर्ण ! मत मुझसे यह पूछ ।”

इसरी बारभी ० पूर्णने भगवान्से यह कहा—“भन्ते ! ०” ।

तीसरी बारभी ० पूर्णने भगवान्से यह कहा—“भन्ते ! ०” ।

“पूर्ण ! मैं तुझे नहीं (स्वीकार करा) पाता—‘बस, रहने दे, पूर्ण ! मत मुझसे यह पूछ’ । अच्छा, तो मैं तुझसे कहता हूँ । (जब) कोई पूर्ण ! परिपूर्ण अ-खंड कुक्कुर-वतिकी भावना (= सम्भास) करता है, परिपूर्ण अ-खंड कुक्कुर-गोलकी भावना करता है, ० कुक्कुर-चित्की भावना करता है, ० कुक्कुर-आकल्प (= ० तीर-तरीका) की भावना करता है; वह परिपूर्ण अ-खंड कुक्कुर-वतिकी भावना करके, ० कुक्कुर-गोल ०, ० कुक्कुर-चित् ०, ० कुक्कुर-आकल्पकी भावना करके काया छोड़ मरनेके बाद कुक्कुरोंकी योगिमें उत्पन्न होता है । यदि पूर्ण ! उसकी ऐसी दृष्टि हो—‘मैं इस (कुक्कुरके) गोल, व्रत, तप, ब्रह्मचर्यसे देवोंमेंसे कोई देवता होऊँगा; तो वह उसकी मिथ्या-दृष्टि (= झड़ी धारणा) है । पूर्ण ! मिथ्या-दृष्टि (पुरुष) की मैं दो गतियोंमेंसे एक ही गति कहता हूँ—नरक या तिर्यक्- (= पशु)-योगि । इस प्रकार पूर्ण ! कुक्कुर-वतिकी भावना कुक्कुरकी योगिमें ले जाता है, (या) विद्यमान नरकको ।”

ऐसा कहनेपर कुक्कुरवतिक अचेल सेनिय रो पड़ा, बर्सू बहाने लगा ।

तब भगवान्ने ० पूर्णसे यह कहा—“पूर्ण ! मैं तुझसे नहीं (स्वीकार) करा पाया—‘बस, रहने दे ०’ ।”

(सेनिय बोला—) “भन्ते ! भगवान्के मुखे ऐसा कहनेके ब्याप्तसे मैं नहीं रो रहा हूँ । लेकिन भन्ते ! मैंने इस कुक्कुरवतिको दीर्घकालसे ले रक्खा है । यह भन्ते ! ० पूर्णने भी गोवत

दीर्घकालसे...ले रक्खा है। उसकी क्या गति है = क्या अभिसम्पन्न है ?”

“बन्ध, रहने दे सेनिय ! मत तुझसे यह पूछ ।”

दूसरी बार भी ० । तीसरी बार भी ० ।

“सेनिय ! मैं तुझसे नहीं (स्वीकार) करा पाया—‘बन्ध ०’ । अच्छा तो मैं तुझसे कहता हूँ । (जो) कोई सेनिय ! परिपूर्ण भ्र-संज्ञ मोक्षतकी भावना करता है, ० गो-शील ०, ० गो-चित्त ०, ० गो-आकल्प ० ; ०, (वह) काया जोड़ भरनेके बाद मौकी योनिमें उत्पन्न होता है । यदि सेनिय ! उसकी ऐसी इष्टि हो— ० विद्यमान नरकको ।”

ऐसा कहने पर मोक्षतिक कौलियपुत्र पूर्ण रो पड़ा, धीम्बू बहाने लगा ।

तब भगवान्ने ०सेनियसे यह कहा—“सेनिय ! मैं तुझसे नहीं (स्वीकार) करा पाया—‘बन्ध रहने दे ०’ ।”

(पूर्ण बोला—) “मन्ते ! भगवान्के मुझे ऐसा कहनेके सवालसे मैं नहीं रो रहा हूँ । लेकिन मन्ते ! मैंने इस क्षणको दीर्घकालसे...ले रक्खा है । मन्ते ! भगवान् पर मैं इतना श्रद्धावान् (= प्रसन्न) हूँ ; भगवान् ऐसा धर्म-उपदेश करें, जिसमें मैं इस मोक्षतको जोड़ दूँ, और यह सेनिय तुम्हुर-वतको जोड़ दे ।”

“तो पूर्ण ! सुनो ! अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, मन्ते !”—(वह) ० पूर्णने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“पूर्ण ! मैंने इन चार कर्मोंको स्वर्ण जानकर, साक्षात्कारकर अनुम किया है । कौनसे चार ?—(१) पूर्ण ! कोई कर्म होता है कृष्ण (= भुरा) और कृष्ण-विष (= भुरे परिणामवाला) ; (२) पूर्ण ! कोई कर्म होता है, शुद्ध (= अच्छा), और शुद्ध-विष (३) ० कृष्ण-शुद्ध ० ; (४) ० अकृष्ण-अशुद्ध, अकृष्ण-अशुद्ध-विषाक (जो कि) कर्मके लिये (उपयोगी) होता है ।

“क्या है । पूर्ण ! कृष्ण, कृष्ण-विषाक कर्म ?—वहाँ, पूर्ण ! कोई (पुरुष) व्यापाद (= पीना) युक्त काय-संस्कार (= कायिक क्रिया) करता, व्यापाद-युक्त वचन-संस्कार ०, व्यापाद-युक्त मन-संस्कार करता है, वह व्यापाद-युक्त काय-संस्कारको करके, ० वचन-संस्कार ०, ० मन-संस्कारको करके, व्यापाद-युक्त लोकमें उत्पन्न होता है । व्यापाद-युक्त लोकमें उत्पन्न हुये उसे व्यापाद-युक्त स्पर्श (= कर्म-विषाक) आ लगते हैं । वह व्यापाद-युक्त स्पर्शोंके लगनेसे व्यापाद (= पीना)-युक्त केवल दुःखमय वेदनाको अनुभव करता है, जैसे कि नरकके प्राणी । इस प्रकार पूर्ण ! भूत (= यथाभूत=जैसे) से भूत (= तथाभूत=जैसे)को उत्पत्ति होती है ; जैसा करता है, उसके साथ उत्पन्न होता है । उत्पन्न हुयेको स्पर्श आ लगते हैं । इसलियेभी पूर्ण मैं कहता हूँ—‘प्राणी (अपने) कर्मोंके दायार् (= वारित) हैं ।’ पूर्ण ! यह कृष्ण कृष्ण-विषाक कर्म कहा जाता है ।

“क्या है पूर्ण ! शुद्ध, शुद्ध-विषाक कर्म ?—वहाँ, पूर्ण ! कोई (पुरुष) व्यापाद-रहित काय-संस्कार ०^१ व्यापाद-रहित लोकमें उत्पन्न हुये उसे व्यापाद-रहित स्पर्श सूते हैं । वह व्यापाद-रहित स्पर्शोंके लगनेसे व्यापाद-रहित केवल सुखमय वेदनाको अनुभव करता है, जैसे कि शुभमनुत्सन्न देवता । इस प्रकार पूर्ण ! भूतसे भूतकी उत्पत्ति होती है । (प्राणी) जैसा करता है, उसके साथ उत्पन्न होता है । उत्पन्न हुयेको स्पर्श (= मोम) आ लगते हैं । इसलिये पूर्ण ! मैं कहता हूँ—‘प्राणी कर्मोंके दायार् हैं ।’ पूर्ण ! यह शुद्ध, शुद्ध-विषाक कर्म कहा जाता है ।

^१ कपर जैसा, किन्तु निषेधके साथ ।

“क्या है पूर्ण, कृष्ण-शुद्ध कृष्ण-शुद्ध-विपाक कर्म ?—वहाँ पूर्ण ! कोई (पुरष) व्यापाद्-दुक्त भी, अन्ध्यापाद्-शुक्त भी काय-संस्कार ०” वह व्यापाद्-सहितसे और आयाद्-रहित रूपशौके रूपसे व्यापाद्-सहित, व्यापाद्-रहित शुद्ध-दु-स्व-मिश्रित वेदनको अनुभव करता है, जैसे कि मनुष्य, कोई कोई देवता, और कोई कोई विनिपातिक (= नीच शोनिके प्राणी) । इस प्रकार पूर्ण ! मृतसे मृत ० । पूर्ण ! यह कृष्ण-शुद्ध ० ।

“क्या है, पूर्ण ! अकृष्ण-अशुद्ध अकृष्ण-अशुद्ध-विपाक कर्म (जो कि) कर्म-श्रवके लिये उपयोगी होता है ?—वहाँ पूर्ण ! कृष्ण-विपाक कृष्ण कर्मके श्रवके लिये (उपयोगी) जो चेतना (= भासक कर्म) है, ० शुद्ध कर्म ०के श्रवके लिये जो चेतना है, ० कृष्ण-शुद्ध कर्म ० के श्रवके लिये जो चेतना है । पूर्ण यह ० अकृष्ण-अशुद्ध कर्म कहा जाता है । पूर्ण ! मैंने इन चार कर्मोंको स्वयं जाचकर, साक्षात्कार कर अनुभव किया है ।”

ऐसा कहनेपर ० पूर्णने भगवान्से यह कहा—“आश्चर्य ! मन्ते ! अद्भुत !! मन्ते ! जैसे औषेको सीधा करदे । ०” यह मैं भगवान्को शरण जाता हूँ, धर्म और मित्र-संघकी भी । आजसे भगवान् मुझे संजलिवद्ध शरणगत उपासक स्वीकार करें ।”

और कुङ्कुम-वर्तिक जपेल सेनियने भगवान्से यह कहा—“आश्चर्य ! मन्ते ! अद्भुत !! मन्ते ! जैसे औषेको सीधाकर दे ०” यह मैं भगवान्को शरण जाता हूँ, धर्म और मित्र-संघकी भी । मन्ते ! मैं भगवान्के पास प्रज्जया (= संन्यास) पाई, उपसंपदा (= मित्र दीक्षा) पाई ।”

“सेनिय ! जो कोई मृत-पूर्व अन्यतीर्थिक (= दूसरे पंथका व्यक्ति) इस (= उदके) धर्म-विनय (= धर्म)में प्रज्जया उपसंपदा चाहता है, वह चार मास्तक परिचास (= परीक्षार्थ पास) करता है, फिर पसन्द होनेपर उसे मित्र, प्रवर्जित करते हैं, मित्र-भावके लिये उपसम्पादित करते हैं, किन्तु यहाँ मुझे व्यक्ति व्यक्तिमें मित्र मत भी विहित है ।”

“अदि, मन्ते ! मृतपूर्व अन्य-तीर्थिक, इस धर्म-विनयमें प्रज्जया उपसंपदाकी इच्छा करने पर चार आय परिचास करते हैं, फिर पसन्द होनेपर ०; तो मैं चार वर्ष परिचास कहूँगा । चार वर्षोंके बाद पसन्द होनेपर मित्र मुझे प्रवर्जित करें, ० उपसम्पादित करें ।”

० सेनियने भगवान्के पास प्रज्जया पाई, उपसम्पदा पाई । आबुष्मान् सेनिय उपसम्पदा पानेके थोड़े ही समय बाद, एकाकी, एकान्तवासी, प्रसाद-रहित, उद्योगी (और) आत्म-संयमी हो, विहरते; जन्दी ही, जिसके लिये कुल-पुत्र अच्छी तरह घरसे बेघर हो प्रवर्जित होते हैं, उस अनुपम अक्षय्य-फलको इसी जन्ममें जान कर = साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरने लगे—“अस्य शीघ्र होगया, अक्षय्य-वास (पूरा) होगया, करना या सो कर लिया, और कुल वहाँ करनेको नहीं रहा—यह जान गये । आबुष्मान् सेनिय अर्हत्तोंमेंसे एक हुये ।

* ऊपर जैसा, व्यापाद् अन्ध्यापाद् दोनों, तथा कृष्ण, शुद्ध दोनों अंगका । * देखो पृष्ठ २६ ।

५८—अमयराजकुमार-सुचन्त (२।१।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वैष्णवन कलन्दर-निवासें विहार करते थे।

तब अमय-राजकुमार जहाँ निर्गठ नात-पुत्त थे, वहाँ गया। जाकर निर्गठ नात-पुत्तकी अभिवादनकर एक ओर बैठा। एक ओर बैठे अमय-राजकुमारने निर्गठ नात-पुत्तसे कहा—

“आ, राजकुमार ! अमण गौतमके साथ वाद (= वाय्वाध) कर। इससे तेरा सुख (= कल्याणकीतिशब्द) फैलेगा—‘अमय राजकुमारने इतने महर्दिक = इतने महागुनाव अमण गौतमके साथ वाद रोपा’।”

“किस प्रकारसे भन्ते ! मैं इतने महागुनाव अमण गौतमके साथ वाद रोपूँगा ?”

“आ नू राजकुमार ! जहाँ अमण गौतम है, वहाँ जा। जाकर अमण गौतमसे ऐसा कह—‘बसो भन्ते ! तयागत ऐसा वचन बोल सकते हैं, जो दूसरोंको अ-प्रिय = अ-मनाप हो’। यदि ऐसा पूछनेपर अमण गौतम तुझे कहे—‘राजकुमार ! बोल सकते हैं ०’। तब उसे तुम यह बोलना—‘तो फिर भन्ते ! पुचगजन (= अज्ञ संसारी जीव) से (तयागतकर) क्या भेद हुआ, पुचगजन भी ऐसा वचन बोल सकता है ०’। यदि ऐसा पूछनेपर तुझे अमण गौतम कहे—‘राजकुमार ! ० वही बोल सकते हैं’। तब तुम उसे बोलना—‘तो भन्ते ! आपने देवदत्तके लिये मविष्यहाणी क्यों की है—‘देवदत्त अपायिक (= दुर्गतिये जानेवाला) है, देवदत्त नैरयिक (= नरकगामी) है, देवदत्त कल्पस्थ (= कल्पभर नरकमें रहनेवाला) है, देवदत्त अचिकित्स्य (= लाइलाज) है’। आपके इस वचनसे देवदत्त क्षुपित = व्यन्तुष्ट हुआ।’ राजकुमार ! (इस प्रकार) दोनों ओरके प्रश्न पूछनेपर अमण गौतम न उगल सकेगा, न निगल सकेगा। जैसेकि पुरुषके कंठमें लोहेकी बंसी (= शंखाटक) लगी हो, वह न निगल सके न उगल सके, ऐसे ही ० ।”

“अच्छा भन्ते !” कह—अमय राजकुमार—“आसनसे उठ, निर्गठ नात-पुत्तकी अभिवादन कर, दक्षिणाकर, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्की अभिवादनकर, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुये अमय राजकुमारने सूर्य (= समय) देखकर सोचा—‘आज भगवान्से वाद रोपनेका समय नहीं है। कल अपने घरपर भगवान्के साथ वाद करूँगा’। (और) भगवान्से कहा—

“भन्ते ! भगवान् अपने सहित चार आदिभियोंका कलको मेरा भोजन स्वीकार करें।”

भगवान्ने मौखसे स्वीकार किया। तब अमय राजकुमार भगवान्की स्वीकृति जान, भगवान्की अभिवादनकर, प्रदक्षिणाकर चला गया।

उस रातके धीतनेपर भगवान् पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्रचीवर ले, जहाँ अमय राजकुमार का घर था, वहाँ गये। जाकर धिठे आसनपर बैठे। अमय राजकुमारने भगवान्को उत्तम खाद्य

भोजनसे अपने हाथसे कृत किया, पूर्ण किया। तब जयराजकुमार, भगवान्‌के भोजनकर, पात्रसे हाथ हटा लेनेपर, एक बीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुये, जयराजकुमार ने भगवान्‌से कहा—

“क्या भन्ते ! तद्भागत ऐसा वचन बोल सकते हैं, जो दूसरेको अ-प्रिय = अ-मनाप हो।”

“राजकुमार ! यह एकांशसे (= सर्वथा = बिना अपवादके) नहीं (कहा जा सकता)।”

“भन्ते ! नाश होगये निर्गट।”

“राजकुमार ! क्या तू ऐसे बोल रहा है—‘भन्ते ! नाश हो गये निर्गट ?’”

“भन्ते ! मैं जहाँ निर्गट नाश-गुप्त है, वहाँ गया था। जाकर निर्गट नाश-गुप्तको अग्निवा-दनकर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे मुझे निर्गट नाश-गुप्तने कहा—‘जा राजकुमार ! ०’ ०। इसी प्रकार राजकुमार ! दुधारा प्रद्वन पूछनेपर अमण गौतम न उगल सकेगा, न निगल सकेगा।”

उस समय जयराजकुमारकी गोदमें, एक छोटा मन्थ, उज्जान सोने कायक (= बहुतही छोटा) पच्चा, बैठा था। तब भगवान्‌ने जयराजकुमारसे कहा—

“तो क्या मानता है राजकुमार ! क्या तेरे या दाइके प्रमाद (= मफकत)से यदि यह कुमार मुझमें काठ या वेला डाल ले, तो तू इसको क्या करेगा ?”

“निकाल लूँगा, भन्ते ! यदि भन्ते ! मैं पहिलेही न निकाल सका, तो बायें हाथसे सीध पकड़कर, दाहिने हाथसे बैंगुली डोकर, खून-सहित भी निकाल लूँगा।”

“तो किस लिये ?”

“भन्ते ! मुझे कुमार (= पच्चे) पर दया है।”

“ऐसेही, राजकुमार ! (१) तद्भागत जिस वचनको अभूत = अ-तत्त्व, अन्-अर्थ-गुप्त (= अर्थ) जानते हैं, और वह दूसरोको अ-प्रिय, अ-मनाप है, उस वचनको तद्भागत नहीं बोलते। (२) तद्भागत जिस वचनको भूत = तत्त्व अनर्थक जानते हैं, और वह दूसरोको अ-प्रिय = अ-मनाप है, उस वचनको तद्भागत नहीं बोलते। (३) तद्भागत जिस वचनको भूत = तत्त्व सार्वक जानते हैं। कालज (= काल जाननेपर) तद्भागत उस वचनको बोलते हैं। (४) तद्भागत जिस वचनको अभूत = अतत्त्व तथा अवर्थक जानते हैं, और वह दूसरोको प्रिय और मनाप है, उस वचनको भी तद्भागत नहीं बोलते। (५) जिस वचनको तद्भागत भूत = तत्त्व (= सच) = सार्वक जानते हैं, और वह यदि दूसरोको प्रिय = मनाप होती है, कालज तद्भागत उस वचनको बोलते हैं। तो किसलिये ?—राजकुमार ! तद्भागतको प्राणियोंपर दया है।”

“भन्ते ! जो यह अविष-यक्षित, बाह्य-यक्षित, गृहपति-यक्षित, अमण-यक्षित, प्रद्वन तैवार-कर तद्भागतके पास आकर पूछते हैं। भन्ते ! क्या भगवान्‌ पहिलेहीसे चिन्तमें सोचे रहते हैं—‘जो मुझे ऐसा आकर पूछेंगे, उनके ऐसा पूछनेपर, मैं ऐसा उत्तर दूँगा ?’”

“तो राजकुमार ! तुझेही यहाँ पूछता हूँ, जैसे तुझे जैसे, जैसे इसका उत्तर देना। तो... राजकुमार ! क्या तू रथके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें चतुर है ?”

“हाँ, भन्ते ! मैं रथके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें चतुर हूँ।”

“तो राजकुमार ! जो तेरे पास आकर यह पूछें—‘यह रथका कौनसा अङ्ग-प्रत्यङ्ग है ?’ तो क्या तू पहिलेही से यह सोचे रहता है—जो मुझे आकर ऐसा पूछेंगे, उनके ऐसा पूछनेपर, मैं

ऐसा उत्तर देगा । अथवा सुकामहीपर यह तुझे मासित होता है ?”

“मन्ते ! मैं रविच हूँ, रथके अंग-प्रत्यंगका मैं प्रसिद्ध (जानकार), चतुर हूँ । रथके सभी अङ्ग-प्रत्यंग मुझे सुविदित हैं । (अतः) उसी क्षण (= स्वानशः) मुझे यह मासित होगा ।”

“ऐसे ही राजकुमार ! जो वह क्षत्रिय-वंदित, ० अमण-वंदित प्रदत्त तय्यार कर, तथागतके पास जाकर पड़ते हैं । उसी क्षण वह तथागतको मासित होता है । सो किस हेतु ?—राजकुमार ! तथागतकी धर्मपातु (= मनका विषय) अच्छी तरह स्मृति गई है ; जिस धर्म-पातुके अच्छी तरह स्मृति होनेसे, उसी क्षण (वह) तथागतको मासित होता है ।”

ऐसा कहनेपर अमण राजकुमारने भगवान्से कहा—

“आह्वय ! मन्ते !! अद्भुत ! मन्ते !! ०” आजने भगवान् मुझे अंजलि-बद्ध शरणागत उपासक धारण करें ।”

५६-बहु-वेदनीय-सुत्तन्त (२।१।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब पंचकांग (= पंचकांग) स्वपति (= स्वपति = भगई) जहाँ आयुष्मान् उदायी थे, वहाँ गया; जाकर आयुष्मान् उदायीको अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे पंचकांग स्वपतिने आयुष्मान् उदायीसे यह कहा—

“भन्ते उदायी ! भगवान्ने कितनी वेदनायें (= अनुभव), कही हैं ?”

“स्वपति ! भगवान्ने तीन वेदनायें कही हैं—(१) सुखा वेदना (२) दुःखा वेदना, (३) अदुःख-असुखा वेदना ।”

“भन्ते उदायी ! भगवान्ने तीन वेदनायें नहीं कहीं, दो वेदनायें भगवान्ने कही हैं—सुखा वेदना और दुःखा वेदना । भन्ते ! जो यह अदुःख-असुखा वेदना है उसे भगवान्ने शान्त उत्तम सुखके विषयमें कहा है ।”

दूसरी बार भी आयुष्मान् उदायीने पंचकांग स्वपतिसे यह कहा—“स्वपति ! भगवान्ने दो वेदनायें नहीं कही हैं । भगवान्ने तीन वेदनायें कही हैं—० ।”

दूसरी बार भी पंचकांग स्वपतिने आयुष्मान् उदायीसे यह कहा—“नहीं भन्ते उदायी ! ० शान्त उत्तम सुखके विषयमें कहा है ।”

तीसरी बार भी आयुष्मान् उदायीने ० ।

तीसरी बार भी पंचकांग स्वपतिने ० ।

न आयुष्मान् उदायी पंचकांग स्वपतिको समझा सके, न पंचकांग स्वपति आयुष्मान् उदायीको समझा सका ।

आयुष्मान् आनन्दने आयुष्मान् उदायीके पंचकांग स्वपतिके साथ (होते) इस कथा संक्षेपको सुन लिया । तब आयुष्मान् आनन्द जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् आनन्दने जो कुछ आयुष्मान् उदायीका पंचकांग स्वपतिके साथ कथा-संक्षेप हुआ था, सब भगवान्से कह दिया । ऐसा कहने पर भगवान्ने आयुष्मान् आनन्दसे यह कहा—

“आनन्द ! पंचकांग स्वपतिने उदायीका कथन (= पर्याय) ठीक होते (उसे) अनुमोदित नहीं किया । आनन्द ! उदायीने पंचकांग स्वपतिका कथन ठीक होते (उसे) अनुमोदित नहीं किया । आनन्द ! पर्याय (= मतलब)से मैंने दो वेदनायें भी कही हैं, पर्यायसे मैंने तीन वेदनायें भी कही हैं, ० पर्याय वेदनायें ०, ० अठारह वेदनायें ०, ० एक सौ, आठ वेदनायें भी ० । इस प्रकार आनन्द ! पर्यायसे मैंने धर्मको उपदेशा है । इस प्रकार पर्यायसे उपदेश धर्ममें जो एक दूसरेके

सुभाषित = सु-अपिषितको यही स्वीकार करते, नहीं मानते, नहीं अनुमोदन करते, उनके लिये यही आशा करनी होगी, कि वह भ्रमन = कलह, विवाद करनेवाले हो एक दूसरेको सुख (रूपी) शक्ति (= इच्छा) से वेधते फिरेंगे । आनन्द ! इस प्रकार पक्षांशले उपदेशों भ्रमों जो एक दूसरेके सुभाषित = सु-अपिषितको स्वीकारते, मानते, अनुमोदन करते हैं, उनके लिये यही आशा करनी होगी, कि वह एक हो सम्मोदन (= सुखी) करते, विवाद-रहित हो, झूठ-जल हो, एक दूसरेको प्रिय नेषोंमें देखते विहरेंगे ।

“आनन्द ! यह पाँच काम-गुण (= भोग) हैं । कौनसे पाँच ?—इष्ट-कौत भनाप-प्रिय स्वरूप, भोग-युक्त रजनीय पञ्चुसे विज्ञेय (= ज्ञेय) रूप, ० भोगसे विज्ञेय शब्द, ० प्राण-विज्ञेय गंध, ० विज्ञा-विज्ञेय रस, ० काय-विज्ञेय स्पर्श । आनन्द ! यह पाँच काम-गुण हैं । आनन्द ! इन पाँच कामगुणोंके आश्रयसे जो सुख-सौमनस्य उत्पन्न होता है, उसे काम-सुख कहा जाता है ।

“आनन्द ! यदि कोई यह कहे—प्राणी इतना तक ही सुख-सौमनस्यका अनुभव करते हैं, तो उसके इस कथनको मैं अनुमोदित नहीं करता । सो किस हेतु ?—आनन्द ! इस सुखसे अधिक अच्छा-प्रणीततर दूसरा सुख है । आनन्द ! कौन सुख इस सुखसे अधिक अच्छा-प्रणीततर है ?—यहाँ आनन्द ! भिक्षु ०^१ प्रथम-भ्यानको प्राप्त हो विहरता है । यह आनन्द ! उस सुखसे ० प्रणीततर दूसरा सुख है ।

“आनन्द ! यदि कोई यह कहे ० मैं अनुमोदित नहीं करता । ० । ०^१ द्वितीय-भ्यानको प्राप्त हो विहरता है । ०

“आनन्द ! यदि कोई यह कहे ०, मैं अनुमोदित नहीं करता । ० । ०^१ तृतीय-भ्यानको प्राप्त हो विहरता है । ०

“आनन्द ! यदि कोई यह कहे ०, मैं अनुमोदित नहीं करता । ० । ०^१ चतुर्थ-भ्यानको प्राप्त हो विहरता है । ०

“ ० । ० । ०^१ आकाशानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरता है । ०

“ ० । ० । ०^१ विशालानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरता है । ०

“ ० । ० । ०^१ आकिञ्चन्यायतनको प्राप्त हो विहरता है । ०

“ ० । ० । ०^१ नैव-संज्ञा-नासंज्ञायतनको प्राप्त हो विहरता है । ०

“ ० । ० । यहाँ आनन्द ! भिक्षु नैव-संज्ञा-नासंज्ञायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर संज्ञा-वेदित-निरोधको प्राप्त हो विहरता है । यह आनन्द ! उस सुखसे ० प्रणीततर दूसरा सुख है ।

“हो सकता है आनन्द ! अन्य-तीर्षिक (= पंचाई) परित्राजक यह कहें—धम्म भौतम संज्ञा-वेदित-निरोधको कहता, और उसे सुखमय बतलाता है । तो वह क्या है, सो वह कैसा है ? ऐसा कहनेवाले अन्य-तीर्षिक परित्राजकोंसे ऐसा कहना चाहिये—‘आवुसो ! भगवान् सुखा वेदान्हीका कपाल करके (उसे) सुखमें नहीं बतलाते; पक्कि जहाँ जहाँ सुख उपलब्ध होता है, उस उसको ही तथ्यागत सुखमें बतलाते हैं ।’”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आवुष्मान् आनन्दने भगवान् के भाषणको अभिहित किया ।

६०—अपण्णक-सुत्तन्त (२।१।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् महान् भिक्षु-संघके साथ कोसल (देश)में चारिका (= विचरण) करते, वहाँ शाला (= साला) नामके कोसलोंका ब्राह्मण-ग्राम था, वहाँ पहुँचे।

शालाके ब्राह्मण-गृहपतियोंने सुना—शाक्य कुलसे प्रवर्जित ०^१ एक और वैदे शालाके ब्राह्मण-गृहपतियोंसे भगवान्ने यह कहा—

“गृहपतियो ! क्या कोई तुम्हारा (ऐसा) मनाप (= मनको मुष्ट करनेवाला) शाला (= उपदेशक) है जिसमें तुम्हें सहेतुक अच्छा हुई हो ?”

“नहीं, भन्ते ! कोई हमारा ऐसा मनाप शाला (नहीं) जिसमें हमारी सहेतुक अच्छा हुई हो ।”

“गृहपतियो ! मनाप वास्ता न मिलने पर तुम्हें इस अपण्णक (= अपण्णक) धर्मको ग्रहण कर रहना चाहिये। गृहपतियो ! (वह) अपण्णक (= द्विविधा-रहित) धर्म क्या है ?—गृहपतियो ! (१) कोई कोई अमण-ब्राह्मण इस वादवाले = इस दृष्टिवाले होते हैं^२—“नहीं है दान (का फल), नहीं है यज्ञ (का फल), नहीं है हवन (का फल), नहीं है सुकृत दुष्कृत कर्मोंका फल-विपाक, यह लोक नहीं है, परलोक नहीं है; भ्राता नहीं पिता नहीं, औपपातिक (= अव्योमित देव आदि) प्राणी नहीं है। लोकमें (ऐसे) सत्यको प्राप्त, सत्याख्य अमण ब्राह्मण नहीं है, जो कि इस लोक परलोकको स्वयं जानकर साक्षात्कार कर, (दूसरोंको) जतलावेंगे।” (२) गृहपतियो ! उन्हीं अमण ब्राह्मणोंके विरुद्ध (= ऋजु-प्रत्यनीक) वादवाले दूसरे यह कहते हैं—“है दान, है यज्ञ, है हवन, है सुकृत दुष्कृत कर्मोंका फल-विपाक, है यह लोक, है परलोक, है भ्राता, है पिता, है औपपातिक प्राणी, है लोक में सत्यको प्राप्त कर, सत्याख्य अमण ब्राह्मण, जो कि इस-लोक परलोकको स्वयं जानकर साक्षात्कार कर जतलाते हैं।” तो क्या मानते हो, गृहपतियो ! यह अमण ब्राह्मण एक दूसरेके विरोधी वाद-वाले हैं न ?”

“हाँ, भन्ते !”

(१) “वहाँ, गृहपतियो ! जो अमण ब्राह्मण इस वादवाले ० हैं—“नहीं है दान ० साक्षात्कार कर जतलावेंगे”, उनसे यह आशा रखनी चाहिये—कि वह काय-सुचरित (= कायिक सुकर्म), वाचिक सुचरित, मन-सुचरित इन तीनों कुशल-धर्मों (= सुकर्मों)को त्याग कर, काय-दुश्चरित (= कायिक दुष्कर्म), वचन-दुश्चरित, मनो-दुश्चरित इन तीनों अकुशल-धर्मोंको ग्रहण करेंगे। तो किस हेतु ?—क्योंकि वह आप अमण ब्राह्मण अकुशल धर्मोंमें दोष (= आदिनव),

^१ देखो शुद्ध १६८। ^२ अजित केवल-कम्बुजीका मत (देखो बुद्धचर्यो २६१, ४६१ नीं)।

अपकार, संश्लेष (= घात, मार) नहीं देखते, और कुशल धर्मों में, निष्कामता में, गुण (= आनन्द-शान्ति) सुखता (= व्यवहार-पक्ष) नहीं देखते । परलोक के होते भी—'परलोक नहीं है' यह उनकी दृष्टि (= सिद्धांत) होती है, यह उनकी मिथ्या-दृष्टि है । परलोक के होते हुये—'परलोक नहीं है' यह वह संकल्प (= कल्पना) करते हैं, यह उनके मिथ्या-संकल्प हैं । ० 'परलोक नहीं है'—यह वह वचन बोलते हैं, यह उनका मिथ्या-वाक् है । परलोक के होते हुये,—'परलोक नहीं है', और यह परलोकवेदी अर्हंतों के (कथन के) विरुद्ध है । ०—'परलोक नहीं है'—यह दूसरों को समझाते हैं, यह उनका असद्वर्त-संज्ञापन है । इस असद्वर्त-संज्ञापन से वह कल्पना उत्कर्ष चाहते हैं, और दूसरों को निन्दते हैं इस प्रकार पहिले उनकी सुखीलता नष्ट हो गई रहती है, और दुःखीलता उपस्थित रहती है, मिथ्या-दृष्टि, मिथ्या-संकल्प, मिथ्या-वाक्, आर्यों का विरोध, असद्वर्त-संज्ञापन, आत्मोत्कर्ष, पर-व्यभिचार (= दूसरे को निन्दना) यह अनेक पाप = अकुशल धर्म (= पुराणों) होते हैं, मिथ्या दृष्टि के कारण ।

'गृहपतियो ! वहाँ किछ पुरुष सोचता है—यदि 'परलोक नहीं है', तो इस प्रकार यह आप पुरुष = पुद्गल काया छोड़ भरने के बाद अपना स्वस्ति (= कल्याण, सुरक्षा) करेगा; यदि परलोक है, तो यह पुरुष = पुद्गल काया छोड़ भरने के बाद अपना = दुर्गति, विनिपात (= पतन), नरक में उत्पन्न होगा । चाहे परलोक न भी हो, चाहे इन आप भ्रमण ब्राह्मणों का वचन सत्य भी हो, तो भी तो यह पुरुष = पुद्गल इसी जन्म में विज्ञों द्वारा निन्दित है—'यह पुरुष = पुद्गल दुःशील, मिथ्या-दृष्टि, नास्तिकवादी है' । यदि परलोक है, तब तो इस आप पुरुष = पुद्गल की दोनो ओर से कलिग्रह है—इस जन्म में भी विज्ञों द्वारा निन्दा, और काया छोड़ भरने के बाद अपना = दुर्गति, विनिपात, नरक में उत्पन्न होगा । इस प्रकार इनके इस अपर्णाक धर्म के पुराणग्रह से, ग्रहण से एक ओर पूर्ण होना कुशल स्थान से वंचित होता है ।

(२) 'वहाँ गृहपतियो ! जो भ्रमण ब्राह्मण इस वाद वाले = इस दृष्टिवाले हैं—'है दान ० ।' उनके संबन्ध में यह आशा करनी चाहिये, कि वह ० काय-दुश्चरित, वचन-दुश्चरित, मनो-दुश्चरित इन तीनों अकुशल-धर्मों को छोड़कर, ० काय-सुचरित, वचन-सुचरित, मनो-सुचरित इन तीनों कुशल धर्मों का ग्रहण करेंगे । सो फिर हेतु ?—क्योंकि वह आप भ्रमण ब्राह्मण अकुशल धर्मों में दोष ० को देखते हैं; और कुशल धर्मों में निष्कामता में गुण, सुदृढता देखते हैं । परलोक के सद्भाव में—'परलोक है' यह उनकी दृष्टि होती है, यह उनकी सम्यग्-दृष्टि है । परलोक के सद्भाव में 'परलोक है', यह उनका संकल्प होता है, (और) यह उनका सम्यक्-संकल्प है । ० 'परलोक है' यह वह वचन कहते हैं, (और) यह उनका सम्यक्-वाक् है । ० 'परलोक है'—यह परलोक-विद् अर्हंतों के (कथन का) विरोधी (= प्रत्यूनीक) नहीं है । ० 'परलोक है', यह दूसरे को संज्ञापन (= समझाता) करते हैं, यह उनका सद्वर्त-संज्ञापन है; इस सद्वर्त-संज्ञापन द्वारा न वह अपना उत्कर्ष (= आत्मोत्कर्ष) चाहते हैं, न दूसरे को निन्दते (= परव्यभिचार) हैं । इस प्रकार पहिले ही उनकी दुःखीलता नष्ट हो गई रहती है, और सुखीलता उपस्थित रहती है, और वह सम्यग्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाक्, आर्य-अप्रत्यनीकता, सद्वर्त-संज्ञापन, न-आत्मोत्कर्षण, न-पर-व्यभिचार से युक्त होता है । वह अनेक कुशल-धर्म होते हैं, सम्यग्-दृष्टि के कारण ।

'गृहपतियो ! वहाँ किछ पुरुष यह सोचता है—यदि परलोक है, तो यह आप पुरुष = पुद्गल काया छोड़ भरने के बाद ० स्वर्गलोक में उत्पन्न होंगे । चाहे परलोक मत हो, और इन भ्रमण-ब्राह्मणों का वचन सत्य हो; तो भी तो यह आप पुरुष = पुद्गल इसी जन्म में विज्ञों द्वारा प्रशंसित है—यह पुरुष = पुद्गल शीलवान्, सम्यग्-दृष्टि, आस्तिकवादी है । यदि परलोक है, तब तो इस आप

२१११०]

पुण्य-पुण्यलक्ष्मी दोनों ओर लाभ है—इस जन्ममें विघ्नों द्वारा प्रशंसा, और काया डोब भरनेके बाद मृगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न होना । इस प्रकार इनके इस अपराधक (= द्विविधा-रहित) धर्म के सुग्रहण-समाधानसे दोनों ओर पूर्ण होना है, अकुशल स्थानसे ही वंचित होना है ।

(३) "गृहपतियो ! कोई कोई भ्रमण भ्रातृण इस वादवाले = इस दृष्टिवाले होते हैं—

'(पाप) करते-करवाते, काटते-कटवाते, पकाते-पकवाते, जोक करते, परेशानी करते, मभते-मभाते, प्राण मारते, चोरी करते, सैध लगाते, गौंय लुटते, घर छुटते, रहनी करते, पर-खी गमन करते, छठ बोलते भी पाप नहीं किया जाता । धुरेसे (या) तेज़ चक्र-द्वारा यदि कोई इस पृथिवीके प्राणियों (को मार कर) मौसका एक खलियान, मौसका एक पुंज बना दे, तो इसके कारण उसे पाप नहीं होगा, पापका आगम नहीं होगा । यदि भाल करते-कराते, काटते-कटवाते, पकाते-पकवाते, (इधरसे) गंगाके दाहिने तीर पर भी जायें, तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं, पापका आगम नहीं होगा । धाव देते-दिलाते, बल करते-कराते, (दक्षिणसे) गंगाके उत्तर तीर भी जायें, तो (भी) इसके कारण उसको पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं होगा । दान, दम (= इन्द्रिय-निग्रह) संयम, सत्य भाषणसे पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं (होता) ।'

(४) "गृहपतियो ! इन्हीं भ्रमण-भ्रातृणोंके विरुद्ध वादवाले दूसरे यह कहते हैं—'(पाप) करते करवाते • छठ बोलते पाप होता है । • मौसका एक पुंज बना दे, तो इसके कारण उसे पाप होगा, पापका आगम होगा । • गंगाके दाहिने तीर पर जायें, तो इसके कारण उसको पाप होगा • । दान देते-दिलाते • उसको पुण्य होगा • । दान, दम, संयम, सत्यभाषणसे पुण्य होता है, पुण्यका आगम होता है । तो क्या मानते हो, गृहपतियो ! यह भ्रमण-भ्रातृण एक दूसरेके विरोधी वादवाले हैं न ?'

"हाँ, भन्ते !"

(५) "गृहपतियो ! वहाँ जो भ्रमण-भ्रातृण इस वादवाले हैं—'(पाप) करते करवाते • सत्यभाषणसे पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं', उनसे यह आज्ञा रखनी चाहिये—कि वह कानिष कुचरित • को त्याग कर, • अकुशल-धर्मोंको ग्रहण करेंगे । सो किस हेतु ?—क्योंकि वह आप भ्रमण भ्रातृण • नहीं देखते । किया (= कर्म) के होते भी—'किया नहीं है' यह उनकी दृष्टि होती है; यह उनकी मिथ्या-दृष्टि है • यह अनेक पाप = अकुशल धर्म होते हैं मिथ्या दृष्टिके कारण ।

'गृहपतियो ! वहाँ विश्व पुरुष यह सोचता है—'यदि किया नहीं है • कुशल स्थान (= भले काम) से वंचित होता है ।'

(६) "गृहपतियो ! वहाँ जो भ्रमण भ्रातृण इस वादवाले=इस दृष्टि वाले हैं—'करते करवाते • पुण्यका आगम होता है', उनके सम्बंधमें यह आज्ञा करनी चाहिये—'• अकुशल-धर्मोंको ग्रहण करेंगे । सो किस हेतु ? • 'किया है'—यह उनकी दृष्टि होती है, यह उनकी सम्यग्-दृष्टि है • यह अनेक कुशल-धर्म होते हैं, सम्यग्-दृष्टिके कारण ।

"गृहपतियो ! वहाँ विश्व पुरुष यह सोचता है—'यदि किया है' • अकुशल स्थानसे ही वंचित होता है ।

* एते काश्चपका मत (देखो पृष्ठ ४६९, २६२) । * देखो पृष्ठ २४० । * देखो पृष्ठ २४० ('परलोक नहीं है' के स्थान पर 'किया नहीं है' पढ़ना चाहिये) । * देखो पृष्ठ २४० । * देखो पृष्ठ २४० ('परलोक है' के स्थान पर 'किया है' पढ़ना चाहिये) । * देखो पृष्ठ २४० ।

(७) "गृहपतियो ! कोई कोई अमण-ब्राह्मण इस वादवाले-इस दृष्टिवाले होते हैं—
'सत्त्वों (= प्राणियों) के संक्लेश (= चित्तकी मलिनता) का कोई हेतु नहीं-कोई प्रत्यय नहीं;
बिना हेतु, बिना प्रत्ययके प्राणी संक्लेशको प्राप्त होते हैं। प्राणियोंकी (चित्त-)विशुद्धिका
कोई हेतु-प्रत्यय नहीं; बिना हेतु-प्रत्यय प्राणी विशुद्धिको प्राप्त होते हैं। बल नहीं (चाहिये),
वीर्य नहीं, पुरुषका स्वाम (= इच्छा) नहीं, पुरुष-पराक्रम नहीं (चाहिये), सभी सत्त्व-धापी=
सूत=वीर्य, अ-वस=अ-बल=अ-वीर्य (हो) विषयति (= भवितव्यता) के वशमें हो, कःओं अभि-
जातियों (= जन्मों) में सुख दुःख अनुभव करते हैं।"

(८) इन्हीं अमण-ब्राह्मणोंके विरुद्ध वाद वाले दूसरे यह कहते हैं—'हे हेतु सत्त्वोंके संक्लेश-
का, है प्रत्यय; हेतुसे, प्रत्ययसे प्राणी संक्लेशको प्राप्त होते हैं। हे हेतु, है प्रत्यय प्राणियोंकी
विशुद्धिका; हेतुसे-प्रत्ययसे प्राणी विशुद्धिको प्राप्त होते हैं; है (उपयोक्ता) बल, वीर्य, पुरुषका
स्वाम, पुरुष-पराक्रम, और नहीं सभी सत्त्व ० अवस, अ-बल, अ-वीर्य विषयतिके वशमें हो कःओं
अभिजातियोंमें सुख दुःख अनुभव करते हैं।' तो क्या मानते हो, गृहपतियो ! यह अमण
ब्राह्मण एक दूसरेके विरोधी वादवाले हैं न ?"

"हाँ, भन्ते !"

(९) "यहाँ, गृहपतियो ! जो अमण-ब्राह्मण इस वादवाले हैं—'सत्त्वोंके संक्लेशका कोई
हेतु नहीं ० कःओं अभिजातियोंमें सुख-दुःख अनुभव करते हैं' उनमें यही आशय करनी चाहिये,
कि वह ०" अकुशल-धर्मोंको ग्रहण करेंगे। सो किस हेतु ?—०" 'हेतु नहीं है', यह उनकी दृष्टि
होती है; यह उनकी मिथ्या-दृष्टि है ०" यह अनेक पाप-अकुशल धर्म होते हैं, मिथ्या-दृष्टिके
कारण।

"गृहपतियो ! यहाँ विश्व पुरुष यह सोचता है—'यदि हेतु नहीं है ०' कुशल स्थानसे
वंचित होता है।

(१०) "यहाँ, गृहपतियो ! जो अमण-ब्राह्मण इस वादवाले हैं—'हे हेतु सत्त्वोंके संक्लेश
का ० नहीं कःओं अभिजातियोंमें सुख-दुःख अनुभव करते'; उनसे यह जाना करनी चाहिये, कि
वह ०" कुशल-धर्मोंको ग्रहण करेंगे। सो किस हेतु ?—०" 'हे हेतु' यह उनकी दृष्टि होती है;
(और) यह उनकी सम्यग्-दृष्टि है ०" यह अनेक कुशल धर्म होते हैं, सम्यग्-दृष्टिके कारण।
"गृहपतियो ! यहाँ विश्व पुरुष यह सोचता है—'यदि हेतु है ०' अकुशल स्थानसे हो
वंचित होता है।

(११) "गृहपतियो ! कोई कोई अमण-ब्राह्मण इस वादवाले-इस दृष्टिवाले होते हैं—
'आरूप्य (= रूप-रहित देवताओंके लोक) सर्वथा नहीं है'।

(१२) गृहपतियो ! इन्हीं अमण-ब्राह्मणोंके विरुद्ध वादवाले दूसरे कहते हैं—'आरूप्य
सर्वथा है'। तो क्या मानते हो, गृहपतियो ! यह अमण-ब्राह्मण एक दूसरेके विरोधी वादवाले
हैं न ?"

"हाँ, भन्ते !"

* मज्झिम-निकायका अर्थ। देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ ४६९, ४६२।

* देखो पृष्ठ २४०।

* देखो पृष्ठ २४०, २४१ ('परलोक नहीं है' के स्थान पर 'हेतु नहीं है' पढ़ना चाहिये)।

* देखो पृष्ठ २४०।

* देखो पृष्ठ २४१।

* देखो पृष्ठ २४० ('परलोक है' के स्थान

पर 'हेतु है' पढ़ना चाहिये)। * देखो पृष्ठ २४०, २४१।

“वहाँ गृहपतियो ! विश्व पुरुष यह सोचता है—जो भ्रमण-ब्राह्मण इस वादवाले ० है—‘आरूप्य सर्वथा नहीं है’, यह मेरा देखा नहीं है । और जो यह भ्रमण ब्राह्मण इस वादवाले ० है—‘आरूप्य सर्वथा है’, यह मुझे ज्ञात नहीं । यदि मैं बिना जानते, बिना देखते, एकतरफा कहने लगूँ—‘यही सच है, और यह है’ तो यह मेरे योग्य नहीं । जो आप भ्रमण ब्राह्मण इस वादवाले ० है—‘आरूप्य सर्वथा नहीं है’, यदि उनका यह वचन सच है, तो हो सकता है, कि जो यह देवता रूपमान् भगवान् हैं, उनमें मेरी अपूर्णक (= द्विविधारहित) उत्पत्ति हो । और जो आप भ्रमण-ब्राह्मण इस वादवाले ० है—‘आरूप्य सर्वथा है’, यदि उनका यह वचन सच है, तो हो सकता है, कि जो यह देवता रूप-रहित संज्ञात्म्य हैं, उनमें मेरी अपूर्णक उत्पत्ति हो । ओ ! रूपके कारण (जगत्के लिये) इन्द्र-ग्रहण, शक्र-ग्रहण, कलह, विग्रह, विवाद, तू तू (मैं मैं), तुमलो, मृषावाद देखा जाता है, किन्तु आरूप्य (लोक)में यह नहीं है; यह सोच यह रूपोंसे निर्वैद-वैराग्य, निरोधके लिये तत्पर होगा ।

(१३) “गृहपतियो ! कोई कोई भ्रमण-ब्राह्मण इस वादवाले ० होते हैं—‘भव-निरोध (= जन्म मरणका अन्त) सर्वथा नहीं होता’ ।

(१४) गृहपतियो ! उन्हीं भ्रमण-ब्राह्मणोंके विरुद्ध वादवाले दूसरे कहते हैं—‘भव-निरोध सर्वथा (= अवश्य) होता है’ । तो क्या मानते हो, गृहपतियो ! यह भ्रमण ब्राह्मण एक दूसरेके विरोधी वादवाले हैं न ?”

“हाँ, सन्ते !”

“वहाँ, गृहपतियो ! विश्व पुरुष यह सोचता है—०—‘भव-निरोध सर्वथा नहीं होता’—यह मेरा देखा नहीं है । ०—‘भव-निरोध सर्वथा होता है’—यह मुझे ज्ञात नहीं ० । ०—‘भव-निरोध सर्वथा नहीं होता’—यदि यह वचन सच है, तो हो सकता है, कि जो यह देवता रूप-रहित संज्ञा-त्म्य (संज्ञा-होण ही जिनका प्रारोह है) है उनमें मेरी अपूर्णक उत्पत्ति होवे । ०—‘भव-निरोध सर्वथा होता है’—यदि यह वचन सच है, तो हो सकता है, कि मैं इसी जन्ममें परिनिर्वाणको प्राप्त हो जाऊँ । जो यह भ्रमण ब्राह्मण इस वादवाले ० है—‘भव-निरोध सर्वथा नहीं होता’, उनकी यह दृष्टि मरामताके पास (ले जानेवाली है), संयोग, अभि-मन्दन (= शिष्टा), अध्वयसान्=उपादान (= ग्रहण)के पास (ले जानेवाली है) । किन्तु जो आप भ्रमण ब्राह्मण इस वादवाले ० है—‘भव-निरोध सर्वथा होता है’, उनकी यह दृष्टि अ-म-रामता (= वैराग्य), अ-संयोग, अन्-अभिन्दन, अन्-अध्वयसान्, अन्-उपादानके पास (ले जानेवाली है) । यह यह सोच भवों (= जन्ममरणों)के ही निर्वैद-वैराग्य, निरोधके लिये तत्पर होता है ।

“गृहपतियो ! जोकमें यह चार (प्रकारके) पुरुष (= पुरुष) होते हैं । कौनसे चार ? ० १ ब्रह्मभूत आत्मासे विहरता है ।

“गृहपतियो ! कौनसा पुरुष आत्मतप=अपनेको संताप देनेवाले कामोंमें लग्न है ?— ० १ । ० परंतप ० १ । ० आत्मतप-परंतप ० १ । ० अन्-आत्मतप-अ-परंतप ० १ ।

“सो यह इस प्रकार चित्तके एकाग्र, परिशुद्ध ० १ अब यहाँ करनेके लिये कुछ नहीं है—

१ देखो पृष्ठ २०४ । १ देखो पृष्ठ २०४ । १ पृष्ठ २०६ ।

१ पृष्ठ २०७ और २५-२६ (आत्ममें उपाय पुरुषके स्थानपर प्रथम प्रवेश करके) ।

यह जान लेता है । गृहपतिवो ! यह कहा जाता है अद्-जात्मंतप-अ-परंतप, ० पुष्टगल ० । अद्-भूत आत्मासे विहरता है ।^१

ऐसा कहने पर शाखा-निवासी ब्राह्मण गृहस्थोंने भगवान्‌से यह कहा—

“आश्वस्य भो गौतम ! अद्भुत भो गौतम ! जैसे जीवको सीधा कर ०^१ ! आजसे आप हमें अंबजिघृक्ष शरणागत उपासक स्वीकार करें ।”

६—इति गृहपति वग्ग २ । १ ।

६१-अम्ब-लट्टिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (२।२।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहके वैशुचन कलन्दकनिवापमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् राहुल 'अम्बलट्टिकामें विहार करते थे। तब भगवान् सार्धकालको स्थानसे उठ, जहाँ अम्बलट्टिका वनमें आयुष्मान् राहुल (थे) वहाँ गये। आयुष्मान् राहुलने दूरसेही भगवान्को आते देखा, देखकर आसन छोड़ा, पैर धोनेके लिये पानी रक्खा। भगवान्ने बिनाये आसनपर बैठ पैर धोये। आयुष्मान् राहुलभी भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये।

तब भगवान्ने थोड़ा सा घुमा पानी लोटेमें लोह, आयुष्मान् राहुलको संबोधित किया—

“राहुल ! लोटाके इस थोड़ेसे पचे पानीको देखता है ?”

“हाँ भन्ते !”

“राहुल ! ऐसाही थोड़ा इनका श्रमण-भाव (= संप्रसूता) है, जिसको जानबूझकर झूठ बोलनेमें लजा नहीं।”

तब भगवान्ने उस थोड़ेसे पचे जलको फेंककर आयुष्मान् राहुलको संबोधित किया—

“राहुल ! देखा मैंने उस थोड़ेसे जलको फेंक दिया ?”

“हाँ भन्ते !”

“ऐसाही ‘फेंका’ इनका श्रमण-भावभी है, जिसको जानबूझकर झूठ बोलनेमें लजा नहीं।”

तब भगवान्ने उस लोटेको झींघा कर, आयुष्मान् राहुलको संबोधित किया—

“राहुल ! तू इस लोटेको झींघा देखता है ?”

“हाँ, भन्ते !”

“ऐसाही ‘झींघा’ इनका श्रमण-भाव है, जिसको जान बूझकर झूठ बोलनेमें लजा नहीं।”

तब भगवान्ने उस लोटेको सीघाकर आयुष्मान् राहुलको संबोधित किया—

“राहुल ! इस लोटेको तू सीघा किया देख रहा है ? खाली देख रहा है ?”

“हाँ भन्ते !”

“ऐसाही खाली तुच्छ इनका श्रमण-भाव है, जिसको जान बूझकर झूठ बोलनेमें लजा नहीं। जैसे राहुल ! हरिस-सम्मान लम्बे दातों वाला, महाकाय, सुन्दर जातिका, संघासमें जाने वाला, राजाका शायी, संघासमें जानेपर, बगले पैरोंसे भी (खवाईका) काम करता है। पिछले पैरोंसे भी काम करता है। शरीरके जगले भागसे भी काम करता है। शरीरके बिछले भागसे

* “वैशुचनके किनारे ... एकान्त-विर्षिके लिये बनाया गया वास-स्थान।” यह आयुष्मान् (= राहुल) सात वर्षके आयुमें होनेके समयसे ही, एकान्त (नियता) सदासे वहाँ विहार करते थे” (अ. क.)।

भी काम करता है। शिरसे भी काम करता है। कायसे भी काम करता है। दौड़से भी काम करता है। पूँछसे भी काम लेता है। लेकिन सूँडको (बेकाम) रखता है। तो हाथीवान्को ऐसा (विचार) होता है—‘यह राजाका हाथी हरिस जैसे दौँतवाला ० पूँछसे भी काम लेता है, (लेकिन) सूँडको (बेकाम) रखता है। राजाके ऐसे मागका जीवन अविध्वंसनीय है’।

“लेकिन यदि राहुल ! राजाका हाथी हरिस जैसे दौँतवाला ०, पूँछसे भी काम करता है, सूँडसे भी काम लेता है, तो राजाके हाथीका जीवन विध्वंसनीय है; अब राजाके हाथीको और कुछ करना नहीं है। ऐसे हो राहुल ! ‘जिते जानवूँताकर लूठ बोलनेमें लम्बा नहीं, उसके लिये कोई भी पाप-कर्म अकरणीय नहीं’—ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिये राहुल ! ‘हँसोमें भी नहीं लूठ बोलेंगा’,—यह धीम लेनी चाहिये।

“तो क्या जानते हो, राहुल ! दर्पण किस कामके लिये है ?”

“भन्ते ! देखनेके लिये।”

“ऐसे हो राहुल ! देख देखकर कायासे काम करना चाहिये। देख देखकर वचनसे काम करना चाहिये। देख देखकर मनसे काम करना चाहिये।

“अब राहुल ! तू कायासे (कोई) काम करना चाहे, तो तुझे कायाके कामपर विचार करना चाहिये—जो मैं यह काम करना चाहता हूँ, क्या यह मेरा काय-कर्म अपने लिये पीषा-दायक तो नहीं हो सकता ? दूसरेके लिये पीषा-दायक तो नहीं हो सकता ? (अपने और पराये) दोनोंके लिये पीषा-दायक तो नहीं हो सकता ? यह अ-कुशल (= बुरा) काय-कर्म है, दुःखका हेतु = दुःख विपाक (= ० भोग) देनेवाला है ? यदि तू राहुल ! प्रत्यक्षेण (= देखना=विचार) कर ऐसा जाने—‘जो मैं यह कायासे काम करना चाहता हूँ ०। यह बुरा काय-कर्म है।’ ऐसा राहुल ! काय-कर्म सर्वथा न करना चाहिये। यदि तू राहुल ! प्रत्यक्षेणकर ऐसा समझे,—‘जो मैं यह कायासे काम करना चाहता हूँ, यह काय-कर्म न अपने लिये पीषा-दायक हो सकता है, न परेके लिये ०। यह कुशल (अच्छा) काय-कर्म है, सुखका हेतु=सुख-विपाक है’। इस प्रकारका कर्म राहुल ! तुझे कायासे करना चाहिये।

“राहुल ! कायासे काम करते हुये भी, काय-कर्मका प्रत्यवेक्षण (= परीक्षा) करना चाहिये—‘क्या जो मैं यह कायासे काम कर रहा हूँ, यह मेरा काय-कर्म अपने लिये पीषा-दायक है ०।’ यदि तू राहुल ० जाने। ० यह काय-कर्म अकुशल है ०। तो राहुल ! इस प्रकारके काय-कर्मको छोड़ देना। ० यदि ० जाने। ० यह काय-कर्म कुशल है, तो इस प्रकारके काय-कर्मको राहुल ! बारबार करना।

“काय-कर्म करके भी राहुल ! तुझे काय-कर्मका फिर प्रत्यवेक्षण करना चाहिये—‘क्या जो मैंने यह काय-कर्म किया है, यह मेरा काय-कर्म अपने लिये पीषादायक है ०। यह काय-कर्म अकुशल है ०।’ ० जाने। ० अकुशल है। तो राहुल इस प्रकारके काय-कर्मको शास्ताके पास, या बिल गुरु-भाई (= सबबखारी) के पास कहना चाहिये, खोलना चाहिये = उतार करना चाहिये। कह कर, खोलकर = उतारकर, आगेको संवम करना चाहिये। यदि राहुल ! तू प्रत्यवेक्षण कर जाने। ० कुशल है। तो दिनरात कुशल (= उत्तम) धर्मों (= बातों)में शिला ग्रहण करनेवाला बन। राहुल ! इससे तू प्रीति = प्रभोदसे विहार करेगा।

“यदि राहुल ! तू वचनसे काम करना चाहे ०। ० कुशल वचन-कर्म ० करना। ० बारबार करना। ० इससे तू ० प्रीति = प्रभोदसे विहार करेगा।

“यदि राहुल ! तू मनसे काम करना चाहे ०। ० कुशल मन-कर्म ० करना। ० बारबार

करना । मन-कर्म करके ० यह मन-कर्म अकुशल है ० । तो इस प्रकारके मन-कर्ममें शिष्ट होना चाहिये, शोक करना चाहिये, गुणा करनी चाहिये । शिष्ट हो, शोक कर, गुणा कर आगेको संवम करना चाहिये । ० यह मन-कर्म कुशल है ० । उससे तू ० प्रमोदसे विहार करेगा ।

“राहुल ! जिन किन्हीं अमरों (= भिक्षुओं) या ब्राह्मणों (= सन्तों) ने अतीत-कालमें काय-कर्म ०, वचन-कर्म ०, मन-कर्म ० परिशोधित किये । उन सबोंने इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण कर काय ., वचन ., मन-कर्म परिशोधित किये । जो कोई राहुल ! अमर या ब्राह्मण भविष्यकालमें भी काय ., वचन ., मन-कर्म परिशोधित करेंगे, वह सब इसी प्रकार ० । जो कोई राहुल ! अमर या ब्राह्मण आजकल भी काय ., वचन ., मन-कर्म परिशोधित करते हैं, वह सब भी इसी प्रकार ० ।

“इसलिये राहुल ! तुझे सीखना चाहिये कि मैं प्रत्यवेक्षण कर काय-कर्म ०, ० वचन-कर्म, ० मन-कर्मका परिशोधन करूँगा ।”

६२—महा-राहुलोवाद-सुत्तन्त (२।२।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् ध्रावस्तीमें अनाथ-पिट्टिकके आराम, जेतवनमें विहार करते थे ।

तब पूर्वाह्न समय भगवान् पहिन कर, पात्र-चोवरके आवस्तीमें पिंड (चार) के लिये प्रविष्ट हुये । आयुष्मान् राहुल भी पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्र-चोवर ले भगवान् के पीछे पीछे हो लिये । भगवान् ने देखकर, आयुष्मान् राहुलको संबोधित किया—

“राहुल ! जो कुछ रूप है—भूत-मविष्य-वर्तमान-का शरीरके भीतर (= अभात्म) का, या बाहरका, महान् या सूक्ष्म, अच्छा या बुरा, दूर या समीप-का—सभी रूप ‘न यह मेरा है’, ‘न मैं यह हूँ’, ‘न यह मेरा आत्मा है’, इस प्रकार वधार्थ जानकर देखना (= समझना) चाहिये ।”

“रूपहीको भगवान् ! रूपहीको सुगत !”

“रूपको भी राहुल ! वेदनाको भी, संज्ञाको भी, संस्कारको भी, विज्ञानको भी ।”

तब आयुष्मान् राहुल—‘कौन जान भगवान् का उपदेश सुनकर, गाँवमें पिंड-चारके लिये जाये ?’—(सोच) वहाँसे लौटकर एक वृक्षके नीचे, आसन मार, शरीरको सीधा रख, स्मृतिको सम्मुख ठहरा बैठ गये । भगवान् ने आयुष्मान् राहुलको वृक्षके नीचे ० बैठा देखा । देखकर संबोधित किया—

“राहुल ! आणापान-सति (= प्राणापान) भावनाकी भावना (= ध्यान) कर । राहुल ! आणापान सति (= आनापान महा-स्मृति) भावना किये जानेपर महाफलदायक, धर्म साहाय्यवाली होती है ।”

तब आयुष्मान् राहुल सायंकालकी ध्यानमें डूब, जहाँ भगवान् थे वहाँ गये । जाकर भगवान् को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे हुये आयुष्मान् राहुलने भगवान् से यह कहा—

“मन्ते ! किस प्रकार भावना की गई, किस प्रकार बढ़ाई गई, आणापान-सति महा-फल-दायक, धर्म साहाय्यवाली होती है ?”

“राहुल ! जो कुछ भी शरीरमें (= अभात्म), प्रतिशरीरमें (= प्रत्यात्म) कर्कश, जलसा है, जैसे—केस, छोम, नाख, दाँत, चमड़ा, मोस, स्नायु, अस्थि, अस्थि-मज्जा, तुक, दृढ्य, पक्व, फलोंमक, ग्रीहा, कुम्भुस, अँत, पतली अँत (= अंत-गुण = अँतकी रस्ती), पेडका मल और जो कुछ और भी शरीरमें, प्रतिशरीरमें कर्कश ० है । राहुल ! यह सब ! अभात्म पृथ्वी-धातु कहलाती है । जो कुछ कि अभात्म पृथ्वी धातु है, और जो कुछ वायु, वह (सब) पृथिवी-धातु, पृथिवी-धातु ही है । उसको ‘यह मेरी नहीं’, ‘यह मैं नहीं हूँ’, ‘यह मेरा आत्मा नहीं है’

—इस प्रकार वयार्थतः जानकर देखना चाहिये । इस प्रकार इसे यथावैतः अच्छी प्रकार जानकर देखनेसे (भिक्षु) पृथिवी-धातुसे उदास होता है, पृथिवी-धातुसे चित्तको विरक्त करता है ।

“क्या है राहुल ! आप-धातु ? आप (= जल) धातु (वो) है—आभ्यात्मिक (= शरीर-में की) और वाह्य । क्या है आभ्यात्मिक आप-धातु ० । ० तेज-धातु ० । ० वायु-धातु ० ।

“क्या है राहुल ! आकाश-धातु ?—आकाश-धातु आभ्यात्मिक भी है, और वाह्य भी ।

“राहुल ! आभ्यात्मिक आकाश-धातु क्या है ?—जो कुछ शरीरमें, प्रतिशरीरमें आकाश या आकाश-विषयक है, जैसे कि—कर्ण-छिद्र, नासिका-छिद्र, मुख-द्वार जिससे जल-पान खाद्य-आस्वादन किया जाता है; और वहाँ स्वादा-पीना—“उदर” है, और जिससे कि अशोभागसे स्वादा-पिवा—“बाहर निकलता है । और जो कुछ और भी शरीरमें प्रति-शरीरमें आकाश या आकाश-विषयक है । वह सब राहुल ! आभ्यात्मिक आकाश-धातु कही जाती है । जो कुछ आभ्यात्मिक आकाश-धातु है, और जो कुछ वाह्य आकाश-धातु है, वह सब आकाश-धातु ही है । “वह न मेरी है” ० , । ० ।

“राहुल ! पृथिवी-समान भावनाकी भावना (= ध्यान) कर । पृथिवी-समान भावनाकी भावना करते हुये, राहुल ! तेरे चित्तको, दिलको अच्छे लगनेवाले स्पर्श—चित्तको चारों ओरसे एकपक्ष न चिमटेंगे । जैसे राहुल ! “पृथिवीमें शुचि (= पवित्र वस्तु) भी फैकते हैं”, अशुचि भी फैकते हैं । पावना भी ०, पेशाब ०, कफ ०, पीव ०, सोहू ० । उससे पृथिवी दुःखी नहीं होती, “आनि नहीं करती, पृणा नहीं करती, इसी प्रकार; तू राहुल ! पृथिवी-समान भावनाकी भावना कर । पृथिवी-समान भावना करते राहुल ! तेरे चित्तको अच्छे लगनेवाले स्पर्श ० न चिमटेंगे ।

“आप (= जल)-समान ० । जैसे राहुल ! जलमें शुचि भी धोते हैं ० ।

“क्षेत्र (= अग्नि)-समान ० । जैसे राहुल ! तेज शुचिको भी जलाता है ० ।

“वायु-समान ० जैसे राहुल ! वायु शुचिके पास भी बहता है ० ।

“आकाश-समान ० । जैसे राहुल ! आकाश किसीपर प्रतिष्ठित नहीं । इसी प्रकार तू राहुल ! आकाश-समान भावनाकी भावना कर । राहुल ! आकाश-समान भावनाकी भावना करने पर, उपपन्न हुये मनको अच्छे लगनेवाले स्पर्श, चारों ओरसे एकपक्ष चित्तको न चिमटेंगे ।

“राहुल ! मैत्री (= सफाई मित्र सम्बन्धना)-भावनाकी भावना कर । मैत्री-भावनाकी भावना करनेसे राहुल ! जो व्यापाद (= द्वेष) है, उससे छूट जायेगा ।

“राहुल ! करुणा- (= सारे प्राणियोंपर दया करना) भावनाकी भावना कर । करुणा भावनाकी भावना करनेसे राहुल ! जो तेरी विहिंसा (= पर-पीवा-करण-इच्छा) है, वह छूट जायेगी ।

“राहुल ! बुद्धि (= सुखी देल प्रसन्न होना)-भावनाकी भावनाकर । ० राहुल ! जो तेरी अ-रति (= मन न लगना) है वह हट जायेगी ।

“राहुल ! उपेक्षा (= शत्रुकी शत्रुताकी उपेक्षा)-भावनाकी भावना कर । ० जो तेरा प्रतिष (= प्रतिहिंसा) है, वह हट जायेगा ।

“राहुल ! अ-युग (= सभी भोग बुरे हैं)-भावनाकी भावना कर । ० जो तेरा राग है, वह चला जायेगा ।

“राहुल ! अ-मित्य-संज्ञा (= सभी पदार्थ अ-मित्य हैं)-भावनाकी भावना कर । ० जो तेरा अस्मिमान (= अहंकार) है, वह हट जायेगा ।

“राहुल ! आणापान-सति (= प्राणापान)-भावनाकी भावना कर । आणा-पान-सति भावना करना-ब्रह्मा, राहुल ! महा-फल-प्रद वही महात्म्यवाला है । राहुल ! आणा-पान-सति-भावना भावित होनेपर, बड़ाई जानेपर, कैसे महा-फल-प्रद होती है ?—राहुल ! भिक्षु अरहत्त्वमें

बृद्धके नीचे, या धूम्र-गृहमें आसन भास्कर, शरीरको सीचा धारण कर, स्थितिको सन्मुख रख, बैठता है। वह स्मरण रखते साँस छोड़ता है, स्मरण रखते साँस लेता है, लम्बी साँस छोड़ते 'लम्बी साँस छोड़ रहा हूँ'—जानता है। लम्बी साँस लेते 'लम्बी साँस ले रहा हूँ'—जानता है। छोटी साँस छोड़ते ०। छोटी साँस लेते ०। 'सारे कामको अनुभव (= प्रतिबेदन) करते साँस छोड़ें'—सीखता है। 'सारे कामको अनुभव करते 'साँस लें'—सीखता है। कायके संस्कारों वाज आदिको दृष्टते हुये साँस छोड़ें, ० ० साँस लें'—सीखता है। 'प्रीतिको अनुभव करते साँस छोड़ें' ०। '० साँस लें' सीखता है। 'सुख अनुभव करते ०'। 'चित्तके संस्कारको अनुभव करते ०'। 'चित्तके संस्कारको दृष्टते हुये ०'। 'चित्तको अनुभव करते ०'। 'चित्तको प्रमोदित करते ०'। 'चित्तको समाधान करते ०'। 'चित्तको (राग आदिसे) विमुक्त करते ०'। '(सब पदार्थोंको) अनित्य देखने-वाला हो ०'। '(सब पदार्थोंमें) विरागकी दृष्टिसे ०'। '(सब पदार्थोंमें) निरोध (= विनाश) की दृष्टिसे ०'। '(सब पदार्थोंमें) परि-त्यागकी दृष्टिसे साँस छोड़ें'—सीखता है। 'परित्यागकी दृष्टिसे साँस लें'—सीखता है। राहुल ! इस प्रकार भावना की गई, बढ़ाई गई आषा-पान-सति महा-फल-दायक, और बड़े आहात्म्य-वाली होती है। राहुल ! इस प्रकार भावनाकी गई, बढ़ाई गई आषा-पान-सतिसे जो वह अन्तिम आकाश (= साँस छोड़ना) प्रकाश (= साँस लेना) है, वह भी विदित होकर, लय (= निरुद्ध) होते हैं, अ-विदित होकर नहीं।"

भगवान्ने यह कहा, जाकुप्मान् राहुलने संतुष्ट हो, भगवान्के भाषणका अमि-नन्दन किया।

६३-चूल्-मालुंक्य-मुत्तन्त (२।२।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आचरन्तीमें अनाथपिटिकके आराम उेतवनमें विहार करते थे ।

तब एकान्तमें स्थित विचार-मग्न आयुष्मान् मालुंक्य-मुत्तन्तके चित्तमें यह चित्तकै उत्पन्न हुआ—“भगवान्ने जिन इन दृष्टियोंको अ-व्याकृत (= अ-कथनीय), स्थापित (= जिनका उत्तर रोक दिया गया), प्रतिक्षिप्त (= जिनका उत्तर देना अस्वीकृत हो गया) कर दिया है—(१) ‘लोक शाश्वत है’, (२) ‘लोक अ-शाश्वत है’, (३) ‘लोक अन्तवान् है’, (४) ‘लोक अनन्त है’, (५) ‘जीव शरीर एक है’, (६) ‘जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है’, (७) ‘भरनेके बाद तत्प्राप्त होते हैं’, (८) ‘भरनेके बाद तत्प्राप्त नहीं होते’, (९) ‘भरनेके बाद तत्प्राप्त होते भी हैं, नहीं भी होते हैं’, (१०) ‘भरनेके बाद तत्प्राप्त न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं’ । इन (दृष्टियों)को भगवान् मुझे नहीं बतलाते । तो (कि) भगवान् मुझे (इन्हें) नहीं बतलाते, यह मुझे नहीं रुचता = मुझे नहीं क्षमता । तो मैं भगवान्के पास जाकर इन बातको पूछूँ; यदि मुझे भगवान् कहेंगे—(१) ‘लोक शाश्वत है’ वा ० (१०) ‘भरनेके बाद तत्प्राप्त न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं’, तो मैं भगवान्के पास ब्रह्मचर्य-वास (= शिष्यता) करूँगा । यदि मुझे भगवान् न बतलायेंगे—(१) ‘लोक शाश्वत है’ वा ० (१०) ‘भरनेके बाद तत्प्राप्त न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं’, तो मैं (विभु-)विज्ञाका प्रत्याख्यान कर दूँ (= गृहस्थ-आश्रम) में छूट जाऊँगा ।”

तब आयुष्मान् मालुंक्य-मुत्तन्त मायंकालको प्रतिर्लक्ष्य (= एकान्तचिन्तन, विचार-मग्न होना) से उठकर जहाँ भगवान् थे, वहाँ जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् मालुंक्य-मुत्तन्तने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! ० यहाँ मेरे चित्तमें यह चित्तकै उत्पन्न हुआ—“भगवान्ने जिन इन दृष्टियोंको अ-व्याकृत ० तो मैं शिष्याका प्रत्याख्यान कर दूँ (= आश्रम) में छूट जाऊँगा ।” यदि भगवान् जानते हैं—(१) ‘लोक शाश्वत है’, तो भगवान् मुझे बतलायें—‘लोक शाश्वत है’ । (२) यदि भगवान् जानते हैं—‘लोक अशाश्वत है’, तो भगवान् मुझे बतलायें—‘लोक अशाश्वत है’ । यदि भगवान् नहीं जानते, कि ‘लोक शाश्वत है, वा लोक अशाश्वत है’; तो न जानने सम्मलनेवालेके लिये यही सीधो (बात) है, कि वह (साफ कहें)—‘मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम’ । ० यदि भगवान् जानते हैं—(९) ‘भरनेके बाद तत्प्राप्त होते भी हैं, नहीं भी होते हैं’; तो भगवान् मुझे बतलायें—‘भरनेके बाद ०’ । यदि भगवान् जानते हैं—(१०) ‘भरनेके बाद तत्प्राप्त न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं’, तो भगवान् मुझे बतलायें—‘० न-होते हैं’ । यदि भगवान् नहीं जानते—‘० होते भी हैं, नहीं भी होते’ वा ‘० न-होते हैं, न-नहीं-होते’; तो न जानने सम्मलने-

वालेके जिसे गही सीधी (बात) है, कि वह (साफ़ कहे)—‘मैं नहीं जानता, मुझे नहीं आखुम’ ।”

“क्या मालुंक्यपुत्त ! मैंने तुझसे यह कहा था—‘आ, मालुंक्य-पुत्त ! मेरे पास ब्रह्मचर्य-वास कर, मैं तुझे बतलाऊँगा—(१) ‘लोक शाश्वत है’, ० (१०) ‘मरनेके बाद तथागत न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं’ ?”

“नहीं, मन्ते !”

“क्या तूने मुझसे यह कहा था—मैं मन्ते ! भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा, भगवान्‌ मुझे बतलावें—(१) ‘लोक शाश्वत है’, ० (१०) ‘मरनेके बाद तथागत न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं’ ?”

“वहीं, मन्ते !”

“इस प्रकार मालुंक्यपुत्त ! मैंने तुझसे कहा था—‘आ ०, ०’। न तूने मुझसे कहा था—मैं मन्ते ! ०, ० । ऐसा होनेपर भोज-पुरुष ! (= फलके आदमी) ! तू क्या होकर किस-का प्रवाग्वान करोगा ?”

“मालुंक्य-पुत्त ! जो ऐसा कहे—मैं तब तक भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास न करूँगा, जब तक भगवान्‌ मुझे यह न बतलावें—(१) ‘लोक शाश्वत है’ ०, या (१०) ० न-होते हैं, न-नहीं-होते’; (फिर) तथागतने तो उन्हें अव्याहृत किया है और वह (बीचमें ही) मर जायेगा । जैसे मालुंक्यपुत्त ! कोई पुरुष गाई लेपवाले विषयसे पुक्त शल्य (= घावके फल) से बिबा हो; उसके हित-मित्र भाई-बंद शल्यचिकित्सक भिक्षु (= वैद्य) को ले आवें । (और) वह (घायल) यह कहे—‘मैं तब तक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा, जब तक कि अपने बेधनेवाले उस पुरुषको न जान लूँ कि वह क्षत्रिय है या ब्राह्मण, वैश्य है (= वैश्य) या शूद्र (= शूद्र) ।’...‘मैं तब तक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा, ० कि वह पुरुष अमुक नामका अमुक गोत्रका है’ । ०, ० कि वह पुरुष (कदमें) लम्बा है, नाटा है, या सघोला है’ । ०, ० कि वह पुरुष काला है, श्याम है, या मंगुर (= सखी) के रंगका है’ । ०, ० कि वह अमुक ग्राम या निगम (= कस्बे) या नगरमें (रहता) है’ ।...‘मैं तब तक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा, जब तक कि उस बेधने-वाले धनुषको न जान लूँ, कि वह बाण है या कोदण्ड । ० ज्याको न जान लूँ, कि वह अर्क (= सदा) की, या लंदेकी, या महारु (= ताँत) की, या मख (= मख) की या क्षीरपर्णी (= दुधिया जली) की है’ । ० काण्ड (= चार, बाण) को न जान लूँ, कि वह कण्ड (= जलाशयके तटपर स्वयं उगे सर्पत) का है, या रोपे (सर्पत) का है’ । ० तीरके परको न जान लूँ, कि वह बाजका, या गिह, कीर्णों, या घगले (= कुल्ल), या मोर, या निधिलहनु (पक्षी) का है । ० तीरके निर्दकी ताँत (= महारु) को न जान लूँ, कि वह गायकी, या भैंसकी, या गोकु (= कड़वे ?) की, या बंदरकी है’ । ० फल्य (= फल) को न जान लूँ, कि वह दाल्य है, या क्षुरग्र (= सुरवे जैसा फल), या वेकण्ड, या नाराच, या वत्सदन्त (= बड़के दाँतकी तरह), या करवीर-मृन् (= करेके पत्रकी भाँति एक मोक्षवाला) । (ऐसा होनेपर) मालुंक्य-पुत्त ! वह तो अज्ञातही रह जायेंगे, और वह पुरुष मर जायेगा । ऐसे ही मालुंक्य-पुत्त ! जो ऐसा कहे—‘मैं तब तक ० (फिर) तथागतने तो इन्हे अव्याहृत (= कथनका अविषय) किया है, और वह मर जायेगा ।

“मालुंक्यपुत्त ! (१, २) ‘लोक शाश्वत है’—इस दृष्टिके होनेपर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ?—ऐसा नहीं । ‘लोक अशाश्वत है’ इस दृष्टिके होनेपर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ?—ऐसा

नहीं । । मालुङ्क्यपुत्त ! चाहे 'लोक शाश्वत है'—यह दृष्टि रहे, चाहे 'लोक अ-शाश्वत है' यह दृष्टि रहे; जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक रोगा-काँदना दुःख दीर्घमस्य परेशानी है ही, जिनके इसी जन्ममें विधात (के उपाय) को मैं बतलाता हूँ । ० ।

“मालुङ्क्यपुत्त ! (१, १०) 'मरतेके बाद तत्प्राप्त (= मुक्त पुरुष) होते भी है, नहीं भी होते हैं'—यह दृष्टि रहे, चाहे '० न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं'—यह दृष्टि रहे; जन्म है ही ०, जिनके कि इसी जन्ममें विधात (के उपाय) को मैं बतलाता हूँ ।

“इसलिये मालुङ्क्यपुत्त ! मेरे अ-व्याकृत (= वचनके अ-विषय) को अव्याकृतके तीरपर धारण कर, और मेरे व्याकृतको व्याकृतके तीरपर धारण कर ।

“मालुङ्क्यपुत्त ! क्या मेरे अ-व्याकृत हैं ?—(१) 'लोक शाश्वत है'—यह मेरा अ-व्याकृत है, ० (१०) '० न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं' यह मेरा अ-व्याकृत है । मालुङ्क्यपुत्त ! किसलिये इन्हें मैंने अ-व्याकृत (कहा) है ?—मालुङ्क्यपुत्त ! यह (= इनका व्याकरण, कथन) साधक नहीं, आदि-अज्ञान-उपयोगी नहीं है; (और) न यह निर्वेद = वैराग्य, निरोध = उप-शम (= शांति), अभिज्ञा (= लोकोत्तर ज्ञान), सर्वोद्य (= परम ज्ञान), निर्वाणके लिये (आवश्यक) है; इसलिये मैंने उन्हें अ-व्याकृत किया ।

“मालुङ्क्य-पुत्त ! क्या मेरे व्याकृत (= कथित, कथनके विषय) हैं ?—(१) 'यह दुःख है'—इसे मैंने व्याकृत किया, (२) 'यह दुःख-समुदय (= ० हेतु, ० उत्पत्ति) है'—इसे मैंने व्याकृत किया, (३) 'यह दुःख-निरोध है ०, (४) 'यह दुःख-निरोध-प्राप्ति' प्रतिपद् है'—इसे मैंने व्याकृत किया । मालुङ्क्यपुत्त ! किसलिये इन्हें मैंने व्याकृत किया है ?—मालुङ्क्य-पुत्त ! यह साधक है, आदि-अज्ञान-उपयोगी है, (और) यह निर्वेद ० निर्वाणके लिये (आव-श्यक) है; इसलिये मैंने इन्हें व्याकृत किया ।

“इसलिये मालुङ्क्यपुत्त ! मेरे अ-व्याकृतको अ-व्याकृतके तीरपर धारण कर, और मेरे व्याकृतको व्याकृतके तीरपर धारण कर ।”

भगवान् ने यह कहा; सन्तुष्ट हो आयुष्मान् मालुङ्क्यपुत्तने भगवान् के भाषणको अभि-नन्दित किया ।

६४-महा-मालुङ्क्य-सुत्तन्त (२।२।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाद्यपिंडकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भदन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंनि भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“याद है न भिक्षुओ ! तुम्हें, मेरे उपदेशे पाँच अवरभागीय संयोजन ?”

ऐसा पूछनेपर आशुप्मान् मालुङ्क्यपुत्तने भगवान्से यह कहा—“भन्ते ! याद है, मुझे भगवान्के उपदेशे पाँच अवर-भागीय संयोजन ।”

“मालुङ्क्यपुत्त ! तो मेरे उपदेश तुम्हें कैसे याद है ० ?”

“भन्ते ! (१) सत्काय-दृष्टि (= नित्य-आत्मवाद) को मैंने भगवान्का उपदेशा अवर-भागीय (= जोरभागीय)-संयोजन धारण किया है । (२) विचिकित्सा (= संशय) को ० । (३) शीलव्रत परामर्श (= शील और व्रतको ही सभ कुछ मानना) को ० । (४) काम-च्छन्द (= मोहमें अजुराम) को ० । (५) व्यापादको ० ।

“मालुङ्क्यपुत्त ! इस प्रकार पाँच अवरभागीय-संयोजनोंको कैसे उपदेश देते हूँ तुम्हें सुना ? मालुङ्क्यपुत्त ! अन्य दूसरे तीर्थ (= मत) के परिजालक ऐसे वक्त्रोंके बहलावेसे बहलते हैं । “उत्तान (ही) लो सकनेवाले लघोष छोटे वक्त्रोंको सत्काय (= आत्म-वाद) भी नहीं होता, फिर कहाँसे उसे सत्काय-दृष्टि उत्पन्न होगी ? (हाँ) सत्काय-दृष्टिका अनुशय (= संस्कार) तो रहता है, उसके साथ चिन्ता । ० छोटे वक्त्रोंको धर्म (= आनसिक विचार) भी नहीं होते, कहाँसे उसे विचिकित्सा उत्पन्न होगी ? (हाँ) विचिकित्साका अनुशय तो रहता है, उसके (मनके) साथ चिन्ता । ० छोटे वक्त्रोंको शील (= सदाचार) भी नहीं होता, कहाँसे उसे शीलमें शीलव्रत-परामर्श उत्पन्न होगा, शील-व्रत-परामर्श-अनुशय तो रहता है ० । ० छोटे वक्त्रोंको काम भी नहीं होते, कहाँसे उसे कामोंमें कामच्छन्द उत्पन्न होगा ? ० कामच्छन्दानुशय तो रहता है ० । ० छोटे वक्त्रोंको शक्ति भी नहीं होती, कहाँसे उसे व्यापाद (= उत्पीड़नेच्छा) उत्पन्न होगा ? ० व्यापाद-अनुशय तो रहता है उसके साथ चिन्ता । मालुङ्क्यपुत्त ! अन्य दूसरे तीर्थवाले परिजालक ऐसे वक्त्रोंको बहलावेसे बहलते हैं ।”

ऐसा कहनेपर आशुप्मान् आनन्दने भगवान्से यह कहा—

“भगवान् ! इसीका काल है, सुगत ! इसीका काल है, कि भगवान् पाँच अवरभागीय-संयोजनोंका उपदेश करें, भगवान्से सुनकर भिक्षु धारण करेंगे ।”

“तो आनन्द ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !—(कह) आबुष्मान् आनन्दने भगवान्को उभर दिया ।

भगवानने वह कहा—“यहाँ आनन्द ! आर्योके दर्शनसे दण्डित ०” अब, बनाकी सत्काय-दृष्टिसे पर्युत्थित = सत्काय-दृष्टिसे परेत (= व्यास) चित्तसे विहरता है । वह उत्पन्न सत्काय-दृष्टिसे निकलनेके (रास्ते को) ठीकसे नहीं जानता । उसकी यह न इटाई (= अमति-विनीत), इतनाप्राप्त सत्काय-दृष्टि अवरभागीय-संयोजन है । वह विचिकित्तासे पर्युत्थित, विचिकित्तासे व्यास-चित्त हो विहरता है । वह उत्पन्न विचिकित्तासे निकलनेके (रास्तेको) ठीक से नहीं जानता । उसकी यह न इटाई, इतना-प्राप्त विचिकित्ता अवरभागीय संयोजन है । वह शील-व्रत-परामर्शसे ० । ० काम-रागसे (= कामच्छन्द) ० । ० व्यापाद् ० ।

“और आनन्द ! आर्योके दर्शनसे अभिज्ञ, आर्यधर्मसे परिचित, आर्यधर्मसे सुविनीत (= सुशिक्षित), सत्पुरुषोंके दर्शनसे अभिज्ञ, सत्पुरुष-धर्मसे परिचित, सत्पुरुष धर्मसे सुविनीत आर्यभावक सत्काय-दृष्टिसे पर्युत्थित = सत्काय-दृष्टिसे व्यास चित्त हो नहीं विहरता । वह उत्पन्न हुई सत्काय-दृष्टिसे निकलनेके (रास्तेको) ठीकसे जानता है ; (जिसके कारण) उसकी यह सत्काय-दृष्टि अनुशय (= संस्कार)-रहित बन नष्ट हो जायेगी । वह विचिकित्तासे ० । वह शीलव्रत-परामर्शसे ० । वह काम-रागसे ० । वह व्यापाद्से ० ।

“आनन्द ! पाँच अवरभागीय-संयोजनोंके ग्रहाण (= नाश)के लिये जो मार्ग है = जो प्रतिपद् है, “उसके बिना वह पाँच अवरभागीय-संयोजनोंको जामेगा, देखेगा, या नाशेगा, यह सम्भव नहीं । जैसे, आनन्द ! सारवान् अपने महावृक्षको डालको बिना काटे, गुहे (= फेन्)को बिना काटे, सारका काटना हो सकेगा, यह संभव नहीं; ऐसे ही आनन्द ! पाँच अवरभागीय-संयोजनोंके ग्रहाणके लिये ० सम्भव नहीं । आनन्द ! ० जो मार्ग है = जो प्रतिपद् है, उसे पाकर वह पाँच अवरभागीय-संयोजनोंको जामेगा ०, यह सम्भव है । जैसे, आनन्द ! सारवान् अपने महावृक्षको डाल को काटकर, गुहेको काटकर सारका काटना होगा, यह संभव है; ऐसे ही आनन्द ! ० । जैसे, आनन्द ! गंगानदी जलसे करारतक भरी काक-पेया (= करारपर बैठे बैठे काँपके पीने योग्य, लज्जालु) हो; तब एक दुर्बल पुरुष (यह कहता) आवे—मैं इस गंगानदीके प्रवाहको बाँहसे तिष्ठें काटकर; सकुशल पार चला जाऊँगा । (और) वह गंगानदीके प्रवाहको बाँहसे तिष्ठें काटकर सकुशल पार नहीं जा सके । ऐसेही आनन्द ! सत्कायके विरोध (= नाश)के लिये धर्म-उपदेश किये जाते समय जिसका चित्त प्रसन्न नहीं होता = प्रसन्नित नहीं होता, स्थिर नहीं होता, विमुक्त नहीं होता; उसे दुर्बल पुरुषकी भी भाँति जानना चाहिये । जैसे आनन्द ! गंगानदी जलसे करारतक भरी, काक-पेया हो; तब एक बलवान् पुरुष (यह कहता) आवे—मैं ० पार कर जाऊँगा । (और) वह ० सकुशल पार जा सके । ऐसे ही आनन्द ! सत्काय-विरोधके लिये धर्म-उपदेश किये जाते समय जिसका चित्त प्रसन्न होता है ०, उसे बलवान् पुरुषकी भाँति जानना चाहिये ।

“आनन्द ! पाँच अवरभागीय-संयोजनोंके नाशके लिये क्या मार्ग है = क्या प्रतिपद् है ?—यहाँ आनन्द ! शिषु उपधि (= विषय)को त्यागकर, अकुशल-धर्मो (= बुराईयों)को हटाकर कायिक-दीर्घुष्यों (= चंचलता)को सर्वथा शांत कर, कामोंसे विरहित ०” प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह जो कुछ रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानसे संबंध रखनेवाले धर्म (= पदार्थ) हैं, उन्हें अभित्य, दुःख, रोग, गंद (= फोड़े), शय्य, धाव, आवाजा (= पीषा), पराये, प्रलोक (= नाशमान), शुन्य, और अन्-आत्मके तौरपर देखता है । वह उन धर्मोंसे

चित्तको निवारण***करके अमृत (= निर्वाण) धातु (= पद) की ओर चित्तको एकाग्र करता है—यह बात प्रणीत (= उत्पन्न) है, जो कि यह संस्कारोंका भ्रमन, सारी उपधियों का परित्याग, तृष्णाका अन्त्य, विराग, निरोध (रूपी) निर्वाण है। वह उस (अमृतपद, तृष्णा-अन्त्य) में स्थित हो आसुर्यों (= चित्त-मलों) के लक्षकों प्राप्त होता है। यदि आसुर्योंके लक्षकों वहाँ प्राप्त होता, तो उसी धर्म-अनुरागने = उसी धर्म-मन्दोसे पाँचों अवयवभागीय संयोजनोंके लक्षसे, औपपातिक (= देवता) हो, वहाँ (देवलोकमें) जा निर्वाणको प्राप्त होनेवाला होता है, (वह) उस लोकसे लौटकर आनेवाला नहीं होता। आनन्द ! यह भी मार्ग = प्रतिपद् है, पाँच अवयवभागीय संयोजनोंके नाशके लिये।

“और फिर आनन्द ! मिथु वितर्क विचारके नाश होनेपर ०^१ द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०^२ तृतीय-ध्यानको ०^३। ०^४ चतुर्थ-ध्यानको ०। और फिर आनन्द ! मिथु रूप-संज्ञाके सर्वथा डोकने ०^५ आकाशानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरता है ०। ०^६ विज्ञानानन्त्यायतन ०। ०^७ आकिञ्चन्यायतन ०। ०^८ नैवसंज्ञा-नालंज्ञायतनको प्राप्त हो विहरता है। वह जो कुछ वहाँ वेदना, संज्ञा ०^९ उस लोकसे लौटकर आनेवाला नहीं होता। आनन्द ! यह भी मार्ग = प्रतिपद् है।”

“अन्ते ! यदि यही मार्ग = प्रतिपद् है, पाँच अवयवभागीय-संयोजनोंके प्रहाण (= नाश) के लिये, तो अन्ते ! क्यों कोई मिथु चेतो-विमुक्ति (= छूटे चित्त-मलों) वाले होते हैं, कोई प्रज्ञा-विमुक्ति वाले ?”

“आनन्द ! इसे मैं इन्द्रिय (= मानसिक शक्तिके) भेदके कारण कहता हूँ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आसुध्मान् आनन्दने भगवान् के भाषणको अमितीदित किया !

६५—भद्रालि-सुत्तन्त (२।२।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भवन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! मैं एक आसन-भोजनका सेवन करता हूँ।” एक आसन-भोजनका सेवन करनेसे मैं (अपनेमें) निरोगता = निम्यांभिता, सुली, बल और सुख (पूर्वक) विहारको देखता हूँ। आओ, भिक्षुओ ! तुम भी एक आसन-भोजन सेवन करो, एक आसन-भोजन सेवन करनेसे तुम भी निरोगता = सुख-विहारको देखोगे।”

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् भद्रालिने भगवान्से यह कहा—“मैं भन्ते ! एक आसन-भोजन को सेवन नहीं कर सकता। एक आसन-भोजन सेवन करनेपर भन्ते ! मुझे कौकृत्य (= चिंता) होगा, उदासी (= विप्रतिसार) होगी।”

“तो भद्रालि ! जहाँ तू निमग्नित हो, वहाँ (भोजनका) एक भाग या दूसरे भागको ले जाकर (दूसरी बार) खाना, इस प्रकार या कर भी भद्रालि ! तू गुत्रारा कर सकता है।”

“ऐसे भी भन्ते ! मैं भोजन नहीं कर सकता। ऐसे भोजन करनेपर भी भन्ते ! मुझे कौकृत्य होगा, विप्रतिसार होगा।”

तब आयुष्मान् भद्रालिने भगवान्के शिक्षापद (= भिक्षु-नियम) बनावे समय, भिक्षु-संघके शिक्षा ग्रहण करते समय उपेक्षा (अनु-उत्तराह) की। तब आयुष्मान् भद्रालि उस वारे तिससे मर भगवान्के सममुख नहीं गये, क्योंकि वह शास्त्रा-के-शासन (= बुद्ध-धर्म)में शिक्षाका पूरी तरह पालन करनेवाले न थे।

उस समय बहुतसे भिक्षु (यह ख्याल करते) भगवान्का चीवर-कर्म (= वस्त्र सीमा) कर रहे थे, कि चीवर तैयार हो जाने पर तीन मास बाद भगवान् चारिका (= पर्वटन)के लिये जावेंगे। तब आयुष्मान् भद्रालि, जहाँ वह भिक्षु थे, वहाँ—“जाकर उन भिक्षुओंके साथ—सम्मो-दन—” कर, एक ओर बैठे गये, एक ओर बैठे आयुष्मान् भद्रालिसे उन भिक्षुओंने कहा—

“आहुस भद्रालि ! वह भगवान्का चीवर-कर्म किया जा रहा है, चीवर तैयार हो जानेपर तीन मास बाद भगवान् चारिकाको जावेंगे। अच्छा, आहुस भद्रालि ! इस बात (= देसना)को अच्छी तरह मर्ममें करो, मत पीछे (यह) अधिक दुष्कर हो जाये।”

भिक्षुओंको “अच्छा, आहुस !” कह, आयुष्मान् भद्रालि जहाँ भगवान् थे, वहाँ—“जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे आयुष्मान्-भद्रालिने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! बाल, मूढ = अ-कुशल जैसे मुझसे अपराध (= अत्यय) हुआ जो कि भगवान्के शिक्षापद बनावे समय, भिक्षु-संघके शिक्षा ग्रहण करते समय मैंने उपेक्षा प्रकट की। भन्ते ! भग-

वान् मेरे उस अपराधको क्षमा करें, भविष्यमें संवर (= रक्षा) के लिये ।”

“तो, भद्रालि ! बाल, सुद = अकुशल जैसे तुझसे अपराध हुआ, जो कि मेरे शिक्षापद बनाने समय, भिक्षु-संघके शिक्षा ग्रहण करते समय तूने उपेक्षा प्रकट की । भद्रालि ! तुझे यह भी क्याल नहीं गुजरा कि भगवान् ध्रावस्तीमें विहर रहे हैं, भगवान् भी तुझे जानेंगे—‘भद्रालि नामक भिक्षु शास्ता के शासनमें शिक्षाको पूरा नहीं करनेवाला है’ । भद्रालि तुझे यह भी क्याल (= समय) नहीं गुजरा कि बहुतसे भिक्षु ध्रावस्तीमें वर्षा-वाल्के लिये जाये हुये हैं, वह भी जानेंगे—‘भद्रालि ० शिक्षाको पूरा करनेवाला नहीं है’ । भद्रालि ! तुझे यह भी क्याल नहीं गुजरा कि बहुत सी भिक्षुनिर्या ध्रावस्तीमें वर्षा-वाल्के लिये आई हुई हैं ० । भद्रालि ! तुझे यह भी क्याल नहीं गुजरा कि बहुतसे उपासक ध्रावस्तीमें बसते हैं ० । ० बहुतसी उपासिकायें ध्रावस्तीमें बसती हैं ० । ० बहुतसे दूसरे तीर्थ (= मत) के भ्रमण-वाहण ध्रावस्तीमें वर्षा-वाल्के लिये जाये हुये हैं, वह भी जानेंगे—‘भ्रमण गौतमका आवक, एक स्थविर (= बुद्ध) भद्रालि नामक भिक्षु, शास्ताके शासनमें शिक्षाको पूरा करनेवाला नहीं है, तुझे यह भी क्याल नहीं गुजरा ?”

“भन्ते ! बाल ०” भन्ते भगवान् मेरे अपराधको क्षमा करें भविष्यमें संवरके लिये ।”

“तो भद्रालि ! ०” भिक्षु-संघके शिक्षा ग्रहण करते समय तूने उपेक्षा प्रकट की । तो क्या मानता है, भद्रालि ! यहाँ कोई उभतो-भाग-विमुक्त (= अहंत्वं) भिक्षु हो, उसे मैं यह कहूँ—‘आ भिक्षु ! तू र्गकर्म मेरे लिये पार होनेका (रास्ता) बन जा’ । तो क्या वह पार होने का (रास्ता) बनेगा, या (अपने) शरीरको दूसरी ओर झुकावेगा, या ‘नहीं’ कहनेवाला होगा ?”

“ऐसा नहीं, भन्ते !”

“तो क्या मानता है, भद्रालि ! यहाँ कोई प्रज्ञ-विमुक्त भिक्षु हो ० । ० काय-साक्षी ० । ० दृष्टि-प्राप्त ० । ० श्रद्धा-विमुक्त ० ० धर्मानुसारी ० । ० ज्ञदानुसारी ० या ‘नहीं’ कहनेवाला होगा ?”

“ऐसा नहीं भन्ते !”

“तो क्या मानता है, भद्रालि ! क्या तू उस समय उभतो-भाग-विमुक्त या, ० या श्रद्धानुसारी या ?”

“नहीं (या) भन्ते !”

“तो भद्रालि ! उस समय तू रिक्त = तुच्छ अपराधी या ?”

“हाँ, भन्ते ! ०” भन्ते ! भगवान् मेरे उस अपराधको क्षमा करें, भविष्यमें संवर के लिये ।”

“तो भद्रालि ! ०” तूने उपेक्षा प्रकटकी । चूँकि भद्रालि ! तू अपराधको अपराधके तौरपर देव धर्मानुसार (उसका) प्रतिकार करता है, (इसलिये) उसे हम स्वीकार करते हैं । भद्रालि ! आर्य-विनय (= बुद्धधर्म) में वह बुद्धि है, जो कि वह अपराधको अपराधके तौरपर देव भविष्यमें संवरके लिये धर्मानुसार प्रतिकार करना है ।

“भद्रालि ! यहाँ कोई भिक्षु शास्ताके शासनमें शिक्षाका पूरा करनेवाला न हो ; उसे यह हो—‘क्यों न मैं एकल्ल शासन-शासन—अरण्य, वृक्ष-मूल, पर्वत, कंदरा, गिरिगुहा, श्मशान, वन-व्यस, अम्भोकास (= सुखी जगह), पुष्पाण-पुष्पको सेवन करूँ ; शाण्ड मैं उत्तर-भनुष्य-धर्म (= मानव स्वभावसे परे) जल-आर्य-ज्ञान-दर्शन-विशेष (= लोकोत्तर-ज्ञान, दिव्यशक्ति)

का साक्षात्कार करें। (तब) एकान्त शयन-आसन ० को सेवन करे। जैसे एकान्त विहार करते उसे शांता भी उपवाद् (= शिक्षा) करते हैं, सोच कर समझचारी (= गुरुमाई) भी उपवाद् करते हैं, देवता भी उपवदते हैं, अपने आपको भी उपवदता है। इस प्रकार शास्ता द्वारा उपवदित हो, ० अपने आप उपवदित हो, उत्तम-मनुष्य धर्मका, जल-आर्य-ज्ञान-दर्शन-विशेष का नहीं साक्षात्कार करता। सो क्यों ?—महालि ! यही जो कि वह शास्ताके शासनमें शिक्षा की पूरी तरह पालन करनेवाला नहीं होता।

“किन्तु यहाँ महालि ! कोई भिक्षु शास्ताके शासनमें शिक्षाका पूरी तरह पालन करनेवाला होता है। उसको ऐसा होता है—यहाँ मैं एकान्त शयन-आसन (= विवास) ० को सेवन करूँ। जैसा एकान्त विहार करते उसे शास्ता भी नहीं उपवदते, ० अलमार्य-ज्ञान-दर्शन-विशेषको यह साक्षात्कार करता है। सो कित्त हेतु ?—महालि ! यही जो कि वह शास्ताके शासनमें शिक्षा की पूरी तरह पालन करनेवाला होता है।

“और फिर महालि ! भिक्षु ०^१ प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। सो कित्त हेतु ?—महालि ! यही जो कि वह ०।

“और फिर महालि ! भिक्षु ०^२ द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०।

“और फिर महालि ! भिक्षु ०^३ तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०

“और फिर महालि ! भिक्षु ०^४ चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०।

“और फिर महालि ! भिक्षु इस प्रकार चित्तके एकता ०^५ इस प्रकार आकार और उद्देशके सहित अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगता है। ०^६।

“और फिर महालि ! भिक्षु इस प्रकार चित्तके एकता ०^७ स्वर्गको प्राप्त हुये है। इस प्रकार अ-मातुष विभुत्वं दिव्य चक्षुसे ० देखने लगता है। ०

“और फिर महालि ! भिक्षु आत्मवर्णके क्षयके जानके लिये चित्तकी शुद्धता है ०^८ अब यहाँ (करने)के लिये कुछ (शेष) नहीं है—इसे ध्यान लेता है। ०^९”

ऐसा कहने पर आलुप्सन् महालिने मगवान्से यह कहा—“भन्ते ! क्या हेतु है = क्या प्रत्यय है, जो कि कोई-कोई भिक्षु फिर-फिर (उसी) कारणको करता है ? मन्ते क्या है हेतु = क्या है प्रत्यय, जो कि कोई-कोई भिक्षु फिर-फिर वैसे कारणको नहीं करता ?”

“महालि ! कोई भिक्षु निरन्तर आपत्ति (= कष्ट) करनेवाला होता है = आपत्ति-बहुल (होता है)। भिक्षुओंके कहने पर दूसरा-दूसरा करने लगता है, बाह्यकी बात उठा देता है, कोप द्वेष, अ-प्रत्यय (= असन्तोष) प्रकट करता है; ठोक्से नहीं बर्तता, रोम नहीं गिराता, निस्तार नहीं खोजता (= वन्तति), ‘जिससे संघ सन्तुष्ट हो, उसे कर्त्तव्य’—यह नहीं कहता। तब महालि ! भिक्षुओंको यह होता है—‘आयुसो ! यह भिक्षु निरन्तर आपत्ति करनेवाला है ० यह नहीं कहता। जच्छा, आयुसो ! इस भिक्षुको वैसे-वैसे उपरीक्षा (= जाँच) करो, जिसमें इसका यह अधिकरण (= समियोग, सुकत्ता, जो उसके कर्त्तव्यके सम्बन्धमें भिक्षु-संघमें पेम है) जल्दी न शान्त (= तै) हो जाये।’ महालि ! भिक्षु इस भिक्षुके अधिकरणको वैसे-वैसे जाँचते हैं, कि उसका वह अधिकरण जल्दी नहीं शान्त होता।

“महालि ! कोई भिक्षु निरन्तर आपत्ति करनेवाला, आपत्ति-बहुल होता है—(किन्तु) वह भिक्षुओंके कहने पर दूसरा दूसरा नहीं करने लगता। ० ‘जिससे संघ सन्तुष्ट हो, उसे

कहेगा'—कहता है । ० भिक्षु उस भिक्षुके अधिकरणको वैसे वैसे जाँचते हैं, कि उसका वह अधिकरण जल्दी ही शान्त हो जाता है ।

“भद्रालि ! कोई भिक्षु विरल आपत्ति वाला होता है = आपत्ति-युक्त नहीं होता । वह भिक्षुओंके कहनेपर दूसरा दूसरा करने लगता है ० उसका वह अधिकरण जल्दी नहीं शान्त होता ।

“० ‘वह भिक्षुओंके कहने पर दूसरा दूसरा नहीं करने लगता ० उसका वह अधिकरण जल्दी ही शान्त हो जाता है’ ।

“भद्रालि ! यहाँ कोई भिक्षु भद्रामात्र, प्रेममात्रसे रह रहा है । वहाँ भद्रालि ! भिक्षुओंको यह होता है—बाबुसो ! यह भिक्षु भद्रामात्र प्रेममात्रसे रह रहा है । यदि हम बार-बार इस भिक्षुके कारण (= कसूर-वेकसूरका निर्णय) करेंगे, तो जो कुछ बड़ा मात्र प्रेममात्र इसको है, वह भी कहीं इसका छूट न जाये । जैसे भद्रालि ! किसी पुरुषको एक बाँछ हो, उसके वस्तु मित्र, जाति-भाई उस एक बाँछकी रक्षा करें—जो इसकी एक बाँछ है, वह भी कहीं नष्ट न हो जाये । ऐसे ही भद्रालि ! कोई भिक्षु भद्रामात्र = प्रेममात्रसे वर्तता है, ० वह भी कहीं इसका छूट न जाये ।

“भद्रालि ! यह हेतु है = यह प्रत्यय है, जिससे कोई कोई भिक्षु बार बार कारण करते हैं । भद्रालि ! यह हेतु = प्रत्यय है, जिससे कि कोई कोई भिक्षु बार बार कारण (= दोष) नहीं करते ।”

“मन्ते ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, जो कि पूर्वकालमें अल्पतर शिक्षापद (= भिक्षु-नियम) थे, और बहुत भिक्षु आज्ञा (= उत्तम ज्ञान) में अवस्थित थे ? मन्ते ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, जो कि आजकल शिक्षापद बहुत हैं, किन्तु अल्पही भिक्षु आज्ञामें अवस्थित होते हैं ?”

“भद्रालि ! शास्त्रा (= गुरु) तब तक आश्रकों (= शिष्यों) के लिये शिक्षापदका विधान नहीं करते, जब तक कि यहाँ संघमें कुछ आश्रय (= चित्त-मल)-स्थानीय धर्म (= कार्य) हो नहीं जाते । जब भद्रालि ! संघमें कुछ आश्रयस्थानीय धर्म उत्पन्न हो जाते हैं, तो उन्हीं आश्रय-स्थानीय धर्मोंके दूर करनेके लिये शास्त्रा संघके लिये शिक्षापदका विधान करते हैं । भद्रालि ! संघमें तब तक कोई आश्रय-स्थानीय धर्म उत्पन्न नहीं होते, जब तक कि संघ महान् न हो गया हो । जब भद्रालि ! संघ महान् हो गया होता है, तो यहाँ कोई आश्रय-स्थानीय धर्म उत्पन्न होते हैं, तब ० शास्त्रा संघके लिये शिक्षापदका विधान करते हैं । भद्रालि ! तब तक संघमें कोई आश्रयस्थानीय धर्म नहीं उत्पन्न होते, जब तक कि संघ बड़े जानकी न प्राप्त हो गया हो ० । ० बड़े शक्तको न प्राप्त हो गया हो ० । ० बहुश्रुत मानकी न प्राप्त हो गया हो ० । रात्रि-भाव (= चिरकाल से अवस्थिति) को न प्राप्त हो गया हो ० ।

“भद्रालि ! तुम लोग उस समय थोड़े थे, जब कि मैंने तुम्हें आज्ञानीयस्वरूपा (= आज्ञानीयावरोपमा) धर्म-पर्याय (= सूत्र) को उपदेश किया था । याद है, भद्रालि !”

“नहीं, भन्ते !”

“वहाँ, भद्रालि ! क्या कारण समझता है ?”

“मैं मन्ते ! चिरकालसे शास्त्राके शासनमें शिक्षाको पूरा करनेवाला न था ।”

“भद्रालि ! यही हेतु = यही प्रत्यय नहीं है । बल्कि भद्रालि ! दीर्घकालसे मैंने तेरे चित्त के भावको जान लिया है—‘वह भोग्यपुरुष ! मेरे धर्म-उपदेश करते समय, ध्यान करके मन लगा कर, सारे चित्तको एकाम्र कर, सावधान हो धर्म नहीं सुनता’ । अच्छा भद्रालि ! तो मैं तुझे

आजानीयस्वरूपम धर्म-पर्यायको उपदेशता हूँ, उसे सुन अच्छी तरह मनमें कर, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) आधुमान् भरालिने भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ने यह कहा—“जैसे भरालि ! चतुर चातुक-सवार भद्र = आजानीय अङ्कको धा कर,

(१) पहिले मुख्याधान (= लगाम लगाना आदि)का कारण (= शिक्षा) करता है । पहिले न जाना कारण होनेसे मुख्याधान कारण करते वक्त कुछ चपलता, मूल, प्रमाद होते ही हैं । क्योंकि वह निरन्तर, क्रमशः उस कारण (= शिक्षा)के देनेसे उसे सीख लेता है । (२) भरालि ! निरन्तर क्रमशः शिक्षा देनेसे जब वह उसे सीख लेता है, तो चातुक सवार उसे आगेकी शिक्षा, युगाधान (= जुआ खींचना) सिखाता है । पहिले न जाना (= किया) कारण होनेसे ० । (३) ० जब वह उसे सीख लेता है, तो ० चातुक सवार उसे आगेकी शिक्षा (= करण) मेंदल (= चकर) काटना ० । ० खुरकाय (= निःशब्दगति) ० । ० घाघन (= सर्पट) ० । ० रघार्घ (= दिनदिनानेकी शिक्षा) ० । ० राजगुण (= एक गति) ० । ० राजचंदा यणिय (= एक गति) ० । ० बलिय (= एक गति)में प्रवेश कराता है । भरालि ! इन इस गुणों (= अंगों)से पुक्त भद्र = आजानीय अश्व रात्रार्ह = राज-मोय्य होता है, राजाका अंगही कहा जाता है । ऐसे ही भरालि ! इस अंगोंसे पुक्त मित्रु आवाहन-योग्य, अतिथि-योग्य, दान-योग्य, दास-जोषने-योग्य, लोहने पुण्य (योने)का अनुपम श्रेष्ठ (= श्रेष्ठ) होता है । किन दस (अंगों) से ?—
(१) वहाँ, भरालि ! मित्रु अशेष सम्यग्दृष्टिसे पुक्त होता है, (२) ० अशेष (= संपूर्ण) सम्यक्-संकल्प ० । (३) ० अशेष सम्यग्-वाक् ० । (४) ० अशेष सम्यक्-कर्मोन्त ० । (५) ० अशेष सम्यग्-आजीव ० । (६) अशेष सम्यग्-व्यापार ० । (७) ० अशेष सम्यक्-स्मृति ० । (८) अशेष सम्यक्-समाधि ० । (९) ० अशेष सम्यग् (= ठीक) ज्ञान ० । (१०) अशेष सम्यग्-विमुक्ति (= ० मुक्ति, रागद्वेष मोहसे चित्तकी मुक्ति) ० । भरालि ! इन दस गुणोंसे पुक्त मित्रु ० अनुपम श्रेष्ठ होता है ।”

भगवान्‌ने यह कहा, तन्तुष्ट हो आधुमान् भरालिने भगवान्‌के भाषणकी अभिनन्दित किया ।

६६—लकुटिकोपम-सुत्तन्त (२।२।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् अंगुत्तराप^१ (देश)में आपण नामक अंगुत्तराप (वाल्मिकी)के कसबमें विहार करते थे ।

तब भगवान् पूर्वाह्णके समय पहिनकर पात्र-चीवर ले पिंड (= भिक्षा)के लिये आपण में प्रविष्ट हुये । आपणमें पिंडुच्चार (= मधूकरी घाँगवा) करके, पिंडपात (= भिक्षा)से निवृत्त हो दिनके विहारके लिये एक वन-पंडमें गये । उस वन-पंडमें प्रविष्ट हो एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये बैठे । आयुष्मान् उदायी भी पूर्वाह्णके समय पहिन कर ० एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये बैठे ।

तब एकान्तमें ध्यानावस्थ हो बैठे आयुष्मान् उदायीके चित्तमें यह चिंतक उत्पन्न हुआ—

“अहो ! भगवान् हमारे बहुतसे दुःखोंके अपहर्ता हैं । अहो ! भगवान् हमारे बहुतसे सुखों (= सुख-धर्मों)के उपहर्ता (= लानेवाले) हैं । अहो ! भगवान् हमारे बहुतसे अकुशल-धर्मों (= बुराइयों)के अपहर्ता हैं । अहो ! भगवान् हमारे बहुतसे कुशल-धर्मों (= भलाईयों)के उपहर्ता हैं ।”

तब आयुष्मान् उदायी सायंकाल प्रतिरैल्लपन (= ध्यान)से उठ कर, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् उदायीने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! आज एकान्तमें ध्यानावस्थ हो बैठे मेरे चित्तमें यह चिंतक उत्पन्न हुआ—‘अहो ० उपहर्ता हैं ।’ भन्ते ! पहिले हम शामको भी खाते थे, सवेरेको भी, दिवा (= मध्याह्न)को भी विकाल (= अपराह्न)में भी । उस समय जब भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—‘भिक्षुगो ! तुम इस मध्याह्न-वायु दिनके भोजनको छोड़ो ।’ उस समय भन्ते ! मुझे बुरा लगा—दुर्भनता हुई—‘जो कि गृहपति अद्वासे हमें उत्तम खाद्य-भोज्य मध्याह्न-वायु दिनको देते हैं, उसका भी भगवान् हमें त्याग करना कहते हैं, उसको भी सुगत हमें छोड़ना कहते हैं ।’ सो हमने भन्ते ! भगवान्के प्रति प्रेम, गौरव, डी (= लज्जा), अपजपा (= संकोच)का क्याल कर उस विकाल भोजनको छोड़ दिया । सो हम भन्ते ! शामको खाते, सवेरे खाते थे । फिर वह भी समय जाया जब भगवान् ने भिक्षुओंको संबोधित किया—‘भिक्षुगो ! तुम इस रातके विकाल भोजनको छोड़ो ।’ उस समय भन्ते ! मुझे बुरा लगा; दुर्भनता हुई—‘जो कि गृहपति अद्वासे हमें उत्तम खाद्य-भोज्य रातकी विकालमें देते हैं, उसका भी भगवान् हमें त्याग करना कहते हैं, उसका भी सुगत हमें छोड़ना

^१ भागलपुर-मुंगेर जिलेके गंगाका उत्तरका भाग ।

कहते हैं। पहिले (एक धार) भन्ते ! कोई पुरुष दिवको नींद लेता बीजा—‘हन्त ! इसे रसदो, शामको सब झुट्टा होकर जायेंगे’ । जो कुछ भन्ते ! संकतिपाँ (= सुन्दर पाक) है, सभी रातको (अधिक) होती है, दिनको कम । सो हमने भन्ते ! भगवान्‌के प्रति प्रेम ० क्याल कर उस राति के बिकाल भोजनको डोक दिया । पहिले भन्ते ! मिथु रातके अंधकारमें भिक्षादन (= पिंडचार) करते थे । (उस समय वह) चन्दनिका (= गहने)में भी बुरा जाते थे, गवही (= ओलिंगल) में भी गिर जाते थे, काँटेकी मैदान पर भी चढ़ जाते थे, सोई गायपर चढ़ जाते थे, कृत-कर्म (= अपना काम मिलने कर लिया है) अनृत-कर्म घोरोंके साथ भी डवका संगम होजाता था । (दुराचारिणी) छियाँ भी उन्हें अवर्मके लिये बुलाती थीं । पहिले एक समय भन्ते ! मै रातके अंधकारमें भिक्षादन कर रहा था, बिजलीकी चमकमें, भन्ते ! मैंने एक स्त्रीको बर्तन साफ करते देखा । उसने मुझे देख चीत्कार किया—‘अरे मरी ! पिशाच !! मुझे (खाने आ रहा है) !!!, ऐसा कहने पर मैंने भन्ते ! उस स्त्रीको कहा—‘मगिनी ! मै पिशाच नहीं हूँ, भिक्षाके लिये मिथु खावा हूँ ।’ ‘मिथुका घाघ मरे, मिथुकी भा मरे । मिथुको गाय काटनेकी तीक्ष्ण चुरीसे अपना पेट काट लेना अच्छा है, न कि रातके अंधकारमें तुम्हारा भोजन माँगना ।’ भन्ते ! वह (बात) याद करते मुझे ऐसा होता है—‘अहो ! मगवान्‌ हमारे बहुतसे दुःखोंके अपहर्ता हैं ० कुशल धर्मोंके उपहर्ता हैं ।’

‘ऐसे ही उदासी ! कोई कोई मोघपुरुष मेरे—‘यह जोषो’—कहने पर ऐसा कहते हैं—‘क्या इस छोटी बातके लिये, तुच्छ बातके लिये यह अमण झिड़ कर रहा है’ और वह उसे नहीं छोड़ते, और मेरे विषयमें विरक्ति उत्पन्न करते हैं । (किन्तु) जो मिथु सोल चाहनेवाले होते हैं, उनको यह होता है—‘यह अवर्तल बंधन है, रव बंधन है, स्थिर बंधन है, मजबूत (= अप्रतिष्ठ = न-सहा) बंधन है, स्थूल कलिंगर (= पशुनोंके गलेमें बाँधने का काष्ठ) है ।’ जैसे उदासी ! प्रति (= सोय) कलाके बंधनसे बँधी लटुकिका (= गौरव्या) पक्षी वही बंध, बंधन वा मरणकी प्रतीक्षा करती है । उदासी ! जो (आदमी) वह कहे—‘चूँकि वह लटुकिका पक्षी प्रति-कलाके बंधनसे बँधी है, वह वही बंध, बंधन वा मरणकी प्रतीक्षा कर रही है, किन्तु उसका वह अवल बंधन है, दुर्बल बंधन है, प्रतिष्ठ (= सहा) बंधन है, असारक बंधन है ।’ क्या उदासी ! ऐसा कहते वह ठीक कह रहा है ?’

‘नहीं भन्ते ! वह लटुकिका पक्षी जिस प्रति-कलाके बंधनसे बँधी वही बंध, बंधन वा मरणकी प्रतीक्षा कर रही है, वह उसके लिये अलवान् (= मजबूत) बंधन है ० स्थूल कलिंगर है ।’

‘ऐसे ही उदासी ! कोई कोई मोघपुरुष मेरे—‘यह जोषो’—कहनेपर, ० स्थूल कलिंगर है ।

‘किन्तु यहाँ उदासी ! कोई कोई कुलपुत्र मेरे—‘यह जोषो’—कहने पर, ऐसा कहते हैं—‘इस छोटी बात, इस तुच्छ बातका छोड़ना क्या (बड़ी बात) है, जिसे छोड़नेके लिये मगवान्‌ कह रहे हैं, जिसके त्यागके लिये सुगत कह रहे हैं’ और उसे छोड़ देते हैं, और मेरे विषयमें विरक्ति उत्पन्न नहीं करते । जो सोल चाहनेवाले मिथु हैं, वह उसे छोड़ निश्चिन्त हो, रोम गिराकर, पर-द-वृत्ति (= दूसरेके हितसे वृत्ति करनेवाले) मृतके समान धिक्के साथ चिहस्ते हैं । उदासी ! उनके लिये वह अवल बंधन है ० असारक बंधन है । जैसे उदासी ! = हरिस-जैसे दाँवोंवाला महाकाय, संग्रामचारी, बड़े भज्जकृत स्त्रियोंसे पैसा उत्तम बातका राजकीय नाग (= हाथीका पट्टा) ओढ़ाही शरीर बुमानेसे उन बंधनोंको तोड़ कर, छिड़ कर, जहाँ चाहे वहाँ चला जाये । उदासी ! जो ऐसा कहे—० जो कि ० हाथीका पट्टा ओढ़ा ही शरीर बुमानेसे जिन बंधनोंको तोड़ कर ० जहाँ चाहे,

वहाँ चला जाये; वह अजल वंधन है ० स्थूल कलिगर है । ऐसा कहते हुये उदायी ! क्या वह ठीक कह रहा है ?”

“नहीं, मन्ते ! ० राजाका नाग घोड़ा ही शरीर सुमानसे जिस बंधनोंको ढोड़ कर ० चला जाये, वह उसके लिये अजल वंधन है ० असारक वंधन है ।”

“ऐसेही उदायी ! कोई कोई कुलपुत्र मेरे—‘यह छोड़ो’—कहने पर ० मुण्डके समान चित्तसे विहरते हैं । उदायी ! उनके लिये वह अजल वंधन है ० असारक वंधन है ।”

“जैसे, उदायी ! कोई दरिद्र धनहीन, अन्-आद्य पुरुष हो, उसके पास एक कुरूप, कौआ-बढ़ावन, टूटा फूटा घर हो, एक कुरूप टूटी फूटी खटोली हो, एक ‘‘जबैमर भरने लायक बनाज हो, एक कुरूपा मेहरिया (= जायिका) हो । वह (संच-)आराममें हाथ-पैर धो मनोज्ञ भोजन ग्रहण कर शीतल छायामें बैठे ध्यातरत मिश्रुको देखे । उसको ऐसा हो—‘अहो, अमण-भाव (= संन्यासी होना) सुखमय है, अहो ! अमणभाव निरोग है । अहो ! कहीं मैं भी केश-दायी मुँडा काषायवस्त्र पहिन घर छोड़ घेघर (= अनागारिक) हो प्रव्रजित होजाता ।’ किन्तु वह उस अपने कुरूप, कौआ-बढ़ावन, टूटे फूटे घरको ० कुरूपा मेहरियाको छोड़ कर, केश-दायी मुँडा काषाय वस्त्र पहिन प्रव्रजित नहीं हो सके । उदायी ! यदि कोई यह कहे—जिस बंधनसे बँधा वह, उस अपने ० टूटे फूटे घर को ० एक कुरूपा मेहरियाको छोड़ कर ० प्रव्रजित नहीं हो सकता; वह उसके लिये अजल वंधन है ० असारक वंधन है’ ऐसा कहते हुये उदायी ! क्या वह ठीक कह रहा है ?”

“नहीं, मन्ते ! जिस बंधनसे बँधा वह, उस अपने ० टूटे फूटे घर ० को छोड़ कर ० प्रव्रजित नहीं हो सकता, वह उसके लिये अजल वंधन है ० स्थूल कलिगर है ।”

“ऐसे ही उदायी ! कोई कोई भोगपुरुष—मेरे ‘यह छोड़ो’—कहने पर, ० स्थूल कलिगर है ।

“जैसे उदायी ! कोई गृहपति या गृहपति-पुत्र आद्य, महाधनी, महामोगवान् हो; (उनके पास) बहुत अशक्तियों (= निष्क) के डेरका संचय हो, बहुत अनाजके डेरका संचय हो, बहुत सेतोंका संचय हो, बहुत घोड़ा संचय हो, बहुत भार्याओंका संचय हो, बहुत दासों ०, ० दासियों ० का संचय हो । वह (संच-)आराममें हाथ-पैर धो ० मिश्रुको देखे । उसको ऐसा हो—‘अहो ! अमण-भाव ० घरसे बेघर हो जाता है ।’ और वह उस अपनी बहुत अशक्तियोंके डेरके संचय को ० बहुत दासियोंके संचयको छोड़ कर, केशदायी मुँडा ० प्रव्रजित हो सके । तो उदायी ! यदि ऐसा कहे—जिस बंधनसे बँधा वह; उस अपने ० दासियोंके संचयको छोड़ कर प्रव्रजित हो सकता है, वह उसका अजल वंधन है ० स्थूल कलिगर है । ऐसा कहते हुये उदायी ! क्या वह ठीक कह रहा है ?”

“नहीं, मन्ते ! वह गृहपति ० जिस बंधनसे बँधा, अपने ० दासियोंके संचयको छोड़ कर, प्रव्रजित हो सकता है; वह इसके लिये अजल वंधन है ० असारक वंधन है ।”

“उदायी ! लोकमें चार प्रकारके पुरुष=पुद्गल विद्यमान हैं । कौनसे चार ?—(१) यहाँ उदायी ! एक पुद्गल उपधि (= मोग-इच्छा, मोग-संग्रह)के ग्रहाणके लिये = उपधिके त्यागके लिये संलग्न होता है; तब उपधि-ग्रहाणके लिये ० संलग्न उसे उपधि-संप्रधी स्वर-संक्लप (= संकल्प) उत्पन्न होते हैं, वह उनको स्वीकार करता है, उनको छोड़ता नहीं, भला नहीं करता, अन्त नहीं करता, नाश नहीं करता । उदायी ! इस पुद्गलको मैं संयोगी कहता हूँ, विसंयोगी नहीं । सो

किस हेतु ?—उदायी ! 'इस पुद्गलकी इन्द्रिय (= मनका शुक्लाय) भिन्न है'—यह सुने ज्ञात है । (२) यहाँ उदायी ! एक पुद्गल उपधि प्रहाणके लिये ० संस्रप्त होता है; तब ० स्वर-संक्षय उत्पन्न होते हैं, वह उन्हें न स्वीकार (= स्वागत) करता है, न उनको छोड़ता है ० । उदायी ! इस पुद्गलको भी मैं संयोगी कहता हूँ, विसंयोगी नहीं । ० यह सुने ज्ञात है । (३) यहाँ उदायी ! ० स्वर-संक्षय उत्पन्न होते हैं । उदायी ! (उसको) स्मृति (= होश) धीरे-धीरे (= दूँबा) उत्पन्न होती है; फिर वह शीघ्र ही उन्हें छोड़ता है ० । जैसे उदायी ! (कोई) पुरुष दिगकी धूप में लुप्त होके कहाँमें दो या तीन पानीके छीटे डाले, उदायी ! पानीकी छींटोंका गिरना धीरे धीरे होता है; (किन्तु) फिर वह शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । ऐसे ही यहाँ उदायी ! कोई ० स्वर-संक्षय उत्पन्न होते हैं । ० शीघ्र ही उन्हें छोड़ता है ० । उदायी ! इस पुद्गलको भी मैं संयोगी कहता हूँ, विसंयोगी नहीं । ० यह सुने ज्ञात है । (४) यहाँ उदायी ! एक पुद्गल—'उपधि दुःखोंका मूल है'—यह जानकर, उपधि-रहित होता है, उपधिके क्षयके कारण विमुक्त होता है । उदायी ! इस पुद्गलको मैं विसंयोगी कहता हूँ, संयोगी नहीं । सो किस हेतु ?—उदायी ! इस पुद्गलकी इन्द्रिय भिन्न है—यह सुने ज्ञात है ।

'उदायी ! पाँच काम-गुण' (= भोग) हैं । कौनसे पाँच ?—(१) चक्षु द्वारा ज्ञेय (= चक्षुर्विज्ञेय) इष्ट, कान्त, अनाद्य = प्रिय, कामनीय = राजनीय रूप, श्रोत्र-विज्ञेय ० शब्द; प्राण-विज्ञेय ० गंध, जिह्वा-विज्ञेय ० रस; वायु-विज्ञेय ० स्पर्शश्च । उदायी ! यह पाँच काम-गुण हैं । इन पाँच काम-गुणोंको लेकर उदायी ! जो सुख-सौमनस्य उत्पन्न होता है, वह काम-सुख = मीठ-सुख, पुयग्वन (= अज)-सुख, अनार्य-सुख कहा जाता है, (जो कि) भवेवनीय = भवाभनीय न-बहुली-करणीय (= न बहाने योग्य) है । 'इस सुखसे दूरना चाहिये'—मैं कहता हूँ । यहाँ उदायी ! भिक्षु कामोंसे विरहित ० * प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है ० * द्वितीय-ध्यान ० । ० * तृतीय-ध्यान ० । ० * चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । उदायी ! यह निष्कामता (= काम-रहित) सुख है, प्रविवेक-सुख, उपशम-सुख, सम्बोध-सुख कहा जाता है; (जो कि) सेवनीय, भावनीय, बहुलीकरणीय है । 'इस सुखसे भय नहीं करना चाहिये'—मैं कहता हूँ ।

'यहाँ उदायी ! भिक्षु कामोंसे विरहित ० * प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । उदायी ! इसे मैं इंगित (= चंचल) कहता हूँ । यहाँ क्या इंगित है ?—(यही) जो कि (इस ध्यानमें) वितर्क, विचार नष्ट नहीं हुये रहते' । यहाँ उदायी ! भिक्षु ० * द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । उदायी ! इसे मैं इंगितमें अकृता हूँ । (यहाँ क्या) इंगित है ?—(यही) जो कि (इस ध्यानमें) प्रीति-सुख निरुद्ध नहीं हुआ रहता' । ० * तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । ० जो कि (इस ध्यानमें) उपेक्षा-सुख निरुद्ध नहीं हुआ रहता' । ० * चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । उदायी ! मैं इसे अन्-इंगित (= चंचलता रहित) कहता हूँ ।

'यहाँ उदायी ! भिक्षु कामोंसे विरहित ० * प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । उदायी ! इसे मैं अन्-अर्ज (= अपराध)—कहता हूँ, 'लोष दो'—कहता हूँ, 'अतिक्रमण कर जाओ'—कहता हूँ । इसके अतिक्रमणका उपाय क्या है ?—यहाँ उदायी ! ० * द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । यह उसका समतिक्रम (= अतिक्रमण करनेका उपाय) है । उदायी ! इसे भी मैं ० 'अतिक्रमण कर जाओ' कहता हूँ । इसका समतिक्रम क्या है ?—० * तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता

है। यह उसका समतिक्रम है। इसे भी ० ० 'अतिक्रमण कर जाओ'—कहता हूँ। इसका समतिक्रम क्या है?—०^१ चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यह उसका समतिक्रम है। इसे भी ० ० । ०—^१ आकाशानन्त्यायतन ० । ० ०^१ विज्ञानानन्त्यायतन ० । ० ०^१ आकिञ्चन्यायतन ० । ० ०^१ नैवसंज्ञा-भासंज्ञायतनको प्राप्त हो विहरता है। यह उसका समतिक्रम है। इसे भी उदायी ! मैं अपर्णा ० कहता हूँ। क्या है, इसका समतिक्रम?—यहाँ उदायी ! भिक्षु वैषाङ्ग-भासंज्ञायतनको सर्वथा अतिक्रमणकर संज्ञा-चैदित-निरोध^१को प्राप्त हो विहरता है। यह उसका समतिक्रम है। इस प्रकार उदायी ! मैं नैवसंज्ञा-भासंज्ञायतनके भी ग्रहाण (= परिस्वाग) को कहता हूँ। उदायी ! क्या ऐसा कोई छोटा-बड़ा (= अशु-स्थूल) संयोजन (= बंधन) देखते हो, जिसके ग्रहाणको मैं नहीं कहता ?”

“नहीं, भन्ते !”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आचुष्मान् उदायीने भगवान् के भाषणको अभिर्नन्दित किया।

६७-चातुम-सुत्तन्त (२।२।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् चातुमाके आमलकीवन (= बाँवलेके घाग) में विहरते थे।

उस समय भगवान्के दर्शनार्थ सारिपुत्त, योगलान् आदि पाँचसौ भिक्षु चातुममें जाये-
हुये थे। (उस समय) वह आर्यभुक्त भिक्षु (उस स्थानके) निवासी भिक्षुओंके साथ संमोदन
(= कुशल-प्रश्न पूछना) करते, शयनासन बसठाते, पात्र-चीकर सँभालते जैसे-शब्द = महाशब्द
करने लगे। तब भगवान्ने आयुष्मान् आनन्दसे कहा—

“आनन्द ! यह कौन जैसे-शब्द-महाशब्द करनेवाले हैं, मानो केवट बगली मार रहे हैं ?”

“भन्ते ! यह सारिपुत्त, योगलान् आदि पाँचसौ भिक्षु = महाशब्द कर रहे हैं।”

“तो, आनन्द ! मेरे बचनसे उन भिक्षुओंसे कह—‘शान्ता आयुष्मान्ओंको बुला रहे हैं’।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) भगवान्को उत्तर दे, आयुष्मान् आनन्दने जहाँ वह भिक्षु
थे, वहाँ—“जाकर उन भिक्षुओंसे यह कहा—

“शान्ता, आयुष्मान्ओंको बुला रहे हैं।”

“अच्छा, आयुस !”—(कह) आयुष्मान् आनन्दको उत्तर दे वह भिक्षु जहाँ भगवान् थे
वहाँ—“जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये।

एक ओर बैठे उन भिक्षुओंसे भगवान्ने यह कहा—

“भिक्षुओं ! क्यों तुम जैसे शब्द = महाशब्द कर रहे थे, मानो केवट बगली मार रहे हों ?”

“भन्ते ! यह सारिपुत्त, योगलान् आदि (इन) पाँच सौ भिक्षु = पात्रचीकर सँभालते
= महाशब्द कर रहे थे।”

“आओ, भिक्षुओं ! तुम्हें चले जाने (= पणामना) के लिये कहता हूँ; मेरे साथ
तुम न रहना।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) वह भिक्षु भगवान्को उत्तर दे, आसनसे उठ, भगवान्को
अभिवादनकर प्रदक्षिणा कर शयनासन संभाल, पात्र-चीकर ले चले गये।

उस समय चातुमाके शाक्य किसी कामसे सँस्थागार (= प्रजासंघमन्त्र) में जमा
थे। चातुमाके शाक्योंने दूरसे उन भिक्षुओंको जाले देखा। देखकर जहाँ वह भिक्षु थे, वहाँ—
जाकर उन भिक्षुओंसे यह कहा—

“हन्त ! आप आयुष्मान् कहीं जा रहे हैं ?”

“आतुसो ! भगवान्ने भिक्षु-संघको चले जानेके लिये कहा।”

“तो आयुष्मान् ! सुहृत् भर (आप सब यही) उद्धरें; शाक्य हम भगवान्को प्रसन्न
(= राजी) कर सकें।”

"अच्छा, आतुसो !" (कह) उन भिक्षुओंने चातुभाके शाक्योंको उत्तर दिया ।

तब चातुभावाले शाक्य जहाँ भगवान् थे, वहाँ जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठे—

"भन्ते ! भगवान् भिक्षुसंघको अभिनन्दन = अभिनन्दन (= स्वीकार) करें । भन्ते ! जैसे भगवान्ने पहिले भिक्षुसंघको अनुगृहीत किया था, वैसेही अब भी अनुगृहीत करें । भन्ते ! यहाँ (= भिक्षुसंघ) में नये अचिर-प्रवर्जित, इस धर्ममें अभी हालके आये भिक्षु हैं । भगवान्का दर्शन न मिलनेपर उनके (मनमें) विकार = अन्यथात्व होगा । जैसे, भन्ते ! छोटे अंडुरों तरुण-बीजों को जल न मिलनेपर विकार = अन्यथात्व होता है; इसी प्रकार भगवान्का दर्शन न मिलनेपर उनको विकार = अन्यथात्व होगा । जैसे, भन्ते ! माताको न देखने पर छोटे बच्चे (= तरुण वत्स) को विकार = अन्यथात्व होता है; इसी प्रकार भगवान् भिक्षुसंघको अभिनन्दन कर अनुगृहीत करें ।"

तब सहस्रपति (= सहा प्रज्ञाओंके स्वामी) ब्रह्मा भगवान्के चित्तके चित्तोंको जान कर, जैसे बलवान् पुरुष (अथवा) समेटी घाँहको फैला दे, फैलाई बाँहको समेट ले, ऐसे ही ब्रह्मलोकमें अन्तर्धान हो भगवान्के सामने प्रकट हुआ । तब सहस्रपति ब्रह्माने उत्तरार्ध (= ऊपरकी चर) को एक (= दाहिने) कंधे पर कर, भगवान्को और अंजलि जोष भगवान्से यह कहा—

"भन्ते ! भगवान् भिक्षु-संघको अभिनन्दन = अभिनन्दन करें । छोटे अंडुरोंका छोटे बच्चेको अनुगृहीत करें ।"

चातुभावाले शाक्य और सहस्रपति ब्रह्मा बीज, और तरुणकी उपमासे भगवान्को प्रसन्न करनेमें सफल हुये । तब आयुष्मान् महामौद्गल्यायनने भिक्षुओंको आश्रित किया—

"बड़ो, आतुसो ! पाण-बीवर उड़ाओ । चातुभावाले शाक्यों और सहस्रपति ब्रह्माने पीज और तरुणकी उपमासे भगवान्को प्रसन्न कर (= मना) लिया ।"

"अच्छा, आतुसो"—(उह) आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको उत्तर दे, वह भिक्षु आसनसे उठ, पाण बीवर ले जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् सारिपुत्रने भगवान्ने यह कहा—

"सारिपुत्र ! मेरे भिक्षुसंघके निकाल (= पणामना) देने पर तुझे कैसा हुआ था ?"

"भन्ते ! मुझे ऐसा हुआ था—भगवान्ने भिक्षुसंघको निकाल दिया, अब भगवान् निश्चित हो दृष्ट-धर्म (= इसी जन्म) के सुखसे युक्त हो विहरेंगे । इस भी अब दृष्ट-धर्म सुखसे युक्त हो विहरेंगे ।"

"ठहर सारिपुत्र ! ठहर सारिपुत्र ! मत (फिर) ऐसा विचार चित्तों उत्पन्न करना ।"

तब भगवान्ने आयुष्मान् महामौद्गल्यायनको संबोधित किया—

"मोग्गलान ! मेरे भिक्षुसंघके निकाल देनेपर तुझे कैसा हुआ था ?"

"भन्ते ! मुझे ऐसा हुआ था—भगवान्ने भिक्षुसंघको निकाल दिया, अब भगवान् निश्चित हो दृष्ट-धर्म-सुखसे युक्त हो विहरेंगे । मैं और आयुष्मान् सारिपुत्र भिक्षुसंघको परिधारण (= देख-रेख) करेंगे ।"

"साधु, साधु, मोग्गलान ! चाहे भिक्षुसंघको मैं परिधारण करूँ, या सारिपुत्र-मोग्गलान ।"

तब भगवान्ने भिक्षुओंको आश्रित किया—

"भिक्षुओं ! पानीमें घुसनेवालेके लिये यह चार अण (= छतरे) के होनेकी संभावना रखनी

चाहिये । कौनसे चार ?—(१) ऊर्मि (= लहर)-भय (२) कुम्भीर (= मगरका)-भय, (३) आवर्त (= भँवर)-भय, और (४) सुसुका (= नरभक्षी मत्स्य)-भय । “इसी प्रकार भिक्षुओ ! इस धर्ममें धरसे वेचर हो प्रवर्जित किसी पुद्गलको भी इन चार अपेक्षि होनेकी संभावना है । कौनसे चार ?—(१) ऊर्मि-भय, (२) कुम्भीर-भय (३) आवर्त-भय, और (४) सुसुका-भय ।

(१) ‘‘क्या है भिक्षुओ ! ऊर्मि-भय ?—यहाँ भिक्षुओ ! एक कुलपुत्र अज्ञापूर्वक धरसे वेचर प्रवर्जित हो (सोचता है)—‘जन्म (= जाति), जरा, मरण, शोक, रोदन-कंदन, दुःख-दीर्घनरय, उपासास (= परेशानियों)में पड़ा हूँ, दुःखमें गिरा दुःखमें डूबा हूँ । क्या कोई इस केवल दुःख-पुंजके अन्त करनेका उपाय मातृम होगा ।’ (तब) उस प्रकार प्रवर्जित हुए, उसे सबज्ञाचारी उपदेशते हैं = अनुशासते हैं—‘इस प्रकार तुम्हें गमन करना चाहिये, इस प्रकार आगमन करना चाहिये, इस प्रकार आलोकन-विलोकन करना चाहिये, इस प्रकार समेदना चाहिये, इस प्रकार फैलाना चाहिये, इस प्रकार संघाटी (-वस्त्र), पात्र, चीवर धारण करना चाहिये ।’ उसको ऐसा होता है—‘हम पहिले गृहस्थ होते समय दूसरोंको उपदेश = अनुशासन देते थे, यह (भिक्षु) हमारे पुत्र, नाती जैसे होते भी हमें उपदेश = अनुशासन देना चाहते हैं, (यह सोच) यह (भिक्षु-) शिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीन (= गृहस्थ-भाव)को छौट जाते हैं । भिक्षुओ ! यह कहा जाता है, कि (भिक्षु) ऊर्मि-भयसे भीत हो शिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीनको छौट गया । भिक्षुओ ! ऊर्मि-भय यह क्रोधकी परेशानीका नाम है ।

(२) ‘‘क्या है भिक्षुओ ! कुम्भीर-भय ?—यहाँ, भिक्षुओ ! एक कुलपुत्र ० प्रवर्जित हो ० क्या कोई इस केवल दुःखपुंजके अन्त करनेका उपाय मातृम होगा । ० उसे सबज्ञाचारी उपदेश = अनुशासन करते हैं—‘यह तुम्हें खाना चाहिये, यह तुम्हें नहीं खाना चाहिये, यह तुम्हें भोजन करना चाहिये, यह तुम्हें नहीं भोजन करना चाहिये, ० आस्वादन ०, ० न आस्वादन ० ; ० पान-करना ०, ० न पान करना ० ; तुम्हें कल्प (= विहित) खाना चाहिये, तुम्हें अ-कल्प न खाना चाहिये, ० कल्प भोजन करना ०, ० अकल्प भोजन न करना ०, ० कल्प आस्वादन करना ०, ० अ-कल्प आस्वादन न करना ० ; ० कल्प पान करना ०, ० अकल्प पान न करना ० ; तुम्हें कालसे खाना चाहिये, तुम्हें विकालसे न खाना चाहिये, ० ० ; तुम्हें कालसे पान करना चाहिये, तुम्हें विकालसे पान न करना चाहिये ।’ उसको ऐसा होता है—‘पहिले गृहस्थ होते समय हम जो चाहते सो खाते, जो नहीं चाहते सो नहीं खाते, ०, जो चाहते सो पीते, जो नहीं चाहते सो न पीते । कल्प भी खाते, अकल्प भी खाते, ० कल्प भी पीते, अकल्प भी पीते । कालसे भी खाते, विकालसे भी खाते, ० कालसे भी पीते, विकालसे भी पीते । जो भी गृहस्थ लोग अज्ञापूर्वक उत्तम खाद्य-भोज्य दोपहर बाद विकालमें देते हैं, उसके लिये मुँहमें जग जैला लगा रहे हैं’—(यह सोच) यह शिक्षाका प्रत्याख्यान ० । भिक्षुओ ! यह कहा जाता है, कि कुम्भीर-भयसे भीत हो शिक्षाका प्रत्याख्यान कर, हीन (आश्रम)को छौट गया । भिक्षुओ ! कुम्भीर-भय यह पेटपनका नाम है ।

‘‘क्या है, भिक्षुओ ! आवर्त-भय ?—० उपाय मातृम होगा । यह इस प्रकार प्रवर्जित हो पूर्वाह्न समय पहिन कर पात्र-चीवर ले, कायासे अरक्षित (= संयम-रहित), चित्तसे अरक्षित, वचनसे अरक्षित, स्मृति (= होश)से वंचित, इन्द्रियोंसे असंयत (= संयम-रहित) हो ज्ञान वा विगममें मिश्राके लिये प्रविष्ट होता है । यह वहाँ गृहपति या गृहपति-पुत्रको पाँच काम-गुणों (= योगों) से समर्पित = संयुक्त हो मौन करते देखता है । उसको ऐसा होता है—‘पहिले

गृहस्थ होते समय हम इसी प्रकार पाँच कामगुणोंसे समर्पित = संयुक्त हो मौन करते थे; (हमारे) घरमें मोग भी हैं, मोगोंको मोगते हुये भी पुण्य किये जा सकते हैं—(यह सोच) वह शिक्षाका प्रत्याख्यान * । मिश्रुओ ! यह कहा जाता है, कि आवर्त-मयसे मोत हो * हीन (साधम) को लौट गया । मिश्रुओ ! आवर्त-भय यह पाँच काम-गुणों (= काम-मोगों) का नाम है ।”

“क्या है, मिश्रुओ ! सुसुका-भय ?—* उपाय मालूम होगा । वह * ब्राम या निगममें मित्राके लिये प्रविष्ट होता है । वह वहाँ ठीकसे अनाच्छादित, ठीकसे वस्त्र न पहिने (किसी) स्त्रीको देखता है । (तब) क्रम दुराच्छादित, दुष्प्राकृत स्त्रीको देख, राग उसके चित्तको पीकित करता है । वह रागसे पीकित चित्त हो, शिक्षाका प्रत्याख्यान कर, हीन (साधम) को लौट जाता है । मिश्रुओ ! यह कहा जाता है, सुसुका-भयसे मोत हो शिक्षाका प्रत्याख्यान कर, हीन (साधम) को लौट गया । मिश्रुओ ! सुसुका-भय यह स्त्रियों (= सानुग्राम) का नाम है ।

“मिश्रुओ ! इस धर्ममें घरते घेरते हो प्रव्रजित हुये किसी पुद्गलको इन चार भयोंके होनेकी संभावना है ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिश्रुओंने भगवान् के भाषणको अभिनन्दित किया ।

६८—नलकपान-मुत्तन्त (२।२।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कोसल (देश) में नलकपानके पलायन-कालमें विहार करते थे। उस समय बहुतसे कुलीन कुलीन कुल-पुत्र भगवान्के पास घरसे बे-घरहों प्रव्रजित हुये थे, (जैसे)—आयुष्मान्, अनुसुद्ध, आयुष्मान्, नन्दिय, आ. किम्बिल, आ. भृगु, आ. कुण्डधान, आ. रेवत, आ. आनन्द, तथा दूसरे भी कुलीन कुलीन कुल-पुत्र। उस समय भिक्षु-संघके सहित भगवान् खुले जंगलमें बैठे थे। तब भगवान्ने इन कुलपुत्रोंके संबंधमें भिक्षुओंको संबोधित किया—

“भिक्षुओ ! जो वह कुल-पुत्र मेरे पास अज्ञा-पूर्वक ० प्रव्रजित हुये हैं, वह भवसे प्रज्ञाचर्यमें प्रसन्न तो हैं ?”

ऐसा कहनेपर भिक्षु चुप हो गये। दूसरी बार भी भगवान्ने इन कुलपुत्रोंके संबंधमें भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ ! ० ?”

दूसरी बार भी वह भिक्षु चुप हो गये।

तीसरी बार भी ० “भिक्षुओ ! ० ” तीसरी बार भी वह भिक्षु चुप हो गये।

तब भगवान्के (मनमें) हुआ, “क्यों न मैं इन्हीं कुलपुत्रोंसे पूछूं ?” तब भगवान्ने आयुष्मान् अनुसुद्धको संबोधित किया—

“अनुसुद्धो ! तुम (लोग) प्रज्ञाचर्यमें प्रसन्न तो हो न ?”

“हाँ, भन्ते ! हम (लोग) प्रज्ञाचर्यमें बहुत प्रसन्न हैं ।”

“साधु, साधु, अनुसुद्धो ! तुम जैसे—” अन्तर्ध्याने ० प्रव्रजित कुल-पुत्रोंके यह योग्य हो है, कि तुम प्रज्ञाचर्यमें प्रसन्न हो। जो तुम अनुसुद्धो ! उत्तम जीवन-सहित प्रथम वयस, बहुत ही काले केश वाले, कामोपभोग कर रहे थे, सो तुम अनुसुद्धो ! उत्तम जीवन ० वाले, घरसे बे-घर हो प्रव्रजित हुये। सो तुम अनुसुद्धो ! राजाकी अपदस्तीसे नहीं ० प्रव्रजित हुये। चोरके घरसे नहीं ०। कणसे पीवित होकर नहीं ०। भयसे पीवित होकर नहीं ०। बे-राजीके होनेसे नहीं ०। धनिक, (यही सोच—) ‘जन्म, जरा, मरण, शोक, रोना-पीटना, दुःख, दुर्मनता, वैराग्यमें पैसा हूँ, दुःखमें गिरा दुःखमें लिपटा (हूँ), जो कहीं इस केवल दुःख-सर्षप (दुःखकी डेरी) का विनाश भालूम होता ?’ अनुसुद्धो ! तुम सो इस प्रकार अज्ञान्युक्त ० प्रव्रजित हुये हो न ?”

“हाँ, भन्ते !”

“ऐसे प्रव्रजित हुये कुल-पुत्रको क्या करना चाहिये ?—अनुसुद्धो ! कामभोगोंसे, पुरे (= अकुशल) धनोसे, अलग होना चाहिये। (अनुसुद्ध तब तक) विवेक = प्रीतिमुख या उससे भी अधिक ज्ञान्त (= सुख) को नहीं पाता, (जब तक कि) अभिन्ना (= लोभ) उसके चित्तको पकड़े रहती है। व्यापाद (= द्वेष) उसके चित्तको पकड़े रहता है। जीवन्त्य-कीदृश (= उच्छृंखलता) ०। विचिक्किता (= संदेह) ०। अरति (= असंतोष) ०। तन्दी (= आलस्य)

उसके चित्तको पकड़े रहती है ।” अनुरुद्धो ! कामनाओंसे, धुरे धर्मोंसे विवेक प्रीति-सुख या इससे भी अधिक ज्ञान (= सुख) को पाता है; (यदि), अभिषेधा उसके चित्तको न पकड़े रहे, त्यागपाद ०, औद्वेग-कौटुक्य ०, विचिकित्सा ०, भ्रमति ०, तन्दो उसके चित्तको न पकड़े रहे ।”

“क्यों अनुरुद्धो ! मेरे विषयमें तुम्हारा क्या (विचार) होता है, कि जो आश्रव (= चित्त-मल) फलेश (= मल)-देनेवाले, आवागमन-देनेवाले, समय (= सद्) , भविष्यमें दुःख-फलात्पादक, जन्म-जरा-मरण-देनेवाले हैं; वह तथ्यागतके नहीं छूटे, इसीलिये तथ्यागत जान कर एकको सेवन करते हैं, ० एकको स्वीकार करते हैं, जान कर एकका त्याग करते हैं, जान कर एकको हटाते हैं ।”

“नहीं भन्ते ! हमको ऐसा नहीं होता कि, जो आश्रव फलेश देनेवाले आवागमन देने वाले ० हैं, वह तथ्यागतके नहीं छूटे ० । भन्ते ! मगवान्के विषयमें हम (लोगों)को ऐसा होता है, कि जो आश्रव जन्म-जरा-मरण देनेवाले हैं, वह तथ्यागतके छूट गये हैं । इसलिये तथ्यागत जान कर एकको सेवन करते हैं, जान कर एकको करते हैं, जान कर एकका त्याग करते हैं, जान कर एकको हटाते हैं ।”

“साधु, साधु, अनुरुद्धो ! जो आश्रव ० फलेश देनेवाले हैं, वह तथ्यागतके छूट गये हैं, नष्ट-मूल हो गये, झूठे-ताहसे हो गये हैं, भविष्यमें न उत्पन्न वाले हो गये हैं । जैसे अनुरुद्धो ! शिरसे कटे वाण (का बुझ) फिर नहीं धनप सकता, ऐसेही अनुरुद्धो ! जो आश्रव ० फलेश देनेवाले हैं, वह तथ्यागतके छूट गये ० । इसलिये तथ्यागत जान कर एकको सेवन करते हैं ० ।”

६६-गुलिस्सानि-सुत्तन्त (२।२।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलन्दक-निवापमें विहार करते थे ।

उस समय हुचल-आवासान् गुलिस्सानि नामक आरण्यक भिक्षु किसी कार्यसे उसके ग्राममें उपस्थित था । तब आयुष्मान् सारिपुत्रने गुलिस्सानि भिक्षुको लेकर भिक्षुओंको सम्बोधित किया—

“आतुसो ! संघमें आये, संघमें रहते आरण्यक (= जंगलमें रहनेवाले) भिक्षुको सम्प्रदाचारियों (= शुद्ध भाइयों)में गौरव युक्त रहना चाहिये, सम्मान-भाव-युक्त होना चाहिये । यदि आतुसो ! संघमें आया, संघमें रहता आरण्यक भिक्षु सम्प्रदाचारियोंमें गौरवयुक्त = सम्मान-भावयुक्त नहीं होता, तो उसके लिये बात माननेवाले होते हैं—‘इन आरण्यक आयुष्मान्के अकेले अरण्यमें खैरी (= खेच्छाचारी)-विहारका क्या (फल) ; जब यह आयुष्मान् सम्प्रदाचारियोंमें गौरवयुक्त = सम्मान-भावयुक्त नहीं हैं ।’” इसलिये संघमें • सम्मान-भाव-युक्त होना चाहिये ।

“आतुसो ! संघमें • आरण्यक भिक्षुको बैठनेमें चतुर (= आसन-कुशल) होना चाहिये—स्थविर (= बृद्ध) भिक्षुओंके बिना बैठे (या उन्हें रगड़ते) न बैठना चाहिये, नये भिक्षुओंको आसनसे हटाना न चाहिये । यदि आतुसो ! संघमें आरण्यक भिक्षु आसन-कुशल नहीं होता, तो उसके लिये बात माननेवाले होते हैं—‘इन आरण्यक आयुष्मान्के अकेले खैरी-विहारका क्या (फल) ; जब कि यह आयुष्मान् स्थविर भिक्षुओंके बिना बैठे बैठते हैं, नये भिक्षुओंको आसनसे हटाते हैं ।’” इसलिये संघमें • ।

“आतुसो ! • आरण्यक भिक्षुको अतिकाल (= अतिप्रातः)को ग्राममें प्रविष्ट नहीं होना चाहिये, न अति दिवा (= बहुत पहिले ही) निकलना चाहिये । यदि आतुसो ! • ।

“ • • आरण्यक भिक्षुको भोजनके पूर्व वा पश्चात् (गृहस्थ-) कुलोंमें फेरा नहीं देते रहना चाहिये । यदि आतुसो ! • ।

“ • • आरण्यक भिक्षुको अन्-उद्धत = अ-चपल होना चाहिये । यदि आतुसो ! • ।

“ • • अ-मुत्तर = अ-वक्तादो होना चाहिये । यदि आतुसो ! • ।

“ • • सु-वचनी, कल्याण-मित्र होना चाहिये । यदि आतुसो ! • ।

“ • • इन्द्रियोंमें गुप्त-द्वार (= संयमी) • । • ।

“ • • भोजनमें मात्रा (= परिमाण)-ज्ञ • । • ।

“ • • जागरणमें उत्तर • । • ।

“ • • आरब्ध-वीर्य (= उद्योगी) • । • ।

“ • • उपस्थित-स्मृति (= होश रखनेवाला) • । • ।

“ • • समाहित (= एकाम-चित्त) • । • ।

“ ० ० प्रशान्तान् ० । ० ।

“ ० ० अभिधर्म (= धर्ममें, बुद्धोपदेशमें), अभि-विनय (= विनयमें, भिक्षु-विषयों) में (मनो -) योग देना चाहिये । आहुसो ! धर्म और विनयके विषयमें आरण्यक भिक्षुसे प्रश्न पूछनेवाले (जोग) भी हैं । यदि आहुसो ० ।

“ ० ० रूपोंको अतिव्रमण कर जो आरुण्य (= रूप-रहित-ज्ञान-सम्बन्धी) शान्त-विमोक्ष (= ध्यान) हैं, उनमें (मनो -) योग देना चाहिये । आहुसो ! ० शान्त विमोक्षोंके विषयमें आरण्यक भिक्षुसे प्रश्न पूछनेवाले भी हैं । यदि आहुसो ! ० ।

“ ० ० उत्तर-मनुष्य-धर्म (= लोकोत्तर शक्ति) में (मनो -) योग देना चाहिये । आहुसो ! उत्तर-मनुष्य-धर्मके विषयमें आरण्यक भिक्षुसे प्रश्न करनेवाले भी हैं । यदि आहुसो ! आरण्यक भिक्षु उत्तर-मनुष्य-धर्मके विषयमें प्रश्न पूछने पर (प्रश्न-कर्ताको) सन्तुष्ट नहीं कर सकता; तो उसको बात मारनेवाले होते हैं—“इस आरण्यक आहुष्मान्के जंगलमें अकेले रहैरी विहारसे क्या (फल), जब कि यह आहुष्मान्, जिसके अर्थ प्रसजित हुये, उसी अर्थ (= वस्तु) को नहीं जानते ।” इस-लिये, आरण्यक भिक्षुको उत्तर-मनुष्य-धर्ममें (मनो -) योग देना चाहिये ।”

ऐसा कहने पर आहुष्मान् महाभौद्गल्यायनने आहुष्मान् सारिपुत्रसे यह कहा—

“आहुस सारिपुत्र ! आरण्यक भिक्षुको ही इन धर्मोंको ग्रहण कर वर्तना चाहिये, या ग्राम-क्षत्रीय-वासी (भिक्षु) को भी ?”

“आहुस भौद्गल्यायन ! आरण्यक भिक्षुको भी इन धर्मोंको ग्रहण कर वर्तना चाहिये, ग्राम-क्षत्रीय-वासी (भिक्षुओं) के लिये तो कहना ही क्या ?”

७०-कीटागिरि-मुत्तन्त (२।२।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय गये भारी भिक्षु-संघके साथ भगवान् 'काशी-देशमें चारिका करते थे। वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको आशंकित किया—

“भिक्षुजो ! मैं रात्रि-भोजनसे विरत हो भोजन करता हूँ ।” रात्रि-भोजन छोड़कर भोजन करनेसे “आरोम्य, डरसाह, यल, सुख-पूर्वक विहार अनुभव करता हूँ । जाओ, भिक्षुजो ! तुम भी रात्रि-भोजन-विरत हो भोजन करो, “रात्रिभोजन छोड़कर भोजन करनेसे तुमभी” अनुभव करोगे ।

“अच्छा भन्ते !” उन भिक्षुजोंने भगवान्से कहा ।

तब भगवान् काशी (देश)में क्रमशः चारिका करते, जहाँ काशियोंका दिगम (= कत्वा) “कीटागिरि या, वहाँ पहुँचे । वहाँ काशियोंके दिगम कीटागिरिमें भगवान् विहार करते थे ।

जब समय अश्वजित्, और पुनर्वसु नामक (दो) आवासिक भिक्षु कीटागिरिमें रहते थे । तब बहुतसे भिक्षु जहाँ अश्वजित् पुनर्वसु थे, वहाँ गये । जाकर “घोले—

“आवुसो ! भगवान् रात्रि-भोजन-विरत हो भोजन करते हैं, और भिक्षु-संघ भी । रात्रि-भोजन-विरत हो भोजन करनेसे आरोम्य ० । जाओ, तुमभी आवुसो ! रात्रि-भोजन-विरत हो भोजन करो” ।”

ऐसा कहनेपर अश्वजित्-पुनर्वसुओंने उन भिक्षुओंसे कहा—

“हम आवुसो ! शामकी भी खाते हैं, प्रातः, दिन (= मध्याह्न) और विक्कालको (= दोपहर वाद) भी । सो हम सार्ध, प्रातः, मध्याह्न विक्कालको भोजन करते भी आरोम्य ० हो विहरते हैं । सो हम क्यों प्रत्यक्ष (= सोरष्टिक)को छोड़कर, कालान्तरके (= कालिक) लिये दौरे । हम सार्ध भी खावेंगे, प्रातः भी, दिनमें भी, विक्कालमें भी ।”

जब यह भिक्षु अश्वजित्-पुनर्वसु “को न समझा सके, सो जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठ कर उन भिक्षुजोंने भगवान्से कहा—

“भन्ते ! हमने” अश्वजित्-पुनर्वसु “के पास” जा” यह कहा—“भगवान् रात्रि-भोजन-विरत ०” । ऐसा कहे पर, भन्ते ! अश्वजित्, पुनर्वसु भिक्षुजोंने कहा—“हम आवुसो ! शामकी भी खाते हैं ० ।” जब हम भन्ते ! अश्वजित्-पुनर्वसु भिक्षुओंको न समझा सके, तब हम यह बात भगवान्से कह रहे हैं ।”

१ प्रातः वर्तमान बनारस कमिश्नरीका संग्रहित कठरका भाग, और आशमगड विजा ।

२ केरकत, विजा बीनपुर ।

जब वह भिक्षु अशजित् पुनर्वसु...को न समझा सके, तो जहाँ भगवान् थे वहाँ गये । जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठ कर उन भिक्षुओंने भगवान् से कहा—

“भन्ते ! हमने...अशजित् पुनर्वसु...के पास...जा...यह कहा—‘भगवान् रात्रि-भोजन-विरतः’ । ऐसा कहने पर भन्ते ! अशजित् पुनर्वसु भिक्षुओंने कहा—‘इमं आबुसो ! शामको भी खाते हैं०’ । जब हम भन्ते ! अशजित् पुनर्वसु भिक्षुओंको न समझा सके, तब हम वह बात भगवान्‌से कह रहे हैं ।”

तब भगवान्‌ने एक भिक्षुको आमंत्रित किया—

“आ भिक्षु ! तू मेरी बातसे अशजित् पुनर्वसु भिक्षुओंको कह—‘शाखा आयुष्मानोंको बुलाते हैं’ ।”

“अच्छा भन्ते !”—कह...उस भिक्षुने अशजित् पुनर्वसु भिक्षुओंके पास...जाकर कहा—

“अच्छा आबुस !”—कह...अशजित् पुनर्वसु भिक्षु...जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे अशजित्, पुनर्वसु भिक्षुओंने भगवान्‌से कहा—

“सचमुच भिक्षुओं ! यहूतसे भिक्षु तुम्हारे पास जाकर बोले (थे)—आबुसो ! भगवान् रात्रि-भोजन-विरत हो ० । ऐसा कहने पर भिक्षुओं ! तुमने...कहा० ?”

“हाँ भन्ते !”

“क्या भिक्षुओं ! तुम मुझे ऐसा धर्म उपदेश करते जानते हो—जो कुछ यह पुरुष=पुद्गल सुख, दुःख, या अनुस-अदुःख अनुभव करता है, (उससे) उसके अकुशल (= बुरे) धर्म नष्ट हो जाते हैं, और कुशल धर्म बढ़ते हैं ?”

“नहीं भन्ते !”

“क्या भिक्षुओं ! तुम मुझे ऐसा धर्म उपदेश करते जानते हो—एकके इस प्रकारकी सुख वेदना (= अनुभव) अनुभव करते अकुशल-धर्म बढ़ते हैं, कुशल-धर्म नष्ट होते हैं । किन्तु एकके इस प्रकारकी सुख-वेदनाको अनुभव करते अ-कुशल-धर्म नष्ट होते हैं, कुशल-धर्म बढ़ते हैं । ० दुःख वेदनाको अनुभव करते अ-कुशल धर्म बढ़ते हैं, कुशल-धर्म नष्ट होते हैं । अनुस-धर्म नष्ट होते हैं ० । एकको इस प्रकारकी असुख-अदुःख वेदनाको अनुभव करते ० ? ० ?

“हाँ, भन्ते !”

“साधु, भिक्षुओं ! यदि मैं अ-ज्ञात, अ-दृष्ट, अ-विरत=अ-साक्षात्कृत=अ-स्पर्शितको (कहता)—यहाँ किसीको इस प्रकारकी सुख-वेदनाको अनुभव करते अकुशल धर्म बढ़ते हैं, और कुशल-धर्म नष्ट होते हैं ० । ऐसा न जानते, यदि मैं ‘इस प्रकारकी सुख-वेदनाको छोड़ो’ बोलता । तो क्या भिक्षुओं ! यह मेरे लिये उचित होता ?”

“नहीं, भन्ते !”

“चूँकि भिक्षुओं ! मैंने इसको देखा, जाना, साक्षात् किया, स्पर्श किया, ० जानकर इसलिये मैं कहता हूँ—‘इस प्रकारकी सुख-वेदनाको छोड़ो’ । और यदि मुझे यह अज्ञात, अदृष्ट होता, ऐसा न जाने यदि मैं कहता—‘इस प्रकारकी सुख-वेदनाको प्राप्त कर विहार करो, तो क्या भिक्षुओं ! यह मेरे लिये उचित होता ?”

“नहीं, भन्ते !”

“क्योंकि भिक्षुओं ! यह सुखे जात, रष्ट, चिदित, साक्षात्कृत, प्रज्ञासे स्पर्शित (है)—‘यहाँ एकके० अकुशल-धर्म नष्ट होते हैं, कुशल-धर्म बढ़ते हैं’ । इसलिये मैं कहता हूँ—‘इस प्रकारको सुख-वेदनाको प्राप्त कर विहार करो’ ।”

“भिक्षुओं ! मैं सभी भिक्षुओंको नहीं कहता कि—‘अप्रमाद-रहित हो करो’ । और न मैं सभी भिक्षुओंको—‘अप्रमाद-रहित हो न करो’ कहता हूँ । भिक्षुओं ! जो भिक्षु अर्हत्-क्षीण-आत्म (ब्रह्मचर्य-) पूरा-कर-सुके, कुल-कुल्य, भार-मुक्त, सत्ये-अर्थको-प्राप्त, मत्त-संयोजन (= संयम)-रहित, अच्छी तरह जान कर मुक्त (= सम्यक्-आज्ञा-विमुक्त) है । भिक्षुओं ! वैसेको मैं ‘अप्रमाद-रहित-हो करो’ नहीं कहता । सो किस हेतु ?—ऊर्ध्वेने अप्रमाद-रहित हो (करणीय) कर लिया, वह अप्रमाद (= आत्मस्य, भूल) कर नहीं सकते । भिक्षुओं ! जो वैश्य-ने-प्राप्त-चित्त है, अनुपम योग-क्षेम (= निर्वाण) के इच्छुक हो विहरते हैं । भिक्षुओं ! वैसेही भिक्षुओंको मैं ‘अप्रमाद-रहित-हो करो’ कहता हूँ । सो किस हेतु ?—पापद वह आशुष्यान् अनुकूल ज्ञान-आसनको लेवन करते, कर्मपाण-मित्रों (= सुमित्रों) को लेवन करते, इन्द्रियोंका संयम करते, जिसके लिये कुल-गृह अच्छी तरह घरसे बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस अनुसार (= सर्वोत्तम) मध्यम-फलको इसी जन्ममें स्वयं जान कर, साक्षात् कर, प्राप्त कर विहरें । भिक्षुओं ! उन भिक्षुओंको अप्रमादका वह फल देखते हुये मैं ‘अप्रमाद-रहित हो करो’ कहता हूँ ।

“भिक्षुओं ! सात पुद्गल (= पुरुष) लोकमें—‘विश्रामान है । कौनसे मात ? (१) उभय-तो-भाग-विमुक्त (२) प्रज्ञाविमुक्त, (३) काय-साक्षी, (४) दृष्टि-प्राप्त, (५) अज्ञा-विमुक्त, (६) धर्म-अनुसारी, (७) अज्ञा-अनुसारी ।

“भिक्षुओं ! कौन पुद्गल (= पुरुष) उभयतो-भाग-विमुक्त है ?—भिक्षुओं ! जो प्राणी कि विमोक्षको अतिक्रमण कर रूप (-धातु) में आरूप्य (धातु) को प्राप्त है, उन्हें कोई पुद्गल कायासे स्पर्श कर विहार करता है । (उन्हें) प्रज्ञासे देख कर उसके आत्म (= चित्तमल) नष्ट होजाते हैं । भिक्षुओं ! यह पुद्गल उभयतो-भाग-विमुक्त कहा जाता है । भिक्षुओं ! इस भिक्षुको ‘अप्रमादसे करो’ मैं नहीं कहता । किस हेतु ?—क्योंकि वह अप्रमाद-रहित-हो (करणीय) कर चुका । वह अप्रमाद नहीं कर सकता ।

“भिक्षुओं ! कौन पुद्गल प्रज्ञा-विमुक्त है ?—भिक्षुओं ! जो प्राणी कि विमोक्षको पार कर, रूप (-धातु) में आरूप्यको प्राप्त है, उन्हें कोई पुद्गल कायासे छूकर नहीं विहरता, (किन्तु) प्रज्ञासे देख कर उनके आत्म नष्ट होजाते हैं । • यह पुद्गल प्रज्ञा-विमुक्त कहे जाते हैं । • ऐसे भिक्षुको मैं ‘अप्रमादसे करो’ मैं नहीं कहता । • ।

“भिक्षुओं ! कौन पुद्गल काय-साक्षी है ?—भिक्षुओं ! जो एक पुद्गल उन्हें कायासे छूकर नहीं विहरता, प्रज्ञासे देख कर उनके कोई कोई आत्म नष्ट होजाते हैं । • यह • काय-साक्षी है । इस भिक्षुको भिक्षुओं ! ‘अप्रमादसे करो’ मैं कहता हूँ । सो किस हेतु ?—पापद वह आशुष्यान् • प्राप्त कर विहार करें • ।

“भिक्षुओं ! कौन पुद्गल दृष्टि-प्राप्त है ?—भिक्षुओं ! • कायासे छूकर नहीं विहरता, • कोई कोई आत्म नष्ट होगये हैं । प्रज्ञा द्वारा तथागतके दलालने धर्म उसके जाने • होते हैं । • यह दृष्टि-प्राप्त • है । • । • ।

“भिक्षुओं ! कौन पुद्गल अज्ञा-विमुक्त है ?—•, • प्रज्ञाने कोई कोई आत्म उसके नष्ट होगये हैं, तथागतमें उसकी अज्ञा प्रतिष्ठित-अज्ञ-पक्षी-निविष्ट होती है । • यह अज्ञा-विमुक्त • । • । • ।

“मित्रुभो ! कौन पुद्गल धर्मानुसारी है ?—०, ०, प्रज्ञाद्वारा तथ्यागतके कलहाथे धर्म उसके लिये साधनः (= कुछ साधनों) निष्पादन (= निदिध्यासन) के योग्य होयते हैं । और उसको यह धर्म (= बातें) प्राप्त हैं, जैसे कि—अज्ञा-इन्द्रिय, धीर्य-इन्द्रिय, स्मृति-इन्द्रिय, समाधि, इन्द्रिय प्रज्ञा-इन्द्रिय । ० यह धर्मानुसारी ० है । ० । ० ।

“मित्रुभो ! कौन पुद्गल अज्ञानुसारी है ?—०, ०, तथ्यागतमें उसको अज्ञा-मात्र-प्रेम-साध होता है । और उसको यह धर्म (प्राप्त) होते हैं, जैसे कि—अज्ञा-इन्द्रिय ० प्रज्ञा-इन्द्रिय । ० यह अज्ञानुसारी ० । ० । ० ।

“मित्रुभो ! मैं आदिसे ही ‘आज्ञा’ (= ज्ञान) की आराधना नहीं करता, बल्कि मित्रुभो ! कर्मशः सिद्धांते, कर्मशः कियाने, कर्मशः प्रतिपद्यते आज्ञाकी आराधना होती है । मित्रुभो ! ० कर्मशः प्रतिपद्यते कैसे आज्ञाकी आराधना होती है ?—मित्रुभो ! अज्ञानान् हो (जैसे जानोंके) समीप जाता है, समीप जानेसे, परि-उपासना करता है । परि-उपासना करनेसे ज्ञान लगता है । ज्ञान लगानेसे धर्म सुनता है । धर्म सुनकर धारण करता है । धारण किये धर्मों की परीक्षा करता है । धर्मोंकी उप-परीक्षा करनेपर धर्म निष्पादन (= निदिध्यासन) के योग्य होते हैं । धर्मके निष्पादन के योग्य होनेपर, जन्म (= रुचि) उत्पन्न होता है । जन्म होनेपर उत्साह करता है । उत्साह करनेपर उत्थान करता है (= तुल्येति) । उत्थान कर प्रधान (= समाधि) करता है । प्रधानात्म (= समाहित-चित्त) हो, (इस) कायसेही परम-सत्यका साक्षात्कार करता है । प्रज्ञासे उसे वेद्यता है । मित्रुभो ! वह अज्ञा भी यदि न हुई । ० वह पास जानासी (= उप-संक्रमण) न हुआ ० । ० । ० वह प्रधानभी न हुआ । (तो) विप्रतिपद्य (= अभागा-रूप) हो मित्रुभो ! मिथ्या-प्रतिपद्य ०, मित्रुभो ! वह मोघपुरुष (= नालायक) इस धर्म-विनयसे बहुत दूर चले गये हैं ।

“मित्रुभो ! चतुष्पद व्याकरण होता है, जिसके अर्थको करने पर विश्वपुरुष जन्म ही (उसे) प्रज्ञासे जानता है । मित्रुभो ! तुम इसे समझते हो ?”

“मन्ते ! कहीं हम और कहीं धर्मका जानना ?”

“मित्रुभो ! जो वह ज्ञाता (= गुरु) आभिष-गुरु (= धन, भोगमें पड़ा), आभिष-वावाद् (= भोगोंका लेनेवाला), आभिषोंसे लिखी विहरता है, वह भी इस प्रकारकी वाजी (= पण) नहीं लगाता—‘यदि हमें ऐसा हो, तो इसे करेंगे, यदि हमें ऐसा न हो, तो नहीं करेंगे ।’ फिर मित्रुभो ! तथ्यागतका तो क्या (कहना है), (जो कि) सर्वथा आभिष (= धन, भोग) से अलिखी विहार करते हैं । मित्रुभो ! अज्ञानु आचकको ज्ञानाके शासन (= धर्म) में परियोग (= योग) के लिये बताते करते हुये वह अज्ञु-धर्म होता है—‘भगवान् ज्ञाता (= गुरु) हैं, मैं आचक (= शिष्य) हूँ’, ‘भगवान् जानते हैं, मैं नहीं जानता’ । मित्रुभो ! अज्ञानु आचक के लिये ज्ञानाके शासनमें परियोगके लिये वर्तते समय, ज्ञानाका शासन... भोज-वान् होता है । अज्ञानु आचकको ० वह दृष्टा होती है—‘बाहे चमका, नल, और हाथी ही धन रहे, शरीरका रक्त-मांस शूल (क्यों न) जाये, (किंतु), पुरुषके स्वाम-पुरुष-वीर्य-पुरुष-पराक्रम से जो (कुछ) प्राप्य है, उसे बिना पाये (मेरा) उपयोग न रहेगा ।’ मित्रुभो ! अज्ञानु आचक को ज्ञानाके शासनमें परियोगके लिये वर्तते समय, दो फलोंमेंसे एक फलकी उमेद (अवश्य) रखनी चाहिये—इसी जन्ममें (परम-ज्ञान) जानूँगा, या उपाधि (= मल) रखनेपर अनामाभि-पन (पाईना) ।”

भगवान्ने यह कहा । संतुष्ट हो, उन मित्रुभोंने भगवान्के भाषणका अनुमोदन किया ।

७१—तेविज्ज-वच्छगोत्त-सुत्तन्त (२।३।१)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वैशालीमें महावनकी कूटागार-शालामें विहार करते थे ।

उस समय वच्छ-गोत्त (= वत्सगोत्र) परित्राजक एक-पुण्डरीक परित्राजकाराममें वास करता था । भगवान् पूर्वाह्न-समय पहिनकर, पाण्चवीकर ले, वैशालीमें पिण्ड-घारके लिये प्रविष्ट हुये । तब भगवान्को ऐसा हुआ—अभी वैशालीमें पिण्डघार करनेके लिये बहुत सन्धेरा है । क्यों न मैं जहाँ एक-पुण्डरीक परित्राजकाराम है, जहाँ वच्छ-गोत्त परित्राजक है, वहाँ चढ़ूँ । तब भगवान् ० वहाँ गये ।

वच्छ-गोत्त परित्राजकने दूरसे ही भगवान्को आने देखा । देख कर भगवान्से बोला—

“आहूये भन्ते ! भगवान् ! स्वागत भन्ते ! भगवान् ! बहुत दिन होगया भन्ते ! भगवान्को यहाँ आये । बैठिये भन्ते ! भगवान् ! यह आसन पिछा है ।”

भगवान् बिठे आसनपर बैठ गये । वत्स गोत्त परित्राजक भी एक नीचा आसन लेकर, एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे वत्स-गोत्र परित्राजकने भगवान्से कहा—

“सुना है भन्ते !—‘अमण गौतम सर्वज्ञ = सर्वदर्शी हैं, निश्चित ज्ञान-दर्शन (= ज्ञानके साक्षात्कार करने) का दावा करते हैं । चलते, खड़े, सोते, जागते (भी उनको) निरंतर सदा ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है’ । क्या भन्ते ! (ऐसा कहनेवाले) भगवान्के प्रति यथार्थ कहनेवाले हैं, और भगवान्को असत्य = अभूतसे निन्दा (= अभ्याख्यान) तो नहीं करते ? धर्मके अनुकूल (तो) वर्णन करते हैं ? कोई सह-धार्मिक (= धर्मानुकूल) बादका अग्रहण, गद्दी (= निन्दा) तो नहीं होती ।”

“वत्स ! जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं—‘अमण गौतम सर्वज्ञ है ० ।’ वह मेरे धारमें यथार्थ कहनेवाले नहीं हैं । असत्य (= अभूत) से मेरी निन्दा करते हैं ।”

“कैसे कहते हुये भन्ते ! हम भगवान्के यथार्थवादी होंगे, भगवान्को अभूत (= असत्य) से नहीं निन्देंगे ० ?”

“वत्स !—‘अमण गौतम त्रैविद्य (= तीन विद्याओंका ज्ञाननेवाला) हैं’—ऐसा कहते हुये, मेरे धारमें यथार्थवादी होगा ० । (१) वत्स ! मैं जब चाहता हूँ, अनेक किये पूर्वनिवासों (= पूर्वजन्मों) को स्मरण कर सकता हूँ, जैसे कि—एक जाति (= जन्म) ०^१ । इस प्रकार आकार (= शरीर आकृति आदि), नाम (= उद्देश) के सहित अनेक पूर्वजन्मोंको स्मरण करता हूँ । (२) वत्स ! मैं जब चाहता हूँ, अ-मानुष विपुल दिव्य-चक्षुसे मरते, उत्पन्न होते, नीच-ऊँच,

^१ देखो पृष्ठ १५ ।

सुख-दुःख, सुख-दुःख ० कर्मानुसार (नतिको) प्राप्त सत्त्वोंको जानता हूँ । (३) वत्स ! मैं आसक्तों (= राग-द्वेष आदि) के क्षयसे भाव-रहित चित्तकी विमुक्ति (= मुक्ति) प्रज्ञाद्वारा विमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं साक्षात् कर = प्राप्त कर बिहरता हूँ । ”

ऐसा कहनेपर वत्स गोत्र परित्राजकने भगवान्से कहा—

“मो गौतम ! क्या कोई गृहस्थ है, जो गृहस्थके संयोजनों (= पंचनों)को बिना छोड़े, कायाको छोड़ दुःखका जन्त करनेवाला (= निर्वाण प्राप्त करनेवाला) हो ? ”

“नहीं वत्स ! ऐसा कोई गृहस्थ नहीं ० ।

“मो गौतम ! है कोई गृहस्थ, जो गृहस्थके संयोजनोंको बिना छोड़े, काया छोड़ने (= मरने) पर, स्वर्गको प्राप्त होनेवाला हो ? ”

“वत्स ! एक ही नहीं सौ, सौ नहीं दोसौ, ० तीनसौ, ० चारसौ, ० पाँचसौ, और भी बहुतसे गृहस्थ हैं, (जो) गृहस्थके संयोजनोंको बिना छोड़े, मरनेपर स्वर्गगामी होते हैं । ”

“मो गौतम ! है कोई आजीवक, जो मरनेपर दुःखका जन्त करनेवाला हो ? ”

“नहीं, वत्स ! ० । ”

“मो गौतम ! है कोई आजीवक जो मरनेपर स्वर्गगामी हो ? ”

“वत्स ! यहाँसे एकाग्रते करके तब मैं स्मरण करता हूँ, किसीको भी स्वर्ग जानेवाला नहीं जानता, सिवाय एकके; और वह भी कर्म-वादी = क्रियावादी था । ”

“मो गौतम ! यदि ऐसा है तो यह तीर्थावतन (= ‘पंच’) शून्य ही है, यहाँ तक कि स्वर्ग-यामियोंसे भी । ”

“वत्स ! ऐसा होते यह ‘पंच’ शून्य ही है ० । ”

भगवान्ने यह कहा ! वत्स-गोत्र परित्राजकने सन्तुष्ट हो, भगवान्के भाषणका अनु-मोदन किया ।

७२-अग्नि-वच्छगोत्त-सुत्तन्त (२।३।२)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे—

तब वच्छ-गोत्त (= वत्सगोत्र) परित्राजक वहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान् के सामें सम्मोदन (= कुशल प्रश्न पूछ) कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे वत्स-गोत्र परित्राजकने भगवान् से यह कहा—

(१) “भो गौतम ! ‘लोक शाश्वत (= निर्य) है’—यही सत्य है, और (सब वाद्) झूठ (= मोष) है, क्या आप गौतम इस दृष्टि (= मत) वाले हैं ?”

“वत्स ! मैं इस दृष्टिवाला नहीं हूँ—‘लोक शाश्वत है’—यही सत्य है, और सब झूठ।”

(२) “भो गौतम ! ‘लोक अशाश्वत (= अनित्य) है’—यही सत्य है, और झूठ, क्या आप गौतम इसी दृष्टिवाले हैं ?”

“वत्स ! मैं इस दृष्टिवाला नहीं हूँ—‘लोक अशाश्वत है’, यही सत्य है, और झूठ।”

(३) “० ‘अन्तवान् लोक है’ ० ?” —“ ० नहीं ० ।”

(४) “० ‘अन्-अन्तवान् लोक है’ ० ?” —“ ० नहीं ० ।”

(५) “० ‘जीव शरीर एक है’ ० ?” —“ ० नहीं ० ।”

(६) “० ‘जीव दूसरा है शरीर दूसरा है’ ० ?” —“ ० नहीं ० ।”

(७) “० ‘तथागत मरनेके बाद होते हैं’ ० ?” —“ ० नहीं ० ।”

(८) “० ‘तथागत मरनेके बाद नहीं होते’ ० ?” —“ ० नहीं ० ।”

(९) “० ‘तथागत मरनेके बाद होते भी हैं, नहीं भी होते’ ० ?” —“ ० नहीं ० ।”

(१०) “० ‘तथागत मरनेके बाद न-होते हैं, न-नहीं-होते हैं’ ० ?” —“ ० नहीं ० ।”

“क्या है, भो गौतम ! जो—‘लोक शाश्वत है’ यही सत्य है, और सब झूठ, क्या आप गौतम इस दृष्टिवाले हैं ?—पूछने पर, ‘वत्स ! मैं इस दृष्टिवाला नहीं हूँ—‘लोक शाश्वत है’ यही सत्य है और झूठ—कहते हैं ? ० । ‘तथागत मरनेके बाद न-होते हैं, न-नहीं-होते’ यही सत्य है, और झूठ—क्या आप गौतम इस दृष्टिवाले हैं ?—पूछने पर जो,—‘वत्स ! मैं इस दृष्टि-वाला नहीं हूँ—०—कहते हैं ? क्या बुराई देणकर आप गौतम ! इस प्रकार इन सभी दृष्टियोंको नहीं ग्रहण करते ?”

“वत्स ! ‘लोक शाश्वत है’—यह दृष्टि-गत (= दृष्टि) दृष्टि-माह्न, दृष्टि-कान्तार (= मत का रेगिस्तान), दृष्टि-विशुद्ध (= ० कौटा), दृष्टि-विरुद्धम्बित (= ० की संश्लेषता), दृष्टि-संश्लेष-जन (= ० संघन) है, (यह) दुःखमय, विषम (= पीड़ा)मय, उपादास (= परेशानी)-मय, परिदाह (= जलन)-मय है; (यह) न निर्वेदके लिये-न वैराग्यके लिये, न निरोधके लिये, न उपशम (= शान्ति) के लिये, न अभिज्ञाके लिये, न संशोध (= परमज्ञान) के लिये न निर्वोण

के लिये है । ० । 'तथागत मरनेके बाद न-होते हैं, न-नहीं-होते'—इष्टि-गत (= इष्टि) इष्टि गहन ० न निर्वाणके लिये है । वत्स ! इस बुराई (= आदिगव) को देख कर मैं इन सभी इष्टियों को नहीं ग्रहण करता ।

"मो गौतम ! आप गौतमका कोई इष्टि-गत (= इष्टि) है ?"

"वत्स ! तथागतका इष्टि-गत दूर हो गया है । वत्स ! तथागतका यह दृष्ट (= साक्षात्कृत) है—'ऐसा रूप है, ऐसा रूपका समुत्पत्ति (= उत्पत्ति) है, ऐसा रूपका निरोध (= नाश) है । ऐसी चेदना है ० । ऐसी संज्ञा है ० । ऐसा संस्कार है ० । ऐसा विज्ञान है ०' । सारी मान्यताओं = सारे मयितों = सारे सहकार-समकार-मान (रूपी) अनुशायों (= चित्त दोषों) के क्षय, विनाश, निरोध, क्षान और अस्तुत्यचित्ते (= भिक्षु) विमुक्त होता है—यह कहता हूँ ।"

"मो गौतम ! ऐसा विमुक्त-चित्त भिक्षु कहाँ उत्पन्न होता है ?"

"वत्स ! 'उत्पन्न होता है'—यह नहीं (संभव) पाता ।"

"तो फिर मो गौतम ! 'नहीं उत्पन्न होता' ?"

"वत्स ! 'नहीं उत्पन्न होता'—यह नहीं पाता ।"

"तो मो गौतम ! 'उत्पन्न होता है, नहीं भी उत्पन्न होता है' ?"

"वत्स ! 'उत्पन्न होता है, नहीं भी उत्पन्न होता है'—यह नहीं पाता ।"

"तो मो गौतम ! 'न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता है' ?"

"वत्स ! 'न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता है'—यह नहीं पाता ।"

"मो गौतम ! 'ऐसा विमुक्त-चित्त भिक्षु कहाँ उत्पन्न होता है ?—पूछने पर, आप 'वत्स ! 'उत्पन्न होता है'—यह नहीं पाता—कहते हैं । ० । मो गौतम ! 'न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता है' ?—पूछनेपर, 'वत्स ! न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता है'—यह नहीं पाता—कहते हैं । मो गौतम ! वहाँ मुझे अज्ञान हो गया, मुझे संमोह (= ज्ञम) हो गया । पिछले वार्तालापसे जो कुछ प्रसाद (= अज्ञा) आपके संबंधमें मुझे था, वह भी अन्तर्धान (= लुप्त) हो गया ।"

"वत्स ! मुझे अज्ञानकी प्रकृत नहीं, सम्मोहकी प्रकृत नहीं । वत्स ! यह धर्म गंभीर, दुर्दृश्य, दुर्-अनु-बोध (= दुर्ज्ञेय), प्रात, प्रणीत (= उत्तम), तर्कका-अविषय, निपुण (= सूक्ष्म) पंडित-वेदनीय (= पंडितों द्वारा जानने लायक) है । वत्स ! यह (धर्म) अन्य-इष्टिक (= दूसरे मतका आग्रह रखने वाले), अन्य-आम्लिक, अन्य-रुचिक, अन्य-योग (= संबंध) वाले अन्य-आचार्यक (= दूसरी जगहके ज्ञानवाले) तेरे लिये दुर्ज्ञेय है । तो वत्स ! तुझे ही पूछता हूँ, जैसा तुझे ज्ञेय, वैसा उत्तर देना । यदि वत्स ! तेरे सम्मुख आग जले, तो तू जानेगा—यह मेरे सम्मुख आग जल रही है ?"

"मो गौतम ! यदि मेरे सम्मुख आग जले, तो मैं जानूँगा, यह मेरे सम्मुख आग जल रही है ।"

"यदि वत्स ! मुझसे यह पूछें—यह जो तेरे सम्मुख आग जल रही है, वह किसको लेकर जल रही है ?"

"ऐसा पूछने पर मो गौतम ! मैं कहूँगा—यह जो मेरे सम्मुख आग जल रही है, वह वृण-काष्ठ (रूपी) वपादानको लेकर जल रही है ।"

"यदि वत्स ! यह आग तेरे सम्मुख उप्त जाये, तो जानेगा तू—यह आग मेरे सम्मुख उप्त गई ?"

“भो गौतम ! यदि मेरे सम्मुख वह आग हुआ जाये, तो मैं जानूँगा—‘वह मेरे सम्मुख आग हुआ गई’ ।”

“अदि वत्स ! तुझसे यह पूछें—‘वह जो आग तेरे सम्मुख हुआ गई, वह आग किस दिशा की गई—पूर्वकी, पश्चिमकी उत्तरकी या दक्षिणकी’ ?—ऐसा पूछने पर वत्स ! तू क्या उत्तर देगा ?”

“नहीं (पता) मिलता, भो गौतम ! जो वह आग तृण-काष्ठके उपादानकी लेकर जली, उसके पर्यादान (= खतम कर लेने)से, और अन्य (तृण-काष्ठ)के अनुपहार (= न मिलने)से, आहार बिना ‘हुआ गई’ (= निर्हृत = निर्वाण-प्राप्त) कभी नाम होता है ।”

‘ऐसे ही वत्स ! तथ्यागतको जतलाते वक्ता जिस रूपसे (उन्हें) जतलाया जाता, वह रूप (ही) तथ्यागतका प्रहीण (= नष्ट) हो गया, उच्छिन्न-मूल, शिर-कटे-ताड़-जैसा, अमात्र-प्राप्त, अविष्य-में-उत्पन्न-न-होने-लायक हो गया । वत्स ! तथ्यागत रूप-संज्ञा (= रूपके नामसे) मुक्त, महात्मसुत्रकी तरह गंभीर, अ-प्रमेय, दुरवगाह्य (हैं) । (इसी लिये वहाँ) ‘उत्पन्न होता है’—नहीं पाया जाता, ० ; ‘न-उत्पन्न-होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता’—नहीं पाया जाता । तथ्यागतको जतलाते वक्ता जिस वेदना द्वारा (उन्हें) जतलाया जाता, वह वेदना ही तथ्यागतकी प्रहीण हो गई ० ‘न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता’—नहीं पाया जाता । ० संज्ञा ० ० । ० संस्कार ० ० । तथ्यागतको जतलाते वक्ता जिस विज्ञान द्वारा जतलाया जाता, वह विज्ञान ही तथ्यागतका प्रहीण हो गया, उच्छिन्नमूल, शिर-कटे-ताड़-जैसा, अमात्र-प्राप्त, अविष्य-में-उत्पन्न-न-होने-लायक हो गया । वत्स ! तथ्यागत विज्ञान-संज्ञासे मुक्त हो, महात्मसुत्र की तरह गंभीर, अ-प्रमेय, दुरवगाह्य (हैं), (इसीलिये वहाँ) ‘उत्पन्न होता है’—नहीं पाया जाता, ० ‘न-उत्पन्न होता है, न-नहीं-उत्पन्न होता’—नहीं पाया जाता ।”

ऐसा कहने पर वत्स-गोत्र परिव्राजकने नगवान्से यह कहा—

“जैसे, भो गौतम ! भ्रान्त या निगमके समीप (= अ-विद्वत्) महान् काल (= लम्बा)-बुद्ध हो । अनित्य होनेसे उसके शास्त्र-पत्र नष्ट हो जायें, छात्र-पत्रही नष्ट हो जायें, गुहा नष्ट हो जाये । पादमें वह शास्त्र-पत्र रहित, छात्र-पत्रही-रहित, गुहारहित, शुद्ध, सार मात्रमें अवस्थित रह जाये, ऐसे ही आप गौतमका वह प्रवचन (= उपदेश) शास्त्र-पत्र-रहित, छात्र-पत्रही-रहित, गुहा-रहित शुद्ध सारमात्रमें अवस्थित है । आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य !! भो गौतम ! जैसे आपकी सीधा कर दे ० ^१ आप गौतम जातसे मुझे अजलिषद् करणागत, उपासक स्वीकार करें ।”

७३-महा-वच्छगोत्र-सुत्तन्त (२।३।३)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलंदक-निवापमें विहार करते थे।

तब वच्छगोत्र (= वत्सगोत्र) परिव्राजक उहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान् को "सम्मोदन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे वत्सगोत्र परिव्राजकने भगवान् से यह कहा—

"भो गौतम ! देर हो गई, आप गौतमके साथ मुझे कमा-संश्लेष किये। साधु, (= अच्छा हो) आप गौतम संक्षेपसे मुझे कुशल-अकुशल (= भलाई-बुराई) का उपदेश करें।"

"वत्स ! मैं संक्षेपसे तुझे कुशल-अकुशलका उपदेश करता हूँ, विस्तारसे भी तुझे कुशल-अकुशलका उपदेश करता हूँ। किन्तु (पहिले) वत्स ! मैं संक्षेपसे तुझे कुशल-अकुशलका उपदेश करता हूँ, उसे सुन, अच्छी तरह मनमें कर कहता हूँ।"

"अच्छा, भो ! " — (कह) वत्सगोत्र परिव्राजकने भगवान् को उत्तर दिया।

भगवान् ने यह कहा—'वत्स ! लोभ अकुशल (= बुराई, पाप) है, और अलोभ कुशल (= भलाई, पुण्य) है। वत्स ! द्वेष अकुशल है, अ-द्वेष कुशल है। वत्स ! मोह अकुशल है, अ-मोह कुशल है। इस प्रकार वत्स ! यह तीन धर्म (= पदार्थ) अकुशल हैं, और तीन धर्म कुशल।

"वत्स ! प्राणातिपात (= हिंसा) अकुशल है, और प्राणातिपातसे विरत होना, कुशल है। वत्स ! अदत्तादान (= चोरी) अकुशल है, और अदत्तादानसे विरति कुशल। कामो (= स्त्री-प्रसंग) में मिथ्याचार (= बुराचार) अ-कुशल है, काम-मिथ्याचारसे विरति कुशल। वत्स ! मृपावाद (= झूठ) अकुशल है, मृपावाद-विरति कुशल। वत्स ! पिशुन-वचन (= चुपली) अकुशल है, पिशुन-वचन-विरति कुशल। वत्स ! परुष-वचन अकुशल है, परुषवचन-विरति कुशल। वत्स ! संप्रलाप (= बकवाद) अकुशल है, संप्रलाप-विरति कुशल। वत्स ! अमिथ्या (= लोभ) अकुशल है, अन्-अमिथ्या कुशल। वत्स ! व्यापाद (= पीड़ा देना) अकुशल है, अ-व्यापाद कुशल। वत्स ! मिथ्या-दृष्टि (= झूठी धारणा) अकुशल है, अमयग-दृष्टि कुशल। वत्स ! यह दश धर्म अकुशल हैं, दश धर्म कुशल हैं।

"वत्स ! जब भिक्षुकी लुण्णा ग्रहीण (= नष्ट) होगई होती है, उच्छिन्नमूल, कटे-दिर-वाले-भाग जैसी अभाव-प्राप्त (= लुप्त), अविष्यमें-न-उत्पन्न-होने लायक होती है; (वी) वह भिक्षु अर्हत्-क्षीण-आक्षय (= जिसके चित्तमल नष्ट हो गये हैं), (ब्रह्मचर्य-) वस-पुका, कृतकृत्य, भार-ग्रह-पुका, सत्पदार्थको-प्राप्त, भव-वर्षन-तोड़-पुका, साक्षा (= परमज्ञान) द्वारा-सम्पत्-सुक्त होता है।"

"रहें आप गौतम। क्या आप गौतमका एक भी आवक (= चिप्य) भिक्षु है, जो कि आक्षयी (= चित्तमलों) के जगमे जाग्रत-रहित, चित्त-विमुक्ति (= * मुक्ति) प्रज्ञा-विमुक्तिको

इसी जन्ममें स्वयं जानकर साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरता हो ?”

“वत्स ! एक ही नहीं सौ, सौ ही नहीं तीन सौ, (तीन सौ ही) नहीं चार सौ, (चार सौ ही) नहीं पाँच सौ; बल्कि अधिक ही मेरे आश्रय भिक्षु आश्रयोंके अग्रसे आश्रय-रहित, चित्त-विमुक्ति, प्रज्ञाविमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं जान कर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरते हैं ।”

“रहें आप गौतम, रहने दें भिक्षुओंको ! क्या आप गौतमकी एक भी आश्रिका (= शिष्या) भिक्षुणी है, जो कि आश्रयोंके अग्रसे • प्राप्त कर विहरती हो ?”

“वत्स ! एक ही नहीं • बल्कि अधिक • प्राप्त कर विहरती हैं ।”

“रहें आप गौतम, रहने दें भिक्षु, रहें भिक्षुणियाँ । क्या आप गौतमका एक भी गृहस्थ, श्वेत-वस्त्रधारी, ब्रह्मचारी आश्रय उपासक (= गृहस्थ शिष्य, भक्त) है, जो कि पाँच अक्षर-भोगीय-संयोजनोंके अग्रसे औपपातिक (= ज्योतिष, देव) हो उस (देवकोट)में निर्वाण प्राप्त करनेवाला, उस लोकसे लौटकर न आनेवाला हो ?”

“वत्स ! एक ही नहीं • पाँच सौ, बल्कि अधिक ही मेरे गृहस्थ • उस लोकसे लौटकर न आनेवाले हैं ।”

“रहें आप गौतम, रहें भिक्षु, रहें भिक्षुणियाँ, रहें श्वेत-वस्त्रधारी, ब्रह्मचारी उपासक गृहस्थ आश्रय; क्या आप गौतमका एक भी गृहस्थ अवदातवसन (= श्वेतवस्त्रधारी), काम-भोगी (= उचित विषय-भोगी), शासन-कर (= धर्मानुसार चलनेवाला) = अववाद-प्रतिकर संशय-प्रारंभक, वाद-विवादसे-विगत, वैशारथ (= निपुणता)-प्राप्त, गृहस्थ आश्रय उपासक है, जो कि शास्ताके शासन (= गुरुके उपदेश)में अतिश्रद्धावान् होकर विहरता हो ?”

“वत्स ! एक ही नहीं • पाँच सौ, बल्कि अधिक ही मेरे गृहस्थ • शास्ताके शासनमें अतिश्रद्धावान् होकर विहरते हैं ।”

“रहें आप • रहें गृही अवदातवसन कामभोगी उपासक; क्या • एक भी गृहस्थ अवदात-वसना ब्रह्मचारिणी आश्रिका उपासिका है, जो कि पाँच अक्षर-भोगीय संयोजनोंके अग्रसे • उस लोकसे लौट कर न आनेवाली हो ?”

“वत्स ! एक ही नहीं • पाँच सौ बल्कि अधिक ही मेरी • उस लोकसे लौट कर न आनेवाली हैं ।”

“रहें आप • रहें गृहस्थ अवदातवसना ब्रह्मचारिणी आश्रिका उपासिकायें, क्या आप गौतम-की एक भी, अवदातवसना, कामभोगिनी, शासनकरी = अववाद-प्रतिकरी, संशय-प्रारंभता, वाद-विवादसे परे, वैशारथ-प्राप्ता गृहस्थ आश्रिका उपासिका है, जो कि शास्ताके शासनमें अतिश्रद्धावान् होकर विहरती हो ?”

“वत्स ! एक ही नहीं, • पाँच सौ बल्कि अधिक ही मेरी • अतिश्रद्धावान् होकर विहरती हैं ।”

“ओ गौतम ! यदि इस (आपके) धर्मके आप गौतम ही आराध्यक (= सेवन) करनेवाले (= आराधक) होते, और भिक्षु सेवन करनेवाले न होते, तो इस प्रकार यह ब्रह्मचर्य इस अंशमें अपूर्ण रहता । चूँकि इस धर्मके आप गौतम भी सेवन करनेवाले हैं, और भिक्षु भी सेवन करनेवाले हैं, इसलिये यह ब्रह्मचर्य इस अंशमें पूर्ण है । ओ गौतम ! यदि इस धर्मके आप गौतम ही आराध्यक होते, और भिक्षु ही आराध्यक होते, और भिक्षुणियाँ आराध्यक न होती; तो इस प्रकार यह ब्रह्मचर्य इस अंशमें अपूर्ण रहता । चूँकि इस धर्मके आप गौतम भी आराध्यक हैं, भिक्षु भी •, और भिक्षुणियाँ भी •, इसलिये यह ब्रह्मचर्य इस अंशमें पूर्ण है । ओ गौतम ! यदि आप • भिक्षु •,

और भिक्षुणियाँ ही आराधक होतीं, किन्तु • ब्रह्मचारी उपासक • आराधक न होते; तो • अपूर्ण रहता । चूँकि • ब्रह्मचारी उपासक भी आराधक हैं, इसलिये • पूर्ण है । • यदि इस धर्मके आप • ब्रह्मचारी उपासक • ही आराधक होते, और • काम-भोगी • उपासक • अन्तर्धक न होते, तो • अपूर्ण रहता । चूँकि • काम-भोगी • भी आराधक हैं, इसलिये • पूर्ण है । • यदि इस धर्मके आप • कामभोगी उपासक • आराधक होते, • ब्रह्मचारिणी • उपासिकायें आराधक न होतीं, तो • अपूर्ण रहता; चूँकि • ब्रह्मचारिणी • उपासिकायें भी आराधक हैं, इसलिये • पूर्ण है । • यदि इस धर्मके आप • ब्रह्मचारिणी • उपासिकायें ही आराधक होतीं, तो • अपूर्ण रहता । चूँकि • काम-भोगिनी • उपासिकायें भी आराधक हैं, इसलिये • पूर्ण है ।

‘जैसे, भो गौतम ! गंगावदी समुद्र-निष्ठा (= समुद्रश्री और जलेश्वरी) = समुद्र-प्रवणा=समुद्र-प्राप्तांश समुद्रको ही जाती स्थित है, ऐसे ही यह गृहस्थ, पश्चिमाजक (सारी) आप गौतमकी परिष्कृति निर्वाण-निष्ठा (= निर्वाणकी ओर जानेवाली) = निर्वाण-प्रवणा=निर्वाण-प्राप्तांश निर्वाणको ही जाती स्थित है । आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य ! भो गौतम ! जैसे जीधेको सीधा कर दे • ^१ यह मैं भगवान् गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और मिश्र संघको भी । मन्ते ! मैं भगवान् के पास प्रव्रज्या पाऊँ, उपसंपदा पाऊँ • ।”

“वत्स ! जो कोई भूतपूर्व अन्यतीर्थिक इस धर्मविनयमें प्रव्रज्या उपसंपदा चाहता है, वह चार मास तक परिवास करता है • ^२ ।”

“यदि, मन्ते ! • ^३ चार मास परिवास करते हैं, • ^४, तो मैं चार वर्ष पश्चिमाजक करूँगा । • ^५ ।”

पत्तमगोत्र पश्चिमाजकने भगवान् के पास प्रव्रज्या पाई, उपसंपदा पाई ।

उपसम्पन्न (= मिश्र) होनेके थोड़े ही समय बाद=1५ दिन बाद आशुष्मान् पत्तमगोत्र जहाँ भगवान् थे, वहाँ “आकर भगवान् को अभिवादन कर” एक ओर बैठे भगवान् से यह थोड़े—

“मन्ते ! शैक्ष्य (= अन्-अर्थात्, किन्तु निर्वाण-मार्गपर हव आरुह्य)-ज्ञानसे वैदग्ध्य-विद्यासे धाया जा सकता है, वह मैंने पा लिया । अब भगवान् मुझे आगेका धर्म बतलावें ।”

(१) “तो वत्स ! तू दो आगेके धर्मों—शमय (= समाधि) और विपश्यना (= प्रज्ञा, ज्ञान) की भावना (= सेवन) कर । वत्स ! इन आगेके दो धर्मों—शमय और विपश्यनाकी भावना करनेसे, यह तेरे लिये अनेक धातुओंके प्रतिवेध-(= तह तक पहुँचने) में (सहायक) होंगे । ^१ तब (यदि) तू वत्स ! चाहेगा कि—‘अनेक प्रकारकी ऋद्धिर्षोंका अतुल्य करूँ—एक होकर बहुत हो जाऊँ, बहुत होकर एक हो जाऊँ । आग्निर्भाव, तिरोभाव (= अन्तर्धान, होना), तिर-कुल्य (= अन्तर्धान हो भीतके पार चला जाना), तिर-प्राकार (= अन्तर्धान हो प्राकारके पार हो जाना), तिर-पर्वत, आकाशमें (चलने जैसे भूमि पर) बिना लिपटे चहुँ, जलकी सौंति पृथिवीमें डूबे उतराऊँ, पृथिवीकी तरह जलमें धिना भीगे जाऊँ, पश्चिमोंकी भौंति आकाशमें आसन सास्कर चहुँ, इतने महाप्रतापी=महर्षिके रंज-सूर्यकोभी हाथसे पृऊँ=भोजूँ; ब्रह्मलोकपर्यन्त (अपनी) कायासे वरामें रखूँ’ ।—तो आयत्तन (= आश्रय) होनेपर तो वहाँ तू साक्षात्-भारको प्राप्त होगा ।

“(२) तब (यदि) तू वत्स ! जो चाहेगा—‘विशुद्ध अमानुष दिव्य शक्ति-धातु (= ज्ञान

^१ देखो पृष्ठ १६ । ^२ देखो पृष्ठ २२२ । ^३ यही = अभिवादन (= दिव्य शक्तियाँ) है ।

इन्द्रिय) से दूर-नजदीक के दिव्य-भानुष दोनों प्रकार के शब्दों को सुनूँ ।—तो आयतन होनेपर वहाँ वहाँ तू साक्षी-भाव को प्राप्त होगा ।

“(३) तब (यदि) तू वत्स ! चाहेगा—‘दूसरे सबों = दूसरे प्राणियों के चित्तों (अपने) चित्तद्वारा जानूँ—सराग-चित्त होनेपर सराग-चित्त है—यह जानूँ; वीतराग (= राग-रहित)-चित्त होनेपर, वीत-राग-चित्त है—यह जानूँ । स-द्वेष ०; वीत-द्वेष ० । स-मोह ० । वीत-मोह ० । विक्षिप्त-चित्त ०, सं-क्षिप्त (= एकाग्र)-चित्त ०, महद्गत (= विशाल)-चित्त ०, अ-महद्गत ०, स-उत्तर (= जिससे उत्तम भी है) चित्त ०, अन्-उत्तर-चित्त ० । समाहित (= समाधि-प्राप्त)-चित्त ०, असमाहित-चित्त ० । विमुक्त-चित्त होनेपर, विमुक्त-चित्त है—यह जानूँ; अ-विमुक्त-चित्त होनेपर, अ-विमुक्त चित्त है—यह जानूँ ।—तो आयतन होनेपर वहाँ वहाँ तू साक्षी भाव को प्राप्त होगा ।

“(४) तब (यदि) तू वत्स ! चाहेगा—‘अनेक प्रकार के पूर्व-निवासों (= पूर्व-जन्मों) को अनु-स्मरण करूँ—जैसे कि एक जन्मको भी, दो जन्मको भी ० ’ इस प्रकार आकार और उद्देश्य सहित अनेक प्रकार के पूर्व निवासों को स्मरण करूँ ।—० तू साक्षीभाव को प्राप्त होगा ।

“(५) ० चाहेगा—‘मैं भगवानुप विमुक्त दिव्य-चक्षुसे जगत् के दुरे, सुकर्ण-दुर्कर्ण ० ’ प्राणियों को धरते उत्पन्न होते देखूँ, कर्मानुसार गतिको प्राप्त होते प्राणियों को पहिचानूँ—यह आप प्राणवादी ० ’ स्वर्गलोक को प्राप्त हुये हैं, इस प्रकार भगवानुप विमुक्त दिव्य-चक्षुसे ० कर्मानुसार गतिको प्राप्त होते प्राणियों को पहिचानूँ ।’—० तू साक्षी भाव को प्राप्त होगा ।

“(६) ० चाहेगा—‘मैं आसनों के अपने आसवरहित चित्त-विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर प्राप्त कर विहर्षूँ ।’—० तू साक्षी (= साक्षात्कार करनेवाला) भाव को प्राप्त होगा ।”

तब आयुष्मान् वत्स-गोत्र भगवान् के भाषण को अभिवन्धित कर, अनुमोदित कर, वासनसे बैठ भगवान् को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चले गये ।

तब आयुष्मान् वत्स-गोत्र एकाकी, एकान्तवासी ० ’ आत्म-संयमी हो विहरते, जल्दी ही ० ’ अनुपम ब्रह्मचर्य-फल को इसी जन्ममें ० ’ प्राप्त कर विहरने लगे, ० ’ । आयुष्मान् वत्स-गोत्र अर्हतोंमेंसे एक हुये ।

वस समय बहुतसे भिक्षु भगवान् के दर्शन के लिये जा रहे थे । आयुष्मान् वत्स-गोत्र ने दूरसे ही उन भिक्षुओं को जाते देखा । देखकर जहाँ वह भिक्षु थे, वहाँ—‘जाकर उन भिक्षुओं से कहा—

“हन्त ! आप आयुष्मानो कहीं जा रहे हो ?”

“आयुस ! हम भगवान् के दर्शन के लिये जा रहे हैं ।”

“तो आयुष्मानो ! मेरे वचनसे भगवान् के चरणों में शिरसे वन्दना करना; (और यह कहना)—‘भन्ते ! वत्स-गोत्र भिक्षु भगवान् के चरणों में शिरसे वन्दना करता है, और यह कहता है—भगवान् ! मैंने (इस अभिज्ञा को) परिचीर्ण कर लिया (= आचरण कर लिया, या किया), मुगत ! मैंने परिचीर्ण कर लिया ।”

“जच्छा, आयुस !”—(कह) उन भिक्षुओं ने आयुष्मान् वत्स-गोत्र को ऊपर दिया ।

तब वह भिक्षु जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर—‘बैठ दो—

“मन्ते ! जायुष्मान् वत्स-गोत्र भगवान्के घरणोंमें सिरसे बंदना करते हैं, और यह कहते हैं—‘भगवान् ! मैंने परिचीर्ण कर लिया, मुगल ! मैंने परिचीर्ण कर लिया’ ।”

“मित्रुबो ! पहिले मैंने चित्तसे चित्तको देखकर वत्सगोत्र मित्रुके विषयमें जान लिया—‘वत्स-गोत्र मित्रु त्रैविद्य (= तीनों विद्याओं^१ का जाननेवाला), महर्षिक (= ऋद्धि-प्राप्त) = महाबुभाव है’ । देवताओंने भी मुझे इस अर्थको कहा—‘वत्स-गोत्र मित्रु, मन्ते ! त्रैविद्य, महर्षिक = महाबुभाव है’ ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मित्रुओंने भगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

^१ विस्तारके लिये देखो पृष्ठ १५ ।

७४—दीघनख-सुत्तन्त (२।३।४)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें, रुद्रकुट पर्वतपर शूकरखातामें विहार करते थे ।

तब दीघनख (= दीर्घनख) परित्राजक जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान्‌के साथ सम्मोदन^१ कर एक ओर खड़ा हो गया । एक ओर खड़े हुये दीर्घनख परित्राजकने भगवान्‌से यह कहा—

“मो गौतम ! मैं इस वाद=इस दृष्टिका माननेवाला हूँ—‘समी (मत) मुझे पसन्द नहीं’ ।

“अग्निवेश ! क्या तुझे ‘समी मुझे पसन्द नहीं’—यह दृष्टिभी पसन्द नहीं है ?”

“मो गौतम ! यदि यह दृष्टि मुझे पसन्द हो, तो ‘यह भी वैसी ही हो, यह भी वैसी ही हो’ ।”

“इसलिये अग्निवेश ! तुझसे बहुत अधिक (पुरुष) जोकमें हैं, जो ऐसा कहते हैं—‘यह भी वैसा ही है, यह भी वैसा ही है’, (किन्तु) वह उस दृष्टिको नहीं डोवते, और दूसरी दृष्टिको ग्रहण करते हैं । और अग्निवेश ! ऐसे (पुरुष) जोकमें अत्यन्त कम हैं, जो ऐसा कहते हैं—‘यह भी वैसा ही है, यह भी वैसा ही है’ और उस दृष्टिको छोड़ देते हैं, और दूसरी दृष्टिको भी नहीं ग्रहण करते ।

“अग्निवेश ! कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण इस वाद = इस दृष्टिको माननेवाले हैं—‘मुझे समी (मत) पसन्द है (= समति)’ । • कोई कोई • इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘मुझे समी पसन्द नहीं’ । अग्निवेश ! कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘मुझे कोई कोई (मत) पसन्द है, कोई कोई नहीं पसन्द है’ ।”

“अग्निवेश ! जो श्रमण-ब्राह्मण इस वाद = इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘समी मुझे पसन्द नहीं’, उनकी यह दृष्टि सराग (= रागयुक्त होनेकी अवस्था)के समीप है, संयोगके समीप है, अभिर्नन्दन के समीप है, अध्यवसाय (= ग्रहण)के समीप है, उपादान (पानेकी कोशिश)के समीप है । अग्निवेश ! जो • इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘मुझे समी पसन्द है’, उनकी यह दृष्टि अ-सराग = अ-संयोग, अन्-अभिर्नन्दन, अन्-अध्यवसाय, अन्-उपादानके समीप है ।”

ऐसा कहनेपर दीर्घनख परित्राजकने भगवान्‌से यह कहा—“आप गौतम मेरी दृष्टिका उत्कर्ष (= प्रशंसा) करते हैं, आप गौतम मेरी दृष्टिका अस्-उत्कर्ष करते हैं ।”

“अग्निवेश ! जो श्रमण-ब्राह्मण • इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘मुझे कोई कोई पसन्द है, कोई कोई नहीं पसन्द है’ । उनको जो दृष्टि पसन्द नहीं है, वह सरागके समीप है •; उनको जो दृष्टि पसन्द नहीं है, वह अ-सरागके समीप है • ।

^१ यह दीर्घनखका गोत्र था ।

“अग्निवेश ! जो अमण-आकाण ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘सभी मुझे पसन्द है’; उनके विषयमें विज्ञ पुरुष यह सोचता है—जो यह मेरी दृष्टि है—‘सभी मुझे पसन्द है’; इस दृष्टिको यदि मैं मज्झीमे पकड़कर आग्रहकरके कहूँ—‘वही सच है, और (सच मत) झूठा है’, तो दो (वादियों) के साथ मेरा विग्रह (= विवाद) होगा—(१) वह अमण-आकाण, जो कि ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘मुझे सभी पसन्द है’; और (२) वह ० जो कि ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘मुझे कोई कोई पसन्द है, कोई कोई नहीं पसन्द है’ । इन दोनोंके साथ मेरा विग्रह होगा; विग्रह होनेपर विवाद होगा, विवाद होनेपर विघात (= पीड़ा) होगा, विघात होनेपर विहिंसा (= हिंसा) होगी । इस प्रकार अपनेमें विग्रह, विवाद, विघात, और विहिंसाको देखते हुये, उस दृष्टिको छोड़ देता है । इस प्रकार इन दृष्टियोंका प्रतिनिस्तर्ग (= त्याग) होता है ।

“अग्निवेश ! जो अमण-आकाण ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘मुझे सब पसन्द नहीं है’ । इस बारेमें विज्ञ पुरुष यह सोचता है—जो यह मेरी दृष्टि है—‘मुझे सब पसन्द नहीं है’; इस दृष्टिको यदि मैं ० आग्रहकरके कहूँ—‘वही सच है, और झूठ है’, तो दोके साथ मेरा विग्रह होगा—(१) वह ० जो कि ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘मुझे सब पसन्द है’; और (२) ०—‘मुझे कोई कोई पसन्द है, कोई कोई नहीं पसन्द है’ । इन दोनोंके साथ मेरा विग्रह होगा ० । इस प्रकार इन दृष्टियों का परित्याग होता है ।

“अग्निवेश ! जो अमण-आकाण ० इस दृष्टिके माननेवाले हैं—‘मुझे कोई कोई पसन्द है, कोई कोई नहीं पसन्द है’ । इस बारेमें विज्ञ पुरुष यह सोचता है—० जो यह मेरी दृष्टि है—‘मुझे कोई कोई ० तो दोके साथ विग्रह होगा—(१) ०—‘मुझे सब पसन्द है’; और (२) ०—‘मुझे सब पसन्द नहीं है’ । इन दोनोंके साथ मेरा विग्रह होगा ० । इस प्रकार इन दृष्टियोंका परित्याग होता है ।

“अग्निवेश ! यह काया रूपी (= रूपसे बनी)—चार महाभूतोंसे बनी, माता-पितासे उत्पन्न, दाल-आत (= भोजन-कुत्साय)से बर्धित, अनित्य-उत्सादन (= ० विनाश)-परिमर्दन-भेदन (= टूटना)-विध्वंसन धर्मों (= स्वभावों)वाली है, (इसे मुझे) अनित्यके तौरपर, दुःख-रोग-मोह (= पीड़ा)-शूल (= पार, काँटा)-ग्रह-आघात (= बीमारी)-परकीय-नाशमान-शून्य-विनाश (= आत्मा नहीं)के तौरपर समझना चाहिये । इस कायाको अनित्यके तौरपर ० समझनेसे उसका इस कायमें शब्द (= राग), स्नेह, अन्वयता (= संबंधी भाव) नष्ट हो जाता है ।

“अग्निवेश ! यह तीन वेदनायें (अनुभव) हैं ?—(१) सुखा (= सुख रूप माहृम होने वाली) वेदना; (२) दुःखा वेदना; (३) अदुःख-असुखा-वेदना । अग्निवेश ! जिस समय (जाग्रती) सुखा वेदनाको अनुभव (वेदन) करता है, उस समय न दुःखा वेदनाको अनुभव करता है, नहीं अदुःख-असुखा वेदना को; सुखा वेदनाको ही उस समय अनुभव करता है । अग्निवेश ! जिस समय दुःखा वेदनाको अनुभव करता है ० । अग्निवेश ! जिस समय अदुःख-असुखा वेदनाको अनुभव करता है, उस समय न सुखा वेदनाको अनुभव करता है, नहीं दुःखा वेदनाको, ० ।

“अग्निवेश ! सुखा वेदना भी अनित्य, संस्कृत, (= कृत), = प्रतीत्य-समुत्पन्न (कारणसे उत्पन्न), क्षय-धर्मा (= क्षय स्वभाववाली) = क्षय-धर्मा, विराग-धर्मा, निरोध-धर्मा है । अग्निवेश ! दुःखा वेदना भी अनित्य ० निरोध-धर्मा है । अग्निवेश ! अदुःख-असुखा वेदना अनित्य ० निरोध-धर्मा है । अग्निवेश ! ऐसा समझ भुत्तवान् (= बहुभुत) आर्य-आचक सुखा वेदनासे भी निर्वेद (= उदासोन्मत्ता)को प्राप्त होता है, दुःखा वेदनासे भी निर्वेदको प्राप्त होता है, अदुःख-असुखा वेदनासे भी निर्वेदको प्राप्त होता है । निर्वेदको प्राप्त हो विरक्त होता है, विरागको प्राप्त

हो विमुक्त होता है, विमुक्त होनेपर—‘मैं विमुक्त हूँ’ यह ज्ञान होता है; ‘जन्म सतत हो गया, मृत्युचर्य पूरा हो गया, करना या सो कर लिया, अब यहाँ (करने) के लिये कुछ (दोष) नहीं है—यह ज्ञान लेता है। अग्निवेश ! इस प्रकार विमुक्त-चित्त (= मुक्त) भिक्षु न किसीके साथ संवाद करता है, न विवाद करता है; संसारमें जो कुछ कहा गया है, जगद्-रहित हो उसीसे (कथन-) व्यवहार करता है ।”

उस समय आमुष्मान् सारिपुत्र भगवान्‌के पीछे सदैव हो, भगवान्‌को पंथा शूल रहे थे। तब आमुष्मान् सारिपुत्रको यह हुआ—‘भगवान् हमें जानकर उन उन धर्मोंको छोड़नेको कहते हैं, सुगत हमें जानकर उन उन धर्मोंको त्यागनेको कहते हैं। इस प्रकार सोचते हुये आमुष्मान् सारिपुत्रका चित्त आसनों (= चित्त-मलों)से भलग हो मुक्त हो गया। और दीर्घनख परित्राजकको (यह) विरज-विमल धर्म-फल उत्पन्न हुआ—‘जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है, वह सब नाशमान (= निरोध-धर्मा) है’।

तब रश्च-धर्म (= जिसने धर्मोंको देख लिया) = प्राप्त-धर्म, विदित-धर्म = परमवगाह-धर्म, संशय-रहित, वाद् विवाद-रहित, वैचारण-प्राप्त (= समझ) ज्ञानाके शासन (= बुद्धधर्म)में परम अदालत हो दीर्घनख परित्राजकने भगवान्‌से यह कहा—‘आश्वर्य ! भो गौतम ! आश्वर्य !! भो गौतम ! जैसे आँखोंको सीखा कर दे, ०’ । आप गौतम आजसे मुझे अजलिमद् शरणागत उपश्रय स्वीकार करें ।”

७५—मागन्दिप-सुत्तन्त (२।३।५)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कुठ (देश) के, कम्मास-दम्म नामक कुरुओंके विगममें, भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मणकी अभिशाळामें तृण-आसनपर विहार करते थे ।

तब भगवान् पूर्वाह्णके समय पहिनकर, पात्र-चीकर ले कम्मास-दम्म (= कम्माप दम्म) में भिक्षाके लिए प्रविष्ट हुए । कम्मास दम्म में भिक्षाटन कर, भोजनसे मिष्ट हो, दिनके विहारके लिये एक वन-पण्डमें गये । उस वन-पण्डको अवगाहन कर एक वृक्षके नीचे दिनके विहारके लिये बैठे ।

तब मागन्दिप परित्राजक जंबाविहार (= दहकने) के लिये घूमता-टहकता, जहाँ भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मणकी अभिशाळा थी, वहाँ गया । मागन्दिप परित्राजकने भारद्वाजगोत्र ब्राह्मणकी अभिशाळामें तृण-आसन (= तृण संस्तरक) बिछा देखा । देखकर भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मणसे कहा—

“आप भारद्वाजकी अभिशाळामें किसका तृण-आसन बिछा हुआ है, श्रमणका जैसा जान पड़ता है ?”

“ओ मागन्दिप ! शाक्य-पुत्र, शाक्यकुलसे प्रव्रजित (जो) श्रमण गौतम हैं । उन भगवान्का ऐसा मंगल कीर्ति-शब्द (= वधा) फैला हुआ है” —“यह भगवान् जहँद, सम्मत्-संयुक्त, विद्या-धरण-संपन्न, सुगत, लोकविद, पुरुषोंके-अनुपम, चातुक्-सवार, देवता और मनुष्योंके वाला भगवान् बुद्ध हैं । उन्हीं आप गौतमके लिये यह शय्या बिछी हुई है ।”

“ओ भारद्वाज ! यह बुरा देखना हुआ, जो हमने आप गौतमकी भुन-भू शय्याको देखा ।”

“रोको इस वचनको मागन्दिप ! रोको इस वचनको मागन्दिप ! उन आप गौतममें बहुतसे क्षत्रिय-पंडित भी, ब्राह्मण-पंडित भी, गृहपति-पंडित भी, श्रमण-पंडित भी अभिप्रसन्न (= अद्वा-वान्) हैं, आर्य न्याय कुशल-धर्ममें लाये गये हैं ।”

“हे भारद्वाज ! यदि मैं आप गौतमको सामने भी देखता, तो सामने भी उन्हें कहता—‘श्रमण गौतमकी भुन-भू ०’ । सो किस हेतु ?—यही हमारे सुतो (= सुत्रों, सूत्रों) में आता है ।”

“यदि, आप मागन्दिपको बुरा न लगे, तो इस (बात) को मैं श्रमण-गौतमसे कहूँ ।”

“देखते आप भारद्वाज (मेरे) कहेको उनसे कहें ।”

भगवान्ने अमातुप विबुद्ध दिव्य-श्रोत्रसे भारद्वाज गोत्र ब्राह्मणके मागन्दिप परित्राजकके साथ होते हुए कथा-संलापको सुना । तब भगवान् सार्यकाल ध्यानसे डूबर, जहाँ भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मणकी अभिशाळा थी, वहाँ गये, और बिछे तृण-आसनपर बैठ गये । तब भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मण जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्के साथ—संमोदनकर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे भार-

* देखो पृष्ठ २४, २५ भी ।

ब्राह्म-गोत्र ब्राह्मणसे भगवान् ने यह कहा—

“भारद्वाज ! इस तृण-आसनको लेकर तेरा मार्गद्विष-परिव्राजकके साथ क्या कुछ कथा-संलाप हुआ ?”

ऐसा कहनेपर भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मण संविभ्र = रोमांचित हो भगवान् से यह बोला—

“यही हम आप गौतमसे कहनेवाले थे, कि आप गौतमने (हमें) जन्-ब्राह्मण (= न-कथितम्) कर दिया ।”

यही कथा भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मण और भगवान् में हो रही थी, कि मार्गद्विष परिव्राजक जंघा-विहारके लिये टहलता-भूमता, जहाँ भारद्वाज-गोत्र ब्राह्मणकी अधिवास था, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान् के साथ “संभोदन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे मार्गद्विष परिव्राजकसे भगवान् ने यह कहा—

“भागन्द्य ! चक्षु रूपाराम (= अच्छा रूप देखकर जानन्दित होनेवाला) = रूपरत रूप-समुद्भूत है; वह (= बाँझ) तमागतकी दान्त (= संयत) पुंस = रक्षित = संकृत है । (तमागत) उस (= चक्षु) के संवर (= संयम) के लिये धर्मापदेश करते हैं । मार्गद्विष ! यही सोचकर तुने कहा न—‘अमन गौतम भुन-भू है’ ?”

“सो गौतम ! यही सोचकर मैंने कहा—‘अमन गौतम भुन-भू है’ । सो किस हेतु ?—ऐसा ही हमारे सुश्रोत्रि आता है ।”

“भागन्द्य ! ओत्र शब्दराम ० । ० ब्राण गंधाराम ० । ० जिह्वा रत्नाराम ० । ० काया रत्नरत्नाराम ० । ० मन धर्माराम ० ।

“तो क्या मानता है, मार्गद्विष ! यहाँ कोई (पुरुष) पहिले चक्षु द्वारा विज्ञेय दृष्ट, दान्त = संयत = मियरूप, काम-सुख, रंजनीय, रूपोंको भोग रहा हो । वह दूसरे समय अपोंके समुद्भूत (= उत्पत्ति), अन्त-गमन, जारुवाद, जाद्विनक (= दोष), निस्सरण (= निकलनेके उपपन्न) को टीकसे जानकर, रूप विषयक लृप्ताको छोड़े; रूप-विषयक जलनको हटाकर, (रूपकी) प्याससे रहित हो; (अपने) भीतर उपशान्त (= शांत)-चित्त हो विहरे । ऐसे (पुरुष) को मार्गद्विष ! तेरे पास कहनेके लिये क्या है ?”

“कुछ नहीं, सो गौतम !”

“तो क्या मानता है, मार्गद्विष ! ० ओत्र द्वारा विज्ञेय ० अन्तोंको भोग रहा हो ० । ० ब्राण द्वारा विज्ञेय ० गंधोंको भोग रहा हो ० । ० जिह्वा द्वारा विज्ञेय ० रसोंको भोग रहा हो ० । ० काया द्वारा विज्ञेय ० रत्नरत्नोंको भोग रहा हो ० ।

“भागन्द्य ! पहिले गृहस्थ होते समय मैं चक्षु द्वारा विज्ञेय दृष्ट ० रसोंको भोग रहा था । ० शब्दों ० । ० गंधों ० । ० रसों ० । ० रत्नरत्नों ० । मार्गद्विष ! उस समय मेरे तीन प्रस्ताद थे—एक वर्षाकालिक, एक हेमन्तिक, एक शीतलक । मैं वर्षोंके चारों महीने वर्षाकालिक प्रस्तादमें, अ-गुरुओं (= स्त्रियों) के चारोंसे सेवित हो, प्रस्तादके नीचे न उतरता था । फिर दूसरे समय कामों (= विषय-भोगों) के समुद्भूत, अन्त-गमन ० को अच्छी तरह जान काम-लृप्ताको छोड़ ० उपशान्त-चित्त हो । विह्रता हूँ । (जब) मैं अन्य प्राणियोंको कामोंमें अ-वीचराग, काम-लृप्ता द्वारा आवे जाते, काम-दाहसे जलते हुये कामोंको सेवन करते देखता हूँ, तो मैं उनकी सृष्टा नहीं करता, (उनमें) अभिरत नहीं होता । सो किस हेतु ?—भागन्द्य ! जो यह रति कामोंसे जलन, अकुशल-धर्मों (= पापों) से जलनमें है, (जो रति कि) दिव्य सुखोंको भाल करती है, उस रतिमें रमते हीन (-रति) की सृष्टा नहीं करता, उसमें अभिरत नहीं होता ।

“जैसे मागन्दिप ! कोई आद्य, महाधनी, महामोग (संपन्न) गृहपति, या गृहपति-पुत्र पाँच काम-गुणों—चतु द्वारा ज्ञेय, दृष्ट = कान्त, मत्ताप = मित्र, कमनीय = रंजनीय रूपों, ० श्रद्धा, ० श्रद्धा, ० स्वर्ग, ० श्रद्धा—से समर्पित = समंगीभूत (= संयुक्त) हो बिहार करे । वह कायासे सुचरित, (= सुकर्म) करके, वचनसे सुचरित करके, मनसे सुचरित करके काया जोष मरनेके बाद सुगति स्वर्गलोकमें, प्रायस्त्रिंशद् देवोंके बीच उत्पन्न हो । वह वहाँ नन्दनवनमें अप्सरा-समुदायसे परिवारित (= घिरा) पाँच दिव्य काम-गुणोंसे समर्पित, समंगीभूत हो बहार करे । वह किसी गृहपति या गृहपति-पुत्रको पाँच काम-गुणोंसे समर्पित, समंगीभूत हो बहार करते देखे । तो क्या मानता है मागन्दिप ! क्या वह नन्दनवनमें अप्सरा समुदायसे परिवारित, पाँच दिव्य काम-गुणोंसे समर्पित ० हो बहार करता, देखपुनः इस गृहपति या गृहपतिपुत्रको पाँच सामुप काम-गुणोंसे समर्पित ० हो बहार करते देखे, सामुप काम-गुणोंकी ओर लौटना चाहेगा ?”

“नहीं, भो गौतम !”

“तो, किस हेतु ?”

“भो गौतम ! सामुप कामों (= योगों) से दिव्य काम अभिक्रान्ततर (= उत्तम) = प्रणी-ततर है ।”

“ऐसे ही मागन्दिप ! पहिले गृहस्थ होते समय मैं ०^१ (जो रति कि) दिव्य सुखोंकी भात करती है, उस रतिमें रमते हीन (—रति)की स्पृहा नहीं करता, उसमें जमिरत नहीं होता ।

“जैसे मागन्दिप ! सदा-शरीर, पका-शरीर, कीर्णोंसे छाया जाता, नखोंसे-चावके-सुखोंको-छुरेका कोई कोई आदमी (जाग) पर शरीरको तपाता हो । उसके मित्र-अमात्र, ज्ञाति-सलोहित (= भाई-बंध) शय्यकतां भिषक् (= वैद्य) को लावें । वह ० भिषक् उसकी चिकित्सा करे । उस चिकित्सासे वह कुष्ठसे मुक्त, निरोग स्वतंत्र, स्वयम्, जहाँ-चाहे-तहाँ-जानेवाला हो जाये । (फिर) वह दूसरे अश्व-शरीर ० कोई आदमीको भीरपर शरीरको तपाता देखे, तो क्या मानता है, मागन्दिप ! क्या वह उस-कोईके भीरपर तपाने या भीषण-सेवनकी स्पृहा (= इच्छा) करेगा ?”

“नहीं, भो गौतम !”

“तो, किस हेतु ?”

“भो गौतम ! रोग होनेपर ही औषध्य (= चिकित्सा) का काम होता है, रोग न रहनेपर औषध्यका काम नहीं होता ।”

“ऐसे ही मागन्दिप ! पहिले गृहस्थ होते समय मैं ०^१ ० उसमें जमिरत नहीं होता ।”

“जैसे मागन्दिप ! सदा-शरीर ० कोई ० चिकित्सासे कुष्ठसे मुक्त ० हो जाये । (तब) हो वलवान् पुत्र... बाहोंसे पकड़कर उसे भीर (की जाग) पर लावें । तो क्या मानता है, मागन्दिप ! क्या वह पुत्र इतर उधर शरीरको नहीं हटावेगा ?”

“नरु, भो गौतम !”

“तो किस हेतु ?”

“भो गौतम ! जाग दुःख-स्पर्श (= दुःखके साथ होने लायक), महा-ताप, महा-दाह-वाली है ।”

^१ देखो पृष्ठ २१३ ।

"तो क्या मानता है, भागन्द्य ! इसी समय वह आग दुःख-स्पर्श-महाताप-महादाहवाली है, या पहिले भी.....?"

"भो गौतम ! इस समय भी वह आग दुःख-स्पर्श ० है, और पहिले भी....भी । (किन्तु पहिले) वह सवा-शरीर ० उपहृत-इन्द्रिय (= अकलके मारे) कोही आदमी दुःख-स्पर्श अग्निमें भी 'सुख है'—ऐसी विपरीत धारणा रखता था ।"

"ऐसे ही भागन्द्य ! काम (= विषयभोग) अतीतकालमें भी दुःख-स्पर्श—महाताप-महादाहवाले हैं; काम भविष्य-कालमें भी ०, इस समय वर्तमानमें भी दुःख-स्पर्श-महाताप-महादाह-वाले हैं । भागन्द्य ! यह कामोंमें अ-वीतराग, काम-तृष्णासे-ज्याये जाते, कामदाहसे-जलते उपहृत-इन्द्रिय (= हिचकी फूटोवाले) प्राणी दुःख-स्पर्शवाले कामोंमें 'सुख है'—ऐसी विपरीत धारणा (= संज्ञा) रखते हैं ।

"जैसे, भागन्द्य ! सवा-शरीर ० कोही भीरपर शरीरको तपाता हो । भागन्द्य ! जितना ही जितना वह ० कोही भीरपर शरीरको तपावे, उतना ही उतना उसके घावके मुँहमें अधिक जल, अधिक दुर्गन्ध, अधिक पीय आवे । घावके मुँहके सुकलानेसे क्षणभरके लिये रस, आस्वाद मालूम होते । इसी प्रकार भागन्द्य ! वह कामोंमें अ-वीतराग काम-तृष्णासे-ज्याये-जलते, काम-दाहसे-जलते प्राणी कामोंका सेवन करते हैं । भागन्द्य ! जितना ही जितना कामोंमें अ-वीतराग ० प्राणी कामोंका सेवन करते हैं, उतना ही उतना उन प्राणियोंकी काम-तृष्णा बढ़ती है, काम-दाहसे (वह) जलते हैं; कामगुणों (के सेवन)से क्षणभरके लिये रस, आस्वाद भाग मालूम होता है ।

"तो क्या मानता है, भागन्द्य ! क्या तुने देखा या सुना है, कि काम-गुणों (= विषय-भोगों)से समर्पित, समर्पणीभूत हो बहार करते, कोई राजा या राज-महामात्य, काम-तृष्णा बिना छोड़े, काम-दाह बिना त्यागे, पिपासा-रहित वन अपने अन्दर उपजात-चित्त हो विहरता था, विहर रहा है, या विहरेंगा ?"

"नहीं, भो गौतम !"

"साधु, भागन्द्य ! मैंने भी वह नहीं देखा, नहीं सुना, कि ० कोई राजा या राजमहामात्य ० विहरेंगा । बल्कि भागन्द्य ! जो अमण या माण्य पिपासा-रहित वन, अपने अन्दर उपजात-चित्त हो विहरें, विहरते हैं, या विहरेंगे, वह सभी कामोंके समुद्भूत, अस्तगमन ० को हीकसे जायकर, काम-तृष्णाको डोव, काम-विषयक जलनको हटा, (कामकी) व्याससे रहित हो, अपने अन्दर उपजात-चित्त हो विहरेंगे, विहरते हैं, या विहरेंगे ।

तब भगवान्ने उसी समय इस उद्दानको कहा—

"आरोग्य (= विरोग रहना) परम लाभ है, निर्वाण परम सुख है ।

अमृतकी ओर खेचनेवाले मागोंमें अष्टांगिक मार्ग (बहुत)क्षेम (= संयत्त) भव है ।"

ऐसा कहनेपर भागन्द्य परिब्राजकने भगवान्से यह कहा—

"आचार्य ! भो गौतम ! अद्भुत !! भो गौतम ! कैसा सु-भाणित (= ठीक कहा) आप गौतमने कहा—'आरोग्य परम लाभ है, निर्वाण परम सुख है ।' मैंने भी भो गौतम ! (अपने) पूर्वके परिब्राजक आचार्य-प्राचार्योंको कहते सुना है—'आरोग्य परम लाभ है, निर्वाण परम सुख है' । भो गौतम ! यह उससे मिल जाता है ।"

“भागन्दिव ! जो तुझे पूर्वके परिभाजक आचार्य-प्राचार्योंको कहते सुना है—‘आरोग्य ०’; उसमें क्या है आरोग्य, और क्या है निर्वाण ?”

ऐसा कहनेपर भागन्दिव परिभाजक अपने शरीरको छूते हुये (पोला)—

“ओ गौतम ! यह आरोग्य है, यह निर्वाण है, ओ गौतम ! मैं इस समय अ-रोग, सुखी हूँ, मुझे कोई व्याधि नहीं है ।”

“जैसे, भागन्दिव ! जन्मान्ध पुरुष न देखे काले ०, ० सफेद रूपको, न देखे नीले रूपको, न देखे पीले रूपको, न देखे लाल रूपको, न देखे मजीठी रंग रूपको, न देखे सम-विषम (भूमि) को, न देखे तारोंके रूपको, न देखे चन्द्र-सूर्यको । वह आँखवालोंको कहते सुने—‘श्वेत वस्त्र धड़िया होता है, सुन्दर-निर्मल-शुचि (होता है)’ । वह श्वेतको धोजमें चले । उसे कोई पुरुष तेलको स्नाही लगे काले (उनी) कपड़ेसे वंचित करे—‘हे पुरुष ! यह धड़िया, सुन्दर, निर्मल, शुचि श्वेतवस्त्र है’ । या उसे परिग्रहण करे, प्रतिग्रहण करे, पहिने । पहिनकर सन्तुष्ट हो फूलकर वचन निकाले—‘अहो ! श्वेतवस्त्र धड़िया होता है, सुन्दर-निर्मल-शुचि (होता है)’ । तो क्या मानता है, भागन्दिव ! क्या वह जन्मान्ध पुरुष ज्ञान-समझकर उस तेलको स्नाही लगे काले कपड़े-को परिग्रहण करता, प्रतिग्रहण करता, ० । पहिनकर ० वचन निकालता—‘अहो ! श्वेत वस्त्र ०’; या आँखवालेपर श्रद्धा करता ?”

“ओ गौतम ! वह जन्मान्ध पुरुष न ज्ञान-समझकर ही उस तेलकी स्नाही लगे ० प्रतिग्रहण करता है ० । ० आँखवालेपर श्रद्धा करता है ।”

“ऐसेही, भागन्दिव ! अन्धे नेत्रहीन अन्य-तीर्थिक (= दूसरे मतवाले) परिभाजक आरोग्यको न जानते, निर्वाणको न देखते भी इस गाथाको कहते हैं—‘आरोग्य परम लाभ है, निर्वाण परम सुख है’ । भागन्दिव ! पूर्वके सर्वत्र उभयद् संशुद्धोंने इस गाथाको कहा है—‘आरोग्य परम लाभ है, ० अष्टांगिक-मार्ग श्रेय है’ । सो अब धीरे धीरे अनादियों (= पृथक्जनों) में फैली गई । भागन्दिव ! यह काया रोगमय, गंड (= फोड़ा)-मय, शल्य, (= कौटा)-मय अव-मय, व्याधि-मय है । सो तू इस रोगमय ० व्याधिमय कायाको कह रहा है—‘ओ गौतम ! यह आरोग्य है, यह निर्वाण है । भागन्दिव ! तुझे आर्य-धनु नहीं है, जिससे कि तू आरोग्यको जाने, निर्वाणको देखे ।”

“मैं आज गौतममें इतनी श्रद्धा रखता हूँ, आज गौतमको अधिकार है, कि मुझे उस प्रकार धर्म-उपदेश करें, जिससे कि मैं आरोग्यको जान सकूँ, निर्वाणको देख सकूँ ।”

“जैसे भागन्दिव ! जो जन्मान्ध पुरुष ०’ न देखे चन्द्र-सूर्यको । (तब) उसके मित्र-भ्रामान्य, ज्ञाति-सखोदित शल्य-कर्ता भिषक्को लावें । वह शल्यकर्ता भिषक् उसकी चिकित्सा करे वह उस चिकित्सासे न आँखोंको उत्पन्न करे, न आँखोंको साफ करे । तो क्या मानता है, भागन्दिव ! क्या वह वीध सिर्षं ठहराती, परेशानीका ही नागी है न ?”

“हूँ, ओ गौतम !”

“ऐसे ही भागन्दिव ! मैं तो तुझे धर्म-उपदेश करूँ—यह आरोग्य है, यह निर्वाण है, और तू उस आरोग्यको न जाने, उस निर्वाणको न देखे, तो यह मेरी (स्वर्णकी) परेशानी होगी, विहिता (= पीड़ा) होगी ।”

“मैं आप गौतममें इतनी अज्ञा रखता (= प्रत्यक्ष) हूँ, आप गौतमको अधिकार है, ० निर्वाणको देख सड़ें ।”

“जैसे, भागन्दिय ! जन्मान्ध पुरुष ०^१ को, न देखे चन्द्र-सूर्यको । वह आँखवालोंको कहते सुने ०^२ वह उसे परिग्रहण = प्रतिग्रहण करे, पहिने । (तब) उसके मित्र-अमात्य, ज्ञाति-सलोहित शाल्यकतां भिषक्को लावें । वह ० चिकित्सा—ऊर्ध्व विरेचन (= उल्टी आनेकी दवा), अधोविरेचन (= तुलाय), अंजन, प्रतंजन, मत्सुकम्प (= नाकसे औषध-प्रदान) करे । वह उस भौषणसे आँखोंको उत्पन्न करे, आँखोंको साफ करे । आँख उत्पन्न होनेके साथ ही, उस तेल-मसीसे लिपटे काले कपड़े (= साहुल-बीवर = काली भेड़के बालके कपड़ों)में उसका छन्द = राग नष्ट हो जाये । और वह उस (वंचक) पुरुषको अमित्र मानने लगे, प्रत्यर्धि (= धष्ट) मानने लगे, पक्षि प्राणसे भी मारना चाहे—“अरे, चिरकालसे यह पुरुष तेल-मसीकृत साहुल-बीवरसे मुझे वंचित = निवृत्त = प्रलब्ध करता रहा—“दे पुरुष ! यह बढिया, सुन्दर, निर्मल, कुचि, श्वेत वस्त्र है ।” ऐसे ही भागन्दिय ! मैं तुझे धर्मोपदेश करूँ—यह आरोग्य है, यह निर्वाण है, और तू आरोग्यको जाने, निर्वाणको देखे; तो आँख उत्पन्न होनेके साथ ही, वो पाँच उपादान-स्पर्धों में तेरा छन्द = राग है, वह नष्ट हो जाये । तुझे यह भी होवे—अरे, चिरकालसे यह चित्त मुझे वंचित = निवृत्त = प्रलब्ध करता रहा । मैं रूपकी ही (अपना करके) ग्रहण (= उपादान) करता रहा, वैदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञानको ही (अपना करके) ग्रहण करता रहा । मेरा उस उपादानके कारण भव, (= संसार), भवके कारण जाति (= जन्म) जातिके कारण जरा-मरण शोक-मोदन श्रृंखल, दुःख = दौर्जन्य परेशानी उत्पन्न होती रहें । इस प्रकार इस केवल दुःख-स्पर्ध (= दुःख-पुंज)की उत्पत्ति (= समुद्भव) होती है ।”

“मैं आप गौतममें इतनी अज्ञा रखता हूँ, आप गौतमको अधिकार है, कि मुझे इस प्रकार धर्मोपदेश करे, जिसमें कि मैं इस आत्मसे अन्-अन्व होकर उड़ूँ ।”

“तो भागन्दिय ! तू सत्पुरुषोंका सेवन कर । जब तू सत्पुरुषोंको सेवन करेगा, तो सद्धर्मको सुनेगा । जब तू भागन्दिय ! सद्धर्मको सुनेगा, तो सद्धर्मके अनुसार आचरण करेगा । जब तू भागन्दिय ! सद्धर्मके अनुसार आचरण करेगा, तो स्वयंही जानेगा, स्वयंही देखेगा—“यह रोग, गीह, शल्य है, यहाँ सारे रोग, गीह (= फोड़ा), शल्य (= काँटा) निरुद्ध (= नष्ट) होते हैं” । तब तेरे उपादानके निरोधसे भव-निरोध, भव-निरोधसे जाति-निरोध, जाति-निरोधसे जरा-मरण शोक-परिदेव दुःख-दौर्जन्य-उपायासीका निरोध होता है । इस प्रकार इस केवल दुःख-स्पर्धका निरोध होता है ।”

ऐसा कहनेपर भागन्दिय परिवाजकने भगवान्से यह कहा—

“आश्चर्य ! मो गौतम ! आश्चर्य !! मो गौतम ! जैसे औँधको सीधा कर दे ०^३ यह मैं भगवान् गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और मित्र-संचकी मो । भन्ते ! मैं भगवान्के पास प्रमज्जा पाऊँ, उपसंपदा पाऊँ ।”

“भागन्दिय ! जो कोई भूतपूर्व अन्व-सीर्षिक इस धर्ममें प्रमज्जा उपसंपदा चाहता है; वह चार मास तक परिवास करता है^४ ।”

^१ देखो पृष्ठ १९६ ।

^२ देखो पृष्ठ १६ ।

^३ देखो पृष्ठ २३३ ।

“यदि भन्ते ! ०^१ चार मास परिवास करते हैं ०^१ तो मैं चार वर्ष परिवास करूँगा ।”

मागन्धिप परिवाजकने भगवान्‌के पास प्रसज्वा उपसंषदा पाई ।

उपसंषदा होनेके बाद जल्दी ही जायुष्मान् मागन्धिप, एकाकी एकान्तवासी ०^१ आत्म-संयमी हो विहरते, जल्दी ही ० अनुपम अज्ञाचर्य फलको इसी जन्ममें ०^१ प्राप्त कर विहरने लगे, ०^१ जायुष्मान् मागन्धिप अर्हतेमेंसे एक हुये ।

७६—सन्दक-सुत्तन्त (२।३।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कौशाम्बीके घोषिताराममें विहार करते थे। उस समय पाँचसौ परिव्राजकोंकी महापरिव्राजक-परिषद्के साथ, सन्दक परिव्राजक गृक्षगुहामें^१ वास करता था।

आयुष्मान् आनन्दने सायंकाल ध्यायसे उठ, भिक्षुओंको संबोधित किया—

“आयुसो! आओ जहाँ देवकट-सोष्म” (= देवकृत-अन्न = स्वाभाविक अन्न-रूप) है, यहाँ देखनेके लिये चलो।”

“अच्छा आयुस!” (कह) इन भिक्षुओंने आयुष्मान् आनन्दको उत्तर दिया। तब आयुष्मान् आनन्द बहुतसे भिक्षुओंके साथ, जहाँ देवकट-सोष्म था, वहाँ गये। उस समय सन्दक परिव्राजक राजकथा राज-कथा, चौर-कथा, माहात्म्य-कथा, सेना-कथा, नय-कथा, शुद्ध-कथा, वज्र-कथा, पान-कथा, वस्त्र-कथा, शयन-कथा, गीघ-कथा, भ्राजा-कथा, ज्ञाति (= कुल)-कथा, यान (= शुद्ध-यात्रा)-कथा, ग्राम-कथा, निगम-कथा, नगर-कथा, जनपद-कथा, छो-कथा, शूर-कथा, पिशिया (= चौरस्ता)-कथा, कुम्भ-स्थान (= पनघट)-कथा, पूर्वप्रेत (= पहिले मरेको)-कथा, तानातक-कथा, लोक-आख्यायिका, समुद्र-आख्यायिका, इतिवृत्तभाव (= ऐसा हुआ, ऐसा गही हुआ)-कथा आदि निसर्गक कथा कहती, नाद करती, शोर मचाती, वही भारी परिव्राजक-परिषद्के साथ, बैठा था। सन्दक परिव्राजकने दूरहीसे आयुष्मान् आनन्दको आते देखा। देखकर अपनी परिषद्से कहा— ‘आप तब चुप हो। मत... शब्द करें। यह भ्रमण गौतमका आरवक भ्रमण आनन्द आरहा है। भ्रमण गौतमके जितने आरवक कौशाम्बीमें वास करते हैं, उनमें एक, वह भ्रमण आनन्द है। यह आयुष्मान् लोग निःशब्द-प्रेमी, अल्प-शब्द-प्रशंसक होते हैं। परिषद्को अवशब्द देख, संभव है (इसर) भी आवे।’ तब वह परिव्राजक चुप होगये।

तब आयुष्मान् आनन्द जहाँ सन्दक परिव्राजक था, वहाँ गये। सन्दक परिव्राजकने आयुष्मान् आनन्दसे कहा—

“आइये आप आनन्द! स्वागत है आप आनन्दका। चिरकालयाद आप आनन्द यहाँ आवे। बैठिये आप आनन्द, यह आसन सिद्धा है।”

आयुष्मान् आनन्द बिछे आसनपर बैठ गये। सन्दक परिव्राजक भी एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे, सन्दक परिव्राजकसे आयुष्मान् आनन्दने कहा—

“सन्दक! किस कथामें बैठे थे, बीचमें क्या कथा होरही थी?”

“जाने दीजिये इस कथाको, भो आनन्द! जिस कथामें कि इस इस समय बैठे थे। ऐसी

^१ कोसलके पास पमोत्त (चि० इकादानाद)। ^२ पमोत्तमें कोई प्राकृतिक बड़-कुंड था।

क्या आप जानन्दको पीछे भी सुननेको दुर्लभ न होगी। अच्छा हो, आप जानन्द ही अपने आचार्यक (= धर्म)-विषयक धार्मिक-कथा कहें।”

“तो सन्दक ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ।”

“अच्छा भो !” (कह) सन्दक परिचितकरने आयुष्मान् जानन्दको उत्तर दिया। आयुष्मान् जानन्दने कहा—

“सन्दक ! उन ज्ञानकार, देवतहार, सन्धक्-संजुह भगवान्ने चार अ-महाचर्य-वास कहे हैं, और चार अन्धात्मन न देनेवाले महाचर्य-वास (= संन्यास) कहे हैं, जिनमें विज्ञ-पुरुष अपनी अक्षिभर महाचर्य-वास न करे। वास करनेपर न्यास (= निर्वीण), कुपाल (= अच्छे)-धर्मको न पा सकेगा।

“हे जानन्द ! उन भगवान्ने कौनसे चार अ-महाचर्य वास० कहे हैं० ?”

(१) “सन्दक ! यहाँ एक शास्ता (= गुरु, पंथ चलाने वाला) ऐसा वाद (= दृष्टि) रखनेवाला होता है—‘नहीं है दान (का फल), नहीं है यज्ञ (का फल), नहीं है हवन (का फल) नहीं है सुकृत-पुण्य कर्मोंका फल = विपाक, यह लोक नहीं है, पर-लोक नहीं है, माता नहीं, पिता नहीं। औपचारिक (= अयोगिक, देव आदि) प्राणी नहीं है। लोकमें (ऐसे) सत्यको प्राप्त (= सन्तुष्ट-गत) सत्साक्ष अमन आश्रय नहीं है, जोकि इस लोक परलोकको स्वयं जान कर, साक्षात् कर, (दूसरोंको) जतलावेंगे। यह पुरुष चातुर्मेधाभूतिक (= चार भूतोंका बना) है। जब भरता है, पृथिवी पृथिवी-काय (= पृथिवी)में मिल जाती है, चली जाती है। आप (= पानी) आप-कायमें मिल जाता० है। तेज (= अग्नि) तेज-कायमें मिल जाता० है। वायु वायु-कायमें मिल जाता० है। इन्द्रियाँ आकाशमें (चली) जाती हैं। पुरुष मृत (शरीर) को ज़ादपर ले जाते हैं। बलाने सक् पद (= चिह्न) जान पड़ते हैं। (फिर) इन्द्रियाँ कक्षतरके (धँसे) सो (सफेद) हो जाती हैं। (पूर्णकृत) आहुतिपाँ राख (हो) रह जाती हैं। यह दान मूर्खोंका प्रज्ञापन (= उपदेश) है। जो कोई आस्तिक-वाद कहते हैं, वह उनका तुच्छ = झूठ है। मूर्ख या पंडित (सम्यक्) शरीर छोड़ने पर उच्छिन्न हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं, मरनेके बाद (कोई) नहीं रहता। इस विषयमें विज्ञ-पुरुष ऐसे विचारता है—‘यह आप शास्ता इस वाद (= दृष्टि) वाले हैं—‘नहीं है दान०’। यदि इन आप शास्ताका वचन सत्य है, तो (पुण्य) दिया किये भी, देने कर लिया, (महाचर्य) बिना वास किये भी, वास कर लिया। इस प्रकार नास्तिक गुरु और मैं—हम दोनोंही यहाँ दरावर आमण्य (= संन्यास)को प्राप्त हैं। मैं नहीं कहता—(हम) दोनों काया लोक उच्छिन्न = विनष्ट होंगे, मरनेके बाद नहीं रह जावेंगे। (फिर) यह आप शास्ता की (यह) नम्रता, सुंठता, उकड़ू-तप (= उक्कुटिकापधार) केषा-हमधु-नोचना क्रान्त है। और जो मैं पुत्राकीर्णहो, घर (= शयन)में वास करते, काशीके चंदनका मजा लेते, भाला सुगंध-लेप धारण करते, सोना-चाँदीका रस लेते, मरने पर इन आप शास्ताके समान गति पाउँगा। सो मैं क्या समझ कर, क्या देख कर, इन (नास्तिक-वादी) शास्ताके पात्र महाचर्य पालन करूँ। (इस प्रकार) ‘यह अ-महाचर्य-वास है’ समझ, वह, उस महाचर्य (= साधन)से उदान हो, हट जाता है। यह सन्दक ! उन भगवान्ने प्रथम अ-महा-चर्य-वास कहा है, जिसमें विज्ञ-पुरुष ०।

(२) “और फिर सन्दक ! यहाँ एक शास्ता ऐसे वाद (= मत) वाला होता है—‘करते-

^१ देखो (अतिशयोक्तिपूर्ण) ।

^२ देखो (पूर्ण कारक) ।

करवाते, काटते-कटवाते, पकाते-पकवाते, शोक करते, परेसान करते, मरते-मराते, प्राण मारते, चोरी करते, सँच लगाते, गॉय छूटते, घर छूटते, रहजनी करते, पर-बी-गमन-करते, झूठ बोलते भी पाप नहीं किया जाता । तुरंसे तेज चक्र-द्वारा जो इस पृथिवीके प्राणियोंका (कोई) एक मांसका अलियाव, एक मांसका पुंज बनावे, तो इसके कारण उसे पाप नहीं होगा; पापका आगमन नहीं होगा । यदि घात करते-कराते, काटते-कटाते, पकाते-पकवाते, गंगाके दाहिने तीर पर भी जाये, तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं, पापका आगम नहीं होगा । दान देते दान दिलाते, यज्ञ करते यज्ञ कराते, गंगाके उत्तर तीर भी जाये, तो इसके कारण उसको पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं होता । दान, (इन्द्रिय) दम, संपन्न, सर्वोपन्न (= सब-वज्र) से पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं होता । सन्दक ! चित्त-पुरुष ऐसा विचारता है—यह आप शास्त्रा इस वाद = दृष्टि-वाले हैं—करते-करवाते ० । यदि इन आप शास्त्राका वचन सत्य है ० । तो हम दोनों ही बराबर आत्मन्य (= संन्यास) को प्राप्त हैं, “दोनोंहीके करते पाप नहीं किया जाता” । यह आप शास्त्राकी मप्रता ० । ० । यह सन्दक ! उन ० भगवान् ने द्वितीय अ-श्रद्धाचर्य-वाक्य कहा है ० ।

(३) “और फिर सन्दक ! यहाँ एक शास्त्रा ऐसे वाद (= दृष्टि) वाला होता है—“सत्त्वोंके संक्लेशका कोई हेतु = कोई प्रत्यय नहीं । बिना हेतु बिना प्रत्ययके प्राणी संक्लेश (= चित्त-जालिया) को प्राप्त होते हैं । प्राणियोंकी (चित्त-) विबुद्धिका कोई हेतु = प्रत्यय नहीं है । बिना हेतु = प्रत्ययके प्राणी विबुद्ध होते हैं । धल नहीं, (चाहिये), सीर्य नहीं पुरुषका स्वाम (= इच्छा) नहीं = पुरुष-पराक्रम नहीं (चाहिये), सभी सत्त्व = सभी प्राणी = सभी मृत = सभी जीव अ-वश = अ-यत्न = अ-वीर्य नियत (= भवितव्यता) के वशमें हो, उन्हीं अभिजातियोंसे सुख दुःख अनुभव करते हैं । ० यदि ० इन आप शास्त्राका वचन सत्य है ० । तो हम दोनों ही हेतु = प्रत्यय बिना ही कुछ हो जायेंगे । ० । यह सन्दक ! भगवान् ने तृतीय अ-श्रद्धाचर्य-वाक्य कहा है ० ।

(४) “और फिर सन्दक ! यहाँ एक शास्त्रा ऐसी दृष्टि-वाला होता है—“यह सात अकृत = अकृतविध = अनिर्मित = निर्माता-रहित, अवश्य = कृतव्य, सत्त्वमय (अवल) हैं; यह कल नहीं होते, विकारको प्राप्त नहीं होते, न एक दूसरेको हानि पहुँचाते हैं; न एक दूसरेके सुख, दुःख, या सुख-दुःखके लिये पर्वान हैं । कीनसे सात ?—पृथिवी-काय, आप-काय, तेज-काय, वायु-काय, सुख, दुःख और जीव—यह सात । यह सात काय अकृत ० सुख-दुःखके योग्य नहीं हैं । यहाँ न हन्ता (= मारनेवाला) है, न घातकता (= हनन करानेवाला), न सुननेवाला, न सुनानेवाला, न जाननेवाला न जतलानेवाला । जो तीक्ष्ण-शक्तिसे शीघ्र नो छेदते हैं, (तो भी) कोई किसीको प्राणले नहीं मारता । सातों कायोंसे अकृत, विवर (= आली जगह) में अकृत (= हथियार) गिरता है । यह प्रधान-योगि—चौदह सौ-हजार (दूसरी) साठ-सौ, ज्वालासठ-सौ, और पाँच सौ कर्म, और पाँच कर्म और तीन कर्म, (एक) कर्म, और जावा कर्म, वासठ प्रतिपद्, वासठ अन्तर-कल्प, छः अभिजाति, आठ पुरुषकी भूमियाँ, वंचास सौ जातीयक, वंचास सौ परित्राक, वंचास नागोंके आवास, बीससौ इन्द्रिय, बीससौ नरक, अस्मिन् रजो-वात, सात संज्ञावाद् गर्भ, सात जसंडी गर्भ, सात निर्जयी गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात सरोवर, सात गौड (= पसुट), सात प्रपात, सातसौ प्रपात, सात स्वप्न, सातसौ स्वप्न—(इनमें) चौरासी हजार महा-

१ देखो (मसल्लिगोसाक) ।

२ देखो (वक्रुष कायावन) ।

कर्मों तक दौड़कर = आध्यात्ममार्गमें पड़कर, मूर्ख और पण्डित (सभी) दुःखका अंत (= निवृत्ति-प्राप्ति) करेंगे । वहाँ (यह) नहीं है—इस सोल या घत, या तप, महाचर्यमें मैं अपरिपक्व कर्मको पचाऊँगा, परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त कहूँगा । सुख, दुःख, ज्ञान (-नाप)से नये तुले हुए हैं, संसारमें घटाया बढ़ाना, उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं होता । जैसे कि सूतकी मोली फेंकनेपर उड़ती हुई गिरती है, ऐसे ही मूर्ख (= बाल) और पण्डित दौड़ कर = आध्यात्ममार्गमें पड़ कर, दुःखका अंत करेंगे । ' वहाँ सन्दक ! बिज-गुरुप ऐसे विचारता है—यह आप शान्ता ऐसे वाद = दृष्टिवाले हैं ० । जैसे कि सूतकी मोली ० । यदि इन आप शान्ताका वचन सत्य है, तो विद्या किसे भी देने कर लिया । ० यह आप शान्ताकी वस्तुता ० । यह सन्दक ! उन ० भगवान् ने चतुर्थ अ-वज्ञाचर्य-वात कहा है ० ।

“सन्देह । इत - भगवान् ने यह कार ज-अच्छ-बास करे हैं ।”

"आश्चर्य ! भो ज्ञानन्द !! अद्भुत ! भो आनन्द !! तौ उग्र ० भगवान्ने यह पार लब्ध-
अर्थ-पार कहे हैं ० । किन्तु, भो ज्ञानन्द ! उन ० भगवान्ने फौनसे पार अनाद्वैतिक अक्षय्य
कहे हैं ० ।"

(१) 'सम्बद्ध ! यहाँ एक शास्त्रा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अशेष-ज्ञान-दर्शनवाला होनेका दावा करता है'—'चलते, धबके होये, सोते, जागते, सदा सर्वदा मुझे ज्ञान-दर्शन मौजूद (= प्रत्युपस्थित) रहता है ।' (तो भी) वह सुने घर में जाता है, (यहाँ) मित्रा भी नहीं पाता, कुत्तुन भी काट लाता है, चंद-हाथीसे भी सामना पड़ जाता है, चंद घोड़ेसे भी सामना पड़ जाता है, चंद बैलसे भी ० । (सर्वज्ञ होनेपर भी) श्री-गुरुओंके नाम-गोत्रको पूछता है । ग्राम-निगमका नाम और शास्त्रा पूछता है । (आप सर्वज्ञ होकर) यह क्या (पूछते हैं)—'पूछनेपर कहता है—'सुने घरमें हमारा जाना क्या था, इसलिये संधे । मित्रा न मिलीनी वदी थी, इसलिये न मिली । कुत्तुनका काटना क्या था ० । ० हाथीसे मिलना क्या था ० । ० यहाँ सम्बद्ध ! निज-गुरु यह सोचता है—यह आप शास्त्रा ० दावा करते हैं ० (तब) वह—'यह व्याख्यार्थ (= पंथ) अनास्थासिक (= भगवत्को संशोधन न देनेवाला) है'—यह ज्ञान, उस व्याख्यार्थसे उदात्त हो रह जाता है । यह सम्बद्ध ! उस ० भगवान्से प्रथम अनास्थासिक व्याख्यार्थ कहा है ० ।

(२) "और फिर सम्यक् ! यहाँ एक शाला आनुभविक = अनुभव (भुति) को सत्य माननेवाला होता है । ' (भुतिमें) ऐसा', ' (स्मृतिमें) ऐसा', परम्परासे, पिट कर्मप्रदाय (= श्रद्ध-प्रमाण) से, धर्मका उपदेश करता है । सम्यक् ! आनुभविक = अनुभवको सच मानने-वाले शास्त्राका अनुभव सुसुत (= ठीक सुना) भी हो सकता है, दुःखत भी; वैसा (= वचार्थ) भी हो सकता है, उल्टा भी हो सकता है । यहाँ सम्यक् ! विश्व-पुरुष यह सोचता है—यह आप शान्ता आनुभविक है ० । वह-यह मल्लवर्ग अनाध्यात्मिक है' ० । ० द्वितीय अनाध्यात्मिक ब्रह्मचर्य क्या है ० ।

(३) "और फिर सन्देह ! यहाँ एक वास्तव तार्किक = विमर्श होता है । वह तर्कसे = विमर्शसे प्राप्त, अपनी प्रतिभासे ज्ञात, धर्मका उपदेश करता है । सन्देह ! तार्किक = विमर्शक (= भीमाशय) वास्तवका (विचार) सुतर्कित भी हो सकता है, दुःसर्कित भी । वैसे (= वयार्थ) भी हो सकता है, उल्टा भी हो सकता है • । • । • । • तृतीय अनायासिक प्रत्यक्ष कहा है • ।

(४) “और फिर सन्दक ! यहाँ एक शास्ता’ सन्द = अति-मूढ़ (= मोसुह) होता है । वह सन्द होनेसे, अति-मूढ़ होनेसे जैसे जैसे प्रश्न पूछनेपर, वचनसे विशेषणों = अमरा-विशेषणों को प्राप्त होता है—‘ऐसा भी मेरा (मत) नहीं, वैसा (= तथा) भी मेरा नहीं, अन्यथा भी मेरा (मत) नहीं, नहीं भी मेरा (मत) नहीं, न—नहीं भी मेरा (मत) नहीं ।’ यहाँ सन्दक ! विज्ञ-पुरुष यह सोचता है ० । ० । ० । ० चतुर्थ अनायासिक ब्रह्मचर्य कहा है ० ।

“सन्दक ! उन ० भगवान् ने यह चार अनायासिक ब्रह्मचर्य कहे हैं ० ।”

“आश्चर्य ! मो आनन्द !! अद्भुत ! मो आनन्द !! जो यह उन ० भगवान् ने चार अनायासिक ब्रह्मचर्य कहे हैं ० । किन्तु मो आनन्द ! वह शास्त्रा किस वाद् = किस दृष्टिवात्ता होना चाहिये, जहाँ विज्ञ-पुरुष स्व-वाक्तिमर ब्रह्मचर्य-वास करें, वात कर न्याप = कुशल-धर्मकी आराधना करें ० ।”

“सन्दक ! यहाँ तथागत लोकमें उत्पन्न होते हैं ० । उस धर्मको गृहपति या गृहपति-पुत्र सुनता है ० । वह संशयको छोड़ संशय-रहित होता है । वह इन पाँच नीवरणोंको हटा चित्तके दुर्बल करनेवाले उपप्लेक्षों (= चित्तमल्लों) को जान, कामोंसे अलग हो, अकुशल-धर्मोंसे अलग हो, प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । सन्दक ! जिस शास्त्राके पास आत्मक इस प्रकारके धर्मे (= उदार) विशेषणों पावे, वहाँ विज्ञ-पुरुष स्व-वाक्तिमर ब्रह्मचर्य-वास करे ० ।

“और फिर सन्दक ! ० द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है ० । ० । ० । ० तृतीय-ध्यान ० । ० । ० चतुर्थ-ध्यान ० । ० । ० १ पूर्वजन्मोंको स्मरण करता है ० । ० । ० कर्मांतुसार जन्मते सर्वोंको जानता है ० । ० । ० ‘अब यहाँ दूसरा कुछ करना नहीं रहा’—जानता है ० । ० । ०”

“मो आनन्द ! वह जो भिक्षु ० अर्हत् (= मुक्त) है, क्या वह कामोंका भोग करेगा ?”

“सन्दक ! जो वह भिक्षु ० अर्हत् है, वह (इर) पाँच बातोंमें असमर्थ है । क्षीण-आत्म्य (= अर्हत्, मुक्त) भिक्षु (१) जानकर प्राण नहीं डार सकता । (२) चोरी नहीं कर सकता । (३) मैथुन सेवन नहीं कर सकता । (४) जानकर शठ नहीं बोल सकता । (५) क्षीणात्म्य भिक्षु एकपित कर (अन्न पान आदि,) काम-भोगोंको भोगकरनेके अयोग्य है, जैसे कि वह पहिले गृही होते भोगता था । ० ।”

“मो आनन्द ! जो वह अर्हत् = क्षीणात्म्य भिक्षु है, क्या उसे चलते-बैठते, सोते-जागते निरन्तर... (यह) ज्ञान दर्शन मौजूद रहता है—‘मेरे आत्म्य (= चित्तमल) क्षीण होगये ।’

“तो सन्दक ! तेरे लिये एक उपमा देता हूँ । उपमासे भी कोई कोई विज्ञ-पुरुष कहनेका मतलब समझ लेते हैं । सन्दक ! जैसे पुरुषके हाथ-पैर कटे हों, उसको चलते-बैठते, सोते-जागते निरन्तर (होता है), मेरे हाथ-पैर कटे हैं । इसी प्रकार सन्दक ! जो वह अर्हत् = क्षीणात्म्य भिक्षु है, उसके ० निरन्तर... आत्म्य क्षीण ही है, वह उसकी प्रत्यवेक्षा करके जानता है—‘मेरे-आत्म्य क्षीण है ।’

“मो आनन्द ! इस धर्म-विनय (= धर्म) में कितने मारी-दर्शक (= विर्याता) हैं ?”

“सन्दक ! एक सौ ही नहीं, दो सौ ही नहीं, तीन सौ ०, चार सौ ०, पाँच सौ ०, बकि और भी अधिक विर्याता इस धर्म-विनयमें हैं ।”

“आश्चर्य ! मो आनन्द !! अद्भुत ! मो आनन्द !! न अपने धर्मका उत्कर्ष (= तारीफ) करना, न पर-धर्मकी निन्दा करना, (टीक) जगह (= आपतन) पर धर्म उपदेशना !! इतने अधिक

सर्व-दर्शक मान पड़ते !! यह आजीवन पूत-मरीचे पूत ही अपनी बड़ाई करते हैं। तीनको ही भर्मा-दर्शक (= निर्याता) बतलाते हैं, जैसेकि—नन्द वात्स्य, कृश सांठन्य और मन्मथली मोसाल ।”

तब सन्दक परिवाराजने अपनी परिपदको संबोधित किया—

“आप सब अमल गौतमके पास अज्ञान-व्य-वास करें। हमारे लिये तो काम-अन्तकार प्रशंसा होना, इस जगत् सुकर नहीं है।”

ऐसे सन्दक परिवाराजने अपनी परिपदको भगवान्‌के पास अज्ञान-व्य-वास करनेके लिये प्रेरित किया ।

७७—महा-सकुलुदायि-सुत्तन्त (२।३।७)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलन्दक-निवापमें विहार करते थे। उस समय बहुतसे प्रसिद्ध-प्रसिद्ध (= अभिज्ञात) परिव्राजक मोर-निवाप परिव्राजकाराममें वास करते थे, जैसे कि—अनुगार-वरचर और सकुल-उदायी परिव्राजक तथा दूसरे अभिज्ञात अभिज्ञात परिव्राजक।

तब भगवान् पूर्वाह्न-समय पहिनकर पात्र-चीवर ले, राजगृहमें पिंड-चारके लिये प्रविष्ट हुये। भगवान्को यह हुआ—“राजगृहमें पिंड-चारके लिये अभी बहुत सबेरा है, क्यों न मैं जहाँ मोर-निवाप परिव्राजकाराम है, जहाँ सकुल-उदायी परिव्राजक है, वहाँ चूँ।” तब भगवान् जहाँ मोर-निवाप परिव्राजकाराम था, वहाँ गये। उस समय सकुल-उदायी परिव्राजक ०^१ बहुत भारी परिव्राजक-परिपक्षके साथ बैठा था। सकुल-उदायी परिव्राजकने तुरसे ही भगवान्को आते ऐसा। देखकर अपनी परिपक्षसे कहा—०।

भगवान् जहाँ सकुल-उदायी परिव्राजक था, वहाँ गये। सकुल-उदायी परिव्राजकने भगवान्से कहा—

“आइये भन्ते ! भगवान् ! स्वागत है, भन्ते ! भगवान् ! चिरकालवाद भगवान् वहाँ आये। भन्ते ! भगवान् ! बैठिये, यह आसन विद्या है।”

भगवान् बिठे आसनपर बैठे। सकुल-उदायी परिव्राजक भी एक नीचा आसन लेकर, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठ सकुल-उदायी परिव्राजकसे भगवान्ने कहा :—

“उदायी ! किस कथामें बैठे थे, क्या कथा बीचमें हो रही थी ?”

“जाने होजिये, भन्ते ! इस कथाको, जिस कथामें हम इस समय बैठे थे। ऐसी कथा भन्ते ! आपको पाँडे भी सुननी दुर्लभ न होगी। पिछले दिनों भन्ते ! कुतूहल-शालामें बैठे, एकत्रित हुए, नावा तीर्थी (= पन्थों) के श्रमण-ब्राह्मणोंके बीचमें यह कथा उत्पन्न हुई। अङ्ग-भगवार्थका लाभ है, अङ्ग-भगवार्थको अच्छा ज्ञान जिज्ञा, जहाँपर कि राजगृहमें (ऐसे २) संघपति = गणो = गणाचार्य ज्ञात = यशस्वी बहुतजनोंसे सुसम्मानित, तीर्थंकर (= पंच-स्थापक) वर्षावासके लिये आये हैं। वह पूर्णकाश्यप संघो, गणी, गणाचार्य, ज्ञात, यशस्वी बहुतजन-सुसम्मानित तीर्थंकर हैं, सो भी राजगृहमें वर्षावासके लिये आये हैं। ० वह मक्खली गोसाल ०। ० अजित केश-कम्बली ०। ० प्रक्रुध कात्यायन ०। ० संजय बेलट्टि-पुत्त ०। ० निगंठ नातपुत्त ०। वह श्रमण गौतम भी संघो ०। वह भी राजगृहमें वर्षावासके लिये

^१ ऐसी ५४ २९९।

जाये है। इन संघी ० भगवान् अमण आश्रमोंमें कौन आश्रमों (= शिष्यों) से (अधिक) सन्तुष्ट = गुरुकृत = मानित = पूजित है ? किसको आश्रम सत्कार, गौरव, मान, पूजा कर विहरते हैं ?

“वहाँ किसीने ऐसा कहा—यह जो पूर्ण काश्यप संघी ० हैं, ० सो आश्रमोंसे न सन्तुष्ट ० न पूजित हैं। पूर्ण काश्यपको आश्रम सत्कार, गौरव, मान पूजा करके नहीं विहरते। पहिले (एक समय) पूर्ण काश्यप अनेक-सौकी समाको धर्म उपदेश कर रहे थे। वहाँ पूर्ण काश्यपके एक आश्रमके शब्द किया—‘आप लोग इस बातको पूर्ण काश्यपसे मत पूछें। यह हमें नहीं जानते। हम इसे जानते हैं। हमें यह बात पड़े ! हम इसे आप लोगोंको बतलायेंगे।’ उस वक्त पूर्ण काश्यप बौद्ध पकव कर, बिठाते थे—‘आप सब चुप रहें, शब्द मत करें। यह लोग आप सबसे बड़ी पूजते। हमसे..... पूछते हैं। हम इन्हें बतलायेंगे।’—(किन्तु) नहीं (चुप करा) पाते थे। पूर्ण काश्यपके बहुतसे आश्रम विवाद करके निकल गये—‘तू इस धर्म-विनयको नहीं जानता, मैं इस धर्म-विनयको जानता हूँ।’ ‘तू क्या इस धर्मको जानेगा ?’ ‘तू मिथ्या-आकाश है, मैं सत्य-आकाश (= सम्यक्-प्रतिपक्ष) हूँ।’ ‘तेरा (ध्वज) सहित (= मार्ग) है, तेरा ज-सहित है।’ ‘पहिले बड़मेकी (बात तुने) पीछे कही, पीछे कहनेकी (बात) पहिले कही।’ ‘म किये (= अविचीर्ण) को तुने डकड़ दिया।’ ‘तेरा बाद निग्रहमें जागया।’ ‘याद छोवानेके लिये (यत्न) कर।’ ‘यदि सकता है तो खोल ले।’ इस प्रकार पूर्ण काश्यप आश्रमोंसे न सन्तुष्ट ० न पूजित हैं ०। यन्कि पूर्ण काश्यप समाकी धिक्कार (= चमत्कार) से धिक्कार गये हैं।

‘किसी किसीने कहा—यह अमण गौतम संघी ० भी आश्रमोंसे न सन्तुष्ट ० न पूजित हैं ०। ०। ०। ०। यह अजित केश-धन्यवती ० भी ०। ०। ०। यह प्रकुप कात्यायन ० भी ०। ०। ०। यह संजय वेण-द्विदुत ० भी ०। ०। ०। यह निगंड नास्तुत ० भी ०। ०। ०।

‘किसी किसीने कहा—यह अमण गौतम संघी ० हैं। और यह आश्रमोंसे ० पूजित हैं। अमण-गौतमका आश्रम सत्कार = गौरवकर, आलस्य ले, विहरते हैं। पहिले एक समय अमण गौतम अनेक सौकी समाको धर्म उपदेश कर रहे थे। वहाँ अमण गौतमके एक शिष्यने खीसा। दूसरे समझवारी (= गुरुभाई) ने ऊतका पैर दबाया—‘आयुष्मान् ! चुप रहें, आयुष्मान् ! शब्द मत करें। शास्त्रा हमें धर्म-उपदेश कर रहे हैं।’ जिस समय अमण गौतम अनेकशत परिषद्को धर्म उपदेश देते हैं, उस समय अमण गौतम आश्रमोंका शूकने खीसनेका (भी) शब्द नहीं होता। उनकी जनता प्रशंसा करती, प्रत्युत्थान करती है—‘जो हमें भगवान् धर्म उपदेश करेंगे, उसे सुनेंगे।’ अमण गौतमके जो आश्रम समझचारियोंके साथ विवाद करके (भिक्षु) शिक्षा (= नियम) को छोप, हीन (गृहस्थ-आश्रम) को लौट जाते हैं, वह भी शास्त्राके प्रशंसक होते हैं, धर्मके प्रशंसक होते हैं, संघके प्रशंसक होते हैं। दूसरेकी नहीं, अपनी ही निन्दा करते हैं—‘हम ही... मायहीन हैं, जो कि ऐसे स्वाभावत धर्ममें प्रयोजित हो, परिपूर्ण परिशुद्ध महाचर्यको जीवन भर पावन नहीं कर सके’, (और) वह आराम-सेवक (= नारायिक) हो या गृहस्थ (= उपपासक) हो, पाँच शिक्षापर्यको ग्रहण कर रहते हैं। इस प्रकार अमण गौतम आश्रमोंसे ० पूजित हैं। अमण गौतमको आश्रम सत्कार = गौरव कर, आलस्य ले विहरते हैं।”

“उवाची ! तू किन किन कितने प्रभोंको देखता है, जिनसे मुझे आश्रम ० पूजते हैं ० ?”

“अन्ते ! भगवान् मैं पाँच धर्मोंको देखता हूँ, जिनसे भगवान्को आश्रम ० पूजते हैं ०। कौनसे पाँच हैं—अन्ते ! भगवान् (१) अवपाहारी अवपाहारके प्रशंसक हैं, जो कि अन्ते ! भगवान्

अवपाहारी, अवपाहार-प्रशंसक हैं; इसको मैं भन्ते ! भगवान् में प्रथम धर्म देखता हूँ, जिससे भगवान् को आवक ० । ० (२) जैसे तैसे चीवर (= वस्त्र) से सन्तुष्ट रहते हैं, जैसे तैसे चीवरसे सन्तुष्टाके प्रशंसक ० । ० (३) जैसे तैसे पिंडपात (= भिक्षाभोजन) से सन्तुष्ट ०, ० सन्तुष्टता-प्रशंसक ० । ० (४) ० शयनासन (= घर, बिस्तरा) से सन्तुष्ट, ० सन्तुष्टता-प्रशंसक ० । ० (५) ० एकान्तवासी, ० एकान्त-वास-प्रशंसक ० भन्ते ! भगवान् मैं इन पाँच धर्मों को देखता हूँ ० । "

"उदायी ! 'क्षमण गौतम अवपाहारी, अवपाहार-प्रशंसक हैं' इससे यदि मुझे आवक ० पूजते, ० आलम्ब ले विहरते; तो उदायी ! मेरे आवक कोटक (= पुट्टा) भर आहार करनेवाले, कर्द-कोटक आहारी, घाँस (= घाँस काटकर बनाया छोटा घसन) भर आहार करनेवाले, आधा-घाँस-आहारी भी हैं । मैं उदायी ! कभी कभी इस पात्रभर खाता हूँ, अधिक भी खाता हूँ । यदि ' ० अवपाहारी, अवपाहार-प्रशंसक हैं' इससे ० पूजते ० तो उदायी ! जो मेरे आवक ० आधा-घाँस आहारी हैं, वह मुझे इस धर्मसे न सम्कार करते ० ।

"उदायी ! ' ० जैसे तैसे चीवरसे सन्तुष्ट ० सन्तुष्टता-प्रशंसक ० ' इससे यदि मुझे आवक ० पूजते ०; तो उदायी ! मेरे आवक पाँच-मूलिक = रक्षा चीवर-धारी भी हैं—वह श्मशानसे कूड़ेके ढेरसे कटे-चीबड़े घटोकर संघाटी (= भिक्षुका ऊपरका दोहरा वस्त्र) बना, धारण करते हैं । मैं उदायी ! किसी किसी समय दण्ड शब्द-रुद्ध, लौका जैसे रोमवाले (= मधुमती) गृहपतिवांछि दिये वस्त्रों भी धारण करता हूँ । ० ।

"उदायी ! ' ० जैसे तैसे पिंड-पातसे सन्तुष्ट, ० सन्तुष्टता-प्रशंसक ० ' इससे यदि मुझे आवक ० पूजते ०; तो उदायी ! मेरे आवक पिंड-पातिक (= भिक्षुकी-वाले), सपदानधारी (= चिरन्तर चलते रह, भिक्षा माँगनेवाले) टंड-घटमें रत भी हैं—वह गाँवमें आत्मनके लिये निमंत्रित होनेपर भी, (निमन्त्रण) नहीं स्वीकार करते । मैं तो उदायी ! कभी कभी निमन्त्रणोंमें घामका भात, फातिमा-रहित अनेक सुप, अनेक व्यञ्जन (= तर्कारी) भी भोजन करता हूँ । ० ।

"उदायी ! ' ० जैसे तैसे शयनासनसे सन्तुष्ट, ० सन्तुष्टता-प्रशंसक ० ' इससे यदि मुझे आवक ० पूजते ०; तो उदायी ! मेरे आवक पृष्ठ-मूलिक (= कूड़ेके भीचे सदा रहनेवाले), अध्मोकासिक (= अध्वकाशिक = सदा चीबेमें रहनेवाले) भी हैं, वह आठ मास (वर्षोंके चार मास छोड़) छतके नीचे नहीं आते । मैं तो उदायी ! कभी कभी लिये-पोले वासु-रहित, कितान-खिलकी-बन्द फोटों (= कूटागारों) में भी विहरता हूँ । ० ।

"उदायी ! ' ० एकान्तवासी एकान्तवास-प्रशंसक हैं ० ' इससे यदि ० पूजते; तो उदायी ! मेरे आवक आरण्यक (= सदा अरण्यमें रहनेवाले), प्रान्त-शयनासन (= घलीसे दूर कुटीवाले) हैं; (वह) अरण्यमें वनप्रस्थ = प्रान्तके शयनासनोंमें रह कर विहरते हैं । वह प्रत्येक अर्द्धमास प्रातिमोक्ष-उद्देश (= अपराध-स्वीकार) के लिये, सङ्घके मध्यमें आते हैं । मैं तो उदायी ! कभी कभी भिक्षुओं, भिक्षुणियों, उपासकों, उपासिकाओं, राजा, राज-महामात्यों, तैर्थिकों, तैर्थिक-आयकाले आकीर्ण हो विहरता हूँ । ० । इस प्रकार उदायी ! मुझे आवक इन पाँच धर्मोंसे नहीं ० पूजते ० ।

"उदायी दूसरे पाँच धर्म हैं, जिनसे आवक मुझे ० पूजते हैं ० । कौनसे पाँच ?—यहाँ उदायी ! (१) आवक मेरे शील (= आचार) से सम्मान करते हैं—प्रमण गौतम शीलवान् हैं, परम शील-स्कन्ध (= आचार-समुदाय) से संयुक्त हैं । जो कि उदायी ! आवक मेरे शीलमें विचार करते हैं—०; वह उदायी ! प्रथम धर्म है, जिससे ० ।

"और फिर उदायी ! (२) आवक मुझे अमिकान्त (= सुन्दर) ज्ञान-दर्शन (= ज्ञान

का भगसे प्रत्यक्ष करने)ने सम्मानित करते हैं—जानकर ही भ्रमण गौतम कहते हैं—‘जानता हूँ’ । देखकर ही भ्रमण गौतम कहते हैं—‘देखता हूँ’ । अनुभवकर (= अभिज्ञाय) ही भ्रमण गौतम धर्म उपदेश करते हैं, बिना अनुभव किये नहीं । स-निदान (= कारण-रहित) भ्रमण गौतम धर्म उपदेश करते हैं, स-निदान नहीं । स-प्रातिहार्य (= सकारण) , स-प्रतिहार्य नहीं । ० ।

“और फिर उदायी ! (३) आक सुखे प्रज्ञासे सम्मानित करते हैं—भ्रमण गौतम परम-प्रज्ञा-सर्वथ (= उत्तम-ज्ञान-समुदाय)से युक्त हैं । उनके लिये ‘अनागत (= भविष्य)के वाद-विवादका मार्ग अन्-देखा है, (वह वर्तमानमें) उत्पन्न दुःखके प्रवाद (= सर्वत्र)को धर्मके साथ न रोक सकेंगे’ यह समझ नहीं । तो क्या मानते हो उदायी ! क्या मेरे आक ऐसा जानते हुये ऐसा देखते हुये, बीच बीचमें बात टोकेंगे ?”

“नहीं, भन्ते !”

“उदायी ! मैं आकको अनुशासनकी आकांक्षा नहीं रखता, बल्कि आक मेरे ही अनु-शासनको दोहराते हैं । ० ।

“और फिर उदायी ! (४) दुःखसे उत्तर्ण, विगत-दुःख हो, आक, सुखे आकर, दुःख कार्य-तत्त्वको पूछते हैं । पूछे जाने पर उनको मैं दुःख कार्य-तत्त्व व्याख्यान करता हूँ । प्रश्नके उत्तरसे मैं उनके चित्तको समुद्र करता हूँ । वह आकर सुखे दुःख-समुद्ध्य कार्य-तत्त्व पूछते हैं ० । ० दुःख-निरोध ० । ० दुःख-निरोध-नामिनी-प्रतिपद् कार्य-तत्त्व पूछते हैं ० । ० ।

“और फिर उदायी ! (५) मैंने आकको प्रतिपद् (= मार्ग) बतला दी है । जिस पर आक हो आक चारों स्मृति-प्रस्थानोंकी भावना करते हैं—भिन्नु क्षायमं कापातुपक्षी हो विहरते हैं ० । ० वेदगतुपक्षी ० । ० चित्ततुपक्षी ०, चर्ममें धर्मकी अनुपपन्ना (= अनु-भव) करते, तत्पर, स्मृति-सम्यग्जन्म युक्त हो, दोह = दौर्मनस्यको हटा कर छोड़में विहरते हैं । जिसमें बहुतसे मेरे आक अभिज्ञा-स्वयमान-प्राप्त = अभिज्ञा-पारमिता-प्राप्त (= अर्हत्-पद्-प्राप्त) हो विहरते हैं ।

“और फिर उदायी ! मैंने आकको (वह) प्रतिपद् बतला दी है, जिस पर आक हो मेरे आक चारों सम्यक्-प्रधानोंकी भावना करते हैं । उदायी ! भिन्नु, (१) (वर्तमानमें) अद्-उत्पन्न पाप = अ-कुशल (= दुःखे) धर्माको न उत्पन्न होने देनेके लिये, छन्द (= रुचि) उत्पन्न करते हैं, कोशिश करते हैं = वीर्य-आरम्भ करते हैं, चित्तको निग्रह = प्रधान करते हैं । (२) उत्पन्न पाप = अ-कुशल-धर्मके विनाशके लिये ० । (३) अनुत्पन्न कुशल-धर्मको उत्पन्निके लिये ० । (४) उत्पन्न कुशल-धर्मकी स्थिति = अतस्मोप, वृद्धि = विपुलताके लिये, आचमन-पूर्ण कर छन्द उत्पन्न करते हैं ० । यहाँ भी बहुतसे मेरे आक (अर्हत्-पद्) प्राप्त हैं ।

“और फिर उदायी ! मैंने आकको प्रतिपद् बतला दी है, जिस पर आक हो मेरे आक चारों कज्जि-पादोंकी भावना करते हैं । यहाँ उदायी ! भिन्नु (१) छन्द-समाधि-प्रधान-संस्कार-युक्त कज्जि-पादोंकी भावना करते हैं । (२) वीर्य-समाधि-प्रधान-संस्कार-युक्त कज्जि-पादोंकी भावना करते हैं । (३) चित्त-समाधि ० । (४) विमर्ष-समाधि ० । यहाँ भी ० ।

“और फिर उदायी ! ० जिस पर आक हो मेरे आक पाँच इन्द्रियोंकी भावना करते हैं । उदायी ! यहाँ भिन्नु (१) उपजन्म = सम्बोधिकी ओर जानेवाली, अन्धा-इन्द्रियकी भावना

करते हैं । (२) वीर्य-इन्द्रिय ०, (३) स्मृति-इन्द्रिय ० (४) समाधि-इन्द्रिय ० । ० ।

“ ० । ० पाँच बलोंकी भावना करते हैं ।—० ब्रह्मबल ०, वीर्य-बल ०, स्मृति-बल ०, समाधि-बल ०, प्रज्ञाबल ० ।

“ ० । ० सात बोधि-अंगोंकी भावना करते हैं ।—यहाँ उदायी ! भिक्षु विवेक-आश्रित, विराग-आश्रित, विरोध-आश्रित व्यक्तसर्ग-कलबाले (१) स्मृति-सम्बोधि-अंगकी भावना करते हैं, ० (२) धर्म-विचय-सम्बोध्यंगकी भावना करते हैं । ० (३) वीर्य-सम्बोध्यंग ० । (४) प्रीति-सम्बोध्यंग ० । ० (५) प्रसन्न-सम्बोध्यंग ० । ० (६) समाधि-सम्बोध्यंग ० । ० (७) उपेक्षा-सम्बोध्यंग ० । ० ।

“ और फिर ० आर्य अष्टांगिक मार्गकी भावना करते हैं । उदायी ! यहाँ भिक्षु (१) सम्यग्-दृष्टिकी भावना करते हैं । ० (२) सम्यक्-संक्रय ० । ० (३) सम्यग्-वाक् ० (४) ० सम्यक्-कर्मन्त ० । ० (५) सम्यग्-आजीव ० । ० (६) सम्यग्-व्यायाम ० । ० (७) सम्यक्-स्मृति ० । (८) सम्यक्-समाधि ० । ० ।

“ आठ विमोक्षोंकी भावना करते हैं । (१) रूपी (= रूपबाला) रूपोंको देखते हैं, यह प्रथम विमोक्ष है । (२) शरीरके भीतर (= जघ्मात्म) अ-रूप-संज्ञी (= रूप नहीं है)—के ज्ञान वाले), बाहर रूपोंको देखते हैं ० । (३) शुभ हो अभिभूत (= सुख) होते हैं ० । (४) सर्वथा रूप-संज्ञा (= रूपके ब्याल)को अतिक्रमण कर, प्रतिहिंसाके ब्यालके लुप्त होनेसे, नाना-पदके ब्यालको समझ न करनेसे ‘आकाश अनन्त है’ इस आकाश-ज्ञानन्यायतनको प्राप्त हो विहरते हैं ० । (५) सर्वथा आकाशानन्तवाचनको अतिक्रमण कर ‘विज्ञान (= चेतना) अनन्त है’ इस विज्ञान-आनन्द-वाचनको प्राप्त हो विहरते हैं ० । (६) सर्वथा विज्ञानानन्तवाचनको अतिक्रमण कर ‘कुछ नहीं है’—इस आर्किचन्द्र-वाचनको प्राप्त हो ० । (७) सर्वथा आर्किचन्द्र-वाचनको अतिक्रमण कर, नैवसंज्ञा-न-असंज्ञा-वाचन (= जिस समाधिका आभास न चेतना हो कहा जा सकता है, न अचेतना हो)को प्राप्त हो ० । (८) सर्वथा नैव-संज्ञाना-संज्ञावाचनको अतिक्रमण कर प्रज्ञा-वेदित-विरोध (पञ्चावेदित-विरोध)को प्राप्त हो विहरते हैं, यह आठवाँ विमोक्ष है । इससे और इसमें मेरे बहुतसे आश्चर्य (सहैव-पद प्राप्त हैं) ।

“ और फिर उदायी ! ० आठ अभिभू-आयतनोंकी भावना करते हैं । (१) एक (भिक्षु) शरीरके भीतर (= जघ्मात्म) रूपका ब्यालबाला (= रूपसंज्ञी), बाहर सु-वर्ण दुर्बर्ण भुव-रूपों को देखता है । उन्हें अभिभूत कर विहरता है, यह प्रथम अभिभाव्यतन है । (२) जघ्मात्ममें रूप-संज्ञी, बाहर सु-वर्ण, दुर्बर्ण अ-प्रमाण (= बहुत भारी) रूपोंको देखता है । ‘उन्हें अभिभूत-कर जानता हूँ, देखता हूँ’—इस ब्यालबाला होता है । ० । (३) जघ्मात्ममें अ-रूप-संज्ञी (= ‘रूप नहीं है’ इस ब्यालबाला), बाहर सुवर्ण दुर्बर्ण भुव-रूपोंको देखता है—० । (४) जघ्मात्ममें अरूप-संज्ञी, बाहर सुवर्ण दुर्बर्ण अ-प्रमाण रूपोंको देखता है—० । (५) जघ्मात्ममें अरूप-संज्ञी बाहर नील — नीलवर्ण = नील-निदर्शन = नील-निभास रूपोंको देखता है । जैसेकि अलसीका कूल नील = नील-वर्ण = नील-निदर्शन = नील-निभास, जैसेकि दोनों ओरसे विद्युत् (कोमल, चिकना) नील ०^१ बनारसी (वाराणसेयक) वस्त्र; ऐसीही जघ्मात्ममें अरूप-संज्ञी एक (भिक्षु) बाहर नील ० रूपोंको देखता है—‘उनको अभिभूतकर जानता हूँ देखता हूँ’ इसे जानता है ० । (६)

^१ ल. क. “वही (बनारसमें) कपास की कोमल, सूतकापनेवाली तथा जुलहे की चतुर, जल की धु-वि-दिग्ध (है) । वहाँका वस्त्र दोनों ही ओरसे” कोमल और रम्य होता है ।

अध्यात्ममें अरूप-संज्ञी एक (भिक्षु) बाहर पीत (= पीला) = पीतवर्ण पीत-निदर्शन = पीत-निभास रूपोंको देखता है । जैसेकि पीत • कर्णिकारका फूल या जैसे वह • पीत • वनासी वन • । • । (०) अध्यात्ममें अरूप-संज्ञी (पुरुष) लोहित (= लाल) = लोहितवर्ण = लोहित-निदर्शन = लोहित-निभास रूपोंको देखता है । जैसेकि लोहित • वंजुवोवक (= जेड्डुल) का फूल, या जैसे लाल • वनासी वन • । • । (८) अध्यात्ममें अरूप-संज्ञी • अवदात (= लवङ्ग) • रूपोंको देखता है । जैसेकि अवदात • छुट्ठारा (= ओलवा-तारका), या जैसेकि सफेद • वनासी वन • । • ।

“और फिर उदायी ! • इस कृत्स्न-आयतन (= कस्मिन्नायतन) की भावना करते हैं । (१) एक पुरुष ऊपर, नीचे, तिष्ठे, अद्वितीय, अप्रमाण पृथ्वी-कृत्स्न (= पृथ्वी-कस्मिन् = सारी पृथिवी ही) जानता है । (२) • आप-कृत्स्न (= सारा पानी) • । (३) • तेज-कृत्स्न (= सारा तेज) • । (४) • • वायु-कृत्स्न (= सारी हवा ही) • । (५) • बीज-कृत्स्न (= सारा बीज-रस) • । (६) • पीत-कृत्स्न • । (७) लोहित-कृत्स्न • । (८) • अवदात-कृत्स्न (= सारा सफेद) • । (९) • आकाश-कृत्स्न • । (१०) • विज्ञान-कृत्स्न (= चेतनामय, चिन्मात्र) • ।

“और फिर उदायी ! • चार ध्यानोकी भावना करते हैं । उदायी ! भिक्षु, कामोंसे अलग हो, अकुपल धर्मो (= धुरी धातों) से अलग हो चित्त-विचार-सहित विवेकसे उत्पन्न प्रीति-सुख-रूप प्रथम-ध्यान^१ को प्राप्त हो विहरता है । वह इसी कायाको, विवेकसे उत्पन्न प्रीति-सुख-द्वारा प्राप्ति, परिप्राप्ति करता है, परिपूर्ण = परित्पन्न करता है । (उसको) इस सारी कायाका कुछ भी (अंश) विवेक-ज प्रीति सुखसे अछूता नहीं होता । जैसे कि उदायी ! दल (= अतुर) नहापित (= नहलानेवाला), या नहापितका चेला (= अन्तःवासी) कौंसके घातमें स्नानीय-पूर्णको घातकर, पानी सुखा सुखा हिलावे । सो इसकी नहान-पिंडी शुभ (= सख्खता)-अनुगत, शुभ-परिगत शुभसे अन्दर-बाहर क्लिप्त हो पिघलती है । ऐसे ही उदायी ! भिक्षु इसी कायाको विवेक-ज प्रीति सुखसे प्राप्ति प्राप्ति करता है, परिपूर्ण = परित्पन्न करता है । • ।

“और फिर उदायी ! भिक्षु चित्त-विचारोंके उपशान्त होनेसे • ^१ द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह इसी कायाको समाधिज प्रीति-सुखसे प्राप्ति = आप्राप्ति करता है • । जैसे उदायी ! पाताल कोवकर निक्कल पानीका वह हो । उसके न पूर्व-दिशामें पानीके जानेका मार्ग हो, न पश्चिम-दिशामें, न उत्तर-दिशामें, न दक्षिण-दिशामें • । देव भी समय समयपर अच्छी तरह पार न करवावे, तो भी उस पानीके वह (= उदक-इद) से जीतल धारिधारा कूटकर उस उदक-इदको जीतल जलसे प्राप्ति, आप्राप्ति करे, परिपूर्ण-परित्पन्न करे, इस लिये उदक-इदका कुछ भी (अंश) जीतल जलसे अछूता न हो । ऐसे उदायी ! इसी कायाको समाधिज प्रीति-सुखसे • ।

“और फिर उदायी ! भिक्षु • ^१ तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह इसी कायाको निष्प्रोक्तिक (= प्रीति-रहित) सुखसे प्राप्ति • करता है • । जैसे उदायी ! उत्पत्तिनी (= उत्पल-सङ्गह), पण्डिनी, पुण्डरीकिनीमें, कोई कोई उत्पल, पद्म, पुण्डरीक, पानीमें उत्पल, पानीमें बने, पानीसे (बाहर) न निकले, भीतर हूबेही पोषित, मूलसे शिखा तक शीतल जलसे

झावित * होते हैं * । ऐसे ही उदायी ! भिक्षु इसी कायाको विष्प्रीतिक * ।

“और फिर उदायी ! * चतुर्थे ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह इसी कायाको, परिशुद्ध = परि-अवदात चित्तसे झावित कर बैठा होता है । * । जैसे कि उदायी ! पुरुष अवदात (= श्वेत)-वस्त्रसे शिर तक कपेट कर बैठा हो । उसकी भारी कायाका कुछ भी (भाग) श्वेत वस्त्रसे अनाच्छादित न हो । ऐसे ही उदायी ! भिक्षु इसी कायाको * । वहाँ भी मेरे बहुतसे श्रावक अभिज्ञा-अवसान-प्राप्त, अभिज्ञा-पारमि-प्राप्त हैं ।

“और फिर उदायी ! मैंने श्रावकोंको वह मार्ग बतला दिया है, जिस (मार्ग-) पर आरुढ़ हो, मेरे श्रावक ऐसा जाग्रते हैं—यह मेरा शरीर रूपवान्, चातुर्माहाभुतिक, माता-पितासे उत्पन्न, भात-दाहसे ज्वा, अनित्य = उच्छेद = परिमर्दन = भेदन = विष्वंसन धर्मवाला है । यह मेरा विज्ञान (= चेतना) यहाँ वैषा = प्रतिबद्ध है । जैसे उदायी ! शुभ्र उत्तम जातिकी, लठ्ठकीनी, सुन्दर पालिशकी (= सुपरिकर्मकृत), स्वच्छ = विप्रसन्न, सर्व-आकार-युक्त वैतूर्व-मणि (= हीरा) हो । इसमें नील, पीत, लोहित, अवदात या पाँहु सूत पिरोया हो । उसको आँखवाला पुरुष हाथमें लेकर देखे—‘यह शुभ्र * वैतूर्व-मणि है, * सूत पिरोया है’ । ऐसे ही उदायी ! मैंने * बतला दिया है * । वहाँ भी मेरे बहुतसे श्रावक * ।

“और फिर उदायी ! * मार्ग बतला दिया है, जिस मार्गपर आरुढ़ हो मेरे श्रावक, इस कायासे रूपवान् (= साकार), मनोमय, सर्वांग-प्रत्यंग-युक्त अलंकित-इन्द्रियोयुक्त दूसरी कायाको निर्माण करते हैं । जैसे उदायी ! पुरुष मूँजमेंसे सींक निकाले । उसको ऐसा हो—‘यह मूँज है, यह सींक । मूँज अलग है, सींक अलग है । मूँजसे ही सींक निकली है ।’ जैसे कि उदायी ! पुरुष ध्यानसे तलवार निकाले । उसको ऐसा हो—‘यह तलवार है, यह ध्यान है । तलवार अलग है, ध्यान अलग । ध्यानसे ही तलवार निकली है ।’ जैसे उदायी ! पुरुष चाँपको पिढारीसे निकाले * । ऐसे ही उदायी ! * मार्ग बतला दिया है * ।

“और फिर उदायी ! * मार्ग बतला दिया है, जिस मार्गपर आरुढ़ हो, मेरे श्रावक अनेक प्रकारके अद्भि-विषय (= योग-वस्तुकार)को अनुभव करते हैं । एक होकर बहुत होजाते हैं । बहुत होकर एक होते हैं । आविर्भाव, तिरोभाव (करते हैं) । जैसे भीत-पार आकार-पार पर्वत-पार आकाश-जैसे विना लेप (पार) होजाते हैं । पृथिवीमें भी दृषना-उत्तराना करते हैं, जैसे कि जलमें । पानीमें भी बिना भीने चलते हैं, जैसे कि पृथिवीमें । पक्षि (= शकुनी) की भीति आसन-बाँधे आकाशमें चलते हैं । इसने महर्जिक = महासुभाव (= तेजस्वी) इन चाँद-सूर्यकी भी हाथसे छूते हैं । ब्रह्मलोक तक कायासे वशमें रखते हैं । जैसे उदायी ! चतुर कुंभकार, या कुंभकारका चेला, सिंहाई मिट्टीसे जो जो विशेष आजन चाहे, उसी लीको बनावे = निरुपादन करे । या जैसे उदायी ! चतुर दन्तकार (= दाँधीके दाँतका काम करनेवाला) या वृत्तकामका चेला, सिंहाने चाँदसे जो जो वृत्त-विकृति (= दाँतकी चीज) चाहे, उसे बनावे, = निष्पादन करे । या जैसे उदायी ! चतुर सुवर्णकार या सुवर्णकारका चेला, सोचे सुवर्णसे जिस जिस सुवर्ण-विकृतिको चाहे उसे बनावे * । ऐसे ही उदायी ! * ।

“और फिर उदायी ! * जिस मार्गपर आरुढ़ हो मेरे श्रावक विशुद्ध, अमरानुप, दिव्य, शोक-वातु (= काम)से दिव्य और मादुप, दूरवर्ती और समीपवर्ती, दोनों ही तरहके शब्दोंको सुनते हैं । जैसे कि उदायी ! चलवान् कंठ-धम्मक (= कंठ-ध्वजानेवाला) अल्प-प्रयाससे चारों

दिशाओंको बतला दे । ऐसे ही उदायी ० ।

“और फिर उदायी ! ० जैसे मार्गपर आरुढ़ हो, मेरे आसक्त दूसरे सत्त्वों = दूसरे पुद्गलों के चित्तको (अपने) चित्तद्वारा जानते हैं । सराम चित्तको ‘राम-सहित (ग्रह) चित्त है’ जानते हैं । बीतराम चित्तको ‘बीत-राम चित्त है’ जानते हैं । सद्दोष चित्तको ‘स-दोष चित्त है’, जानते हैं । बीत-दोष चित्तको ० । स-मोह चित्तको ० । बीत-मोह चित्तको ० । संक्षिप्त-चित्तको ० । विक्षिप्त-चित्तको ० । महद्गत (= विशाल)-चित्तको ० । अ-महद्गत-चित्तको ० । स-उत्तर (= जिससे यह कर भी है)-चित्तको ० । अन्-उत्तर-चित्तको ० । समाहित (= एकाग्र)-चित्तको ० । अ-समाहित-चित्तको ० । विमुक्त (= मुक्त)-चित्तको ० । अ-विमुक्त-चित्तको ० । जैसे उदायी ! कोई सौकीय स्त्री या पुरुष, बालक या सख्य, परिशुद्ध = प्रसिद्ध-प्रदान दर्पण (= आदर्श) या स्वच्छ जलमय पात्रमें अपने मुख-निमित्त (= मुखकी आकृति)को देखते हुये, स-कणिक जंग होनेपर स-कणिकांग (= सद्दोष जंग) जाने, अ-कणिकांग होनेपर अ-कणिकांग जाने । ऐसे ही उदायी ० । ० ।

“और फिर उदायी ! जिस मार्गपर आरुढ़ हो, मेरे आसक्त अनेक प्रकारके पूर्व-निवासों (= पूर्व जन्मों)को जानते हैं । जैसे कि, एक जाति (= जन्म) भी, दो जाति भी ०, तीन जाति भी, चार जाति भी, पाँच जाति भी, बीस जाति भी, तीस जाति भी, चालीस जाति भी, पचास जाति भी, सौ जाति भी, हजार जाति भी, सौ हजार जाति भी, अनेक संवर्त-कल्पों (= महाप्रलयों) की भी, अनेक विवर्त-कल्पों (= सृष्टियों)की भी, अनेक संवर्त-विवर्त-कल्पोंकी भी, ‘मैं वहाँ इस नाम, इस गोत्र, इस वर्ण, इस जाति-वाला, ऐसे सुख-दुःखको अनुभव करने-वाला इतनी आयु-पर्यन्त था । सो मैं वहाँसे म्रुत हो, वहाँ उत्पन्न हुआ । वहाँ भी मैं ० इतनी आयुपर्यन्त रहा । सो वहाँसे म्रुत (= मृत) हो, वहाँ उत्पन्न हुआ’ । इस प्रकार स-आकार (= आकृति-सहित) स-उद्देश (= नाम-सहित) अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको अनुस्मरण करते हैं । जैसे उदायी ! पुद्गल अपने ग्रामसे दूसरे ग्राममें जाये । उस ग्रामसे भी दूसरे ग्रामको जाये । वह उस ग्रामसे अपने ही ग्रामको लौट जाये । उसको ऐसा हो—‘मैं अपने ग्रामसे उस गाँवको गया, वहाँ ऐसे बाड़ा हुआ, ऐसे बैठा, ऐसे बोला, ऐसे चुप रहा । उस ग्रामसे भी उस ग्रामको गया । वहाँ भी ऐसे खड़ा हुआ ० ।

“और फिर उदायी ! ० जैसे मार्गपर आरुढ़ हो मेरे आसक्त विशुद्ध, अ-मादुष दिव्य, चक्षुसे, दीन, प्रणीत (= उत्पन्न), सुवर्ण दुर्वाण, सु-गन्ध दुर्गन्ध सत्त्वोंको म्रुत होते, उत्पन्न होते देखते हैं । कर्मानुसार (गति)को प्राप्त सत्त्वोंको जानते हैं—‘यह आप सत्त काय-पुद्गलितसे सुख, वायु-पुद्गलितसे सुख, मन-पुद्गलितसे सुख, आश्रयोंके विन्दक, मिथ्या-रष्टि, मिथ्या-रष्टि कर्मको स्वीकार करनेवाले (थे), यह कामा शेष करनेके बाद लपाय-दुर्गति = विनिपात = नर्कमें उत्पन्न हुये । और यह आप सत्त काय-पुद्गलितसे सुख ० आश्रयोंके अन्-उपवाद्क (= अतिन्दक) सम्यक्-रष्टि, सम्यक्-रष्टिकर्मको स्वीकार करनेवाले (थे), वह सुगति = स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुये हैं’ । इस प्रकार ० दिव्य चक्षुसे ० देखते हैं । जैसे उदायी ! समान-हाथवाले दो घर (हों), वहाँ क्षणिकाला पुरुष धीधममें अया, अनुष्ठानोंको घरमें प्रवेश करते भी, निकलते भी, अनुसंवरण विचरण करते भी देखे । ऐसे ही उदायी ! ० ।

“और फिर उदायी ! ० जिस मार्गपर आरुढ़ हो मेरे आसक्त आश्रयोंके विनाशसे अन्-आश्रय (= निर्मल) चित्तकी विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं जानकर, साक्षात् कर, प्राप्त कर, विहरते हैं । जैसे कि उदायी ! पर्वतसे विरा स्वच्छ = विप्रसन्न = अन्-आश्रय

उदक-हृद (= जलाशय) हो । वहाँ जलवाला पुरुष तीरपर खड़ा सीपको...कंकड़-पत्थरको भी, धलते खड़े मत्स्य-कुंडको भी देखे । ऐसे ही उदासी ! ० ।

“यह है, उदासी ! पाँच धर्म जिनसे मुझे भावक ० पूजते हैं । ० ।”

भगवान् ने यह कहा, सकुल-उदासी परित्राजकने भगवान् के भाषणका अनुमोदन किया ।

७८—समय-मंडिक-सुत्तन्त (२।३।८)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् धावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराधन-कृत्यमें विहार करते थे ।

उस समय समय-मंडिका-पुत्त उग्राहमाण परित्राजक सातसी परित्राजकोंकी वही जमात (= परिषद्)के साथ समय-प्रवादक तिन्दुकावीर^१ एकलाजक (नामक) मल्लिका (देवीके वनवासे) आराधनमें रहता था ।

तब पंचकांग (= पंचकांग) स्वपति (= सबई) मय्याहुमें भगवान्के दर्शनके लिये आबस्तीमें निकला । तब पंचकांग स्वपतिको यह हुआ—‘भगवान्के दर्शनका यह समय नहीं है, भगवान् ध्यानमें होंगे, मनो-भावना करनेवाले भिक्षुओंके भी दर्शनका यह समय नहीं, ... (यह) भी ध्यानमें होंगे । क्यों न मैं जहाँ समय-प्रवादक • मल्लिकाराम है, जहाँ • उग्राहमाण परित्राजक है वहाँ चले ।’ तब पंचकांग स्वपति जहाँ समय-प्रवादक • मल्लिकाराम था, जहाँ • उग्राहमाण परित्राजक था, वहाँ गया ।

उस समय, उग्राहमाण परित्राजक^१ • आदि निरपेक्ष कथा कहती, नाद करती, सोर मचाती, वही भारी परित्राजक-परिषद्के साथ बैठा था । उग्राहमाण परित्राजकने दूरसे ही पंचकांग स्वपतिको जले देखा । देखकर अपनी परिषद्से कहा—

‘आप सब सुन हों, लाभ सब शब्द मत करें । यह समय मौतमका आवाक पंचकांग स्वपति आ रहा है । समय मौतमके चितने इवेतवच्छारी गृहस्थ आवाक भावनोंमें बसते हैं, यह पंचकांग स्वपति उनमेंसे एक है । यह आलुप्मान् लोग स्वर्ग अवशब्द (= निःशब्द रहनेवाले), अवशब्द के अभ्यासी, अवशब्द-प्रेमी, निःशब्द-प्रशंसक होते हैं । परिषद्को निःशब्द देव संभव है, (इतर) भी आयें ।’

तब यह परित्राजक श्रुत होगये ।

तब पंचकांग स्वपति जहाँ, उग्राहमाण परित्राजक था, वहाँ गया । जाकर उग्राहमाण परित्राजकके साथ सम्मोदन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठ पंचकांग स्वपतिसे • उग्राहमाण परित्राजकने यह कहा—

‘स्वपति ! मैं चार अंगों (= बातों)से कुछ पुरुष = पुद्गलको क्षम्यत-कुशल (= सुकर्म-युक्त), परम-कुशल, उत्तम-गतिको-प्राप्त, समय, अ-बोध्य (जिससे छड़ा नहीं जा सके) कहता हूँ । कौनसे चार (अंग) ?—यहाँ स्वपति ! (१) (पुरुष) कायाले पापकर्म नहीं करता; (२) न पाप (= बुरी)-बाणों धोकरा है; (३) न पाप-प्रसङ्ग चिन्ता है; (४) न पाप-आजी-

^१ देखी सत्तर-सुत्तन्त-मन्त्रिम ७६ (पृष्ठ २९९) ।

विकासे रोजी कमाता है। स्वपति ! मैं इन जंगोसे युक्त ० को ० अयोध कहता हूँ।”

तब पंचकांग स्वपतिने, डग्गहमाण परित्राजकके भाषणको न अभिर्नदित किया, न संक्षिप्त किया। दिना अभिर्नदित किये, दिना खंडन किये—भगवान् के पास इस भाषणका अर्थ पूछा— (यह सोच) आत्मसे उठकर चला गया। तब पंचकांग स्वपति जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे पंचकांग स्वपतिने जो कुछ डग्गहमाण परित्राजकके साथ कथासंलाप हुआ था वह सब भगवान् से कह सुनाया। ऐसा कहने पर भगवान् ने पंचकांग स्वपतिसे यह कहा—

“स्वपति ! ऐसा होनेपर तो डग्गहमाण परित्राजकके वचनानुसार उतान (ही) तो सकनेवाला अयोध छोटा बच्चा सम्पन्न-कुशल परमकुशल ० अयोध होगा। स्वपति ! ० छोटे बच्चेके योग (= काया) (पूरी सामर्थ्य-युक्त) भी नहीं होते; (= चलना डोव) यह कैसे काया से पाप कर्म करता ?—स्वपति ! ० छोटे बच्चे (= दूर-कुमार) को बाणी भी नहीं होती; रोना डोव यह कैसे बाणीसे पापकर्म करेगा ? स्वपति ! ० छोटे बच्चेको संकल्प ही नहीं होता; ईशना डोव यह क्या संकल्प करेगा ? स्वपति ! ० छोटे बच्चेको जाजीव (= रोजी कमाता) ही नहीं होता; भाताके दूधके अतिरिक्त वह क्या पाप-आजीव करेगा ? ऐसा होने पर तो ० डग्गहमाण परित्राजकके वचनानुसार ० छोटा बच्चा ० अ-योध होगा।

“स्वपति ! मैं (इन) चार जंगोसे युक्त पुरुष = पुद्गलको न सम्पन्न कुशल, परमकुशल ० अयोध कहता हूँ; यत्कि ० छोटे बच्चेसे विशेष कहता हूँ। कौनसे चार ?—स्वपति ! (१) जो कायासे पाप कर्म नहीं करता; ० (४) न पाप-आजीविकासे रोजी कमाता है।”

“स्वपति ! मैं इस जंगोसे युक्त पुरुष = पुद्गलको सम्पन्न-कुशल, परम-कुशल ० अयोध कहता हूँ। स्वपति ! (१) यह अकुशल-शील (-दुराचार) कहीं वेदितव्य (= भोगमें योग्य) है—यह कहता हूँ। (२) स्वपति ! यहाँसे उत्पन्न अकुशल-शील कहीं वेदितव्य है—० यह कहता हूँ। (३) स्वपति ! यहाँ सारे (= अक्षेप) अकुशल-शील निरुद्ध (= नष्ट) होते हैं, कहीं वेदितव्य है—०। (४) स्वपति !

इस प्रकार प्रतिपन्न (= भारीरुद्ध) अकुशल-शीलों (= दुराचारों) के निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है, कहीं वेदितव्य है—०। (५) स्वपति ! यह कुशल शील (= सदाचार, सुकर्म) कहीं कहीं वेदितव्य है—०। (६) स्वपति ! यहाँसे उत्पन्न कुशलशील कहीं वेदितव्य है—०। (स्वपति) ! यहाँ सारे कुशलशील निरुद्ध होते हैं—०। (८) स्वपति ! इस प्रकार प्रतिपन्न कुशल-शीलोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है, कहीं वेदितव्य है—०।

“स्वपति ! (१) यह अकुशल—संकल्प (= बुरे संकल्प) कहीं वेदितव्य है—यह कहता हूँ। (२) ० यहाँसे उत्पन्न अकुशल-संकल्प कहीं वेदितव्य है—०। (३) यहाँ सारे अकुशल-संकल्प निरुद्ध होते हैं—०। (४) ० इस प्रकार प्रतिपन्न अकुशल-संकल्पोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है—०। (५) यह कुशल-संकल्प कहीं वेदितव्य है—०। (६) ० यहाँसे उत्पन्न कुशल संकल्प कहीं वेदितव्य है—०। (७) यहाँ सारे कुशल-संकल्प निरुद्ध होते हैं—०। (८) ० इस प्रकार प्रतिपन्न कुशल-संकल्पों के निरोधके लिए प्रतिपन्न होता है—०।

“(१) स्वपति ! अकुशल-शील (= दुष्कर्म) क्या है ?—अ-अकुशल (= बुरा) कायकर्म, अकुशल वचनकर्म, पाप-आजीविका (= पापोंकी रोजी)—स्वपति ! यह अकुशल-शील कहे जाते हैं। स्वपति ! (२) यह अकुशल-शील कहींसे उत्पन्न होते हैं ?—चित्तसे उत्पन्न कहना चाहिये। चित्त क्या है ?—चित्तभी स्वपति ! बहुत अनेक प्रकार = नाना प्रकारका है—(१) यह चित्त

स-राग, स-द्वेष, स-मोह होता है। इन्हीं (राग-द्वेष-मोह-युक्त चित्तों)से अकुशलशील (=दुराचार) उत्पन्न होते हैं। (१) स्वपति ! यह सारे अकुशल-शील कहां निरुद्ध होते हैं ?—निरोध भी इनका, स्वपति ! कद चुके हैं—यहाँ स्वपति ! भिक्षु, काय-दुश्चरित (= शरीरसे होनेवाले पाप) को छोड़, काय-सुचरित की भावना (= कल्याण) करता है; वचन-दुश्चरित को छोड़ वचन-सुचरित की भावना करता है; मनो-दुश्चरित छोड़, मन-सुचरित की भावना करता है। मिथ्या-आज्ञाव (= पाप-की रीति) को छोड़, तत्सम-आज्ञाव (= धर्म की रीति) से जीविका चलता है। यहाँ (= देता करनेपर) सारे अकुशल-शील निरुद्ध होते हैं। (२) स्वपति ! कैसे प्रतिपन्न होने पर अकुशल शीलोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है—स्वपति ! यहाँ भिक्षु अनुत्पन्न पापों = अकुशल धर्मोंके न उत्पन्न होनेके लिये छन्द (= उद्योग) करता है = व्यायाम करता है = वीर्य-आरम्भ करता है, चित्तका निग्रह = रोक-धाम, करता है। उत्पन्न पापों ० के प्रहाण (= विनाश) के लिये छन्द ० चित्तका निग्रह ० करता है। अनुत्पन्न कुशल-धर्मोंकी उत्पत्ति के लिये छन्द ०। उत्पन्न कुशल धर्मोंकी स्थिति, अलोप, वृद्धि, विमुक्तिके लिये, भावनाके लिये, पूर्तिके लिये छन्द ०। स्वपति ! इस प्रकार प्रतिपन्न होनेपर अकुशल शीलोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है।

“स्वपति ! (३) क्या है कुशल-शील ?—कुशल- (= वेद) कायकर्म, कुशल-वचन कर्म, कुशल-मनः = कर्म, स्वपति ! इन्हीं में कुशल शील कहता हूँ।” (४) स्वपति ! यह कुशल शील कहांसे उत्पन्न होते हैं ?—“चित्तसे उत्पन्न कहना चाहिये। क्या है चित्त ?—चित्त भी स्वपति ! बहुत अनेक प्रकार = नाना प्रकारका है—वह चित्त बीत-राग, बीत-द्वेष (= द्वेष-रहित) बीत-मोह होता है। इन्हींसे कुशल-शील उत्पन्न होते हैं। (५) स्वपति ! यह सारे कुशल शील कहां निरुद्ध होते हैं ?—निरोध भी इनका, स्वपति ! कद चुके हैं—यहाँ स्वपति ! भिक्षु शीलवान् होता है, किन्तु शील-समय (= शीलाभिमान) नहीं, और उस चेतो-विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्तिको ठीकसे जानता है, यहाँ इसके सारे कुशल-शील निरुद्ध होते हैं। (६) स्वपति ! कैसे प्रतिपन्न (= मार्गाङ्ग) होनेपर, कुशल-शीलोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है ?—स्वपति ! यहाँ भिक्षु अनुत्पन्न पापों ० के न उत्पन्न होनेके लिये ० वीर्यारम्भ (= उद्योगारम्भ) करता है, चित्तका निग्रह-रोक-धाम करता है। ० उत्पन्न पापों ० के प्रहाण (= नाश) के लिये ०। ० अनुत्पन्न कुशल-धर्मोंकी उत्पत्तिके लिये ०। ० उत्पन्न कुशल-धर्मोंकी स्थिति ० पूर्तिके लिये ०। स्वपति ! इस प्रकार प्रतिपन्न होने पर ०।

“स्वपति ! (१) क्या है अकुशल-संकल्प ?—काम-संकल्प, व्यापाद्- (= द्वेष) -संकल्प, विहिंसा (= हिंसा) -संकल्प। स्वपति ! यह अकुशल-संकल्प कहे जाते हैं। (२) स्वपति ! यह अकुशल-संकल्प कहांसे उत्पन्न होते हैं ?—“संज्ञा (= ज्ञान) से उत्पन्न कहना चाहिये। क्या है संज्ञा (= ज्ञान) ?—संज्ञा भी बहुत अनेकविध = नाना प्रकार की है—(जैसे) काम-संज्ञा, व्यापार संज्ञा, विहिंसा संज्ञा यहति अकुशल-संकल्प उत्पन्न होते हैं। (३) स्वपति ! यह सारे अकुशल-संकल्प कहां निरुद्ध होते हैं ?—यहाँ, स्वपति ! भिक्षुक्रामोंसे विरहित ०। प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यहाँ यह सारे अकुशल-संकल्प निरुद्ध होते हैं। (४) स्वपति ! कैसे प्रतिपन्न अकुशल संकल्पोंके निरोधकेलिये प्रतिपन्न होता है ?—यहाँ, स्वपति ! भिक्षु अनुत्पन्न पाप = अकुशल धर्मोंके अनुत्पादके लिये ०। ० उत्पन्न ० अकुशल धर्मोंके प्रहाण के लिये ०। ० अनुत्पन्न कुशल-धर्मों (= भलाइयों) की उत्पत्तिके लिये ०। ० उत्पन्न कुशल-धर्मों

की स्थिति ० पूर्तिकेलिये ० । स्वपति ! इस प्रकार प्रतिपन्न अकुशल-संकल्पोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है ।

“स्वपति ! (५) क्या है कुशल-संकल्प (= अच्छा संकल्प) ?—नैष्काम्य (= काम रहित होनेका)-संकल्प, अन्यायाद-संकल्प, अवहिंसा-संकल्प ।” (६) स्वपति ! वह कुशल-संकल्प कहाँसे उत्पन्न होते हैं ?—“संज्ञासे उत्पन्न कहना चाहिये । क्या है, संज्ञा ?—संज्ञा भी बहुत अनेकविध = नावा प्रकारकी है—(जैसे) नैष्काम्य-संज्ञा, अन्यायाद-संज्ञा, अवहिंसा (= अहिंसा)-संज्ञा । यहाँसे कुशल संकल्पोंकी उत्पत्ति होती है । (७) स्वपति ! वह सारे कुशल-संकल्प कहाँ निरुद्ध होते हैं ?—“यहाँ स्वपति ! मित्तु जितर्क और विचारके शान्त होनेपर ० । द्वितीय ध्यानकी प्राप्तिसो चिहरता है । यहाँ वह सारे कुशल संकल्प निरुद्ध होते हैं । (८) स्वपति ! कैसा प्रतिपन्न कुशल संकल्पोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है ?—यहाँ स्वपति ! मित्तु अनुत्पन्न पाप = अकुशल धर्मोंके अनुपादके लिये ० । ० उत्पन्न ० अकुशल धर्मोंके प्रदाणके लिये ० । ० अनुरूप कुशलधर्मों की उत्पत्तिके लिये ० । उत्पन्न कुशल धर्मोंकी स्थिति ० पूर्तिके लिये ० । स्वपति ! इस प्रकार प्रतिपन्न कुशल-संकल्पोंके निरोधके लिये प्रतिपन्न होता है ।

“स्वपति ! किन दश धर्मोंसे युक्त पुरुष = पुद्गल को मैं सम्पन्न कुशल । ० अ-प्राप्य कहता हूँ ?—यहाँ स्वपति ! मित्तु (१) अशैक्ष्य (= अज्ञेयकी) सम्यग्-दृष्टि ० से युक्त होता है ; (२) अशैक्ष्य सम्यक्-संकल्प ० ; (३) अशैक्ष्य सम्यग्-वचन ० ; (४) अशैक्ष्य सम्यक्-कर्मोन्त ० ; (५) अशैक्ष्य सम्यग्-आजीव ० ; (६) अशैक्ष्य सम्यग्-व्याताप ० ; (७) अशैक्ष्य सम्यक्-श्रुति ० ; (८) अशैक्ष्य सम्यक्-समाधि ० ; (९) अशैक्ष्य सम्यग्-ज्ञान ० ; (१०) अशैक्ष्य सम्यग्-विमुक्तिसे युक्त होता है । स्वपति ! इन दश धर्मोंसे युक्त पुरुष-पुद्गलको मैं सम्पन्न-कुशल ० कहता हूँ ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो पंचकांग स्वपतिने भगवान्के भाषणकी अभिर्नन्दित किया ।

७६-चूल-सकुलुदायि-मुत्तन्त (२।३।६)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलन्दक-निवापमें विहार करते थे। उस समय सकुल-उदायी परित्राजक महर्षि परिषद्के साथ परित्राजकाराममें वास करता था।

भगवान् पूर्वाह्न समय ०।०^१ जहाँ सकुल-उदायी परित्राजक था, वहाँ गये। तब सकुल-उदायी परित्राजकने भगवान्से कहा—“आइये भन्ते ०।”

“जाने दीजिये भन्ते! इस कथाको ०। जब मैं भन्ते! इस परिषद्के पास नहीं होता, तब यह परिषद् अनेक प्रकारकी व्यर्थ कथायें (= तिरच्छाण-कथा) कहती बैठी है। और जब भन्ते! मैं इस परिषद्के पास होता हूँ, तब वह परिषद् मेरा ही सुख देखती बैठी रहती है—‘इमें क्षत्रज उदायी जो कहेगा, उसे सुनेंगे।’ जब भन्ते! भगवान् इस परिषद्के पास होते हैं, तब मैं और वह परिषद् भगवान्का सुख ताकती बैठी रहती है—‘भगवान् हमें जो धर्म उपदेश करेंगे, उसे हम सुनेंगे।’”

“उदायी! तुम ही जो भगवान् परे, मुझे कह।”

“पिछले दिनों भन्ते! (जो वह) सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, निष्कल-ज्ञान-दर्शन (= ज्ञाता) होनेका दावा करते हैं—‘चलते, खड़े, सोते-जगते भो (मुझे) निरन्तर ज्ञान-दर्शन उपदिष्ट रहता है।’ वह मेरे गुरुसे लेकर प्रश्न पूछनेपर, इधर-उधर जाने लगे, बाहरकी कथामें जाने लगे। उन्होंने कोप, द्वेष और अविश्वास प्रकट किया। तब भन्ते! मुझे भगवान्के ही प्रति प्रीति उत्पन्न हुई—‘अहो! निश्चय भगवान् (हैं), अहो! निश्चय सुगत (हैं), जो इन धर्मोंमें पंडित (= कुशल) हैं।’

“कौन हैं वह उदायी! सर्वज्ञ-सर्वदर्शी ०, जो कि तेरे गुरुसे लेकर प्रश्न पूछनेपर इधर उधर जाने लगे ० अविश्वास प्रकट किये ?”

“भन्ते! निर्गुण नाथ-मुत्तन्त।”

“उदायी! जो अनेक प्रकारके पूर्व-जन्मोंको जानता है ०, वह मुझे वारम्भ (= पूर्व-जन्म) के विषयमें प्रश्न पूछे, और उसको मैं पूर्वजन्मके विषयमें प्रश्न पूछूँ। तब मेरे पूर्वजन्म-विषयक प्रश्न का उत्तर देकर, मेरे चित्तको प्रसन्न करे; और मैं उसके पूर्वजन्म-विषयक प्रश्नका उत्तर देकर, उसके चित्तको प्रसन्न करूँ। जो उदायी! दिव्य ० चक्षुसे ० सर्वोंको च्युत होने, उत्पन्न होते देखता है। वह मुझे दूसरे छोर (= अपर-जन्म) के विषयमें प्रश्न पूछे। मैं उसे दूसरे छोरके विषयमें प्रश्न पूछूँ। वह मेरे ० प्रश्नका उत्तर दे, मेरे चित्तको प्रसन्न करे; और ० मैं उसके चित्तको ०। या उदायी! जाने दो पूर्व-जन्म, जाने दो अपर-जन्म। तुम धर्म बतलाता हूँ—ऐसा होने पर, वह

^१ देखो सन्दक-मुत्तन्त, पृष्ठ २२२।

होता है, इसके उपपन्न होनेसे, यह उत्पन्न होता है। इसके न होनेपर यह नहीं होता। इसके निरोध (= विनाश) होनेपर यह निवृद्ध होता है।^१

“भन्ते ! मैं, जो कुछ कि इसी शरीरमें अनुभव किया है, उसे भी आकार-उद्देश-सहित स्मरण नहीं कर सकता, कहोंसे भन्ते ! मैं अनेक-विहित पूर्व-निवासों (= पूर्व-जन्मों) को स्मरण करूँगा—०, जैसे कि भगवान् ? भन्ते ! मैं इस वक्त पाप्म-विनाशक (= दुर्बल) को भी नहीं देखता, कहोंसे फिर मैं दिव्य ० चक्षुसे ० स्वर्गोंको च्युत ० उत्पन्न होते ० देखूँगा ०, जैसे कि भगवान् ? भन्ते ! भगवान् ने जो मुझे कहा—‘उदायी ! जाने दो पूर्वान्त ० इसके निरोध होने पर यह निवृद्ध होता है।’ यह मेरे लिये अधिक पसन्द जान पड़ता है। क्या भन्ते ! मैं अपने मत (= आचार्य-क) के अनुसार प्रश्नोंपर दे, भगवान् के धितको प्रसन्न करूँ ?”

“उदायी ! तेरे (अपने) मतमें क्या होता है ?”

“हमारे मत (= आचार्यक)में भन्ते ! ऐसा होता है—‘यह परम-वर्ण (है), यह परम-वर्ण (है)।’

“उदायी ! जो यह तेरे आचार्यकमें ऐसा होता है—‘यह परम-वर्ण, यह परम-वर्ण’ वह कौनसा परम-वर्ण है ?”

“भन्ते ! जिस वर्णसे उत्तर-तर = या प्रणीततर (= उत्तमतार) दूसरा वर्ण नहीं है, वह परम-वर्ण है।”

“कौन है उदायी ! वह वर्ण; जिससे ० प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं है ?”

“भन्ते ! जिस वर्ण (= रङ्ग) से ० प्रणीततर (= अधिक, उत्तम) दूसरा वर्ण नहीं है, वह परम-वर्ण है।”

“उदायी ! यह तेरी (बात) दीर्घ-(कालतक) भी चले—‘जिस वर्णसे ० प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं ०’ तो भी तू उस वर्णको नहीं पता लगा सकता। जैसे कि उदायी ! (कोई) पुरुष ऐसा कहे—‘मैं जो इस जनपद (= देश) में जनपद-कन्याणी (= सुन्दरियोंकी रानी) है, उसको चाहता हूँ ० तो क्या मानते हो उदायी ! क्या ऐसा होने पर उस पुरुषका कथन अ-प्रामाणिक नहीं होता ?”

“अवश्य भन्ते ! ऐसा होने पर उस पुरुषका कथन अ-प्रामाणिक होता है।”

“इसी प्रकार तू उदायी !—‘जिस वर्णसे ० प्रणीत-तर दूसरा वर्ण नहीं, वह परम-वर्ण है’ कहता है, और उस वर्णको नहीं पतलाता।”

“जैसे भन्ते ! शुभ, उत्तम जातिकी बंठकोणी, पालिका की हुई वैदूर्य-मणि (= हारा), पांडु-कंधल (= लाल-दोसाले) में रखी, आसित होती है, घमकती है, विरोधित होती है, मरने के बाद भी आत्मा इसी प्रकारके वर्णवाला हो, अरोग (= अ-विनाशी) होता है।”

“तो क्या मानते हो, उदायी ! शुभ ० वैदूर्य-मणि ० विरोधित होती है, और जो वह रात के अन्धकारमें जुगन् कीड़ा है, इन दोनों वर्णों (= रङ्गों) में अधिक घमकीला (= अधिकोत्तम) और प्रणीत-तर है ?”

“जो यह भन्ते ! रातके अन्धकारमें जुगन् कीड़ा है, यही इन दोनों वर्णों में अधिक घमकीला ० है।”

“तो क्या मानते हो, उदायी ! जो यह रातके अन्धकारमें जुगन् कीड़ा है और जो यह

रातके अंधकारमें तेलका प्रदीप (है) ; इन दोनों वर्णोंमें कौनसा अधिक चमकीला या प्रणीत-तर है ?”

“भन्ते ! वह जो रातके अंधकारमें तेल-प्रदीप है • ।”

“तो क्या मानते हो उदायी ! जो वह रातके अंधकारमें तेल-प्रदीप है, और जो वह रातके अंधकारमें महान् अग्नि-स्फंध (= आगका डेर) है । इन दोनों वर्णोंमें कौनसा अधिक चमकीला • है ?”

“भन्ते जो वह • अग्नि-स्फंध • ।”

“तो • उदायी ! जो वह रातके अंधकारमें महान् अग्नि-स्फंध है, और जो वह रातके भिन्न-सारमें मेघरहित स्वच्छ आकाशमें ओषधि-तारा (= शुक्ल^१) है, इन दोनों वर्णोंमें कौनसा अधिक चमकीला • है ?”

“भन्ते जो वह ! • ओषधि-तारा • ।”

“तो • उदायी ! जो वह • ओषधि-तारा है, जो वह आधीरातको मेघ-रहित स्वच्छ आकाशमें उस दिनके उपवासकी पूर्वभाका चन्द्र है ; इन दोनों वर्णोंमें कौनसा अधिक चमकीला • है ?”

“भन्ते • जो वह चन्द्र • ।”

“तो • उदायी ! जो वह • चन्द्र है, और जो वह वर्षाके पिछले भाग, दारुके समय मेघ-रहित स्वच्छ आकाशमें मन्वाह्निके समय सूर्य है ; इन दोनों वर्णोंमें कौनसा अधिक चमकीला • है ?”

“भन्ते ! जो वह सूर्य • ।”

“उदायी ! मैं ऐसे बहुतसे देवताओंको जानता हूँ, जिनमें इन चन्द्र-सूर्यका प्रकाश नहीं लगता । तब भी मैं नहीं कहता—‘जिस वर्णसे प्रणीत-तर • दूसरा वर्णन ही •’ । और तू तो उदायी ! जो यह जुगम् कीड़ेसे भी हीन-तर निकृष्ट-तर वर्ण है, वही परम-वर्ण है, उसीका वर्ण (= तारीफ) ब्रह्मानता है ।”

“कैसा वह अच्छा भगवान् ! कैसा वह अच्छा सुगत !”

“उदायी ! क्या तू ऐसे कह रहा है—‘कैसा वह अच्छा • ।’”

“भन्ते ! हमारे आचार्यक (= मत)में ऐसा होता है,—‘यह परम-वर्ण है’ ‘यह परम-वर्ण है’ । सो हम भन्ते ! भगवान्के साथ अपने आचार्यकके विषयमें पूछने = अवगाहन करने = सम-अनुभाषण करनेपर रिक्त = तुच्छ = अपराधी (से) है ।”

“क्या उदायी ! लोक एकान्त-सुख (= सुख-मय) है ? एकान्त-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये क्या (कोई) आकारवती (= सविस्तर) प्रतिपद् (= मार्ग) है ?”

“भन्ते ! हमारे आचार्यकमें ऐसा होता है—एकान्त-सुखवाला लोक है, एकान्त-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये आकार-वती प्रति-पद् भी है ।”

“कौन सी है उदायी ! • आकारवती प्रतिपद् ?”

“यहाँ भन्ते ! कोई (पुरुष) प्राणतिपातको छोड़, प्राण-हिंसासे विरत होता है । अदत्तादान (= विना दिया लेना = चोरी) छोड़, अदत्तादानसे विरत होता है, • काम-मिथ्याचार

^१ अ. अ. “ओषधि-ताराका = सुख-ताराका (= शुक्लतारा) चूँकि उसके उदय-आरम्भमें ओषध ग्रहण करते भी है, इसलिये ओषधि-तारा कहा जाता है” ।

(= ध्यमिचार) से विरत होता है । ० सुषावाद् (= सुष्ठु बोलने) से विरत होता है । किसी एक तपोगुणको लेकर रहता है । यह है भन्ते ! ० आकारवती प्रतिपद् । "

" तो ० उदायी ! जिस समय प्राणातिपात-विरत होता है, क्या उस समय आत्मा एकांत-सुखी (= केवल सुख अनुभव करने वाला) होता है, या सुख-दुःखी ? "

" सुख-दुःखी, भन्ते ! "

" तो ० उदायी ! जिस समय ० अदात्तादान-विरत होता है, क्या उस समय आत्मा एकांत सुखी होता है, या सुख-दुःखी ? "

" सुख-दुःखी, भन्ते ! "

" तो ० उदायी ! जिस समय ० काम-मिथ्याचार-विरत ० । ० । सुषावाद् ० । ० । ० किसी एक तपो-गुणसे युक्त होता है । क्या उस समय आत्मा एकांत-सुखी होता है, या सुख-दुःखी ? "

" सुख-दुःखी भन्ते ! "

" तो क्या मानते हो, उदायी ! क्या व्यवर्जो (= मिश्रित) (पुरुष) को सुख-दुःख (मिश्रित) मार्ग (= प्रतिपद्) को पाकर, एकांत-सुखवाले लोकका साक्षात्कार होता है ? "

" कैसा यह अच्छा ! भगवान् !! कैसा यह अच्छा ! सुगत !! "

" उदायी ! क्या तू यह ऐसे कह रहा है—'कैसा यह अच्छा ०' । "

" भन्ते ! हमारे आचार्यक (= मत) में ऐसा होता है—एकांत-सुखवाला लोक है, एकांत-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये आकारवती प्रतिपद् है । सो भन्ते ! हम भगवान्के ० भाषण करने पर तुच्छ ० हैं । क्या भन्ते ! एकांत-सुखवाला लोक है ? एकांत-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये आकारवती प्रतिपद् है ? "

" है उदायी ! एकांत-सुख लोक, है आकारवती प्रतिपद् । "

" भन्ते ! एकांत-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये आकारवती प्रतिपद् कौनसी है ? "

" यहाँ उदायी ! भिक्षु ०^१ प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । ० द्वितीय-ध्यानको ० । ० तृतीय-ध्यानको ० । यह है उदायी ! ० आकारवती प्रतिपद् । "

" भन्ते ! एकांत-सुखवाले लोकके साक्षात्कारके लिये यही आकारवती प्रतिपद् है ? इतने हीसे भन्ते ! उसको एकांत-सुखलोकका साक्षात्कार हो गया रहता है ? "

" नहीं, उदायी ! इतनेसे एकांत-सुखवाले लोकका साक्षात्कार (नहीं) हो गया रहता, यह तो एकांत-सुखलोकके साक्षात्कारकी आकारवती प्रतिपद् है । "

ऐसा कहनेपर सङ्कुल-उदायी परित्राजककी परिपद् उन्नादिनी = उन्नाद = महाशब्द (= कोलाहल) करनेवाली हुई—यहाँ हम अपने मतसे नष्ट होंगे, यहाँ हम अष्ट (= प्रणह) होंगे । इससे अधिक उत्तम हम नहीं जानते । तब सङ्कुल-उदायी परित्राजकने, उन परित्राजकोंकी चुपकरा, भगवान्से कहा—

" भन्ते ! कितनेसे इस (पुरुष) को एकांत-सुखवाले लोकका साक्षात्कार होता है ? "

" यहाँ उदायी ! भिक्षु सुखको जो ओष ०^२ चतुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है, (तब) कितने देवता एकांत-सुखलोकमें उत्पन्न हैं, उन देवताओंके साथ दहरता है, संलाप करता है,

साक्षात्कार करता है। इतनेसे उदायी ! इसको पृकाल-सुखवाणा लोक साक्षात्कृत (= प्रत्यक्ष) होता है।

“ उदायी ! इसी ० के लिये मेरे पास ब्रह्मचर्य नहीं पालन करते। उदायी ! दूसरे उत्तर-तर = प्रणीततर (= इससे भी उत्तम) धर्म हैं, जिनके साक्षात्कारके लिये भिक्षु मेरे पास ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। ”

“ भन्ते ! यह धर्म ० कौनसे है ? ”

“ उदायी ! यहाँ लोकमें वधागत उत्पन्न होते हैं ०^१ बुद्ध भगवान् ०। वह इन पाँच नीवरणोंको छोड़ चित्तके उपप्लेक्षों (= मलों)को ० प्रथम-ध्यान ०, ० द्वितीय-ध्यान ०, ० तृतीय-ध्यान ०, ० चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरते हैं। वह भी उदायी ! धर्म उत्तर-तर = प्रणीत-तर है, जिनके साक्षात्कारके लिये भिक्षु मेरे पास ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं। वह ०^२ अनेक प्रकारके पूर्व विवासको अनुस्मरण करते हैं ०। ०। च्युत और उत्पन्न होते प्राणियोंको जानते हैं ०। ०। ० दुःखनिरोध-गामिनी-प्रतिपद् ० आसन्न-निरोध-गामिनी-प्रतिपद्को समर्थतः जानते हैं ० ‘सहाँ कुछ नहीं है’, जानते हैं, वह उदायी ! उत्तरतर ० धर्म है, जिसके ० लिये ० मेरे पास ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं। ”

ऐसा कहनेपर उदायी परित्राजकने भगवान् “ (स भगवन्ना मीमी, तव उसकी परिपद्ने) कहा—

“ उदायी ! आप अमण गौतमके पास मत ब्रह्मचर्यपालन करें (= मत शिष्य हों), मत आप उदायी आचार्य होकर भन्तेवासी (= शिष्य) की तरह वास करें, जैसे करका (= मछली) होकर पुरवा होवे, इसी प्रकारकी वह सम्पत् (= अवस्था) आप उदायीकी होगी। आप उदायी ! अमण गौतम ०। ”

इस प्रकार सकल-उदायी ० की परिपद्ने सकल-उदायी ० को भगवान् के पास ब्रह्मचर्यपालन करनेमें विवश बाला।

८०-वेखणस-सुचन्त (२।३।१०)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तोमें अनापिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब वेखणस (= वैखानस) परित्राजक जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान् के पास... समोदनकर एक ओर खड़ा हुआ । एक ओर सबे वेखणस परित्राजकने भगवान् के पास यह उद्दान (= जानदोलानमें निकली बाँझावली) उद्दाना—'यह परम (= उत्तम) वर्ण है ।'

"क्या है, यह परम वर्ण ?"

"भो गौतम ! जिस वर्णसे अधिक अच्छा—प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं है, यह परम-वर्ण है ।"

"कात्यायन ! यह कौनसा वर्ण है, जिस वर्णसे अधिक अच्छा = प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं है ।"

"भो गौतम ! जिस वर्णसे अधिक अच्छा = प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं है, यह परम-वर्ण है ।"

"कात्यायन ! इस वचनको काहे लम्बा करता खोल रहा है—'भो गौतम ! जिस वर्णसे ० यह परमवर्ण है'; किन्तु उस वर्णको नहीं बतलाता । जैसे कात्यायन ! कोई पुरुष ऐसा कहे—'इस जनपद (= देश) में जो जनपद-कल्याणी (= देशको सुन्दरतम स्त्री) है, मैं उसको चाहता हूँ, उसकी कामना करता हूँ । उसको यदि (जोग) ऐसा पूछे—'हे पुरुष ! जिस जनपद-कल्याणीको तू चाहता है, कामना करता है, जानता है, वह क्षत्रियाणी है, ब्राह्मणी है, वैश्य-स्त्री है, या क्षत्री है' ?—ऐसा पूछनेपर 'नहीं' कहे । तब उसने पूछे—'हे पुरुष ! जिस जनपद-कल्याणीको तू चाहता है, (वह) अमुक नामवाली, अमुक गोत्रवाली है, लम्बी, छोटी या मझोली, है, काली, स्वामा या भंगुर (मझोले) वर्णकी है, अमुक ग्राम, निगम या नगरमें रहती है ?—ऐसा पूछनेपर 'नहीं' कहे । तब उससे यह पूछे—'हे पुरुष ! जिसको तू नहीं जानता, जिसको तूने नहीं देखा; उसको तू चाहता है; उसकी तू कामना करता है ?—ऐसा पूछनेपर 'हाँ' कहे । तो क्या मानता है, कात्यायन ! ऐसा कहनेपर क्या उस पुरुषका कथन अर्थहीन नहीं होता ?"

"अब, भो गौतम ! ऐसा कहनेपर उस पुरुषका कथन अर्थहीन हो जाता है ।"

"ऐसे ही कात्यायन ! तू कहता है—'भो गौतम ! जिस वर्णसे ० यह परमवर्ण है', किन्तु उस वर्णको नहीं बतलाता ।

"जैसे भो गौतम ! कुछ उच्चम जातिकी अठकोणी पालिशकी हुई वैदूर्य-मणि (= हीरा) १ ।

"० और तू तो कात्यायन ! जो यह खगन् कीबेसे भी हीनतर निकृष्टतर वर्ण है, उसीको

१ यह १४ परित्राजकका गोक था ।

२ देखो पृष्ठ ११५ ।

परमवर्ण (कहता है), उसीको प्रशंसा करता है ।

“कात्यायन ! यह पाँच काम-गुण^१ (= विषयभोग) हैं । कौनसे पाँच ?—(१) इष्ट, कान्त^२ ०^३ चक्षुद्वारा विज्ञेय रूप; (२) ०^३ श्रोत्र-विज्ञेय शब्द; (३) ०^३ ग्राण-विज्ञेय गंध; (४) ०^३ जिह्वा-विज्ञेय रस; (५) ०^३ काय-विज्ञेय स्पर्श^४ । कात्यायन ! यह पाँच काम-गुण हैं । कात्यायन ! इन पाँच काम-गुणोंको लेकर जो सुख = लौमनस्य उत्पन्न होता है, वह काम-सुख कहा जाता है । इस प्रकार कामोंसे काम-सुख और काम-सुखसे काम-अग्न (= श्रेष्ठ भोग) सुख श्रेष्ठ कहा जाता है ।”

ऐसा कहनेपर वेत्थणस परित्राजकने भगवान्‌से यह कहा—

“आश्चर्य ! भो गौतम ! अद्भुत !! भो गौतम ! क्या सुभाषित (= ठीक कहा) आप गौतमका है—कामोंसे काम-सुख, और कामसुख से कामाग्र-सुख श्रेष्ठ कहा जाता है ।”

“कात्यायन ! अन्य दृष्टिक (= दूसरा मत रखनेवाले) = अन्य-शान्तिक = अन्य-रुचिक, अन्यत्र-आश्रय (= भासक्ति) वाले, अन्यत्र-आचार्यक (= दूसरा ज्ञान रखनेवाले) तेरे लिये काम, काम-सुख, कामाग्र-सुख—यह जानना दुष्कर है । कात्यायन ! जो वह भिक्षु अर्हत् ब्रह्मचर्य प्राप्तकर चुके, हतकरणीय, भारमुक्त ०^३ क्षीणाश्रय हैं, वह इस—काम, काम-सुख, कामाग्रसुखको जान सकते हैं ।”

“ऐसा कहते पर वेत्थणस परित्राजक कुपित-असंतुष्ट-मना हो भगवान्‌को ही सुँसगते, भगवान्‌ पर ही नाराज होते, भगवान्‌ को—‘अग्रण गौतम हो (अज्ञताका) प्राप्त होगा’—(कह) भगवान्‌से यह बोला—

“इसी प्रकार यहाँ कोई कोई अग्रण-जाग्रण पूर्वान्त (= आरम्भ के तौर)को बिना जाने, पश्चिम-अन्तको बिना देखे, यह दावा करते हैं—‘जन्म क्षीण होगया, ब्रह्मचर्यप्राप्त समाप्त होगया, करना या मो कर लिया, अब यहाँ और करनेको नहीं—यह हम जानते हैं ।’ उनका यह कथन हल्क (छोटा) लाभक रिक्त = सुच्छ ही होता है ।”

“कात्यायन ! जो अग्रण जाग्रण पूर्वान्त बिना जाने ० यह दावा करते हैं—‘जन्म क्षीण होगया ० यह हथ जानते हैं’ उनका यह धार्मिक निग्रह होता है । कात्यायन ! ऐसे पूर्वान्त, स्वे पश्चिमान्त; कोई सरल, अ-शठ = अ-मायावी विज्ञ पुरुष आवे; मैं उसे अनुशासन करता हूँ, मैं (उसे) धर्मोपदेश करता हूँ । (मेरे) अनुशासनके अनुसार आचरण करते जल्दी ही स्वयं जानेगा, स्वयं देखेगा—‘इस प्रकार अविद्या (रूपी) बंधनसे मुक्ति होती है । जैसे, कात्यायन ! उतान सोनेवाला, जबोध छोटे घत्थेके (दो हाथों-दो पैरों) और पाँचवें कंठमें सूतके बंधन बँधे हो; उसके होश सँभालनेपर, इन्द्रियों (= ज्ञान)के परिपाक होने पर वह बंधन छूट जाते हैं । वह ‘मैं मुक्त हूँ’ यही जानता है, बंधनको नहीं (जानता); ऐसे ही कात्यायन ! ० कोई ० विज्ञ पुरुष आवे ० स्वयं देखेगा—‘इस प्रकार अविद्या-बंधनसे मुक्ति होती है’ ।”

ऐसा कहने पर वेत्थणस परित्राजकने भगवान्‌से यह कहा—

“आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य !! भो गौतम ! जैसे औषेको सीधा करदे ०^३ यह मैं भगवान्‌ गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी । आप गौतम आजसे मुझे अजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें ।”

(इति परित्राजक वग ॥ २।३ ॥)

^१ देखो पृष्ठ ५३ ।

^२ देखो पृष्ठ २८४ ।

^३ देखो पृष्ठ २५ ।

८१-घटिकार-सुत्तन्त (२।४।१)

आनन्द गृहस्थ-जीवन

ऐसा घने सुना—

एक समय भगवान् महान् भिक्षुसंघके साथ कोसल (देश)में चारिका (= रामत, प्रमण) कर रहे थे ।

तब भगवान्ने भार्गसे हट कर एक स्थानपर स्थित (= मुसकुराहट) प्रकाशित किया । तब आयुष्मान् जानदको यह हुआ—‘क्या हेतु = क्या प्रत्यय है, भगवान्के स्मित करनेका ? तब-गत विना कारणके स्मित प्रकट नहीं किया करते ।’ तब आयुष्मान् जानन्द एक (वामे) कंधे पर उत्तरा रंगको करके, जिधर भगवान् थे, उधर अंजलि जोकर भगवान्से यह बोले—

“भन्ते ! क्या हेतु = क्या प्रत्यय है भगवान्के स्मित प्रकट करनेका ? भन्ते ! तबगत विना कारणके स्मित प्रकट नहीं किया करते ।”

“आनन्द ! पूर्वकालमें इस प्रदेशमें फल (= समृद्ध) = स्त्रीत, बहुजनाकीर्ण वेहलिंग नामक ग्राम-निगम था । वेहलिंगके समीप भगवान् काश्यप जाँव सम्यक्-संशुद्ध विहार किये थे । आनन्द ! यहाँ भगवान् काश्यप जाँव सम्यक्-संशुद्धने बैठकर भिक्षु संघको उपदेश किया था ।”

तब आयुष्मान् जानन्दने जीपेती संघादीको विद्या कर, भगवान्से यह कहा—

“तो भन्ते ! भगवान् बैठे, इस प्रकार यह स्थान दो अर्धतोंसे सेवित होगा ।”

भगवान् थिठे आसन पर बैठकर आयुष्मान् जानन्दसे बोले—

“जानन्द ! पूर्वकालमें इस प्रदेशमें फल = स्त्रीत, बहुजनाकीर्ण वेहलिंग नामक ग्राम-निगम था । वेहलिंगके समीप भगवान् काश्यप जाँव सम्यक्-संशुद्ध विहार किये थे । यहाँ जानन्द ! भगवान् काश्यप ० का आराम था । यहाँ आनन्द ! भगवान् काश्यप ० भिक्षु-संघको उपदेश करते थे ।

“आनन्द ! वेहलिंग ग्राम-निगममें घटिकार नामक कुम्भकार (= कुम्हार) भगवान् काश्यप ० का अध-उपस्थाप (= प्रधानसेवक) रहता था । घटिकार कुम्भकारका जोतिपाल नामक माणवक (= वाक्षण-सहण) प्रियमित्र था । तब आनन्द ! घटिकार कुम्भकारने जोतिपाल माणवक को सम्बोधित किया—‘जाओ चले सौम्य जोतिपाल ! भगवान् काश्यप ० के दर्शनको । उन भगवान् जाँव सम्यक्-संशुद्धका दर्शन साधु-सम्मत है ।’ ऐसा कहने पर आनन्द ! जोतिपाल माणवकने घटिकार कुम्भकारसे यह कहा—‘रहने दो सौम्य घटिकार ! उस सुंदर भ्रमणके देखने से क्या (फल) ? दूसरी बार भी घटिकार ० । तीसरी बार भी घटिकार कुम्भकारने जोतिपाल माणवकको सम्बोधित किया—‘जाओ चले सौम्य जोतिपाल ! ० दर्शन साधु-सम्मत है ।’ तीसरी बार भी आनन्द ! जोतिपाल माणवकने घटिकार कुम्भकारसे यह कहा—‘रहने दो सौम्य घटिकार ! उस सुंदर भ्रमणके देखनेसे क्या ?’ तो सौम्य जोतिपाल ! आनन्द-पूर्ण-पिंड (सोपि मिनाति) के

चलो नहानेके लिये नदी चले ।' 'अच्छा, सौम्य'—(कह) जोतिपाल माणवकने घटिकार कुम्भकार को उत्तर दिया । तब आनन्द ! घटिकार कुम्भकार और जोतिपाल माणवक सोचि-सिनातिको लेकर खानके लिये नदी गये । तब आनन्द घटिकार कुम्भकारने जोतिपाल माणवकसे कहा—'सौम्य जोतिपाल ! यह पास में भगवान् काश्यप ० का आराम है, आओ चले सौम्य जोतिपाल ! ० उन भगवान् ० का दर्शन साधु-सम्मत है ।' ऐसा कहनेपर आनन्द ! जोतिपाल माणवकने घटिकार कुम्भकारसे यह कहा—'रहने दो सौम्य घटिकार ! ० ।' दूसरी बार भी ० । तीसरी बार भी ० ।

'तब आनन्द ! घटिकार कुम्भकारने जोतिपाल माणवकका कपवा पकड़कर कहा—'सौम्य जोतिपाल ! यह पासमें भगवान् काश्यप ० का आराम है, आओ चले सौम्य जोतिपाल ! ० उन भगवान् ० दर्शन साधु-सम्मत है ।' तब आनन्द ! जोतिपाल माणवक कपवा समेटकर घटिकार कुम्भकारसे यह बोला—'रहने दो सौम्य घटिकार ! ० ।' तब आनन्द ! घटिकार कुम्भकारने शिरसे नहाये जोतिपाल माणवकके केशपर हाथ फेरकर यह कहा—'सौम्य जोतिपाल ! यह पासमें ० दर्शन साधु-सम्मत है ।' तब आनन्द ! जोतिपाल माणवकको यह हुला—आश्चर्य भो ! अद्भुत भो ! जोकि यह घटिकार कुम्भकार इतरजाति (= नीच जाति) का होते भी शिरसे नहाये हमारे केशको छू रहा है । यह छोटी बात न होगी, और घटिकार कुम्भकारसे बोला—'अच्छा, सौम्य घटिकार !' 'अच्छा, सौम्य जोतिपाल ! उन भगवान् ० का दर्शन वैसा साधु सम्मत है ।' 'तो सौम्य घटिकार ! छोड़ो चलेगा' ।

'तब आनन्द ! घटिकार कुम्भकार और जोतिपाल माणवक जहाँ भगवान् काश्यप ० सम्मुख-संमुख थे वहाँ गये । घटिकार कुम्भकार भगवान् काश्यप ० को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । जोतिपाल माणवक भी भगवान् काश्यप ० के साथ सम्मोदनकर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे आनन्द ! घटिकार कुम्भकारने भगवान् काश्यप ० से यह कहा—'भन्ते ! यह जोतिपाल माणवक मेरा भ्रियमित्र है, इसे भगवान् धर्मोपदेश करें' । तब आनन्द ! भगवान् काश्यप ० ने घटिकार कुम्भकार और जोतिपाल माणवकको धार्मिक कथाद्वारा संदर्शित = समुत्तेजित, संप्रशंसित किया । तब आनन्द ! घटिकार कुम्भकार और जोतिपाल माणवक भगवान् काश्यप ० की धार्मिक कथाद्वारा ० समुत्तेजित संप्रशंसित हो, भगवान् काश्यप ० के भाषणको अभिनन्दित अनुभूतित कर, आसनसे उठ, भगवान् काश्यपको अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चले गये ।

'तब आनन्द ! जोतिपाल माणवकने घटिकार कुम्भकारसे यह कहा—'वाहो ! सौम्य घटिकार ! धर्म सुनते भी तो घरसे बेघर हो प्रव्रजित नहीं होता ।' क्यों सौम्य जोतिपाल ! तुम जानते हो, अंधे माता-पिताको मैं पोसता हूँ ?' 'तो सौम्य घटिकार ! मैं घरसे बेघर हो प्रव्रजित होता हूँ ?'

'तब आनन्द ! घटिकार कुम्भकार और जोतिपाल माणवक जहाँ भगवान् काश्यप ० थे, वहाँ गये । ० एक ओर बैठे घटिकार कुम्भकारने भगवान् काश्यप ० से यह कहा—'भन्ते ! यह जोतिपाल माणवक मेरा भ्रियमित्र है, इसे भगवान् प्रव्रजित करें ।' आनन्द ! जोतिपाल माणवकने भगवान् काश्यप ० के पास प्रव्रज्या उपसम्पदा पाई ।

'तब आनन्द ! जोतिपालके उपसम्पन्न (= भिक्षु) होनेके थोड़े ही समय बाद, पन्द्रह दिन बाद, भगवान् काश्यप ० वेदलिगमें इच्छापूर्वक विहार कर वाराणसीकी ओर चल दिये । कम्मतः चारिका करते जहाँ वाराणसी है, वहाँ पहुँचे । वहाँ आनन्द ! भगवान् काश्यप ० वाराणसीमें श्रृपिपतन स्मृदावमें विहार करते थे । आनन्द ! काशिराज विक्रिने सुना—भगवान् काश्यप ०

वाराणसीमें पहुँच...कपिलतन शृंगदावमें विहार करते हैं। तब आनन्द! काशिराज किकि उत्तमोत्तम यानोंको लुटवाकर, (एक) उत्तम यान (= रथ) पर (स्वयं) आरुढ़ हो उत्तमोत्तम यानोंके साथ धड़े ० राजसी डाटवाटके साथ भगवान् काश्यप ० के दर्शनार्थ वाराणसी (= बनारस) से निकला। जितना यानका रास्ता था, उतना यानसे जा (फिर) यानसे उतर पैदल हो जहाँ भगवान् काश्यप ० थे, वहाँ जाकर...भगवान् काश्यप ० को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे काशिराज किकिने भगवान् काश्यप ० ने धार्मिककथासे ० समुपेक्षित संव्रसित किया। तब भगवान् काश्यप ० से ० संव्रसित हो काशिराज किकि भगवान् काश्यप ० से यह बोला—'भन्ते! भगवान् मित्रु-संघके साथ कलके लिये मेरा भोजन स्वीकार करें। भगवान् काश्यप ० ने मौनसे स्वीकार किया। तब आनन्द! काशिराज किकिने भगवान् काश्यप ० की स्वीकृतिको जान कर, जासनसे उठ भगवान् काश्यप ० को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चला गया।

"तब आनन्द! काशिराज किकिने उस रातके बीतनेपर अपने मकानपर कालिमारहित पंडुमुष्टिक (लाल धानका भात), अनेक ध्वजनों (= तिर्यंज) का उत्तम लाघ-भोज्य तैयार करा, भगवान् काश्यप ० को कालकी सूचना दी—'(भोजनका) काल है भन्ते! भात तैयार है'। तब आनन्द! एवाँहके समस्त पहिनकर पाद-चीवर ले मित्रुसंघके साथ भगवान् काश्यप ० जहाँ काशिराज किकिका घर था, वहाँ गये; जाकर मित्रुसंघके साथ घिटे आसनपर बैठे। तब आनन्द! काशिराज किकिने जुद्धप्रमुख मित्रुसंघको अपने हाथसे उत्तम लाघ-भोज्य परोस संतर्पित = संव्रसित किया।

"तब आनन्द! भगवान् काश्यप ० के भोजनकर हाथ हटा लेनेपर, काशिराज किकि एक नीचा आसन ले एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे काशिराज किकि भगवान् काश्यप ० से यह कहा—'भन्ते! भगवान् वाराणसीमें वर्षावास स्वीकार करें, इस प्रकारसे संघकी सेवा होगी।' 'नहीं, महाराज! वर्षावास मेरा हो चुका'। दूसरी पार भी ०। तीसरी पार भी ०। तब आनन्द! काशिराज किकिको 'भगवान् ० वाराणसीमें वर्षावास नहीं स्वीकार करते—(सोच) दुःख हुआ, विमलता हुई। तब आनन्द! काशिराज किकिने भगवान् काश्यप ० से यह कहा—'स्वा भन्ते! आपका मुखसे भी अच्छा कोई उपस्थाक (= सेवक) है?' 'महाराज! वैदलिंग नामक ग्राम-निगम है, वहाँ घटिकार नामक कुंभकार है, वह मेरा अग्र उपस्थाक है। तुझे महाराज!—भगवान् वाराणसीमें मेरा वर्षावास (निमंत्रण) स्वीकार नहीं करते—(यह सोचकर) दुःख हुआ, वेमलता हुई; घटिकार कुंभकारको यह नहीं होती, न होवेगी। महाराज! घटिकार कुंभकार बुद्धकी शरण गया है, धर्मकी शरण गया है, संघकी शरण गया है। महाराज! घटिकार कुंभकार प्राणातिपात (= हिंसा) से विरत, अदत्तादान (= चोरी) से विरत, काम-मिथ्याचारसे विरत, सृष्टावाद (= झूठ) से विरत, सुरा-मेरव-जल-प्रसादस्थान (= नशीली चीजें) से विरत है। महाराज! घटिकार कुंभकार बुद्धमें अतीव अद्वायुक्त, धर्ममें ०, संघमें अतीव अद्वायुक्त है, आर्य-कान्त जीलों (= सुन्दर सदाचारों) युक्त है। महाराज! घटिकार कुंभकार दुःख में (सत्य) में संशय-रहित है, दुःख-समुदयमें संशय-रहित, दुःख-निरोधमें संशय-रहित, दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपत्ति में संशय-रहित है। महाराज! घटिकार कुंभकार एकाहारी, मज्जकारी, शीलवान् कल्याणधर्मा (= पुण्यात्मा) है। महाराज! घटिकार कुंभकार मणिसुवर्ण-श्यामी, सोना-चाँदी-

विरत है। महाराज ! घटिकार कुम्भकार मूयल (जादि कूटने छोड़नेके इधियाओं)-त्यागी है, अपने हाथसे पृथिवी को नहीं खोदता। उसके घर पर आनेवाले चूहे कुकरोको भी (भोजन) बाँट कर कहता है—'यहाँ जो चावल, मूंग, या मटर जिस किसी भोजनको चाहता है, (चाकी को) छोड़ उसे ले जाये। महाराज ! घटिकार कुम्भकार अपने माता-पिताको पोसता है। महाराज ! घटिकार कुम्भकार पाँच अवर-भागीय-संयोजनोंके समयसे उस (लोक) में औपपातिक (= देवता) हो निर्वाण पानेवाला है, उस लोकसे लौटकर न आनेवाला है।

'महाराज ! एक समय मैं वेहलिंग ग्राम-निगममें विहार करता था। तब महाराज ! पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्र-बोहर ले मैं जहाँ घटिकार कुम्भकारका घर है, वहाँ गया। जाकर घटिकार कुम्भकारके माता पितासे यह कहा—'हन्त ! यह भारीव कहाँ गया है ?' 'भन्ते ! आपका उपत्याक बाहर गया हुआ है, इस हैडिया (= कुम्भी) से भात लेकर, वर्तन (= परियोग) से सूप (= दाल, स्नान) लेकर भोजन करें।' तब महाराज ! मैंने कुम्भीसे भात और परियोगसे सूप ले भोजन कर, आसनसे उठकर चला दिया। तब महाराज ! घटिकार कुम्भकार जहाँ (उसके) माता-पिता थे, वहाँ गया; जाकर माता-पितासे यह बोला—'कौन कुम्भीसे भात और परियोग से सूप ले भोजनकर आसनसे उठकर चला गया ?' 'तात ! भगवान् काश्यप ० कुम्भीसे भात ले ० भोजनकर ० चले गये।' तब महाराज ! घटिकार कुम्भकारको यह हुआ—'सुखाम है हो ! मेरा; (जो कि) मेरे ऊपर भगवान् काश्यप ० का इतना विश्वास है।' तब महाराज ! घटिकार कुम्भकार को उस प्रीतसुख (= प्रसन्नताके सुख) ने अर्ध मासतक नहीं छोड़ा, (और) माता-पिताको सप्ताह भर (नहीं छोड़ा)।

'महाराज ! एक बार मैं उसी वेहलिंग ग्राम-निगममें विहार करता था। तब महाराज ! मैं पूर्वाह्न समय पहिनकर, पात्र-बोहरले जहाँ घटिकार कुम्भकारके माता पिता थे, वहाँ गया। जाकर ० माता-पितासे यह बोला—'हन्त ! यह भारीव कहाँ गया है ?' ०' तब महाराज मैं फलोपी (= वर्तन) से कुम्भाप (= कुलधी), परियोगसे सूप ले, भोजनकर आसनसे उठकर चला गया।' ०' माता-पिताको सप्ताह भर।

'महाराज ! एकवार मैं उसी वेहलिंग ग्राम-निगममें विहार करता था। उस समय (मेरी) गंधकुटी चू रही थी। तब महाराज ! मैंने भिक्षुओंसे कहा—'जाओ भिक्षुओ ! घटिकार कुम्भकारके घर पर, तृण ढूँँगे।' ऐसा कहने पर महाराज ! भिक्षुओंने मुझे कहा—'भन्ते ! घटिकार कुम्भकारके घरपर तृण नहीं है; (किन्तु) मया जाया हुआ है।' 'जाओ भिक्षुओ ! घटिकार कुम्भकारके घरको तृण-बिना कर दिया।' तब महाराज ! उन भिक्षुओंने घटिकार कुम्भकारके घरको तृण-बिना कर दिया। तब महाराज ! घटिकार कुम्भकारके माता-पिताने भिक्षुओंसे यह कहा—'कौन घरको उजाड़ रहे हैं ?' 'भिक्षु, भगिनी ! भगवान् काश्यप ० की गंधकुटी चू रही है।' 'ले जाओ, भन्ते ! ले जाओ भिक्षुओ ! तब महाराज ! घटिकार कुम्भकार जहाँ माता-पिता थे वहाँ गया। जाकर माता-पितासे बोला—'किनने घरको उजाड़ दिया (= बेजानका कर दिया) ?' 'भिक्षु, तात ! भगवान् काश्यप ० की गंधकुटी चू रही थी।' तब महाराज ! घटिकार कुम्भकार-पुत्रको ऐसा हुआ—'सुखाम है हो ! ० माता-पिताको सप्ताह भर। तब महाराज ! वह तारा घर तीन मास तक आकाश-छदन (= आकाशही जितकी छत है) रहा, किन्तु नहीं चुभा। महाराज ! इस प्रकार

१ कुम्भी भात पानेके बने वर्तनका नमूना है, और परियोग दाल आदि सूप पकाने लायक वर्तनका।

२ ऊपर बैठे ही।

का है घटिकार कुम्भकार ।' 'मन्ते ! घटिकार कुम्भकारको लाभ है, * सुखाम है, * सु-सम्पन्न लाभ है, जिसपर भगवान्का इतना अधिक विश्वास है ।

“तब आनन्द ! काशिराज किकिने घटिकार कुम्भकारके पास पाँच सौ गाड़ी पट्टु-मुटिक, शालीका चावल, और उसके योग्य सूयकी चीज भेजी । तब आनन्द ! उन राज-पुरुषोंने घटिकार कुम्भकारके पास जाकर यह कहा—‘मन्ते (= स्वामी) ! यह पाँचसौ गाड़ी पट्टु-मुटिक, शालीका चावल, और उसके योग्य सूयकी चीजें आपके पास काशिराज किकिने भेजी हैं, इन्हें मन्ते ! स्वीकार करें ।’ ‘राजाको बहुत कृत्य है, बहुत करणीय है, मेरे लिये जरूरत नहीं, राजाकी ही (यह) हो ।’

“शायद, आनन्द ! तुझे ऐसा हो, यह जोतिपाल मानवक कोई और होगा । आनन्द ! ऐसा नहीं ख्याल करना चाहिये, मैं ही उस समय जोतिपाल मानवक था ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् आनन्दने भगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

८२-रुद्रपाल-सुत्तन्त (२।४।२)

लागवय भिक्षु-जीवन । भोगोंकी असाराता

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कुरु (देश)में महाभिक्षु-संघके साथ धारिका करते, जहाँ धुल्लकोटित नामक कुरुओंका निगम (= कसबा) था, वहाँ पहुँचे ।

धुल्लकोटित (= स्थलकोटित)वासी ब्राह्मण गृहपतियोंने सुना—भगवन् ०^१ भ्रमण गौतम धुल्लकोटितमें प्रसू हुये हैं ० । ० 'इस प्रकारके जहाँतोंका दर्शन अच्छा होता है । तब धुल्लकोटितके ब्राह्मण-गृहपति जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर कोई कोई अभिवादनकर एक ओर बैठ गये । ० कोई कोई चुपचाप एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे धुल्लकोटित-वासी ब्राह्मण गृहपतियोंको भगवान्ने धार्मिक कथाले संदर्भित, प्रेरित, समुत्तेजित, संप्रशंसित किया ।

उस समय उसी धुल्लकोटितके अग्र-कुलिकका पुत्र राष्ट्र-पाल उस परिषद्में बैठा था । तब राष्ट्र-पालको ऐसा हुआ जैसे भगवान् धर्म उपदेशकर रहे हैं, यह अत्यन्त परिशुद्ध संन्यासा हुआ ब्रह्मचर्य-पालन गृहमें पास करते सुकर नहीं है । क्यों न मैं केश-दमधु मुँडाकर, कायाग वस्त्र पहिनकर, घरसे बेघर हो प्रव्रजित होजाऊँ । तब धुल्लकोटित-वासी ब्राह्मण-गृहपति भगवान्से धार्मिक कथा हारा ० समुत्तेजित, संप्रशंसित हो, भगवान्के भाषणको अभिनिन्दन, अनुमोदनकर, वास्तवसे उठ, भगवान्को अभिवादनकर, प्रदक्षिणाकर, चले गये । तब राष्ट्र-पाल कुलपुत्र ० ब्राह्मणोंके चले-जानेके थोड़ी ही देर बाद जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे राष्ट्रपाल कुल-पुत्रने भगवान्से कहा—

“भन्ते ! जैसे जैसे मैं भगवान्के उपदेश किये धर्मको समझता हूँ, यह ० शंख-लिखित ब्रह्मचर्य-पालन गृहमें पास करते सुकर नहीं है । भन्ते ! मैं भगवान्के पास प्रव्रज्या पाऊँ, उपर्यपदा पाऊँ ।”

“राष्ट्र-पाल ! क्या तुने माता-पितासे घरसे बेघर हो प्रव्रज्याके लिये आज्ञा पाई है ?”

“भन्ते ! ० आज्ञा नहीं पाई ।”

“राष्ट्रपाल ! माता-पितासे बिना आज्ञा पायेको तयागत प्रव्रजित नहीं करते ।”

“भन्ते ! सो मैं चैसा कहूँगा, जिसमें माता-पिता सुखे ० प्रव्रज्याके लिये आज्ञा दें ।”

“तब राष्ट्रपाल कुल-पुत्र आसनसे उठकर, भगवान्को अभिवादनकर, प्रदक्षिणाकर जहाँ माता-पिता थे, वहाँ गया । जाकर माता-पितासे कहा—

“अम्मा ! तत ! जैसे जैसे मैं भगवान्के उपदेश किये धर्मको समझता हूँ, यह ० शंख-लिखित (= छिले शंखकी तरह निर्मल श्वेत) ब्रह्मचर्य-पालन, गृहमें पास करते सुकर नहीं है ।

^१ देशो षण्ड २४, १५८।

मैं ० प्रवर्जित होना चाहता हूँ । घरसे बेघर हो प्रवर्जित होनेके लिये मुझे आज्ञा दो ।”

ऐसा कहनेपर राष्ट्रपाल कुल-पुत्रके माता-पितासे राष्ट्रपाल ० से कहा—

“तात राष्ट्रपाल ! तुम हमारे मित्र = भ्राताप, सुखमें पड़े, सुखमें पड़े एक पुत्र हो । तात राष्ट्रपाल ! तुम दुःख कुल भी नहीं जानते । आओ तात राष्ट्रपाल ! आओ, विधो, विचरो । आते-पीते-विचरते, कामोंका परिभोग करते, सुख करते, रमण करो । हम तुम्हें ० प्रवर्ज्याके लिये आज्ञा न देंगे । मरनेपर भी हम तुमसे बे-चाह न होंगे, तो फिर कैसे हम तुम्हें जोते जाँ ० प्रवर्जित होने की आज्ञा देंगे ।”

दूसरी बार भी ० । तीसरी बार भी ० ।

तब राष्ट्रपाल कुलपुत्र माता-पिताके पास प्रवर्ज्या (की आज्ञा) को न पा, वहीं नंगी धरती पर पड़ा गया ।—“वहीं मेरा मरण होगा, या प्रवर्ज्या” । तब ० माता-पितासे राष्ट्रपाल ० से कहा—

“तात राष्ट्रपाल ! तुम हमारे मित्र ० एक पुत्र हो ० ।”

ऐसा कहनेपर राष्ट्रपाल कुल-पुत्र चुप रहा ।

० दूसरी बार भी ० । ० । ० तीसरी बार भी राष्ट्रपाल कुल-पुत्र चुप रहा ।

तब राष्ट्रपाल ० के माता-पिता जहाँ राष्ट्रपाल कुल-पुत्रके मित्र थे, वहाँ गये । जाकर कहा—

“तातो ! यह राष्ट्रपाल कुल-पुत्र नंगी धरतीपर पड़ा है—‘वहीं मरण होगा या प्रवर्ज्या’ । आओ तातो ! जहाँ राष्ट्रपाल है, वहाँ जाओ । जाकर राष्ट्रपाल ० को कहो—सौम्य राष्ट्रपाल ! तुम माता-पिताके मित्र ० एक पुत्र हो ० ।”

तब राष्ट्रपाल ० के मित्र राष्ट्रपाल ० के माता-पिता (की बात) को सुनकर, जहाँ राष्ट्रपाल ० था, वहाँ गये; जाकर ० कहा—

“सौम्य राष्ट्रपाल ! तुम माता-पिताके मित्र ० एक पुत्र हो ० ।”

ऐसा कहनेपर राष्ट्रपाल ० चुप रहा । दूसरी बार भी ० । ० । तीसरी बार भी ० । ० ।

तब राष्ट्रपाल ० के मित्रों (= सहायक) ने ० राष्ट्रपाल ० के माता-पितासे कहा—

“अम्मा ! तात ! यह राष्ट्रपाल ० वहीं नंगी धरतीपर पड़ा है—‘वहीं मेरा मरण होगा, या प्रवर्ज्या’ । यदि तुम राष्ट्रपाल ० को ० अनुज्ञा न दोगे, तो वही उसका मरण होगा; यदि तुम ० आज्ञा दोगे, प्रवर्जित हुये भी उसे देखोगे; यदि राष्ट्रपाल ० प्रवर्ज्यामें भन न लगा सके, तो, उसकी और दूसरी क्या गति होगी ? वहीं लौट आयेगा । (जतः) राष्ट्रपाल ० को प्रवर्ज्याकी अनुज्ञा दो ।”

“तातो ! हम राष्ट्रपाल ० की ० प्रवर्ज्याकी अनुज्ञा (= स्वीकृति) देते हैं; लेकिन प्रवर्जित हो, माता-पिताको दर्शन देना होगा ।”

तब राष्ट्रपाल कुल-पुत्रके सहायक ०, जाकर राष्ट्रपाल ० से बोले—

“सौम्य राष्ट्रपाल ! तू माता-पिताका मित्र ० एक पुत्र है ० । माता-पितासे ० प्रवर्ज्या के लिये तू अनुज्ञात है । लेकिन प्रवर्जित हो माता-पिताको दर्शन देना होगा ।”

तब राष्ट्रपाल ० उठकर, बल ग्रहणकर जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर ० एक ओर बैठे हुये ० भगवान्से कहा—

“भन्ते ! मैं माता-पितासे ० प्रवर्ज्याके लिये अनुज्ञात हूँ । मुझे भगवान् प्रवर्जित करें ।”
राष्ट्रपाल ० ने भगवान्के पास प्रवर्ज्या और उपसम्पदा प्राप्त की । तब नागसम्मान्

राष्ट्रपालके उपसंयम (= मित्र होना) होनेके बोधी ही देखे बाद, आधा भाग उपसंयम होनेपर, भगवान् सुलकोटितमें बोलके बिहारकर निजर आवली थी, उधर चारिकाके लिये चल पड़े। क्रमशः चारिका करते जहाँ आवली थी, वहाँ पहुँचे। वहाँ भगवान् श्रावस्तीमें अनाम-मिडिकके आराम अंतवनमें बिहार करते थे। तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल...० आत्म-संयमो हो 'विहरते जग्दी हो, जिसके लिये कुल-पुत्र टीकसे वरसे बेधर हो प्रमजित होते हैं, उस सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं अभिज्ञानकर, साक्षात्कारकर, प्राप्तकर विहरने लगे। 'जाति (= जन्म) क्षीण हो गई, ब्रह्मचर्य-पालन हो चुका, करना था तो कर लिया, और वहाँ करनेको नहीं है'—जान लिया। आयुष्मान् राष्ट्रपाल जहाँतोंमें एक हुये।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल जहाँ भगवान् थे, "जाकर, भगवान्को अभिवादनकर" एक ओर बैठे "भगवान्से बोले—

"भन्ते ! यदि भगवान् अनुज्ञा दें, तो मैं माता-पिताको दर्शन देना चाहता हूँ।"

तब भगवान्ने सबसे राष्ट्रपालके सबसे विचारको जाना। तब भगवान्ने जान लिया, राष्ट्रपाल कुल-पुत्र (मित्र-) मित्राको छोड़, गृहस्थ धननेके अनोख है, तब भगवान्ने आयुष्मान् राष्ट्रपालसे कहा—

"राष्ट्रपाल ! जिसका इस एक समय समय, (वैसाकर)।"

तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल आसनसे उठकर भगवान्को अभिवादन कर, प्रवृत्तिणा कर, शयना-गम सैनाक (= जिम्मे लगा), पात्र-बीवर ले, निजर सुलकोटित था, उधर चारिकाके लिये चल पड़े। क्रमशः चारिका करते जहाँ सुलकोटित था, वहाँ पहुँचे। वहाँ आयुष्मान् राष्ट्रपाल सुलकोटितमें राजा कौरवके मित्राचीवर (नामक उषान)में विहार करते थे।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल पौड-समय पहन कर, पात्र बीवर ले, सुलकोटितमें पिंडके लिये प्रविष्ट हुये। सुलकोटितमें बिना ठहरे पिंडचार करते, जहाँ अपने पिताका घर था, वहाँ पहुँचे। उस समय आयुष्मान् राष्ट्रपालका पिता बिचली द्वारशालामें बाल धनवा रहा था। पिताने दूरसे ही आयुष्मान् राष्ट्रपालको आते देखा। देखकर कहा—'इन मुंडकों अमणकोने मेरे मित्र = मनाप एकलौते पुत्रको प्रमजित कर लिया।' तब आयुष्मान् राष्ट्रपालने अपने पिताके घरमें न दान पाया, न प्रत्याख्यान (= इन्कार), बल्कि फटकार हो पाई। उस समय आयुष्मान् राष्ट्रपालकी जाति-दासी बानी कुम्भाप (= दास) पैकना चाहती थी। तब आयुष्मान् राष्ट्रपालने उस जाति-दासी (= जातिपालकी दासी)से कहा—

"भगिनी ! यदि दासी कुम्भापको पैकना चाहती है, तो वहाँ मेरे पात्रमें डाल दे।"

तब ० जातिदासीने उस दासी कुम्भापको आयुष्मान् राष्ट्रपालके पात्रमें डालते समय, हाथों, पैरों, और स्वरको पहिचान लिया। तब ० जाति-दासी जहाँ आयुष्मान् राष्ट्रपालकी माता थी, वहाँ गई; जाकर आयुष्मान् राष्ट्रपालकी भतासे बोली—

"अरे ! अम्मा !! जानती हो, आर्यपुत्र राष्ट्रपाल आये हैं ?"

"जे ! यदि सच बोलती है, तो अदासी होंगी।"

तब आयुष्मान् राष्ट्रपालकी माता जहाँ आयुष्मान् राष्ट्रपालका पिता था, वहाँ जाकर "बोली—

"अरे ! गृहपति !! जानते हो, राष्ट्रपाल कुल-पुत्र आया है ?"

उस समय आयुष्मान् राष्ट्रपाल उस यात्री कुम्भापको किसी भीतके सहारे (बैठकर) खा रहे थे। आयुष्मान् राष्ट्रपालका पिता वहाँ आयुष्मान् राष्ट्रपाल थे, वहाँ गया, जाकर आयुष्मान् राष्ट्रपालसे बोला—

“तात राष्ट्रपाल ! बासी दाल खाते हो। तो तात राष्ट्रपाल ! घर चलना चाहिये।”

“गृहपति ! घर छोड़ बेघर हुये हम प्रमजितोंका घर कहीं ? गृहपति ! हम बेघरके हैं। तुम्हारे घर गया था, वहाँ न दान पाया, न प्रलाब्धान, बल्कि फटकार ही पाई।”

“भाबो, तात राष्ट्रपाल ! घर चलो।”

“जस गृहपति ! आज मैं भोजन कर चुका।”

“तो तात राष्ट्रपाल ! कलका भोजन स्वीकार करो।”

आयुष्मान् राष्ट्रपालने मौनसे स्वीकार किया।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपालका पिता, आयुष्मान् राष्ट्रपालकी स्वाँकृतिकी जानकारी, वहाँ अपना घर भा, वहाँ... जाकर, हिरण्य (= अनाड़ी), सुवर्णकी बड़ी राशि करवा, चटाईसे ईकबाकर, आयुष्मान् राष्ट्रपालकी स्त्रियोंको आमंत्रित किया—

“भाबो बहुओ ! जिस अलंकारसे अलंकृत हो पहिले राष्ट्रपाल कुल-पुत्रकी तुम मिय = मनाप होती थीं, उन अलंकारोंसे अलंकृत होओ” तब आयुष्मान् राष्ट्रपालके पिताने उस रातके पीत जाने पर, अपने घरमें उत्तम खाद्य भोज्य तय्यार कर, आयुष्मान् राष्ट्रपालको दाल सूचित किया—‘काल है तात राष्ट्रपाल ! भोजन तय्यार है’। तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल पूर्वाह्न समय पहिन कर, पात्र चोवर ले वहाँ उनके पिताने घर था, वहाँ गये। जाकर बिटे आसन पर बैटे। तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल का पिता हिरण्य, सुवर्णकी राशिको खोल कर आयुष्मान् राष्ट्रपालसे बोला—

“तात राष्ट्रपाल ! यह मेरी माताका (= मातृक) धन है, पिताने, पितामहका जलरा है। तात राष्ट्रपाल ! भोग भी भोग सकते हो, पुण्य भी कर सकते हो। जानो तुम तात राष्ट्रपाल ! (भिक्षु-) शिक्षा (= दीक्षा) को छोड़ गृहस्थ बन, भोगोंको भोगी, और पुण्योंको करो।”

“यदि गृहपति ! तू मेरी बात करे, तो इस हिरण्य, सुवर्ण-पुंजकी गावियोंपर रखवा, कुलवाकर गंगा सदीकी बीच धारमें काल दे। सो किसलिये ? गृहपति ! इसके कारण तुझे शोक = परिदेव, दुःख = दोर्मनस्य = उपावास न उत्पन्न होंगे।”

तब आयुष्मान् राष्ट्रपालकी प्रत्येक भावोंमें पैर पकड़ आयुष्मान् राष्ट्रपालने बोलीं—

“आर्यपुत्र ! कैसी वह अप्सरायें हैं, जिनके लिये तुम वस्यचर्य पालन कर रहे हो ?”

“बहिनो ! हम अप्सराओंके लिये वस्यचर्य नहीं पालन कर रहे हैं।”

भगिनी (= बहिन) कहकर हमें आर्य-पुत्र राष्ट्रपाल पुकारते हैं (सोच), वह वहाँ सुकित हो गिर पड़ी। तब आयुष्मान् राष्ट्रपालने पिताने कहा—

“गृहपति ! यदि भोजन देना है, तो दे। हमें कुछ भत दे।”

“भोजन करो तात राष्ट्रपाल ! भोजन तय्यार है।”

तब आयुष्मान् राष्ट्रपालके पिताने उत्तम खाद्य भोज्यते अपने हाथ आयुष्मान् राष्ट्रपालकी संतर्पित-संप्रचारित किया। तब आयुष्मान् राष्ट्रपालने भोजनकर, पात्रने हाथ हटा, खड़े खड़े यह गावायें कहीं—

“देखो (इत) विचित्र घने विव (= आकार) को, (जो) वणपूर्ण, सजित।

आतुर, बहु-संकल्प (है) ; जिसकी स्थिति स्थिर (= भुव) नहीं है ।

देखो विचित्र घने रूपको, (जो) भलि और कुंदलके साथ ।

इसी चमकेसे बँधा, वस्त्रके साथ शोभता है ।

महावर लगे पैर, चूर्णक (= पौडर) पोता हुई ।

बालक (= मूर्ख) को मोहनेमें समर्थ है, पार-गवेपीको नहीं ।

बल पड़े केस, अंजन-अजित मेक ।

बालकको मोहनेमें समर्थ है, पारगवेपीको नहीं ।

नई विचित्र अंजन-नालीकी भाँति अलंकृत (यह) सदा करीर ।

बालकको * ।

आवासे जाल फैलाया, (किन्तु) मृग जालमें नहीं आया ।

बाराको बाकर आशोंके रोते (ओष) जा रहा है । ”

तब आयुष्मान् राष्ट्रपालने खड़े खड़े दून् गाथाओंको कहकर, जहाँ कौरव्यका मिमाचीर (उद्यान) था, वहाँ गये । जाकर एक वृक्षके नीचे दिगके विहारके लिये बैठे ।

तब राजा कौरव्यने मिगव (नामक माली) को संबोधित किया—

“सौम्य मिगव (= सुगन्ध) ! मिमाचीरको साफ करो, उद्यान-भूमि = सुभूमि देखनेके लिये जाऊँगा । ”

मिगवने राजा कौरव्य को “अच्छा देव ! ” कह कर, मिमाचीरको साफ करते, एक वृक्षके नीचे दिगके विहारकेलिये बैठे आयुष्मान् राष्ट्रपालको देखा । देखकर जहाँ राजा कौरव्य था, वहाँ गया, जाकर कौरव्यसे बोला—

“देव ! मिमाचीर साफ है, और वहाँ इसी शुलकोट्टितके अग्रकुलिकका राष्ट्रपाल नामक कुल-पुत्र, जिसकी कि आप हमेशा तारीफ करते रहते हैं, एक वृक्षके नीचे दिगके विहारके लिये बैठा है । ”

“तो सौम्य मिगव ! आज अब उद्यान-भूमि जाने दो, आज उन्हीं आप राष्ट्रपालकी उपासना (= सत्संग) करेंगे । ”

तब राजा कौरव्य, जो कुल सांग भोज्य सत्कार था, सबको ‘डोकचो ! ’ कह, अच्छे अच्छे घास जुतावा, (एक) अच्छे घानवर चढ़, अच्छे अच्छे घानोंके साथ बड़े राजसी हाटसे आयुष्मान् राष्ट्रपालके दर्शनके लिये, शुलकोट्टितसे निकला । जिसकी घानकी भूमि थी, उतना जानसे जा, (फिर) जानसे उतर पैदलही छोटी मंढलीके साथ जहाँ आयुष्मान् राष्ट्रपाल थे, वहाँ गया, जाकर आयुष्मान् राष्ट्रपालके साम ‘संमोदन किया’ (और) एक ओर खड़ा हो गया । एक ओर खड़े हुये राजा कौरव्यने आयुष्मान् राष्ट्रपालसे कहा—

“आप राष्ट्रपाल वहाँ मालीके (= हस्तधर) पर बैठें । ”

“नहीं महाराज ! तुम बैठो, मैं अपने आसनपर बैठा हूँ । ”

राजा कौरव्य बिठे आसनपर बैठ गया । बैठकर राजा कौरव्यने आयुष्मान् राष्ट्रपालसे कहा—

“हे राष्ट्रपाल ! यह चार हानियाँ (= पारिवर्त्य) हैं, जिन हानियोंसे कुछ कोई कोई

पुरुष कैश-श्मश्रु सुँववा, कापाप वध पहिन, घरसे बेघर हो प्रमजित होते हैं । कौनसे चार ? जरा-हानि, व्याधि-हानि, योग-हानि, जाति-हानि । कौन है हे राष्ट्रपाल ! जराहानि ? (१) हे राष्ट्रपाल ! कोई (पुरुष) जीर्ण = बुद्ध = महत्क = अंगगत = वधःप्राप्त होता है । वह ऐसा सोचता है, मैं इस समय जीर्ण = बुद्ध = हूँ, जब मेरे लिये अप्राप्त भोगोंका प्राप्त करना या प्राप्त भोगोंको

भोगना सुकर नहीं है। क्यों न मैं केश-श्मश्रु सुँवाकर काषाय-वस्त्र पहिन ० प्रमज्जित हो जाऊँ। वह उस जरा-हानिसे युक्त हो ० प्रमज्जित होता है। हे राष्ट्रपाल ! यह जराहानि कही जाती है। लेकिन आप राष्ट्रपाल ! तर्पण, बहुत काले केशोंवाले, सुन्दर शौचवसे युक्त, प्रथम वयसके हैं। सो आप राष्ट्रपालको जरा-हानि नहीं है। आप राष्ट्रपाल क्या जानकर, देखकर, सुनकर, घरसे बेघर हो प्रमज्जित हुये ? (२) हे राष्ट्रपाल ! व्याधि-हानि क्या है ? हे राष्ट्रपाल ! कोई (पुरुष) रोगी, दुःखी, सकल बीमार होता है, वह ऐसा सोचता है—‘मैं अब रोगी, दुःखी, सकल बीमार हूँ, अब मेरे लिये अप्राप्त भोगोंका प्राप्त ०। यह व्याधिहानि कही जाती है। लेकिन आप राष्ट्रपाल इस समय, व्याधि-रहित, आतंक-रहित, न-जति-शीत, न-जति-उष्ण, सम-विपाकवाली पाचनशक्ति (= प्रणों) से युक्त हैं, सो आप राष्ट्रपालको व्याधि-हानि नहीं है ० ? (३) हे राष्ट्रपाल ! भोग-हानि क्या है ? हे राष्ट्रपाल ! कोई (पुरुष) आत्म, महाप्रती, महाभोग-वान् होता है, उसके वह भोग कमशः क्षय हो जाते हैं। वह ऐसा सोचता है—‘मैं पहले आत्म ० था, सो मेरे वह भोग कमशः क्षय हो गये, अब मेरे लिये अप्राप्त भोगोंका प्राप्त करना ०। आप राष्ट्रपाल तो इसी शुद्धकोटितमें अत्यन्त-लिकके पुत्र हैं। सो आप राष्ट्रपालको भोग-हानि नहीं है ० ? (४) हे राष्ट्रपाल ! जाति-हानि क्या है ? हे राष्ट्रपाल ! किसी (पुरुष) के बहुतसे मित्र, अमात्य, जाति (= जाति), स्वालोहित (= स्वसंबंधी) होते हैं, उसके वह जातिवाले कमशः क्षयको प्राप्त होते हैं। वह ऐसा सोचता है—‘पहिले मेरे बहुतसे मित्र-अमात्य, जाति-विराद्री भी, वह मेरी जातिवाले कमशः क्षय हो गये, अब मेरे लिये अप्राप्त भोगोंका प्राप्त करना ०। लेकिन आप राष्ट्रपालके तो इसी शुद्धकोटितमें बहुतसे मित्र-अमात्य, जाति-विराद्री हैं। सो आप राष्ट्रपालको जाति-हानि नहीं है। आप राष्ट्रपाल क्या जानकर, देखकर, सुनकर, घरसे बेघर हो प्रमज्जित हुये ? हे राष्ट्रपाल ! यह चार हानियाँ हैं, जिन हानियोंसे युक्त कोई-कोई (पुरुष) केश-श्मश्रु सुँवा, काषाय-वस्त्र पहिन, घरसे बेघर हो प्रमज्जित होते हैं, वह आप राष्ट्रपालको नहीं है। आप राष्ट्रपाल क्या जानकर, देखकर, सुनकर घरसे बेघर हो प्रमज्जित हुये ?”

“महाराज ! उन भगवान्, ज्ञाननहार, देवगनहार, अर्हन् सम्यक्-संयुद्धने चार धर्म-उद्देश कहे हैं, जिनको जानकर, देखकर, सुनकर मैं घरसे बेघर हो प्रमज्जित हुआ। कौनसे चार ? (१) (यह) लोक (= संसार) अध्रुव (है), उपनीत हो रहा है, वह उस भगवान् ० ने प्रथम धर्म-उद्देश कहा है, जिनको देखकर ० प्रमज्जित हुआ। (२) लोक धाण-रहित, आभासन-रहित है ०। (३) लोक अपना नहीं है, सब छोड़कर जाना है ०। (४) लोक कमतीवाला तृणाका दास है ०। यह महाराज ! उन भगवान् ० ने चार धर्म-उद्देश कहे हैं, जिनको जानकर ० मैं ० प्रमज्जित हुआ।”

“उपनीत हो रहा (= ले जाया जा रहा) है, ‘लोक अध्रुव है’ आप राष्ट्रपालके इस कथनका अर्थ कैसे जानना चाहिये ?”

“तो क्या मानते हो, महाराज ! ये तुम (कमी) बीस-वर्षके, पचीस-वर्षके ? (यह तुम) संग्राममें हाथीकी सवारियोंमें होशियार, घोड़ेकी सवारियोंमें होशियार, रथकी सवारियोंमें होशियार, धनुषमें होशियार, तलवारमें होशियार, उससे बलिष्ठ, बाहुसे बलिष्ठ थे ?”

“बल्कि हे राष्ट्रपाल ! जानों एक समय अश्विमान् हो मैं अपने बलके समान (किसीको) देखता ही न था।”

“तो क्या मानते हो महाराज ! आज भी संग्राममें तुम वैसे ही ० उर-बली, बाहु-बली, सामर्थ्य-युक्त हो ?”

“नहीं हे राष्ट्रपाल ! इस वक्त मैं जीर्ण-युद्ध ० हूँ, अस्सी-वर्षकी मेरी उम्र है। बल्कि एक

समय है राष्ट्रपाल ! मैं 'यहाँ तक पैर (= पाद) रखें' (विचार) दूसरे (समय) चौंकाई हो (दूर तक) रख सकता हूँ ।"

"महाराज ! उन भगवान् ० ने इसीको सोचकर कहा—'उपनीत हो रहा है, लोक अध्रुव है,' जिसको जानकर ० मैं ० प्रसन्नित हुआ ।"

"आश्चर्य ! हे राष्ट्रपाल !! अद्भुत ! हे राष्ट्रपाल !! जो यह उन भगवान् ० का सुभाषित—'उपनीत हो रहा है ० (= ले जाया जा रहा है), लोक अध्रुव है' हे राष्ट्रपाल ! इस राज-कुलमें दलित-काय (काय = समुदाय) भी है, जम्भ-काय भी, रघ-काय भी, पद्मालि-काय भी, जो हमारी आपत्तियोंमें जुड़के लिये हैं । 'लोक त्राण-रहित, आश्वामन-रहित है' यह (जो) आप राष्ट्रपालने कहा ? हे राष्ट्रपाल ! इस कवनका अर्थ कैसे जानना चाहिये ?"

"तो क्या जानते हो महाराज ! है तुम्हें कोई आनुशायिक (= साम रहनेवाली) बीमारी ?"

"हे राष्ट्रपाल ! मुझे आनुशायिक वायुरोग है । बल्कि एकबार तो मित्र-अमात्य जालि-विराद्री घेरकर खड़ी थी,—'अब राजा कौरव्य मरेगा' । 'अब राजा कौरव्य मरेगा' ।

"तो क्या मानते हो महाराज ! क्या तुमने मित्र-अमात्यों, जालि-विराद्रीको पाया—'अर्धे आप मेरे मित्र-अमात्य ०, सभी सत्व (= घाणो), इस पीड़ाको खँट ले, जिसमें मैं हल्की पीड़ा पाऊँ', या तुमनेही वत वेदनाको सहा ?"

"राष्ट्रपाल ! उन मित्र अमात्यों ० मैंने नहीं पाया ०, बल्कि मैं ही उस वेदनाको सहता था ।"

"महाराज ! इसीको सोचकर उन भगवान् ० ने ० ।"

"आश्चर्य ! हे राष्ट्रपाल !! अद्भुत ! हे राष्ट्रपाल !! ० । हे राष्ट्रपाल ! इस राजकुलमें बहुतसा हिरण्य (= अदार्थ) सुवर्ण भूमि और आकाशमें है । 'लोक अपना नहीं (= असबक) है, सब छोड़कर जाना है' यह आप राष्ट्रपालने कहा । हे राष्ट्रपाल ! इस कवनका अर्थ कैसे जानना चाहिये ?"

"तो क्या मानते हो महाराज ! जैसे तुम आज कल पाँच काम गुणोंसे युक्त = समंजीभूत विचरते हो, बाद (जन्मान्तर)में भी तुम (उन्हें) पावोगे—ऐसेही मैं पाँच काम-गुणोंसे युक्त ० विचरूँ, या दूसरे इस भोगको पावेंगे ; और तुम अपने कर्मानुसार जाओगे ?"

"राष्ट्रपाल ! जैसे मैं इस एक पाँच काम-गुणोंसे युक्त ० विचरता हूँ, बाद (= जन्मान्तर)में भी ऐसे ही मैं इन काम-गुणोंसे युक्त ० विचरने न पाऊँगा । बल्कि दूसरे इस भोगको लेंगे, मैं अपने कर्मानुसार जाऊँगा ।"

"महाराज इसीको सोचकर उन भगवान् ० ने ० ।"

"आश्चर्य ! हे राष्ट्रपाल !! अद्भुत ! हे राष्ट्रपाल !! ० । 'लोक कम्पतीवाला लूणाका दास है' यह आप राष्ट्रपालने जो कहा ! हे राष्ट्रपाल ! इस कवनका कैसे अर्थ समझना चाहिये ?"

"तो क्या मानते हो महाराज ! समृद्ध कुरु (देश) का स्वामित्व कर रहे हो ?"

"हाँ, हे राष्ट्रपाल ! समृद्ध कुरुका स्वामित्व कर रहा हूँ ।"

"तो क्या मानते हो महाराज ! तुम्हारा एक अर्धेय विधास-पत्न पुरुष पूर्व दिशासे जावे, वह तुम्हारे पास आकर ऐसा बोले—हे महाराज ! जानते हो, मैं पूर्व-दिशासे आ रहा हूँ । वहाँ मैंने बहुत समृद्ध = स्फीत, बहुत जनोवाला, मनुष्योंसे आकीर्ण जनपद (= देश) देखा । वहाँ

बहुत हस्तिकाय, अचकाय, रथकाय, पति (= पैदल)-काय हैं। वहाँ बहुत दौत, सुगन्धमं हैं। वहाँ बहुत सा कृषिम-अकृषिम हिरण्य, सुवर्ण है। बहुत सी स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं। वह इतनी ही सेनासे जीता जा सकता है; जीतिये महाराज !” तो क्या करोगे ?”

“हे राष्ट्रपाल ! उसे भी जीतकर मैं स्वाधित्व करूँगा ।”

“तो क्या मानते हो महाराज ! • विद्यासपात्र पुरुष पश्चिम-दिशासे आवे • ।” • ।

“• उत्तर दिशासे • ।” • । “दक्षिण दिशासे • ।” • ।

“महाराज ! इसीको सोचकर इन भगवान् • ने • • ।”

आश्चर्य ! राष्ट्रपाल !! अद्भुत ! हे राष्ट्रपाल !!!”

आयुष्मान् राष्ट्रपालने यह कहा। यह कहकर फिर यह भी कहा—

“लोकमें धनवान् मनुष्योंको देखता हूँ, (जो) वित्त पाकर मोहसे दान नहीं करते। जोमी हों धनका संचय करते हैं, और भी अधिक कामों (= भोगों) की चाह करते हैं ॥ १ ॥

“राजा बलपूर्वक पृथ्वीको जीत, सागर-पर्वत अर्धापर शासन करते। समुद्रके इस पारसे सुत न हो, समुद्रके उस पारकी भी चाहता है ॥ २ ॥

“राजाहीकी भाँति दूसरे बहुतसे पुरुष भी कृष्णारहित न हो मरण पाते हैं। कमतीवाले होकर ही शरीर छोड़ते हैं, लोकमें (किसी की) कामोंसे तृप्ति नहीं है ॥ ३ ॥

“आति पाल बिखेरकर ज्वन करती है, और कहती है ‘हाव हमारा मर गया’ वस्त्रसे कटकर उसे लेजाकर, चितापर रखकर फिर जला देते हैं ॥ ४ ॥

“वह शूलसे हँचा जाता, भोगोंको छोड़ एक पक्षके साथ जलाया जाता है। मरनेवालेके आति-लिख = सहाय रक्षक नहीं होते ॥ ५ ॥

“दायाद उसके धनको हरते हैं, प्राणी तो जहाँ कर्म दे (वहाँ) जाता है। मरते हुयेके पीछे, पुत्र, दारा, धन, और राज्य नहीं जाता ॥ ६ ॥

“धन द्वारा लम्बी आयु नहीं पा सकता है, और न वित्त द्वारा जराकी नाशकर सकता है। धीरेसे इस जीवनको स्वल्प, अ-शाश्वत, अंगुर कहा है ॥ ७ ॥

“धनी और दरिद्र (काम)-रूपोंको छूते हैं, बाल और घोर (= पंडित) भी वैसेही हैं। बाल (= मूर्ख) मूर्खतासे विचलित हो पड़ता है, किंतु घोर रूपमें-गूढ़ हो नहीं विचलित होता ॥ ८ ॥

“इसलिये धनसे प्रजाही श्रेष्ठ है, जिससे कि (तत्त्व-) विभयको प्राप्त होता है। सुख न होनेसे वह मोहवश आयागमनमें (पक्षे) पाप कर्मोंको करते हैं ॥ ९ ॥

“(वह) लगातार संसार (= भवसागर)में पड़कर गर्भ और परलोकको पाता है। जल-प्रशावान् उसपर विचार कर गर्भ और परलोकको पाता रहता है ॥ १० ॥

“तैवके ऊपर पड़ना गया पापी घोर, जैसे अपने कामसे मारा जाता है। इसी प्रकार पापी जनता सरकार दूसरे लोकमें अपने कामसे मारी जाती है ॥ ११ ॥

“विचित्र मयुर मनोरम काम (= भोग) जाना रूपसे चिन्तकी अभिले है। इसलिये काम-भोगोंके दुष्परिणामको देखकर हे राजन् ! मैं प्रमत्तित हुआ हूँ ॥ १२ ॥

“वृक्षके फलकी भाँति तक्षण और वृद्ध मनुष्य शरीर छोड़कर गिरते हैं। ऐसे भी देखकर प्रमत्तित हुआ ; (क्योंकि) न मिरनेवाला मनुष्यन (= कामण्य) ही श्रेष्ठ है ॥ १३ ॥

८३—मखादेव-सुत्तन्त (२।४।३)

कल्याण-भारी

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् मिथिलामें मखादेव-आश्रयमें विहार करते थे ।

एक जगह पर भगवान् सुस्क्रवा उड़े । तब आशुप्मान् आनन्दको यह हुआ—'भगवान् के सुस्क्रवानेका क्या कारण है ? क्या वजह है ? तबयागत विना कारणके नहीं सुस्क्रवाते । तब आशुप्मान् आनन्द पीवरको एक कंधेपर कर, जिधर भगवान् थे, उधर हाथ-जोड़ भगवान् से प्रोछे—

“आनन्द ! भगवान् के सुस्क्रवानेका क्या कारण है ?”

“आनन्द ! पूर्वकालमें इसी मिथिलामें मखादेव नामक धार्मिक, धर्म-राजा, राजा हुआ था । (वह) धर्ममें स्थित महाराजा, माझणोंमें, गृहपतियोंमें निगमोंमें, (= कसों, नगरों)में जनपदों (= दीहातों)में धर्मसे वर्तता था । चतुर्वर्ती (= अमावास्या) पंचदशी पूर्णिमा, और पक्षकी अष्टमित्योंको उपोसथ (= उपवासव्रत) रखता था ।”

“(उसने अपने शिरमें पके घाल देस) ज्येष्ठ पुत्र कुमारको” बुलवाकर कहा—

“तात ! कुमार ! मेरे देवदूत प्रकट होगये, शिरमें पके केश दिखाई पड़ रहे हैं । मैंने आशुप-काम (= भोग) भोग लिये अब दिव्य-भोगोंके खोजनेका समय है । आओ तात ! कुमार ! इस राज्याको तुम लो । मैं केश-श्मश्रु सुँवा, कापाय-वस्त्र पहिन, घरसे बेघर हो प्रव्रजित होऊँगा । तू तात ! जब तू भी शिरमें पके घाल देसना, तब हजामको एक गाँव इनाम (= वर) दे, ज्येष्ठ-पुत्र कुमारको अच्छी प्रकार राज्यपर अनुशासन कर, केश-श्मश्रु सुँवा, वस्त्र पहिन ० प्रव्रजित होभा । जिसमें यह मेरा स्थापित कल्याणवर्त्म (= कल्याण-वृष्ट) अनुप्रवर्तित रहे; तू मेरे अन्तिम पुरुष मत होना । तात कुमार ! जिस पुरुष युगलके वर्तमान रहते इस प्रकारके कल्याण-वर्त्म (= -मार्ग) का उन्नेद होता है, वह उसका अन्तिम पुरुष होता है ।”

“तब आनन्द ! राजा मखादेव ताईको एक गाँव इनाम दे, ज्येष्ठ-पुत्र कुमारको अच्छी तरह राज्यानुशासन कर, इसी मखादेव-अश्रयमें शिर-दाही सुँवा ० प्रव्रजित हुआ ।” वह चार ‘व्रक-विहारोंकी भावनाकर शरीर छोड़ मरनेके बाद ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ ।”

“आनन्द ! राजा मखादेवके पुत्रनेमी....., राज मखादेवकी..... परम्परामें पुत्र पीछ आदि इसी मखादेव-अश्रयमें केश-श्मश्रु सुँवा..... प्रव्रजित हुये ।.....” निमि उन राजाओंका अन्तिम धार्मिक, धर्म-राजा, धर्ममें स्थित महाराजा हुआ ।.....”

“आनन्द ! पूर्वकालमें सुधर्मा नामक क्षत्रामें एकत्रित हुये ब्राह्मिण देवोंके बीचमें यह

१ मैत्री, कल्याण, मुद्रिता और वषेष्ठा नामक चार भावनाएँ ।

वात उत्पन्न हुई—‘लाभ है अहो ! विदेहोंको, सुन्दर लाभ हुआ है विदेहोंको; जिनका... निमि जैसा धार्मिक, धर्म-राजा, धर्म-स्थित महाराजा है; निमि भी आनन्द !... इसी मलादेव-अम्ब-वत्-में..... प्रयोजित हुआ.....’

“आनन्द ! राजा ^१ निमिका कलार-जनक नामक पुत्र हुआ । यह धर डोव चेन्नर हो प्रयोजित नहीं हुआ । उसने उस कल्याण-वर्त्मको इच्छित कर दिया । वह उनका अन्तिम-पुरुष हुआ ।.....”

“आनन्द ! इस समय मैंने भी यह कल्याण-वर्त्म स्थापित किया है; (जो कि) एकांत-निर्वेदके लिये, विरागके लिये, निरोधके लिये—उपशमके लिये, अभिज्ञाके लिये, संकोधि (= बुद्धिज्ञान) के लिये, निर्वाणके लिये है—(वह) उद्दी आर्वे अष्टांगिक मार्ग है—जैसे कि—सम्यग्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाक् • कर्मान्त, • आजीव, • ध्यायाम, • स्मृति, सम्यक्-समाधि । यह आनन्द ! मैंने कल्याण-वर्त्म स्थापित किया है • । सो आनन्द ! मैं यह कहता हूँ ‘जिसमें तुम इस मेरे स्थापित कल्याण-मार्गको अनुप्रवर्तित करना (= चलाते रहा); तुम मेरे अन्तिम-पुरुष मत होना.....’

भगवान्ने यह कहा, समुत्त हो आयुष्मान् आनन्दने भगवान्के भाषणका अभिनन्दन किया ।

^१ संगा, मंदक, बोरी, विमालवके बीचका प्रदेश (विहृत) ।

८४-माधुरिय-सुत्तन्त (२।४।४)

वर्ण-व्यवस्था (= जातिवाद) का खंडन

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् महाकात्यायन मधुरा (= मधुरा) में गुन्दचनमें विहार करते थे। माधुर (मधुराके) राजा अचन्तिपुत्र^१ ने सुना, कि अमन कात्यायन मधुरामें गुन्दचनमें विहार कर रहे हैं। उन आप कात्यायनका ऐसा कल्याण कीर्तिशब्द (= यश) उठा हुआ है—‘यद् (अमन कात्यायन) पंडित = व्यक्त, मेधावी, बहुसूत, चित्तकवी कल्याण-प्रतिमाधान बुद्ध हैं और अहंते हैं। ऐसे अहंतोंका दर्शन अच्छा होता है।’

यह माधुर राजा अचन्तिपुत्र उद्यमौत्तम यानोंको सुतपाकर *^२ आयुष्मान् महाकात्यायनके दर्शनार्थ मधुरासे निकला। जितना यानका रास्ता था, उतना यानसे जा, (फिर) यानसे उतर पैदल हो, जहाँ आयुष्मान् महाकात्यायन थे, वहाँ—‘जाकर आयुष्मान् महाकात्यायनके साथ’ सम्मोदन कर एक गोर बैठा। एक ओर बैठे * राजा अचन्तिपुत्रने आयुष्मान् महाकात्यायनसे यह कहा—

‘भो कात्यायन ! ब्राह्मण कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठवर्ण है, और वर्ण हीन (= नीच) है; ब्राह्मण ही शुक्रवर्ण है, और वर्ण क्षुण्ण है; ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अनाह्मण नहीं *^३ ब्रह्माके दम्पाद हैं।’

(१) ‘तो क्या मानते हो, महाराज ! यदि क्षत्रिय (अपने) धन-धान्य-चाँदी-सोनासे (करना) चाहे, तो उसका पूर्व-उत्पायी-पश्चात्-निपाती (= मालिकसे पहले उठनेवाला, मालिकके सो जानेके बाद सोनेवाला नीकर), क्या-काम है—गुल्लेवाला, मनापचारी (= मनके अनुकूल करनेवाला), मित्रवादी क्षत्रिय भी होगा न ? ब्राह्मण भी *^४ वैश्य भी *^५ शूद्र भी *^६ ?’

‘हे कात्यायन ! यदि क्षत्रिय * चाहे, तो क्षत्रिय भी उसका मित्रवादी होगा; ब्राह्मण *; वैश्य भी *; शूद्र भी * ।’

‘तो क्या मानते हो, महाराज ! ब्राह्मण यदि (अपने) धन * से करना चाहे, तो ब्राह्मण भी उसका * मित्रवादी होगा न ? वैश्य भी *^७ ? शूद्र भी *^८ ? क्षत्रिय भी *^९ ?’

‘हे कात्यायन ! यदि ब्राह्मण * चाहे, तो ब्राह्मण भी उसका * मित्रवादी होगा; वैश्य भी *; शूद्र भी *; क्षत्रिय भी * ।’

‘* महाराज ! वैश्य यदि * चाहे * ?’

‘हे कात्यायन ! यदि वैश्य * चाहे, तो वैश्य भी उसका * मित्रवादी होगा; शूद्र भी *;

^१ यह अवन्तीनगर प्रयोगकी जगहका सुत्र वा (अ. क.) । ^२ देखो पृष्ठ ३३४ ।

^३ देखो पृष्ठ ३८७ ।

अत्रिय भी ०; ब्राह्मण भी ० ।”

“० महाराज ! शूद्र यदि (अपने) धन ० से (करना) चाहे ० ?”

“हे कान्वायन ! यदि शूद्र ० चाहे, तो शूद्र भी उसका ० अग्रिवादी होगा, अत्रिय भी ०; ब्राह्मण भी, वैश्य भी ० ।”

“तो क्या मानते हो महाराज ! ऐसा होने पर चारों वर्ण सम-सम (= बराबर) होते हैं या नहीं ? वहाँ तुम्हें कैसा होता है ?”

“जबूर है कान्वायन ! ऐसा होनेपर चारों वर्ण सम-सम होते हैं, वहाँ कोई भेद मैं नहीं देखता ।”

“इस प्रकारसे भी महाराज ! तुम्हें समझना चाहिये, कि लोकमें यह ब्रह्मा (= धर्म) ही भर है—ब्राह्मण ही धेड़वर्ण है ० ब्रह्माके दायाद है ।”

(२) “तो क्या मानते हो, महाराज ! वहाँ अत्रिय प्राणि-हिंसक, चोर, दुराचारी ० मिथ्यादृष्टि हो; (तो क्या) काया छोट भरनेके बाद ० नरकमें उत्पन्न होगा या नहीं ? वहाँ तुम्हें कैसा होता है ?”

“हे कान्वायन ! अत्रिय भी यदि प्राणिहिंसक ० हो; तो वह ० नरकमें उत्पन्न होगा; ऐसा मुझे होता है; अर्हंतोंसे भी मैंने यह सुना है ।”

“साधु, साधु (ठीक); महाराज ! ठीक ही तुम्हें महाराज ! ऐसा हो रहा है; और तुमने ठीक इसे अर्हंतोंसे सुना है ।”

“तो क्या मानते हो महाराज ! वहाँ ब्राह्मण प्राणि-हिंसक ० । ० वैश्य प्राणि-हिंसक ० ० शूद्र प्राणि-हिंसक ०; हो; तो वह ० नरकमें उत्पन्न होगा या नहीं ? वहाँ तुम्हें कैसा होता है ?”

“हे कान्वायन ! शूद्र भी ० यदि प्राणि-हिंसक ० हो; तो वह ० नरकमें उत्पन्न होगा; ऐसा मुझे होता है; अर्हंतोंसे भी मैंने यह सुना है ।”

“साधु, साधु, महाराज ! ठीक ही महाराज ! तुम्हें ऐसा हो रहा है, और तुमने ठीक इसे अर्हंतोंसे सुना है ।

“तो क्या मानते हो, महाराज ! ऐसा होने पर वह चारों वर्ण सम-सम होते हैं या नहीं ? वहाँ तुम्हें कैसा होता है ?”

“जबूर, हे कान्वायन ! ऐसा होनेपर वह चारों वर्ण सम-सम होते हैं; वहाँ कोई भेद मैं नहीं देखता ।”

“इस प्रकार भी महाराज ! तुम्हें समझना चाहिये, कि लोकमें यह ब्रह्मा ही भर है—ब्राह्मण ही धेड़ वर्ण है ० ब्रह्माके दायाद है ।”

(३) “तो क्या मानते हो महाराज ! वहाँ कोई अत्रिय प्राणालिपातसे विरत हो, काम मिथ्याचार (= दुराचार) से विरत हो, मृगपाद ०, सुगन्धी ०, कटु पचन, यकतादृशसे विरत हो, अलोभी अ-द्वेषी, सम्मग-दृष्टि (= सभी धारणावाला) हो; तो शरीरको छोट भरनेके बाद (वह) सुगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न होगा या नहीं ? वहाँ तुम्हें कैसा होता है ?

“हे कान्वायन ! अत्रिय भी यदि प्राणालिपातसे विरत हो, ० सम्मग-दृष्टि हो; तो ० स्वर्गलोकमें उत्पन्न होगा । ऐसा मुझे होता है । अर्हंतोंसे भी मैंने यह सुना है ।”

“साधु, साधु महाराज ! ० तुमने ठीक ही इसे अर्हंतोंसे सुना है ।

“तो क्या मानते हो महाराज ! यहाँ कोई ब्राह्मण ० । ० यहाँ कोई वैश्य ० । ० यहाँ कोई शूद्र प्राणातिपातसे विरत हो ० सम्यग्-दृष्टि हो, तो ० स्वर्गलोकेमें उत्पन्न होगा या नहीं ? ० ।

“ ० उत्पन्न होगा ० । ”

“साधु, साधु, महाराज ! ० । ”

“ ० महाराज ! ऐसा होने पर यह चारों वर्ण सम-सम होते हैं या नहीं ? ० ? ”

“जरूर, भो कात्यायन ! ० । ”

“इस प्रकार भी महाराज ! तुम्हें समझना चाहिये, कि लोकमें यह हल्ला ही भर है—
‘ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है ० ब्रह्माके दायाद हैं’ ।

“तो क्या मानते हो महाराज ! कोई क्षत्रिय सेंध मारे, मौच लूटे, चोरी करे, घटमारी करे, परस्त्रीगमन करे, उसे (राज-) पुरुष पकड़कर तुम्हें दिखलावें—‘देव ! यह तेरा चोर है अपराधी है, इसको जो इच्छा हो वह दंड दे’; तो तू उसे क्या करेगा ? ”

“हे कात्यायन ! मैं उसे प्राणदंड या काराबंधन या देश-निर्वासका दंड दूँगा, या जैसा कारण होगा वैसा करूँगा । सो किस हेतु ?—हे कात्यायन ! जो उसकी पहिले क्षत्रिय संज्ञा थी, वह अब अन्तर्धान हो गई; (अब) चोर ही उसकी संज्ञा है । ”

“तो क्या मानते हो महाराज ! कोई ब्राह्मण ० । ० वैश्य ० । ० शूद्र सेंध मारे ० तो तू उसे क्या करेगा ? ”

“हे कात्यायन ! मैं उसे ० दंड दूँगा, ० (अब) चोर ही उसका नाम है । ”

“तो क्या मानते हो, महाराज ! ऐसा होने पर, यह चारों वर्ण सम-सम होते हैं या नहीं ? ० ? ”

“जरूर, हे कात्यायन ! ० । ”

“इस प्रकार भी महाराज ! तुम्हें समझना चाहिये, कि लोकमें यह हल्ला ही भर है—
‘ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है ० ब्रह्माके दायाद हैं’ । (१) “तो क्या मानते हो, महाराज ! यहाँ कोई क्षत्रिय केश-दाढ़ी मुँहा कर कापाय वस्त्र पहिन धरसे बेघर (= अनागारिक) हो प्रव्रजित (= संन्यासी) हो; (वह) प्राणातिपातसे विरत, अद्विवादान ०, मृषावादसे विरत हो, एकहारी ब्रह्मचारी, शीलवान् (= सदाचारी) कल्याणधर्मी हो; तो उसके साथ तू क्या करेगा ? ”

“हे कात्यायन ! अग्निवादन, प्रत्युत्थान करेंगे, आसन देंगे, शीघ्र-पिडपात (= शिक्षा) शपथ-आसन-ग्लान-प्रलय (= पश्य)-मैषज्य (= दवा) प्रदान करेंगे, उसकी धार्मिक रक्षा=वरण ० गुप्ति सन्पादित करेंगे । सो किस हेतु ?—हे कात्यायन ! जो उसकी पहिले क्षत्रिय संज्ञा थी, वह अब अन्तर्धान हो गई; (अब) भ्रमणही उसकी संज्ञा है । ”

“ ० महाराज ! कोई ब्राह्मण ० । ० वैश्य ० । ० शूद्र केशदाढ़ी मुँहा कर ० प्रव्रजित हो; ० कल्याण-धर्मी (= पुण्यात्मा) हो; तो उसके साथ तू क्या करेगा ? ”

“हे कात्यायन ! अग्निवादन ० ‘करेंगे ० उसकी धार्मिक रक्षा ० संपादित करेंगे । सो किस हेतु ?—हे कात्यायन ! जो उसकी शूद्र संज्ञा थी, वह अब अन्तर्धान हो गई; अब भ्रमण ही उसकी संज्ञा है । ”

“तो क्या मानते हो, महाराज ! ऐसा होने पर चारों वर्ण सम-सम होते हैं, या नहीं ? ० ? ”

“जरूर, हे कात्यायन ! ० । ”

“इस प्रकार भी महाराज ! तुम्हें समझना चाहिये, कि लोकमें यह हल्ला ही भर है—
‘ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है ० ब्रह्माके दायाद हैं’ ।

ऐसा कहनेपर ० राजा अर्चतिपुत्रने आलुष्मान् महाकात्यायनसे यह कहा—

“नाथर्ष ! हे कात्यायन ! आश्चर्य !! हे कात्यायन ! जैसे औषेको सोचा करदे ०^१ ऐसे ही आप कात्यायनने अनेक प्रकारसे धर्मको प्रकाशित किया; यह मैं आप कात्यायन की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी । आप कात्यायन आजसे मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें ।”

“मत तुम, महाराज ! मेरी शरण जाओ । उसी भगवान्की तुम भी शरण जाओ, जिसकी शरण मैं गया हूँ ।”

“हे कात्यायन ! वह भगवान् अर्हत्, सम्मत्-संबुद्ध इस समय कहाँ विहार कर रहे हैं ?”

“महाराज ! वह भगवान् अर्हत् सम्मत्-संबुद्ध अब निर्वाणको प्राप्त हो गये ।”

“हे कात्यायन ! यदि उन भगवान्को दस योजन पर सुन पाते, तो हम दस योजन भी उन भगवान् ० के सम्बुद्धके दर्शनके लिये जाते । ० बीस योजन ० । ० तीस योजन ० । ० चालीस योजन ० । ० पचास योजन ० । ० सौ योजन ० । चूंकि हे कात्यायन ! वह भगवान् निर्वाणको प्राप्त हो गये, तो निर्वाण-प्राप्त भी उन भगवान्की हम शरण जाते हैं, धर्म और भिक्षु-संघकी भी । आजसे आप कात्यायन मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक धारण करें ।

८५-बोधि-राजकुमार-सुत्तन्त (२।४।५)

बुद्ध-जीवनी (गृहस्थान्तरे बुद्धत्व-प्राप्ति तक)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् भर्मा (देश) में 'सुसुमारगिरिके भेस-कला-वन, सुगन्धकमें विहार करते थे। उस समय बोधि-राजकुमारने भ्रमण या ब्राह्मण या किसी भी मनुष्यसे न भोगे कोक-नद् नामक प्रासादको हालहीमें बनवाया था। तब बोधि-राजकुमारने संजिका-पुत्र 'माणवकको संबोधित किया—

“आओ तुम सौम्य ! संजिका-पुत्र ! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ जाओ। जाकर मेरे वचनसे, भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दनाकर, आरोग्य, अन्-आतंक, लघु-उत्थान (= शरीरकी कार्य-क्षमता) बल, अनुकूल विहार, पूछो—‘भन्ते ! बोधि-राजकुमार भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना कर आरोग्य * पूछता है’। और यह भी कहो—‘भन्ते ! भिक्षु-संघसहित भगवान्, बोधि-राजकुमार-का कलका भोजन स्वीकार करें।”

“‘अच्छा हो (= भो)’ कह संजिका-पुत्र माणवक जहाँ भगवान् हैं, वहाँ गया। जाकर भगवान्‌से” (कुशल प्रश्न) “‘पूछ, एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठकर संजिका-पुत्र माणवकने भगवान्‌से कहा—‘भो गौतम ! बोधि-राजकुमार आपके चरणोंमें ०।० बोधिराज-कुमारका कलका भोजन स्वीकार करें।”

भगवान्‌ने मौन द्वारा स्वीकार किया। तब संजिका-पुत्र माणवक भगवान्‌की स्वीकृति जान, भासनेसे उठ जहाँ बोधि-राजकुमार था, वहाँ गया। जाकर बोधि-राजकुमारसे बोला—

“आपके वचनसे मैंने इन गौतमसे कहा—‘भो गौतम ! बोधि-राजकुमार ०। भ्रमण गौतमने स्वीकार किया।”

तब बोधि-राजकुमारने उस रातके बीचनेपर अपने घरमें उत्तम खादनीय-भोजनीय (पदार्थ) तैयार करवा, कोकनद्-प्रासादको सफेद (= अवशात) धुल्लोसे सीढ़ीके नीचे तक बिछवा, संजिका-पुत्र माणवकको संबोधित किया—

“आओ सौम्य ! संजिका-पुत्र ! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ जाकर भगवान्‌से काल कहो—‘भन्ते ! काल है, मात (= भोजन) तैयार हो गया।”

“‘अच्छा भो !” “काल कहा” ।

तब भगवान् पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्रचीवर ले, जहाँ बोधि-राजकुमारका घर (= निवेशन) था, वहाँ गये। उस समय बोधि-राजकुमार भगवान्‌की प्रतीक्षा करता हुआ, द्वार-कोष्ठक

* चुनार (१ वि० शिवपुर) ।

* ब्राह्मण-रक्षण ।

(= मौक्तिकाना) के बाहर खड़ा था । बोधि-राजकुमारने दूसरे भगवान्‌को आते देखा । देखते ही भगवान्‌की कर भगवान्‌की वन्दनाकर, आगे आगे करके वहाँ कोकनद-प्रासाद था, वहाँ ले गया । तब भगवान्‌ निचली सीढ़ीके पास खड़े हो गये । बोधि-राजकुमारने भगवान्‌से कहा—“मन्ते ! भगवान्‌ धुस्सोंपर चले । सुगत ! धुस्सोंपर चले, ताकि (यह) तिरकाल तक मेरे हित और सुखके लिये हो ।”

ऐसा कहनेपर भगवान्‌ चुप रहे ।

दूसरी बार भी बोधि-राजकुमारने ० । तीसरी बार भी ० ।

तब भगवान्‌ने आयुष्मान्‌ आनन्दकी ओर देखा । आयुष्मान्‌ आनन्दने बोधि-राजकुमारसे कहा—

“राजकुमार ! धुस्सोंको समेट लो । भगवान्‌ पाँखे (= पैल-पंक्ति) पर न चढ़ेंगे । तथागत आनेवाली जनताका ध्याल कर रहे हैं ।”

बोधि-राजकुमारने धुस्सोंको समेटवा कर, कोकनद-प्रासादके ऊपर आसन बिछवाये । भगवान्‌ कोकनद-प्रासादपर चढ़, संघके साथ बिठे आसनपर बैठे । तब बोधि-राजकुमारने कुद्धप्रमुख भिक्षुसंघको अपने हाथले उत्तम खाद्रीप भोजनीय (पदार्थों) से संतर्पित किया, संतुष्ट किया । भगवान्‌के भोजन कर पात्रसे हाथ धीव लेनेपर, बोधिराजकुमार एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे हुये बोधि-राजकुमारने भगवान्‌से कहा—

“मन्ते ! मुझे ऐसा होता है, कि सुखमें सुख प्राप्य नहीं, दुःखमें सुख प्राप्य है ।”

“राजकुमार ! बोधिले पहिले = कुद न हो बोधि-सत्त्व होते समय, मुझे भी यही होता था—‘सुखमें सुख प्राप्य नहीं है, दुःखमें सुख प्राप्य है ।’ इसलिये राजकुमार ! मैं जब समय दहर (= मय-वयम्) ही, बहुत काले काले केसवाला, सुन्दर (= मद्र) जीवनके साथ ही, प्रथम वयसमें, माता-पिताके अधुसुल होते, घरसे पैर हो प्रव्रजित हुआ । इस प्रकार प्रव्रजित हो, वहाँ आलार-कालाम था, वहाँ गया । आलार-कालामसे कहा—‘आयुस कालाम ! इस धर्मविषयमें मैं ब्रह्मचर्य-वास करना चाहता हूँ ।’ ऐसा कहनेपर राजकुमार ! आलार-कालामने मुझे कहा—‘विहारो नयुष्मान्‌ ! यह ऐसा धर्म है, जिसमें विज्ञ (= जानकार) पुरुष जन्म ही अपने आचार्यत्वको स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर विहार करेगा ।’ सो मैंने जन्म ही = शिष्य ही इस धर्म (= बात)को पूरा कर लिया । तब मैं उठने ही मोठ-सुने मात्र = कहने कहाने मात्रसे, ज्ञानवाद और स्वविरवाद (= बुद्धोंका सिद्धान्त) कहने लगा—‘मैं जानता हूँ, देखता हूँ’... । तब मेरे मनमें ऐसा हुआ—आलार-कालामने ‘इस धर्मको केवल अज्ञाते स्वयं जान-कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर, मैं विहरता हूँ’ यह मुझे नहीं बतलाया । जल्द आलार-कालाम इस धर्मको जानता देखता विहरता होगा । तब मैं वहाँ आलार-कालाम था, वहाँ गया । आलार-कालामसे पूछा—‘आयुस कालाम ! तुम इस धर्मको स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर (= उपलब्ध) कहीं पर्यन्त बतलाते हो ?’ ऐसा कहनेपर राजकुमार ! आलार-कालामने ‘आर्किचन्धावतन’ बतलाया ।

तब मुझे ऐसा हुआ—‘आलार-कालाम ही के पास अज्ञा नहीं है, मेरे पास भी अज्ञा है । आलार-कालामहीके पास वीर्य नहीं ० । ० स्थिति ० । ० समाधि ० । ० प्रज्ञा ० । क्यों न, जिस धर्मको आलार-कालाम—‘स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर विहरता हूँ’ कहता है, उस धर्मको साक्षात्कार करनेके लिये मैं भी उद्योग करूँ । सो मैं बिना देर किये = शिष्य ही इस धर्मको स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर विहरने लगा । तब मैंने राजकुमार !... आलार-कालामसे कहा—‘आयुस कालाम ! तुम इतना ही इस धर्मको स्वयं जान कर ० हथ लोगोंको बतलाते हो ?’—‘आयुस ! मैं इतना ही इस धर्मको स्वयं जान कर ० बतलाता हूँ ।’ आयुस !

बतला तो 'मैं भी इस धर्मको स्वयं जान कर ० विहरता हूँ।' आबुस ! हमें लाभ ! हमें सुलभ मिले, जो हम आबुधम्मन् जैसे स-महाचारी (= गुरु-भाई) को देखते हैं।... मैं जिस धर्मको स्वयं जान कर ० बतलाता (= उपदेश करता) हूँ; तुम भी उसी धर्मको स्वयं जान ० विहरते हो, तुम जिस धर्मको स्वयं ०, मैं भी उसी धर्मको ०। इस प्रकार मैं जिस धर्मको जानता हूँ, उस धर्मको तुम जानते हो। जिस धर्मको तुम जानते हो, उस धर्मको मैं जानता हूँ। इस प्रकार जैसे तुम, वैसे मैं; जैसा मैं, वैसे तुम हो। आबुस ! आओ अब हम दोनों ही इस गण (= जमात) को धारण करें।' इस तरह मेरा आचार्य होते हुये भी, बालार-कालामने मुख अन्तेवासी (= शिष्य) को अपने बराबरके स्थानपर स्थापित किया, यथे सत्कार (= पूजा) से सत्कृत किया। तब मुझे यों हुआ—'यह धर्म न निवेद (= उदासीनता) के लिये है, न वैराग्यके लिये, न निरोधके लिये, न उपशम (= शांति) के लिये, न अमिद्धा (= दिव्य-शक्ति) के लिये, न सम्मोधि (= परमज्ञान) के लिये, न निर्वाणके लिये है; 'आकिंचन्यायतन' तक उत्पन्न होनेहीके लिये (यह) है। सो मैं राजकुमार ! उस धर्मको अपवाप्त मान, उस धर्मसे उदास हो चल दिया।

"सो राजकुमार ! मैं 'नया कुसल (= अच्छा) है' की गवेपणा करता, सर्वोत्तम श्रेष्ठ शांतिपद को खोजता, वहाँ उड़क राम-पुत्र आ, वहाँ गया। जाकर उड़क (= उड़क) राम-पुत्रसे बोला—'आबुस ! इस धर्म-विनयमें मैं जगत्तम पालन करना चाहता हूँ।' ऐसा कहनेपर राज-कुमार ! उड़क राम-पुत्र मुझसे बोला—

"विहरो आबुधम्मन् ! यह वैसा धर्म है, जिसमें विश्व पुरुष जल्दही अपने आचार्यस्वको, स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर विहार करेगा।' सो मैंने तुरन्त क्षिप्रही उस धर्मको पूरा कर लिया। सो मैं उतनेही ओठ-बुधे-माथ = कहने कहाने मात्रसे ज्ञानवाद, और स्वविर-वाद कहने लगा—'मैं जानता हूँ, देखता हूँ...'। तब मुझे ऐसा हुआ—रामने मुझे यह न बतलाया 'मैं इस धर्मको केवल अदासे, स्वयं जान कर = साक्षात् कर = प्राप्त कर विहरता हूँ'। बकर राम इस धर्मको जानते देखते विहरता होगा। तब... उड़क रामपुत्रने मैंने पूछा—'आबुस रामपुत्र ! इस धर्मको स्वयं जान ० ० बतलाते हो ?' ऐसा कहने पर ! उड़क राम-पुत्रने 'निवर्त्तज्ञ-नार्त्तज्ञ-यतन' बतलाया। तब मेरे (मन) में हुआ—'उड़क रामपुत्रके पासही अज्ञा नहीं है, मेरे पास भी अज्ञा है ०। क्यों न ०। इस तरह मेरा आचार्य होते हुये उड़क रामपुत्रने मुझ अन्तेवासीको अपने बराबरके स्थानपर स्थापित किया ०। ० सो मैं ! उस धर्मसे उदास हो चल दिया।

"राजकुमार ! क्या अच्छा मैं' की गवेपणा करता (= कि कुसल-गवेसी), सर्वोत्तम, श्रेष्ठ शांतिपद को खोजते हुए, सगण में कमशः चासिका करते, जहाँ उखेला सेनानो-नितगम (= कसबा) था, वहाँ पहुँचा। वहाँ मैंने रमणीय भूमि-भाग, सुन्दर वन-खंड, बहती नदी इवत्... सुप्रतिष्ठित, चारों ओर रमणीय 'गोचर-ग्राम देखा। तब मुझे राजकुमार ! ऐसा हुआ—'रमणीय है, हो ! यह भूमि-भाग ०। प्रधान-इच्छुक कुल-पुत्रके 'प्रधानके लिये यह बहुत ठीक (स्थान) है'। सो मैं 'प्रधानके लिये यह अच्छा (= ठीक) है, (सोच), वही बैठ गया। मुझे (उस समय) अद्भुत, अ-श्रुत-पूर्व, तीन उपमाओं मान हुई।—

(१) 'जैसे ! गीला काष्ठ भोंगे (= सस्नेह) पानीमें डाला जाये। (कोई) पुरुष 'आग बनाऊँगा,' 'तेज प्रादुर्भाव करूँगा' (सोच), 'उत्तरारणी लेकर आवे। तो क्या वह पुरुष गीले

१ निष्ठादन-योग्य पार्श्ववर्ती ग्राम। २ निर्वाण-प्राप्ति करानेवाली योग-शक्ति। ३ रनइ कर भाग निवाहनेकी ककड़ी।

पानीमें पड़ी गोले काष्ठको उत्तरारणीको ले कर, मग्न कर अग्नि बना सकेगा, तेज प्रादुर्भूत कर सकेगा ?”

“नही मन्ते !”

“तो किस लिये ?” “(एक तो वह) स्नेह-युक्त गोला काष्ठ है, फिर वह पानीमें डाला है । ...ऐसा करनेवाला वह पुरुष सिर्फ बकावट, पीवाका ही भागी होगा ।”

“ऐसेही राजकुमार ! जो ब्राह्मण काया द्वारा काम वासनाओंमें लब्ध हो विचरते हैं । जो कुछ भी इनका काम (= वासनाओं) में काम-रुचि = काम-स्नेह = काम-सुख = काम-विपासा = काम-परिवाद है, वह यदि भीतरसे नहीं छूटा है, नहीं क्षमिit हुआ है तो प्रयत्नशील होनेपर भी वह अमग्न-ब्राह्मण दुःख (-द) तीव्र, कटु, वेदना (मात्र) सह रहे हैं । वह ज्ञान-दर्शन अनुत्तर-संबोध (= परम-ज्ञान) के अयोग्य हैं ।

“राजकुमार ! यह सुने पहिली अद्भुत, अद्भुत-पूर्व उपमा मान हुई ।

(२) “और भी राजकुमार ! सुने दूसरी अद्भुत अद्भुत-पूर्व उपमा मान हुई । राजकुमार ! जैसे स्नेह-युक्त गोला काष्ठ जलके पास स्थलपर फेंका हो । और कोई पुरुष उत्तरारणी लेकर आवे—‘अग्नि बनाऊँगा’ ‘तेज प्रादुर्भूत करूँगा’ । तो क्या समझते हो राजकुमार ! क्या वह पुरुष अग्नि बना सकेगा, तेज प्रादुर्भूत कर सकेगा ?”

“नही मन्ते !”

“तो किस लिये ?”

“(एक तो) वह काष्ठ स्नेह-युक्त है, और पानीके पास स्थलपर फेंका हुआ भी है । ...वह पुरुष सिर्फ बकावट, पीवा (मात्र) का ही भागी होगा ।”

“ऐसे ही, राजकुमार ! जो कोई अमग्न वा ब्राह्मण कायाके द्वारा वासनाओंसे लब्ध हो विचरते हैं । ० अयोग्य हैं । राजकुमार ! सुने यह दूसरी ० ।

(३) “और भी राजकुमार ! तीसरी अद्भुत अद्भुत-पूर्व उपमा मान हुई ।—जैसे नीरस शुष्क काष्ठ जलसे दूर स्थलपर फेंका है । और कोई पुरुष उत्तरारणी लेकर आवे—‘अग्नि बनाऊँगा’, ‘तेज प्रादुर्भूत करूँगा’ । तो क्या ...वह पुरुष नीरस-शुष्क, जलसे दूर फेंके काष्ठको, उत्तरारणीसे मग्न करके अग्नि बना सकेगा, तेज प्रादुर्भूत कर सकेगा ?

“ही मन्ते !”

“तो किस लिये ?”

“मन्ते ! वह नीरस सूखा काष्ठ है, और पानीसे दूर स्थलपर फेंका है ।”

“ऐसेही राजकुमार ! जो कोई अमग्न ब्राह्मण, कायाद्वारा काम-वासनाओंसे अलग हो विचरते हैं । और जो उनका काम-वासनाओंमें ० काम-परिवाद है, वह भीतरसे भी सुप्रहोण (= अच्छी तरह छुट गया) है, क्षुद्रक्षमिit है । तो वह प्रयत्नशील अमग्न ब्राह्मण दुःख (-द), तीव्र, कटु वेदना नहीं भोगते । वह ज्ञान-दर्शन = अनुत्तर-संबोधके पात्र हैं । यदि वह प्रयत्नशील अमग्न ब्राह्मण दुःख, तीव्र, कटु वेदनाको भोगें भी, (तो भी) वह ज्ञान-दर्शन = अनुत्तर-संबोधके पात्र हैं । वह राजकुमार तीसरी ० ।

“तब राजकुमार ! मेरे (मनमें) हुआ—‘क्यों न मैं दाँतोंके ऊपर दाँत रख, जिह्वाद्वारा तालुको दबा, मनसे मनको निग्रह करूँ, दबाऊँ, संतानिit करूँ । तब मेरे दाँतपर दाँत रखने, जिह्वासे तालु दबाने, मनसे मनको पकड़ने, दबाने, तपानेमें, कौनसे पक्षीना निकलता वा, जैसे कि राजकुमार ! पलवान् पुरुष सीससे पकड़कर, कंधेसे पकड़कर, दुर्बल-तर पुरुषको पकड़े, दबाये, तपाये;

ऐसे ही राजकुमार ! मेरे दाँतपर दाँत * कॉलसे फसीना निकलता था । उस समय मैंने न दबनेवाला बौर्य (= उद्योग) आरम्भ किया हुआ था, न भूली स्मृति बनी थी, काया भी तत्पर थी ।

“तब मुझे यह हुआ—क्यों न मैं श्वासरहित ध्यान करूँ ? सो मैंने राजकुमार ! मुख और नासिकासे श्वासका आवाज जाना रोक दिया । तब राजकुमार ! मेरे मुख और नासिकासे आश्वास-प्रश्वासके एक जानेपर, कानके छिद्रोंसे निकलने वाली (= हवाओं) का बहुत अधिक शब्द होने लगा । जैसे कि—लोहावकी धौड़नीसे धौंकनेसे बहुत अधिक शब्द होता है; ऐसे ही * । * न दबनेवाला बौर्य आरम्भ किया हुआ था * ।”

“तब मुझे यह हुआ—क्यों न मैं श्वास-रहित ध्यान करूँ ? सो मैंने राजकुमार ! मुझसे * । तब मेरे मुख बासा और कर्णसे आश्वास-प्रश्वासके एक जानेसे, मूषांमें बहुत अधिक जल टकराते । जैसे बलवान् पुरुष तीक्ष्ण शिखरसे मूषां (= शिर) को मथे, ऐसे ही राजकुमार ! मेरे * ।

“तब मुझे यह हुआ—क्यों न श्वास-रहित ध्यान करूँ ?—सो मैंने मुख, नासा, कर्णसे आश्वास-प्रश्वासको रोक दिया । तब मुझे मुख, नासा, कर्णसे आश्वास-प्रश्वासके एक जानेसे सीलमें बहुत अधिक सीस-वेदना (= शिर-दर्द) होती थी । * न दबने वाला * ।”

“तब राजकुमार ! मुझे यह हुआ—क्यों न श्वास-रहित ही ध्यान करूँ ?—सो मैंने * । * एक जानेपर बहुत अधिक जल पेट (= कुक्षि) को वेदने थे । जैसे कि दूध (= चतुर गो-घातक या गो-घातकका अन्तेवासी तेज गो-विकर्षन (= घुरा) से पेटको काटे, ऐसेही * । न दबने-वाला * ।

“तब मुझे यह हुआ—‘क्यों न श्वास-रहित ही ध्यान (फिर) धरूँ ?’ राजकुमार * । * कायामें अत्यधिक दाह होता था । जैसे कि दो बलवान् पुरुष दूरकतर पुरुषको अनेक बाइोंमें पकड़कर अंगारोंपर तपावें, चारों ओर तपावें, ऐसे ही * । न दबते * ।

“देवता भी मुझे कहते थे—‘अमण गौतम मर गया !’ कोई कोई देवता यों कहते थे—‘अमण गौतम नहीं मरा, न मरेगा; अमण गौतम अर्हन्त है । अर्हत्का तो इस प्रकारका विहार होता ही है ।

“...मुझे यह हुआ—‘क्यों न बाहार को बिल्कुल ही छोड़ देना स्वीकार करूँ । तब देवताओंने मेरे पास आकर कहा—‘भार्य ! तुम आहारका बिल्कुल छोड़ना स्वीकार करो । इस मुन्दारे रोम-कूपोंद्वारा दिव्य-ओज ढाक देंगे, उसीसे तुम निर्वीह करोगे ।’... तब मुझे यह हुआ—मैं (अपनेको) सब तरहसे निराहारी जाऊँगा और यह देवता रोमकूपोंद्वारा दिव्य ओज मेरे रोम-कूपोंके भीतर ढालेंगे; मैं उसीसे निर्वीह करूँगा । वह मेरा (तप) सृष्टा होगा । सो मैंने उन देवताओंका प्रत्याख्यान किया—‘रहने दो’ ।

“तब मुझे यह हुआ—क्यों न मैं बोधा बोधा आहार ग्रहण करूँ—पसर मर मूँग का जल, या कुलभीका जल या मटरका जल, या अरहरका जल—। सो मैं बोधा बोधा पसर पसर मूँगका जल * ग्रहण करने लगा । बोधा बोधा पसर पसर मर मूँगका जल * ग्रहण करते हुये, मेरा शरीर (दुर्बलताकी) चरम सीमाको पहुँच गया । जैसे आसौतिक (= वनस्पति विशेष) की गाँठें, वैसे ही उस अव्यव आहारसे मेरे अंग प्रत्यंग हो गये । उस अव्यव आहारसे जैसे कैंटका पैर, वैसे ही मेरा कूड़ा (= जानिसर) हो गया, * जैसे सुओंको पाँती (= घटनावली) वैसे ही ऊँचे गीचे मेरे पीठके फाँटे हो गये । * जैसे पुरानी शालाकी कड़ियाँ (= दोड़े = गोपालसी) कड़ियाँ-कड़ियाँ (= भोलुग-बिलुग) होती हैं, ऐसे ही मेरी पंसुलिया हो गई थी । जैसे गहरे कूपें (= उदपान) में पानीका तारा (= उदक-तारा) गहराईमें, बहुत दूर दिखाई देता है, उसी * । जैसे कच्चा

तोड़ा कपड़ा लौका हवा-धूपसे चिपुका (= संतुष्टि) जाता है मुझी जाता है, ऐसे ही मेरे शिर-की खाल चिपुका गई थी, मुझी गई थी। ... राजकुमार ! यदि मैं पेटकी खालको मसलता, तो पीठके काँटोंको पकड़ लेता था, पीठके काँटोंको मसलता तो पेटकी खालको पकड़ लेता था। उस अल्पाहारसे मेरे पीठके काँटे और पेटकी खाल बिल्कुल सट गई थी। ... यदि मैं बाझाना या गुर करता, वहीँ महराकर (= उपकुम्भ) गिर पड़ता था। जब मैं कायाको सहराते (= अस्वासेन्तो) हुये, हाथसे मात्रको मसलता था, तो हाथसे मात्र मसलते वक्त, कायासे सबी जब वाले (= प्रति-मूल) रोम क्षय पड़ते थे। ... मनुष्य भी मुझे देखकर कहते थे—'अमण गौतम काला है'। कोई कोई मनुष्य कहते थे—'अमण गौतम काला नहीं है, श्याम है।' कोई कोई मनुष्य यों कहते थे 'अमण गौतम काला नहीं है, न श्याम ही है, मंगुर-वर्ण (= मंगुरच्छवि) है'। राजकुमार ! मेरा बैसा परि-शुद्ध परि-मन्वदात (= सफेद, गोरा) छवि-वर्ण (= चमड़ेका रङ्ग) नष्ट हो गया था।

"तब मुझे यों हुआ—अतीत कालमें जिन किन्हीं अमणों ब्राह्मणोंमें घोर दुःख, तीव्र और कटु वेदनायें सही, इतनेही पर्यन्त, (सही होंगी) इससे अधिक नहीं; मविष्य कालमें जो कोई अमण ब्राह्मण घोर दुःख, तीव्र और कटु वेदनायें सहेंगे, इतने ही पर्यन्त, इससे अधिक नहीं। जागकल भी जो कोई अमण ब्राह्मण घोर दुःख, तीव्र, और कटु वेदना सह रहे हैं ०। लेकिन राजकुमार ! मैंने उस दुष्कर कारिकासे उत्तर—मनुष्य-वर्म 'अलमार्थ-ज्ञान-दर्शन-विशेष न पाया। (विचार हुआ) बोधके लिये क्या कोई दूसरा मार्ग है ?

"तब राजकुमार ! मुझे यों हुआ—'मालूम है मैंने पिता (शुद्धोदन) शत्रुपके शेतपर जामुनकी ठंडी छायाके नीचे, बैठ, काम और अकुशल-धर्मोंको हटाकर प्रथम ध्यानको प्राप्त ही, विहार किया था। शायद वह मार्ग बोधिका हो। तब राजकुमार ! मुझे यह हुआ—क्या मैं उस सुखसे डरता हूँ, जो सुख काम और अकुशल-धर्मोंसे निवृत्त है। फिर मुझे, राजकुमार यह हुआ—मैं उस सुखसे नहीं डरता हूँ, जो सुख ०। तब मुझे, राजकुमार ! यह हुआ—इस प्रकार अत्यन्त कृश, पतले कायासे वह सुख मिलना सुकर नहीं, क्यों न मैं स्थूल आहार—मात-दान (= कुम्भाप) ग्रहण करूँ। सो मैं राजकुमार ! स्थूल आहार ओदन-कुम्भाप ग्रहण करने लगा। उस समय राजकुमार ! मेरे पाँच पाँच मिथु (इस आन्नासे) रहा करते थे, कि अमण गौतम जिस धर्मको प्राप्त करेगा, उसे हम लोगोंको (भी) बतलावेगा। लेकिन तब मैं स्थूल आहार ओदन कुम्भाप ग्रहण करने लगा; तब वह पाँचों, मिथु, 'अमण गौतम बाहुलिक, (= बहुत संग्रह करनेवाला) प्रधानसे विमुक्त, बाहुल्य पराधन हो गया' (समज)-उदासीन हो, चले गये।

"तब राजकुमार ! मैं स्थूल आहार ग्रहण कर, सबल हो काम और अकुशल-धर्मोंसे वर्जित, वितर्क तथा विचाररहित, एकाग्रतासे उत्पन्न (= विवेक) प्रीति-सुखवाले प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरने लगा। वितर्क और विहारके उपशमित होनेपर, भीतरके संग्रहादन (= प्रसङ्गात्) = चित्तकी एकाग्रता-वृत्त, वितर्क-विचार-रहित, समाधिसे उत्पन्न प्रीति-सुखवाले द्वितीय ध्यानको प्राप्त हो विहरने लगा। ... प्रीति और विरागकी उपेक्षा कर, 'स्थिति और संग्रहणके साथ, कायासे सुखको अनुभव (= प्रतिसंवेदन) करता हुआ, विहरने लगा। जिसको कि आर्यजन उपेक्षक स्थितिमान् और सुखविहारी कहते हैं; ऐसे तृतीय ध्यानको प्राप्त हो विहार करने लगा। ...

"सुख और दुःखके विनाश (= ग्रहण)से, पहिलेही सामनस्य और दीर्घमनस्यके पहिले

भक्त हो जानेसे, दुःख-रहित, सुख-रहित अपेक्ष हो, स्मृतिकी परिशुद्धतासे युक्त चतुर्थ ध्यान-को प्राप्त हो विहार करने लगा ।

(१) 'तब इस प्रकार चित्तके परिशुद्ध = परि-ज्वदात, = अंगणरहित = उपक्लेश-रहित, सद्गु हुये, काम-लाभक, स्थिर = अचलता-प्राप्त = समाधिप्राप्त हो जाने पर, पूर्वजन्मोंकी स्मृतिके ज्ञान (= पूर्व-निवासानुस्मृति-ज्ञान) के लिये चित्तको मैंने झुकाया । फिर मैं पूर्वकृत अनेक पूर्व-निधामों (= जन्मों) को स्मरण करने लगा—जैसे एक जन्म भी, दो जन्म भी, ... । आकार-रहित इरोध-रहित पूर्वकृत अनेक पूर्व-निवातोंको स्मरण करने लगा । इस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर हो आत्म-संयमयुक्त विहारते हुये, मुझे रातके पहिले घाममें वह प्रथम विद्या प्राप्त हुई; अविद्या गई, विद्या आई; तब मष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ ।

(२) 'सो इस प्रकार चित्तके परिशुद्ध = सप्ताहित होनेपर, प्राणियोंके जन्म-मरणके ज्ञान (= स्मृति-उत्पाद-ज्ञान) के लिये मैंने चित्तको झुकाया । सो धनुष्य (के नेत्रों) से परेकी विशुद्ध दिव्य चक्षुसे, मैं आँखें, धुरे, सुवर्ण, सुवर्ण, सु-मल, पुर्णत, भरते, उत्पन्न होते, प्राणियोंको देखने लगा । सो— 'कमौलुसार जन्मको प्राप्त प्राणियोंको जानने लगा । रातके बिचले पहर (= घाम) में वह द्वितीय विद्या उत्पन्न हुई । अविद्या गई ।

(३) 'सो इस प्रकार चित्तके ... । आक्षरों (= चित्त-मल) के क्षयके ज्ञानके लिये मैंने चित्तको झुकाया—सो 'यह 'दुःख है' इसे वधार्थसे जान लिया; 'यह दुःख समुदय है' इसे वधार्थसे जान लिया; 'यह दुःख-निरोध है' इसे वधार्थ से जान लिया; 'यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है' इसे वधार्थसे जान लिया । 'यह आक्षर है' इन्हें वधार्थसे जान लिया; 'यह आक्षर-समुदाय है' इसे ... , 'यह आक्षर-निरोध ... 'यह आक्षर-निरोध = गामिनी-प्रतिपद् है' इसे ... । सो इस प्रकार जानते, इस प्रकार देखते, मेरा चित्त कामाक्षवोंसे मुक्त हो गया, मन्त्राक्षवोंसे मुक्त होगया, अविद्याक्षयसे भी विमुक्त होगया । छूट (= विमुक्त) जानेपर 'छूट गया (विमुक्त)' ऐसा ज्ञान हुआ । 'जन्म व्यतप्त हो गया, मल्लक्षर्य पूरा हो गया, करना या सो कर लिया, अब यहाँके लिये कुछ (करणीय) नहीं' इसे जाना । राजकुमार ! रातके बिचले घाममें वह तृतीय विद्या प्राप्त = अविद्या गयी गई ... ।

"तब राजकुमार ! पंचवर्णीय भिक्षु मेरे द्वारा इस प्रकार उपदेशित हो = अनुशासित हो, अक्षिरहीमें जितके लिये कुल-पुत्र घरसे बेघर हो प्रयत्नित होते हैं, उस उत्तम मल्लक्षर्य-फलको, इसी जन्ममें स्वयं जानकर = साक्षात् कर = उपलभ्यकर, विहारने लगे ।"

ऐसा कहनेपर बोधि-राजकुमारने भगवाद्से कहा—

"मन्ते ! कितनी देरमें तयागत (को) विनायक (= नेता) या, भिक्षु जिसके लिये कुल-पुत्र घरसे बेघर हो प्रयत्नित होते हैं, उस उत्तम मल्लक्षर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं जान कर = साक्षात् कर = उपलभ्यकर, विहारने लगीया ?"

"राजकुमार ! तुमने ही यहाँ पूछा है, जैसा तुमने शोक ली, वैसा यत्न । हाथीबानी = अंकुश-ग्रहणके शिल्प (= कला) में तू चतुर है न ?"

"मन्ते ! हाँ मैं हाथीबानी ... में चतुर हूँ ।"

"तो राजकुमार ! यदि कोई पुरुष—'बोधि-राजकुमार हाथीबानी = अंकुश-ग्रहण-शिल्प जानता है, उसके पाससे हाथीबानी = अंकुश-ग्रहण शिल्पको सीखूँगा' (सोचकर) जावे । और

वह हो-अद्वारहित, (तो क्या) जितना अद्वार-सहित (मनुष्य) द्वारा पाया जा सकता है, (उतना) वह पायेगा ? वह हो बहुत-रोगी, (तो क्या) जितना अल्प-रोगी-द्वारा पाया जा सकता है, (उतना) वह पायेगा । • षष्ठ मायावी •, अष्टाद अमायावी •, आलसी •, • निरालस • । दुःप्रज्ञ •, प्रज्ञवान् • तो राजकुमार ! क्या वह पुरुष तेरे पास हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्पको सीखेगा ? ”

“एक दौपसे भी युक्त पुरुष मेरे पास हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्प नहीं सीख सकता, पाँचों दोपोंसे युक्तके लिये तो कहना ही क्या ? ”

“तो राजकुमार ! यदि कोई मनुष्य ‘बोधि-राजकुमार हाथीवानी • जायता है • शिल्पको सीखेगा’ (सोचकर) जावे । वह हो अद्वारवान् •; अल्प-रोगी •; • अष्टाद = अमायावी •; निरालस • । तो राजकुमार ! क्या वह पुरुष तेरे पास हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्प सीख सकेगा ? ”

“भन्ते ! एक बातसे युक्त भी पुरुष मेरे पास • । ”

“इसी प्रकार राजकुमार ! निर्वाण-साधना (= प्रधान) के भी पाँच जंग हैं । कौनसे पाँच ?—(१) मिथु अद्वारु हो, तथागतकी बोधि (= परमज्ञान) पर अद्वार करता हो—‘कि वह भगवान्, अर्हत्, सम्यक्-संजुद्ध, विद्या-आचरण-संपन्न, सुगत, लोक-विदु, अन्-उत्तरपुरुष-दम्ब-सारथी, देव-मनुष्यके शास्त्रा, बुद्ध, भगवान् है । (२) अल्प-रोगी = अल्प-आलसी, न बहुत शीत, न बहुत उष्ण, साधनायोग्य, सम-विषाकवाली मध्यम प्रकृति (= ग्रहणी) से युक्त हो । (३) अ-अष्टाद = अ-मायावी हो; आलसी (= गुरु) और विज्ञ स-महाचारियोंमें, कुशल धर्मोंके उत्पादनमें निरालस हो; (४) कुशल धर्मोंमें कपेसे जुड़ा न हटानेवाला, हट-पराकमी बलिष्ठ हो । (५) उदय-प्रज्ञावान् हो, उदय-अस्त-गामिनी, आर्यनिर्वैधिक सम्यक् दुःख-क्षय-गामिनी प्रज्ञासे युक्त हो । राजकुमार ! प्रधानके यह पाँच जंग हैं ।

“राजकुमार ! इन पाँच प्रधानीय जंगोंसे युक्त मिथु, तथागतकी विनायक (= नेता) या, अनुत्तर ब्रह्मचर्य-फलकी इसी जन्ममें सात वर्षोंमें, स्वयं जानकर = साक्षात्कर = प्राप्तकर विहरेंगा । ”

“राजकुमार ! जोड़ो सात वर्ष, इन पाँच प्रधानीय जंगोंसे युक्त मिथु •, छः वर्षोंमें । • पाँच वर्षोंमें । • चार वर्षोंमें । • तीन वर्षोंमें । • दो वर्षोंमें । • एक वर्षमें । • सात मासमें । • पाँच मासमें । • चार मासमें । • तीन मासमें । • दो मासमें । • एक मासमें । • सात रात-दिनमें । • छः रात-दिनमें । • पाँच रात-दिनमें । • चार रात-दिनमें । • तीन रात-दिनमें । • दो रात-दिनमें । • एक रात-दिनमें ।

“जोड़ो राजकुमार ! एक रात-दिन; इन पाँच प्रधानीय जंगोंसे युक्त मिथु, तथागतकी विनायक या, साधकालको अनुशासन किया, प्रातःकाल विशेष (= निर्वाणपद) को प्राप्त कर सकता है, प्रातः अनुशासित सार्व विशेष प्राप्त कर सकता है । ”

ऐसा कहनेपर बोधि-राजकुमार बोला—“अहो ! बुद्ध !! अहो ! धर्म !! अहो ! धर्मका स्वास्वात-पन (= उत्तम वर्णन) !! जहाँ कि सार्व अनुशासित प्रातः विशेषको पा जाये, प्रातः अनुशासित सार्व विशेषको पा जाये । ”

ऐसा बोलनेपर संजिका-पुत्रने बोधि-राजकुमारसे कहा—“ऐसाही है, हे भवान् बोधि !—‘अहो ! बुद्ध !! अहो ! धर्म !!, अहो ! धर्मका स्वास्वात-पन ।’ (यह) तुम कहते हो; तो भी उस धर्म और मिथु-संघको धारण नहीं जाते ? ”

भल हो जानेसे, दुःख-रहित, सुख-रहित उपेक्षक हो, स्मृतिकी परिशुद्धतासे शुक्त चतुर्थ ध्यान-को प्राप्त हो विहार करने लगा ।

(१) "तब इस प्रकार चित्तके परिशुद्ध = परि-भवदात, = अंगाररहित = उपक्लेश-रहित, सुद्ध हुये, काम-आपक, स्थिर = अचलता-प्राप्त = समाधिप्राप्त हो जाने पर, पूर्वजन्मोंकी स्मृतिके ज्ञान (= पूर्व-निवासानुस्मृति-ज्ञान) के लिये चित्तको मैंने शुद्धाया । फिर मैं पूर्वकृत अनेक पूर्व-निवासों (= जन्मों) को स्मरण करने लगा—जैसे एक जन्म भी, दो जन्म भी, ... । आकार-रहित इच्छा-रहित पूर्वकृत अनेक पूर्व-निवासोंको स्मरण करने लगा । इस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर हो आत्म-संयमयुक्त विहारते हुये, सुषे रातके पहिले याममें यह प्रथम विद्या प्राप्त हुई; अविद्या गई, विद्या आई; तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ ।

(२) "सो इस प्रकार चित्तके परिशुद्ध ० अभाहित होनेपर, प्राणियोंके जन्म-मरणके ज्ञान (= व्युत्ति-उत्पाद-ज्ञान) के लिये मैंने चित्तको शुद्धाया । सो मनुष्य (के नेत्रों) से परेकी विशुद्ध दिग्ग वस्तुसे, मैं अच्छे, बुरे, सुवर्ण, दुर्बर्ण, सु-गत, दुर्गत, भरते, उत्पन्न होते, प्राणियोंको देखने लगा । सो ० "कर्मोत्तार जन्मको प्राप्त प्राणियोंको जानने लगा । रातके बिचले पहर (= याम) में यह द्वितीय विद्या उत्पन्न हुई । अविद्या गई ० ।

(३) "सो इस प्रकार चित्तके ० । आत्मों (= चित्त-मल) के क्षयके ज्ञानके लिये मैंने चित्तको शुद्धाया—सो 'यह दुःख है' इसे यथार्थसे जान लिया; 'यह दुःख समुदाय है' इसे यथार्थसे जान लिया; 'यह दुःख-निरोध है' इसे यथार्थ से जान लिया; 'यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है' इसे यथार्थसे जान लिया । 'यह आत्म है' इन्हें यथार्थसे जान लिया; 'यह आत्म-समुदाय है' इसे ०, 'यह आत्म-निरोध ०' 'यह आत्म-निरोध = गामिनी-प्रतिपद् है' इसे ० । सो इस प्रकार जानते, इस प्रकार देखते, मेरा चित्त कामाक्ष्योंसे मुक्त हो गया, मवाक्ष्योंसे मुक्त हो गया, अविद्याक्षयसे भी विमुक्त हो गया । छुट (= विमुक्त) जानेपर 'छुट गया (विमुक्त)' ऐसा ज्ञान हुआ । 'जन्म अन्तम हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, करना था सो कर लिया, अब यहाँके लिये कुछ (करणीय) नहीं' इसे जाना । राजकुमार ! रातके विच्छले याममें यह तृतीय विद्या प्राप्त ० अविद्या चली गई ० । ०^१ ।

"तब राजकुमार ! पंचवर्णीय मिश्र मेरे द्वारा इस प्रकार उपदेक्षित हो = अनुशासित हो, अचिरदीर्घमें जिसके लिये कुल-पुत्र घरसे बेघर हो प्रवर्जित होते हैं, उस उत्तम ब्रह्मचर्य-फलको, इसी जन्ममें स्वयं जानकर = साक्षात् कर = उपलब्धकर, विहारने लगे ।"

ऐसा कहनेपर बोधि-राजकुमारने भगवान्से कहा—

"भन्ते ! कितनी देरमें तथागत (को) चिन्तायुक्त (= मेता) था, मिश्र जिसके लिये कुल-पुत्र घरसे बेघर हो प्रवर्जित होते हैं, उस उत्तम ब्रह्म-चर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं जान कर = साक्षात् कर = उपलब्धकर, विहारने लगेगा ?"

"राजकुमार ! तुमसे ही यहाँ पूछता हूँ, जैसा तुमने ठीक कहे, वैसा यतला । हाथीवानी = अंकुश-ग्रहणके शिष्य (= कला) में तू चतुर है न ?"

"भन्ते ! हाँ मैं हाथीवानी ० में चतुर हूँ ।"

"तो राजकुमार ! यदि कोई पुरुष—'बोधि-राजकुमार हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण-शिल्प जानता है, उसके पातसे हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्पको सीखेगा' (सोचकर) आवे । और

वह हो-अज्ञातहित, (तो क्या) जितना अज्ञा-सहित (मनुष्य) द्वारा पाया जा सकता है, (उतना) वह पावेगा ? वह हो बहुत-रोगी, (तो क्या) जितना अल्प-रोगी-द्वारा पाया जा सकता है, (उतना) वह पावेगा । • सठ मातायी •, अष्ट अमायायी •, आलसी •, • निरा-लस • । दुःप्रज्ञ •, प्रज्ञावान् • तो राजकुमार ! क्या वह पुरुष तेरे पास हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्पको सीखेगा ? ”

“एक दोपसे भी युक्त पुरुष मेरे पास हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्प नहीं सीख सकता, पाँचों दोपोंसे युक्तके लिये तो कहना ही क्या ? ”

“तो राजकुमार ! यदि कोई मनुष्य ‘बोधि-राजकुमार हाथीवानी • जानता है • शिल्पको सीखेगा’ (सोचकर) आवे । वह हो अज्ञावान् •; अल्प-रोगी •; • अशठ = अमायायी •; निरालस • । तो राजकुमार ! क्या वह पुरुष तेरे पास हाथीवानी = अंकुश-ग्रहण शिल्प सीख सकेगा ? ”

“भन्ते ! एक बातसे युक्त भी पुरुष मेरे पास • । ”

“इसी प्रकार राजकुमार ! निर्वाण-साधना (= प्रधान) के भी पाँच अंग हैं । कौनसे पाँच ?—(१) मित्रु अदालु हो, तथागतको बोधि (= परमज्ञान) पर अज्ञा करता हो—‘कि वह मगवान्, अर्हत्, सम्मत्-संबुद्ध, विद्या-आचरण-संपन्न, सुगत, शोक-निद, अन-उत्तरपुरुष-दम्य-सारथी, देव-मनुष्यके शास्ता, बुद्ध, मगवान् हैं । ’ (२) अल्प-रोगी = अल्प-आलसी, न बहुत शीत, न बहुत उष्ण, साधनायोग्य, सम-विपाकवाली मध्यम प्रकृति (= ग्रहणी) से युक्त हो । (३) अ-शठ = अ-मायायी हो; शाका (= गुरु) और किञ्च स-मल्लकारिणोंमें, कुशल धर्मके उत्पादनमें निरालस हो; (४) कुशल धर्मोंमें कंधेसे जुना न हटानेवाला, दृढ-पराक्रमी बलिष्ठ हो । (५) उद्य-प्रज्ञावान् हो, उद्य-अल-गामिनी, आर्बन्निर्वैधिक सम्यक्-दुःख-अय-गामिनी प्रज्ञासे युक्त हो । राजकुमार ! प्रधानके यह पाँच अंग हैं ।

“राजकुमार ! इन पाँच प्रधानीय अंगोंसे युक्त मित्रु, तथागतको विनायक (= नेता) या, अनुत्तर ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें प्राप्त वर्षोंमें, स्वयं जानकर = साक्षात्कर = प्राप्तकर विहरेगा । ”

“राजकुमार ! ढोड़ो सात वर्ष, इन पाँच प्रधानीय अंगोंसे युक्त मित्रु •, ढा वर्षोंमें । • पाँच वर्षोंमें । • चार वर्षोंमें । • तीन वर्षोंमें । • दो वर्षोंमें । • एक वर्षमें । • सात मासमें । • छः मासमें । • पाँच मासमें । • चार मासमें । • तीन मासमें । • दो मासमें । • एक मासमें । • सात रात-दिनमें । • छः रात-दिनमें । • पाँच रात-दिनमें । • चार रात-दिनमें । • तीन रात-दिनमें । • दो रात-दिनमें । • एक रात-दिनमें ।

“ढोड़ो राजकुमार ! एक रात-दिन, इन पाँच प्रधानीय अंगोंसे युक्त मित्रु, तथागतको विनायक या, साधकालको अनुशासन किया, प्रातःकाल विशेष (= निर्वाणपद)को प्राप्त कर सकता है, प्रातः अनुशासित साध विशेष प्राप्त कर सकता है । ”

ऐसा कहनेपर बोधि-राजकुमार बोला—“अहो ! बुद्ध !! अहो ! धर्म !! अहो ! धर्मका स्वाक्यात-पन (= उत्तम वर्णन) !! जहाँ कि साध अनुशासित प्रातः विशेषको या जावे, प्रातः अनुशासित साध विशेषको या जावे । ”

ऐसा बोलनेपर संनिका-पुत्रने बोधि-राजकुमारसे कहा—“ऐसाही है, हे भवान् बोधि !—‘अहो ! बुद्ध !! अहो ! धर्म !!, अहो ! धर्मका स्वाक्यात-पन । ’ (यह) तुम कहते हो, तो भी इस धर्म और मित्रु-संबन्धी धारण नहीं ज्ञाने ! ”

“सौम्य ! संज्ञिका-पुत्र ! ऐसा मत कहो । सौम्य ! संज्ञिका-पुत्र ! ऐसा मत कहो । सौम्य ! संज्ञिका-पुत्र ! मैंने अय्या (= आर्या) के मुँहसे सुना, (उन्होंने) मुझसे ग्रहण किया है । सौम्य ! संज्ञिका-पुत्र एकबार भगवान् कौशाम्बीमें बोधितारामसे विद्वार करते थे । तब मेरी गर्भवती अय्या जहाँ भगवान् थे, वहाँ गई, जाकर भगवान्से अभिवादन कर एक ओर बैठ गई । एक ओर बैठी मेरी अय्याने भगवान्से यों कहा—“भन्ते ! जो मेरे कोषमें वह कुमारी या कुमार है, वह भगवान्की, धर्मकी और भिक्षु-संघकी शरण जाता है । आजसे भगवान् इसे सौम्य शरणागत उपासक धारण करें ।

“सौम्य ! संज्ञिका-पुत्र ! एकबार भगवान् वहीं भर्गमें सुसुमार-गिरिके भेषकलावन मृगश्वरमें विहरते थे, तब मेरी धाई (= धात्री) मुझे गोदमें लेकर जहाँ भगवान् थे, वहाँ गई । जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर खड़ी होगई । एक ओर खड़ी हुई मेरी धाईने भगवान्से कहा—भन्ते वह बोधि-राजकुमार भगवान्को, धर्मकी, और भिक्षु-संघकी ०

“सौम्य ! संज्ञिकापुत्र ! यह मैं तीसरी बार भी भगवान्की, धर्मकी और भिक्षु-संघकी शरण जाता हूँ । आजसे भगवान् मुझे सौम्य शरणागत उपासक धारण करें ।”

८६—अंगुलिमाल-सुत्तन्त (२।४।६)

अंगुलिमालका जीवन-परिवर्त (लवरेका बूछा आमको राखे पर)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आवस्तीमें अनाथ-पिंडिकके आराम लेखनमें बिहार करते थे ।

उस समय राजा प्रसेनजित्के राज्यमें रुद्र, जोहित-पाणि, मार-कायमें संज्ञा, प्राणि-भूतोंमें द्वा-रहित अंगुलिमाल नामक डाहू (= चोर) था । उसने आमोंको भी अ-ग्राम कर दिया था, मिसोंको भी अ-मिसम ०, जन-पदको भी अ-जनपद ० । तब भगवान् पूर्णतः समय पहिनकर, पाय-चीवर ले आवस्तीमें पिंडिके लिये प्रविष्ट हुए । आवस्तीमें पिंड-चार करके भोजन बाद..... अवनान्न सैनाल, पाय-चीवर ले जहाँ, डाहू अंगुलिमाल रहता था, उसी रास्ते चले । गोपालकों, प्रमुपालकों, कृषकों, राहगीरोंने भगवान्को, जिवर डाहू अंगुलिमाल था, उसी रास्तेपर (जाते) रूखे देखा । देखकर भगवान्से यह कहा—

“अत अमण ! इस रास्ते जाओ । इस मार्गमें अमण ! ० अंगुलिमाल नामक डाहू रहता है । उसने आमोंको भी अ-ग्राम ० । वह मनुष्योंको मार मारकर अंगुलियोंकी माला पहनता है । इस मार्गपर अमण ! बीस पुरुष, तीस पुरुष, चालीस ०, पचास पुरुष तक इकट्ठा होकर जाते हैं, वह भी अंगुलिमालके हाथमें पक जाते हैं ।”

ऐसा कहनेपर भगवान् मौन धारण कर चलते रहे ।

दूसरी धार भी गोपालकों ० । तीसरी धार भी गोपालकों ० ।

डाहू अंगुलिमालने दूरी ही भगवान्को आते देखा । देखकर उसको यह हुआ—“आश्चर्य है जी ! अद्भुत है जी (= मों) !! इस रास्ते दस पुरुष मों, ० पचास पुरुष भी इकट्ठा होकर चलते हैं, वह भी मेरे हाथमें पक जाते हैं । और वह अमण अकेला-अद्वितीय मानों मेरा तिरस्कार करता आ रहा है । क्यों न मैं इस अमणको जानसे मार दूँ ।” तब डाहू अंगुलिमाल दाल-सकवार (= अति-धर्म) लेकर तीर-धनुष चढ़ा, भगवान्के पीछे चला । तब भगवान्ने इस प्रकारका योग-फल प्रकट किया, कि डाहू अंगुलिमाल आगुली चालसे चलते भगवान्को सारे वेगसे दौड़कर भी न पा सकता था । तब डाहू अंगुलिमालको यह हुआ—“आश्चर्य है जी ! अद्भुत है जी !! मैं पहिले दौड़ते हुये हाथीको भी पीछा करके पकड़ लेता था, ० घोड़ोंको भी ०, ० रथको भी ०, ० मृगको भी पीछा करके पकड़ लेता था । किन्तु, सामुली घासने चलते इस अमणको, सारे वेगसे दौड़कर भी नहीं पा सकता हूँ ।” सदा होकर भगवान्से बोला—

“सदा रह, अमण !”

“मैं स्थित (= खड़ा) हूँ अंगुलिमाल ! तू भी स्थित हो ।”

तब डाहू अंगुलिमालको यह हुआ—“यह शाक्य-पुत्रीय अमण सत्यवादी सत्य-प्रतिज्ञ (होते हैं); किन्तु यह अमण जाते हुये भी ऐसा कहता है—‘मैं स्थित हूँ ० ।’ क्यों न मैं इस अमणसे पूछूँ । तब ० अंगुलिमालने गाथाओंमें भगवान्से कहा—

“अमण ! जहाँ हुये ‘स्थित हूँ’ ।” कहता है, मुझ खड़े हुयेको अस्थित कहता है ।

अमण ! तुझे वह बात प्युछता हूँ ‘कैसे तू स्थित और मैं अस्थित हूँ ?’ ॥१॥”

“अंगुलिमाल ! मारे प्राणियोंके प्रति इह डोकनेसे मैं सर्वदा स्थित हूँ ।

तू प्राणियोंमें अ-संयमी है, इसलिये मैं स्थित हूँ, और तू अस्थित है ॥२॥”

“मुझे महर्षिका पूजन किये देर हुई, यह अमण महावनमें मिल गया ।

मैं धर्मपुत्र नाथाको मुनकर धिरकालके पापको छोड़ूँगा” ॥३॥

इस प्रकार बाहने तलवार और हथियार छोड़, प्रपात और नालेमें फँक दिये ।

बाहने सुगतके पैरोंकी वन्दना की, और वहीं उनसे प्रसन्नता माँगी ॥४॥

बुद्ध कम्पाभय महर्षि, जो देवों सहित लोगके शास्ता (= गुरु) हैं ।

उसको ‘आ मित्र’ बोले, यही उसका संन्यास हुआ ॥५॥

तब भगवान् आलुप्पमान् अंगुलिमालको अनुगामी-अमण बना जहाँ आवस्ती थी वहाँ, पारिकाके लिये चले । कसणः पारिका करते जहाँ आवस्ती थी, वहाँ पहुँचे । आवस्तीमें भगवान् अनाम-पिठिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे । उस समय राजा प्रसेनजित् कोसलके^१ अन्तःपुरके द्वारपर बड़ा जन-स्मूह एकत्रित था । कोलाहल (= डक भाव, महाभाव) हो रहा था—
‘देव ! तेरे राज्यमें ० अंगुलिमाल नामक डाकू है । उसने ग्रामोंको भी अ-ग्राम ० । वह मनुष्योंको मार कर अंगुलियोंकी माला पहनता है । देव ! उसको रोक ।’

तब राजा प्रसेनजित् कोसल पाँच सौ घोड़-सवारोंके साथ मध्याह्नको आगस्तीके निकल (और) त्रिधर आराम था, उभर गया । जितनी धानकी भूमि थी, उतनी धानसे जा, धानसे उतर पैदल जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठे राजा प्रसेनजित् कोसलसे भगवान्ने कहा—

“क्या महाराज ! तुझपर राजा मागध अंगिक विधत्तार विगता है, या वैशाखिक लिच्छवि, या दूसरे विरोधी राजा ?”

“मन्ते ! न मुझपर राजा मागध ० विगता है ० । मन्ते ! मेरे राज्यमें ० अंगुलि-माल नामक डाकू ० । मन्ते ! मैं उसको निवारण करने जा रहा हूँ ।”

“यदि महाराज ! तू अंगुलि-मालको केज-स्मृजु सुँवा, कापाव-वस्त्र पहिन, धरसे बेघर हो प्रसन्नित हुआ, प्राण-हिंसा-विरत, अदुष्तादान-विरत, सुपापाद-विरत, एकाहारी, मद्यचारी, शीलवान्, धर्मात्मा देवे, तो उसको क्या करे ?”

“हम मन्ते ! प्रत्युत्थान करेंगे, जालनके लिये निमंत्रित करेंगे, बीजर, पिङ्ग-पात, शयनासन, ग्लान-प्रत्यय, भौषज्य परिष्कारिते निमंत्रित करेंगे; और उसकी धार्मिक रक्षा = जावरण = गुप्ति करेंगे । किंतु मन्ते ! उस दुःशील पापीको ऐसा शील-संयम कहाँसे होगा ?”

उस समय आलुप्पमान् अंगुलिमाल भगवान्के अ-विदूर बैठे थे । तब भगवान्ने दाहिनी बाँहको पकड़ कर राजा प्रसेनजित् कोसलसे कहा—

“महाराज ! यह है अंगुलिमाल ।”

तब राजा प्रसेनजित् कोसलको, भय हुआ, स्तब्धता हुई, रोमांच हुआ । तब भगवान्ने राजा प्रसेनजित् कोसलसे यह कहा—

“मत डरो, महाराज ! मत डरो महाराज ! (अथ) इससे तुझे भय नहीं है ।” तब राजा

^१ जगरके नीचरी नामसे राजाके मण्डल आदि होते थे, इसको अन्तःपुर, या राजकुल कहा जाता था ।

प्रसेनजित् कोसलको जो मन्त्र ० था, वह विलीन होगया ।

तब राजा प्रसेनजित् कोसल, जहाँ आयुष्मान् अंगुलिमाल थे, वहाँ गया । जाकर आयुष्मान् अंगुलिमालसे बोला—

“आर्ये अंगुलिमाल है ?”

“हाँ, महाराज !”

“आर्यके पिता किस गोत्रके, और माता किस गोत्रकी ?”

“महाराज ! पिता गार्ग्य, माता मैत्रायणी ।”

“आर्ये गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्र अभि-रक्षण करो । मैं आर्ये गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्रकी चौबर, पिंड-पात्र, शयनवासन, स्नान-प्रत्यक्ष-भोजन दारिद्र्यकारोंसे सेवा करूँगा ।”

उस समय आयुष्मान् अंगुलिमाल आरप्यक, पिंडपात्रिक, पशु-हस्तिक, वैचीवरिक थे । तब आयुष्मान् अंगुलिमालने राजा प्रसेनजित् कोसलसे कहा—

“महाराज ! मेरे तीनों चौबर पूरे हैं ।”

तब राजा प्रसेनजित् कोसल जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठे—“भगवान्से वह बोला—

“आर्ये मन्ते ! भद्रुत मन्ते !! कैसे मन्ते ! भगवान् ज्ञानियोंको दमन करते, अज्ञातोंको शमन करते, अ-परिनिर्वृत्तोंको परिनिर्वाण कराते हैं । मन्ते ! जिनको हम ईदसे भी, शखसे भी दमन न कर सके, उनको मन्ते ! भगवान्ने बिना ईदके, बिना शखके दमन कर दिया । अच्छा, मन्ते ! हम जाते हैं, इस बहु-कृत्य = बहु-करणीय (= पण्डित कामवाले) हैं ।”

“जिसका महाराज ! तू काल समझता है (वैसा कर) ।”

तब राजा प्रसेनजित् कोसल आसवसे उठकर भगवान्को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर चला गया ।

तब आयुष्मान् अंगुलिमाल पूर्वाह्न समय पहिचकर, पात्र-चौतर ले श्रावस्तीमें पिंडके लिये प्रविष्ट हुये । श्रावस्तीमें बिना छदरे, पिंड-चार करते आयुष्मान् अंगुलिमालने एक स्त्रीको मृग-गर्भा = विवात-गर्भा (= मरे गर्भवाली) देखा । देखकर उनको यह हुआ—“हा ! प्राणी दुःख पा रहे हैं !! हा ! प्राणी दुःख पा रहे हैं ।” तब आयुष्मान् अंगुलिमाल श्रावस्तीमें पिंड-चार करके भोजनो-परान्त—“जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् अंगुलिमालने भगवान्से कहा—

“मैं मन्ते ! पूर्वाह्न समय पहिच कर, पात्र-चौवर ले श्रावस्तीमें पिंडके लिये प्रविष्ट हुआ । श्रावस्तीमें ० मैंने एक स्त्रीको मृग-गर्भा ० देखा । ‘० हा ! प्राणी दुःख पा रहे हैं’ ।”

“तो अंगुलिमाल ! जहाँ वह स्त्री है, वहाँ जा । जाकर उस स्त्रीसे कह—भगिनि ! यदि मैं जन्मसे, जानकर प्राणि-वध करना नहीं जानता, (तो) उस सखसे तेरा मंगल हो; गर्भका मंगल हो ।”

“मन्ते ! वह तो निश्चय मेरा जान कर छूट चोलना होगा । मन्ते मैंने जान कर बहुतसे प्राणि-वध किये हैं ।”

“अंगुलिमाल ! तू जहाँ वह स्त्री है वहाँ—जाकर यह कह—‘भगिनि ! यदि मैंने आर्य-जन्ममें पैदा हो (कर) जान कर प्राणि-वध करना नहीं जाना, (तो) इस सख से ० ।”

“अच्छा मन्ते !”—आयुष्मान् अंगुलिमालने—जाकर उस स्त्रीसे कहा—

“भगिनि ! यदि मैंने आर्य जन्ममें पैदा हो, जान कर प्राणि-वध ० ।”

तब लीका मंगल होगया, गर्भका भी मंगल होगया ।

आयुष्मान् अंगुलिमाल एकाकी...अप्रमत्त = उद्योगी संघर्षी हो विहार करते न-चिरमें ही, जिसके लिये कुल-मुष्...प्रमत्तित होते हैं, उस सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं जान कर = साक्षात्कार कर = प्राप्त कर विहार करने लगे । 'जन्म भय होगया, ब्रह्मचर्य-पालन हो चुका, करना था सो कर लिया, भय और करनेको यहाँ नहीं है' (इसे) जान लिया । आयुष्मान् अंगुलिमाल अर्थात्तमें एक हुये ।

आयुष्मान् अंगुलिमाल पूर्वाह्न समय पहिन कर, पाद-चीकर ले, आकस्मीमें भिक्षाके लिये प्रविष्ट हुये । किसी दूसरेका फेंका डेला आयुष्मान्के चरौटपर लगा, दूसरेका फेंका डंडा ० ; दूसरेका फेंका कंकड़ ० । तब आयुष्मान् अंगुलिमाल बहते-तून, फटे-शिर, टूटे-पात्र, फटी संघाटीके साथ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । भगवान्ने दूरसे ही आयुष्मान् अंगुलिमालको आते देखा । देखकर आयुष्मान् अंगुलिमालसे कहा—

“मादण ! तुने कबूल कर लिया । मादण ! तुने कबूल कर लिया । जिस कर्म-फलके लिये अनेक सौ वर्ष, अनेक हजार वर्ष, नर्कमें पचना पड़ता, उस कर्म-विपाकको मादण ! तू इसी जन्ममें भोग रहा है ।”

तब आयुष्मान् अंगुलिमालने एकान्तमें ध्यानावस्थित हो विमुक्त-मुष्णको अनुभव करते, उसी समय यह उद्गार कहा—

“जो पहिले अर्जित कर पीछे, उसे मार्जित करता है ।

वह तेजसे कुछ चन्द्रमाकी भाँति इस लोकको प्रभासित करता है ॥ १ ॥

जिसका किया पाप-कर्म पुण्य (= कुशल) से ढँका जाता है ।

वह मेघसे मुक्त ० ॥ २ ॥

जो संसारमें तरल भिक्षु कुद-शासनमें लुटता है । वह ० ॥ ३ ॥

दिशाये मेरी धर्म-कथाको सुनें, दिशाये मेरे कुद-शासनमें लुटें ।

यह संत पुरुष दिशाओंको सेवन करें, जो धर्मके लिये ही प्रेरित करते हैं ॥ ४ ॥

दिशाये मेरे श्रुति-वाहियों, मैत्री-प्रशंसकोंके धर्मको;

समयपर सुनें, और उसके अनुसार चलें ॥ ५ ॥

वह मुझे या दूसरे किसीको भी नहीं झारेगा ।

(वह) परम श्रुतिको पाकर स्वाकर जंगमकी रक्षा करेगा ॥ ६ ॥

(जैसे) नाली-वाले पानी ले जाते हैं, बज्र-कार शरको सीधा करते हैं ।

बड़ई लकड़ीको सीधा करते हैं, (वैसे ही) पंडित अपनेको दमन करते हैं ॥ ७ ॥

कोई दंडसे दमन करते हैं, (कोई) शस्त्र और कोवासे भी ।

लघागत-द्वारा बिना दंड, बिना शस्त्रके ही मैं दमन किया गया हूँ ॥ ८ ॥

पहिलेके हिंसक मेरा नाम आज महिंसक है ।

आज मैं बयाये-नामवाला हूँ, किसीकी हिंसा नहीं करता ॥ ९ ॥

पहिले मैं 'अंगुलिमाल' नामसे प्रसिद्ध चोर था ।

वही था (= महा-जोष) मैं हूँ अब कुदकी शरण आया ॥ १० ॥

पहिले मैं जंगुलिमाल नामसे प्रसिद्ध खून-रंगे हामवाला (= लोहित-पाणि) था ।

देखो क्षरणागतिको ? मक्क-जाल सिमट गया ॥११॥

बहुत दुर्गतिमें ले जानेवाले कर्मोंको करके ।

कर्म-विपाकसे स्पृष्ट (= लगा) (था) (दिन)से उद्वेग हो मोहन करता हूँ ॥१२॥

याल = दुर्बुद्धि जन, प्रमाद (= आलस्य)में लगे रहते हैं ।

मेधावी (पुरुष) अ-प्रमादकी, श्रेष्ठ चमकी भाँति रक्षा करते हैं ॥१३॥

अतः प्रमादमें लुप्तो, अतः काम-रतिका संग करो ।

अप्रमाद-मुक्त हो ध्यान करते (मनुष्य) विपुल सुखको पाता है ॥१४॥

(यहाँ मेरा भाना) स्वागत है, अप-गत (= दुरागत) नहीं,

यह मेरी (मंत्रणा) दुर्नैवणा नहीं ।

प्रतिमान (= ज्ञान) होनेवाले चर्मोंमें जो श्रेष्ठ है, उस (निर्वाण)को मैंने पा लिया ॥१५॥

स्वागत है, अपगत नहीं, यह मेरा दुर्नैवण नहीं ।

तीनों विषयोंको पा लिया, दुष्टके शासनको कर लिया ॥१६॥

८७-प्रियजातिक-सुत्तन्त (२।४।७)

प्रियोसे शोक, दुःखकी उपपत्ति

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें... जेतवनमें विहार करते थे ।

उस समय एक गृहपति (= वैश्य) का प्रिय = अपना एकलौता-पुत्र मर गया था । उसके मरनेसे (उसे) न काम (= कर्मान्त) अच्छा लगता था, न भोजन अच्छा लगता था—'कहाँ हो (मेरे) एकलौते-पुत्रक ! कहाँ हो (मेरे) एकलौते-पुत्रक !' तब वह गृहपति जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । ... अभिवादन कर एक ओर बैठे उस गृहपतिसे भगवान्ने कहा—

“गृहपति ! तेरी इन्द्रियाँ (= चेष्टायें) चित्तमें स्थित नहीं जान पवतीं, क्या तेरी इन्द्रियोंमें कोई जराबी (= जन्यवात्त) तो नहीं है ?”

“भन्ते ! क्यों न मेरी इन्द्रियाँ जन्यवात्तको प्राप्त होंगी ! भन्ते ! मेरा प्रिय = अपना एकलौता-पुत्र मर गया । उसके मरनेसे न काम अच्छा लगता है, न भोजन अच्छा लगता है । सो मैं आदाहन (= चिता) के पास जाकर कंदन करता हूँ—'कहाँ हो एकलौते-पुत्रक (= पुत्रवा) !”

“ऐसा ही है गृहपति ! प्रिय-जातिक = प्रियसे उत्पन्न होनेवाले ही हैं, गृहपति ! (वह) शोक, परिदेव (= कंदन), दुःख = सौमनस्य, उपायास (= परेशानी) ?”

“भन्ते ! यह ऐसा क्यों होगा—‘प्रिय जातिक ० हैं शोक ० उपायास !”

वह गृहपति भगवान्के भाषणको न अभिनन्दन कर, निदा कर आसनमें उठकर चला गया । उस समय बहुतसे जुबारी (= अश्व-धूर्त) भगवान्के आश्रममें जुमा खेल रहे थे । तब वह गृहपति जहाँ वह जुबारी थे, वहाँ गया, जाकर उन जुबारियोंसे बोला—

“मैं जी ! जहाँ अमण गौतम है, वहाँ... जाकर... अभिवादन कर एक ओर बैठे मुझे अमण गौतम ने कहा—‘गृहपति ! तेरी इन्द्रियाँ (= चेष्टायें) अपने चित्तमें स्थित-सी नहीं हैं ० प्रिय जातिक ० शोक ० हैं’ । प्रियजातिक = प्रियसे उत्पन्न तो, आनन्द = सौमनस्य है । तब मैं अमण गौतमके भाषणको न अभिनन्दन कर ० चला आया ।”

“वह ऐसा ही है गृहपति ! प्रिय-जातिक = प्रिय-उत्पन्न तो हैं गृहपति ! आनन्द = सौमनस्य ।”

तब वह गृहपति ‘जुबारी भी मुझसे सहमत हैं’ (सोच) चला गया । वह कथावस्तु (= चर्चा) कमसः राज्ञ-भन्त-पुरमें चली गई । तब राजा प्रसेनजित् कोसलने मल्लिका देवीको आमंत्रित किया—

“मल्लिका ! तेरे अमण गौतमने यह भाषण किया है—‘प्रिय-जातिक = प्रिय-उत्पन्न हैं शोक ० उपायास’ ।”

“यदि महाराज ! भगवान्ने ऐसा भाषण किया है, तो यह ऐसा ही है ।”

“ऐसा ही है मलिका ! जो जो अमण गौतम भाषण करता है, उस उसको ही तू अनुमोदन करती है—‘यदि महाराज ! भगवान्ने ०’ । जैसे कि आचार्य जो जो अन्तेवासीको कहता है, उस उसको ही उसका अन्तेवासी अनुमोदन करता है—‘यह ऐसा ही है आचार्य । ० आचार्य !’ ऐसे ही तू मलिका ! जो जो अमण ० । वह परे हट मलिका !”

तब मलिका देवीने नाछी-जंघ बाझणको आमंत्रित किया—

“आओ तुम बाझण ! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ जाओ । जाकर मेरे वचनसे भगवान्के चरणोंमें शिरसे वन्दना करना;—(कुशलक्षेम) पूछना—‘अन्ते ! मलिकादेवी भगवान्के चरणोंमें शिरसे वन्दना करती है,—(= कुशलक्षेम) पूछती है ।’ और यह भी कहना—‘क्या अन्ते ! भगवान्ने यह वचन कहा है—‘प्रिय जातिक ० है, शोक ० उपायास’ । भगवान् जैसा तुम्हें उतर दें, उसे अच्छी तरह सीख कर, मुझे आकर कहना। तबामत स्वयं नहीं पोंछते ।”

“अच्छा भवती !” नाछी-जंघ बाझण—“जहाँ भगवान् थे, वहाँ—जाकर, भगवान्के साथ संमोदन कर, एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे नाछी-जंघ बाझणने भगवान्से कहा—

“हे गौतम ! मलिका देवी ! आप गौतमके चरणोंमें शिरसे वन्दना करती है ० । और यह पूछती है—‘क्या अन्ते ! भगवान्ने यह वचन कहा है—‘प्रिय जातिक ० है, शोक ० उपायास’ ?”

“यह ऐसा ही है बाझण ! ऐसा ही है बाझण ! प्रिय जातिक = प्रिय-उत्पन्न हैं बाझण ! शोक ० उपायास । इसे इस प्रकारसे भी—‘जानना चाहिये कि कैसे—प्रिय जातिक ० शोक’ ! पहिले समयमें (= भूत पूर्वमें) बाझण ! इसी आवस्तीकी एक खीकी माता मर गई थी; वह उसकी मृत्युसे उन्मत्त-विश्रिप्त-चित्त हो एक सड़कमें दूसरी सड़कपर, एक चौरस्तेसे दूसरे चौरस्ते-पर जाकर कहती थी—‘क्या मेरी माकी देखा, क्या मेरी माकी देखा ।’ इस प्रकारसे भी बाझण ! जानना चाहिये कि कैसे ० । पहिले समयमें बाझण ! इसी आवस्तीमें एक खीका पिता मर गया था ० । ० भाई मर गया था ० । ० भगिनी मर गई थी ० । पुत्र मर गया था ० । ० दुहिता मर गई थी ० । ० स्वामी (= पति) मर गया था ० ।

“पूर्व कालमें ० एक पुरुषकी माता ०—० भावी ० ।”

“पूर्वकालमें बाझण ! इसी श्वावस्तीकी एक खी पीहर गई । उसके भाई-पुत्र उसे उसके पतिसे डीनकर, दूसरेको देना चाहते थे, और वह नहीं चाहती थी । तब उस खीने पतिसे यह कहा—‘आर्यपुत्र ! यह मेरे भाई-पुत्र मुझे तुमसे डीनकर दूसरेको देना चाहते हैं, और मैं नहीं चाहती ।’ तब उस पुरुषने—‘दोनों मरकर इकट्ठा उत्पन्न होंगे’ (शोक) उस खीकी दो हुकदेकर, अपनेको भी मार डाला । इस प्रकारसे भी बाझण ! जानना चाहिये ।”

तब नाछी-जंघ बाझण भगवान्के भाषणको अभिनन्दन कर, अनुमोदन कर आसनसे उठ कर, जहाँ मलिकादेवी थी, वहाँ गया । जाकर भगवान्के साथ जो कथा-खेलाप हुआ था, वह सब मलिकादेवीसे कह सुनाया । तब मलिकादेवी जहाँ राजा प्रसेनजित् था, वहाँ गई; जाकर राजा प्रसेनजित् कोसलसे बोली—

“तो क्या मानते हो महाराज तुम्हें वजिरी (= वज्रिणी) कुमारी प्रिय है न ?”

“हाँ, मलिका ! वजिरी कुमारी मुझे प्रिय है ।”

“तो क्या मानते हो, महाराज ! यदि तुम्हारी बजिरी कुमारीको कोई विपरिणाम (= संकट) या अन्यथात्व होवे, तो क्या तुम्हें शोक • उत्पन्न होंगे ?

“मल्लिका ! बजिरी कुमारीके विपरिणाम-अन्यथात्वसे मेरे जीवनका भी अन्यथात्व हो सकता है, ‘शोक • उत्पन्न होगा’ की तो बात ही क्या ?”

“महाराज ! उन भगवान्, जाननहार, देखनहार अर्हत् सम्यक्-संशुद्धने यही सोचकर कहा है—‘प्रिय-आतिथ • ।’ तो क्या मानते हो महाराज ! वासम अग्निवा तुम्हें प्रिय है न ?”

“हाँ, मल्लिका ! वासम-अग्निवा मुझे प्रिय है ।”

“तो क्या मानते हो महाराज ! वासम अग्निवाको कोई विपरिणाम = अन्यथात्व हो, तो क्या तुम्हें शोक • उत्पन्न होंगे ?”

“मल्लिका ! • जीवन का भी अन्यथात्व हो सकता है • ।”

“महाराज ! • यही सोच कर • कहा है • । तो क्या मानते हो महाराज ! विदूषन सेनापति तुम्हें प्रिय है न ?” • । • ।

“• । तो क्या मानते हो महाराज ! मैं तुम्हें प्रिय हूँ न ?”

“हाँ मल्लिके ! मैं तुम्हें प्रिय है ।”

“तो क्या मानते हो, महाराज ! तुम्हें कोई विपरिणाम, अन्यथात्व हो, तो क्या तुम्हें शोक • उत्पन्न होंगे ?”

“मल्लिका ! • जीवनका भी अन्यथात्व हो सकता है • ।”

“महाराज ! • यही सोचकर कहा है • । तो क्या मानते हो, महाराज ! काशी और कोसल (के निवासी) तुम्हें प्रिय हैं न ?”

“हाँ मल्लिके ! काशी-कोसल मेरे प्रिय हैं । काशी-कोसलोंके अनुभाव (= वरकट) से ही तो हम ‘‘काशिकचन्दनको भोगते हैं, माला, गंध, विलेपन (= उषदन) धारण करते हैं ।”

तो • महाराज ! काशी-कोसलोंके विपरिणाम = अन्यथात्व (= संकट)से, क्या तुम्हें शोक • उत्पन्न होंगे ?”

“• जीवनका भी अन्यथात्व हो सकता • है ?”

“महाराज ! उन भगवान् • ने यही सोचकर कहा है—‘प्रिय-आतिथ = प्रियसे उत्पन्न है, शोक • ।’”

“आश्चर्य ! मल्लिके !! आश्चर्य ! मल्लिके !! कैसे यह भगवान् हैं !!! मानों प्रज्ञानसे बेवकूत देखते हैं । आलो, मल्लिके ! हम दोनों...।”

तब राजा प्रसेनजित् कोसलने आसनसे उठकर, उत्तरासंग (= चहर) को एक (पायें) कंधेपर रख, जिधर भगवान् थे, उधर अंजली जोष तीन बार उदान कहा—

“‘ उन भगवान्, अर्हत्, सम्यक् संशुद्धको वन्द्यकार है; उन भगवान् अर्हत् सम्यक् समुद्धको वन्द्यकार है; उन भगवान् अर्हत्, सम्यक् संशुद्धको वन्द्यकार है ।”

८८—बाहीतिय-सुचन्त (२।४।८)

शुद्ध निन्दित कर्म नहीं कर सकते

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् ध्यावस्ती ० जेतवनमें विहार करते थे ।

तब आयुष्मान् आनन्द पूर्वोक्त समय (चौकर) पहिन कर, पात्र-चीपर लें, आवस्तीमें... पिंड-चार करके... दिनके विहासके लिये जहाँ मृगार-भाताका प्रसाद पूर्वोराम था, वहाँ चले । उस समय राजा प्रसेनजित् ० एकपुंडरीक नाम (= हाथी) पर चढ़कर, भण्डाहमें आवस्तीसे बाहर जा रहा था । राजा प्रसेनजित् ० ने दूरसे आयुष्मान् आनन्दको आते देखा । दौड़कर सिखिबड्ड (ओषध) महामात्यको आमंत्रित किया—

“सौम्य सिखिबड्ड ! यह आयुष्मान् आनन्द हैं न ?”

“हाँ महाराज !... !”

तब राजा ० ने एक आत्मीको आमंत्रित किया—

“आओ, हे पुरुष ! जहाँ आयुष्मान् आनन्द हैं, वहाँ जाओ, जाकर मेरे वचनसे आयुष्मान् आनन्दके पैरोंमें बंदना करना...”, और यह भी कहना—“मन्ते ! यदि आयुष्मान् आनन्दको कोई बहुत जरूरी काम न हो, तो मन्ते ! आयुष्मान् आनन्द कृपाकर एक मिनट (= सुहृत्) ठहर जायें ।”

“अच्छा देव !”

आयुष्मान् आनन्दने मौनसे स्वीकार किया ।

तब राजा प्रसेनजित् जितना नागका रास्ता था, उतना नागसे जाकर, नागसे उत्तर पैदल ही... जाकर... अभिवादन कर एक ओर खड़ा हो, आयुष्मान् आनन्दसे बोला—

“मन्ते ! यदि आयुष्मान् आनन्दको कोई अत्यावश्यक काम न हो, तो अच्छा हो मन्ते ! आयुष्मान् आनन्द जहाँ अचिरवती नदीका तीर है, कृपा कर वहाँ चले ।”

आयुष्मान् आनन्दने मौनसे स्वीकार किया ।

तब आयुष्मान् आनन्द, जहाँ अचिरवती नदी का उट था, वहाँ गये । जाकर एक वृक्षके नीचे पिण्डे आसनपर बैठे । तब राजा प्रसेनजित् ० जाकर, नागसे उत्तर पैदल ही... जाकर... अभिवादन कर एक ओर खड़ा हुआ । एक ओर खड़े हुये राजा ० ने... यह कहा—

“मन्ते ! आयुष्मान् आनन्द यहाँ कालीनपर बैठें ।”

“नहीं महाराज ! तुम बैठो, मैं अपने आसनपर बैठा हूँ ।”

राजा प्रसेनजित् ० बिड़े आसनपर बैठा । बैठ कर... बोला—

“मन्ते ! क्या वह भगवान् ऐसा कायिक आचरण कर सकते हैं, जो कायिक आचरण, असर्गों, बाह्यर्गों और विज्ञोंसे निन्दित (= उपारम्भ) है ?”

“नहीं महाराज ! वह भगवान् ० !”

“क्या मन्ते ! ० कायिक आचरण कर सकते हैं ० ?” “नहीं महाराज !”

“आश्चर्य ! मन्ते !! अद्भुत ! मन्ते !! जो हम (दूसरे) श्रमणोंसे नहीं पूरा कर (जान) सके, वह मन्ते ! आयुष्मान् आनन्दने प्रश्नका उत्तर दे पूरा कर दिया । मन्ते ! जो वह बाल = अश्वत्थ (= श्वेत) बिना सोने, बिना आह लगाये, दूसरोंका वर्ण (= प्रशंसा) या अ-वर्ण नापण करते हैं, उसे हम सार मानकर नहीं स्वीकार करते । और मन्ते ! जो वह पंडित = व्यक्त = मेधावी (= पुरुष) सोचकर, आह लगाकर दूसरोंका वर्ण या अवर्ण भाषण करते हैं; उसे हम सार मानकर स्वीकार करते हैं । मन्ते ! आनन्द ! कौन कायिक आचरण श्रमणों, ब्राह्मणों, विज्ञोंसे निन्दित है ?”

“महाराज ! जो कायिक-आचरण अ-कुशल (= बुरा) है ।”

“मन्ते ! अकुशल कायिक आचरण क्या है !” “महाराज ! जो कायिक आचरण स-अवयव (= संश्लेष) है ।” “० स-अवयव क्या है ?” “जो ० स-व्यापाय (= हिसाबधुक्त) है ।” “० स-व्यापाय क्या है ?” “जो ० दुःख विपाक (= श्रमणोंसे दुःख देनेवाला) है ।”

“० दुःख-विपाक क्या है ?”

“महाराज ! जो कायिक आचरण अपनी पीड़ाके लिये होता है, पर-पीड़ाके लिये होता है, दोनोंकी पीड़ाके लिये होता है । उससे अ-कुशल-धर्म (= पाप) बनते हैं, कुशल-धर्म नाश होते हैं । इस प्रकारका कायिक आचरण महाराज ! ० निन्दित है ।”

“मन्ते आनन्द ! कौन कायिक-आचरण श्रमणों-ब्राह्मणों-विज्ञोंसे निन्दित है ?” “० महाराज ! जो कायिक-आचरण अपनी पीड़ाके लिये है ० ।”

“० कौन आनसिक आचरण ० ?” “० ।

“मन्ते ! आनन्द ! क्या वह मगधान् सभी अकुशल धर्मों (= बुराइयों)का विनाश वर्णन करते हैं ?”

“महाराज ! तथामग सभी अकुशल धर्मोंसे रहित हैं, सभी कुशल-धर्मोंसे युक्त हैं ।”

“मन्ते आनन्द ! कौन कायिक आचरण (= काय-समाचार) श्रमणों-ब्राह्मणों-विज्ञोंसे अनिन्दित है ?”

“महाराज ! जो कायिक आचरण कुशल है । ० । ० अनवयव ० । ० । ० अ-व्यापाय ० । ० । ० सुख विपाक ० । ० । जो ० न अपनी पीड़ाके लिये होता है, न पर-पीड़ाके लिये, न दोनोंकी पीड़ाके लिये होता है । उससे अकुशल-धर्म नाश होते हैं, कुशल-धर्म बनते हैं । ० ।

० कायिक आचरण कुशल है ? ० आनसिक आचरण कुशल है ? ० ।

“मन्ते आनन्द ! क्या वह मगधान् सभी कुशल धर्मोंकी प्राप्तिको वर्णन करते हैं ?”

“महाराज ! तथामग सभी अकुशल-धर्मोंसे रहित हैं, सभी कुशल-धर्मोंसे युक्त हैं ।”

“आश्चर्य ! मन्ते !! अद्भुत ! मन्ते !! कितना सुन्दर कथन (= सुभाषित) है, मन्ते ! आयुष्मान् आनन्दका !!! मन्ते ! आयुष्मान् आनन्दके इस सुभाषितसे हम परम प्रसन्न हैं । मन्ते ! आयुष्मान् आनन्दके सुभाषितसे इस प्रकार प्रसन्न हुये, हम हाथी-सब भी आयुष्मान्को देते, यदि वह आयुष्मान् आनन्दकी विहित (= प्राज्ञ = कल्प) होता, ० अथ-रत्न (= श्रेष्ठ धोखा) भी ०, ० अच्छा गाँव भी ० । किन्तु मन्ते ! आनन्द ! हम इसे जानते हैं, वह आयुष्मान्को प्राज्ञ नहीं है । मेरे पास राजा आगध अजातशत्रु, वैदेही-गुप्तकी भेजी “यह सोलह हाथ लम्बी, जाठ हाथ चौड़ी बाहीतिक” है, उसे आयुष्मान् आनन्द कृपा-करके स्वीकार करें ।”

१ अ. क. “बाहीत शस्त्रों के देतेवाले बलका यह नाम है ।” सतलज और व्यासके बीचका प्रदेश बाहीत देश है । पाणिनीय (४ : २ : १७। ५ : ३ : ११४) ने इसे ही बाहीक लिखा है ।

“नहीं महाराज ! मेरे तीनों चीवर पूरे हैं ।”

“मन्ते ! यह अचिरवती नदी आयुष्मान् आनन्दने देखी है, और हमने भी । जब ऊपर पर्वतपर महामेघ बरसता है, तब यह अचिरवती, दोनों तटोंको भर कर बहती है । ऐसे ही मन्ते ! इस वाहीतियसे आयुष्मान् आनन्द अपना निचीवर बनावेंगे, जो आयुष्मान् आनन्दके चीवर है, उन्हें समझचारी बाँट लेंगे । इस प्रकार हमारी दक्षिणा (= दान) मानी भर कर बहती हुई (= संविष्यन्दन्ती) होगी । मन्ते ! आयुष्मान् आनन्द तेरी वाहीतियको स्वीकार करें ।”

आयुष्मान् आनन्दने वाहीतियको स्वीकार किया । तब राजा ० ने कहा—

“अच्छा मन्ते ! अब हम जाते हैं, (= हम) बहु-कृत्य, बहु-करणीय हैं ।”

“जिसका महाराज ! तुम काल समझते हो ।”

तब राजा प्रसेनजित् ० आयुष्मान् आनन्दके मापणको अभिनन्दन कर, अनुमोदन कर, वात्सल्यसे उठ, ० अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला गया ।

राजा ० के जानेके बोधी देर बाद, आयुष्मान् आनन्द जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । एक ओर बैठ आयुष्मान् आनन्दने जो कुछ राजा प्रसेनजित् ० के साथ कहा-संकाय हुआ था, वह सब भगवान्को सुना दिया, और वह वाहीतिय भी भगवान्को अर्पण कर दी । तब भगवान्ने भिक्षुओंको आमंत्रित किया—

“भिक्षुओ ! राजा प्रसेनजित् ० को क्षाम है, ० सुखाम मिला है, जो राजा ० आनन्दका दर्शन सेवन पाता है ।”

तब भगवान्ने कहा, संतुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के मापणका अभिनन्दन किया ।

८६—धम्मचेतिय-सुत्तन्त (२।४।६)

श्रोतोंके सुपरिणाम । बुद्धकी प्रथा

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् शाक्य (देव)में, मेतल्लूप (= मेतल्लुम्प) नामक शाक्योंके निगममें विहार करते थे ।

उस समय राजा प्रसेनजित् कोसल किसी कामसे नगरकमें आया हुआ था । तब राजा प्रसेनजित् कोसलने 'दीर्घ कारावणको आमंत्रित किया—

“सौम्य कारावण ! सुन्दर यानोंकी खूबियाँ, सुभूमि देखनेके लिये उद्यान-भूमि जायेंगे ।”

“अच्छा देव !”

“देव ! सुन्दर-सुन्दर यान जुट गये, अब जिसका देव काल समझते हों ।”

तब राजा प्रसेनजित् ० भद्र (= सुन्दर) यानपर आरुढ़ हो, भद्र-भद्र यानोंके साथ, पौ राज्ञी दादसे नगरकसे निकल कर, जहाँ आराम था, वहाँ गया । जिसकी यानकी भूमि थी, उतनी यानसे जा, यानसे उतर पैदल ही आराममें प्रविष्ट हुआ । राजा प्रसेनजित्ने टहलते हुये आराममें शम्भु-रहित, शोष-रहित, निर्बल, ... ध्यान योग्य मनोहर वृक्ष-मूलोंको देखा । देखकर भगवान्की ही स्मृति उत्पन्न हुई—यह वैसे ही ० मनोहर वृक्षमूल है, जहाँपर हम भगवान् ० सम्यक् संबुद्धकी उपासना (= स्तुति) करते थे । तब राजा ० ने दीर्घ कारावणसे पूछा—

“सौम्य कारावण ! वह ० मनोहर वृक्षमूल है, जहाँपर ० । सौम्य कारावण ! इस समय वह भगवान् ० कहाँ विहरते हैं ?”

“महाराज ! शाक्योंका मेतल्लूप नामक निगम (= कसबा) है, वह भगवान् ० वहाँ पर विहर रहे हैं ।”

“सौम्य कारावण ! नगरकमें कितनी दूरपर शाक्योंका वह मेतल्लूप निगम है ?”

“महाराज ! दूर नहीं है, तीन योजन है । बाकी बचे दिनमें पहुँचा जा सकता है ।”

“तो सौम्य कारावण ! तुम्हारा भद्र यानों की, हम भगवान् ० के दर्शनके लिये वहाँ चलेंगे ।” “अच्छा देव !”

... तब राजा प्रसेनजित् सुन्दर यानपर आरुढ़ हो ० नगरकसे निकलकर, ... उसी बचे दिनमें शाक्योंके निगम मेतल्लूपमें पहुँच गया । जहाँ आराम था, वहाँ चला । जिसकी यानकी भूमि थी, उतनी यानसे जा, यानसे उतर कर पैदल ही आराममें प्रविष्ट हुआ ।

उस समय बहुतसे भिक्षु बुद्धी जगहमें टहल रहे थे ० । राजा प्रसेनजित्ने वहीं शब्द और

* देखो उद्धरण, १४ व ११ ।

उष्णीष दीर्घ कारायणको दे दिया । दीर्घ कारायणने सोचा—‘मुझे राजा यहीं डहरा रहा है, इसलिये मुझे यहीं खड़ा रहना होगा ।’ तब राजा ० जहाँ वह द्वारबंद विहार था ० गया । भगवान्ने वृषाभा खोल दिया । राजा ० विहार (= गंधकुटी) में प्रविष्ट हो, भगवान्के चरणोंमें सिरसे पककर ^१ ० ।

“क्या है महाराज ! क्या बात देखकर महाराज ! इस शरीरमें इतना गौरव दिखलाने हो, निश्चय उपहार (= संमान) प्रदर्शन कर रहे हो ?”

“अन्ते ! भगवान्में मेरा धर्म-अन्वय (= धर्म-संयन्त्र) है—भगवान् सम्यक् संबुद्ध है, भगवान्का धर्म स्वाध्याय है, सब सुमार्गपर आकृष्ट है । अन्ते ! किन्हीं किन्हीं श्रमण ब्राह्मणोंको मैं स्वयं-कालिक (= पर्यंतक) ब्रह्मचर्य पालन करते देखता हूँ—दश वर्ष, बीस वर्ष, तीस वर्ष, चाहीस वर्ष भी । वह दूसरे सम्य सु-स्वात, सु-विलस, केस-इन्धु वनवा (= कल्पित कर) पाँच कामगुणोंसे समर्पित = सम-जंगीभूत हो, विचरण करते हैं । अन्ते ! भिक्षुओंको मैं देखता हूँ, जोट-भर ‘परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य’ पालन करते हैं । अन्ते ! यहाँसे बाहर दूसरा इतना परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य नहीं देखता । अन्ते ! यह भी (कारण है) कि भगवान्में मुझे धर्म-दर्शन (= धर्म-अन्वय) होता है,—‘भगवान् सम्यक् संबुद्ध है, भगवान्का धर्म स्वाध्याय है, सब सु-प्रतिपन्न (= सुमार्गारूढ़) है ।

“और फिर अन्ते ! राजा भी राजाओंसे विवाद करते हैं, क्षत्रिय क्षत्रियोंके साथ विवाद करते हैं, ब्राह्मण भी ०, गृहपति (= वैश्य) भी ०, भ्राता भी पुत्रके साथ ०, पुत्र भी भ्राताके साथ ०, पिता भी पुत्रके साथ ०, पुत्र भी पिताके साथ ०, भाई भी भाईके साथ ०, भाई भी बहिनके साथ ०, बहिन भी भाईके साथ ०, मित्र भी मित्रके साथ ० । किन्तु यहाँ अन्ते ! मैं भिक्षुओंको समय (= एकराव), संनोदमान (= एक दूसरेसे मुद्रित), विवाद-रहित, दुष-जल-यने, एक दूसरेको प्रिय-वस्तुसे देखता विहार करता देखता हूँ । अन्ते ! यहाँसे बाहर मैं (कहीं) ऐसी एकराव परिषद् नहीं देखता । यह भी अन्ते ! ० ।

“और फिर अन्ते ! मैं (एक) आरामसे (दूसरे) आराममें, (एक) उद्यानसे (दूसरे) उद्यानमें, रहलता हूँ, विचरता हूँ ; यहाँ मैं किन्हीं-किन्हीं श्रमण ब्राह्मणोंको कृश, रज, दुर्बल, पीले-पीले, बाड़ी धँसे गात्रवाले (देखता हूँ) ; मानों लोगोंके दर्शन करनेसे जीवको बंद कर रहे हैं । तब अन्ते ! मुझे ऐसा होता है—‘निश्चय यह आयुष्मान् या तो बेमन (= अन्-अभिरत) हो ब्रह्मचर्य कर रहे हैं, या इन्होंने कोई क्रिया हुआ पापकर्म किया है, जिससे कि यह आयुष्मान् कृश ० । उनके पास जाकर मैं ऐसे पूछता हूँ—‘आयुष्मानो ! तुम कृश ० ?’ वह मुझे कहते हैं—‘महाराज ! हमें बंधु-रोग (= कुल-रोग) है ।’ किन्तु अन्ते ! मैं यहाँ भिक्षुओंको दृष्ट, अदृष्ट = उद्यम, अभिरत = प्रसन्न-इन्द्रिय उत्सुकता-रहित, रोमांच-रहित, ‘सद्-चित्तसे विहार करते देखता हूँ । यह भी अन्ते ! ० ।

“और फिर अन्ते ! मैं नृधर्मोन्मिक्त क्षत्रिय राजा हूँ, माने योग्यको भरवा सकता हूँ, ‘निर्वालय योग्यका निर्वालय कर सकता हूँ । ऐसा होते भी अन्ते ! मेरे (राज-) कार्यमें बैठे धन, (लोग) बीच-बीचमें बात डाल देते हैं । उनको मैं (कहता हूँ)—‘मैं (काम करने) नहीं पाता, आप लोग कार्य करनेके लिये बैठे वक्त बीच-बीचमें बात मत डालें, आप बात समाप्त हो जाने तक प्रतीक्षा करें ।’ तो (भी) ‘‘ बीच-बीचमें बात डाल ही देते हैं । किन्तु यहाँ अन्ते ! मैं भिक्षुओंको देखता हूँ, जिस सम्य भगवान् अनेक बातकी परिषद्को धर्म-उपदेश करते हैं ; उस

समय भगवान् के आचर्य के श्रुति के आश्रय का भी शब्द नहीं होता । भन्ते ! पहिले एक समय भगवान् अनेक बात परिषद् को धर्म-उपदेश कर रहे थे; उस समय भगवान् के एक श्रावक (= शिष्य) ने सौंसा । तब उसे एक सभ्यज्वारी ने बुलने को द्वाकर इशारा किया—आयुष्मान् निःशब्द हो, आयुष्मान् शब्द मत करे, शान्त भगवान् हमें धर्म-उपदेश कर रहे हैं । तब तुझे ऐसा हुआ—‘आश्चर्य है जी ! अद्भुत है जी !! जो बिना दंढके ही, बिना शब्दके ही, इस प्रकार की विनय-युक्त (= विनीत) परिषद् !!!’ यहाँसे बाहर भन्ते ! मैं दूसरी इस प्रकार की सु-विनीत परिषद् नहीं देखता । यह भी ० ।

“और फिर भन्ते ! मैं किन्हीं किन्हीं निपुण, कृतपरप्रवाद (= प्रौढ शास्त्रार्थी) वास-वेधी क्षत्रिय-पंडितों को देखता हूँ; (जो) मानों (अपनी) प्रज्ञा-गत (बुद्धियोंसे) (दूसरेके) दृष्टि-गत (= मतविषयक बातों) को टुकड़े टुकड़े करे डालते हैं । वह सुनते हैं—‘अमण गौतम अमुक ब्राह्म या निगममें आवेगा’ वह प्रश्न तत्पार करते हैं—इस प्रश्नको हम अमण गौतमके पास जाकर पूछेंगे; ऐसा पूछनेपर यदि ऐसा उत्तर देगा, तो हम इस प्रकार उससे वाद रोपेंगे । वह सुनते हैं—‘अमण गौतम अमुक ब्राह्म या निगममें जा गया’ । वह जहाँ भगवान् (होते हैं) वहाँ जाते हैं । वह भगवान् की धार्मिक-कथा द्वारा संदर्शित हो, प्रेरित हो, समुत्तेजित हो, संप्रहर्षित हो, भगवान् से प्रश्न भी नहीं पूछते, वाद कहाँसे रोपेंगे ? धर्कि भगवान् के आचर्य ही बन जाते हैं । यह भी ० ।

“और फिर भन्ते ! मैं किन्हीं किन्हीं ० ब्राह्मण पंडितों ० ।”

“ ० गृहपति पंडितों ० ।”

“ ० अमण पंडितों ० । भगवान् से प्रश्न भी नहीं पूछते, वाद कहाँसे रोपेंगे; धर्कि भगवान् से ही घरसे बेघर हो प्रमत्तता भोगते हैं । उन्हें भगवान् प्रवर्जित करते हैं । वह इस प्रकार प्रवर्जित हो एकाकी ० आत्म-संयमी हो बिहरते, जल्दी ही जिसके लिये कुल-पुत्र ० प्रवर्जित होते हैं, उस अनुत्तर (= सन्नोचन) अक्षय्य-फलको इसी जन्ममें स्वयं अभिज्ञान कर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर बिहरते हैं । वह ऐसा कहते हैं—हम नष्ट थे, हम प्र-नष्ट थे; हम पहिले अ-अमण होते ही ‘अमण हैं’ का दावा करते थे; अ-ब्राह्मण होते ‘ब्राह्मण हैं’ का दावा करते थे । अर्हत् न होते ‘अर्हत् हैं’ का दावा करते थे । अब हैं हम अमण, ० ब्राह्मण, ० अर्हत् । यह भी ० ।

“और फिर भन्ते ! यह कपिदत्त और पुराण स्वपति (= कीलवान्) मेरे ही (भोजनसे) भोजनवाले, मेरे ही (पानसे) पानवाले हैं, मैं हूँ उनके जोषनका प्रदाता, उनके वशका प्रदाता हूँ; तौ भी (वह) मेरेमें जितना सम्मान नहीं करते, जितना कि भगवान् में । पहिले एक बार भन्ते ! मैं चढ़ाईके लिये जाता था । कपिदत्त और पुराण स्वपतिने खोज कर एक मोड़वाले आकृत्य (= सराय)में बस किया । तब भन्ते ! वह कपिदत्त और पुराण बहुत रात धर्म-कथामें बिता, जिस दिनामें भगवान् के होनेको सुना था, उधर गिर कर, मुझे पैरकी ओर करके लेट गये । तब तुझे ऐसा हुआ—‘आश्चर्य है जी ! अद्भुत है जी !!’ यह कपिदत्त, और पुराण स्वपति मेरे ही भोजनसे भोजनवाले ० । यह आयुष्मान् उन भगवान् के शासनमें (= अदालत) हो, पहिलेमें अवश्य कोई विशेष देखते होंगे । यह भी ० ।

“और फिर भन्ते ! भगवान् भी क्षत्रिय हैं, मैं भी क्षत्रिय हूँ, भगवान् भी कोसलक (= कोसलवासी, कोसल-गोत्रज) हैं, मैं भी कोसलक हूँ । भगवान् भी अस्सी वर्षके, मैं भी अस्सी वर्षका । भन्ते ! जो भगवान् भी क्षत्रिय ०, इससे भी भन्ते ! मुझे योग्य ही है, भगवान् का परम सम्मान करना, विचित्र गौरव प्रदर्शित करना । इन्त ! भन्ते ! अब हम जायेंगे, हम बहुत

बहु-करणीय हैं ।”

“महाराज ! जिसका तुम काल समझते हो (वैसा करो) ”

तब राजा प्रसेनजित् ० वासनसे उठ, भगवान्‌को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला ^१ गया ।

राजा ० के जानेके थोड़ी ही देर बाद भगवान्‌ने भिक्षुओंसे कहा—

“भिक्षुजो ! यह राजा प्रसेनजित् ० धर्म-चैत्योंको भाषणकर, वासनसे उठकर चला गया । भिक्षुजो ! धर्म-चैत्योंको सीखो, ० धर्म-चैत्योंको पूरा करो, ० धर्म-चैत्योंको धारण करो । भिक्षुजो ! धर्म-चैत्य सार्थक और वादि (= शुद्ध) महापर्यन्त हैं ।”

भगवान्‌ने यह कहा । सन्तुष्ट हो उन भिक्षुजोंने भगवान्‌के भाषणका अभिनन्दन किया ।

^१ अ. क. “राजगृह जाते हुये रास्तेमें कु-अन्न भोजन किया, और बहुत पानी पिया । शुकुमार स्वभाव हीनेसे भोजन अच्छी तरह नहीं पचा । वह राजगृहके द्वारोंके बन्द हो जानेपर संज्ञा (= विज्ञात) को बर्षा पहुँचा ।” । नगरके बाहर (धर्म-)क्षालमें छेदा । उसको रातके समय दस्त- (= बुद्धान) लगने शुरू हुये । कुछ बार वह पाइर गया । फिर पैरसे चलनेमें असमर्थ हो, उस खाँके अंकमें पड़कर बड़े मोर ही मर गया ।” । राजा (अज्ञातशत्रु) ने “विदूषकके मित्रके छिपे मेरी बचाकर सेना जमा की” । अमालोंने पैरों पर पड़कर “रोका” ।”

६०—कण्णत्थलक-सुत्तन्त (२।४।१०)

तुर्वहता अहंभव । धर्म-व्यवसा-संभवन । देव, भ्राता

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् उज्जुका^१ (= उज्जुता = उरुता) में कण्णत्थलक (= कर्ण-स्थलक) मृग-दाघमें बिहार करते थे ।

उस समय राजा प्रसेनजित् कोसल किसी कामसे उज्जुका (= उज्जुका) में आया हुआ था, राजा प्रसेनजित् कोसलने एक आइसोको आमंत्रित किया—

“आओ हे पुण्य ! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ जाओ । जाकर मेरे वचनसे भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना करना । अल्पावाधा (= आरोम्य) = अल्पावर्तक लघु-उत्स्वान (= फुर्ती) पर, प्राप्ति-विहार (= सुख पूर्वक विहरता) पूजना—‘मन्ते ! राजा प्रसेनजित् कोसल भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना करता है ० । और यह भी कहना—मन्ते ! आज भोजनोपरान्त, कलेक करनेपर, राजा प्रसेनजित् कोसल भगवान्‌के दर्शनार्थ आयेगा ।”

“अच्छा देव !”

सोमा और सकुल्ला (दोनों) बहिर्गोने सुना—‘आज राजा... भगवान्‌के दर्शनार्थ आयेगा । तब सोमा, सकुल्ला बहिर्गोने राजा प्रसेनजित् ० के पास, परोक्षमेके समय जाकर कहा—

“तो महाराज ! हमारे भी वचनसे भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वन्दना करना । अल्पावाधा ० पूजना—० ।

तब राजा प्रसेनजित् कोसल कलेक करके भोजनोपरान्त जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर... एक ओर बैठ भगवान्‌से बोला—

“मन्ते ! सोमा और सकुल्ला (दोनों) बहिर्गोने भगवान्‌के चरणोंको शिरसे वन्दना करती हैं ० ।”

“व्या महाराज ! सोमा और सकुल्ला बहिर्गोको दूसरा वृत्त नहीं मिला ?”

“मन्ते ! सोमा और सकुल्ला बहिर्गोने सुना, कि आज राजा... भगवान्‌के दर्शनार्थ आयेगा... । जाकर मुझे यह कहा... ।”

“सुमित्रा होय महाराज ! सोमा और सकुल्ला (दोनों) बहिर्गो ।”

तब राजा प्रसेनजित् कोसलने भगवान्‌से यह कहा—

“मन्ते ! मैंने यह सुना है, कि अमण गौतम ऐसा कहता है—‘ऐसा (कोई) अमण या

^१अ. क. “उस राष्ट्रा और नगरका भी वही नाम (था) ।”... उस नगरके अविदुर (= समीप) कण्णत्थलक नामक एक रमणीय भूभाग था... । ^२अ. क. “यह दोनों बहिर्गोने राजाकी सिद्दी थी ।”

ब्राह्मण नहीं है, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी (हो), निःशेष ज्ञान दर्शनको जाने, यह सम्भव नहीं है ।' मन्ते ! जो ऐसा कहते हैं कि भ्रमण गौतम ऐसा कहता है—'ऐसा (कोई) ० ।' क्या मन्ते ! यह भगवान्‌के धारमें सच कहते हैं ? भगवान्‌को असत्य = अभूतसे लान्छन तो नहीं लगाते ? धर्मके अनुसार कहते हैं, कोई धर्मानुसारी कथन (= वादानुवाद) गहंणीय (= निर्वनीय) तो नहीं होता ?"

"महाराज ! जो ऐसा कहते हैं कि भ्रमण गौतमने ऐसा कहा है—'ऐसा (कोई) भ्रमण या ब्राह्मण नहीं है, जो सर्वज्ञ = सर्वदर्शी (होगा), निःशेष ज्ञान दर्शनको जानेगा, यह सम्भव नहीं है ।' वह मेरे धारमें सच नहीं कहते, वह असत्य = अभूतसे मुझे लान्छन लगाते हैं ।"

तब राजा प्रसेनजित् ० ने विद्वद्भ्यः सेनापतिको आमंत्रित किया—

"सेनापति ! आज राजान्तःपुरमें किसने बात (= कथावस्तु) कही थी ?"

"महाराज ! आकाश-गोत्र संजय ब्राह्मणने ।"

तब राजा प्रसेनजित्ने ० एक पुरुषको आमंत्रित किया—

"आजो, रे पुरुष ! मेरे वचनसे ० संजय ब्राह्मणको कही—'मन्ते ! तुम्हें राजा प्रसेनजित् बुलाते हैं ।'"

"अच्छा देव !"

"तब राजा प्रसेनजित् ० ने भगवान्‌से कहा—

"मन्ते ! शायद आपने कुछ और सोच (यह) वचन कहा हो, बादमी अन्यथा"..... के चहेगा ।"

"तो मन्ते ! जो वचन कहा उसे कैसे भगवान्‌ जानते हैं ?" "महाराज ! मैं जानता हूँ—जो वचन (मैंने) कहा ।"

"महाराज ! मैंने जो वचन कहा उसे इस प्रकार जानता हूँ—'ऐसा भ्रमण ब्राह्मण नहीं, जो एकही धार (= सङ्कट एव) सब जानेगा = सब देखेगा, यह सम्भव नहीं ।'"

"मन्ते ! भगवान्‌ने हेतु-रूप कहा, सहेतु-रूप मन्ते ! भगवान्‌ने कहा—'ऐसा भ्रमण ब्राह्मण नहीं जो एकही धार सब जानेगा = सब देखेगा, यह सम्भव नहीं ।' मन्ते ! यह चार वर्ण हैं—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र । मन्ते ! इन चारों वर्णोंमें है कोई विभेद, है कोई नाश-करण ?"

"महाराज ! ० इन चार वर्णोंमें अमिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ने (= अञ्जलि-कर्म) = सामीची-कर्ममें दो वर्ण अथ (= अथ) कहे जाते हैं—क्षत्रिय और ब्राह्मण ।"

"मन्ते ! मैं भगवान्‌से इस जन्मके सब धर्मको नहीं पूछता, मैं... परलोकके सम्बन्ध (= सांपरायिक) में पूछता हूँ".....।"

"महाराज ! यह पाँच प्रधानीय अंग हैं । कौनसे पाँच ? महाराज ! मिथु (१) अङ्गालु होता है । तथामतकी धोवि (= बुद्ध-ज्ञान) पर श्रद्धा करता—'ऐसे वह भगवान्‌ अर्हत् ० ।' (२) जलपाषाण (= अरोग) ० होता है । (३) सड = मायावी नहीं होता है ० (४) ० आरज्य-वीर्य (= उद्योगशील) होता है । (५) प्रज्ञावान् होता है ० । महाराज ! यह पाँच प्रधानीय अंग हैं । महाराज ! चार वर्ण—ब्राह्मण ० शूद्र हैं । वह यदि पाँच प्रधानीय-अंगोंसे युक्त हों, तो वह इनके दीर्घ-रात्र (= विरकाल) तक हित, सुखके लिये होगा ।"

“मन्ते ! चार वर्ण ० हैं । और यदि वह प्रधानीय-अंगोंसे युक्त हों । तो मन्ते ! क्या उनमें भेद = नानाकरण नहीं होगा ?”

“महाराज ! उनका प्रधान, नानात्व (= भेद) नहीं करता । जैसेकि महाराज ! दो दमनीय हाथी, दमनीय घोड़े, = बैल, सु-दान्त = सु-विनीत (अच्छी प्रकार सिखलाये) हों, दो दमनीय हाथी, ० घोड़े, ० बैल अ-दान्त = अ-विनीत (= बिना सिखलाये) हों तो महाराज ! जो वह ० सु-दान्त, सु-विनीत हैं, क्या वह दान्त होनेसे दान्त-पदको पाते हैं = दान्त होनेसे दान्त-भूमिको प्राप्त होते हैं ?”

“हाँ मन्ते !”

“और जो महाराज ! अ-दान्त, अविनीत हैं, क्या वह अदान्त (बिना सिखाये) ० ही, दान्त = पदको पाते हैं, अदान्त हो दान्तभूमिको प्राप्त हो सकते हैं ? जैसेकि वह दो ० सुदान्त = सुविनीत ?”

“नहीं, मन्ते !”

“ऐसेही महाराज ! जोकि अट्ठाल, निरोग, अशठ = अमायावी, आरब्ध-वीर्य, प्रज्ञावान् द्वारा प्राप्त (वस्तु) है, उसे अ-अट्ठ, पशुरोगी, शठ = मायावी, आलसी, दुष्प्रज्ञ पावेगा, यह संभव नहीं है !”

“मन्ते ! भगवान्ने हेतु-रूप (= ठीक) कहा ० मन्ते ! चारों वर्ण शत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्र हैं, और वह यदि इन प्रधानीय अंगोंसे युक्त हों = सम्यक् प्रधानवाले हों । तो मन्ते ! क्या उनमें (कुछ) भेद नहीं होगा = कुछ नानाकरण नहीं होगा ?”

“महाराज ! मैं उनमें कुछ भी ‘यह जोकि विमुक्तिका विमुक्तिले भेद (= नानाकरण) है’ नहीं कहता । जैसे महाराज ! (एक) पुरुष सूते शाककी लकड़ीको लेकर अग्नि तैयार करे, तेज प्रादुर्भूत करे, और दूसरा पुरुष सूते शाक (= शाक)-काष्ठसे आग तैयार करे ०; और दूसरा पुरुष सूते आमके काष्ठसे ०; और दूसरा पुरुष सूते गूलर-काष्ठसे ०; तो क्या मानते हो महाराज ! क्या उन नाना काष्ठोंसे बनाई आगोंका, लीसे लीका, रंगसे रंगका, आमासे आमाका कोई भेद होगा ?”

“नहीं, मन्ते !”

“ऐसे ही महाराज ! जिस तेज (= बुद्धि)को वीर्य (= उद्योग) तैयार करता है । उसमें, इस विमुक्तिले दूसरी विमुक्तिमें कुछ भी भेद मैं नहीं कहता हूँ !”

“मन्ते ! भगवान्ने हेतुरूप (= ठीक) कहा ० । क्या मन्ते ! देव (= देवता) हैं ?”

“महाराज ! तू क्या ऐसा कह रहा है—‘मन्ते ! क्या देव हैं ?’

“कि मन्ते ! क्या देवता मनुष्यलोकमें आनेवाले होते हैं, या मनुष्यलोकमें आनेवाले नहीं होते ?”

“महाराज ! जो वह देवता लोभ-रहित हैं, वह मनुष्यलोक (इत्यत्र)में आनेवाले होते हैं, जो लोभ-रहित हैं, वह ० नहीं आनेवाले होते हैं ।”

ऐसा कहनेपर विवृद्धम सेनापतिने भगवान्से कहा—

“मन्ते ! जो वह देवता लोभ-रहित मनुष्यलोकमें न आनेवाले हैं, क्या वह देवता अपने स्वामसे च्युत होंगे = प्रमत्त होंगे ?”

तब आपुष्मान् आनन्दको यह हुआ—“यह विवृद्धम सेनापति राजा प्रसेनजित् कोसलका पुत्र है, मैं भगवान्का पुत्र हूँ; यह सम्य है, जब पुत्रको, निमंत्रित करे ।” और आपुष्मान् आनन्द

ने विहृदभ सेनापतिको आशंकित किया—

“तो सेनापति ! तुम्हें ही पूछता हूँ, जैसा तुम्हें डीक जैचे वैसा कहो । तो सेनापति ! जितना राजा प्रसेनजित् कोसलका राज्य (= विजित) है, जहाँपर कि राजा प्रसेनजित् ० ऐश्वर्य = आधिपत्य करता है; राजा प्रसेनजित् ० अमण या माझगको; पुण्यवान् या अपुण्यवान्को, अन्नचर्यवान् या अन्नचर्यवान्को, क्या उस स्थानसे हटा या निकाल सकता है ?”

“० सकता हूँ ।”

“तो क्या मानते हो सेनापति ! जितना राजा प्रसेनजित् ० का अ-विजित (= राज्यसे बाहर) है, जहाँ ० आधिपत्य नहीं करता है, ० क्या उस स्थानसे हटा या निकाल सकता है ?”

“० नहीं सकता ।”

“तो क्या मानते हो सेनापति ! क्या तुमने त्र्यक्षिश देवोंको सुना है ?”

“हाँ, भो ! मैंने त्र्यक्षिश देव सुने हैं, आप राजा-प्रसेनजित् कोसलने भी त्र्यक्षिश देव सुने हैं ।”

“तो क्या मानते हो सेनापति ! क्या राजा-प्रसेनजित् कोसल त्र्यक्षिश देवोंको उस स्थानसे हटा या निकाल सकता है ?”

“त्र्यक्षिश देवोंको राजा प्रसेनजित् ० देखनेको भी नहीं पा सकता, कहाँसे उनको स्थानसे हटावे या निकालेगा ?”

“ऐसे ही सेनापति ! जो देवता लोम-रहित हैं, वह मनुष्य-लोकमें आते हैं, जो लोम-रहित हैं, वह ० नहीं आते । वह देखनेको भी नहीं पाये जा सकते, कहाँसे उस स्थानसे हटावे या निकाले जायेंगे ?”

तब राजा प्रसेनजित् कोसलने भगवान्से कहा—

“भन्ते ! यह कौन नामवाला भिक्षु है ?”

“आनन्द नामक महाराज !”

“ओ हो ! आनन्द हैं !! ओहो ! आनन्द-रूप हैं !! भन्ते ! आशुमान् आनन्द डीक कहते हैं । भन्ते ! क्या ब्रह्मा है ?”

“तू क्या महाराज ! ऐसे कहता है,—भन्ते ! क्या ब्रह्मा है ?”

“भन्ते ! क्या वह ब्रह्मा मनुष्यलोकमें आता है, या मनुष्य-लोकमें नहीं आता ?”

“महाराज ! जो... ब्रह्मा लोम-रहित है ० आता है, लोम-रहित ० नहीं आता ।”

तब एक पुरुषने राजा प्रसेनजित् ० से कहा—

“महाराज ! आकाश-गोत्र संजय ब्राह्मण आ गया ।”

तब राजा प्रसेनजित् ० ने ० संजय ब्राह्मणसे कहा—

“ब्राह्मण ! किसने इस बात (= कथा-वस्तु)को राज-अन्तःपुरमें कहा या ?”

“महाराज ! विहृदभ सेनापतिने ।”

विहृदभ सेनापतिने कहा—“महाराज ! आकाश-गोत्र संजय ब्राह्मणने ।”

तब एक पुरुषने राजा प्रसेनजित्से कहा—

“जानेका समय है, महाराज !”

तब राजा प्रसेनजित् ० भगवान्से यह बोला—

“हमने भन्ते ! भगवान्से सर्वज्ञता पूछी, भगवान्ने सर्वज्ञता बतलाई, यह हमकी क्वचो है, प्रसन्न है, उसने हम सम्नुष्ट हैं । चारों वर्णकी बुद्धि (= चतुर्वर्णी बुद्धि) ० पूछी ० । देवों

के विषयमें ० पूछा ० । मज्जाके विषयमें ० पूछा ० । जो जो ही भन्ते ! हमने भगवान्‌से पूछा, वही वही भगवान्‌ने बतलाया ; और वह हमको स्वता है, पसन्द है, उससे हम सन्तुष्ट हैं । अच्छा तो भन्ते ! अब हम जायेंगे, हम बहु-कृत्य हैं, बहु-करणीय हैं ।"

"जिसका महाराज ! तू (इस समय) काल समझे ।"

तब राजा प्रसेनजित् ० भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दित कर, अनुमोदित कर, आसनसे उठ भगवान्‌को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला गया ।

(इति ९—राजवग्ग २।४)

६१—ब्रह्मायु-सुत्तन्त (२।१।१)

महापुरुष-लक्षण (बुद्धका रूप, गमन, गृहस्थोंके घरमें प्रवेश, जीवनका संग) ब्राह्मण, वैदग् आदिकी स्थापना

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् पाँच सौ भिक्षुओंके महानिधु-संघके साथ विदेह (देश)में चारिका कर रहे थे ।

उस समय (एक) जीर्ण = वृद्ध = महत्सक = अश्वगत = वयःप्राप्त जन्मसे १२० वर्षोंका ब्रह्मायु नामक ब्राह्मण मिथिला (-नगर)में यस्ता था । (वह) पाँचवें इतिहास और निघट्ट-केटुम (= कल्प), अक्षरप्रभेद (= शिक्षा-निरुक्त)-सहित तीनों वेदोंका पारंगत, पद-श्रु, वैयाकरण, लोकायत (-शास्त्र) तथा महापुरुषलक्षण (= सामुद्रिक शास्त्र)में परिपूर्ण था । ब्रह्मायु ब्राह्मणने सुना—शाक्यकुलसे प्रव्रजित शाक्यपुत्र अमण गौतम पाँचसौ भिक्षुओंके महान् भिक्षु-संघके साथ विदेहमें चारिका कर रहे हैं । उन आप गौतमका ऐसा संगल कीर्ति-शब्द फैला हुआ है—“वह भगवान् अर्हत् है” ० भगवान् बुद्ध हैं । वह ब्रह्मलीक सहित ०^१ ब्रह्मचर्यको प्रकाशित करते हैं । ऐसे अर्हत्तोंका दर्शन अच्छा होता है ।

उस समय ब्रह्मायु ब्राह्मणका उत्तर नामक भाणवक शिष्य था, (जोकि) चौथे इतिहास और निघट्ट-केटुम-अक्षरप्रभेद-सहित तीनों वेदोंका पारंगत, पद-श्रु, वैयाकरण, लोकायत (-शास्त्र) तथा महापुरुषलक्षणमें परिपूर्ण था । तब ब्रह्मायु ब्राह्मणने उत्तर भाणवकको संबोधित किया—

“तत, उत्तर ! यह शाक्यकुलसे प्रव्रजित शाक्यपुत्र अमण गौतम ० विदेहमें चारिका कर रहे हैं । उन आप गौतमका ऐसा संगल कीर्ति-शब्द फैला हुआ है—० ब्रह्मचर्यको प्रकाशित करते हैं । ऐसे अर्हत्तोंका दर्शन अच्छा होता है । आओ, तत, उत्तर ! जहाँ अमण गौतम हैं, वहाँ जाओ । आकर, अमण गौतमको जाओ, कि आप गौतमका शब्द यथार्थ फैला हुआ है; या अयथार्थ ? क्या आप गौतम वैसे हैं, या नहीं ! तेरे द्वारा हम आप गौतमको जानेंगे ।”

“कैसे, मो ! मैं उन गौतमको जानूँगा—कि आप गौतमका (कीर्ति-)शब्द यथार्थ फैला हुआ है, या अ-यथार्थ ? क्या आप गौतम वैसे हैं या नहीं ?

“तत, उत्तर ! हमारे ग्रंथोंमें बसोस महापुरुष-लक्षण आये हैं, जिनसे कुछ पुरुषकी चेहरी गतिर्षी होती है, और नहीं । यदि वह धर्ममें रहता है; तो जनपदों (के राजपदपर) स्थिरताको प्राप्त, चारों ओरों (तक पृथिवी)को जीतनेवाला, सात रत्नोंसे युक्त धार्मिक धर्मराज स्वयंसी राजा होगा है । उसके यह सात रत्न होते हैं—(१) चक्र-रत्न, (२) दस्ति-रत्न, (३) अश्व-रत्न,

^१ उस समय (ई. पू. पाँचवीं, छठीं शताब्दी तक) अश्वोंको वेदमें नहीं शामिल किया गया था ।

^२ देखो पृष्ठ २११ । ^३ तुलना करो अमरदुस्त (दी. नि.) ।

(५) मणि-रत्न, (५) की-रत्न, (६) गृहपति-रत्न, और (७) मातृवीं परिणायक-रत्न । सहस्राधिक इसके पर-सैन्य-प्रभेदक, धूर, वीर पुत्र होते हैं । वह सागर-पर्यन्त इस पृथिवीको बिना दण्ड, बिना शस्त्रके धर्मसे जीत कर शासन करता है । यदि वह घरसे बेचरहो प्रसजित होता है, तो कपट-मुक्ता कह्य, सम्पत्-संबुद्ध होता है । तब उत्तर ! तुम्हारा संशोक जाता है, और तुम प्रतिगृहीता हो । ”

महायु बाह्यणको—‘हाँ, भो !’ कह, उत्तर भाणवक आसनसे उठ अभिवादनकर प्रदक्षिणा कर विदेहमें गिर भगवान् थे, उधर चारिका (= वाघा) पर चढ़ पड़ा । कमला : चारिका करते जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान्के शयन-सम्मोदनकर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे हुये उत्तर भाणवक भगवान्के शरीरमें पचीस महापुरुष-लक्षणोंको ढूँढ रहा था । उत्तर भाणवक ने भगवान्के शरीरमें दोको छोड़ पचीस महापुरुषलक्षणोंमेंसे जपिकोशको देख लिया । सुदीर्घ जिह्वा और कोषाच्छादित वस्त्रि दोके चारोंमें सन्देहमें पड़ा हुआ था । तब भगवान्को यह हुआ—‘यह उत्तर भाणवक मेरे शरीरमें पचीस महापुरुषलक्षणोंको देख रहा है । उत्तर भाणवक मेरे शरीर में दोको छोड़ • सन्देहमें पड़ा हुआ है ।’

तब भगवान्ने इस प्रकारका कवि-प्रभाव प्रकट किया, कि उत्तर भाणवकने भगवान्को कोषाच्छादित वस्त्रिको देख लिया । तब भगवान्ने जिह्वाको निकालकर उससे दोनों कानोंकी लवको छु दिया, नाड़के दोनों छिद्रोंको छु दिया, जिह्वासे ललाटको आच्छादित कर दिया । तब उत्तर भाणवकको यह हुआ—‘अमण गौतम पचीस महापुरुषलक्षणोंसे युक्त है । क्यों न मैं श्रमण गौतमका अनुगमन करूँ, और उसके ईर्ष्यापद (= चाल दाज)को देखूँ । तब उत्तर भाणवक ने भास तक अनयाधिरा (= न छोड़नेवाला) छायाकी भाँति भगवान्के पीछे पीछे फिरता रहा । तब सात मासके बाद उत्तर भाणवक विदेह (देश)में जहाँ मिथिला है, वहाँ चारिकाके लिये बसा । कमला : चारिका करते जहाँ मिथिला थी, जहाँ महायु, बाह्यण था, वहाँ पहुँचा । पहुँच कर महायु बाह्यणको अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे महायु बाह्यणसे उत्तर भाणवकने यह कहा—

‘क्या तात उत्तर ! वैया होते भगवान् गौतमका (कीर्ति-) शब्द सत्यके अनुसार ही उठा हुआ है, अन्याया तो नहीं है ? क्या वह आप गौतम जैसे ही हैं, अन्यायवा नहीं हैं ?’

‘भो ! वैया होते भगवान् गौतमका (कीर्ति-) शब्द सत्यके अनुसार (= समर्थ) ही उठा हुआ है, अन्याया नहीं । वह आप गौतम जैसे ही हैं, अन्यायवा नहीं । भो ! आप गौतम पचीस महापुरुषलक्षणोंसे युक्त हैं ।—(१) आप गौतम सुप्रतिष्ठित-पाद (= जिसका पैर जमीन पर दरावर बैठा हो) हैं, यह भो आप महापुरुष गौतमके महापुरुषलक्षणोंमें एक है । (२) आप गौतमके नाँव पैरके तलमें सर्वाकार-परिपूर्ण नामि-नेमि (= पट्टी)-युक्त सहस्र-अरों वाले, चक्र हैं । (३) आप गौतम आयत-पाणि (= चौड़ी हथौड़ीवाले) हैं । (४) • दीर्घ-अंगुल • । (५) • मृदु-तक्षण-हस्त-पाद • । (६) • जाल-हस्त-पाद (= अंगुलियों की च वृत्तके पंखोंकी भाँति समझा) • । (७) • वस्त्रसपाद (= गुच्छ ऊपर अवस्थित हैं, जिस पादमें) • । (८) • एणीजंघ (= सुग जैसा पैरुकी वाला भाग जिसका हो) • । (९) (सीधे) लंबे बिना लुके वह आप गौतम दोनों जाँघोंको अपने हाथके तल्लोंसे छूते हैं (= भाजातु-बाहु) • । (१०) कोषाच्छादित वस्त्रिगुह्य (= पुरुष-इन्द्रिय) • । (११) सुवर्ण-वर्ण • कंचनसमान स्वभावाले • । (१२) सूक्ष्म-अवि (अवि = ऊपरी चमड़ा) है • जिससे कापापर मैल-पूछ नहीं चिपटती • । (१३) एकैकलोम, एक एक रोम कुपमें उनके एक एक रोम हैं • । (१४) • ऊर्ध्व-लोमा, • उनके अंगनसमान जोड़े तथा प्रदक्षिणा (बायेंसे दाहिनी ओर)

से कुंडलित कोमलके सिर ऊपरकी उठे है ० । (१५) ब्राह्म-ऋतु-भात्र (= लम्बे भकुटिल शरीर वाले) ० । (१६) सप्त-उत्सव (= सातों अंगोंमें पूर्ण आकारवाले) ० । (१७) सिंह-प्रातर्ह-काय (= छाती आदि शरीरका ऊपरी भाग सिंहकी भाँति जिसका हो) ० । (१८) चित्तान्तराक्ष (= दोनों कंधोंका बिचला भाग जिसका चित = पूर्ण है) ० । (१९) न्यग्रोध-परिमंडल है, ०, जितनी काया इसके अनुसार व्यावाम (= चौड़ाई), जितनी चौड़ाई उतनी काया ० । (२०) समवर्त-स्कंध (= समान परिमाणके कंधेवाले) ० । (२१) रसग-सगी (= सुन्दर सिराओंवाले) ० । (२२) सिंह-रतु (= सिंहसमान पूर्ण ओधीवाले) ० । (२३) चन्द्रालीप्त-दन्त ० । (२४) सप्त-दन्त ० । (२५) अ-विष-दन्त ० । (२६) सु-सुष्ठु-दाह (= रूप लफेद दाहवाले) ० । (२७) प्रभूत-जिह्वा (लम्बी जीभवाले) ० । (२८) ब्रह्म-स्वर, करविह (पक्षीसे) स्वरवाले ० । (२९) अभिनोल-नेत्र (= अतसी पुष्प जैसी नीली आँखोंवाले) ० । (३०) गी-पद्मा (= गाय जैसी पलकवाले) ० । (३१) इस आप गीतमके मोहंछि चौकमें स्नेह कोमल कपास लो ऊर्णा (= रोम-राजी) हैं ० । (३२) उष्णीषशीर्ष (= पगड़ी जैसे चारों ओर समानाकार सिरवाले) हैं आप गीतम, यह भी आप महापुरुष गीतमके महापुरुष लक्षणोंमें हैं । भो ! आप गीतम इन धनोस महापुरुष-लक्षणोंसे युक्त हैं ।

“वह भगवान् चलते वक्त पहिले दाहिना ही पैर उठाते हैं । वह न बहुत दूरसे पैर उठाते हैं, न बहुत समीप रखते हैं ! वह न अति शीघ्र चलते हैं, न अति शैल चलते हैं । न जानुसे जानुको घटित करते चले हैं, न गुल्फ (= गुट्टी) से गुल्फको घटित (= रगड़ते) चलते हैं । न जो न वह शक्चि (= उरु) को ऊपर उठाते हैं, न शक्चिको नचाते हैं, न शक्चिका लज्जामन (= घुमाया) करते हैं, न विनामन (= हिलाना) करते हैं । चलते वक्त आप गीतमका बिचला शरीर ही हिलता है, काय-वृक्ष (= शरीर फेंकने) से नहीं चलते । बिना अवलोकन करते वह आप गीतम खारी कायासे अवलोकन जैसे करते हैं । वह न ऊपरकी ओर अवलोकन करते हैं, न नीचेकी ओर अवलोकन करते हैं, न चारों ओर देखते चलते हैं । युगमान (= चार हाथ) देखते हैं, उससे आगे उगकी खुली ज्ञान-दृष्टि होती है ।

“वह गृहस्थोंके घाके भीतर (= अन्तर्धर) कायाका उच्चासन (= ऊपर उठाना) करते हैं, न अवनासन करते हैं, न कायाको लज्जामन करते हैं, न विनामन करते हैं । वह न आसनसे दूर न अतिसमीप (काया) को पकड़ते हैं । न हाथका अवलोकन लेकर आसनपर बैठते हैं, न आसनपर कायाको फेंकते हैं । वह अन्तरधरमें न हाथकी चंचलता दिखलाते हैं, न पैर की चंचलता दिखलाते हैं, न जानु पर जानु रखकर बैठते हैं, न गुल्फको गुल्फपर चढ़ाकर ०, न हाथको टुट्टीपर रखकर बैठते हैं । वह अन्तरधरमें बैठे हुए न स्थिर होते हैं, न काँपते हैं, न हिलते हैं, न पवित्रास (= चंचलता) को प्राप्त होते हैं वह आप गीतम बिना लज्जामनरहित, कम्पनरहित, वे जनरहित, पवित्रासरहित, रोमांचरहित, विवेकयुक्त हो अन्तरधरमें बैठते हैं ।

“वह पात्रमें जल ग्रहण करते वक्त न पात्रको ऊपर उठाते हैं, न पात्रका अवनासन (= नचाया) करते हैं, न पात्रको लज्जामन करते हैं, न पात्रको विनामन करते हैं । वह ओदन (= भोजन) न बहुत अधिक न बहुत कम ग्रहण करते हैं । आप गीतम व्यंजन (= सेंचन) को व्यंजनकी मात्रासे ग्रहण करते हैं, भोजनमें अधिक मात्रामें व्यंजन नहीं ग्रहण करते । दो तीन घार करके आप गीतम मुखमें प्रासको चबा कर खाते हैं । भोजनका चूटन अलग होकर उसके शरीरपर नहीं गिरता । भोजनका चूटन छुँहने पँचे रहते वह दूसरा प्रास (छुँहमें) नहीं दाबते । आप गीतम रसको प्रतिस्वेदन (= अनुभव) करते आहार ग्रहण करते हैं, किन्तु रसमें रसको प्रतिस्वेदन

करते नहीं। आप गौतम काठ जंगों (= वातों) से युक्त आहार ग्रहण करते हैं—न जलताके लिये, न मृदके लिये, न अन्नके लिये, न विजृम्भणके लिये; जितना (आहार) इस काषाकी स्थिति और आपनके लिये, (भूखकी) पीड़ाकी भातिके लिये, मज्जान्तर्गकी सहायताके लिये (आवश्यक है उतना ही ग्रहण करते हैं); इस प्रकार (इस आहारकी मद्द्से) पुरानी वेदना (= भोग) को हटाये, नई वेदनाको उत्पन्न न होने देंगे, मेरी (शरीर-)वत्ता भी होगी, निर्दोषता और सरल विहार भी होगा।

“वह भोजनके बाद पानी जल ग्रहण करते न पात्रका उच्चासन करते हैं, न अवनासन, लम्बासन या विनासन करते हैं। वह मायासे न बहुत कम न बहुत अधिक जल ग्रहण करते हैं। वह न पात्रको तुलतुल करते धोते हैं, न डकटते हुये पात्रको धोते हैं; न पात्रको भूमिपर रेंक कर हाथ धोते हैं। (उनके) हाथ धोते वह पात्र धुल जाते हैं, पात्र धोते वह हाथ धुल जाते हैं। वह पात्रके जलको न अति-दूर (से) छोड़ते हैं, न अति-समीपसे, न धुमाते छोड़ते हैं। वह भोजन कर चुकने पर न पात्रको भूमिपर फेंकते हैं, न, अति-दूर न अति-समीप (रखते हैं)। न पात्रसे बेपर्वा होते हैं, न सर्वदा उसको रक्षामें ही तत्पर रहते हैं।

“भोजनोपरान्त वह बोड़ी देर चुपचाप बैठते हैं, और अनुमोदन (= भोजन संबंधी अनुमोदन) के फाँटको अति-क्रमण करते हैं। भोजनोपरान्त वह उस भोजनका अनुमोदन करते हैं, उसकी मिटा नहीं करते। और मष्ट (= मात) नहीं चाहते। उस (मिष्टु-)परिष्वको धार्मिक कथा द्वारा संदर्शन = समादपन = समुत्तेजन = संप्रशंसन करते हैं। धार्मिक कथा द्वारा संदर्शन ० करने आसनसे उठ कर चले जाते हैं।

“वह न अति-शीघ्र चलते हैं, न अति-जानै चलते हैं; न छूटनेकी इच्छा (जैसे) चलते हैं। आप गौतमके शरीरमें चीवर न अत्यन्त ऊपर रहता है, न अत्यन्त नीचे, न काषामें अत्यधिक सटा, न काषासे अत्यधिक निकला हुआ। आप गौतमके शरीरसे हवा चीवर उड़ाती नहीं। आप गौतमके शरीरमें मल भी नहीं चिमटता।

“वह आरामके भीतर पिछे आसन पर बैठते हैं। बैठकर पैर पसारते हैं। आप गौतम पादके मंडनमें तत्पर हो नहीं बिहर्ते। वह पाद पसार कर, शरीरको सीधा रख, स्मृति (= होश) को सामने रखकर बैठते हैं। वह न आत्म-पीड़ाके लिये सोचते हैं, न पर-पीड़ाके लिये सोचते हैं, न दोनों (आत्म-पर-)पीड़ाके लिये सोचते हैं। आप गौतम आत्महित, पर-हित, उभय-हित, लोक-हितको चिन्तन करते ही आश्रीन रहते हैं।

“वह आरामके भीतर परिष्वमं धर्मोपदेश करते हैं। न उस परिष्वको उत्साहित (= उठाते) करते हैं, न अपसाहित (= तिराते) करते हैं। बल्कि धार्मिक कथा द्वारा उस परिष्वको संदर्शित, समादपित, समुत्तेजित, संप्रशंसित करते हैं। आप गौतमके मुखसे घोष आठ जंगों (= वातों) के सहित निकलता है—(१) प्रामाणिक, (२) विज्ञेय, (३) मंजु, (४) श्रवणीय, (५) विन्दु (= सार युक्त), (६) अविसारि (= ज-कटु), (७) गंभीर, और (८) निनीदी (= खनकन)। परिष्व (के परिमाण) के अनुसार शरीरसे आप गौतम उपदेशते हैं, उनका घोष परिष्वसे बाहर नहीं जाता, आप गौतमकी धार्मिक कथासे संदर्शित ० (ओतागण) आसनसे उठकर बिना (मुड़कर) देखते चले जाते हैं, (किन्तु) मायसे छोड़े नहीं (जाते)।

“मो ! हमने आप गौतमको गमन करते देखा, हमने आप गौतमको जड़े हुये देखा, अन्तरमें धवेन करते देखा, अन्तर-पर (= गृहस्थके घर) में चुपचाप बैठे देखा, भोजनोपरांत (भोजनको) अनुमोदन करते देखा। आरामको जाते देखा। आरामके भीतर चुपचाप बैठे देखा,

आरामके बीतर परिपक्वकी धर्मापदेश करते देखा । आप गौतम ऐसे ऐसे हैं, इससे भी अधिक हैं ।”

ऐसा कहनेपर महायु ब्राह्मणने आसनसे उठकर, उत्तरासंगको एक कंधेपर कर, जिस (दिशा-की) और भगवान् थे, उत्तर अंजलि जोत तीन बार उद्दान उद्दाना—“उन भगवान् अर्हत् सम्यक् संतुष्टको नमस्कार है, उन भगवान् अर्हत् सम्यक् संतुष्टको नमस्कार है, उन भगवान् अर्हत् सम्यक् संतुष्टको नमस्कार है । क्या कभी उन आप गौतमके साथ हमारा समागम होगा ! क्या कुछ कथा-संलाप होगा !”

तब भगवान् क्रमशः विदेहमें चारिका करते, जहाँ मिथिला भी, वहाँ पहुँचे । वहाँ मिथिला में भगवान् मत्तादेव-आश्रवनमें विहार करते थे । मैथिल ब्राह्मण गृहपतियोंने सुना—“शाक्य-कुलसे प्रसजित शाक्यपुत्र भ्रमण गौतम विदेहमें चारिका करते पाँच सौके महान् मिश्र-संघके साथ मिथिलामें प्राप्त हुये हैं, और मिथिलामें मत्तादेव-आश्रवनमें विहार करते हैं । उन भगवान् गौतमका ऐसा कल्याण कीर्तिशब्द उठा हुआ है—वह भगवान् अर्हत् ०^१ ऐसे अर्हत्तोंका दर्शन अच्छा होता है ।”

तब मैथिल ब्राह्मण गृहपति जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर कोई कोई भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये ०^२ कोई कोई खुपचाप ही एक ओर बैठ गये ।

महायु ब्राह्मण ने सुना—“शाक्यकुलसे प्रसजित शाक्यपुत्र भ्रमण गौतम ० मिथिलामें प्राप्त हुये हैं । और मिथिलामें मत्तादेव-आश्रवनमें विहार करते हैं । तब महायु ब्राह्मण बहुतसे भागवों के साथ जहाँ मत्तादेव-आश्रवन था, वहाँ गया । तब महायु ब्राह्मणको आश्रवनके पास जानेपर यह हुआ—“यह मेरे लिये ठीक नहीं, कि बिना पहिले सूचित किये मैं दर्शनके लिये जाऊँ ।”

तब महायु ब्राह्मणने एक भागव (= विद्यार्थी) से कहा—“आओ भागवक ! तुम जहाँ भ्रमण गौतम हैं, वहाँ जाओ । जाकर मेरे वचनसे भ्रमण गौतमको अन्धावाधा (= आरोग्य) = अन्धातद्व; क्लृप्त्यान (= कुर्ती) बल, ब्राह्म-विहार (= सुख पूर्वक विहरना) पूछना, ‘ओ गौतम ! महायु ब्राह्मण आप गौतमको अन्धावाधा (= आरोग्य) ० पूछता है’ । और यह भी कहना—‘महायु ब्राह्मण जोर्ण = वृद्ध = महलक, = अधवगत = वयोनुप्राप्त, जन्मसे एक सौ बीस वर्षका है । वह आप गौतमके दर्शनकी इच्छा रखता है’ ।”

“अच्छा, ओ”—(कह) वह भागवक महायु ब्राह्मणको उत्तर दे, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्के साथ—“संमोदन कर एक ओर—“खदा हो—“भगवान्से बोला—

“ओ गौतम ! महायु ब्राह्मण आप गौतमकी अन्धावाधा ० पूछता है । ० ओ गौतम ! महायु ब्राह्मण ० वृद्ध ० एक सौ बीस वर्षका है । वह ०^३ तीनों वेदोंका पारंगत ० महापुरुष लक्षणमें परिपूर्ण है । मिथिलामें जितने ब्राह्मण गृहपति बसते हैं, महायु ब्राह्मण, भोग, संघ (वेद), आयु और यश—“सब तरह इनमें अग्र (= श्रेष्ठ) है, वह आप गौतम का दर्शन चाहता है ।”

“भागवक ! महायु ब्राह्मण इस वक्त जिसका काल समझे (जैसा करे) ।”

तब वह भागवक जहाँ महायु ब्राह्मण था, वहाँ गया, जाकर महायु ब्राह्मणसे बोला—

“ओ ! भ्रमण गौतमने आपकी अवकाश दे दिया, अब आप जिसका काल समझें ।”

तब महायु ब्राह्मण जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । उस (ब्राह्मण-) परिपक्वने दूरसे ही महायु ब्राह्मणको आते देखा । देखते ही ज्ञात (= प्रसिद्ध) और यशस्वी, उसके लिये अवकाश कर दिया । तब महायु ब्राह्मणने उस परिपक्वसे यह कहा—

^१ देखो पृष्ठ २५८ ।

^२ देखो पृष्ठ २६८ ।

^३ देखो पृष्ठ ३८६ ।

“वहीं, भो ! आप स्वयं अपने ज्ञानपर बैठें । मैं यहाँ अमण गौतमके समीप बैठूँगा ।”

तब ब्रह्मायु ब्राह्मण वहीं भगवान् थे, वहीं गया । जाकर भगवान्के साथ...संमोदन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठा ब्रह्मायु ब्राह्मण, भगवान्के शरीरमें महापुरुष लक्षणोंको ढूँढ़ रहा था ०^१ दोके बारेमें संदेहमें पड़ा हुआ था । तब ब्रह्मायु ब्राह्मणने भगवान्से गाथाओं द्वारा कहा—

“जो मैंने वत्तीस महापुरुष-लक्षण सुने हैं ।

उनमें से दोको आप गौतमके शरीरमें नहीं देखता ।

नरोत्तम ! क्या आपका वस्तिशुद्ध कोपाप्तादित है -

स्त्री-इन्द्रिय-समान ? जीम छोटी तो नहीं ?

दोर्ध्वजिह्वा तो हो ? जैसे हम उसे जानें,

(जैसे) इसे ओढ़ा निहानें । कपे ! शंका दूर करें,

इस जन्मके हितके लिये और पर-जन्ममें सुखके लिये ।

आज्ञा पाकर जो कुछ अभीष्ट है, पूछूँगा ।”

भगवान्को यह हुआ—“यह ब्रह्मायु ब्राह्मण मेरे शरीरमें वत्तीस महापुरुष-लक्षणोंको देख रहा है ०^१ जिह्वासे ललाटको आच्छादितकर दिया । तब भगवान्ने ब्रह्मायु ब्राह्मणसे गाथाओंमें कहा—

“जो तुने वत्तीस महापुरुष-लक्षण सुने हैं ।

यह सब मेरे शरीरमें हैं, ब्राह्मण ! तुझे संदेह मत हो ।

अभिज्ञेय, अभिज्ञात हो गया, भावनीयको भावित कर लिया ;

महातम्यको महोप कर दिया, इसलिये ब्राह्मण ! मैं खुद हूँ ।

इस जन्मके हितार्थ और जन्मान्तरके सुखार्थ ;

खुदी है, जो कुछ अभीष्ट हो पूछो ।”

ब्रह्मायु ब्राह्मणको यह हुआ—“अमण गौतमसे मुझे अवकाश दे दिया । क्या मैं अमण गौतमसे इस लोकके संबंधमें पूछूँ, या परलोकके संबंधमें (पूछूँ) ? तब ब्रह्मायु ब्राह्मणको यह हुआ—“इस लोककी बातोंमें मैं चतुर हूँ, दूसरे भो मुझसे इहलौकिक बात पूछते हैं; क्यों न मैं अमण गौतमसे ताम्पराधिक (= परलोक-संबंधी) बातहीको पूछूँ” । तब ब्रह्मायु ब्राह्मणने भगवान्से गाथाओंमें कहा—

“भो ! कैसे ब्राह्मण होता है, कैसे वेदगू होता है !

भो ! त्रैविद्य कैसे होता है, ओत्रिय क्या कहा जाता है ?

भो ! अहंस् कैसे होता है, कैसे केवली होता है ?

भो ! मुनि कैसे होता है, बुद्ध क्या कहा जाता है ?”

तब भगवान्ने ब्रह्मायु ब्राह्मणको गाथाओंमें उत्तर दिया—

“जो पूर्व जन्मको जानता है, स्वर्ग-नरकको जानता है ।

और (जो) जन्मके क्षयको प्राप्त, अभिज्ञा तत्पर (है, वह) मुनि है ।

जो रागोंसे बिलकुल मुक्त, विद्वद्-चित्तको जानता है ।

जन्म-मरण चक्रका नष्ट हो गया, यज्ञधर्म (पूरा हो गया, वह) केवली है ।

सारे जन्मोंके पारगू (= पारंगत)-तादिको बुद्ध कहा जाता है ।”

ऐसा कहनेपर ब्रह्मसूत्र ब्राह्मण उत्तरासंगको एक कंधेपर कर भगवान्‌के चरणोंमें गिर रख, भगवान्‌के चरणोंको मुखसे चूमता, हाथको भी केरता; नाम भी मुनाता—“ओ गौतम ! मैं ब्रह्मसूत्र ब्राह्मण हूँ” “ओ गौतम ! मैं ब्रह्मसूत्र ब्राह्मण हूँ”

तब वह परिपक्व विस्मृत चकित हो गई—“आश्चर्य मो ! अद्भुत मो ! धम्मकी महर्द्वि-कता (= दिव्यशक्ति), भद्रानुभाक्ताओं, जो कि ब्रह्मसूत्र ब्राह्मण जैसा शांत = यशस्वी इस प्रकार की परम नम्रता कर रहा है ।”

तब भगवान्‌ने ब्रह्मसूत्र ब्राह्मणसे यह कहा—

“आश्चर्य, ब्राह्मण उठो, बैठो अपने आसनपर ब्राह्मण ! तुम्हारा चित्त मेरेमें प्रसन्न है ।”

तब ब्रह्मसूत्र ब्राह्मण उठकर अपने आसनपर बैठा ।

तब भगवान्‌ने ब्रह्मसूत्र ब्राह्मणके लिये अनुपूर्वि-कथा जैसे—दान-कथा, शील-कथा, स्वर्ग-कथा, काम वासनाओंके दुष्परिमाण, अपकार, दोष, निष्कामताका भाहात्म्य प्रकाशित किया । उस भगवान्‌ने ब्रह्मसूत्र ब्राह्मणको मध्य-चित्त = मृदु-चित्त, जनाच्छादित-चित्त, भागादित-चित्त, प्रसन्न-चित्त देखा; तब जो बुद्धोंकी उठानेवाली देशना (= उपदेश) है—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग—उसे प्रकाशित किया । जैसे कालिमा-रहित इवेत वस्त्र अच्छी तरह रंग एकवृत्ता है; वैसे ही ब्रह्मसूत्र ब्राह्मणकी उसी आसनपर, ० ‘जो कुछ समुदय-धर्म (= उत्पन्न होनेवाला) है, वह निरोध-धर्म (= नाशमान) है’—यह विरज = विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ ।

तब ब्रह्मसूत्र ब्राह्मण उत्थर्त = प्राप्त-धर्म = विदित-धर्म पदवगाद-धर्म, तीर्ण-विचिकित्स (= संशय-रहित), कथोपकथन-विरत, वैशाख-प्राह (= निजुण), दास्ताके शासनमें अति श्रद्धावान्‌ हो, भगवान्‌ने यह बोला—

“आश्चर्य ! ओ गौतम ! आश्चर्य !! ओ गौतम !! जैसे बीधेकी सीधा कर ऐ ०^१ आजसे मुझे अंबलिवद्ध शरणागत उपासक धारण करें । मिथु-संघके साथ आप गौतम कलका मेरा भोजन स्वी-कार करें ।”

भगवान्‌ने मौनसे स्वीकार किया ।

तब ब्रह्मसूत्र ब्राह्मण भगवान्‌की स्वीकृतिको जान, आसनसे उठ, भगवान्‌को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला गया ।

तब ब्रह्मसूत्र ब्राह्मणने उस रातके बीच आनेपर, अपने घरपर उत्तम खाद्य-भोज्य तैयार कर भगवान्‌की कालकी सूचना दी—

“शस्य हो गया, ओ गौतम ! भोजन तैयार है ।”

तब भगवान्‌ पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्र-चीवर ले वहाँ ब्रह्मसूत्र ब्राह्मणका घर था, वहाँ गये; जाकर मिथु-संघके साथ घिसे आसनपर बैठे । तब ब्रह्मसूत्र ब्राह्मणने अपने हाथसे उत्तम खाद्य-भोज्य परोस कर, बुद्ध-प्रमुख मिथु-संघको संतर्पित = संप्रचारित किया ।

तब भगवान्‌ उस सप्ताहके बीचनेपर विदेह(देश)में चारिकाके लिये चल दिये । भगवान्‌के चले जानेके थोड़े ही समय बाद ब्रह्मसूत्र ब्राह्मणने काल किया ।

तब बहुतसे मिथु वहाँ भगवान्‌ थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्‌की अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे उन मिथुनें भगवान्‌से यह कहा—

“भन्ते ! ब्रह्मसूत्र ब्राह्मण मर गया, इसकी क्या गति = क्या अभिसम्पराय है ?”

“मिथुनो ! अस्मात्पु माहात्म्यं वदितं वा, धर्मके अनुसार चलनेवाला था, धर्मके विषयों उसने सुझे घोषित नहीं किया । मिथुनो ! अस्मात्पु माहात्म्यं पाँच अक्षरभागीय-संयोजनोंके श्रवणसे औप-पातिक (= वेवता) हो, वहाँ निर्वाण प्राप्त करनेवाला है, उस लोकसे न लौट कर आनेवाला है ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिथुनों भगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

६२—सेल-मुत्तन्त (२।५।२)

हुक और धर्मके गुण । सेल बाइबलकी प्रकल्पा

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् साढ़े बारह सौ भिक्षुओंके महामिछु-संघके साथ, अंगुत्तराप (देशमें) चारिका करते हुये, जहाँपर—“आपण भामक मिगम (=कसदा) था, वहाँ पहुँचे ।

केणिय जटिलने सुना—शाक्य-कुलसे प्रसन्नित, शाक्य-पुत्र अमण गौतम साढ़े बारह सौ भिक्षुओंके महामिछु-संघके साथ, अंगुत्तरापमें चारिका करते हुए, आपणमें आये हैं । उन भगवान् गौतमका ऐसा कव्वाण कोर्ति-शब्द फैला हुआ है * । * । इस प्रकारके अर्हत्तेका दर्शन उत्तम होता है ।

तब केणिय जटिल जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्के साथ—“संमोदन कर,“ (कुमल-प्रज्ञ पृष्ठ) एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे केणिय जटिलको भगवान्ने धर्मके उपदेश द्वारा संदर्शन, समोदपन, समुत्तेजन, संप्रसादन किया । भगवान्के धर्म-उपदेश-द्वारा संदर्शित—हो, केणिय जटिलने भगवान्से कहा—

“आप गौतम भिक्षु-संघ-सहित कलका मेरा भोजन स्वीकार करें ।”

ऐसा कहनेपर भगवान्ने केणिय जटिलसे कहा—

“केणिय ! भिक्षु-संघ बड़ा है, साढ़े बारह सौ भिक्षु हैं, और तुम बाइबलोंमें प्रसन्न (= अद्भुत) हो ।”

दूसरी बार भी केणिय जटिलने भगवान्से कहा—

“बड़ा हुआ, ओ गौतम ! जो बड़ा भिक्षु-संघ है, साढ़े बारह सौ भिक्षु हैं, और मैं बाइबलोंमें प्रसन्न हूँ ? आप गौतम भिक्षु-संघ-सहित कलका मेरा भोजन स्वीकार करें ।”

दूसरी बार भी भगवान्ने केणिय जटिलसे वही कहा—* ।

* तीसरी बार भी केणिय जटिलने भगवान्से वही कहा—* ।

भगवान्ने भीन रह स्वीकार किया ।

तब केणिय जटिल भगवान्की स्वीकृतिको जान, भासनसे उठ, जहाँ उसका आश्रम था, वहाँ गया । जाकर मित्र-अमात्य, जाति-विरादरीवालोंसे बोला—

“आप सब मेरे मित्र-अमात्य, जाति-विरादरी सुनें—मैंने भिक्षु-संघ-सहित अमण गौतम-को कलके भोजनके लिये निर्मन्त्रित किया है, सो आप लोग शरीरसे सेवा करें ।”

“जच्छा, हो !” केणिय जटिलसे, मित्र-अमात्य, जाति-विरादरीने कहा । (उनमेंसे) कोई घून्हा खोदने लगे, कोई लकड़ी पाकने लगे, कोई घोंघे खोले लगे, कोई पानीके घटके

* देखो पृष्ठ १५८ ।

(= मज्झिम) रखने लगे, कोई आसन बिछाने लगे । केनिय जटिल स्वयं घट-मंडप (= मंडल-माल) तैयार करने लगा ।

उस समय निषण्ण, कल्ल (= कटुम)—अक्षर-धमेद सहित तीनों वेद तथा पाँचवें इतिहासमें पारकृत, पट्टक (= कवि), वैपाकरण, लोकायत (शास्त्र) तथा महापुरुष-लक्षण (= सामुद्रिक-शास्त्र)में निपुण (= अन्वय), दौल नामक ब्राह्मण आपणमें, वास करता था; और तीन सौ विद्यार्थियों (= माणवक)को मंत्र (= वेद) पढ़ाता था । उस समय दौल ब्राह्मण केनिय जटिलमें अत्यन्त प्रसन्न (= अद्भुतान्) था । “तब (वह) तीन सौ माणवकोंके साथ जंघा-विहार (= चहल-कदमी)के लिये दौलता हुआ, जहाँ केनिय जटिलका आश्रम था, वहाँ गया । दौल ब्राह्मणने देखा कि केनिय जटिलके जटिकों (= जटाधारी, वाणप्रस्त्री शिष्यों)में, कोई चूल्हा खोद रहे है ०, तथा केनिय जटिल स्वयं मंडल-माल तैयार कर (रहा है) । देखकर (उसने) केनिय जटिलसे कहा—

“क्या आप केनियके यहाँ आधाद होगा, विवाह होगा, या महा-व्रज या पहुँचा है ? क्या बल-काय (= रेखा)-सहित भगध-राज अंगिक विधिसार, कलके भोजनके लिये निमंत्रित किया गया है ?”

“नहीं, दौल ! मैं मेरे यहाँ आधाद होगा, न विवाह होगा और न बल-काय-सहित भगध-राज अंगिक विधिसार कलके भोजनके लिये निमंत्रित है, यदि मेरे यहाँ महापत्न है । शाक्य-कुलसे प्रसन्नित शाक्य-पुत्र अमण गौतम सोने बारह सौ मिश्रुकोंके महामिश्रु-संघ-के साथ अंगुत्तरापमें चारिका करते, आपणमें जाये हैं । उन भगवान् गौतमका ऐसा संगल कीर्ति-शब्द फैला हुआ है—वह भगवान् अर्हत्, सम्यक्संबुद्ध, विद्या-आचरण-संपन्न, सुगत, लोकविद्, अनुत्तर (= अनुपम) पुरुषोंके चातुक्-संगार, देव-मनुष्योंके शास्त्रा, बुद्ध भगवान् हैं । वह मिश्रु-संघ-सहित कल मेरे यहाँ निमंत्रित हुये हैं । ० ।

“हे केनिय ! (क्या) ‘बुद्ध’ कह रहे हो ?”

“हे दौल ! (हाँ) ‘बुद्ध’ कह रहा हूँ ।”

“० बुद्ध कह रहे हो ?”

“० बुद्ध कह रहा हूँ ।”

“० बुद्ध कह रहे हो ?”

“० बुद्ध कह रहा हूँ ।”

तब दौल ब्राह्मणको हुआ—‘बुद्ध’ ऐसा घोष (= आवाज) भी लोकमें दुर्लभ है । हमारे भंत्रोमें महापुरुषोंके बचोस लक्षण आप् हुए हैं, जिनसे युक्त महापुरुषको दोहो गतिपाँ हैं । यदि वह घरमें वास करता है, तो चारों ओर सबका राज्यपाला, धार्मिक धर्म-राजा चक्रवर्ती—‘राजा (होता) है’—वह सागर-पर्यन्त इस पृथिवीको बिना वृण्ड-शब्दसे, धर्मसे विजय कर शासन करता है । और यदि घर छोड़ बेघर हो प्रव्रजित होता है, (तो) लोकमें आच्छादन-रहित अर्हत् सम्यक्संबुद्ध होता है ।” —“हे केनिय ! तो फिर कहाँ वह आप गौतम अर्हत् सम्यक्संबुद्ध, इस समय विहार करते हैं ?”

ऐसा कहने पर केनिय जटिलने दाहिनी बाँह पकड़ कर, दौल ब्राह्मणसे यह कहा—

“हे दौल ! जहाँ वह दौल बन-पौंती है ।”

तब दौल तीन सौ माणवकोंके साथ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । तब दौल ब्राह्मणने उन माणवकोंसे कहा—

“आप लोग निःशब्द (= अल्प-शब्द) हो, पैरों बाढ़ पैर रखते जायें। सिद्धोंकी भाँति वह भगवान् जकेले विचरनेवाले, (और) दुर्लभ होते हैं। और जब मैं श्रमण गौतमके साथ संवाद करूँ, तो आप लोग मेरे बीचमें घात न उठावें। आप लोग मेरे (अल्प)की सम्मति तक चुप रहें।”

तब शैल ब्राह्मण वहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान्के साथ सम्मोदनकर—
(= कुशल प्रश्न पूछ) “एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठ शैल ब्राह्मण भगवान्के शरीरमें महापुरुषके वृत्तोंस लक्षण जोखने लगा। शैल ब्राह्मणने वृत्तोंस महापुरुष-लक्षणोंमेंसे दोको छोड़ अधिकांश भगवान्के शरीरमें देख लिये। दो महापुरुष-लक्षणों—शिवलोकसे ईकी पुरुष-गुणेंद्रिय, और अति-दीर्घ-जिह्वा—के बारेमें—“सन्देहमें था—”। तब भगवान्ने इस प्रकारका योग-बल प्रकट किया, जिससे कि शैल ब्राह्मणने भगवान्के कोप-आच्छादित वस्त्रि-गुणको देखा। फिर भगवान्ने जोन निकालकर (उत्तरे) दोनों कानोंके धोतकी धुवा—, सारे ललाट-मंडलको जीमसे बाँध दिया। तब शैल ब्राह्मणको ऐसा (विचार) हुआ—श्रमण गौतम अ-परिपूर्ण नहीं, परिपूर्ण वृत्तोंस महापुरुष-लक्षणोंसे युक्त है। लेकिन कह नहीं सकता—बुद्ध है, या नहीं। बुद्ध = महत्त्वक ब्राह्मणों आचार्य-प्रचार्यों कहते सुना है—कि जो अर्हत् सम्पत्-सम्बुद्ध होते हैं, वह अपने गुण बड़े जानेपर अपनेको प्रकाशित करते हैं। क्यों न मैं श्रमण गौतमके सम्मुख उपयुक्त माथाजोंसे स्तुति करूँ। तब शैल ब्राह्मण भगवान्के सामने उपयुक्त माथाजोंसे स्तुति करने लगा—

“परिपूर्ण-काया सुन्दर कवि (= कवि) वाले, सुजान, चारु-दर्शन,

सुवर्णवर्ण हो भगवान् ! सु-शुद्ध-दाँत हो, (और) वीर्यवान् ॥ १ ॥

सुवात (= सुन्दर जन्मवाले) पुरुषके जो व्यंजन (= लक्षण) होते हैं,

वह सभी महापुरुष-लक्षण तुम्हारी कायामें (हैं) ॥ २ ॥

प्रसन्न (= निर्मल)-नेत्र, सुमुख, धरे सीधे, प्रताप-वान्,

(आप) श्रमण-संघके बीचमें आदिश्वकी भाँति विराजते हो ॥ ३ ॥

कल्याण-दर्शन, भो मिश्र ! कंचन-समान शरीरवाले !

ऐसे उत्तम वर्णवाले तुम्हें श्रमण-भाव (= मिश्र होने)में क्या (रक्ता) है ? ॥ ४ ॥

तुम तो चारों ओरके राज्यवाले, जम्बूद्वीपके स्वामी।

खर्चम, चक्रवर्ती, राजा हो सकते हो ॥ ५ ॥

क्षत्रिय भोज-राजा (= मांडलिक-राजा) तुम्हारे अनुयायी होंगे।

भो गौतम ! राजाधिराज मनुवेन्द्र हो, राज्य करो ॥ ६ ॥”

(भगवान्—) “शैल ! मैं राजा हूँ; अनुपम धर्मराजा।

मैं न पकटनेवाला—चक्र धर्मके साथ चला रहा हूँ ॥ ७ ॥”

(शैलब्राह्मण—) “अनुपम धर्म-राजा संबुद्ध (अपनेको) कहते हो ?

भो गौतम ! ‘धर्ममे चक्र चला रहा हूँ’ कह रहे हो ॥ ८ ॥

कौन सा आप शास्त्राका दन्तप (= माग) आश्रय सेनापति है ?

कौन इस चलाने धर्म-चक्रको अनु-चालन कर रहा है ॥ ९ ॥

(भगवान्—) “शैल ! मैंने द्वारा संचालित चक्र, अनुपम धर्म-चक्रको।

तथागतका अनुवात (= पीछे उत्पन्न) सारिपुत्र अनुचालितकर रहा है ॥ १० ॥

कालव्यको जान लिया, भावनीयकी भावना करली।

परित्याज्यको छोड़ दिया, अतः हे ब्राह्मण ! मैं बुद्ध हूँ ॥ ११ ॥

ब्राह्मण ! मेरे विषयमें संशयको हटाओ, छोड़ो ।

बार बार संकुञ्चोंका दर्शन दुर्लभ है ॥ १२ ॥

लोकमें जिसका बार बार प्रादुर्भाव दुर्लभ है ,

वह मैं (राग आदि) शब्दका छेदनेवाला अनुपम, संकुञ्च हूँ ॥ १३ ॥

ब्रह्म-भूत तुलना-रहित, भार (= रागादि शत्रु)-सेनाका प्रसर्दक ,

(मुझे) देखकर कौन न संतुष्ट होगा, चाहे वह कृष्ण-^१अभिजातिक क्यों न हो ॥ १४ ॥

(शैल —) “जो मुझे चाहता है, (वह मेरे) पीछे आवे, जो नहीं चाहता, वह जाने ।

(मैं) यहाँ उत्तम-प्रजावाले (बुद्ध)के पास प्रव्रजित होऊँगा ॥ १५ ॥”

(शैलके शिष्य —) “यदि आपको यह सम्बन्ध-संकुञ्चका शासन (= धर्म) रुचता है ।

(तो) हम भी वर-प्रज्ञके पास प्रव्रजित होंगे ॥ १६ ॥

यह जितने तीन सौ ब्राह्मण हाथ-जोड़े हैं ।

(यह) सभी भगवन् ! तुम्हारे पास ब्रह्मचर्यचरण करेंगे ॥ १७ ॥

(भगवान् — “शैल !) (यह) ^२सांघटिक ^३अकालिक ^४स्वाध्यास ब्रह्मचर्य है ।

जहाँ प्रमाद-शून्य सीखनेवालेकी प्रव्रज्या अ-भोष है ॥ १८ ॥”

शैल ब्राह्मणने परिषद्-सहित भगवान्के पास प्रव्रज्या और उपसंपदा पाई ।

तब केणिय जटिलने उस रातके बीतनेपर, अपने आश्रममें उत्तम खाद्य-भोज्य तैयार करा, भगवान्को कालको सूचना दिलवाई^५ । तब भगवान् पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्र-चीवर ले, जहाँ केणिय जटिलका आश्रम था, वहाँ गये । जाकर बिछे आसनपर भिक्षु-संघके साथ बैठे । तब केणिय जटिलने बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघको अपने हाथसे, संतर्पित किया, पूर्ण किया । केणिय जटिल भगवान्के भोजनकर, पात्रसे हाथ हटा केनेपर एक मोचा आसन ले, एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे हुये केणिय जटिलको भगवान्ने इन गाथाओंसे (वान-) अनुमोदन किया—

“यशोंमें मुख अग्नि-होष है, जन्नोंमें मुख (= मुख) ^६सावित्री है ।

भनुष्योंमें मुख राजा है, नदियोंमें मुख शायर है ॥ १ ॥

नक्षत्रोंमें मुख चन्द्रमा है, तपनेवालों में मुख आदित्य है ।

इच्छितोंमें (मुख) पुण्य (है), यजन (= पूजा) करनेमें मुख संघ है ॥ २ ॥”

भगवान् केणिय जटिलको इन गाथाओंसे अनुमोदित कर आसनसे उठकर चल विधे ।

तब आयुष्मान् शैल परिषद्-सहित एकान्तमें प्रमाद-रहित, उद्योग-युक्त, आत्म-निग्रही हो विहरते अचिरमें ही, जिसके लिये कुछ-बुद्ध घरते बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस अनुपम ब्रह्मचर्यके अन्त (= निर्वाण) को, इसी जन्ममें स्वयं जानकर, साक्षात्कर, प्राप्तकर, विहरने लगे । ‘जन्म क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो गया । करणीय कर लिया गया, और यहाँ कुछ करना नहीं’—यह जान गये । परिषद्-सहित आयुष्मान् शैल अर्हत् हुये ।

तब आयुष्मान् शैलने शास्ता (= बुद्ध)के पास जाकर, चीवरको (दक्षिण कंधा नंगा रख) एक कंधेपर (रख), निघर भगवान् पे, ऊपर अजलि जोड़, भगवान्से गाथाओंमें कहा—

“भो चक्षु-मान् ! जो मैं आजसे आठ दिन पूर्व तुम्हारी शरण आया ।

भो भगवान् ! तुम्हारे आसन में सातही रातमें मैं दांत हो गया ॥ १ ॥

^१ दुर्गुणोंसे भरा ।

^२ प्रत्यक्ष कल-पर ।

^३ न कालान्तरमें कल-यय ।

^४ सुन्दर प्रकारसे व्याख्यान किया गया ।

^५ सावित्री गायत्री ।

तुम्हीं बुद्ध हो, तुम्हीं शास्ता हो, तुम्हीं मार-विजयी सुनि हो ।

तुम (राम आदि) अशुश्योंको छिन्नकर, (स्वयं) उन्नील हो, इस प्रजाको तारते हो ॥२॥

उपधि तुम्हारी हट गई, आसन तुम्हारे विदारित हो गये ।

सिंह-समान, मव(-सामर)की मोषणतासे रहित, तुम 'उपादान-रहित हो ॥३॥

यह शीम लौ मिश्रु हाथ जोड़े लड़े हैं ।

हे वीर ! पाद प्रसारित करो, (यह) नाग (= पाप-रहित) शास्ताकी बंदना करें ॥४॥^{१२}

६३-अस्सलायण-सुत्तन्त (२।५।३)

बर्म-व्यवस्थाका संवत

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथापिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार कर रहे थे । उस समय नाना देशोंके पाँच सौ ब्राह्मण किसी कामसे श्रावस्तीमें खड़े थे । तब उन ब्राह्मणोंको यह (विचार) हुआ—यह अमण गौतम चारों वर्णोंकी बुद्धि (= चातुर्वर्णी बुद्धि) का उपदेश करता है । कौन है जो अमण गौतमसे इस विषयमें वाद कर सके ? उस समय श्रावस्ती में आशलायन नामक निर्वट्ट-केटुम (= कल्प)-श्रमर-प्रमेद (= शिक्षा)-सहित नीनों वेशों तथा पाँचवें इतिहासमें भी पारहत, यदक (= कवि), वेदाकरण, लोकायत महापुरुष-लक्षण (वाच्यों) से मिलुण, घपित (= सुगुह्य)-विद, तरुण भाणवक (= विद्याधी) रहता था । तब उन ब्राह्मणों को यह हुआ—यह श्रावस्तीमें आशलायन ० भाणवक रहता है, यह अमण गौतमसे इस विषय में वाद कर सकता है ।

तब वह ब्राह्मण वहीं आशलायन भाणवक था, वहाँ गये । जाकर आशलायन भाणवकसे बोले—

“आशलायन ! यह अमण गौतम^१ चातुर्वर्णी बुद्धि उपदेश करता है । जाइये आप आशलायन अमण गौतमसे इस विषयमें वाद कीजिये ।”

ऐसा कहनेपर आशलायन भाणवकने उन ब्राह्मणोंसे कहा—

“अमण गौतम धर्मवादी है । धर्मवादी वाद करनेमें दुष्प्रति-संघ (= वाद करनेमें दुष्कर) होते हैं । मैं अमण गौतमके साथ इस विषयमें वाद नहीं कर सकता ।”

दूसरी बार भी उन ब्राह्मणोंने आशलायन भाणवकसे कहा ० ।

तीसरी बार भी उन ब्राह्मणोंने आशलायन भाणवकसे कहा—

“मो आशलायन ! यह अमण गौतम चातुर्वर्णी बुद्धिका उपदेश करता है । जाइये आप आशलायन अमण गौतमसे इस विषयमें वाद कीजिये । आप आशलायन युद्धमें बिना पराजित हुये ही मत पराजित हो जायें ।”

ऐसा कहनेपर आशलायन भाणवकने उन ब्राह्मणोंसे कहा—

“...मैं अमण गौतमके साथ नहीं (पार) पा सकता । अमण गौतम धर्म-वादी है ० । मैं अमण गौतमके साथ इस विषयमें वाद नहीं कर सकता । तो भी मैं आप लोगोंके कहनेसे जाऊँगा ।”

तब आशलायन भाणवक जड़े भारी ब्राह्मण-गणके साथ वहाँ मगवान् थे, वहाँ गया ।

^१ कल्प ब्राह्मणोंको नहीं, चारों वर्णोंकी ध्यान जादिये पाप-शुद्धि मिलाने माधुरिय दृष्ट (३४०-४१) भी ।

जाकर भगवान् के साथ ० संभोजन कर ।''' (कुशल-प्रश्न-पृष्ठ)''' एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे हुये आच्छलायन भागवतके भगवान् के कहा—

“ओ गौतम ! ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—‘ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, दूसरे वर्ण छोटे हैं । ब्राह्मण ही शुद्ध वर्ण है, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं । ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अ-ब्राह्मण नहीं । ब्राह्मण ही ब्राह्मण औरस पुत्र हैं, मुक्तसे उत्पन्न, अज्ञान प्रज्ञा-निर्मित, ब्राह्मणके दास्य हैं’ । इस विषयमें आप गौतम क्या कहते हैं ।”

“लेकिन आच्छलायन ! ब्राह्मणोंकी ब्राह्मणियाँ क्षत्रमती, गर्भिणी, जनन करती, पिछाती देखी जाती हैं । योनिसे उत्पन्न होते हुए भी वह (ब्राह्मण) ऐसा कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है ० !!!”

“अथपि आप गौतम ऐसा कहते हैं, फिर भी ब्राह्मण तो ऐसा ही कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ ० ।”

“तो क्या मानते हो आच्छलायन ! तुमने सुना है कि ‘यवन और कम्बोजमें और दूसरे भी सीमान्त देशोंमें दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास (= गुलाम) । आर्य हो दास हो (एक) वा है, दास हो आर्य हो (एक) ता है ।”

“हाँ, ओ ! मैंने सुना है कि यवन और कम्बोजमें ० ।”

“आच्छलायन ! ब्राह्मणोंको क्या यल = क्या आधास है, जो ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—‘ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है ० ।’”

“अथपि आप गौतम ऐसा कहते हैं, फिर भी ब्राह्मण तो ऐसा ही कहते हैं ० ।”

“तो क्या मानते हो, आच्छलायन ! अश्वि, प्राणि-हिंसक, चोर, दुराचारी, शूरा, सुगुल-खोर, कटुभाषी, वक्रवादी, लोभी, द्वेषी, मिथ्या-दष्टि (= लूठी धारणावाला) हो; (तो क्या) काया छोड़, मरनेके बाद अपाद्य = दुर्गति = विनिपात = नरकमें उत्पन्न होगा, वा नहीं ? ब्राह्मण प्राणि-हिंसक ० हो ० नरकमें उत्पन्न होगा वा नहीं ? वैश्य ० ? शूद्र ० नरकमें उत्पन्न होगा वा नहीं ?”

“ओ गौतम ! अश्वि भी प्राणि-हिंसक ० हो ० नरकमें उत्पन्न होगा । ब्राह्मण भी ० । वैश्य भी ० । शूद्र भी ० । सभी चारों वर्ण ओ गौतम ! प्राणि-हिंसक ० हो ० नरकमें उत्पन्न होंगे ।”

“तो फिर आच्छलायन ! ब्राह्मणोंको क्या यल = क्या आधास है, जो ब्राह्मण ऐसा कहते हैं ० ।”

“० फिर भी ब्राह्मण तो ऐसा ही कहते हैं ० ।”

“तो क्या मानते हो, आच्छलायन ! क्या ब्राह्मण ही प्राणि-हिंसासे विरत होता है, चोरीसे विरत होता है, दुराचार ०, शूरा ०, सुगुल ०, कटुवचन ०, वक्रवादीसे विरत होता है, अ-लोभी, अ-द्वेषी, सम्यक्-दृष्टि (= सच्ची दृष्टिवाला) हो, करीब छोड़ मरनेके बाद, सुगति स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है; अश्वि नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र नहीं ?”

“नहीं, ओ गौतम ! अश्वि भी प्राणि-हिंसा-विरत ० सुगति स्वर्ग-लोकमें उत्पन्न हो सकता है, ब्राह्मण भी ०, वैश्य भी ०, शूद्र भी ०, सभी चारों वर्ण ० ।”

“आच्छलायन ! ब्राह्मणोंको क्या यल ० । ०

^१ कृषी भूमिस्तान (?) जहाँ सिकन्दरके बाद यवन (ग्रीक) लोग बसे हुये थे। अथवा यूनान ।

^२ काफिरस्तान (अफगानिस्तान), अथवा ईरान ।

“तो क्या मानते हो, आधलायन ! क्या ब्राह्मण ही वैद-रहित द्वेप-रहित सैन्यचित्तको भावना कर सकता है, क्षत्रिय नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र नहीं ?”

“नहीं, भो गौतम ! क्षत्रिय भी इस आत्ममें, भावना कर सकता है ० । ० । सभी चारों भावना कर सकते हैं ।

“यहाँ आधलायन ! ब्राह्मणोंको क्या पल ० ?” ० ।

“तो क्या मानते हो, आधलायन ! क्या ब्राह्मण ही संमल (= स्वस्ति) स्नान-पूर्ण लेकर नदीको जा, मैल धो सकता है, क्षत्रिय नहीं ० ?”

“नहीं, भो गौतम ! क्षत्रिय भी संमल स्नान-पूर्ण ले, नदी जा मैल धो सकता है ०, सभी चारों पूर्ण ० ।”

“यहाँ आधलायन ! ब्राह्मणोंको क्या पल ० ?” ० ।

“तो क्या मानते हो, आधलायन ! (यदि) यहाँ सुखा-भिषिक्त क्षत्रिय राजा, नाना जातिके सौ-पुरुष इच्छते करे (और उन्हें धरे)—आवे आप साथ, जो कि क्षत्रिय कुलसे, ब्राह्मण-कुलसे और राजन्य (= राजसूतान) कुलसे उत्पन्न हैं, और शाक (= शाक) की या पल्ल (= पल्ल) की या चन्दनकी या पद्म (काष्ठ) की उत्तरारणी लेकर आग बनावे, तेज प्रादुर्भूत करें । (और) आप भी आवे जो कि घण्टालकुलसे, निषादकुलसे वसोर (= वसु)-कुलसे रथकार-कुलसे, पुष्क-सकुलसे उत्पन्न हुये हैं, और कुत्तेके पीनेकी, सूअरके पीनेकी कठरीकी, घोषीकी कठरीकी, या रेंव-की लकड़ीकी उत्तरारणी लेकर, आग बनावे, तेज प्रादुर्भूत करें । तो क्या मानते हो, आधलायन क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य-शूद्रकुलोंसे उत्पन्नों-द्वारा शाक-सरल-चन्दन-पद्मकी उत्तरारणीको लेकर, जो आग उत्पन्नकी गई है, तेज प्रादुर्भूत किया गया, क्या वही अर्चिमान् (= लौवाला), वर्णवान् प्रभास्वर अग्नि होगा ? उसी आगसे अग्निका काम लिया जा सकता है ? और जो वह चाँडाल-निषाद-वसोर-रथकार-पुष्कस-कुलोत्पन्नों द्वारा धरान-कठरीकी सूअर-पाव-कठरीकी, रेंव-काष्ठकी उत्तरारणीको लेकर उत्पन्न आग है, प्रादुर्भूत तेज (है), वह अर्चिमान् वर्णवान् प्रभास्वर न होगा ? उस आगसे अग्निका काम नहीं लिया जा सकेगा ?”

“महर्षि, भो गौतम ! जो वह क्षत्रिय ० कुलोत्पन्न द्वारा ० आग बनाई गई है ० वह भी अर्चिमान् ० आग होगी, उस आगसे भी अग्निका काम लिया जा सकता है; और जो वह चाँडाल ० कुलोत्पन्न द्वारा ० आग बनाई गई है ० वह भी अर्चिमान् ० आग होगी । सभी आगसे अग्निका काम लिया जा सकता है ।”

“यहाँ आधलायन ! ब्राह्मणोंका क्या पल ० ?” ० ।

“तो क्या मानते हो, आधलायन ! यदि क्षत्रिय-कुमार ब्राह्मण-कन्याके साथ संवास करे । उनके सहवाससे पुत्र उत्पन्न हो । जो वह क्षत्रिय-कुमार द्वारा ब्राह्मण-कन्यामें पुत्र उत्पन्न हुआ है, क्या वह माताके समान और पिताके समान, ‘क्षत्रिय (है)’, ‘ब्राह्मण (है)’ कहा जाना चाहिये ?” “भो गौतम ! ० कहा जाना चाहिये ।”

“० आधलायन ! यदि ब्राह्मण-कुमार क्षत्रिय-कन्याके साथ संवास करे ० ‘ब्राह्मण (है)’ कहा जाना चाहिये ?” “० ‘ब्राह्मण (है)’ कहा जाना चाहिये ।”

“० आधलायन ! यहाँ घोषीकी गद्देसे जोड़ा खिलावे, उनके जोपसे किसोर (= यज्जा) उत्पन्न हो । क्या वह माता ० पिताके समान, ‘घोषा है’ ‘गद्दा है’ कहा जाना चाहिये ?”

“...भो गौतम ! वह अक्षर (= अक्षर) होता है । यहाँ ‘भेद’ देखता हूँ । उन वृत्तोंमें कुछ भेद नहीं देखा ।”

“० आचलायन ! यहाँ दो माणवक जमुवे भाई हों । एक अण्वायक करनेवाला, और उपनीत (= उपनयन द्वारा गुरुके पास प्राप्त) है; दूसरा अन्-अण्वायक और अन्-उपनीत (है) । आह, यज्ञ या पाहुनाई (= पाहुने) में, ब्राह्मण किसको प्रथम भोजन करावेंगे ?”

“भो गौतम ! जो वह माणवक अण्वायक और उपनीत है, उसीको ० प्रथम भोजन करावेंगे । अन्-अण्वायक अन्-उपनीतको देनेसे क्या महाफल होगा ?”

“तो क्या जानते हो, आचलायन ! यहाँ दो माणवक जमुवे भाई हों । एक अण्वायक उपनीत, (किन्तु) दुःशील (= दुराचारी) पाप-धर्मा (= पापी) हो, दूसरा अन्-अण्वायक अन्-उपनीत, (किन्तु) शीलवान् कल्याण-धर्मा । इनमें किसको ब्राह्मण त्राप्य या यज्ञ या पाहुनाईमें प्रथम भोजन करावेंगे ?”

“भो गौतम ! जो वह माणवक अन्-अण्वायक, अन्-उपनीत, (किन्तु) शीलवान् कल्याण-धर्मा है, उसीको ब्राह्मण ० प्रथम भोजन करावेंगे । दुःशील = पाप-धर्मको दान देनेसे क्या महा-फल होगा ?”

“आचलायन ! पहिले तू जातिपर पहुँचा, जातिपर जाकर भंत्रों पर पहुँचा, भन्त्रोंपर जाकर अथ तू चातुर्वर्णीं बुद्धिपर आगया, जिसका कि मैं उपदेश करता हूँ ।”

ऐसा कहनेपर आचलायन माणवक रूप होगया, मूक हो गया, “अधोमुख चिन्तित, निष्प्रतिम हो बैठा ।

तब मगवान्ने आचलायन माणवकको रूप मूक ० निष्प्रतिम बैठे देख—कहा—

“पूर्वकालमें आचलायन ! जंगलों, पर्वतश्रृंखलोंमें वास करते हुये सात ब्राह्मण-ऋषियोंको, इस प्रकारकी पाप-दृष्टि (= बुरी धारणा) उत्पन्न हुई—ब्राह्मणही अष्ट वर्ण है ० । आचलायन ! तब असित देवल ऋषिने सुना, ० सात ब्राह्मण ऋषियोंको इस प्रकारकी पाप-दृष्टि उत्पन्न हुई है ० । तब आचलायन ! असित देवल ऋषि शिर-दायी मुँडा भँजीठके रंगका (= लाल) पुष्पा पहिन, सवाँडेपर चढ़, सोने-चाँदीका दंड धारणकर, सातों ब्राह्मण ऋषियोंको कुटीके आँगनमें प्रार्थुर्भूत हुये । तब आचलायन ! असित देवल ऋषि सातों ब्राह्मण ऋषियोंके कुटीके आँगनमें टहलते हुये कहने लगे—“है ! आप ब्राह्मण-ऋषि कहीं चले गये ? है ! आप ब्राह्मण-ऋषि कहीं चले गये ?” तब आचलायन ! उन सातों ब्राह्मण ऋषियोंको हुआ—“कौन है यह गँवार लड़केकी तरह सातों ब्राह्मण ऋषियोंके कुटीके आँगनमें टहलते ऐसे कह रहा है—है ! आप ० अच्छा तो हमें शाप देवें ।” तब आचलायन ! सात ब्राह्मण-ऋषियोंने असित देवल ऋषिको शाप दिया—‘वृद्ध ! (= वृषल) भस्म हो जा ।’ जैसे जैसे आचलायन ! सात ब्राह्मण ऋषि असित देवल ऋषिको शाप देते थे, वैसेही वैसे—‘देवल ऋषि अधिक सुन्दर, अधिक दर्शनीय = अधिक प्राप्तादिक होते जा रहे थे । तब आचलायन ! सातों ब्राह्मण ऋषियोंको हुआ—‘हमारा तप व्यर्थ है, ब्रह्मचर्य निष्फल है । हम पहिले जिसको शाप देते—‘वृषल ! भस्म होजा’, भस्मही होता था । इसको हम जैसे जैसे शाप देते हैं, वैसे वैसे यह अमिरूप-तर, दर्शनीय-तर, प्राप्तादिक-तर, होता जा रहा है ।’ (देवलने कहा)—‘आप लोगों का तप व्यर्थ नहीं, ब्रह्मचर्य निष्फल नहीं, आप लोगोका मन जो मेरे प्रति दूषित हो गया है, उसे छोड़ दें ।’ (उन्होंने कहा)—‘जो मनोपदेश (= मानसिक बुझाव) है, उसे हम छोड़ते हैं, आप कौन हैं ?’ ‘आप लोगोंने असित देवल ऋषिको सुना है ?’ ‘हाँ, भो !’ ‘वही मैं हूँ ।’

“तब आचलायन ! सातों ब्राह्मण ऋषि, असित देवल ऋषिको अनिवादन करनेके लिये पास गये । असित देवल ऋषिने कहा—‘मैंने सुना—’कि ‘अरण्यके भीतर पर्वतश्रृंखलोंमें वास

कहते, माता • कृषियोंको इस प्रकारकी • उत्पन्न हुई है—ब्राह्मणही खेठ वर्ण है • ।' 'हाँ भो !' 'जानते हैं आप, कि जवनी = माता ब्राह्मणहीके पास गई, अ-ब्राह्मणके पास नहीं ?' 'नहीं ।' 'जानते हैं आप, कि जवनी = माताकी माता सात पीढ़ी तक मातामहयुगल (= नानो) ब्राह्मणहीके पास गई, अ-ब्राह्मणके पास नहीं ?' 'नहीं भो !' 'जानते हैं आप कि जमिता = पिता • पितामह-युगल (= दादा) सातवीं पीढ़ी तक ब्राह्मणहीके पास गये, अ-ब्राह्मणहीके पास नहीं ?' 'नहीं भो !' 'जानते हैं आप, गर्भ कैसे ढहरता है ?' 'हाँ जानते हैं भो ! जब माता-पिता एकत्र होते हैं, माता ऋतुमती होती है, और गर्भर्व (= उत्पन्न होने वाला शरीर) उत्पन्न होता है; इस प्रकार तीनोंके एकत्रित होनेसे गर्भ ढहरता है ।' 'जानते हैं आप, कि वह गर्भर्व अस्थि होता है, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र होता है ?' 'नहीं भो ! हम नहीं जानते, कि वह गर्भर्व • ।' 'जब ऐसा (है) तब जानते हो कि तुम कौन हो ?' 'भो ! हम नहीं जानते हम कौन हैं ।'

'हे आश्रयायन ! असित देवस्य ऋषि-द्वारा जातिवादके निषेधमें पूछे जानेपर, "वह सातों ब्राह्मण ऋषि भी (उत्तर) न दे सके; हाँ फिर आप तुम "कदा (उत्तर) दोगे, (जब कि) अपनी सारी दण्डिताई-सहित तुम उनके रखोईदार (= दण्डिमाहक) (के समान) हो ।"

ऐसा कहने पर आश्रयायन माणवकने भगवान्से कहा—“आश्चर्य ! भो गौतम !! आश्चर्य ! भो गौतम !! •' जानते मुझे अंगलि-यह उपासक धारण करें ।"

६४—घोटमुख-सुत्तन्त (२।५।४)

चार प्रकारके पुरुष (आत्मन्तप...)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् उदयन वाराणसीमें खेमिय-अम्बवनमें विहार करते थे ।

उस समय घोटमुख ब्राह्मण किसी कामसे बनारस (वाराणसी) आया हुआ था । तब घोटमुख-ब्राह्मण जंवा-विहारके लिये घूमते टहलते जहाँ खेमिय-अम्बवन (= खेमिक-आम्रवन) था, वहाँ गया । उस समय आयुष्मान् उदयन सुली जगहमें टहल रहे थे ।

तब घोटमुख ब्राह्मण जहाँ आयुष्मान् उदयन थे, वहाँ गया; जाकर आयुष्मान् उदयनके साथ...संभोजन कर, आयुष्मान् उदयनके पीछे पीछे ० टहलते हुये यह बोला—

“अहो अमण ! मुझे ऐसा होता है—धार्मिक प्रज्ञाया (= संन्यास) नहीं है । आप जैसेकि अ-संन्यास (= न देखे जाने)से ही यह है; किन्तु जो धर्म यहाँ है (यही) हमारे लिये प्रमाण है ।”

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् उदयन चक्रम (= टहलनेके चक्रतरे)से उतर कर, विहार (= कोठरी)में प्रविष्ट हो पिछे आसनपर बैठे । घोटमुख ब्राह्मण भी विहारमें प्रविष्ट हो एक ओर खड़ा हो गया । एक ओर खड़े हुये घोटमुख ब्राह्मणके आयुष्मान् उदयनने यह कहा—

“ब्राह्मण ! आसन मीठ है, यदि इच्छा हो तो बैठो ।”

“आप उदयनकी इसी (आज्ञा)की प्रतीक्षामें हम नहीं बैठते थे । मेरे जैसा (पुरुष) बिना निमंत्रणके कैसे (स्वयं जाकर) आसन पर बैठ जायेगा ।”

तब घोटमुख (= योंही जैसा हुईवाला) ब्राह्मण एक नीचा आसन ले कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे घोटमुख ब्राह्मणने आयुष्मान् उदयनसे यह कहा—

“अहो अमण ! मुझे ऐसा होता है—० किन्तु जो धर्म यहाँ है, (यही) हमारे लिये प्रमाण है ।”

“ब्राह्मण ! यदि मेरी (कोई बात)को स्वीकरणीय समझना, तो स्वीकार करना, संबन्धीय समझना, तो संबन्ध करना । जिस मेरे कथनका अर्थ न समझना, उसे मुझसे ही पूछना—‘भो उदयन ! यह कैसे है, इसका क्या अर्थ है ?’—इस प्रकार हमारा यहाँ कथा-संलाप हो ।”

“आप उदयनकी स्वीकरणीय (बात)को स्वीकार करूँगा, संबन्धीयको संबन्ध करूँगा । आप उदयनकी जिस बातका अर्थ न समझूँगा, उसे आपसे ही पूछूँगा—‘हे उदयन यह कैसे है, इसका क्या अर्थ है ?’—इस प्रकार हमारा कथा-संलाप हो ।”

“ब्राह्मण ! लोकमें चार (प्रकारके) पुद्गल (= पुरुष) विद्यमान हैं । कौनसे चार ?— ब्राह्मण ! (१) यहाँ कई पुद्गल आत्मन्तप अपनेको संताप देनेवाले कामोंमें लगा होता है; (२)

० परितप ०^१ ; (३) ० आत्मतप-परतप ० ; (४) ० न-आत्मतप-न-परतप ०^२ सुखानुन्वी
ब्रह्मभूत (= विमुक्त)-आत्मासे विहरता है । ब्राह्मण ! इस चार पुद्गलोंमें कौन सा तुम्हारे चित्त-
को परमन्द आता है ?”

“मो उदयन ! ०^३ जो वह अनात्मतप-अपरतप ० पुद्गल है, वह ० मुझे परमन्द है ।”

“ब्राह्मण ! क्यों वह तीन पुद्गल तुम्हारे चित्तको परमन्द नहीं है ?”

“मो उदयन ! ०^४ (जो) ब्रह्मभूत आत्मासे विहरता है, ० वह पुद्गल मेरे चित्तको
परमन्द आता है ।”

“ब्राह्मण ! यह दो (प्रकारकी) परिषद् होती है । कौन सी दो ?—(१) ब्राह्मण !
यहाँ एक परिषद् मणि-कुण्डलमें सारस्व (= धन आदि)में रक्त (= अतुरक्त) होती है, पुत्र-
भार्या चाहती है, दास-दासी ०, क्षेत्र-वास्तु (= भित्त-मकान) ०, सोना-चाँदी चाहती है । और
(२) ब्राह्मण ! यहाँ एक परिषद् मणि-कुण्डलोंके विषयमें, सारस्वमें नहीं रक्त होती, पुत्रभार्या
छोप ० सोना-चाँदी छोड़ धरसे वे धन दो प्रमजित हुई हैं । ब्राह्मण ! जो यह पुद्गल न आत्मतप
०, न परतप ०, न-आत्मतप-न-परतप ० है, वह अनात्मतप-अपरतप पुद्गल इसी जन्ममें शांत,
निर्वाण-प्राप्त, शीतल (= स्वभाव) सुखानुन्वी, ब्रह्मभूत आत्मासे विहरता है । ब्राह्मण ! इस पुद्गल-
को मू किस परिषद् (= मंडल)में अधिक देखता है ? जो यह सारस्वमें रक्त होती है ०; उसमें;
या जो कि ० सारस्वमें नहीं रक्त होती ० उसमें ?”

“मो उदयन ! जो यह पुद्गल ० अनात्मतप-अपरतप है ०, उसको इस परिषद्में अधिक
देखता हूँ, जो कि ० सारस्वमें रक्त नहीं होती, ० बेधर हो प्रमजित हुई है ।”

“ब्राह्मण ! अभी पूरे कहा था, इस ऐसा जानते हैं—अबो अमन ! मुझे ऐसा होता है ०^५ ?”

“तो मो उदयन ! मैंने शरीर प्रात कहो, ‘है धार्मिक प्रकट्या’—ऐसा मुझे होता है, ऐसा
मुझे आप उदयन समझे । आप उदयनसे जो यह चार पुद्गल, विस्तारसे न विमजित कर संक्षेपसे
कहें, अच्छा हो आप उदयन कृपाकर उन चारों पुद्गलोंको मुझे विस्तारसे कहें ।”

“तो ब्राह्मण ! सुनो अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा मो !”—(कह) शीघ्रमुक्त ब्राह्मणने आशुष्मान् उदयनको उत्तर दिया ।

आशुष्मान् उदयनने यह कहा—“ब्राह्मण ! कौनसा पुद्गल आत्मतप, अपनेको सत्तावेवाले
कार्यमें लग्न है—ब्राह्मण ! यहाँ कोई पुद्गल ! अचेलक ०^६ ऐसे अनेक प्रकारसे कत्पाके जा-
तापन परितापनके व्यापारमें लग्न हो विहरता है । ब्राह्मण ! यह पुद्गल आत्मतप ० कहा जाता है ।

“ब्राह्मण ! कौनसा पुद्गल परतप ० है ?—ब्राह्मण ! यहाँ कोई पुद्गल औरभ्रिक (= भेद
मारनेवाला) ०^७ दूसरे कर व्यवसाय है (उनका करनेवाला होता है) ०^८ ।

“ब्राह्मण ! कौनसा पुद्गल आत्मतप-परतप ० है ?—यहाँ कोई पुरुष नृपौमिषिक अविषय
राजा होता है ०^९ इसके दास ०^{१०} मो ०^{११} होते कार्योंको करते हैं । ०^{१२} ।

“ब्राह्मण ! कौनसा पुद्गल अनात्मतप-अपरतप ० है ?—ब्राह्मण ! यहाँ लोकमें लयागत
०^{१३} चतुर्थध्यानको प्राप्त हो विहरता है । सो वह इस प्रकार चित्तके एकाम परिमुक्त ०^{१४} अब

^१ देखो पृष्ठ ४८, २०६-७ ।

^२ देखो पृष्ठ २०६ ।

^३ देखो पृष्ठ ५४-५५ ।

^४ देखो पृष्ठ २०६-७ ।

^५ देखो पृष्ठ २०७ ।

^६ देखो पृष्ठ १५८ ।

^७ देखो पृष्ठ १५-१६ (नाकमें कटव पुरुषके स्थानमें प्रथम पुरुष काके) ।

यहाँ करनेके लिये कुछ धोष नहीं है'—यह जान लेता है। ब्राह्मण ! यह कहा जाता है अनात्मतप-
छपरंतप ० पुद्गल ० ।"

ऐसा कहनेपर घोटमुख ब्राह्मणने आयुष्मान् उदयनसे यह कहा—

"आधर्य ! भो उदयन ! आधर्य भो उदयन ! जैसे औधेको सीधा करदे ० * ऐसे ही आप उदयनने अनेक प्रकारसे धर्मको प्रकाशित किया, यह मैं आप उदयनकी शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। आजसे आप उदयन मुझे अंगलियद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

"अत ए ब्राह्मण ! मेरी शरण जा, उसी भगवान्की ए मी शरण जा, जिसकी शरण मैं गया हूँ ।"

"भो उदयन ! यह भगवान् जहाँरु सम्मन्-संबुद्ध कहीं विहार कर रहे हैं ?" ० * तो निर्वाण प्राप्त भी उन भगवान्की हम शरण जाते हैं, धर्म और भिक्षु-संघकी भी। आजसे आप उदयन मुझे अंगलियद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।

"भो उदयन ! मुझे अंग-राजा दैनिक नित्य मित्रा देता है, उनमेंसे मैं आप उदयनकी एक नित्य मित्रा देता हूँ।"

"ब्राह्मण ! अंग-राजा मुझे क्या दैनिक नित्य-मित्रा देता है ?"

"भो उदयन ! पाँच सौ कार्पाण (= कदापण, एक सिक्का) ।"

"ब्राह्मण ! हमारे लिये सोना-चाँदी ग्रहण करना कल्प (= विरतिहित) नहीं है।"

"यदि वह आप उदयनको कल्प नहीं है, तो आप उदयनके लिये, विहार (= निवास-स्थान) बनवाईगा।"

"यदि ब्राह्मण ! तु मेरे लिये विहार बनवाना चाहता है, तो पाटलिपुत्र (= पटना) में संघकी उपस्थान-शाला (= समागृह) बनवा दे।"

"आप उदयनके इस (कथन) से मैं और भी सन्तुष्ट, प्रसन्न हुआ, जो कि आप उदयन मुझे संघको दान देनेके लिये कहते हैं। सो मैं भो उदयन ! इस नित्य-मित्रा और दूसरी नित्य-मित्रासे पाटलिपुत्रमें संघकेलिये उपस्थान-शाला बनवाईगा।"

तब घोटमुख ब्राह्मणने इस नित्य-मित्रा और दूसरी नित्य-मित्रासे पाटलिपुत्रमें संघके लिये उपस्थान-शाला बनवाई; जो आज भी घोटमुखी कही जाती है।

६५—चंकिमुत्तन्त (२।५।५)

उड़ने पुन । प्राङ्गणोंके नेद और उनके कतों । सत्यकी रक्षा और आधिक उपाय

ऐसा मैंने सुना—

एक समय महा-मिथुसंघके साथ भगवान् कोसलमें चारिका करते जहाँ ओपसाद् नामक कोसलोंका ब्राह्मण-ग्राम था वहाँ पहुँचे । वहाँ भगवान् ओपसाद्से उत्तर देववन (नामक) शाल-वनमें विहार करते थे ।

उस समय चंकि ब्राह्मण, जनाकीर्ण, सुज-काष्ठ-उद्दक-धान्य-सम्पन्न, राजभोग्य, राजा प्रसेनजित् कोसलद्वारा प्रदत्त, राज-वापन, ब्रह्मदेव, ओपसाद्का स्वामी हो, वास करता था ।

ओपसाद्वासी ब्राह्मणोंने सुना—शाक्य-कुलसे प्रसजित शाक्य-पुत्र अमण गौतम कोसलमें चारिका करते, महा-मिथु-संघके साथ ओपसाद्में पहुँचे हैं, और ओपसाद्में, ओपसाद्से उत्तर देववन शाल-वनमें विहार करते हैं । उन भगवान् गौतमका ऐसा मंगल कीर्तिकण्ड् डठा हुआ है ० 'परिक्षुद्र' ब्राह्मणचर्च प्रकाशित करते हैं, इस प्रकारके अर्थतोंका दर्शन अच्छा होता है ।

तब ओपसाद्-वासी ब्राह्मण-गृहस्थ ओपसाद्से निकलकर, कुण्डके कुण्ड उत्तर सुँहकी ओर जहाँ देववन शालवन था, उत्तर जाते लगे । उस समय चंकि ब्राह्मण, दिनेके शयनके लिये प्रासाद्-के ऊपर गया हुआ था चंकि ब्राह्मणने देखा कि ओपसाद्-वासी ब्राह्मण-गृहस्थ उत्तर सुँहकी ओर ० उत्तर जा रहे हैं । देखकर क्षत्ता (= महामात्य) को संबोधित किया—

"क्या है, ई क्षत्ता ! (कि) ओपसाद्-वासी ब्राह्मण-गृहस्थ ० जहाँ देववन शाल-वन है, उत्तर जा रहे हैं ।"

"हे चंकि ! शाक्य कुलसे प्रसजित शाक्य-पुत्र, अमण गौतम कोसलमें चारिका करते महामिथु-संघके साथ ० देववन शालवनमें विहार कर रहे हैं । उन भगवान् गौतमका ऐसा मंगलकीर्ति-शब्द डठा हुआ है ० । उन्हीं भगवान् गौतमके दर्शनके लिये जा रहे हैं ।"

"तो क्षत्ता ! जहाँ ओपसाद्क ब्राह्मण-गृहपति हैं, वहाँ जाओ । जाकर ओपसाद्क ब्राह्मण गृहपतिघोसे ऐसा कहो—'चंकि ब्राह्मण ऐसा कह रहा है—'थोड़ी देर आप तब ठहरें, चंकि ब्राह्मण-भी अमण गौतमके दर्शनार्थ जायेगा' ।"

चंकि ब्राह्मणसे "अच्छा सो !" कह, वह क्षत्ता जहाँ ओपसाद्क ब्राह्मण थे वहाँ गया । जाकर ० बोला—

"चंकि ब्राह्मण ऐसा कह रहा है—'थोड़ी देर आप तब ठहरें, चंकि ब्राह्मण भी अमण गौतमके दर्शनार्थ जायेगा' ।"

* देखी पृष्ठ १५८ ।

उस समय नाना देशोंके पाँच सौ ब्राह्मण किसी कामसे ओपसादमें वास करते थे। उन ब्राह्मणोंने सुना कि चंकि ब्राह्मण भ्रमण गौतमके दर्शनार्थ जानेवाला है। तब वह ब्राह्मण जहाँ चंकि ब्राह्मण था, वहाँ गये। जाकर चंकि ब्राह्मणसे बोले—

“सचमुच आप चंकि भ्रमण गौतमके दर्शनार्थ जानेवाले हैं ?”

“हाँ मो ! मुझे यह हो रहा है, मैं भी भ्रमण गौतमके दर्शनार्थ जाऊँ ।”

“आप चंकि ! गौतमके दर्शनार्थ मत जायें। आपको भ्रमण गौतमके दर्शनार्थ जाना उचित नहीं है। भ्रमण गौतमको ही आप चंकिके दर्शनार्थ जाना योग्य है। आप चंकि दोनों ओरसे सुजात (=कूर्जीन) हैं, मातासे भी, पितासे भी, पितानह-सुगलकी सख्त पीढ़ियों तक, जाति-वादसे बहिस्त = अन्-उपनिष्ठ (=अ-भिन्दिष्ट) हैं। जो आप चंकि दोनों ओरसे सुजात हैं ०; इस कारणसे भी आप चंकि भ्रमण गौतमके दर्शनार्थ जानेके योग्य नहीं हैं। भ्रमण गौतम ही आप चंकिके दर्शनार्थ जाने योग्य है। आप चंकि आर्य, महाधनी, अहामोगवाले हैं; इस अंगसे भी ०। आप चंकि ० तीनों जेदोंके पारंगत ०। आप चंकि अनिरूप = दर्शनीय = प्रासादिक, परम-वर्ण-सुन्दरतासे युक्त, ब्राह्मणवाले, ब्राह्मणचर्यवी, दर्शनके लिये अल्प भी अवकाश न रखनेवाले ०। आप चंकि बौद्धवात् बृहत्सौली (= बड़ी हुई ओलवाले) बृहत्सौलीसे युक्त हैं ०। आप चंकि कल्याण-वचन बोलनेवाले = कल्याण-नाककरण = पौर (= सामरिक, सम्य) वाणीसे युक्त... ०। आप चंकि बहुतोंके आचार्य-प्राचार्य हैं, तीन सौ साधवकोंको मंत्र पढ़ाते हैं ०। आप चंकि राजा प्रसेनजित् कोसलसे सत्कृत = गुरुकृत = मानित, पुजित = अपचित हैं। आप चंकि पौष्करसाति ब्राह्मणसे ० हैं। आप चंकि ० ओपसादके स्वामी हो बसते हैं। इस अंगसे भी आप चंकि भ्रमण गौतम के दर्शनार्थ जाने योग्य नहीं हैं। भ्रमण गौतम ही आप चंकिके दर्शनार्थ जाने योग्य है।”

“तो मो ! मेरी भी सुनो—(कैसे) हमों भ्रमण गौतमके दर्शनार्थ जाने योग्य हैं, वह आप भ्रमण गौतम हमारे दर्शनार्थ जाने योग्य नहीं हैं। मो ! भ्रमण गौतम दोनों ओरसे सुजात हैं ०; इस अंगसे भी हमों भ्रमण गौतमके दर्शनार्थ जाने योग्य हैं, आप भ्रमण गौतम हमारे दर्शनार्थ जाने योग्य नहीं हैं। भ्रमण गौतम बहुत सा सुमित्र और भाकाशस्य हिरण्य सुवर्ण लोह-कार, प्रव्रजित हुये हैं ०। भ्रमण गौतम बहुत काले केशवाले, भद्रदीपनसे संयुक्त, अतितरुण, प्रथम वयसमें ही घरसे बेघर हो, प्रव्रजित हुये ०। भ्रमण गौतम माता-पिताको अनिष्टक अशुभमुख होते हुये, (लोह), गिर-वादी सुँवाकर, काषाण-वस्त्र पहिन, घरसे बेघर हो प्रव्रजित हुये ०। भ्रमण गौतम अनिरूप = दर्शनीय ० ब्राह्मणचर्यवी, दर्शनके लिये अल्प भी अवकाश न रखनेवाले ०। भ्रमण गौतम बौद्धवात् ०। भ्रमण गौतम कल्याण-वचन बोलनेवाले ०। भ्रमण गौतम बहुतोंके आचार्य-प्राचार्य हैं ०। ० काम-राम-विहीन ०। प्रपंच-रहित ०। भ्रमण गौतम कर्मवादी, क्रिया-वादी, ब्राह्मण-संतानके विध्याप अग्रणी हैं ०। भ्रमण गौतम अदीन-अधिव-कुल, उच्च-कुलसे प्रव्रजित हुये ०। ० महाधनी, महाभोगवात् आर्य-कुलसे प्रव्रजित हुये ०। भ्रमण गौतमको देश-के बाहरसे, राष्ट्रके बाहरसे भी (लोग) पूजनेकी आते हैं ०। भ्रमण गौतमकी अनेक सहस्र देवता (अपने) प्राणोंसे शरणागत हुये हैं ०। भ्रमण गौतमका ऐसा मंगल कीर्ति-शब्द उठा हुआ है ०। ०। भ्रमण गौतम पचीस महापुरुष-लक्षणोंसे युक्त हैं ०। भ्रमण गौतमकी राजा मागध श्रेणिक विम्बसार पुत्र-दार-रहित... ब्राह्मण पौष्कर-साति ०। ०। भ्रमण गौतम मो ! ओपसादमें प्राप्त हुये हैं, ओपसादमें ० देवत्व सालवनमें विहार कर रहे हैं। जो कोई भ्रमण या ब्राह्मण हमारे गाँव-जेतमें आते हैं, वह अतिथि होते हैं। अतिथि सत्करणीय = सुकरणीय = माननीय = पूजनीय है। चंकि मो ! भ्रमण गौतम ओपसादमें प्राप्त हुये ०। (मतः) हमारे अतिथि हैं।

अमण गौतम अतिथि हो हमारे सम्पर्णीय ० । इस अंगसे भी । इतना ही भो ! मैं उन आप गौतमका गुण कहता हूँ, लेकिन वह आप गौतम इतनेही गुणवाले नहीं हैं । वह आप गौतम अपरिमाण-गुणवाले हैं । एक एक अंगसे भी युक्त होनेपर, आप अमण गौतम हमारे दर्शन करनेके लिये जाने योग्य नहीं हैं, बल्कि हमीं उन आप गौतमके दर्शनार्थ जाने योग्य हैं । इसलिये हम सभी अमण गौतमके दर्शनार्थ चले ।”

तब चंकि ब्राह्मण महात्मा ब्राह्मणोंके गणके साथ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान्के साथ “संभोजन कर” एक ओर बैठ गया । उस समय भगवान् बृह बृह ब्राह्मणोंके साथ कुछ (बात करते) बैठे हुये थे ।

उस समय कापथिक नामक सत्त्व, मुण्डित-शिर, जन्मसे सौलह वर्षका, “तीनों वेदोंका चारंगत मानवक परिपक्वमें पैदा था । वह बड़े बड़े ब्राह्मणोंके भगवान्के साथ बातचीत करते समय, बीच बीचमें बोल उठता था । तब भगवान्ने कापथिक मानवकको मना किया ।

“आयुष्मान् भारद्वाज ! बड़े बड़े ब्राह्मणोंके बात करनेमें बात मत डालो । आयुष्मान् भारद्वाज ! क्या समाप्त होने दो !”

(भगवान्के) ऐसा कहने पर चंकि ब्राह्मणने भगवान्से कहा—

“आप गौतम कापथिक मानवकको मत रोकें, कापथिक मानवक कुछ-कुछ (= कुलीन) है०, बहुश्रुत है ०, सुवक्ता ०, पंडित ० । कापथिक मानवक आप गौतमके साथ इस बातमें वाद कर सकता है ।”

तब भगवान्को हुआ—अवश्य कापथिक मानवककी कथा त्रिवेद-प्रवचन (= वेदाध्ययन) सम्बन्धी होगी, जिससे कि ब्राह्मण इसे आगे कर रहे हैं । उस समय कापथिक मानवकको (विचार) हुआ—“जब अमण गौतम मेरी आज्ञाकी ओर आज्ञा लायेगा, तब मैं अमण गौतमसे प्रश्न पूछूँगा” । तब भगवान्ने (अपने) वित्तसे कापथिक मानवकके चित्त-वित्तर्षको जानकर, विधर कापथिक मानवक था, उधर (जपनी) जॉल फेरी । तब कापथिक मानवकको हुआ—“अमण गौतम मुझे देख रहा है, क्यों न मैं अमण गौतमसे प्रश्न पूछूँ ?” तब कापथिक मानवकने भगवान्से कहा—

“भो गौतम ! जो यह ब्राह्मणोंका पुराना मंत्रपत्र (= वेद) इस परम्परासे, पिटक (= वचन समूह)-सम्प्रदायसे है । उसमें ब्राह्मण पूर्ण रूपसे निष्ठा (= अन्धा) रखते हैं—‘यही सत्य है, और सच है’ । इस विषयमें आप गौतम क्या कहते हैं ?”

“क्या भारद्वाज ! ब्राह्मणोंमें एक भी ब्राह्मण है, जो कहे—मैं इसे जानता हूँ, इसे देखता हूँ, यही सच है, और सच है ?”

“नहीं, हे गौतम !”

“क्या भारद्वाज ! ब्राह्मणोंका एक आचार्य भी ०, एक आचार्य-प्राचार्य भी, परमाचार्योंकी सात पीढ़ी तक भी ० । ब्राह्मणोंके पूर्वज ऋषि, ० अहक, चामक ०, उन्होंने भी क्या कहा—‘इस हस्तकी जानते हैं, हम इसको देखते हैं, यही सच है और सच है ?’

“नहीं, हे गौतम !”

* म. क. “(अहक आदि ऋषियोंने) दिव्य-बलसे देखकर भगवान् काश्यप सम्मन्त-सुन्दरके वचनके साम मिलकर, मंत्रोंको पर-विज्ञान-द्वारा, प्रेषित किया था । उसमें दूसरे ब्राह्मणोंने प्राणि-विज्ञान आदि वाक्यकी तीन वेद बना, बृह-वचनसे विरक्त कर दिया ।”

“इस प्रकार भारद्वाज ! ब्राह्मणोंमें एक भी ब्राह्मण नहीं है, जो कहे ०।०। जैसे भारद्वाज ! अंध-नेत्र-परंपरा (= अंधोंकी लकड़ीका सौता) लगी हो, पहिलेवाला भी नहीं देखता, बीचका भी नहीं देखता, पिछला भी नहीं देखता। ऐसेही भारद्वाज ! ब्राह्मणोंका कथन अंध-वेणु (= अंधेकी लकड़ी) के समान है, पहिलेवाला भी नहीं देखता, बीचका भी नहीं देखता, पिछला भी नहीं देखता। तो क्या मानते हो, भारद्वाज ! क्या ऐसा होनेपर ब्राह्मणों की अद्वा धन-मूलक नहीं होजाती ?”

“हे गौतम ! नहीं, ब्राह्मण अद्वाहीकी उपासना नहीं करते, अनुभव (= सुति) की भी उपासना करते हैं।”

“पहिले भारद्वाज ! श्रद्धा (= निष्ठ) पर पहुँचा था, अब अनुभव कहता है। भारद्वाज ! यह पाँच धर्म इसी जन्ममें दो प्रकारके विपाक (= फल) देनेवाले हैं। कौनसे पाँच ? (१) श्रद्धा, (२) रुचि, (३) अनुभव, (४) आकार-परिवर्तक, (५) दृष्टि-निष्ठापना (= द्विदिनिष्ठापन)। भारद्वाज ! यह पाँच धर्म इसी जन्ममें दो प्रकारके विपाक देनेवाले हैं। भारद्वाज ! सुन्दर-तौरसे श्रद्धा किया भी रिक्त = तुच्छ और शुष्क हो सकता है, सुश्रद्धा न किया भी वधार्थ = तथ्य = अनन्वया हो सकता है। सुरुचि किया भी ०। सु-अनुभव किया भी ०। सु-परिवर्तक किया भी। सु-निष्ठापन किया भी ०। रिक्त = तुच्छ और शुष्क हो सकता है। सु-निष्ठापन न किया भी वधार्थ = तथ्य = अनन्वया हो सकता है। भारद्वाज ! सत्यानुरक्षण विज्ञ पुरुषको यहाँ एकांशसे (सोलहो आना) निष्ठा करना योग्य नहीं है, कि—‘यही सत्य है, और यही श्रद्धा है।’

“हे गौतम ! सत्यानुरक्षा (= सत्यकी रक्षा) कैसे होती है ? सत्यका अनुरक्षण कैसे किया जाता है, हम आप गौतमसे सत्यानुरक्षण पूछते हैं ?”

“भारद्वाज ! पुरुषको यदि श्रद्धा होती है ‘यह मेरी श्रद्धा है’, कहते सत्यकी अनुरक्षा करता है। किन्तु यहाँ एकांशसे निष्ठा नहीं करता—‘यही सत्य है और (सत्य) श्रद्धा।’ भारद्वाज ! यदि पुरुषको रुचि होती है। ‘यह मेरी रुचि है’ कहते सत्यकी अनुरक्षा करता है। किन्तु यहाँ एकांशसे निष्ठा नहीं करता—‘यदि सत्य है, और श्रद्धा।’

“भारद्वाज ! यदि पुरुषको अनुभव होता है। ‘यह मेरा अनुभव है’ कहते सत्यकी अनुरक्षा करता है। किन्तु यहाँ एकांशसे निष्ठा नहीं करता—‘यही सत्य है, और श्रद्धा।’ भारद्वाज ! यदि पुरुषको आकार-परिवर्तक होता है। ‘यह मेरा आकार-परिवर्तक है’ कहते सत्यकी अनुरक्षा करता है; किन्तु यहाँ एकांशसे निष्ठा नहीं करता—‘यही सत्य है, और श्रद्धा।’ भारद्वाज ! यदि पुरुषको दृष्टि-निष्ठापना होता है; ‘यह मेरा दृष्टि-निष्ठापना’ कहते सत्यकी अनुरक्षा करता है। किन्तु यहाँ एकांशसे निष्ठा नहीं करता ‘यही सत्य है और श्रद्धा।’ इतने से भारद्वाज सत्य-अनुरक्षण होता है। इतनेसे सत्यकी अनुरक्षा की जाती है। इतनेसे हम सत्यका अनुरक्षण (= रक्षण) प्रज्ञापित करते हैं; किन्तु (इतनेसे) सत्यका अनुसंधान (= बोध) नहीं होता।”

“मो गौतम ! इतनेसे सत्यानुरक्षण होता है, इतनेसे सत्यकी अनुरक्षाकी जाती है; इतने से सत्यका रक्षण हम भी देखते हैं। हे गौतम ! सत्यका बोध कितनेसे होता है, कितनेसे (घर) सच बूझता है ? मो गौतम ! हम इसे आपसे पूछते हैं।”

“भारद्वाज ! निष्ठु किसी घ्रात या त्रिगमको आश्रय कर विहरता है। (कोई) गृहपति (= गृहस्थ) या गृहपति-पुत्र जाकर खोम, द्वेप, मोह (इन) तीन धर्मोंके विषयमें उसकी परीक्षा करता है—‘क्या इस आयुष्मानको वैसा क्षोभणीय धर्म (= बात) है, जिस प्रकारके

छोम-सम्बन्धी धर्मोंके कारण न जानते 'जाबता हूँ' कहें; न देखते 'देखता हूँ' कहें। या वैसा उपदेश करें, जो दूसरोंके लिये दीर्घकाल तक अहित और दुःखके लिये हो। इस आयुष्मान्का काय-समाधार (= कायिक-आचरण) (और) वचन-समाधार (= वाचिक-आचरण) वैसा है, जैसा कि अलोमीका। (या) यह आयुष्मान् जिस धर्मका उपदेश करते हैं (क्या) वह धर्म गंभीर, दुर्लभ = दुर्लभ, शीत, प्रणीत (= उत्तम), अतर्कान्वर (= तर्कसे अप्राप्य) निपुण = पंडित वेदनीय है ? वह धर्म छोमी-द्वारा उपदेश करना सुगम (तो) नहीं है ?"

"जब ओगते हुये छोम-सम्बन्धी धर्मोंसे (उसे) विमुक्त पाता है। तब जाने होम-सम्बन्धी धर्मोंके विषयमें उसको परीक्षा करता है—'क्या इस आयुष्मान्को वैसा होम-सम्बन्धी धर्म है ०; वह धर्म, होमी द्वारा उपदेश करना (तो) सुगम नहीं ?"

"जब परीक्षा करते हुये, होम-सम्बन्धी धर्मोंसे उसे विमुक्त पाता है। तब जाने मोह-सम्बन्धी धर्मोंके विषयमें उसको टोळता है—'क्या इस आयुष्मान्को वैसा मोह-सम्बन्धी धर्म तो है ०, यह धर्म ०, मोही (= मूढ़) द्वारा उपदेश करना सुगम (तो) नहीं ?"

"जब टोळते हुये उसे सोमनीय, होमनीय, मोहनीय धर्मोंसे विमुक्त पाता है; तब उसमें अज्ञा स्थापित करता है। अज्ञावान् हो पास जाता है, पास जाके परि-उपासन (= सेवन) करता है। पशुपासना करके कान लगाता है, कान लगाके धर्म सुनता है। सुनकर धर्मको धारण करता है। धारण किये हुये धर्मोंके अर्थकी परीक्षा करता है। अर्थकी परीक्षा करके धर्म ध्यान करने लायक होते हैं। धर्मके निष्पान(ध्यान) योग्य होनेसे स्मृति रुचि (= रुचि) उत्पन्न होती है। रुचिवाला (= रुचिवाला) उत्साह (= प्रयत्न) करता है। उत्साह करते उत्थान (= सोलन) करता है। सोलन करते पराक्रम (= पढ़न) करता है। परीक्षी हो, इसी क्रियासे ही परम-सत्यका साक्षात्कार (= दर्शन) करता है, प्रज्ञासे उसे बेधकर देखाता है। इतनेसे भावज्ञान ! सत्य-बोध होता है, इतनेसे सत्य ब्रह्मा है। इतनेसे हम सत्य-अनुबोध पतलाते हैं, किन्तु (इतनेसे) सत्य-अनुपत्ति नहीं होती।"

"हे गौतम ! इतनेसे सत्यानुबोध होता है, इतनेसे सत्य ब्रह्मा है, इतनेसे हमारी सत्यानुबोध देखते हैं। परन्तु हे गौतम ! सत्य-अनुपत्ति कितनेसे होती है, कितनेसे सत्यको पाता है, हम आप गौतमसे सत्यानुपत्ति (= सत्य-प्राप्ति) पूछते हैं ?"

"भास्वज ! उन्हीं धर्मोंके सेवने, भावना करने, पढ़ानेसे सत्य-प्राप्ति होती है। इतनेसे भास्वज सत्य-प्राप्ति होती है, सत्यको पाता है, इतनेसे हम सत्य-प्राप्ति पतलाते हैं।"

"इतनेसे हे गौतम ! सत्य-प्राप्ति होती है ० हम भी इतनेसे सत्य-प्राप्ति देखते हैं। हे गौतम ! सत्य-प्राप्तिका कौन धर्म अधिक उपकारी (= बहुकारी) है, सत्य-प्राप्तिके लिये अधिक उपकारी धर्मको हम आप गौतमसे पूछते हैं।"

"भास्वज ! सत्य-प्राप्तिका बहुकारी धर्म 'प्रधान' है। यदि प्रधान (= प्रयत्न) न करे, तो सत्यको (भी) प्राप्त न करे। चूंकि 'प्रधान' करता है, इसीलिये सत्यको पाता है, इसलिये सत्य-प्राप्तिके लिये बहुकारी धर्म 'प्रधान' है।"

"प्रधानके लिये हे गौतम ! कौन धर्म बहुकारी है। प्रधानके बहुकारी धर्मको हम आप गौतमसे पूछते हैं ?"

"भास्वज ! प्रधानका बहुकारी उत्थान है, यदि उत्थान (= उद्योग) न करे, तो प्रधान नहीं कर सकता। चूंकि उत्थान करता है, इसलिये प्रधान करता है। इसलिये उत्थान प्रधानका बहुकारी है।"

"०।० उत्साह उत्थान (= तुलना) का बहुकारी।" "०।० छन्द उत्साहका०।" "०।० धम्म-निष्पन्नकथ (= धर्म-निष्पन्नकथ) छन्दका०।" "अर्थ-उपपरीक्षा (= अर्थका परीक्षण) धर्म-निष्पन्नकथका०।" "०।० धर्म-धारणा०।" "धर्म-अवग०।" "०।० कान लगाना (= श्रोत्र-अवधान)०।" "धर्म-पासन (= सेवा)०।" "०।० पास जाना०।" "०।० अद्वा०।"

"सत्य-अनुक्षणको हमने आप गौतमसे पूछा। आप गौतमने सत्यानुक्षण हमें बतलाया, वह हमें रुचता भी है, = समता भी है। उससे हम सन्तुष्ट हैं। सत्य-अनुबोध (= सत्यको बूझना) को हमने आप गौतमसे पूछा। ०।० सत्य-प्राप्ति ०।०। सत्य-प्राप्तिके बहुकारी धर्मको हमने आप गौतमसे पूछा। सत्य-प्राप्तिके बहुकारी धर्मको आप गौतमने बतलाया। वह हमें रुचता भी है = समता भी है। उससे हम सन्तुष्ट हैं। जिस किसीको हमने आप गौतमसे पूछा, उस उसीको आप गौतमने (हमें) बतलाया। और वह हमको रुचता भी है = समता भी है। उससे हम सन्तुष्ट हैं।

"हे गौतम ! पहिले हम ऐसा जानते थे, कहीं दुःख (= नीच), काटे, मझाके पैरसे उत्पन्न (= शूद्र), मुँडक-अभ्रमण, और कहीं धर्मका जानना। आप गौतमने मुझमें... अभ्रमण-प्रेम = अभ्रमण-प्रसाद०। आजसे आप गौतम मुझे अंजलिबद्ध शरणागत वपासक धारण करें।"

६६—कामुकारि-सुचन्त (२।१।६)

अणुवचनवाक्य आख्यान

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आपत्तीमें अनाथपिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब कामुकारि ब्राह्मण जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान् के साथ "संमोदन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठे कामुकारि (= ब्राह्मणकारि) ब्राह्मणने भगवान् से यह कहा—

"भो गौतम ! ब्राह्मण चार (प्रकारकी) परिचर्या (= सेवार्थ) बतलाते हैं—ब्राह्मणकी परिचर्या बतलाते हैं, क्षत्रियकी परिचर्या ०, वैश्यकी परिचर्या ०, और शूद्रकी परिचर्या । वहाँ भो गौतम ! ब्राह्मण ब्राह्मणकी परिचर्या इस प्रकार कहते हैं—ब्राह्मणका परिचरण (= सेवा) करे, क्षत्रिय ब्राह्मणका परिचरण करे, वैश्य ब्राह्मणका परिचरण करे, शूद्र ब्राह्मणका परिचरण करे" । वहाँ, भो गौतम ! ब्राह्मण क्षत्रियकी परिचर्या इस प्रकार कहते हैं—क्षत्रिय क्षत्रियको परिचरण करे, वैश्य ०, और शूद्र क्षत्रियको परिचरण करे" । वहाँ, भो गौतम ! ब्राह्मण वैश्यकी परिचर्या इस प्रकार बतलाते हैं—वैश्य वैश्यको परिचरण करे, और शूद्र वैश्यको परिचरण करे" । "भो गौतम ! ब्राह्मण शूद्रकी परिचर्या इस प्रकार बतलाते हैं—शूद्र ही शूद्रको परिचरण करे—, यह भो गौतम ! ब्राह्मण शूद्रकी परिचर्या बतलाते हैं । भो गौतम ! ब्राह्मण यह चार (प्रकारकी) परिचर्या बतलाते हैं इस विषयमें आप गौतम क्या कहते हैं ?"

"क्या ब्राह्मण ! सारी दुनियाँ (= लोक) ब्राह्मणोंको इसके लिये अनुज्ञा देती है; कि इन चारों परिचर्याओंको वह प्रज्ञापन करे ?"—"नहीं, भो गौतम !"

"जैसे, ब्राह्मण ! कोई अ-स्वक = अन-आप, द्रिष्ट पुरुष हो; अनिच्छु होते भी उसके लिये एक घाँटी (भाग) कना हो जाय—हे पुरुष ! यह तुम्हारे खानेके लिये आस है और (इसका) मूल्य देना; इसी प्रकार ब्राह्मण ! (अन्य संसारके) अमण-ब्राह्मणोंकी अनुज्ञाके बिना ही (स्वामता) ब्राह्मणोंका इन चार परिचर्याओंको प्रज्ञापन करते हैं । ब्राह्मण ! न मैं सभी परिचर्याओंको परिचरणीय (= सेवनीय) कहता हूँ, नहीं मैं सभीको अ-परिचरणीय कहता हूँ । ब्राह्मण ! जिसको परिचरण करते (जिस) परिचर्याके हेतु अहित (= पापीय) होता है, हित (= श्रेय) (कर्म) नहीं होता, उसे मैं परिचरणीय नहीं कहता । जिसको परिचरण करते, (जिस) परिचर्याके हेतु हित होता है, अहित नहीं, उसे मैं परिचरणीय कहता हूँ । ब्राह्मण ! क्षत्रियकी भी पूर्ण—जिसको परिचरण करते (जिस) परिचर्याके हेतु तेरे लिये अहित होता है, हित न हो, और जिसको परिचरण करते (जिस) परिचर्याके हेतु तेरे लिये हित होता है, अहित नहीं; (इन दोनों) में किसे तू परिचरण करेगा ?—तो ब्राह्मण ! क्षत्रिय भी ठीकसे उत्तर देते यही उत्तर देगा—जिसको परिचरण करते, (जिस) परिचर्याके हेतु हित होता है, अच्छा नहीं, उसे मैं नहीं परिचरण करूँगा, और जिसको परिचरण करते (जिस) परिचर्याके हेतु हित होता है, अहित नहीं, उसे मैं परिचरण

कहेगा । बाह्य ! बाह्यसे भी पूछें—० । ० वैश्यसे भी पूछें—० । ० शूद्रसे भी पूछें—० ।

(१) "बाह्य ! मैं उस कुलीनताको श्रेय-हित (अच्छी) नहीं बतलाता, न मैं उस कुलीनताको पापीय (= अहित-बुरी) बतलाता हूँ । (२) बाह्य ! मैं उदार वर्णता (= ऊँचे वर्णका होना, या अच्छे रंगका होना, को श्रेय नहीं बतलाता, न मैं उदार वर्णताको पापीय बतलाता हूँ । (३) बाह्य ! मैं उदार-मोगता (= बहुत धन-पान्थ सम्पन्न होना) को श्रेय कहता हूँ, न मैं उदार मोगताको पापीय कहता हूँ ।

"बाह्य ! मैं कुल वाला भी कोई कोई प्राणातिपाती (= हिंसक) होता है, अदत्तादायी (= चोर) ०, काम मिथ्याचारी ०, मृषावादी ०, पिशुनभाषी (= झुगुलमोर) ०, परस्व-भाषी ०, संग्रहायी (= धकवादी) ०, अमिथ्यालु (= लोभी) ०, व्यापन्न-चित्त (= ड्रेपी) ०, मिथ्या दृष्टि (= झूठी धारणा वाला) होता है । इसलिये बाह्य ! मैं उच्चकुलीनताको श्रेय नहीं कहता । मैं कुलवाला भी प्राणातिपात-विरत (= अहिंसक) होता है, अदत्तादान-विरत (= अ-चोर) ०, काम मिथ्याचार-विरत ०, मृषावाद-विरत ०, पिशुन भाषण-विरत ०, परस्व-भाषण-विरत ०, संग्रहाप-विरत ०, अद्-अमिथ्यालु ०, अ-व्यापन्न-चित्त ० (और) सम्पन्न-दृष्टि होता है । इसलिये बाह्य ! मैं उच्चकुलीनताको पापीय नहीं कहता ।

"बाह्य ! उदार-वर्णवाला भी कोई कोई प्राणातिपाती ०, ० उदार वर्णवाला भी कोई कोई प्राणातिपात-विरत ० । ० उदार मोगवाला भी कोई कोई प्राणातिपाती ० । ० उदारमोग वाला भी कोई कोई प्राणातिपात-विरत ० सम्पन्न-दृष्टि होता है, इसलिये बाह्य ! मैं उदारवर्णता को पापीय नहीं कहता ।

"बाह्य ! न मैं सबको परिचरणीय कहता हूँ, और न मैं सबको अ-परिचरणीय (= अ-सेवनीय) कहता हूँ । बाह्य ! जिसको परिचरण करते = परिचर्या के हेतु अज्ञा यदती है, नील (= सदाचार) बढ़ता है, धृत (= ज्ञान) बढ़ता है, त्याग बढ़ता है, ज्ञान बढ़ता है; उसे मैं परिचरणीय (= परिचरितव्य) कहता हूँ ।"

ऐसा कहनेपर शामुकारी बाह्यन मगवान्से यह बोला—

"मो गौतम ! बाह्यन चार (प्रकार के) स्व-धन (= अदत्ता धन) बतलाते हैं—(१) मिश्राचर्या-को बाह्यन का स्वधन बतलाते हैं; मिश्राचर्या स्वधनको अतिक्रमण करनेवाला बाह्यन अदत्तको लेनेवाले गोपकी भाँति अकृत्यकारी होता है । मो गौतम ! बाह्यन इसे बाह्यनोंका स्व-धन बतलाते हैं । (२) मो गौतम ! बाह्यन धनुकलाप (= पाश-दिलप) को धन्निषका स्वधन बतलाते हैं । धनुकलाप (रूपी) स्वधनको अतिक्रमण करनेवाला धन्निष ० अकृत्यकारी होता है । ० । (३) ० कृषि, मोरक्ष (= गोपालन) को वैश्यका स्वधन बतलाते हैं । ० । (४) ० अस्तित्वधर्मि (लकड़ी काटने वाले आदि) को शूद्रका धन बतलाते हैं । अस्तित्वधर्मि (रूपी) स्वधनको अतिक्रमण करनेवाला शूद्र अदत्तको लेनेवाले गोपकी भाँति अकृत्यकारी (= पापकारी) होता है । मो गौतम ! बाह्यन यह चार (प्रकार के) स्वधन बतलाते हैं । यहाँ आप गौतम क्या कहते हैं ?"

"जब बाह्यन ! सारी दुनिया बाह्यनोंको इसके लिये अनुज्ञा देती है ? इन चार स्वधनोंको प्रज्ञापन करें ?"

"नहीं, मो गौतम !"

"जैसे बाह्यन ! कोई ०^१ द्रविष्ठ पुरुष हो ०^१ बाह्यनोंका इन चार धनोंका प्रज्ञापन करना है ।"

“ब्राह्मण ! मैं लोकोत्तर आर्यधर्म को पुरुषका स्वधन प्रज्ञापन करता हूँ । ब्राह्मण ! माता-पिताके पुराने कुलधर्मको अनुस्मरण करते जहाँ इस (पुरुष) का जन्म होता है, वही उसकी संज्ञा होती है । अत्रिय-कुलमें उत्पन्न होनेपर अत्रिय इसकी संज्ञा होती है । ब्राह्मण ० । वैश्य ० । शूद्रकुलमें उत्पन्न होनेपर शूद्र इसकी संज्ञा होती है ।

“जैसे ब्राह्मण ! जित जिस प्रलय (= आश्रय) को लेकर आग जलती है, वही वही (उसकी) संज्ञा होती है । काष्ठके आश्रयसे जो आग जलती है, काष्ठ-अग्नि उसकी संज्ञा होती है । शफलिफा (= चैली) ० । गोमय (= उपले) के आश्रयसे जो आग जलती है, गोमय-अग्नि उसकी संज्ञा होती है । इस प्रकार हे ब्राह्मण ! मैं लोकोत्तर आर्यधर्मको पुरुषका स्वधन प्रज्ञापन करता (= कहता) हूँ । ० जहाँ इसका जन्म होता है, वही इसकी संज्ञा होती है ० शूद्र इसकी संज्ञा होती है ।

“ब्राह्मण ! अत्रियकुलसे भी यदि घरसे बेघर हो प्रव्रजित होता है । और वह सप्तागतके कलसाये धर्म (= धर्म-विनय) को पा, प्राणातिपातसे विरत होता है ०^१ सम्मग्-दृष्टि होता है; तो वह न्याय = कुशल-धर्म (= निर्वाण) का आराधन करनेवाला होता है । ब्राह्मणकुल से ० । वैश्यकुलसे ० । शूद्रकुलसे ० तो वह न्याय कुशल धर्मका आराधन करनेवाला होता है ।

“तो क्या मानते हो, ब्राह्मण ! क्या ब्राह्मण ही इस प्रदेशमें वैर-रहित व्यापाद (= द्वेष)-रहित मैत्री चित्तकी भावना कर सकता है, अत्रिय नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र नहीं ?”

“नहीं, हे गौतम ! अत्रिय भी इस प्रदेशमें वैर-रहित, व्यापाद-रहित मैत्रीचित्तकी भावना कर सकता है । ब्राह्मण भी ०, वैश्य भी ०, शूद्र भी ० सारे चारों वर्ण इस प्रदेश में ० मैत्री चित्तकी भावना कर सकते हैं ।”

“इसी प्रकार ब्राह्मण ! अत्रियकुल से भी यदि घरसे बेघर ० । सम्मग्-दृष्टि होता है, तो वह न्याय कुशल धर्म का आराधक होता है । ब्राह्मणकुलसे ० । वैश्यकुलसे ० । शूद्रकुलसे ० तो वह न्याय कुशल धर्मका आराधक होता है ।

“तो क्या मानते हो ब्राह्मण !! क्या ब्राह्मण ही (= स्नान-चूर्ण-पिंड (= शोक्ति-प्रियाति) ले, नदीपर जा मँल धो सकता है; अत्रिय नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र नहीं ?”

“नहीं, भो गौतम ! अत्रिय भी ०; वैश्य भी ०, शूद्र भी स्नान-चूर्ण-पिंड (= आगकलका साहुन जैसा कोई पदार्थ) ले नदीपर जा मँल धो सकता है । सारे चारों वर्ण ० ।”

“ऐसे ही ब्राह्मण ! अत्रिय कुलसे यदि घरसे बेघर ० । ० सम्मग्-दृष्टि हो, तो वह न्याय-कुशल-धर्मका आराधक होता है । ब्राह्मण कुलसे ० । वैश्य कुलसे ० । शूद्र कुलसे ० तो वह न्याय-कुशल-धर्मका आराधक होता है ।

“तो क्या मानते हो, ब्राह्मण ! (यदि) यहाँ सूर्याभिषिक्त अत्रिय राजा नाना जातिके सौ पुरुष इकट्ठा करे (और उन्हें कहे—) आये आप सब ०^२ उस आगसे अग्निका काम नहीं लिया जा सकेगा ?”

“नहीं, भो गौतम ! जो वह अत्रिय ० कुलोत्पन्न द्वारा ० आग बनाई गई है ०, वह भी अर्चिमान् ० आग होगी, उस आगसे भी आगका काम लिया जा सकता है । और जो वह चांडाल ० कुलोत्पन्न द्वारा ० अग्नि बनाई गई है ० वह भी अर्चिमान् ० अग्नि होगी । सभी आगसे आगका काम लिया जा सकता है ।”

“ऐसे ही ब्राह्मण ! क्षत्रियकुलसे भी यदि चरसे बेचर ० । ० सम्बन्ध-दृष्टि हो, तो वह न्याय-कुशल-धर्मका आराधक होता है । ब्राह्मणकुलसे भी ० । वैश्यकुलसे भी ० । शूद्रकुलसे भी ० तो वह न्याय-कुशल-धर्मका आराधक होता है ।”

ऐसा कहनेपर वासुकि ब्राह्मणने भगवानसे यह कहा—“आर्ष्य ! भो गौतम ! आर्ष्य !! भो गौतम ! जैसे बीबेको लीचा कर दे ०” भगव गौतम आजसे मुझे अक्षलिपद शरणगत उपासक स्वीकार करें ।”

६७—धानंजानि-सुत्तन्त (२।५।७)

अपना अपना किया अपने अपने साथ

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलंदक-निवापमें विहार करते थे ।

उस समय आलुप्मान् सारिपुत्र बड़े मिथु-संघके साथ दक्षिणागिरिमें चारिका कर रहे थे । तब कोई मिथु राजगृहमें वर्षावास कर, जहाँ दक्षिणागिरि था, जहाँ आलुप्मान् सारिपुत्र थे, वहाँ गया । जाकर आलुप्मान् सारिपुत्रके साथ—“संमोदनकर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे उस मिथु से आलुप्मान् सारिपुत्रने यह कहा—

“आलुस ! भगवान् निरोग हैं न, बलवान् हैं न ?”

“आलुस ! भगवान् निरोग हैं, बलवान् हैं ।”

“आलुस ! मिथु-संघ निरोग है न, बलवान् है न ?”

“आलुस ! मिथु-संघ भी निरोग है, बलवान् है ।”

“आलुस ! वहाँ तण्डुलपट्ट द्वारमें धानंजानि नामक ब्राह्मण रहता है । आलुस ! धानंजानि ब्राह्मण निरोग है न, बलवान् है न ?”

“आलुस ! धानंजानि ब्राह्मण निरोग है बलवान् (= तण्डुल) है ।”

“आलुस ! धानंजानि ब्राह्मण अ-प्रमत्त (= प्रमाद-रहित) है न ?”

“आलुस ! धानंजानि ब्राह्मणको अप्रमाद कहाँसे । आलुस ! धानंजानि ब्राह्मण राजाका सहारा ले, ब्राह्मण गृहस्थोंको छूटता है (= विलुम्पति), ब्राह्मण-गृहपतियोंका सहारा ले राजाको छूटता है । जो अन्धालकुलसे आई उसको अन्धाल नापी थी, वह भी मर गई । अन्धालकुलसे दूसरी नापी (अर्थ) लाया है ।”

“आलुस ! दुःश्रुत (= न सुनने योग्य) हमने सुना ! दुःश्रुत हमने सुना !! जो कि हमने धानंजानि ब्राह्मणको प्रमत्त सुना । क्या कभी किसी समय धानंजानि ब्राह्मणके साथ हमारा समागम होगा ! क्या हमारा उसके साथ कुछ कथा-संलाप होगा !”

तब आलुप्मान् सारिपुत्र दक्षिणागिरिमें इच्छानुसार विहार कर, जहाँ राजगृह था, उधर चारिकाके लिये चल पड़े । कर्मशः चारिका करते, जहाँ राजगृह है, वहाँ पहुँचे । वहाँ राजगृहमें आलुप्मान् सारिपुत्र वेणुवन कलंदक-निवापमें विहार करते थे ।

तब आलुप्मान् सारिपुत्र पूर्वाह्न समय पहिनकर, पात्रचीवर ले राजगृहमें मित्राके लिये प्रविष्ट हुये । उस समय धानंजानि ब्राह्मण नगरके बाहर मोष्ठ (= वधान)में गायें दुहर रहा था । तब आलुप्मान् सारिपुत्र राजगृहमें पिचकार कर, भोजनान्तर पिचपतसे छुटी पा जहाँ धानंजानि ब्राह्मण था, वहाँ गये । धानंजानि ब्राह्मणने दूरसे ही आलुप्मान् सारिपुत्रको आते देखा । देखकर जहाँ

आयुष्मान् सारिपुत्र ये, वहाँ गया, जाकर आयुष्मान् सारिपुत्रसे यह बोला—

“भो सारिपुत्र ! यह दूध है इसे पिये, तब तक भोजनका समय होता है ।”

“अलम् (= यस) आह्वय ! आज मैं भोजन-कृत्य समाप्त कर चुका हूँ । अबकुल तुझके नीचे मेरा दिनका विदार होगा, वहाँ जाना ।”

“अच्छा, भो !”—(कह) धानंजानि आह्वयने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया ।

तब धानंजानि आह्वय प्रतारना कर, भोजनोपरांत वहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र ये, वहाँ गया, जाकर आयुष्मान् सारिपुत्रके साथ—सम्मोदन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे धानंजानि आह्वयसे आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—

“धानंजानि ! अ-अमत्त (= दुष्कर्ममें प्रमादी सुकर्ममें स्त) तो हो ?”

“भो सारिपुत्र ! कहाँसे हम जैसाँको अ-प्रमाद होगा, जिन्हें कि माता-पिताको पोषण करना हो, पुत्र-दाराको पोषण करना हो, दास-कर्मकरोंको पोषण करना हो; मित्र-अमात्याँका काम करना हो, जाति-भाइयों (= शाति-सलोहित)का काम करना हो, अतिथियोंका ०; पूर्व-प्रेतों (= पितरों)का ०, देवताओंका ०, राजाका राज-कार्य करना हो, और इस (अपने) शरीरको भी तर्पित वर्द्धित करना हो ?”

“तो क्या मानते हो, धानंजानि ! वहाँ कोई (पुरुष) माता-पिताके लिये अ-धर्मचारी = विषमचारी होवे । (उस) अधर्मचर्या विषमचर्याके लिये उसे नरकपाल नरकमें ले जावे; क्या वह यह (कहने) पा सकता है—‘मैं माता-पिताके लिये अधर्मचारी = विषमचारी हुआ, नरकपाल ! मत मुझे नरकमें (डालो)’ ? या उसके माता-पिता यह (कहने) पा सकते हैं—‘यह हमारा अ-धर्मचारी = विषमचारी हुआ, नरकपाल ! मत इसे नरकमें डालो’ ?”

“नहीं, भो सारिपुत्र ! यदि उसे चिल्लातेहीको नरकपाल (= नरक-पाल) नरकमें डाल देंगे ।”

“तो क्या मानते हो, धानंजानि ! वहाँ कोई पुत्र-दाराके लिये अधर्मचारी = विषमचारी होवे । ० । ० दास-कर्मकर पुरुषोंके लिये ० । ० मित्र-अमात्याँ (= वार दोस्तों)के लिये ० । शाति-सलोहितों (= भाई-बंदों)के लिये ० । ० अतिथियोंके लिये ० । ० पूर्व-प्रेतोंके लिये ० । ० देव-ताओंके लिये ० । ० राजाके लिये ० । ० कायाके तर्पण वर्द्धनके लिये अधर्मचारी ० होवे । ० क्या वह यह (कहने) पा सकता है—‘मैं शरीरके तर्पण वर्द्धनके लिये अधर्मचारी = विषमचारी हुआ, नरकपाल ! मत मुझे नरकमें (डालो)’ ? या दूसरे यह (कहने) पा सकते हैं—‘यह काया के तर्पण वर्द्धनके लिये अधर्मचारी = विषमचारी हुआ, नरकपाल ! मत इसे नरकमें (डालो)’ ?”

“नहीं, भो सारिपुत्र ! यदि उस चिल्लातेहीको नरकपाल नरकमें डाल देंगे ।”

“तो क्या मानते हो, धानंजानि ! जो कि माता-पिताके हेतु अधर्मचारी = विषमचारी होना है, और जो कि माता-पिताके हेतु धर्मचारी = समचारी होना; इन दोनों (कर्मों)में कौन श्रेय (= अच्छा) है ?”

“भो सारिपुत्र ! माता-पिताके हेतु अधर्मचारी = विषमचारी होना, यह श्रेय नहीं; किन्तु जोकि माता-पिताके हेतु धर्मचारी-समचारी होना है, यही श्रेय है । अधर्मचर्या = विषम-चर्यासे भो सारिपुत्र ! धर्मचर्या = समचर्या श्रेय है ।”

“धानंजानि ! दूसरे भी स-हेतुक (= फलदायक) धार्मिक कर्मान्त (= पेशे) हैं, जिनसे माता-पिताका पोषण किया जा सकता है, किन्तु पाप-कर्मको न करना और पुण्य-मार्गको ग्रहण करना (चाहिये) ।

“तो क्या मानते हो, धानंजानि ! जोकि पुत्र-दाराके हेतु अधर्मचारी = विषमचारी होना

• । • दास-कर्मकर-पुरुषोंके हेतु • । • मित्र-भ्रमात्म्योंके हेतु • । • ज्ञाति-साजोहिलोंके हेतु • । • अतिथियोंके हेतु • । • पूर्व-प्रेतोंके हेतु • । • देवताओंके हेतु • । • राजाके हेतु • । • कामाके तर्पण करनेके हेतु • पुण्यमार्गका ग्रहण करना (चाहिये) ।”

तब धानंजानि ब्राह्मण आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणको अभिनन्दित अनुमोदितकर आसनसे उठकर खड़ा गया ।

दूसरे समय धानंजानि ब्राह्मण दुःखित = व्याधित बहुत बीमार हुआ । तब धानंजानि ब्राह्मणने किसी पुरुषको बुलाया—“जाओ हे पुरुष ! तुम जहाँ भगवान् हैं, वहाँ जाओ, जाकर मेरे वचनसे भगवान्के चरणोंको, शिरसे वंदना करो—मन्ते ! धानंजानि ब्राह्मण • बहुत बीमार है, वह भगवान्के चरणोंको शिरसे वंदना करता है” । (फिर) जहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र हों, वहाँ जाओ, जाकर मेरे वचनसे आयुष्मान् सारिपुत्रके चरणोंको, शिरसे वंदना करो—मन्ते ! धानंजानि ब्राह्मण • बहुत बीमार है, वह आयुष्मान् सारिपुत्रके चरणोंको, शिरसे वंदना करता है; और वह श्री कहीं—“अच्छा हो, मन्ते ! यदि आयुष्मान् सारिपुत्र कृपा कर जहाँ धानंजानि ब्राह्मणका घर है, वहाँ चले ।”

“अच्छा, मन्ते (= स्वाभी) !”—(कह) वह पुरुष धानंजानि ब्राह्मणको उत्तर दे, जहाँ भगवान् थे, वहाँ—“जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ । एक ओर बैठे उस पुरुषने भगवान्से यह कहा—“मन्ते ! धानंजानि ब्राह्मण • बहुत बीमार है, वह भगवान्के चरणोंको, शिरसे वंदना करता है ।” (फिर) जहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र थे, वहाँ गया; जाकर आयुष्मान् सारिपुत्रको अभिवादन कर एक ओर बैठ—आयुष्मान् सारिपुत्रसे बोला—“मन्ते ! धानंजानि ब्राह्मण • बहुत बीमार है, • अच्छा हो, मन्ते ! यदि आयुष्मान् सारिपुत्र कृपाकर जहाँ धानंजानि ब्राह्मणका घर है, वहाँ चले ।”

आयुष्मान् सारिपुत्रने मौनसे स्वीकार किया । तब आयुष्मान् सारिपुत्र पहिनकर पात्र-चीवर ले, जहाँ धानंजानि ब्राह्मणका घर था, वहाँ गये; जाकर थिठे आसनपर बैठे । बैठकर आयुष्मान् सारिपुत्रने धानंजानि ब्राह्मणसे यह कहा—

“धानंजानि ! ठीक तो है ? (काष्ठ-) वायन तो हो रहा है, हुत्वा वेदनायें हट तो रही हैं, लीट तो नहीं रही है ? (व्याधिका) हटना तो मालूम हो रहा है; औटना तो नहीं मालूम हो रहा है ?”

“ओ सारिपुत्र ! मुझे ठीक नहीं है, नहीं वायन हो रहा है, भारी दुःखमय वेदनायें आ रही हैं, हटती नहीं हैं, (पीडाका) जाना ही जान पड़ता है, जाना नहीं । जैसे, ओ सारिपुत्र ! (कोई) यज्ञवान् पुरुष शीघ्र शिखरसे शिरको मथित करे, ऐसे हो, ओ सारिपुत्र ! तब जोरको हवा मेरे शिरको ताकन करती है । ओ सारिपुत्र ! मुझे ठीक नहीं है • (पीडाका) जाना ही जान पड़ता है, जाना नहीं । जैसे, ओ सारिपुत्र ! (कोई) यज्ञवान् पुरुष मज्जत स्तोत्रसे शिरको—“ (जोरसे) बाँध दे, ऐसे हो ओ सारिपुत्र ! मुझे थपे जोरकी सीखवेदना है । नहीं • । जैसे, ओ सारिपुत्र ! चतुर गोघातक या गोघातकका अन्तेवासी तेज गो-विकर्तन (= गाय काटनेके घुरे) से पेटको काटे ऐसे ही, ओ सारिपुत्र ! जोरसे पायु मेरे पेटको काट रहे हैं । नहीं • । जैसे, ओ सारिपुत्र ! दो यज्ञवान् पुरुष (किसी) अति दुर्बल पुरुषको ओके बाहोंसे पकड़कर और (की आग) पर तपावें, संतपावें, ऐसे ही, ओ सारिपुत्र ! मेरे शरीरमें अत्यधिक दाह हो रहा है । मुझे ठीक नहीं, • ।”

“तो क्या आमतो हो, धानंजानि ! नरक अच्छा (= श्रेय) है, या तिर्यग् (= पशु)-योनि ?”

"तरकसे, मो सारिपुत्र ! तिर्यग्-योनि अच्छी है ।"

"तो क्या मानते हो, धानंजानि ! तिर्यग्-योनि अच्छी है, या प्रेतलोक ?"

"० प्रेतलोक ० ।"

"० प्रेतलोक अच्छा है, या मनुष्य ?"—"० मनुष्य ० ।"

"० मनुष्य अच्छे हैं, या चातुर्महाराजिक देव ?"—"० चातुर्महाराजिक देव ० ।"

"० चातुर्महाराजिक देव ०, या त्रायस्त्रिंश देव ?"—"० त्रायस्त्रिंश देव ० ।"

"० त्रायस्त्रिंश देव ०, या याम देव ?"—"० याम देव ० ।"

"० याम देव ०, या तुषित देव ?"—"० तुषित देव ० ।"

"० तुषित देव ०, या निर्माणरति देव ?"—"० निर्माणरति देव ० ।"

"० निर्माणरति देव ०, या परनिर्मितवशवर्ती देव ?"—"० परनिर्मितवशवर्ती देव ० ।"

"तो क्या मानते हो, धानंजानि ! परनिर्मितवशवर्ती देव अच्छे हैं, वा ब्रह्मलोक ?"

"ब्रह्मलोक आप सारिपुत्र कह रहे हैं ! ब्रह्मलोक आप सारिपुत्र कह रहे हैं !!!"

तब आयुष्मान् सारिपुत्रको यह हुआ— "यह ब्राह्मण ब्रह्मलोकके भट्ठालु हैं, क्यों न मैं धानंजानि ब्राह्मणको ब्रह्मोंकी सहव्यता (= सारूप्य) का मार्ग उपदेशूँ ।"—

"धानंजानि ! ब्रह्मोंकी सहव्यताका मार्ग तुझे उपदेशता हूँ, उसे सुन, अच्छी तरह मनमें करो कहता हूँ ।"

"अच्छा, मो !"—(कह) धानंजानि ब्राह्मणने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया । आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—

"क्या है, धानंजानि ! ब्रह्मोंकी सहव्यताका मार्ग ?—(१) यहाँ धानंजानि ! भिक्षु मैत्रीपूर्ण चित्तसे ०^१ सारे लोकको पूर्ण कर विहार करता है यह भी धानंजानि ब्रह्मोंकी सहव्यताका मार्ग है । और फिर धानंजानि ! (२) कल्याणपूर्ण चित्तसे ०^१ । (३) और फिर धानंजानि ! मुदितापूर्ण चित्तसे ०^१ । ० (४) उपेक्षापूर्ण चित्तसे ०^१ सारे लोकको पूर्ण कर विहरता है । यह भी धानंजानि ! ब्रह्मोंकी सहव्यताका मार्ग है ।"

"तो, भो सारिपुत्र ! जेरे वचनसे भगवान्‌के चरणोंमें शिरसे वंदना करें—'भन्ते ! धानंजानि ब्राह्मण ० बहुत बीमार है, वह भगवान्‌के चरणोंको, शिरसे वंदना करता है ।"

तब आयुष्मान् सारिपुत्रने धानंजानि ब्राह्मणको स-करणीय (= जहाँ पहुँचकर आगे भी कर्तव्य करनेको बाकी रहता है), हित, ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित कर आसनसे उठ चला दिये । तब आयुष्मान् सारिपुत्रके घले जानेके थोड़े ही समय बाद धानंजानि ब्राह्मण मर गया, और (जाकर) ब्रह्मलोकमें उत्पन्न हुआ ।

तब भगवान्‌ने भिक्षुओंको जाम्बवत किया—

"भिक्षुगो ! यह सारिपुत्र धानंजानि ब्राह्मणको स-करणीय, हित (रूप) ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित कर आसनसे उठकर चला दिया ।"

तब आयुष्मान् सारिपुत्र जहाँ भगवान्‌ थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् सारिपुत्रने भगवान्‌से यह कहा—

"भन्ते ! धानंजानि ब्राह्मण ० बहुत बीमार है, वह भगवान्‌के चरणोंको, शिरसे वंदना करता है ।"

“क्यों सावित्र ! तुने धर्मज्ञानि ब्राह्मणको स-करणीय, हित, ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित कर आसनसे उठकर खला व्याप ?”

“भन्ने ! सुझे ऐसा हुआ—ब्राह्मण ब्राह्मणोंके प्रति झट्टालु होते हैं; क्यों न मैं धर्मज्ञानि ब्राह्मणको, ब्रह्मोंकी सहज्यताका मार्ग उपदेखूँ ।”

“सावित्र ! धर्मज्ञानि ब्राह्मण भर गया, और (जाकर) ब्राह्मणोंमें उतरपछ हुआ है ।”

६८-वासेट्ट-सुत्तन्त' (२।५।८)

वर्णव्यवस्था-खंडन

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् इच्छानंगलमें इच्छानंगलके वनवण्डमें विहार करते थे ।

उस समय बहुतसे अभिजात अभिजात (= प्रतिष्ठित) ब्राह्मण महाशाल (= महाधनी) जैसे कि—चूंकि ब्राह्मण, तारुक्ख (= तारुख) ब्राह्मण, जामुस्सोणि ब्राह्मण, तोदोप्य ब्राह्मण, तथा दूसरे अभिजात अभिजात ब्राह्मण महाशाल, इच्छानंगलमें वास करते थे ।

तब वासिष्ठ और भारद्वाज दो माणवों (= छात्रों) की, जंघाविहारके लिये रहलते घूमते वक्त यह बात बीचमें चल पड़ी—'ब्राह्मण कैसे होता है भो ?' ।

भारद्वाज माणवने कहा—“जब (पुत्र) दोनों ओरसे मातासे भी पितासे भी सुजात होता है, (माता-पिता) दोनों ओरके पितामहोंकी सात पीढ़ी तक विष्णु वंशवाले, जातिवाइसे अश्लिश = अनिन्दित हों—इतनेसे, भो ! ब्राह्मण होता है ।”

वासिष्ठ माणवने यह कहा—“जब (आदमी) बौलवान् और प्रत-संपन्न होता है, इतनेसे, भो ! ब्राह्मण होता है ।”

भारद्वाज माणव वासिष्ठ माणवको नहीं समझा सका, वासिष्ठ माणव भारद्वाज माणवको नहीं समझा सका ।

तब वासिष्ठ माणवने भारद्वाज माणवको संबोधित किया—

“यह वाक्यकुलसे प्रवर्तित वाक्यपुत्र अमण गौतम इच्छानंगलके वनवण्डमें विहार करते हैं । उन आप गौतमका ऐसा कल्याण कीर्तिसब्द उठा हुआ है—‘वह भगवान् ^१ वृद्ध भगवान् है’ । चलो, भो भारद्वाज ! जहाँ अमण गौतम है, वहाँ चलो । चलकर अमण गौतमसे इस बातको पूछो, जैसा अमण गौतम वतलायेंगे, वैसा धारण करेंगे ।”

“अच्छा, भो !”—(कह) भारद्वाज माणवने वासिष्ठ माणवको उत्तर दिया—

तब वासिष्ठ और भारद्वाज माणव वहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्के साथ सम्मोदन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे वासिष्ठ माणवने भगवान्से श्रावणोंमें कहा—

“भो ! हम अनुज्ञात-प्रतिज्ञात ^२ ब्रविष्य ^३ हैं ।

मैं पौष्करतातिका और यह तारुक्खके माणवक ^४ हैं । (१) ॥

^१ वह सत्य वृत्तान्तपति (सुचरित्रक) में भी आया है । ^२ देखो पृष्ठ १५८ ।

^३ प्रतिज्ञ । ^४ दोनों पेरोंके शाता । ^५ विषयी ।

‘विषयोंका जो आशयान’ है, उसमें हम केवली* है ।
 पद, व्याकरण (और) जल्प^१में हम (अपने) आचार्योंके समान हैं ॥ (२) ॥
 गौतम ! ऐसे हम (दोनों)का जाति-वादके विषयमें विवाद है ।
 भारद्वाज कहता है—‘जाति’से ब्राह्मण होता है’ ॥ (३) ॥
 धन्नुमन् ! मैं कर्मसे कहता हूँ, ऐसा (आप) जानें ।
 हम दोनों एक दूसरेको समझा नहीं सकते ।
 (तब) संतुष्ट करके विभुत भगवान्के पास जाये हैं ॥ (४) ॥
 अश्वय चंद्रमाको जैसे लोग जाकर हाव जोड़,
 धन्वा कर्क नमस्कार करते हैं, ऐसे ही लोकमें गौतमको (भी) ॥ (५) ॥
 लोकके-वधु- (जैसे)-उत्पन्न (आप) गौतमसे हम पूछते हैं—
 ‘जन्मसे ब्राह्मण होता है, या कर्मसे’ ?
 हम अजानोंको घनाये, जिसमें हम ब्राह्मणको जानें” ॥ (६) ॥

(भगवान्—“वाशिष्ठ !)—

सो तुम्हें मैं कमलाः यथाधेतः कहता हूँ ।
 प्राणियोंकी जातियोंमें एक दूसरेसे जातिका भेद है ॥ (७) ॥
 वृण और वृक्षमें भी, जानते हो (इसके लिये) वह प्रतिज्ञा नहीं करते,
 जातिका लिंग है; इतमें जातिवाँ एक दूसरेसे (मित्र) हैं ॥ (८) ॥
 फिर कीट, पतंगसे चींटी तक,
 जातिका लिंग है; उनमें ० ॥ (९) ॥
 छोटे धने चौपायोंमें भी तुम जानते हो,
 जातिका लिंग है; इतमें ० ॥ (१०) ॥
 ऊन्ही पीठवाले पादोदर^२ सर्पको भी जानते हो,
 जातिका लिंग ० ॥ (११) ॥
 फिर जलचर पानीकी मछलियोंको भी जानते हो,
 जातिका लिंग है ० ॥ (१२) ॥
 फिर आकाशचारी पक्ष्याव^३ पक्षियोंको भी जानते हो,
 जातिका लिंग है ० ॥ (१३) ॥
 जैसा इन जातियोंमें जातिका अलग अलग लिंग है ।
 इस प्रकारका जाति-लिंग मनुष्योंमें अलग अलग नहीं है ॥ (१४) ॥
 न केशोंमें, न शिरमें, न कानमें, न आँखमें ।
 न मुखमें, न नासिकामें, न ओठ और गोंमें ।
 न श्रोत्रामें, न कंधेमें, न पीठमें, न पैरमें ॥ (१५) ॥
 न अंगुलीमें, न उरमें, न गोप्यस्थानमें, न मधुनमें ।
 न हाथमें, न पैरमें, न अंगुली और नखमें ॥ (१६) ॥

* आशयान, पाठा विषय ।

^१ अद्विष्ट ।

^२ पाद ।

^३ कर्म ।

^४ ऊपर है पादका काम देता, निचका ।

^५ पैर ही जिसका धान (= सवारी) है ।

न जंघामें, न उरुमें, न गर्ण या स्वरमें ।

जैसा कि अन्य जातियोंमें है, (वैसा) जातिका कोई (पृथक्) लिंग नहीं ॥ (१०) ॥

मनुष्योंके शरीर शरीरमें यह (भेदक लिंग) नहीं मिलता ।

मनुष्योंमें भेद (सिर्फ) संज्ञामें है ॥ (१४) ॥

मनुष्योंमें जो गौरवसे जीविका करता है ।

वाशिष्ठ ! ऐसेको हृष्यक जानो, ब्राह्मण नहीं ॥ (१५) ॥

मनुष्योंमें जो किलो शिल्पसे जीविका करता है ।

वाशिष्ठ ! ऐसेको शिल्पी जानो, ब्राह्मण नहीं ॥ (२०) ॥

मनुष्योंमें जो व्यापारसे जीविका करता है ।

वाशिष्ठ ! ऐसेको धनिवा जानो, ब्राह्मण नहीं ॥ (२१) ॥

मनुष्योंमें जो पर-प्रेषण^१से जीविका करता है ।

वाशिष्ठ ! ऐसेको प्रेष्यक^२ जानो, ब्राह्मण नहीं ॥ (२२) ॥

मनुष्योंमें जो अदत्तादानसे जीता है ।

वाशिष्ठ ! ऐसेको चोर जानो, ब्राह्मण नहीं ॥ (२३) ॥

मनुष्योंमें जो इतु-अच्छले जीता है ।

वाशिष्ठ ! ऐसेको मोघाजीवी^३ जानो, ब्राह्मण नहीं ॥ (२४) ॥

मनुष्योंमें जो पुरोहितीसे जीता है ।

वाशिष्ठ ! ऐसेको याजक जानो, ब्राह्मण नहीं ॥ (२५) ॥

मनुष्योंमें जो ग्राम राष्ट्रका उपभोग करता है ।

वाशिष्ठ ! ऐसेको राजा जानो, ब्राह्मण नहीं ॥ (२६) ॥

^१मत्ता और पौनिसे उत्पन्न होनेके कारण मैं ब्राह्मण नहीं कहता ।

वह 'मो-वादी' ^१ है, वह (तो) संप्रदी है !

मैं ब्राह्मण उसे कहता हूँ, जो अपरिग्रही = न लेनेवाला है ॥ (२७) ॥

जो सारे संयोजनों (= वंशों) को काटकर, मय नहीं खाता ।

जो संग और आसक्तिसे विरत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (२८) ॥

गन्दी (= फोव), वस्त्रा (= तृष्णा कृपी रस्ती) सन्धान (= १२ प्रकारके मतवाद्-कृपी पगहे), और हनुकम (= हँहपर बाँधनेके जावे) को काट एवं परिध (= वृष्ट) को फँक जो युद्ध (= ज्ञानी) हुआ, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (२९) ॥

जो बिना दूषित (चित्त) किये गाली, बध और वन्दनको सहन करता है, छमा बलही जिसके बल (= सेवा) का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (३०) ॥

जो अकोपी, मत्ती, सीलवान्, पशुभुक्त, संवमी (= दान्त) और अन्तिम शरीरवाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (३१) ॥

कमलके पत्तेपर जल, और जारेके नोकपर सरसो, की भाँति जो भोगोंमें लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (३२) ॥

^१ पठवनिवाका काम । ^२ पठवनिवा (= मात्तिकके सेते अनुसार काम करनेवाला) । ^३ सिपाही ।

^४ यहाँसे "जो पूर्व जन्मको जानता है" तक धम्मपद ३९६-४२३ (२६:१४-४२) में आया है ।

^५ उस समय ब्राह्मण ब्राह्मणको ही "मो" कहकर संबोधित करते थे ।

जो सही (= इसी जन्ममें) अपने दुःखोंके विनाशको जान लेता है, जिसने अपने बौद्धको उतार फेंका और जो आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (३३) ॥

जो सम्भार प्रज्ञाशाला, मेधावी, मार्ग-अमार्गका ज्ञाता, उसमें पदार्थ (= सत्य) को पाये है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (३४) ॥

घरवाले (= गृहस्थ) और बेघरवाले दोनोंहीमें जो किस्म नहीं होता, जो बिना ठिकानेके श्रुमता तथा बेचाह है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (३५) ॥

चर-अचर (सभी) प्राणियोंमें प्रहारित हो, जो न मारता है, न मारनेको प्रेरणा करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (३६) ॥

जो विरोधियोंके बीच विरोध-रहित रहता है, जो दंष्ट्रारिषोंके बीच (दण्ड-)रहित है, संग्राहियोंमें जो संग्रह-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (३७) ॥

आरोंके ऊपर ससोंकी भाँति, जिसके (चित्तसे) राग, द्वेष, माग, बाह, फेंक दिये गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (३८) ॥

(जो इस प्रकारकी) अकर्कश, आदरयुक्त (तथा) सच्ची वाणीको बोले, कि, जिससे कुछ भी पीड़ा न होवे, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (३९) ॥

(चीज) चाहे दीर्घ हो या ह्रस्व, मोटी हो या पतली, शुभ हो या अशुभ, जो संसारमें (किसी भी) बिना दी चीजको नहीं लेता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (४०) ॥

इस लोक और परलोकके विषयमें जिसको आभास (= चाह) नहीं रह गई है, जो आहाररहित और आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (४१) ॥

जिसको आलस्य (= लृप्ता) नहीं है, जो भली प्रकार जानकर अकम्प (-पद) का कहने-वाला है, जिसने गाढ़े अमृतको पालिया, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (४२) ॥

जिसने यहाँ पुण्य और पाप दोनोंकी आसक्तिको छोड़ दिया, जो शोकरहित, निर्मल, (और) शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (४३) ॥

जो अशुभकी भाँति विमल, शुद्ध, स्पष्ट = अनाविल है, (तथा जिसको) सभी जन्मोंकी लृप्ता नष्ट हो गई है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (४४) ॥

जिसने इस दुर्गम संसार, (= जन्म-मरण) के चक्रमें डालनेवाले मोह (रूपी) उल्टे मार्गको त्याग दिया, जो (संसारसे) पारंगत, ध्याती तथा तीर्थ (= तर गया) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (४५) ॥

जो यहाँ भोगोंको छोड़, बेघर हो प्रव्रजित (= संन्यासी) हो गया है, जिसके भोग और जन्म नष्ट हो गये, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (४६) ॥

जो यहाँ लृप्ताको छोड़, बेघर बन प्रव्रजित है, जिसकी लृप्ता और (पुनर्-)जन्म नष्ट हो गये, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (४७) ॥

मातृप (-भोगोंके) लाभोंको छोड़, दिव्य (भोगोंके) लाभको भी (जिसने) त्याग दिया, क्षारे ही लाभोंमें जो आसक्त नहीं है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (४८) ॥

रति और अरति (= लृप्ता)को छोड़, जो शीतल-स्वभाव (तथा) क्लेशरहित है, (जो पैसा) सर्वलोकजिजीवी, गौर है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (४९) ॥

जो प्राणियोंकी मृत्ति (= मृत्तु) और उत्पत्तिको भली प्रकार जानता है, (जो) आसक्तिरहित सुगत (= सुंदर गतिको प्राप्त) और शुद्ध (= शान्ती) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (५०) ॥

जिसकी गति (= पहुँच) को देवता, गंधर्व, और मनुष्य नहीं जानते, क्षीणात्म्य (= रागादि-रहित) और अर्हत् है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (५१) ॥

जिसके पूर्व और पश्चात् और मध्यमें कुछ नहीं है, जो परिग्रह-रहित = आदान-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (५२) ॥

(जो) अग्रम (= श्रेष्ठ), प्रवर, वीर, महर्षि, विजेता, अकम्प्य, स्नातक और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (५३) ॥

जो पूर्व जन्मको जानता है, स्वर्ग और दुर्गति को देखता है ।

और जिसका (पुनर्-) जन्म क्षीण होगया; जो अभिज्ञा-परायण^१ मुनि है ।

सारे कृत्य जिसके समाप्त होगये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ (५४) ॥

लोकमें यह संज्ञायें हैं, (यह) कल्पित नाम-गोत्र हैं ।

वहाँ वहाँ कल्पित (करके) लोक-व्यवहारसे चला आया है ॥ (५५) ॥

अज्ञोंकी धारणामें चिर कालसे (यह) धुसा हुआ है ।

जाननेवाले नहीं कहते—'ब्राह्मण जन्मसे होता है' ॥ (५६) ॥

जन्मसे न ब्राह्मण होता है, न जन्मसे अ-ब्राह्मण ।

कर्मसे ब्राह्मण होता है, (और) कर्मसे अ-ब्राह्मण ॥ (५७) ॥

कर्मसे दुष्क होता है (और) कर्मसे शिल्पी ।

कर्मसे वनिया होता है, (और) कर्मसे श्रेष्ठक ॥ (५८) ॥

कर्मसे वीर होता है, (और) योधा जीव भी कर्मसे ।

कर्मसे राजक होता है, (और) राजा भी कर्मसे ॥ (५९) ॥

^२प्रतीत्य समुत्पाद-दर्शी (और) कर्म-विपाक-कोविद,

बंधित (जन) इस प्रकार कर्मको व्यवर्धसे जानते हैं ॥ (६०) ॥

लोक कर्मसे चल रहा है, प्रजा कर्मसे चल रही है ।

चलते हुये रखके (चक्केकी) जानीकी भाँति प्राणी कर्ममें बँधे हैं ॥ (६१) ॥

तप, ब्रह्मचर्य, संयम और दम,

इनसे ब्राह्मण होता है, यही उत्तम ब्राह्मण है ॥ (६२) ॥

तीन^३ विद्याओंसे युक्त, शान्त (और) पुनर्जन्म-रहित,

वाशिष्ठ ! ऐत्योंको (तुम) विश्वोंके ब्रह्मा (और) शक जानो ॥ (६३) ॥^४

ऐसा कहतेपर वाशिष्ठ और मारद्वाज भाणवर्द्धोंने मगवान्से यह कहा—

“आश्चर्य ! ओ गौतम ! आश्चर्य !! ओ गौतम ! जैसे अधिका सीता कर दे ०” यह हम भगवान् गौतमकी शरण जाते हैं, धर्म और मिथु-संघकी भी । आप गौतम आजने हमें अत्रलिखद करणगत उपासक स्वीकार करें ।”

^१ अभिज्ञा (= दिव्य शक्तियों) छः हैं । देखो पृष्ठ २५६ ।

^२ कर्म के कारण भित्तमसे सभी जीव जन्म ले, यह सिद्धान्त प्रतीत्य-समुत्पाद कहा जाता है ।

^३ देखो पृष्ठ १५ ।

^४ देखो पृष्ठ १६ ।

६६—सुम-सुत्तन्त (२।५।६)

गृहस्थ और संन्यासीकी बुद्धि, प्रवृत्तियोंका सार

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे उस समय तौदेय्य-पुत्र शुभ मानवक किसी कामसे श्रावस्तीमें (जाकर) एक गृहपतिके घरमें रहता था। तब तौदेय्य-पुत्र शुभ मानवकने, जिस गृहपतिके घरमें रहता था, उससे पूछा—

“गृहपति ! मैंने यह सुना है कि श्रावस्ती जहाँतोंसे रहित नहीं है। आज किस धमन या माझणकी पशुपासना (= संन्यास) करें ?”

“भन्ते ! यह भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते हैं। भन्ते ! उन भगवान्की पशुपासना करो ।”

तब, शुभ मानवक उस गृहपतिकी (बात) सुनकर, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्के साथ “सम्मोदन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे, शुभ मानवकने भगवान्से यह कहा—

“भो गौतम ! माझण ऐसा कहते हैं—गृहस्थ ही न्याय-कुशल-धर्म (= निर्वाण)का आराधक होता है, प्रमज्जित (= संन्यासी) नहीं...। यहाँ आप गौतम क्या कहते हैं ?”

“मानव ! मैं यहाँ विमज्जवादी” (= विमज्जवादी) हूँ। एकांशवादी नहीं। गृहोंके लिये भी और प्रमज्जितके लिये भी मैं मिथ्या-प्रतिपत्ति (= झूठे विश्वास)की प्रशंसा नहीं करता। चाहे गृहों हो, चाहे प्रमज्जित, मिथ्या प्रतिज्ञावाला होनेपर मिथ्या प्रतिपत्तिके कारण वह न्याय-कुशल-धर्मका आराधक नहीं होगा। मानव ! गृहोंके लिये भी और प्रमज्जितके लिये भी, मैं सम्यग्-प्रतिपत्ति (= ठीक विश्वास)की प्रशंसा करता हूँ। चाहे गृहों हो, चाहे प्रमज्जित, सम्यक्-प्रतिपत्तिवाला होनेपर सम्यक् प्रतिपत्तिके कारण न्याय-कुशल-धर्मका आराधक होगा ।”

“भो गौतम ! माझण ऐसा कहते हैं—(यह) गृह-वास (= गृहस्था)का कर्मस्थान (= कर्म, वैशा) महा-अर्थ, महा-कृत्य, महा-अधिकरण, महा-समारम्भवाला है, (इसलिये) यह महाफल (दायी) है। यह प्रमज्जा-कर्म-स्थान अल्पार्थ, अल्प-कृत्य, अल्प-अधिकरण, अल्प-समारम्भवाला है, (इसलिये) यह अल्पफल (दायी) है। यहाँ आप गौतम क्या कहते हैं ?”

“मानव ! यहाँ भी मैं विमज्जवादी हूँ, एकांशवादी नहीं। (१) है मानव ! ऐसा महार्थ, महाकृत्य, महाधिकरण, महासमारम्भवाला कर्म-स्थान, (जो) पूरा न उत्तरनेपर अल्प-फल

* विभाग करके अच्छेको अच्छा, बुरेको बुरा कहनेवाला; न कि सबको एक ही जाड़ीसे कहनेवाला (= एकांशवादी) ।

(-दायी) होता है। (२) है माणव ऐसा (भी) महार्थ ० कर्मस्थान, (जो) पूरा उतरनेपर अल्प-फल (-दायी) होता है। (३) है माणव ! ऐसा अवधार्य, अव्य-कृत्य, अव्याधिकरण, अव्यारम्भवाला कर्मस्थान (जो) न पूरा उतरनेपर अल्प-फल होता है। (४) है माणव ! ऐसा (भी) अव्यार्य ० कर्मस्थान, (जो) पूरा उतरनेपर महाफल होता है।

“क्या है, माणव ! (वह) कर्मस्थान (१) जो महार्थ, महाकृत्य, महाधिकरण, महा-समारम्भवाला है, (किन्तु) और न पूरा उतरनेपर अल्प-फल होता है ?—माणव ! कृपि (ऐसा) कर्मस्थान है, जो कि महार्थ ० महासमारम्भवाला है, किन्तु न पूरा उतरनेपर अल्प-फल (= कम-फल, अ-फल) होता है। (२) क्या है ० महासमारम्भवाला ०, (और) पूरा उतरनेपर महा-फल होता है ?—माणव ! कृपि ही ०। (३) क्या है ० ० अव्यारम्भवाला ०, (और) न पूरा उतरनेपर अल्प-फल होता है ?—माणव ! वाणिज्य ०। (४) क्या है ० अव्यारम्भवाला ०, (किन्तु) पूरा उतरनेपर महाफल होता है ?—माणव ! वाणिज्य ही ०। जैसे माणव ! कृपि कर्मस्थान ० महासमारम्भवाला है, (किन्तु) न पूरा उतरनेपर अल्प-फल होता है; ऐसे ही माणव ! गृह-वास (= गृहस्थ)-कर्मस्थान ० महासमारम्भवाला है, (किन्तु) न पूरा उतरनेपर अल्प-फल होता है। जैसे, माणव कृपि कर्मस्थान ही ० महासमारम्भवाला है, (और) पूरा उतरनेपर महाफल होता है; ऐसे ही ० गृहवास कर्मस्थान ०। जैसे ० वाणिज्य कर्मस्थान ० अव्य-समारम्भवाला है; और न पूरा उतरनेपर अल्पफल होता है; वैसे ही माणव ! प्रवज्या-कर्म-स्थान ०। जैसे ० वाणिज्य कर्मस्थान ० अव्यसमारम्भवाला है; (किन्तु) पूरा उतरनेपर महाफल होता है। वैसे ही माणव ! प्रवज्या कर्मस्थान ०।”

“मो गौतम ! ब्राह्मण पुण्यके करने, तथा कुशल (= पुण्य) के आराधनके लिये पाँच धर्म प्रज्ञापन करते हैं ० ?”

“माणव ! ब्राह्मण पुण्यके करने ० के लिये, जिन पाँच धर्मोंको प्रज्ञापन करते हैं, यदि सुखे भारी न हो, तो उन्हें इस परिपद्धिमें कहो।”

“नहीं है सुखे भारी, मो गौतम ! जहाँ कि आप या आप जैसे बैठे हों।”

“तो माणव ! कहो।”

“मो गौतम ! (१) पुण्यके करने, तथा कुशलके आराधनके लिये सत्य, यह प्रथम धर्म ब्राह्मण प्रज्ञापन करते हैं। (२) ० तप, यह द्वितीय धर्म ०। (३) ० ब्राह्मचर्य ०, यह तृतीय धर्म ०। (४) ० अध्ययन यह चतुर्थ धर्म ०। (५) ० त्याग यह पंचम धर्म ०। मो गौतम ! ब्राह्मण पुण्य करनेके लिये, तथा कुशलके आराधनके लिये इन पाँच धर्मोंको प्रज्ञापन करते हैं।”

“माणव ! क्या ब्राह्मणोंमें कोई भी ब्राह्मण है, जो यह कहे—‘मैं इन पाँच धर्मोंको स्वयं जानकर, साक्षात्कारकर, (इनके) विपाकको जतलाता हूँ’ ?”

“नहीं, मो गौतम !”

“माणव ! क्या ब्राह्मणोंका एक आचार्य भी, एक आचार्य-प्राचार्य भी सात पीढ़ीतक महाचार्य-सुगल भी ऐसा है; जो यह कहे—‘मैं ० जतलाता हूँ’ ?”

“नहीं, मो गौतम !”

“माणव ! जो वह मंत्रों (= वेदों) के कर्ता, मंत्रोंके प्रवक्ता (= मन्त्रापक) ब्राह्मणोंके पूर्वज ऋषि थे, जिनके गीत (= गाने) संगीत, प्रोक्त पुराणे मंत्र-पद (= वेदवचन) को, आज भी ब्राह्मण उनके अनुसार जाते हैं, उनके अनुसार भाषण करते हैं, (पूर्वज ऋषियोंके) भाषणके

अनुसार भाषण करते हैं, वाचनके अनुसार वाचन करते हैं; (यह पूर्वज कृपि) जैसे कि—अष्टक (= अष्टक), वामक, वामदेव, विष्णुमित्र, यमदक्षि, अंगिरा, मास्तुज, वशिष्ठ, कवश्य, श्रुग, (क्या) उन्होंने भी ऐसा कहा है—

‘हम इन पाँच धर्मोंको खरब जान कर साक्षात्कार कर (इनके) विपाकको जतलाते हैं’ ?

“नहीं, भो गौतम !”

‘इस प्रकार मानव ! ब्राह्मणोंमें कोई एक ब्राह्मण भी नहीं है, जो यह कहे—‘मैं • जत-लाता हूँ’ । ब्राह्मणोंका • सात बीदी तक महाचार्य युगल भी नहीं है • । ब्राह्मणोंके • पूर्वज कृपियोंने • भी नहीं कहा था—‘हम • जतलाते हैं’ ।”

“नहीं, भो गौतम !”

‘जैसे मानव ! अंध-वेणि-परंपरा (= लगातार अंधोंकी पाँती) जुड़ी हो, जगला भी नहीं देखता, बिछला भी नहीं देखता, पिछला भी नहीं देखता; ऐसा ही मानव ! अन्ध-वेणि-परंपरा-सदृश ब्राह्मणोंका कहना जान पड़ता है,—पहिला भी नहीं देखता, बिछला भी नहीं देखता, पिछला भी नहीं देखता ।”

ऐसा कहनेपर • सुभ मानव भगवान्‌के अंध-वेणि-परंपरा कहनेसे कुपित, क्षतवृष्ट हो भगवान्‌को ही सुंवाते, भगवान्‌को ही माराज होते, भगवान्‌को—‘अमण गौतम खराब है’—कहते जैसे, भगवान्‌से यह बोला—

“भो गौतम ! सुभग-वन्निक औपमन्यव सुभग-वन्निक (= सुभगवन्^१-निवासी) औपमन्यव पौष्करसाति ब्राह्मण ऐसा कहता है—यह कोई कोई अमण-ब्राह्मण उत्तर-मनुष्य^२में (= अलौकिक शक्ति) = अलभ्यार्थ-ज्ञान-दर्शन-विशेषका ऐसेही (फूल) दावा करते हैं । उनका यह कथन होता, नामक^३, रिक्त = सुच्छही होता है । कैसे मनुष्य होकर कोई उत्तर-मनुष्य-धर्म अलभ्यार्थ-ज्ञान-दर्शन-विशेषको जानेगा, साक्षात्कार करेगा ? यह संभव नहीं ।”

“तो क्या मानव ! • पौष्करसाति ब्राह्मण सभी अमण ब्राह्मणोंके चित्तकी बातको जानता है ?”

“भो गौतम ! अपनी पूर्णिका वासीके चित्तकी बातको भी सुभग-वन्निक औपमन्यव पौष्करसाति ब्राह्मण नहीं जानता; कहाँसे सारे अमण-ब्राह्मणोंके चित्तकी बात जानेगा ?”

‘जैसे मानव ! जन्माव पुरुष कृष्ण-शुद्ध रूपोंको न देखे, नीले रूपोंको न देखे, पीले रूपोंको न देखे, लाल रूपोंको न देखे, मज्जीही रूपोंको न देखे, सप्त-विषम (भूमि)को न देखे, तारोंके रूपको न देखे, चन्द्र-सूर्यको न देखे । वह यह बोले—‘नहीं हैं कृष्ण-शुद्ध रूपोंके देखने वाले, •, नहीं हैं चन्द्र-सूर्यके देखनेवाले । मैं इसे नहीं जानता, मैं इसे नहीं देखता; इसलिये नहीं हैं । मानव ! वह वैसा कहते वह न कहेगा ?”

“नहीं, भो गौतम ! हैं कृष्ण-शुद्ध रूप, •, हैं चंद्र-सूर्य के देखनेवाले । मैं इसे नहीं जानता, मैं इसे नहीं देखता, इसलिये नहीं हैं—ऐसा कहते, वह ठीक नहीं कहेगा ।”

‘ऐसे ही मानव ! • पौष्करसाति ब्राह्मण अधा, नेत्रहीन है, वह उत्तर-मनुष्य-धर्म अलभ्यार्थ-ज्ञान-दर्शन-विशेषको जानेगा-देखेगा, यह संभव नहीं ।

“तो क्या मानते हो, मानव ! जो वह कोसल (वासी) ब्राह्मण महाप्राज्ञ है, जैसे कि—चंडिक ब्राह्मण, तारुह ब्राह्मण, पौष्करसाति ब्राह्मण, जलुभोणि ब्राह्मण, या तुम्हारा पिता

^१ उक्तद्वारे सुभगवन्‌का यह नामी था ।

तौदेय्य । कौनसा उनका वचन अच्छा है, जो वह संवृति (= लोक सम्मति)-अनुसार बोलें, या जो वह संवृति-विरुद्ध बोलें ?”

“संवृति-अनुसार, भो गौतम !”

“कौनसा उनका वचन अच्छा है, जो वह मंत्र-अनुसार बोलें, या जो वह मंत्र-विरुद्ध बोलें ?”

“मंत्रानुसार, हो गौतम !”

“० जो वह प्रतिसंख्यान (= सोच-समझ) कर बोलें, या जो न-प्रतिसंख्यान कर बोलें ?”

“प्रतिसंख्यान कर, भो गौतम !”

“० जो वह सार्थक बोलें, या जो वह विरर्थक बोलें ?”

“सार्थक, भो गौतम !”

“तो क्या मानते हो, मानव ! ऐसा होने पर ० पौष्करसाति ब्राह्मणने संवृति-अनुसार बात कहो, या संवृति-विरुद्ध ?”

“संवृति-विरुद्ध, भो गौतम !”

“० मंत्रानुसार या मंत्र-विरुद्ध ?” — “मंत्र-विरुद्ध ० ।”

“० प्रतिसंख्यान करके, या न प्रतिसंख्यान करके ?” — “न प्रतिसंख्यान करके ० ।”

“० सार्थक या निरर्थक ?” — “निरर्थक ० ।”

“मानव ! यह पाँच नीवरण^१ (= आवरण) हैं । कौनसे पाँच ?—(१) कामच्छन्द (= विषयोक्ता राग)-नीवरण, (२) व्यापाद् (= द्वेष)-नीवरण, (३) स्त्यान-भुद्ध (= शरीर-मनका आलस्य)-नीवरण, (४) औदित्य-कौटुह्य (= उदतपन-हिचकिचाहट)-नीवरण, (५) विचिकित्सा (= संशय)-नीवरण । मानव ! यह पाँच नीवरण हैं । ० पौष्कर-साति^२ ब्राह्मण पाँच नीवरणोंसे आवृत = निवृत (= रूँका) = लज्जित, पर्यवसद् (= चारों ओरसे रेंधा) है, वह अहो ! उत्तर अनुप्यधर्म, अलमार्थज्ञानदर्शन-विशेषको जानेगा, देखेगा, यह समझ सही ।

“मानव यह पाँच काम-गुण (= विषयभोग) हैं । कौनसे पाँच ?—(१) इष्ट-कान्त, मनाप-प्रिय, कमनीय, रंजनीय, स्वप्नु-विज्ञेय (= जानले ज्ञेय) रूप; (२) ०^३ श्रोत्र-विज्ञेय शब्द; (३) ०^४ ग्राण-विज्ञेय गंध; (४) ०^५ जिह्वा-विज्ञेय रस; (५) ० काय-विज्ञेय स्पर्श । मानव ! यह पाँच काम-गुण हैं । ० पौष्करसाति ब्राह्मण इन पाँच गुणोंको, ग्रथित (= गँथा), मूर्छित (= बेहोश), अघ्यापन्न, अदोष-दर्शी, निकलनेकी-बुद्धि-न-रखनेवाला हो योग्यता है, वह अहो ! ० ।

“तो क्या मानते हो मानव ! जो आग तृण, काष्ठके उपादानकी लेकर जलाई जाती है, और जो तृण-काष्ठके उपादानको बिना छिने जले; (दोनोंमें) कौन आग (अधिक) अर्चिमान्, वर्णवान्, और प्रमात्सर होगी ?”

“यदि, भो गौतम ! तृण-काष्ठ-उपादानके बिना आग जलाई जा सके, तो वह आग (अधिक) अर्चिमान्, वर्णवान् और प्रमात्सर होगी ।”

“मानव ! इसका स्थान नहीं, इसका अवकाश नहीं, कि जदिको ओष, तृण-काष्ठ-उपादान

^१ देखो पृष्ठ ९४ ।

^२ पौष्करसादि भी पाठ होता है ।

के बिना आग जले^१ । जैसे भाणव ! तृण-काष्ठ-उपादानसे आग जलती है, उसीके समान भाणव ! मैं इस प्रीति (= आनन्द) को कहता हूँ, जो प्रीति कि पाँच काम-गुणों (= विषयों) को लेकर (होती है) । जैसे भाणव ! तृण-काष्ठ-उपादानके बिना आग जले, उसीके समान भाणव ! मैं इस प्रीतिको कहता हूँ, जो प्रीति कि कामोंके बिना, अकुशल-धर्मों (= पापों)के बिना (उत्पन्न होती है) ।

“भाणव ! कौनसी प्रीति कामोंके बिना, अकुशल धर्मोंके बिना (उत्पन्न होती है) ? —यहाँ, भाणव ! मित्र कामोंसे विरहित^२ ० प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । भाणव ! यह भी प्रीति कामोंके बिना, अकुशल धर्मोंके बिना (उत्पन्न होती है) । और फिर भाणव ! मित्र क्लेश और विचारके शांत होनेपर ० द्वितीय ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । भाणव ! यह भी ० ।

“भाणव ! पुण्यके करने, तथा कुशलके आराधनके लिये जिन पाँच धर्मोंको ब्राह्मण प्रज्ञापन करते हैं, उनमेंसे किसको वह पुण्यके करने, तथा कुशलके आराधनके लिये सबसे अधिक फलदायी कहते हैं ?”

“ओ गौतम ! ० जिन पाँच धर्मोंको ब्राह्मण प्रज्ञापन करते हैं, उनमें त्याग धर्मको वह ० सबसे अधिक फलदायी कहते हैं ।”

“तो क्या मानते हो, भाणव ! यहाँ किसी ब्राह्मणके यहाँ महावज्र उपस्थित हो । तब दो ब्राह्मण आये—अनुक ब्राह्मणके यज्ञको अनुभव (= उपभोग) करें । उनमेंसे एक ब्राह्मणको वह हो—भोजनके समय प्रथम-आसन, प्रथम-जल, तथा प्रथम पिंड मैं ही पाऊँ, दूसरा ब्राह्मण न पावे—भोजनके समय प्रथम-आसन, प्रथम-जल, प्रथम-पिंड । हो सकता है, भाणव ! कि दूसरा ही ब्राह्मण ० प्रथम-पिंड पावे, और वह ब्राह्मण न पावे ० । तब—‘मुझे ० प्रथम-पिंड नहीं मिला’—(यह सोच) वह कुपित, असन्तुष्ट होवे । भाणव ! ब्राह्मण इसका क्या विपाक बतलाते हैं ?”

“ओ गौतम ! ब्राह्मण इसलिये ऐसा दान नहीं देते, कि उससे दूसरा कुपित, असन्तुष्ट होवे, बल्कि ब्राह्मण अनुकम्पाके स्वात्नसे (= अनुकम्पा-जातिक) ही दान देते हैं ।”

“ऐसा होनेपर भाणव ! ब्राह्मणोंके लिये यह अनुकम्पा-जातिक, कहीं पुण्य-क्रिया-वस्तु हुई ।”

“ऐसा होने पर, ओ गौतम ! ० अनुकम्पा-जातिक कहीं पुण्य क्रिया-वस्तु हुई ।”

“भाणव ! पुण्यके करने (= पुण्य क्रिया) ० के लिये जिन पाँच धर्मोंको ब्राह्मण प्रज्ञापन करते (= बतलाते) हैं, उन पाँच धर्मोंको तुम किन्हीं अधिक पाते हो, गृहस्थोंमें या ब्रह्मजिओंमें ?

“० जिन पाँच धर्मोंको ब्राह्मण प्रज्ञापन करते हैं, उन पाँच धर्मोंको ब्रह्मजिओंमें अधिक पाता हूँ, गृहस्थोंमें कम ।” “गृहस्थ महार्थ = महाकृत्य, महाधिकरण, महासमारम्भ है, (वह) सदा, निरन्तर सत्यवादी नहीं हो सकता ।” “ब्रह्मजित् अर्थात् = अव्यक्त्य, अव्याधिकरण, ननुपारम्भ होता है, (वह) सदा, निरन्तर सत्यवादी हो सकता है ।” “गृहस्थ ० महासमारम्भ है, (वह) सदा, निरन्तर तपस्वी नहीं हो सकता ० । ० ब्रह्मचारी नहीं हो सकता ० । ० स्वाध्याय-बहुल नहीं हो सकता ।” “ब्रह्मजित् ० अव्यक्त्य होता है, (वह) सदा, निरन्तर स्वाध्याय-बहुल हो सकता है । पुण्य क्रिया ० के लिये जिन पाँच धर्मोंको ब्राह्मण प्रज्ञापन करते हैं, उन पाँच धर्मोंको मैं ब्रह्मजिओंमें अधिक पाता हूँ, गृहस्थोंमें कम ।”

“भाणव ! पुण्य-क्रिया ० के लिये ब्राह्मण जिन पाँच धर्मोंको प्रज्ञापन करते हैं, मैं उन्हें

^१ यह वाक्य पूर्व-पर-संसर्गके अनुकूल नहीं है । ^२ देखो पृष्ठ २५ ।

वैर-रहित = व्यापाद-रहित चित्तकी भावनाके लिये परिष्कार (= सहायक सामग्री) कहता हूँ ।

“वहाँ, भाणव ! मिथु सत्यवादी होता है; वह मैं सत्यवादी हूँ”—(वह सोच) अर्ध-वेदको पाता है, धर्म-वेद (= धर्मज्ञान) को पाता है, और धर्म सम्बन्धी प्रमोदको पाता है । कुशल-उपसंहित (= पुण्यमय) प्रमोदको मैं वैर-रहित = व्यापाद-रहित-चित्तकी भावनाके लिये परिष्कार कहता हूँ ।....”

ऐसा कहने पर ० सुम भाणवने भगवान्‌से यह कहा—

“मैंने यह सुना है, भो गौतम ! कि अमण गौतम ब्रह्मोंकी सहस्यता (= सत्पत्ता) का मार्ग उपदेशता है ।”

“तो क्या मानते हो, भाणव ! नलकार-ग्राम (= नलकार-ग्राम) यहाँसे समीप है, नलकार-ग्राम यहाँसे दूर नहीं है ?”

“हाँ, भो गौतम ! नलकार-ग्राम यहाँसे समीप है, ० यहाँसे दूर नहीं ।”

“तो क्या मानते हो, भाणव ! यहाँ कोई पुरुष, नलकार-ग्राममें जन्मे-बड़े (वही) रहते पुरुषसे नलकार-ग्रामका मार्ग पूछें, तो भाणव ! क्या नलकार-ग्राममें जन्मे-बड़े पुरुषको नलकार-ग्राम का मार्ग पूछने पर दुविधा या जवता होगी ?”

“नहीं, भो गौतम !”

“तो क्यों ?”

“भो गौतम ! वह पुरुष नलकार-ग्राममें जन्मा-बड़ा है, उसको नलकार-ग्रामके सभी मार्ग सु-चित है ।”

“भाणव ! नलकार-ग्राममें जन्मे-बड़े उस पुरुषको नलकार-ग्रामका मार्ग पूछनेपर दुविधा, जवता हो सकती है, किन्तु सयागतको ब्रह्मलोक या ब्रह्मलोक-गामी मार्ग पूछनेपर दुविधा, जवता नहीं हो सकती। भाणव ! मैं ब्रह्मोंको जानता हूँ; ब्रह्मलोकको, और ब्रह्मलोक-गामी मार्ग (= प्रतिपद्) को, और जैसे प्रतिपल (= मार्गाब्ज) होनेपर ब्रह्मलोकमें उत्पन्न (होगा) उसे भी जानता हूँ ।”

“सुना है मैंने, भो गौतम ! अमण गौतम ब्रह्मोंकी सहस्यताका मार्ग देखता है; अच्छा हो, आप गौतम सुखे ब्रह्मोंकी सहस्यताका ही मार्ग उपदेशें ।”

“तो, भाणव ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भो !”—(कह) ० सुम भाणवने भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ने यह कहा—“क्या है भाणव ! ब्रह्मोंकी सहस्यताका मार्ग ?—वहाँ भाणव ! मिथु मैत्रीपूर्ण चित्तसे ० सारे लोकको पूर्णकर विहरता है । भाणव ! इस प्रकार मैत्री—चेतो-विमुक्ति (= मैत्रीभावना) के भावित करनेपर जितने प्रमाणमें काम किया जाता है, वह वहीं तक नहीं रह जाता, वहीं तक अवस्थित नहीं रहता है । जैसे भाणव ! धनवान्‌ बाल-बजानेवाला मोने धयाससे चारों दिशाओंको गुंता दे, ऐसे ही भाणव ! मैत्री, चेतोविमुक्तिके साथ जितने प्रमाणमें ० अवस्थित नहीं रहता । यह भी भाणव ! ब्रह्मोंकी सहस्यताका मार्ग है ।

“और फिर भाणव ! मिथु करुणा-पूर्ण चित्त से ० सारे लोकको पूर्ण कर विहरता है ० । ० मुदिता-पूर्ण चित्त से ० । ० उपेक्षा पूर्ण चित्तसे सारे लोकको पूर्ण कर विहरता है । भाणव ! इस प्रकार उपेक्षा-चेतोविमुक्तिके भावित करनेपर ० वहीं तक अवस्थित नहीं रहता । यह भी

माणव ! मझोंकी महत्त्वताका भारी है ।"

ऐसा कहनेपर तैदेय्य-पुत्र शुभ माणवने मगवान्से यह कहा—

"आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य !! भो गौतम ! जैसे चौधेको सीधा कर दे ०^१ यह मैं मगवान् गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघकी भी । आप गौतम आजसे मुझे अंजलिपत्र शरणागत उपासक स्वीकार करें ।"

तब ० शुभ माणव मगवान्के माणवको अभिनन्दित कर, अनुमोदित कर, आसनसे उठ मगवान्को कमिवादन कर प्रदक्षिणा कर चला गया ।

उस समय जानुश्रोणि ब्राह्मण दिन-दिनकी (दोपहरकी) सारे इवैत वर्णके घोड़ीके रथपर सवार हो आश्वस्तीसे वाहर जा रहा था । सब जानुश्रोणि ब्राह्मणने ० शुभ माणवको दूरसे ही आते देखा । देख कर ० शुभ माणवसे यह बोला—

"हन्त ! कहसि आप मारद्वाज दिन-दिनको आ रहे हैं ?"

"वहाँसे, भो ! मैं अमण गौतमके पाससे आ रहा हूँ ।"

"आप मारद्वाज अमण गौतमकी प्रज्ञा = व्यक्तताके बारेमें क्या समझते हैं, पंडित जान पड़ता है ?"

"भो ! कहाँ मैं और कहाँ अमण गौतमकी प्रज्ञा = व्यक्तताको जानूँगा । जो वैसा ही हो, वही अमण गौतमकी प्रज्ञा = व्यक्तताको जाने ।"

"आप मारद्वाज ! बड़ी उदार प्रशंसासे अमण गौतमको प्रशंसते हैं ।"

"भो ! क्या मैं, और क्या अमण गौतमको प्रशंसूँगा । वह आप गौतम प्रशंसित हैं, वेद-अनुष्ठोमें श्रेष्ठ हैं । ब्राह्मण पुण्य-क्रिया = कुमलाराचनके लिये जिन पाँच धर्मोंको बतलाते हैं; उन्हें अमण गौतम धैर्य-रहित = व्यापाद-रहित चित्तकी भावना करनेके लिये चित्तका परिष्कार (= सहायक सामग्री) बतलाते हैं ।"

ऐसा कहनेपर जानुश्रोणि ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ षड्वा-रथसे उतर कर उत्तरासंग (= उचरने) को (जगेऊकी भाँति) एक (दाहिने) कंधेपर कर, जिधर मगवान् थे, उधर अंजलि जोह उद्यान (= बिचोहाससे निकला शब्द) कहा—

"साम है, राजा प्रसेनजित् कोसलको; सुंदर लाम मिले है राजा प्रसेनजित् कोसलको; जिसके राज्य (= विजित) में तबागत अर्द्ध सम्पत्-संबुद्ध विहर रहे हैं ।"

१००—संगारव-मुत्तन्त (२।५।१०)

बुद्ध-जीवनी (तपस्वियों)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् महान् मिथुसंवे के साथ कोसल (देश) में चारिका करते थे ।

उस समय मंडलकप्य (= मंडल कल्प) में धानंजानी नामक ब्राह्मणी रहती थी, (जो) बुद्ध, धर्म, संघमें अभिप्रसन्ना (= अद्भुत) थी । तब (एक समय) धानंजानी ब्राह्मणी ने (अच्छे-बुरे कोता) पकड़ कर (= पकड़लेखा) उद्दान बंदाता—

“उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-संबुद्धको नमस्कार ।

उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-संबुद्धको नमस्कार ।

उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-संबुद्धको नमस्कार ।”

उस समय मंडलकप्यमें संगारव नामक माणव (= तक्ष्य ब्राह्मण पंडित) रहता था, (जो) कि) पंचवे इतिहास और (चौथे) निघंटु-केटुभ-अक्षर-प्रभेद-सहित तीनों वेदोक्त पारंगत, पद्म, वैपाकरण, लोकायत (-शास्त्र) तथा महाशूरुष-उत्तम (-शास्त्र) में परिपूर्ण था । संगारव माणवने धानंजानी ब्राह्मणीको (उक्त) वाणी उच्चारण करते सुना । सुनकर, धानंजानी ब्राह्मणीसे यह बोला—

“अ-मंगला है यह धानंजानी ब्राह्मणी, नष्टा है यह धानंजानी ब्राह्मणी; जो ब्राह्मणोंके विद्यामान होते, उस सुबक अमणककी प्रशंसा करती है ।”

“तात ! भद्रमुख ! तुम उन भगवान् के शील प्रज्ञाको नहीं जानते । यदि, तात ! भद्रमुख ! तुम उन भगवान् के शील, प्रज्ञाको जानते होते, तो, तात ! भद्रमुख ! तुम उन भगवान् का निर्वृत्त = परिभाषण न करना चाहते ।”

“तो भवति ! अब अमण गौतम मंडलकप्य में आवें, तो मुझे कहियो ।”

“अच्छा, भद्रमुख !”—(कह) धानंजानी ब्राह्मणीने संगारव माणवको उत्तर दिया ।

तब भगवान् कोसलमें कमलाः चारिका करते, जहाँ मंडल-कप्य था, वहाँ पहुँचे । वहाँ मंडलकप्यमें भगवान् तौदेव्य ब्राह्मणोंके आश्रमके बागमें विहार करते थे ।

धानंजानी ब्राह्मणीने सुना, कि भगवान् मंडलकप्यमें पहुँच गये, और ० तौदेव्य (= तौदेव्य) ब्राह्मणोंके आश्रम-वनमें विहार करते हैं । तब धानंजानी ब्राह्मणी जहाँ संगारव माणव था, वहाँ गई ; जाकर संगारव माणवसे यह बोली—

“तात ! भद्रमुख ! वह भगवान् मंडलकप्यमें पहुँच गये हैं, और ० तौदेव्य ब्राह्मणोंके आश्रम-वनमें विहार करते हैं । अब तात ! भद्रमुख ! जिसका काल समझो (वह करो) ।”

“अच्छा, भवति !”—(कह) संगारव माणवने धानंजानी ब्राह्मणीको उत्तर दे, जहाँ भग-

वान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान्‌से साथ...संमोदन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे संगारव भाणवने भगवान्‌से यह कहा—

“भो गौतम ! कोई कोई अमण-आह्वण दृष्ट-धर्म-अभिज्ञा-व्यवसान-पारमी-प्राप्त (= इसी शरीरमें जान कर, निर्वाणको-प्राप्त) हो आदि ब्रह्मचर्य (= शुद्ध-ब्रह्मचर्य) (प्रचार करने) का दावा करते हैं। वहाँ, भो गौतम ! जो अमण-आह्वण दृष्ट-धर्म-व्यवसान-पारमी-प्राप्त हो आदि-ब्रह्मचर्यका दावा करते हैं, उनमें आप कौन हैं ?”

“दृष्टधर्म-अभिज्ञा-व्यवसान-पारमी-प्राप्त हो आदि ब्रह्मचर्यके दावा करनेवालोंमें भी, भारद्वाज ! मैं भेद कहता हूँ। (१) भारद्वाज ! कोई कोई अमण-आह्वण अनुभविक (= अनुभवको माननेवाले) हैं; यह अनुभव (= श्रुति)से दृष्टधर्म-अभिज्ञा-व्यवसान-पारमी-प्राप्त हो आदि ब्रह्मचर्यका दावा करते हैं; जैसे कि वैविद्य (= तीनों वेदोंके अनुवासी) आह्वण। (२) हैं, भारद्वाज ! कोई कोई अमण-आह्वण केवल श्रद्धा मात्रसे दृष्टधर्म-अभिज्ञा-व्यवसान-पारमी-प्राप्त हो आदि ब्रह्मचर्यका दावा करनेवाले, जैसे कि तार्किक = विमर्शी। (३) हैं, भारद्वाज ! कोई कोई अमण-आह्वण पहले न सुने गये धर्मोंमेंसे स्वयं धर्मको जानकर दृष्टधर्म-अभिज्ञा-व्यवसान-पारमी-प्राप्त हो आदि ब्रह्मचर्यका दावा करनेवाले होते हैं। वहाँ, भारद्वाज ! जो अमण-आह्वण पहिले न सुने गये ० आदि-ब्रह्मचर्यका दावा करनेवाले हैं, मैं उनमेंसे हूँ। सो इस यर्थाव (= कथन)से, भारद्वाज ! तुम्हें जानना चाहिये, कि जो अमण-आह्वण पहिले न सुने गये ० आदि ब्रह्मचर्यका दावा करनेवाले हैं, मैं उनमेंसे हूँ।

“वहाँ भारद्वाज ! बोधिसे पहिले = शुद्ध न हो बोधिसत्त्व होते समय, मुझे ऐसा हुआ— ‘गृह-वास जंगल है, मैलका मार्ग है। प्रवज्या मैदान (या सुला स्थान) है। इस नितान्त सर्वथा-परिपूर्ण, सर्वथा परिशुद्ध, स्वरादे शंस जैसे (उज्ज्वल) ब्रह्मचर्यका पालन घरमें रहते सुकर नहीं है। वहाँ न मैं गिर-झड़ी सुँका, कापाय-वस्त्र पहन, घरसे बेघर (= अनागारिक) हो प्रवर्जित हो जाऊँ। सो मैं भारद्वाज ! दूसरे समय पहर (तरुण) ही, बहुत काले काले केशोंवाला, सुंदर जीवनके साथ ही, प्रथम वयसमें, अधुमुध माता-पिताके रोते, घरसे बेघर हो प्रवर्जित हुआ।

“इस प्रकार प्रवर्जित हो, ‘क्या कुशल (= अच्छा)’ का बोली (वन), अनुपम दाति-पदको ढँकते, वहाँ आलार कालाम या, वहाँ गया। जाकर आलार कालामसे बोला—‘आलुस कालाम ! मैं इस धर्म-विनय (= धर्म)में ब्रह्मचर्य-वास करना चाहता हूँ ?’ ०” भारद्वाज ! रातके तीसरे पहर यह तीसरी विद्या मुझे प्राप्त हुई; जविषा गई, विद्या आई; तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ।”

यह कहनेपर संगारव भाणवने भगवान्‌से यह कहा—

“अहो ! आप गौतमका प्रधान (= ध्यान-उत्तरता) अद्वित (= उत्तम)-प्रधान था। अहो ! आप गौतमका प्रधान सत्पुरुष-प्रधान था; जैसा कि वह आप गह्वर सन्धक्-संशुद्धका (प्रधान था)। भो गौतम ! क्या देव हैं ?”

“भारद्वाज ! मुझे स्थान (= कारण)से विदित है, कि देव हैं।”

“क्या है, भो गौतम ! जो—‘क्या देव हैं’—पूछनेपर—भारद्वाज ! मुझे स्थानसे विदित है—‘कि देव हैं’—कहते हो। ऐसा होने पर, भो गौतम ! (तुम्हारा कथन) क्या सुच्छ = मृदा नहीं होता ?”

* देखो बोधिराजकुमारसूत्र (२४५-५२), (राघवकुमारकी कथा भारद्वाजको संशोधन)।

“मारहाज ! 'क्या देव है'—पूछने पर, जो 'देव है' कहे; त्यागने विदित होने पर—'सुखे विदित है'—कहे; तभी वहाँ विश्व पुरुषको पूर्णरूपेण विश्वास करना चाहिये—'देव है' ।”

“क्यों नहीं, भो गौतम ! आरम्भमें ही सुखे (आपने) यह कह दिया ?”

“मारहाज ! लोकमें जैसे (शब्द) से यह प्रकट है—'देव है' ।”

ऐसा कहने पर संगारव मानवने भगवान्से यह कहा—

“आश्वर्य ! भो गौतम ! आश्वर्य !! भो गौतम ! जैसे जीधेको सीखा करे ०^१ यह मैं भगवान् गौतमकी शरण जाता हूँ, धर्म और सिद्धु-संघकी भी । आप गौतम आजसे सुखे अंजलिप्रद शरणागत उपासक धारण करें ।”

१० (इति माङ्गल्य-कथा २१५)



उपरि-पराणासक

[३-तृतीय-पञ्चाशक १०१-१५२]

बुराईसे हटाकर, भलाईमें प्रतिष्ठित नहीं कर सकता । मिथुनों ! इस प्रकारके पुद्गलके लिये जो करनी चाहिये ।

“मिथुनों ! इस प्रकार ० विवाद-रहित हो, अभ्यास करते यदि परस्पर वचनका अन्तर पड़ जाये, समझमें फर्क पड़ जाये, या वित्तमें भावात (= बुरा आव), अ-विश्वास, असंतोष (उन्पन्न हो जाये); तो वहाँ पहिले पक्षनालेमें जिस मिथुनको सु-वचन-तर समझे, उसे जाकर कहे—
‘आहुस ! ० विवाद-रहित हो, अभ्यास करते जो हम लोगोंका परस्पर वचनका अन्तर पड़ गया, ० उसको जाननेवाला निन्दा करेगा न ?’ ठीकसे उत्तर देते हुये उस (सु-वचन-तर) मिथुनको कहना चाहिये—
‘आहुस ! ०, ० जो हम लोगोंका परस्पर वचनका अन्तर पड़ गया ०, उसको जाननेवाला निन्दा करेगा । ‘आहुस ! इस धर्म (= बात, दोष) को छोड़े बिना निर्वाणका साक्षात्कार किया जा सकता है ?’ ठीकसे उत्तर देते हुये उस मिथुनको कहना चाहिये—
‘आहुस ! इस धर्मको छोड़े बिना निर्वाणका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता ।’ फिर दूसरे पक्षवालोंमें जिस मिथुनको सु-वचन-तर समझे, उसे जाकर कहे—
० ‘इस धर्मको छोड़े बिना निर्वाणका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता ।

“मिथु ! उस (गोलजोल करानेवाले) मिथुनको यदि दूसरा यह पूछे—
‘आहुसमान्ने इन मिथुनोंको बुराईसे हटाकर भलाईमें प्रतिष्ठित किया ?’ तो यथार्थ उत्तर देते हुये वह मिथु यह कहे—
‘आहुस ! मैं वहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । भगवान्ने मुझे धर्म उपदेशा । उस धर्मको सुनकर, मैंने इन मिथुनोंसे कहा । उस धर्मको सुनकर वह मिथु बुराई छोड़, भलाईमें प्रतिष्ठित हुये । मिथुनों ! इस प्रकार उत्तर देते हुये वह मिथु न अपनेको श्लाघेगा, न दूसरेको निन्देगा, धर्मके अनुसार ही उत्तर देगा, और न किसी धर्मोपसारी वादसुवादमें वह निन्दाका पात्र होगा ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिथुनोंने भगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१०४-सामगाम-सुत्तन्त (३।१।४)

बुद्धके मूल उपदेश । सर्वमें विवाद होनेका कारण । ताव प्रकारके फैसले । मेरु-बोटका उल्लेख ।
ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् शाक्य (देश)में, सामगाममें विहार करते थे ।

उस समय निर्गन्ध नात-पुत्त (= जैन तीर्थङ्कर महावीर) अभी अभी पावामें मरे ^१ थे । उनके मरनेपर निर्गन्ध (= जैन साधु) लोग दो भाग हो, भंडन = कलह = विवाद करते, एक दूसरेको सुखरूपी शक्तिले छेदते विहार रहे थे—‘तू इस धर्म-विनय (= धर्म)को नहीं जानता, मैं इस धर्म-विनयको जानता हूँ’ । ‘तू क्या इस धर्म-विनयको जानेगा, तू भिष्यारुह है, मैं सत्वारुह हूँ’ । ‘मेरा (कथन अर्थ-)सहित है, तेरा न-सहित है’ । ‘तूने पूर्व बोझने (की बात) को पीछे बोझा, पीछे बोझने (की बात)को पहिले बोझा’ । ‘तेरा (वाद) विना-विचारका है’ । ‘तूने वाद रोपा, तू निग्रह-स्थानमें आ गया’ । ‘जा वादसे छूटनेके लिये फिरता फिर’ । ‘तूने कहता है तो समेट’ । नातपुत्तीय निर्गन्धोंमें मानों युद्ध (= कष) हो हो रहा था ।

निर्गन्धके श्रावक (= शिष्य) जो गृही इवेत कक्षधारी, (थे) वह भी नात-पुत्तीय निर्गन्धोंमें (वैसे ही) निर्विण्ण = विरक्त = प्रतिपाण-रूप थे, जैसे कि (नात-पुत्तके) दुराध्यात (= डीक से न कहे गये), दुष्प्रवेदित (= डीकसे न साक्षात्कार किये गये), अनैवांगिक (= पार न लगाने-वाले), अनु-उपशम-संवर्तनिक (= न-प्रोत्ति-गामी), अ-सम्पद-संबुद्ध-प्रवेदित (= किसी बुद्धसे न जाने गये), प्रतिष्ठा (= नींव)-रहित = भिन्न-रूप, आश्रय-रहित धर्म-विनयमें (थे) ।

तब ^२ बुद्ध समणुद्देश पावामें कर्णवास कर, जहाँ सामगाम था, जहाँ आयुष्मान् आनन्द थे, वहाँ गया । जाकर आयुष्मान् आनन्दको अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे बुद्ध अमणोद्देशने आयुष्मान् आनन्दसे कहा—

“मन्ते ! निर्गन्ध नातपुत्त अभी अभी पावामें मरे हैं । उसके मरनेपर ० नात-पुत्तीय निर्गन्धोंमें मानों युद्ध हो हो रहा है । ० आश्रय-रहित धर्म-विनयमें (थे) ।”

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् आनन्दने बुद्ध अमणोद्देशसे कहा—

“आयुस बुद्ध ! मगवान्के दर्शनके लिये यह बात मेट-रूप है । आओ आयुस बुद्ध !

^१ अ. क. “वह नात-पुत्त तो नाकम्मा-वासी था, वह कैसे क्यों पावामें मरा । कल्प-काली उपालि गृहस्थिते वह गाथाओंसे भाषित बुद्ध पुत्तोंको चुनकर, उसने गये मृत फेंक दिया । तब मत्सर्य ही उसे पावा ले गये । वह वहाँ मरा ।”

^२ अ. क. “वह स्वधिर धर्मेसनापति (= सारिपुत्र)के छोटे भाई थे । उपसंगत न होनेके समय भिन्न लोग उनको बुद्ध समणुद्देश कहा करते थे, स्वधिर ही जानेपर भी वही कहते रहे ।”

वहाँ भगवान् हैं, वहाँ चले । चलकर वह बात भगवान्‌को कहें ।” — “अच्छा भन्ते !” —

तब ब्राह्मणान् आनन्द और सुन्द अश्वमेधोद्देश वहाँ भगवान्‌ थे, वहाँ गये, जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे हुये ब्राह्मणान् आनन्दने भगवान्‌को कहा —

“भन्ते ! यह सुन्द समुद्देश ऐसा कह रहे हैं — ‘भन्ते ! निर्गुण नातपुत्र अभी अभी पत्न्यामें मरे हैं ० ।’ तब भन्ते ! मुझे ऐसा होता है, भगवान्‌के बाद भी (कही) संघमें ऐसा ही विवाद मत उत्पन्न हो । यह विवाद बहुत जनोंके अहितके लिये, बहुत जनोंके असुखके लिये, बहुत जनोंके अवयवके लिये, देव अनुष्योंके अहित और दुःखके लिये (होगा) ।”

“तो क्या मानते हो आनन्द ! मैंने साक्षात्कार कर विन धर्मोंका उपदेश किया, जैसे कि — (१) चार स्मृति प्रमाण, (२) चार सम्मत् प्रमाण, (३) चार कविवाद, (४) पाँच इन्द्रियाँ, (५) पाँच बल, (६) सात बोधधर्म, (७) आर्य आष्टांगिक मार्ग । आनन्द ! क्या इन धर्मोंमें दो मिथुओंका भी अनेक मत (दीक्षता) है ?”

“भन्ते ! भगवान्‌ने जो यह धर्म साक्षात्कार कर उपदेश किये हैं, जैसे कि — (१) चार स्मृति-प्रमाण ० । इन धर्मोंमें भन्ते ! मैं दो मिथुओंका भी अनेक मत नहीं देखता । लेकिन भन्ते ! जो पुद्गल भगवान्‌के आश्रयसे विहस्ते हैं, वह भगवान्‌के ब रहनेके बाद, संघमें आजीव (= जीविका) के विषयमें, प्रातिमोक्ष (= मिथु विषय) के विषयमें विवाद पैदा कर सकते हैं, वह विवाद बहुत जनोंके अहितके लिये, बहुत जनोंके अ-सुखके लिये, बहुत जनोंके अवयव = अहितके लिये, देव-अनुष्योंके ० दुःखके लिये होगा ।”

“आनन्द ! जो यह आजीवके विषयमें या प्रातिमोक्षके विषयमें विवाद है, अनुत्प-
मत्यक (= छोटा) है । मार्ग या प्रतिपदके विषयमें यदि संघमें विवाद उत्पन्न हो, वह विवाद ० अहितके लिये ० । आनन्द ! वह छः विवादके मूल हैं । कौनसे छः ? आनन्द ! वहाँ मिथु (१) कोषी, पाखंडी (= उपनाही) होता है । जो मिथु आनन्द ! कोषी उपनाही होता है, वह शास्त्र (= गुरु) में गौरव-रहित, आश्रय-रहित हो विहरता है, धर्ममें भी ०, संघमें भी ०, शिक्षा (= मिथु-विषय) में घुटि करनेवाला होता है । जो मिथु आनन्द ! शास्त्रात्में ० गौरव-रहित ०, शिक्षा में घुटि करनेवाला होता है, वही संघमें विवाद पैदा करता है । वह विवाद बहुत जनोंके अहितके लिये ० होता है । इसलिये आनन्द ! इस प्रकारके विवाद-मूलको यदि तुम अपनेमें या दूसरेमें देखना, तो आनन्द ! तुम उस पापी विवाद-मूलके विनाशके लिये प्रयत्न करना । ० यदि ० यदि ० देखना, तो आनन्द ! तुम उस पापी विवाद-मूलको, मविष्यमें न होने देनेके लिये उपाय करना, इस प्रकार इस पापी विवाद-मूलकी मविष्यमें अनुत्पत्ति होगी । (२) और फिर आनन्द ! मिथु, मर्षी, पलासी होता है, जो मिथु आनन्द ! मर्षी ० । (३) ईर्ष्यालु, मत्सरो ० । (४) भ्रष्ट, मायावी ० । (५) ० पापेष्णु (= बद्ध-नीयत), मिथ्या-दृष्टि ० । (६) दृष्टि-परामर्षी, जाघ्रान-प्राही ० । आनन्द ! यदि अपनेमें या दूसरेमें इस प्रकारके विवाद-मूलको देखना, वहाँ आनन्द ! तुम इस पापी विवाद-मूलके विनाशके लिये प्रयत्न करना, ० इस पापी विवाद-मूलकी मविष्यमें अनुत्पत्तिके लिये उपाय करना, इस प्रकार इस पापी (= दुष्ट) विवाद-मूलका प्रहान (= विनाश) होता है, इस प्रकार ० इस पापी विवाद-मूलकी मविष्यमें अनुत्पत्ति होती है । आनन्द ! यह छः विवाद-मूल हैं ।

“आनन्द ! यह चार अधिकरण हैं । कौनसे चार ? (१) विवाद-अधिकरण, (२)]

अनुवाद-अधिकरण, (३) आपत्ति-अधिकरण, (४) कृत्य-अधिकरण ।

“आनन्द ! यह सात अधिकरण-समूह हैं, जिन्हें तब तब (= समय समयपर) उत्पन्न हुये अधिकरणों ० (श्रमणों) के शमय = उपशम (शांति) के लिये देना चाहिये—(१) संमुख-विनय देना चाहिये, (२) स्मृति-विनय ०, (३) अ-मूल-विनय ० । (४) प्रतिज्ञात-करण, (५) यद्भूषणिक, (६) तत्पापीषणिक, (७) तिणवत्थारक ।”

(१) “आनन्द ! संमुख विनय कैसे होता है ?—आनन्द ! मित्रु विवाद करते हैं, धर्म है या अधर्म, विनय है या अविनय । आनन्द ! उन सभी मित्रुओंको एक जगह एकत्रित होना चाहिये । एकत्रित हो धर्म (रूपी) रस्सीका (ज्ञानसे) परोक्षण करना चाहिये, जैसे वह शीत हो, वैसे उस अधिकरण (= श्रमण)को शांत करना चाहिये । इस प्रकार आनन्द ! संमुख-विनय होता है, इस प्रकार संमुख-विनयसे भी किन्हीं किन्हीं अधिकरणोंका शमन होता है ।

(२) “कैसे आनन्द ! स्मृति-विनय होता है ? यहाँ आनन्द ! मित्रु मित्रुपर पाराजिक या पाराजिक-समान (= सामन्तक) आपत्ति (= दोष)का आरोप करते हैं—‘स्मरण करो आनुस ! तुम पाराजिक या पाराजिक-समान, ऐसी घरी (= गुरुक) आपत्तिसे आपन्न हुये, वह ऐसा उत्तर देता है—आनुस ! मुझे याद (= स्मृति) नहीं कि मैं ० ऐसी गुरुक-आपत्तिसे आपन्न हूँ । उस मित्रुको आनन्द ! स्मृति-विनय देना चाहिये । इस प्रकार आनन्द ! स्मृति-विनय होता है । इस स्मृति विनयसे भी किन्हीं किन्हीं श्रमणोंका निषटारा होता है ।

(३) “आनन्द ! अमूल-विनय कैसे होता है ? यहाँ आनन्द ! मित्रु मित्रुपर गुरुक-आपत्तिका आरोप करता है ! वह ऐसा उत्तर देता है—‘आनुस ! मुझे स्मरण नहीं, कि मैं ० आपत्तिसे आपन्न हूँ । तब वह छोड़ते हुयेको लपेटता है—‘तो आयुष्मान् ! अच्छी तरह वृत्ति, क्या तुम स्मरण करते हो, कि तुम ० ऐसी ऐसी गुरुक आपत्तिसे आपन्न हुये ?’ वह ऐसा उत्तर देवे—‘मैं आनुस ! पागल हो गया था, अति-अम (हो गया था,), उन्मत्त हो मैंने बहुतसा भ्रमण-विरह आचरण किया, आपण किया, मुझे वह स्मरण नहीं होता । मूढ़ (= बेदोश) हो, मैंने वह किया । उस मित्रुको आनन्द ! अमूल-विनय देना चाहिये । इस अमूल-विनयसे भी किन्हीं किन्हीं श्रमणोंका निषटारा होता है ।

(४) “आनन्द ! प्रतिज्ञात-करण कैसे होता है ?—आनन्द ! मित्रु आरोप करनेपर या आरोप न करनेपर भी आपत्ति (= दोष)को स्मरण करता है, झोळता है, स्पष्ट करता है । उस मित्रुको (अपनेसे) बृद्धतर मित्रुके पास जाकर, बीचकों एक (पावें) कंधेपर करके, पाद-बन्धनाकर, उकड़ बैठ हाथ जोष, ऐसा कहना चाहिये—‘अन्ते ! मैं इस नामकी आपत्तिसे आपन्न हुआ हूँ, उसकी मैं प्रतिदेशना (= निवेदन) करता हूँ । वह (दूरा मित्रु) ऐसा कहे—‘दिक्ते हो (उस दोषको) ?’ ‘देखता हूँ’ । ‘जागो (इन्द्रिय-) रक्षा करना’ ।—‘रक्षा करूँगा’ । इस प्रकार आनन्द ! प्रतिज्ञात-करण (= स्वीकार=Confession) होता है । ० ।

(५) “आनन्द ! यद्भूषणिक कैसे होता है ?—आनन्द ! यदि वह मित्रु उन अधिकरणको उस आवास (= मठ)में शांत न कर सके । तो आनन्द ! उन सभी मित्रुओंको जिस आवास में अधिक मित्रु हैं, उसमें जाना चाहिये । वहाँ सबको एक जगह एकत्रित होना चाहिये । एकत्रित हो धर्म-नेत्री (= धर्म-रूपी रस्ती)का समनुमार्जन (= परीक्षण) करना चाहिये । धर्म-नेत्रीका समनुमार्जन कर ० ।

(६) “आनन्द ! तत्पापीषणिक (= तत्स पापीषणिक) कैसे होती है ? यहाँ आनन्द ! मित्रु मित्रुको ० ऐसी गुरुक-आपत्ति आरोप करते हैं—‘आयुष्मान् स्मरण करो ० तुम ऐसी

गुरुक-आपत्ति आपन्न हुये ?' वह ऐसा उत्तर देता है—'आयुस ! सुप्ते स्मरण नहीं, कि मैं • ऐसी गुरुक-आपत्ति आपन्न हुआ ।' उसको डोक्ते हुयेको वह लपेटता है—'आयुष्मान् अच्छी तरह नृणो—क्या तुम्हें स्मरण है, कि तुम • ऐसी गुरुक आपत्तिसे आपन्न हुये ?' वह ऐसा उत्तर देवे—'आयुस ! मैं स्मरण नहीं करता कि मैं, • ऐसी गुरुक आपत्ति आपन्न हुआ । स्मरण करता हूँ आयुस ! कि मैं इस प्रकारकी डोरी (= अल्पमात्रक) आपत्तिसे आपन्न हुआ ।' खोलते हुये उसको वह फिर लपेटता है—'आयुष्मान् अच्छी तरह नृणो • ?' वह ऐसा उत्तर दे—'आयुस ! मैं इस प्रकार की (= अमुक) डोरी आपत्तिमें आपन्न हुआ, पिना घूले ही स्वीकार करता हूँ; तो क्या मैं • ऐसी गुरुक आपत्ति आपन्न हो पूछनेपर न स्वीकार करूँगा ?' वह ऐसा कहता है—'आयुस ! तुम इस डोरी आपत्तिको भी पिना घूले नहीं स्वीकार करते, तो क्या तुम • ऐसी गुरुक-आपत्ति आपन्न हो पूछनेपर स्वीकार करोगे ? तो आयुष्मान् ! अच्छी तरह नृणो •'। वह यदि धोले—'आयुस ! स्मरण करता हूँ; मैं • ऐसी गुरुक-आपत्ति आपन्न हुआ हूँ । दय (= सहसा)से, ख (= प्रमाद) से मैंने यह कहा—'मैं स्मरण नहीं करता, कि मैं • ऐसी' । इस प्रकार आनन्द ! 'तत्त्वपापीयसिका' (= इसकी तौर मी कपी आपत्ति) होती है । ऐसे मी यहाँ किन्हीं किन्हीं अधिकरणोंका निबडारा होता है ।

(•) 'आनन्द ! 'तिण-वत्थारक' कैसे होता है । आनन्द ! यहाँ भंडन = कलह = विवाद से युक्त हो विहस्ते (समग्र), मित्रु यहुतसे-विरुद्ध आचार्य, भाषण, किये होते हैं । उन सभी मित्रुओंको एकराव हो एकत्रित होना चाहिये । एक हो एक पक्षवालोंमेंसे चतुर मित्रुको से उठकर घोरको एक कंधेपर कर हाथ जोड़ संकको जापित करना चाहिये—

'अन्ते ! संघ सुते, भंडन=कलह = विवादसे युक्त हो विहस्ते (समग्र), हमने यहुतसे अमण-विरुद्ध आचार्य... किये हैं, यदि संघ उचित समझे, तो जो इन आयुष्मानोंका दोष है, और जो मेरा दोष है, हव आयुष्मानोंके लिये भी और अपने लिये भी, मैं तिणवत्थारक (= घासमे ढाँकना जैसा)से बयान करूँ, (लेकिन) स्थूल-वप (= बड़ा दोष), गृही-प्रतिसंयुक्त (= गृहीत-संबंधी) होकर । मय (दूसरे) पक्षवालोंमेंसे चतुर मित्रुको आपनसे उठकर • । • । इस प्रकार आनन्द ! तिणवत्थारक (= टूणसे ढाँकने जैसा) होता है ।

'आनन्द ! यह उः धर्म साराणीय ग्रिय-करण, गुरु-करण हैं; संग्रह, अ-विवाद, सामग्री (= एकता) = एकीभावके लिये हैं । कौनसे उः ? (१) आनन्द ! मित्रुका संग्रह-चारियोंमें, गुप्त भी प्रकट भी, मैत्रीभाव-युक्त धार्मिक कर्म हो; यह भी धर्म साराणीय • । (२) और फिर आनन्द ! • मैत्रीभाव-युक्त धार्मिक कर्म • । (३) • मैत्रीभावयुक्त मानसकर्म • । (४) और फिर आनन्द ! जो कुछ मित्रुको धार्मिक लाभ, धर्मसे लब्ध होते हैं, अन्तमें प्रायः चुपकने मात्र भी, वैसे कामोंको बिना बाँटि उपभोग न करनेवाला हो, शीलवान् स-व्यवहारियोंके साथ सह-मोणी हो; यह भी धर्म • । (५) और फिर आनन्द ! जो वह शील (= आचार) कि अर्हद=अ-हिंसा, अ-शयल = अ-कलम, सेवनीय, पंडितोंसे प्रशंसित, अ-निहित, सहायि-सहायक हैं, वैसे शीलमें शील-अमण-भावयुक्त हो, गुप्त भी और प्रकट भी संग्रहचारियोंके साथ विहार करता हो; यह भी धर्म • । (६) और फिर आनन्द ! जो यह दृष्टि (= सिद्धान्त), कार्य है, नैर्घाणिक = उसके (अनुसार) करनेवालेको दुःख-अपको ले जाता है, वैसे दृष्टिसे अमण-भाव (= विचारोंके अमण-पन)से युक्त हो; गुप्त भी, और प्रकट भी संग्रहचारियोंके साथ विहार करता हो; यह भी धर्म • । आनन्द ! यह उः धर्म साराणीय • हैं ।

मगवान्ने यह कहा ; संतुष्ट हो आयुष्मान् आनन्दने मगवान्के भाषणका अभिनन्दन किया ।

१०५-सुनकवत्त-सुत्तन्त (३।१।५)

प्यान । चित्त-संयम

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वैशालीमें महावनकी कूटागारशालामें विहार करते थे ।

उस समय बहुतसे भिक्षुओंने भगवान्के पास (अपनी) आज्ञा (= निर्वाण-प्राप्ति) बखानी थी—'जन्त (= आवागमन) खतम हो गया, मज्झमर्क-वास पूरा होगया, करना था तो कर लिया, और कुछ करनेको यहाँ (वाक्य) नहीं है—यह मैं जानता हूँ ।'

सुनकवत्त (= सुनस्तव) लिच्छवि-पुत्रने सुना, कि बहुतसे भिक्षुओंने भगवान्के पास आज्ञा बखानी है—० । तब सुनकवत्त लिच्छवि-पुत्र, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे सुनकवत्त ० ने भगवान्से यह कहा—

"मन्ते ! मैंने सुना, कि बहुतसे भिक्षुओंने भगवान्के पास आज्ञा बखानी है—० । मन्ते ! भिक्षुओंने भगवान्के पास आज्ञा बखानी है—०, क्या मन्ते ! उन्होंने 'ठीक ही आज्ञा बखानी है, या यहाँ कोई कोई भिक्षु (ऐसे मौ) है; जिन्होंने अभिमानके लिये आज्ञा बखानी है ?'

"सुनकवत्त ! जिन भिक्षुओंने मेरे पास आज्ञा बखानी है—०; (उनमें) हैं ऐसे भिक्षु जिन्होंने ठीक ही आज्ञा बखानी है; हैं (उनमें) ऐसे भिक्षु भी जिन्होंने अभिमान (= अतिमान) के लिये आज्ञा बखानी है । उनमें, सुनकवत्त ! जिन भिक्षुओंने ठीक ही आज्ञा बखानी है, उनका वह (कथन) वैसा ही है; किन्तु, जिन भिक्षुओंने अभिमानके लिये आज्ञा बखानी है, उनके विषयमें तथ्यागतको ऐसा होता है—'इन्हें धर्म उपदेशेंगा' ।" और फिर यहाँ, कोई कोई मोक्ष-पुरुष प्रदत्त बनाकर, तथ्यागतके पास जाकर 'छूते' हैं । तब सुनकवत्त ! जो कि तथ्यागतको यह होता रहा—'इन्हें धर्म उपदेशेंगा', वनमें भी फर्क पड़ जाता है ।"

"भगवान् ! इसीका काल है, सुगत ! इसीका काल है, कि भगवान् धर्म उपदेशें । भगवान्से सुनकर भिक्षु धारण करेंगे ।"

"तो, सुनकवत्त ! सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहना हूँ ।"

"अच्छा मन्ते !" — (कह) सुनकवत्त लिच्छविपुत्रने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—"सुनकवत्त ! यह पाँच कामगुण हैं । कौनसे पाँच ?—(१) इष्ट ०^१ अनुविर्तय रूप, शब्द, ० गंध, ० रस, ० स्पर्शत्व । सुनकवत्त ! यह पाँच काम-गुण हैं । हो सकता है, सुनकवत्त ! यहाँ कोई पुरुष सांसारिक कामका इच्छुक (= लोभ-आमिष-अधिशुक्त) हो । सुन-

^१ विस्तारके लिये देखो पृष्ठ १९ ।

स्वतन्त्र ! सांसारिक कामके इच्छुक पुरुष=पुद्गलकी बात उसके अनुरूप ही होती है, उसके अनुरूप ही वह सोचता-विचारता है, वैसे ही पुरुषका सेवन करता है, वैसेहीके साथ संसर्ग रखता है । आनिज्य (= सुख-दुःखसे परेकी समाधि) संबंधिनी कथा कही जानेपर नहीं सुनना चाहता, नहीं कान देता, न चित्तको उपस्थित करता है, न उस (वैया कहनेवाले) पुरुषको मजता है, न उसके साथ संसर्ग रखता है । जैसे, सुनस्वत्त ! कोई पुरुष अपने माँवसे या निगमसे चिरकालसे प्रवासी हुआ हो; वह उस ग्राम या निगमसे जोहीही दिन पूर्व आये पुरुषको देखे । वह उस पुरुषसे उस ग्राम-निगमका कुशल-अंगल, सुनिश्चिता, अरोगता पूछे । उसकी वह पुरुष उस ग्राम-निगमकी * अरोगता घटलावे । तो क्या मानते हो, सुनस्वत्त ! क्या वह (चिरप्रवासी) पुरुष, उस (अचिरप्रवासी) पुरुष (की बात)को सुनना चाहेगा, काम देगा, चित्तको अन्यत्रसे उपस्थित करेगा, उस पुरुषको भजेगा, उस पुरुषके साथ संसर्ग करेगा ?”

“हाँ, भन्ते !”

“ऐसे ही सुनस्वत्त ! सांसारिक कामके इच्छुक पुरुष = पुद्गलकी बात उसके अनुरूपही होती है * न उसके साथ संसर्ग करता है ।”

“हो सकता है, सुनस्वत्त ! यहाँ कोई पुरुष आनिज्यका अनुरागी (= अधिमुक्त) । सुनस्वत्त ! आनिज्य-अनुरागी पुरुषकी कथा उसके अनुरूप होती है * वैसेहीके साथ संसर्ग रखता है । सांसारिक-काम-संबंधिनी कथा कही जानेपर नहीं सुनना चाहता * न उसके साथ संसर्ग रखता है । जैसे, सुनस्वत्त ! टेंपीसे टूटा पीला पत्ता फिर होनेके अवोम है, ऐसे ही सुनस्वत्त !
“आनिज्य-अनुरागी पुरुष * के जो सांसारिक-कामके फंदे में, वह टूट गये । उसे ऐसा चाहिए—आनिज्यानुरागी पुरुष * सांसारिक-कामके बंधनोंसे बंधुता है ।

“हो सकता है, सुनस्वत्त ! यहाँ कोई पुरुष आकिंचन्य-आयतन-अनुरागी हो । सुनस्वत्त ! आकिंचन्यायतनानुरागी पुरुषकी कथा उसके अनुरूप होती है * आनिज्य-संबंधिनी कथा कही जानेपर नहीं सुनना चाहता * न उस (कहनेवाले)के साथ संसर्ग रखता है । जैसे, सुनस्वत्त ! कोई दो टुकड़े हुई मिला न-जुड़नेवाली होती है, ऐसेही सुनस्वत्त ! आकिंचन्यायतनानुरागी पुरुष * के जो आनिज्य सम्बंधी फंदे में, वह टूट गये । उसे ऐसा समझना चाहिये—‘आकिंचन्यायतनानुरागी पुरुष * आनिज्य-बंधनोंसे बंधुता है ।

“हो सकता है, सुनस्वत्त ! * नैवसंज्ञा-नासंज्ञा-आयतन-अनुरागी हो । * । जैसे, सुनस्वत्त ! भोजन कर चुका पुरुष मनोज्ञ भोजनको ब्रजन करदे । तो क्या सुनस्वत्त ! उस पुरुषकी उस उद्योगके जानेकी फिर इच्छा होगी ?”

“तहीं, भन्ते !”

“सो क्यों ?”

“भन्ते ! वह उद्योग पूणाकी चोज है ।”

“ऐसेही, सुनस्वत्त ! नैव संज्ञा-नासंज्ञा-आयतनानुरागी पुरुष * आकिंचन्यायतनके बंधनोंसे बंधुता है ।

“हो सकता है, सुनस्वत्त ! * सम्यक्-निर्वाण-अनुरागी हो । * । जैसे, सुनस्वत्त ! सिर कटा था फिर यदने लायक नहीं होता । ऐसेही, सुनस्वत्त ! सम्यक्-निर्वाणानुरागी पुरुष * के जो

* पूर्व वैसे ही, सिर्फ आनिज्यके स्थानपर आकिंचन्यायतन आवेगा ।

* पूर्व वैया ही, नैव-संज्ञा * के योगसे ।

नैव-संज्ञा-नासंज्ञापन-सम्बन्धों में दे, वह जिब हो गये, उन्मूलित हो गये, धार-कटे ताव जैसे हो गये, अनाक्यों प्राप्त हो गये, भविष्यमें न उगने-लायक हो गये । उसे ऐसा समझना चाहिये—
सम्बन्ध-निर्वाणानुरागी पुरुष ० नैवसंज्ञा-नासंज्ञा-पतनके बंधनोंमें बँध-बुझा है ।

“हो सकता है, सुनस्वच्छ ! कि किसी भिक्षुको ऐसा हो—‘अमण (= बुद्ध) ने तृष्णाको शल्य (= बाणका कर) कहा है, अविद्याको विष-दोष, जो कि उन्द-राग (= लोभ) और ध्याप (= झोह, झेप) से रोपी जाती है । सो उस तृष्णा (= रुपी) शल्यको मैंने फेंक दिया अविद्या (= रुपी) विष दोषको हटा दिया । वैसा न होते ही मैं सम्बन्ध-निर्वाण-अनुरागी हूँ—ऐसा माननेवाला (= एवं मानी) हो । और वह, जो धर्म (= धातें) कि सम्बन्ध-निर्वाणानुरागी पुरुषके किये अ-हित (= अ-सण्याप) है, उनमें लग्न हो, आँखसे अ-हित रूपको देखकर, (उसमें) अनुयुक्त हो’ कानसे अहित शब्दको सुनकर, (उसमें) अनुयुक्त हो; ०; कानसे अहित स्मरण्यको स्पर्श कर उसमें अनुयुक्त हो; मनसे अहित धर्मको जानकर उसमें अनुयुक्त हो । तब आँखसे अ-हित रूपमें अनुयुक्त होते ०, मनसे अहित धर्ममें अनुयुक्त होते, उसके चित्त राग ध्वस्त करे । वह रागके द्वारा ध्वस्त चित्तसे मरणको प्राप्त हो, या मरण-तुल्य दुःखको ।

“जैसे, सुनस्वच्छ ! कोई पुरुष गाढ़े विषके तुझे शल्यसे बिधा हो । उसके बार-दोस्त भाई-बंद शल्यकर्ता भिक्षुको ला उपस्थित करें । वह शल्यकर्ता भिक्षु शल्यके बावके मुखसे चारों ओर से काटदे, फिर ऐषणी (= आँखार) से—‘खोजकर शल्यको निकालदे, फिर निःशेष जान किन्तु स-शेष विष-दोषको दूर करे । (फिर) वह (रोगीको) ऐसा कहे—‘हे पुरुष ! तेरा शल्य निकल गया, तू शेष निःशेषकरके हटा दिया गया, अब तुझे खतरा नहीं । (किन्तु) (१) तू पथ्य (= सण्याप) भोजनहीको खाना; अ-पथ्य भोजनके खानेसे, कहीं तेरा प्राण बहने न लगे । (२) समय समयपर घावको धोवा (३) समय समयपर व्रणके मुखपर लेप करना; समय समयपर व्रण-मुखके न घोंपेमें, समय समयपर व्रणमुखके न लेप करनेसे, कहीं पीव-ओहू तेरे व्रण-मुखमें न भर जाये । (४) हवा-भूपमें चलना-फिरना मत; हवा-भूपमें चलने-फिरनेसे कहीं मैल-हूँव तेरे व्रण-मुख (= घाव) में न चले जाये । हे पुरुष ! (५) घावकी हिफाजत करना, ‘‘१’ (तब) उस (रोगी) को ऐसा हो—‘शल्य निकल गया, विष-दोष निःशेष हट गया । अब मुझे खतरा नहीं ।’ (और) वह अ-पथ्य भोजन खाये । अपथ्य भोजन करनेसे उसका घाव बहने लगे । वह समय समयपर न घावको धोवे, न ० लेप करे । ० न धोवे, ० न लेपनेसे उसकी घावमें पीव-ओहू भर जाये । वह हवा-भूपमें चले-फिरे; ० चलने-फिरनेसे उसकी घावमें मैल-हूँव (= रज-श्लेष्म) चले जायें । वह न घावकी हिफाजत करे, उसकी हृद्य अ-पथ्य किया, और उस सशेष-विष-दोषापनयन—इन दोनोंसे घाव भारी हो जाये । वह घावके भारी होनेसे मरणको प्राप्त होवे, या मरण-तुल्य दुःखको । ऐसे ही सुनस्वच्छ ! होसकता है किसी भिक्षुको ऐसा हो—अमणने तृष्णाको शल्य कहा है ०’ वह रागद्वारा ध्वस्त चित्तसे मरणको प्राप्त हो, या मरण-तुल्य दुःखको ।

“हो सकता है, सुनस्वच्छ ! कि किसी भिक्षुको ऐसा हो—‘अमणने तृष्णाको शल्य कहा है ०’ वैसा होते—‘मैं’ सम्बन्ध-निर्वाण-अनुरागी हूँ—ऐसा समझनेवाला । और वह, जो धर्म कि सम्बन्ध-निर्वाणानुरागी पुरुषके किये अ-हित है, उनमें लग्न न हो, आँखसे अ-हित रूपको देखकर उसमें अनुयुक्त (= लग्न) न हो, ०, मनसे अहित धर्मको जानकर उसमें अनुयुक्त न हो, ० अनुयुक्त न होते उसके चित्तको राग न ध्वस्त करे । वह रागद्वारा न ध्वस्त हुये चित्तसे न मरणको प्राप्त हो,

न भरण-तुल्य दुःखको ।

“जैसे, सुनस्वच्छ ! कोई पुरुष पावे विषमें कुछे शक्यसे विधा हो ०^१ निःशेष जान निःशेष विषदोषको दूर करे, (फिर) वह ऐसा कहे—‘हे पुरुष ! ०^१ पावको हितकरत करना, ...’ । वह पथ्य भोजन पावे, पथ्य भोजन जानेसे उसका न बहने लगे, ० पीय-कोई न मरे, ० पावमें सैल-ईश न जावे । वह पावकी हितकरत करे । उसकी इस पथ्य-क्रिया और उस निःशेष विषदोषापनवन—इन दोनोंसे पाव न पड़े । वह छवि (= ऊपरी चमत्ता)-सहित भरे पावके कारण न भरणको प्राप्त हो, न भरण-तुल्य दुःखको । ऐसेही सुनस्वच्छ ! हो सकता है, किसी भिक्षुको ऐसा हो—भक्षणने लूणाको शक्य कहा है ०^१ वह रागद्वारा न ध्वस्त हुये चित्तसे न भरणको प्राप्त हो, न भरण-तुल्य दुःखको ।

“सुनस्वच्छ ! अर्थ (= वात)को समझानेके लिये मैंने यह उपमा दी है । यहाँ यह अर्थ है—क्षण (= घाव) वह छः भाष्यात्मिक (= शरीर संघर्षी) जायतनोंका नाम है । विष-शोष ... यह अविद्याका नाम है । शक्य यह ... लूणाका नाम है । पेयणा यह ... स्थिति (= होना रखने) का नाम है । राक्ष यह ... आर्य-प्रज्ञाका नाम है । शक्यकर्ता भिक्षु यह ... लयागत-अर्हत् सम्यक्-संयुक्तका नाम है ।

“सुनस्वच्छ ! जो भिक्षु छः स्पर्शावतनों (= चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मनके (विषयों)में संयमी है, ‘उपधि (= विषय-संग्रह) दुःखका मूल है’—इसे जान उपधि-रहित हो, उपधिके क्षमसे मुक्त हो गया है, वह उपधिमें कायाको लगावेगा, या चित्तको देगा, वह संभव नहीं । जैसे, सुनस्वच्छ ! आवलोरा (= आपानोप-कोस) वर्णवान् (= सुन्दर वर्ण) ... हो, (किन्तु) विषसे जित हो । तब कोई जीवनका इच्छुक, भरणका अनिच्छुक नहीं, सुखकीर्षी, दुःख-विरोधी पुरुष पावे । तो क्या मानते हो, सुनस्वच्छ ! क्या वह पुरुष उस आवलोरेसे पियेगा । यदि जानता है, कि इसके पीनेसे मैं भरणको प्राप्त होऊँगा, या भरण-तुल्य दुःखको ?”

“नहीं, भन्ते !”

“ऐसे ही, सुनस्वच्छ ! जो भिक्षु छः स्पर्शावतनोंमें संयमी है ०^१ वह उपधिमें कायाको लगावेगा, या चित्तको देगा, यह संभव नहीं ।

“जैसे, सुनस्वच्छ ! जहरीला साँप (= आशीविष) हो । तब कोई जीवनका इच्छुक ० पुरुष पावे । तो क्या मानते हो, सुनस्वच्छ ! क्या वह पुरुष इस जहरीले (= चोर विष) साँपको अपना हाथ-पैर मँगुली देगा, यदि जानता है, कि इसके डँतनेसे मैं भरणको प्राप्त होऊँगा या भरण-तुल्य दुःखको ?”

“नहीं, भन्ते !”

“ऐसे ही, सुनस्वच्छ ! जो भिक्षु छः स्पर्शावतनोंमें संयमी है ०^१ वह उपधिमें कायाको लगावेगा, या चित्तको देगा, यह संभव नहीं ।”

मगवान्ने यह कहा, स्तुष्ट हो, सुनस्वच्छ सिद्धविपुलने भगवान्के भाषणको अभि-
नन्दित किया ।

^१ देखो पृष्ठ ४४७ ।

^२ देखो ऊपर ।

१०६—आर्नैज-सप्पाय-सुत्तन्त (३।१।६)

भोग निस्तार है

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कुन्द (देश) में, कुन्दोंके कामास्तदम्भ (= कामास्त-दम्भ) नामके निगम (= कस्ये) में विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“अहन्त !” कह उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! काम (= विषय भोग) अनित्य, गुच्छ-सुप्पा (ब्रूठा), नाशमान है । भिक्षुओ ! यह भाषासे कने, यहाँके बहकाव है । भिक्षुओ ! जो कि यह ऐहिक (= दृष्ट-धर्मों, इस शरीरके) काम है, और जो पारलौकिक (श्रोपरायिक) काम है, जो कि काम-संज्ञा (= विषयों का स्वाल) और जो पारलौकिक काम संज्ञा है, यह दोनों मार का एक ही है, मार का विषय है, मार का (फैसानेके क्रिये फैसा) चारा (= निपाप) है, मार का एक कोचर (= लक्ष्य) है । यहाँ यह पापक = अ-कुशल (= दुःख) मनके (भाव) उत्पन्न होते हैं—अभिध्या (= लोभ) भी, व्यापार (= द्वेष) सारम्भ (= मोहा) भी, और यह इसे अभ्यास करनेवाले आर्य आचकके धमाराय (= विम) होते हैं ।

(१) “यहाँ भिक्षुओ ! आर्य-आचक यह सोचता है—‘जो यह ऐहिक काम है • आर्य-आचक के अन्तराय होते हैं । क्यों न मैं विपुल = महज्ज (= विप्राक) चित्तसे लोककों अभिभूत (= वश में) कर, मनसे अशिक्षित कर बिहर्ने (इस प्रकार) जो अभिध्या, व्यापार, सारम्भ—भ्रान्तिक बुराईयाँ न होंगी । उनके नाश (= प्रहाण) से मेरा चित्त अ-परीत = अ-प्रसाध (= विप्राक), सु-भावित (= सुसंयत) होगा ।’ उसके इस प्रकार संलग्न (= प्रतिपन्न) होने पर, बहुतायतसे इस प्रकार बिहर्ने पर आकतन (= स्थान) में चित्त प्रसन्न होता है । सं-प्रसाद (= पूरी प्रसन्नता, चित्त शुद्धि) होने पर उन्ही समय वह आर्नैजको प्राप्त होता है, या प्रशाद्वारा मुक्त होता है, और कापा छोक सरने के बाद, यह जगह (= संभव) है, कि उस प्रकार लभ विज्ञान (= जीवन) आर्नैजको प्राप्त होवे । भिक्षुओ ! आर्नैज-सत्पाय (= आर्नैज-सप्पाय = आर्नैज-उपयोगों) की यह प्रथम प्रतिपत्ता (= मार्ग) कही जाती है ।

(२) और फिर भिक्षुओ ! आर्य-आचक यह सोचता है—‘जो यह ऐहिक काम है • और जो पारलौकिक काम संज्ञा है । जो कुछ रूप—चार महाभूत हैं, और चारो महाभूतोंको छेकर जो रूप है, वह मार का फैसा है •’ आर्य-आचकके विम होते हैं । क्यों न मैं विपुल • चित्तसे • बिहर्ने • ।

१ छपर भावे जैसा ।

० मेरा चित्त ० सुभाषित होगा' । उसके इस प्रकार संलभ होने पर ० । संप्रसाद होने पर उसी समय वह आर्नेजको प्राप्त होता है ० । और वह संभव है, कि काया छोड़ मरनेके बाद, इस प्रकार लभ विज्ञान (= जीवन) आर्नेजको प्राप्त होवे । भिक्षुओ ! आर्नेज-संप्रदायकी (वह) दूसरी प्रतिपदा कही जाती है ।

(३) और "फिर ० जो पारलौकिक काम-संज्ञा है । जो ऐहिक रूप है, जो पारलौकिक रूप है, जो ऐहिक रूप-संज्ञा है, जो पारलौकिक रूप-संज्ञा है । वह दोनों अनित्य है । जो अनित्य (= नाशवान) है, उसको अभिनंदित करना, अभिवंदित करना, उचित नहीं ।" उसके इस प्रकार संलभ होने पर ०, ० । भिक्षुओ ! ० तीसरी प्रतिपदा कही जाती है ।

(१) "और फिर ० जो पारलौकिक काम-संज्ञा ०" जो पारलौकिक रूप संज्ञा है, और जो आर्नेज-संज्ञा (= आर्नेजपदका स्वात्त) यह सारी संज्ञाएँ (= स्वात्त) जहाँ विस्तृत ही निरुद्ध होती हैं, वह आकिचन्दायतन शान्त, प्रणीत (= उत्तम) है । उसके इस प्रकार संलभ होने पर, धनुत्तायतसे इस प्रकार विहरने पर कायतनमें चित्त प्रसन्न होता है । संप्रसाद होने पर उसी समय वह आकिचन्दायतनको प्राप्त होता है, या प्रज्ञाद्वारा मुक्त होता है; और (अन्यथा) काया छोड़ मरने बाद, वह जगह है, कि उस प्रकार लभ विज्ञान (= जीवन) आकिचन्दायतनकी प्राप्त होवे । भिक्षुओ ! आकिचन्दायतन-परंप्रायकी प्रथम प्रतिपदा कही जाती है ।

(२) "और फिर भिक्षुओ ! आर्थ भावक, अरण्य, वृक्षके नीचे या शून्य गृहमें रहते हुये यह सोचता है—'यह (सब संसार) आत्मा या आत्मीयसे शून्य है'—उसके इस प्रकार संलभ होने पर ०" उस प्रकार लभ विज्ञान आकिचन्दायतन को प्राप्त होवे । ० दूसरी प्रतिपदा कही जाती है ।

(३) "०—'न मैं कहीं किसीका कुछ हूँ, न मेरा कहीं किसीमें कुछ है' । भिक्षुओ ! इस प्रकार संलभ होने पर ०" ० तीसरी प्रतिपदा कही जाती है ।

"और फिर भिक्षुओ ! आर्थ भावक यह सोचता है—जो कुछ ऐहिक काम है, जो कुछ पारलौकिक काम—है; ० काम-संज्ञा ०; ० रूप ०; ० जो कुछ ऐहिक रूप-संज्ञा है, और जो कुछ पारलौकिक रूप-संज्ञा है, और जो आकिचन्दायतन-संज्ञा है—यह सारी संज्ञाएँ जहाँ विस्तृत निरुद्ध होती हैं, वह नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन शान्त, प्रणीत है । उसके इस प्रकार संलभ होने पर ० । संप्रसाद होने पर, उसी समय वह नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको प्राप्त होता है, या प्रज्ञाद्वारा मुक्त होता है, (अन्यथा) काया छोड़ मरनेके बाद, संभव है, कि उस प्रकार लभ विज्ञान नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको प्राप्त होवे । भिक्षुओ ! यह नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन की प्रतिपदा कही जाती है ।"

ऐसा कहने पर आशुप्मान् आर्नेजने भगवान्से यह कहा—

"भन्ने ! यहाँ (कोई) भिक्षु इस प्रकार प्रतिपन्न (= समझनेवाला) है—'न होता, न मेरा होता, न होमा; न मेरा होमा; जो है, जो विद्यमान है, उसे मैं त्यागता हूँ'—इस प्रकार (वह) उपेक्षाको प्राप्त करता है । क्या भन्ने ! ऐसा भिक्षु परिनिर्वाणो (= निर्वाण प्राप्त करने वाला है ?)"

"आनन्द ! कोई ऐसा भिक्षु निर्वाण प्राप्त कर सकता है । कोई ऐसा भिक्षु नहीं भी... प्राप्त कर सकता है ।"

"भन्ने ! क्या हेतु है, क्या प्रसन्न है, जो कि कोई ऐसा भिक्षु निर्वाण प्राप्त कर सकता है, कोई ऐसा भिक्षु नहीं भी... प्राप्त कर सकता है ?"

“आनन्द ! यहाँ (जो) भिक्षु इस प्रकार प्रतिपद्य है—‘न होता, ०, उसे मैं स्वागत हूँ’—इस प्रकार उपेक्षा को प्राप्त करता है । (तब) जो उस उपेक्षाको अभिनन्दित = अभिवन्दित करता है, उसमें आसक्त हो रहता है । ” (तो) विज्ञान (= चित्त-प्रवाह) उसमें निहित (= लिप्त) होता है, उसको उपादान (= ग्रहणकी इच्छा, आसक्ति) करनेवाला होता है । आनन्द ! उसको उपादान करनेवाला भिक्षु निर्वाणको नहीं प्राप्त होता । ”

“मन्ते ! कहाँ वह भिक्षु उपादान (= ग्रहण) करते, उपादान करता है ! ”

“आनन्द ! नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको । ”

“मन्ते ! वह उपादान करते भी श्रेष्ठ उपादानको उपादान कर रहा है । ”

“आनन्द ! वह भिक्षु उपादान करते हुये, श्रेष्ठ उपादानको उपादान कर रहा है । आनन्द ! यही श्रेष्ठ उपादान है, जो कि (यह) नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन है । आनन्द ! यहाँ इस प्रकार समझनेवाला होता है—‘न होता, ० उसे मैं स्वागत हूँ’—इस प्रकार वह उपेक्षाको प्राप्त करता है । (किन्तु) वह इस उपेक्षाको अभिनन्दित = अभिवन्दित नहीं करता, उसमें आसक्त नहीं होता ; ” (तो) विज्ञान उसमें निहित (= लिप्त) नहीं होता, उसको उपादान करनेवाला नहीं होता । आनन्द ! उसको उपादान करनेवाला भिक्षु निर्वाणको प्राप्त होता है । ”

“आश्चर्यं मन्ते ! अद्भुत ! कारण-कारणसे (= निस्साय) मन्ते ! मगवान्ने हमें ओष-निलक्षण (= संसार-प्रवाहको पार होना) बतलाया । मन्ते ! क्या है आर्य-विमोक्ष ? ”

“यहाँ, आनन्द ! आर्यश्रावक यह सोचता है—जो कुछ ऐहिक काम ०, जो आनन्द-संज्ञा-नासंज्ञायतन-संज्ञा है, जो नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन-संज्ञा है, यह सत्काय है; यहाँ तक सत्काय है । उरः न हो, चित्तका जो विमोक्ष (मोक्ष, छूटना) है, यह असूत है ।

“आनन्द ! इस प्रकार मैंने आनन्द-सम्पाद प्रतिपदा उपदेशों, नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन प्रतिपदा उपदेशों, कारण (कह कद कर) ओष-निलक्षणको उपदेशों, आर्य-विमोक्षको उपदेशों । आनन्द ! जो कुछ अनुकम्पा करके, अनुकम्पक, हितैषी श्रास्ता (= गुरु) को करना चाहिये, वह मैंने तुम्हारे लिये कह दिया । आनन्द ! यह वृक्ष-मूल (= वृक्षोंकी) छाया है, यह शून्य-गृह है, आनन्द ! (इनमें बैठकर) ध्यान करो, मत प्रमाद (= गुरुलत) करो; मत थोड़े अफसोस करना । तुम्हारे लिये यह हमारी सीख (अनुशासन) है । ”

मगवान्ने वह कहा, कन्तुष्ट हो आयुष्मान् आनन्दने मगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१०७-गणक-मोगलान-सुत्तन्त (३।१।७)

कर्मशः धर्ममें प्रगति

देखा मैंने सुना—

एक समय भगवान् धावस्तीमें मृगारमाताके आलाव् पूर्वोत्तममें विहार करते थे ।

तब गणक-मोगलान (= मीहगणवापन) ब्राह्मण, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, जाकर भगवान्के साथ संसोदन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठे गणक-मोगलान ब्राह्मणने भगवान्से यह कहा—

“जैसे, भो गौतम ! इस मृगार-माताके प्रासादमें अंतिम सोपातके कलेवरतक कर्मिक (= दूकै-यदूकै) शिक्षा, कर्मिक शिक्षा, कर्मिक प्रतिपदा (= रास्ता) देखी जाती है । इन ब्राह्मणोंके सम्भवप्रभमें भो, भो गौतम ! कर्मिक शिक्षा ० देखी जाती है । इन धनुर्धरोंके द्यु-अखमें भी कर्मिक शिक्षा ० देखी जाती है । हम गणकों = गणनासे जोखिका करतेवालोंके संख्यान्त (= गणना Account) में भी कर्मिक शिक्षा ० देखी जाती है । हम अन्तेवासी (विद्यार्थी) प्राज्ञोंके यह गिनवाते हैं—एकका एक, दुकके दो, तिकके तीन, चड्डके चार, पाँचके पाँच, छकके छः, सत्ते सात, अठ्ठे आठ, नवार्द नौ, दहाई दस । भो गौतम ! हम सौ (तक) भी (इसी तरह) गिनवाते हैं । क्या, भो गौतम ! इस (आपके) धर्म-विनय (= धर्म) में भी इसी प्रकार कर्मिक शिक्षा ” बतलाई जा सकती है ? ”

“बतलाई जा सकती है, ब्राह्मण ! इस धर्म-विनयमें भी कर्मिक शिक्षा ० । जैसे, ब्राह्मण ! चातुर चातुक्सवार, उत्तम खेतके (= आज्ञानीय) मद्र अइवकों पाकर पहिले सुँहमें (लगान) पकवानेकी किया (= कारण) सिचलाता है, फिर आगेकी किया बतलाता है, ऐसे ही ब्राह्मण ! तत्थागत इन्द्रिय (= संयत) बनाने आसक गुरुष को पाकर पहिले इस प्रकार सिखाते (= विनय देते) हैं—‘आ, भिक्षु ! त् शीलवान् बन, प्राप्तिमोक्ष (= भिक्षु-नियम) संवर (संयम) से संयत हो, आचार-गोचर (= सदाचार) से सम्पन्न (= शुद्ध) हो, अणुमात्र वष (= दोष) में नय खाते विहर, शिक्षा-पदों (= भिक्षु-नियमों) को ग्रहणकर (उनका) अन्वास कर ० ।

“ब्राह्मण ! जब भिक्षु शीलवान् होता है, ० शिक्षापदोंको स्वीकार कर (उनका) अन्वास कर लेता है, तब उसे तत्थागत आगेका विनय देते (= छे चले) हैं—‘आ, भिक्षु ! त् इन्द्रियोंमें गुहवार (= संयत-इन्द्रिय) हो—बहुमे रूपको देख निमित्तपादो, अनुद्वयंजन-माही मत हो ० ’ बहु-इन्द्रियका संवर (= संयम) कर । ओरसे शब्दको सुन ०, आणसे गंधको सूँघ ०, जिह्वासे रसको चख ०, कायासे स्पृश्याको छू ०, मनसे धर्मको जान ० मन-इन्द्रियका संवर कर’ ।

१ देखो दृष्ट १५८ ।

“ब्राह्मण ! जब मिथु इन्द्रियोंमें गुह्यद्वार हो लेता है; तब उसे तथ्यागत आगेका विनय देते हैं—‘जा, मिथु ! तू भोजनमें मात्रा (= परिमाण) का ब्याल रखनेवाला बन, ०^१ सुखपूर्वक विहार होवेगा ।’

“ब्राह्मण ! जब मिथु भोजनमें मात्रा हो लेता है; तब उसे तथ्यागत आगेका विनय देते हैं—‘आ, मिथु ! तू जागरणमें तत्पर हो ०^२ अन्तिम धाममें बैठकर टहलने बैठने या (अन्य) आचरणोप धर्मोंसे चित्तको सुदृढ़ कर’ ।

“ब्राह्मण ! जब मिथु जागरणमें तत्पर हो लेता है; तब उसे तथ्यागत आगेका विनय देते हैं—‘आ, मिथु ! तू स्मृति^३ ‘संप्रजन्म’ से संयुक्त हो; जाने-जानेमें ०^४ थोड़ने, सुप रहनेमें संप्रजानकारी हो’ ।

“०—‘आ, मिथु ! तू एकान्तमें—०^५ वासकर ० । विधिक्रियासे चित्तको सुदृढ़ करता है । वह इन पाँच नीवरणोंको चित्तसे हटा ०^६ सतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है ।

“ब्राह्मण ! जो मिथु शैक्ष्य (= जिन्हें अभी सीखना बाकी है, जो अभी निर्वाणको नहीं प्राप्त हुये), धनकी (शुद्ध-जवत्वा) को न-प्राप्त हैं, जो अनुपम योग-क्षेम (= निर्वाण) की इच्छासे विहर रहे हैं, उनके लिये मेरी सीख इस प्रकार होती है; और जो मिथु अर्हत् क्षीणाश्रय (= चित्त-मल-विसुक्त), (ब्रह्मचर-) वास-पूरा कर चुके, कृत-कृत्य, भार-मुक्त, लब्ध-अर्थ (= निर्वाण)-प्राप्त, मय-ईशान-विहीन, डीकसे-जानकर-मुक्त हैं; उनके लिये यह बातें (धर्म) इसी शरीरमें सुख पूर्वक विहारके लिये, तथा स्मृति-संप्रजन्म (= होश-चेत) के लिये हैं ।”

ऐसी कहनेपर गणक भोगलान ब्राह्मणने भगवान्से यह कहा—

“जो आप गौतमके श्रावक (= शिष्य) आप गौतमके इस प्रकार अववाद = अनुशासन (= उपदेश) करनेपर सभी अत्यन्त-निहावाले निर्वाणको आराधन करते हैं, या कोई कोई नहीं आराधन करते ?”

“ब्राह्मण ! मेरे कोई कोई श्रावक, ० अनुशासन करने पर अत्यन्त निहावाले निर्वाणको आराधन करते हैं, कोई कोई नहीं भी आराधन करते ।”

“तो गौतम ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, जो निर्वाणके रहने, निर्वाण-गामी प्रतिपदा (= मार्ग) के रहने, आप गौतम (जैसे) (मार्ग-) देष्टा रहते भी, कोई कोई आप गौतमके श्रावक ० अनुशासन करने पर भी, ० निर्वाणको आराधन करते हैं, और कोई कोई नहीं आराधन करते ?”

“तो, ब्राह्मण ! तुम ही पूछता हूँ; जैसा तुम्हें शोक मालूम हो, वैसे इसका उत्तर दो । तो क्या मानते हो, ब्राह्मण ! राजगृहको जानेवाले मार्गसे तुम सुपरिचित हो न ?”

“हाँ, भो ! मैं राजगृह-गामी मार्गसे सुपरिचित हूँ ।”

“तो क्या मानते हो, ब्राह्मण ! यहाँ कोई राजगृह जाने वाला पुरुष आवे; और तुम्हारे पास आकर यह कहे—‘अन्ते ! मैं राजगृह जाना चाहता हूँ, सो तुमसे राजगृहका मार्ग पतलाहूँ ।’ तब उसे तुम यह कतलानो—‘हे पुरुष ! यह मार्ग राजगृहको जाता है, इससे थोड़ा जानो । इससे थोड़ा जाकर बहुत नामवाला गाँव देखोगे । वहाँसे थोड़ा (जाने) जाओ; ... थोड़ा जाकर, बहुत नामवाला गाँव देखोगे । वहाँसे थोड़ा (आगे) जाओ; ... थोड़ा जाकर, राजगृहके आराम-सौन्दर्य, वन-सौन्दर्य, मृत्ति-सौन्दर्य, पुष्करिणी-सौन्दर्यको देखोगे’ । वह तुम्हारे ऐसा कहने, ऐसा उपदेशने पर

^१ देखो पृष्ठ १५८ ।

^२ देखो पृष्ठ १३ ।

^३ देखो पृष्ठ १५ ।

कुरास्ता पकव पीलेकी ओर चला जाये । फिर दूसरा राजगृह जानेवाला पुरुष जाये, और तुम्हारे पास आकर यह कहे—“भन्ते ! ०” । ०—“हे पुरुष ! ० पुष्करिणी सौर्धको देखोगे” । वह तुम्हारे ऐसा कहने ० पर स्थिति पूर्वक राजगृह चला जाये । ब्राह्मण ! क्या हेतु है, क्या प्रस्थाय है, जो राजगृहके रहते, राजगृह-गामी मार्गके रहते, तुम (जैसे) (मार्ग-) देहाके रहते, तुम्हारे द्वारा इस प्रकार उपदेशित = अनुशासित होनेपर भी एक पुरुष कुरास्ता पकव पीलेकी ओर चला जाता है; और दूसरा स्थिति पूर्वक राजगृह पहुँच जाता है ?”

“ओ गौतम ! यहाँ मैं क्या करूँ ? ओ गौतम ! मैं तो मार्ग वतलानेवाला (= मार्ग-ज्वायी) हूँ ।”

“ऐसे ही, ब्राह्मण ! निर्वाणके रहते, निर्वाणगामिनी प्रतिपदाके मेरे (जैसे) (मार्ग-) देहाके रहते भी, कोई कोई मेरे आशय ० अनुशासन करने पर भी, ० निर्वाणको आराधन करते हैं, और कोई कोई नहीं आराधन करते । ब्राह्मण ! यहाँ मैं क्या करूँ ? ब्राह्मण ! तथागत तो मार्ग वतलानेवाले हैं ।”

ऐसा कहनेपर गणक सोमालान ब्राह्मणने भगवान्से यह कहा—

“ओ गौतम ! जो पुरुष (= पुरुष) कि है—अध्वद्वालु, क्षंशपात्मा (= विचिकित्स) , अध्वर्षक-धरसे-वेधर हो-न-प्रमज्जित, सठ = मावावी, कैटुभी (= डोंगी), उद्धत = उज्जल, चपल, सुखर, अर्धपत-भाषी, अर्धपत-इन्द्रिय, भोजनमें अ-मात्रा-ज्ञ, जागरणमें न-तत्पर, आमण्ड (= भिक्षुके कर्तव्य) के-अनिच्छुक्त, शिक्षा (= भिक्षु-नियम) में-गौरव-रहित, बाहुलिक (= बटोर) = साधलिक, भागनेमें पहिले होनेवाले, प्रविवेक (= एकान्त चिन्तन) में-ज्वा-कैट-देनेवाले, (= आलसी), हीनवीर्य (= अनुशोभी), सुषित-स्मृति (= के-होष), असंप्रज्ञान (= अचेत), अ-समाहित = अज्ञान-चित्त, दुस्प्रज्ञ, एव-सूक्त (= भेद और गुँगे जैसे), उनके साथ साथ गौतम निवास नहीं करते । और जो कुल-पुत्र कि है—अध्वर्षक धरसे-वेधर हो-प्रमज्जित, अ-सठ=अ-मावावी, अ-कैटुभी, अन्-उद्धत=अन्-उज्जल, अ-चपल, अ-सुखर, संपत-भाषी, संपत-इन्द्रिय, भोजनमें-मात्रा-ज्ञ, जागरणमें-तत्पर, आमण्डके-इच्छुक्त, शिक्षा में-गौरव-वीर्य-सूक्त, न-बाहुलिक = न-साधलिक, भागनेमें—ज्वा-कैट-देनेवाले, प्रविवेकमें-पहिले-होनेवाले, आरब्ध-वीर्य (= उद्योगी), प्रहितात्मा (समाहित), उपस्थित-स्मृति (= होशवाले), संप्रज्ञान (= सचेत), समाहित=एकाग्रचित्त, ब्रह्मज्ञान, अन्-सूक्त-सूक्त, उनके साथ साथ गौतम निवास करते हैं ।

“जैसे, ओ गौतम ! जितने मूल-गंध (= जड़ोंमें होने वाले सुगंधित द्रव्य) हैं, कालानु-सारिक (= फल) उनमें सर्वश्रेष्ठ है; जितने सार-गंध (= सारमें होनेवाले सुगंधित द्रव्य) हैं, लोहित-चन्दन (= लाल चंदन) उनमें सर्वश्रेष्ठ है; जितने पुष्प-गंध हैं, सर्पिका (= गुहरी) उनमें सर्वश्रेष्ठ है; ऐसे ही आप गौतमका वाद (= मत) आजकलके दूसरे वादोंमें सर्वश्रेष्ठ है ।

“आश्चर्य ! ओ गौतम ! आश्चर्य ! ओ गौतम ! जैसे ऊँधिको सीधा करदे ०” आप गौतम आजसे मुझे अंगलियत आरागत, उपसक्त स्वीकार करें ।”

१०८—गोपक-मोगलान-सुत्तन्त (३।१।८)

बुद्धके बाद मिथुनीका मार्ग देहा

ऐसा मैंने सुना—

एक समय—भगवान्‌के परिनिर्वाणके बोधेही समय बाद, आयुष्मान्‌ आनन्द राजगृहमें वैष्णवन् कलन्दक-निवापमें विहार करते थे ।

उस समय मगधराज अजातशत्रु वैदेहिपुत्र, राजा प्रद्योतके अवसे नगरको सुरक्षित कर रहा था । तब आयुष्मान्‌ आनन्द पूर्वाह्न समय पहिन कर पाष-चीवरले राजगृहमें भिक्षाके लिये प्रविष्ट हुये । तब आयुष्मान्‌ आनन्दको यह हुआ—राजगृहमें भिक्षाचारके लिये अभी बहुत सवेरा है; क्यों न मैं, जहाँ गोपक मोगलान (= भौद्धमहायान) ब्राह्मणकी खेती (= कर्मन्त) है, जहाँ गोपक मोगलान ब्राह्मण है, वहाँ चले । तब आयुष्मान्‌ आनन्द, जहाँ गोपक मोगलान ब्राह्मण था, वहाँ गये । गोपक मोगलान ब्राह्मणने दूरसे ही आयुष्मान्‌ आनन्दको आते देखा । तब आयुष्मान्‌ आनन्दसे यह बोला—

“आइये, आप आनन्द, स्वागत है, आप आनन्दका । चिरकालके बाद आप आनन्दका यहाँ आना हुआ । आप आनन्द बैठिये, यह आसन बिछा है ।”

आयुष्मान्‌ आनन्द बिछे आसनपर बैठ गये । गोपक मोगलान ब्राह्मण भी एक नीचे आसनको लेकर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे गोपक मोगलान ब्राह्मणने आयुष्मान्‌ आनन्द से यह कहा—

“ओ आनन्द ! क्या आप सबमें एक मिथु भी (कोई) ऐसा है, जो कि सारेके सारे, सब तरहसे सारे उन धर्मों (= गुणों) से युक्त हो, जिनसे संयुक्त कि आप गौतम जहाँ सम्मत्-संयुक्त थे ?”

“नहीं, ब्राह्मण ! हममें एक मिथु भी ऐसा (नहीं) है, जो कि सारेके सारे • जिनसे संयुक्त कि वह भगवान्‌ जहाँ सम्मत्-संयुक्त थे । ब्राह्मण वह भगवान्‌ अनुत्पन्न मार्गके उपादक, न-जाने मार्गके आनन्दहार, अन्-आख्यात (= न कहे) मार्गके आपसता, मार्गज्ञ, मार्ग-विद्, मार्ग-कोविद् थे । पीछेसे आये आजकलके आवक (= बुद्ध-शिष्य) मार्ग-अनुगामी हो बिहर खे हैं ।”

आयुष्मान्‌ आनन्द और गोपक मोगलान ब्राह्मणके बीच यह कथा चल रही थी, कि उसी समय मगध-महामान्य वस्सकार (= वर्षकार) ब्राह्मण राजगृहमें होते (सैनिक तैयारीके) कामों की देख भाल करते जो गोपक मोगलान ब्राह्मणका कर्मन्त (= स्वकार-वार) था, जहाँ आयुष्मान्‌ आनन्द थे, वहाँ गया, जाकर आयुष्मान्‌ आनन्दके साथ • संमोदन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे • वर्षकार ब्राह्मणने आयुष्मान्‌ आनन्दसे यह कहा—

“भो आनन्द ! कित्ता बातको करते आप लोग बैठे थे, आप दोनोंमें क्या बात चल रही थी ?”

“ब्राह्मण ! अभी सुझे गोपक भोगलान ब्राह्मण पूछ रहा था—‘भो आनन्द ! क्या एक भिक्षु भी ० संजुद थे ?’ ऐसा पूछने पर, ब्राह्मण ! मैंने गोपक भोगलान ब्राह्मणसे यह कहा—‘नहीं, ब्राह्मण ! ० आजकलके आपक धर्म-अनुगामी हो विहर रहे हैं’ । ब्राह्मण ! गोपक भोगलान ब्राह्मणके साथ हमारी यह क्या चल रही थी, कि तुम यहूने ।”

“भो आनन्द ! क्या आप सबमें एक भिक्षुको भी उन आप गौतमने (यह कह) स्थापित किया है—‘मेरे बाद यह तुम्हारा प्रतिशरण (= लाभदाता) होगा’ जिसका कि इस समय आप लोग अनुसरण करते हैं ?”

“नहीं, ब्राह्मण ! उन जाननेवाले, देखनेवाले, भगवान् अर्हत् सम्मत्-संजुदने एक भिक्षुको भी नहीं स्थापित किया—‘मेरे बाद यह तुम्हारा प्रतिशरण होगा’, जिसका कि इस समय हम अनुसरण कर रहे हैं ।”

“भो आनन्द ! क्या आपमें एक भिक्षु भी ऐसा है, जो सबसे सम्मत हो, बहुतसे स्वविर भिक्षुओं द्वारा (यह वह कर) स्थापित किया गया हो—‘भगवान् के बाद यह हमारा प्रतिशरण होगा’; जिसका कि इस समय आप लोग अनुसरण करते हैं ?”

“नहीं, ब्राह्मण ! एक भिक्षु भी ऐसा (नहीं) है, जो सबसे ० जिसका कि इस समय हम अनुसरण कर रहे हैं ।”

“भो आनन्द ! इस प्रकार प्रतिशरण-रहित होने पर एकता (= लाभदाता) क्या हेतु है ?”

“ब्राह्मण ! हम प्रतिशरण-रहित नहीं हैं, ब्राह्मण ! हम धर्म-प्रतिशरण (= धर्म है शरण जिसका) हैं ।”

“भो आनन्द !—‘आप सबमें एक भिक्षुको भी उन आप गौतमने स्थापित किया है ० ?’—पूछने पर—‘नहीं, ब्राह्मण ! ०’ ।—कहते हो । ‘भो आनन्द !—‘० एक भिक्षु भी ० सबसे सम्मत ० ?’—पूछने पर—‘नहीं, ब्राह्मण ! ०’ ।—कहते हो । ‘भो आनन्द ! ० प्रतिशरण-रहित ० ?’—पूछने पर—‘० हम धर्म-प्रतिशरण हैं’—कहते हो । भो आनन्द ! आपके इस कथनका अर्थ कैसे समझना चाहिये ?”

“ब्राह्मण ! उन जाननेवाले ० भगवान् ० ने भिक्षुओंके शिक्षाप्रद (= नियम)को प्रज्ञापन किया है, प्रातिमोक्ष कथित किया है । सो प्रत्येक उपोसथ (= अमावास्या, पूर्णिमा)को, हम बितने (भिक्षु) एक गाँव-केतके पास विहरते हैं, वह सब एक जगह एकत्रित होते हैं, एकत्रित हो—‘उस (प्रातिमोक्ष)को अध्ययन (= पाठ) करते हैं’ । उसके पाठ करते समय यदि किसी भिक्षुसे कोई आपत्ति (= पाप)-व्यातिक्रम (= कसूर) हुआ रहता है, तो उसका (प्रतीकार) धर्मके अनुसार, सामित (= उपदेश)के अनुसार कराते हैं । हम नहीं कराते, धर्म (प्रतीकार) कराता है ।”

“भो आनन्द ! क्या इस समय एक भिक्षु भी आप सबने ऐसा है, जिसका आप सब सत्कार = शुद्धकार, आनन = पूजन करते हैं । सत्कार = शुद्धकार करके उसके समीप विहार करते हैं ?”

“है, ब्राह्मण ! ऐसा एक भिक्षु, जिसका हम सत्कार ० करके उसके समीप विहार करते हैं”

“भो, आनन्द !—‘आप सबमें एक भिक्षुको भी ०’ हम धर्म-प्रतिश्रवण हैं’—कहते हो ।
—‘भो आनन्द ! क्या ० एक भिक्षु भी ० ऐसा है, जिसका आप सब भक्तार ० करके, उसके
समीप विहार करते हैं ?—पूछने पर—है ० ऐसा एक भिक्षु ०,—कहते हैं । भो आनन्द ! आपके
इस कथनका अर्थ कैसे समझना चाहिये ?”

“ब्राह्मण उन ० भगवान् यहूद सम्यक्-सम्बुद्धने दश प्रसादनीय (= अर्था उत्पादन
करनेवाले) धर्म कहे हैं; जिसमें वह धर्म होते हैं, उसका हम भक्तार = गुरुकार, मानन = पूजन
करते हैं । भक्तार = गुरुकार करके, उसके समीप विहार करते हैं । कौनसे दश ?—

(१) “यहाँ, ब्राह्मण ! भिक्षु शीलवान्, प्रातिमोक्ष-संवर (= भिक्षु-निषमकपी संवत्स) से
संबुद्ध (= संवत्स) होता है, आचार-मोचर (= सदाचार) से सम्पन्न हो ०” शिक्षापदोंको ग्रहण
कर अभ्यास करता है ।

(२) “(जो भिक्षु) बहुभुत, भुतघर (= पदोंको धारण करने वाला), भुत-संचयी होता
है । जो वह धर्म आदिकल्पाण, भय-कल्पाण, पर्यवसान (= अन्त्य) -कल्पाण हैं, सार्थक = स-
व्यंजन हैं, (और जो) केवल, परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्योंको प्रशंसा करते हैं, वैसे धर्म (= उपदेश)
उसने बहुत सुने होते हैं; धारण किये (होते हैं), वचनसे परिचित, मनसे समीक्षित, और दृष्टि
(= दर्शन, = दिलकी आज्ञा) से सुप्रतिबिम्ब (= सुनिर्दिष्ट) होते हैं ।

(३) “(जो भिक्षु), कष्ट, भोजन, शयन-आसन और रोगोंके पण्य-औषधमें (थोड़ेसे)
सन्तुष्ट रहनेवाला होता है ।

(४) “आभियेतसिक (= चित्त सम्बन्धी) इसी शरीरमें सुख-पूर्वक विहार करनेके उप-
योगी ब्रह्म, ध्यानोंका पूर्णतया ज्ञानी, स-कृच्छ्र-ज्ञानी = बिना कठिनाईके-प्राप्त करनेवाला होता है ।

(५) “अनेक प्रकारको कदियोंको अनुभव करता है—एक होकर ० अनेक हो जाता है,
आविर्भाव ०” (इसी) कायासे प्रलोक-पर्यन्त (सब) को अपने वशमें करनेवाला होता है ।

(६) “अमातुष विमुद्ध दिव्य भोज इन्द्रिय (= पातु) से उभय प्रकारके शब्दोंको सुनता
है—दिव्य (शब्दों) को भी, और मातुष (शब्दों) को भी, दूरवालेकी भी और समीपवाले
(शब्द) को भी ।

(७) “दूसरे जन्तों, दूसरे पुद्गलों (= व्यक्तियों) के चित्तोंको अपने चित्तसे देखकर जान
लेता है—०” अ-विमुक्त चित्तके होने पर ‘अ-विमुक्त चित्त है’—जानता है ।

(८) “अनेक प्रकारके पूर्व-निवासों (= पूर्व जन्मों) को जानता है, जैसे कि एक जन्मको
भी ०” ।

(९) “अमातुष विमुद्ध दिव्य चक्षुसे अच्छे दूरे, सुवर्ण दुर्बर्ण ०” प्राणियोंको पहि-
चानता है ।

(१०) “(जो भिक्षु) आधर्योंके अग्रसे जो आश्रय रहित चित्तकी विमुक्ति है, प्रज्ञा द्वारा
विमुक्ति (= मुक्ति) है, उसे इसी जन्ममें स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर, विहार करता है ।

“ब्राह्मण ! उन ० भगवान् ० यह दश प्रसादनीय धर्म कहे हैं ०” उसके समीप हम
विहार करते हैं ।”

ऐसा कहने पर ० वर्षकार ब्राह्मणने उपनन्द सेनापतिको सम्बोधित किया—

१ पृष्ठ ४५६ के सारे पैरेकी आकृति । २ देखो पृष्ठ २३ । ३ देखो पृष्ठ २५ ।

४ देखो पृष्ठ २५ । ५ देखो ऊपर ।

“तो क्या मानते हो, येनापति ! ऐसा होनेपर यह आप लोग सत्कारणीयहीका सत्कार कर रहे हैं, गुणकारणीयहीका गुणकार कर रहे हैं, भानवीय •, पूजनीयहीकी पूजा कर रहे हैं न ?”

“अरु, यह आप लोग • पूजनीयहीकी पूजा कर रहे हैं; ऐसे (गुरु) का यदि यह आप लोग सत्कार न करें • पूजा न करें; तो कैसेका सत्कार • पूजा करेंगे, (किसका) सत्कार • पूजा करके उसके समीप (= सहारे) विहार करेंगे ?”

तब भगवन्-महामात्य (= भगवन्का महामन्त्री) ने भगुप्मान् आनन्दसे यह कहा—

“कहाँ आप आनन्द इस समय विहार करते (= रहते) हैं ?”

“श्रेणुवर्मन्, ब्राह्मण ! इस समय मैं रहता हूँ ।”

“ओ आनन्द ! श्रेणुवन् रमणीय, अल्प-शब्द = अल्प-विशेष, विज्ञान-वस्तु (= आदित्योंकी भीष्मसे शक्ति), अनुष्ठानसे एकान्त, ध्यानके लायक तो है न ?”

“हाँ, ब्राह्मण ! श्रेणुवन् • ध्यानके लायक है, क्योंकि तुम्हारे जैसे रक्षक = गोपक जो हैं ।”

“अच्छा तो ओ आनन्द ! श्रेणुवन् • ध्यानके लायक है, जहाँ कि आप लोगों जैसे ध्यायी = ध्यान-शीली (रहते हैं) । आप लोग ध्यायी = ध्यानशीली हैं । एक समय, ओ आनन्द ! वह आप गौतम वैशालीमें महावनकी कूटागार-शालामें विहार करते थे । तब, ओ आनन्द ! मैं जहाँ महावनमें कूटागार-शाला थी, जहाँ आप गौतम थे, वहाँ गया । जहाँ आप गौतम अनेक प्रकारसे ध्यानकी धात कर रहे थे । वह आप गौतम ध्यायी थे, ध्यान-शीली थे । वह आप गौतम इस सबको वर्णित (= प्रशंसित) कर रहे थे ।”

“ब्राह्मण ! वह भगवान् सभी ध्यानकी प्रशंसा न करते थे ।”

“किस प्रकारके ध्यानकी वह आप गौतम प्रशंसा न करते थे ?”

“ब्राह्मण ! वहाँ कोई (गुरु) काम-राग (= विषय-कामना)से पर्युत्थित (= धास) = काम-राग-परेत चित्तसे विहरता है, (वह) उत्पन्न काम-रागके निस्तरण (= निष्कार)को नहीं जानता । वह काम-राग (= विषय-कामना)को ही बीचमें करके ध्यान = प्र-ध्यान = नि-ध्यान = अर्ध-ध्यान करता है । व्यापाद् (= द्वेष)से पर्युत्थित • । सत्याप्त-मृदु (= शारीरिक मानसिक आलस्य)से पर्युत्थित • । औदत्य-कौटुक्य (= उदतपत्रा, हिवकिचाहट)से पर्युत्थित • । चिन्चिकित्सा (= संशय)से पर्युत्थित • । ब्राह्मण ! वह भगवान् इस प्रकारके ध्यानकी प्रशंसा न करते थे ।

“ब्राह्मण ! किस प्रकारके ध्यानकी वह भगवान् प्रशंसा करते थे ?—ब्राह्मण ! यहाँ भिन्नु कामोंसे विरहित • । प्रथम ध्यानकी प्राप्ति हो विहरता है । चित्त और विचारके शान्त होने पर • । द्वितीय ध्यानकी प्राप्ति हो विहरता है । प्रीतिसे विरक्त हो • । तृतीय ध्यानकी प्राप्ति हो विहरता है । सुख और दुःखके परित्यागसे • चतुर्थ ध्यानकी प्राप्ति हो विहरता है । ब्राह्मण ! वह भगवान् इस प्रकारके ध्यानकी प्रशंसा करते थे ।”

“ओ आनन्द ! वह आप गौतम सिन्द्रीय ध्यानकी सिन्दा करते थे, प्रशंसनीयकी प्रशंसा करते थे । हन्त, अय, ओ आनन्द ! हम चाहेगे, हम बहु-कृत्य = बहुकरणीय हैं ।”

“ब्राह्मण ! जिसका इस समय तुम काल समझते हो (बैठा करो) ।”

तब भगवन्-महामात्य स्वर्णकार ब्राह्मण भगुप्मान् आनन्दके आपणकी अभिमर्दित = अनुमोदितकर, आसनसे उठकर चला गया ।

तब मगध-महाराज ० के चले जानेके खोबीही देर बाद गोपक सोमलाल ब्राह्मणने आयुष्मान् आनन्दसे यह कहा—

“जो हमने आप आनन्दसे पूछा था, वह हमें आप आनन्दने नहीं बतलाया ?”

“ब्राह्मण ! हमने कहा न—‘नहीं, ब्राह्मण ! हममें एक भिक्षु भी ऐसा नहीं है ०’ आज-कलके आवक मार्ग-अनुगामी हो बिहर रहे हैं ।”

१०६—महा-पुराण-सुत्तन्त (३।१।६)

स्कंध । भगवान्-संबन्ध

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तोमें, मृगारमाताके प्रासाद पूर्वोराममें विहार करते थे ।

उस समय भगवान् उस दिनके उपोसथकी वंचवृत्ती = पूर्णिमाकी रातको मिथुनसे धिरे कुकी जगहमें बैठे थे । तब एक मिथु आसनसे उठ उचरासंगको एक कंधेपर रख, भगवान्की ओर दाम जोड़े भगवान्से यह बोला—

“भन्ते ! भगवान्से कुछ बात पूछूँ, यदि भगवान् प्रश्नके उत्तर देनेकी आज्ञा करते हैं ?”

“तो, मिथु ! अपने आसनपर बैठकर, जो चाहता है, पूछ ।”

तब यह मिथु अपने आसनपर बैठकर भगवान्से यह बोला—

“भन्ते ! यह हैं न पाँच उपादान-स्कंध, जैसे कि—(१) रूप-उपादान-स्कंध, (२) वेदना ०, (३) संज्ञा ०, (४) संस्कार ०, (५) विज्ञान ० ?”

“(हाँ,) मिथु ! यह पाँच उपादान-स्कंध हैं, जैसे कि—(१) रूप ०, (५) विज्ञान ० ।”

“साधु, भन्ते !” (कह) उस मिथुने भगवान्के भाषणको अभिनंदित = अनुमोदित कर, भगवान्से जागीका प्रश्न पूछा—

“भन्ते ! यह पाँच उपादान-स्कंध किमूलक (= क्या प्रवृत्त) हैं ?”

“मिथु ! यह पाँच उपादान-स्कंध छन्द (= राग) मूलक हैं ।”

“भन्ते ! उपादान और पाँच उपादान-स्कंध एक ही हैं, या पाँच उपादान-स्कंधोंसे अलग उपादान है ?”

“मिथु ! उपादान और उपादान-स्कंध एक नहीं हैं, और न पाँच उपादान-स्कंधोंसे अलग उपादान है । मिथु ! पाँच उपादान-स्कंधोंमें जो छन्द = राग है, वही वहाँ उपादान है ।”

“क्या, भन्ते ! पाँच उपादान-स्कंधोंमें छन्द = रागका वैमल्य (= वैमल्यता = मिश्रमत होना) हो सकती है ?”

भगवान्ने कहा—“हो सकती है, मिथु ! यहाँ—“किसी (पुरुष)को ऐसा होता है—अविष्यकाकमें मैं इस रूपवाला होऊँ । ० इस वेदनावाला ० । ० इस संज्ञावाला ० । ० इस संस्कारवाला ० । ० इस विज्ञानवाला होऊँ । मिथु ! इस प्रकार पाँच उपादान-स्कंधोंमें छन्द = रागकी वैमल्यता हो सकती है ।”

“भन्ते ! कितने लफका—“स्कंध नाम है ?”

“मिथु ! जो कोई भूत-अविष्य-वर्तमानका, शरीरके भीतर (= आभ्यात्मिक) या बाहरका,

स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत (= उत्तम) दूरस्थ या समीपस्थ रूप (= पृथिवी+जल+तेज+वायु) है, यह रूप-स्वर्ध है। जो कोई • वेदना • । • संज्ञा • । • संस्कार • । जो कोई भूत-मन्य-वर्तमानका, (शरीरके) भीतर या बाहरका, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, दूरस्थ या समीपस्थ विज्ञान है, या विज्ञान-स्वर्ध है। मिथु ! इतनेका नाम स्वर्ध है ।”

“मन्ते ! रूप-स्वर्धके प्रज्ञापन (= जतलाने)में क्या हेतु = प्रत्यय है ? = वेदना-स्वर्ध • ? • संज्ञा-स्वर्ध • ? • संस्कार स्वर्ध • । विज्ञान स्वर्धके प्रज्ञापनमें क्या-हेतु = प्रत्यय है ?”

“मिथु ! चार महाभूत (= पृथिवी, जल, तेज, वायु) हेतु हैं, रूपके प्रज्ञानमें, चार महाभूतोंके कारण (= प्रत्यय) रूप-स्वर्धका प्रज्ञापन होता है। स्पर्श (= इन्द्रिय-विषयका संयोग) हेतु = प्रत्यय है, वेदना-स्वर्धके प्रज्ञापनके लिये। स्पर्श हेतु • है, संज्ञा स्वर्ध • । • संस्कारके प्रज्ञापनके लिये। मिथु ! नाम-रूप हेतु = प्रत्यय है, विज्ञान-स्वर्धके प्रज्ञापनके लिये ।”

“मन्ते ! सत्काय-दृष्टि (= निश्च आत्माकी धारणा) होती है ?”

“मिथु ! आद्योके दर्शनसे संघित •* जड़, अनानी (जन) रूपको आत्माके तीरपर, या आत्माको रूपवान्, अथवा रूपमें आत्माको, या आत्मामें रूपको समझता है। वेदनाको • । संज्ञाको • । संस्कारको • । विज्ञानको आत्माके तीरपर, या आत्मामें विज्ञानवान्, अथवा विज्ञानमें आत्माको, या आत्मामें विज्ञानको समझता है। मिथु ! इस प्रकार सत्काय-दृष्टि होती है ।”

“मन्ते ! किस प्रकार सत्काय-दृष्टि नहीं होती ?”

“मिथु ! आद्योके दर्शनको प्राप्त •* बहुभुत आर्ष आक न रूपको आत्माके तीरपर, न आत्माको रूपवान्, न रूपमें आत्माको, न आत्मामें रूपको समझता है । • वेदना • । • संज्ञा • । • संस्कार • । • विज्ञान • । मिथु ! इस प्रकार सत्काय-दृष्टि नहीं होती ।”

“मन्ते ! रूपका क्या आस्वाद (= स्वाद) है, क्या आदिनव (= दुष्परिणाम) है, क्या निस्सरण (= निकालका रालता) है ? वेदना • ? संज्ञा • ? संस्कार • ? विज्ञान • ?”

“मिथु ! जो रूपको लेकर सुख = सौमनस्य उत्पन्न होता है, वह रूपका आस्वाद है। जो कि रूप अनित्य, दुःख, विपरिणाम-धर्मां (= विकारी, परिवर्तन शील) है, वह रूपका दुष्परिणाम है। जो रूपमें जन्द् = रागका हटाना, जन्द् = रागका प्रहाण है, वह रूपका निस्सरण है। मिथु ! जो वेदनाको ले कर • । • संज्ञाको लेकर • । • संस्कारको ले कर • । • विज्ञान-को ले कर • ।”

“मन्ते ! कैसे जानते-समझते इस स-विज्ञानक (= चेतना-युक्त) काशामें, या बाहरी (दुर्वियामें) समी निमित्तों (= लिंग आकार आदि)में अहंकार-ममकारको अभिमान और अनु-शय (= संस्कार) नहीं होते ?”

“मिथु ! जो कोई भूत-मन्य-वर्तमानका, शरीरके भीतर या बाहरका, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, दूरस्थ या समीपस्थ रूप है; (वह) तब रूप—‘न यह मेरा है’, ‘न यह मैं हूँ’, और ‘न यह मेरा आत्मा है’—इस प्रकार हमें ठीकसे यथार्थ-प्रज्ञासे देखता है। जो कोई • वेदना • । • संज्ञा • । • संस्कार • । • विज्ञान • । मिथु ! इस प्रकार जानते-समझते • अहंकार-ममकारके अभिमान और अनुशय नहीं होते ।”

एष एक मिथुके मनमें ऐसा वितर्क उत्पन्न हुआ—‘इस प्रकार, भो ! रूप अनित्य

(= आत्मा नहीं) है, वेदना अनात्मा, संज्ञा अनात्मा, संस्कार अनात्मा, विज्ञान अनात्मा (= अजन्मा) है । अनात्माके किये कर्म किस आत्मामें संयुक्त होंगे ?

तब भगवान् ने उस भिक्षुके कियेके कितनेको अपने मनसे जानकर भिक्षुओंको संबोधित किया—

“भिक्षुओ ! इसकी संभावना (= उभाव) है, कि कोई बलिघातप्रण, अविद्वान् मोघ-पुरुष (फल का आदमी) कृष्णापस्वश-चित्तसे आत्मा (= गुरु) के दासन (= उपदेश)को अधिक्रमण करना चाहे—‘इस प्रकार मो, रूप अनात्मा है ० अनात्माके किये कर्म किस आत्मामें संयुक्त होंगे ?’ भिक्षुओ ! कारणके साथ मैंने तहाँ तहाँ उन-उन धर्मोंमें तुम्हें प्राप्त कराया है । तो क्या मानते हो, भिक्षुओ ! रूप नित्य है वा अनित्य ?”

“अनित्य है, भन्ते !”

“तो अनित्य है, वह दुःख (-रूप) है, वा सुख (-रूप) ?”

“दुःख है भन्ते !”

“तो अनित्य, दुःख, विपरिणाम-धर्मों (= परिवर्तनशील) है; क्या उसको ऐसा समझना ठीक है—‘वह (अनित्य वस्तु) मेरा है’, ‘वह मैं हूँ’, ‘वह मेरा आत्मा है’ ?”

“नहीं, भन्ते !”

“तो क्या मानते हो, भिक्षुओ ! वेदना नित्य है वा अनित्य ?

“० संज्ञा । ० संस्कार ० ।”

तो क्या मानते हो, भिक्षुओ ! विज्ञान नित्य है, वा अनित्य ?”

“अनित्य है, भन्ते !”

“तो अनित्य है, वह दुःख है, वा सुख ?”

“दुःख है, भन्ते !”

“तो, अनित्य, दुःख, विपरिणाम-धर्मों है; क्या उसको ऐसा समझना ठीक है—‘वह मेरा है’, ‘वह मैं हूँ’, ‘वह मेरा आत्मा है’ ?”

“नहीं, भन्ते !”

“इसलिये भिक्षुओ ! जो कोई भूत-भविष्य-वर्तमानका ० रूप है; (वह) सब रूप—‘न वह मेरा है’ ० । सब विज्ञान—‘न वह मेरा है’ ० । इस प्रकार इसे ठीकसे, यथार्थ प्रज्ञा द्वारा समझना चाहिये ।

“भिक्षुओ ! इस प्रकार समझते बहुश्रुत आर्वाभावक रूपसे निर्वेद (= उदासी)को प्राप्त होता है, वेदनासे ०, संज्ञा से ० । संस्कारसे ० । विज्ञानसे ० । निर्वेदको प्राप्त हो चिरक होता है, विरागके कारण विमुक्त होता है । विमुक्त होनेपर ‘मैं विमुक्त हूँ’—यह ज्ञान होता है, (जन्म) (= आवागमन) शीघ्र होगया, अज्ञकर्मावास (पूरा) हो चुका, करना या तो किया जा चुका, और कुछ यहाँ करनेको (शेष) नहीं है—जानता है ।”

भगवान् ने यह कहा, संतुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान् के भाषणको अमिनदित किया ।

उस उपदेशके कहे जाते समय साठ भिक्षुओंका चित्त आसक्तों (= चित्तमग्न)से उपादान रहित हो छूट (= विमुक्त हो) गया ।

११०—चूल-पुण्यम-सुत्तन्त (३।१।१०)

सत्पुरुष और अ-सत्पुरुष

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आश्वस्तीमें मृगारमाताके प्रासाद पूर्वशाममें विहार करते थे ।

उस समय भगवान् उस दिनके उपोसथकी^१ वचस्वी = पूर्णिमाकी रातको मिथुसंघसे विरे, सुजी जगहमें बैठे थे । तब भगवान्ने पुषचाप (बैठे) मिथु-संघकी देखकर, मिथुओंको संबोधित किया—

“मिथुओ ! क्या अ-सत्पुरुष अ-सत्पुरुषको जान सकता है—‘यह आप अ-सत्पुरुष हैं—?’”

“नहीं, भन्ते !”

“बापु, मिथुओ ! इसकी गुंजाइश (= अवकाश) नहीं, कि अ-सत्पुरुष अ-सत्पुरुषको जान सके—‘वह ०’ । मिथुओ ! क्या अ-सत्पुरुष सत्पुरुषको जान सकता है—‘यह आप सत्पुरुष हैं’ ?”

“नहीं, भन्ते !”

“बापु, मिथुओ ! इसकी गुंजाइश नहीं ० । मिथुओ ! अ-सत्पुरुष अ-सत्पुरुषसे युक्त है । अ-सत्पुरुषों का भक्त, अ-सत्पुरुष-चिन्ती, अ-सत्पुरुष-मन्त्री, अ-सत्पुरुष-भाषी, अ-सत्पुरुष-कर्मान्त (= ० कामवाला), अ-सत्पुरुष-दृष्टि होता है, अ-सत्पुरुषोंको दान देनेवाला होता है । कैसे ० अ-सत्पुरुषसे युक्त होता है ?—मिथुओ ! पहाँ अ-सत्पुरुष अ-अदालत, निर्दल, संकोच रहित, अवय-रुत (= अज्ञ), कुलीनी (= अकाली), सुपित-कमृति (= बेहोश), दुःप्रसन्न^२ होता है । मिथुओ ! इस प्रकार अ-सत्पुरुष अ-सत्पुरुषसे युक्त होता है ।

“कैसे, मिथुओ ! अ-सत्पुरुष अ-सत्पुरुषोंका भक्त होता है ?—मिथुओ ! अ-सत्पुरुषके मित्र = सहाय होते हैं, वह अमण-भाक्षण, जो कि अ-अदालत ० दुःप्रसन्न होते हैं ।

“कैसे मिथुओ ! ० अ-सत्पुरुष-चिन्ती होता है ?—मिथुओ ! अ-सत्पुरुष आत्म-पीडाका भी चिन्तन करता है, पर-पीडा ०, उभय-पीडाका भी चिन्तन करता है । इस प्रकार ० ।

“० अ-सत्पुरुष-मन्त्री होता है ?—मिथुओ ! अ-सत्पुरुष आत्म-पीडाकी भी मंत्रणा करता है, ० पर-पीडा ०, उभय-पीडा ० ।

“कैसे ० अ-सत्पुरुष-वाची होता है ?—मिथुओ ! अ-सत्पुरुष मृगवादी (= छठा) होता, सुगुल्लोर, कटुभाषी, प्रलापी होता है । इस प्रकार ० ।

“कैसे ० अ-सत्पुरुष-कर्मान्त होता है ?—मिथुओ ! अ-सत्पुरुष हिंसक होता है, चोर, व्यभिचारी होता है । इस प्रकार ० ।

^१ मिथुसंघके गणवेशनके दिन ।

“कैसे ० अ-सत्पुरुष-दृष्टि होता है ?—भिषुओ ! अ-सत्पुरुष इस प्रकारकी दृष्टि (= चारणा) बाधा होता है—‘दान नहीं, वज्र नहीं’ ० । इस प्रकार ० ।

“कैसे ० अ-सत्पुरुष-दान देता है ?—भिषुओ ! अ-सत्पुरुष अ-सत्कार-पूर्वक दान देता है, अपने हाथसे दान नहीं देता, बेवजाल किये दान देता है, निरुष्ट (द्रव्यका) दान देता है, (प्रति-फलके) न-लौटकर आनेकी दृष्टिसे दान देता है । इस प्रकार ० ।

“भिषुओ ! वह अ-सत्पुरुष इस प्रकार अ-सदमंसे युक्त हो ० । अ-सत्पुरुषोंको दान दे, काया छोड़ मरनेके बाद जो अ-सत्पुरुषोंकी गति होती है, उसमें उत्पन्न होता है । भिषुओ ! क्या है, अ-सत्पुरुषोंकी गति ? नरक और तिर्यक्- (= पशु-) योगि ।

“भिषुओ ! क्या सत्पुरुष सत्पुरुषको जानेगा—‘वह आप सत्पुरुष हैं’ ?”

“हाँ, मन्ते !”

“साधु, भिषुओ ! इसकी गुंजाइश है, कि सत्पुरुष सत्पुरुषको जाने—० । भिषुओ ! क्या सत्पुरुष अ-सत्पुरुषको जानेगा—‘वह आप अ-सत्पुरुष हैं’ ?”

“हाँ, मन्ते !”

“साधु, भिषुओ !” इसकी गुंजाइश है ० ।

“भिषुओ ! सत्पुरुष सदमंसे युक्त होता है, सत्पुरुष-भक्त, सत्पुरुष-चिन्ती, सत्पुरुष-मंजी, सत्पुरुष-वाची, सत्पुरुष-कर्मोन्त, सत्पुरुष-दृष्टि होता है, सत्पुरुषोंको दान देगेवाला होता है ।

“भिषुओ ! कैसे सत्पुरुष सदमंसे युक्त होता है ?—भिषुओ ! सत्पुरुष अद्वालु, संकोची, बहुभुत आरब्धवोर्य (= वधोगी), उपस्थित-स्मृति (= यादोश), प्रज्ञावान् होता है । इस प्रकार भिषुओ ! सत्पुरुष सदमंसे युक्त होता है ।

“कैसे ० सत्पुरुष-भक्त ० ?—सत्पुरुषके मित्र = सहाय होते हैं, वह अभय-आश्रय, जो कि अद्वालु ० प्रज्ञावान् होते हैं । इस प्रकार ० ।

“कैसे ० सत्पुरुष-चिन्ती ० ?—० न आत्म-पीडाका चिन्तन करता है, न पर-पीडाका ०, न उभय पीडाका ० ।

“कैसे ० सत्पुरुष-मंजी ० ?—० न आत्म-पीडाके लिये मंजना करता है, न पर-पीडा ०, न उभय-पीडा ० ।

“कैसे ० सत्पुरुष-वाची ० ?—० झूठसे विरत होता है, जुगलीसे ०, कठोर वचनसे ०, धकवाइसे विरत होता है । इस प्रकार ० ।

“कैसे ० सत्पुरुष-कर्मोन्त ० ?—० हिंसासे विरत होता है, चोरीसे ०, ब्यभिचारसे विरत होता है । इस प्रकार ० ।

“कैसे ० सत्पुरुष-दृष्टि ० ?—० दान है, वज्र है ० । इस प्रकार ० ।

“कैसे ० सत्पुरुष-दान देता है ?—० सत्कार-पूर्वक दान देता है, अपने हाथसे देता है, ब्याल करके देता है, परिशुद्ध (वस्तुका) दान देता है । (फलके) लौट कर आनेकी दृष्टिसे दान देता है । इस प्रकार ० ।

“भिषुओ ! सत्पुरुष इस प्रकार सदमंसे युक्त हो । ० । सत्पुरुषोंको दान दे, काया छोड़

मरणके बाद, जो सत्पुरुषोंकी गति होती है, उसमें उत्पन्न होता है । मिथुनो ! क्या है, सत्पुरुषों की गति ? देवताओंका महत्त्व और मनुष्योंका महा महत्त्व ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिथुनोंने भगवान् के भाषण को अभिनन्दित किया ।

(११—इति देववृक्ष-वग्ग ३।१)

१११-अनुपद-सुत्तन्त (१।२।१)

सारिपुत्तके गुण, प्रज्ञा, समाधि आदि

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् धावस्तीमें अनाथ-पिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने मिश्रुओंको संबोधित किया—“मिश्रुओ !”

“अदन्त !”—(कह) उन मिश्रुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“मिश्रुओ ! सारिपुत्त धंजित है, ० महाप्रज्ञ, ० नाना-प्रज्ञ, ० भास्वर-प्रज्ञ, ० जवन (= ० क्षिप्रगति)-प्रज्ञ, ० निष्क (= शुद्ध)-प्रज्ञ, ० निर्वेधिक (= यह तक पहुँचने की)-प्रज्ञ है । मिश्रुओ ! सारिपुत्त आप मात्र तक अनुपद-धम्म-विसेस (= अनुपद-धर्म-विशेष) की विपश्यनाको विपश्यन (= दिलकी आँखसे देखना) करता है ।

“मिश्रुओ ! सारिपुत्तकी यह अनुपद-धर्म-विशेषकी विपश्यना है—मिश्रुओ ! (१) कामोंसे विरहित ०^१ प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । प्रथम ध्यानमें जो धर्म है (जैसे)—चित्तकं^२ विचार^३ प्रीति (= हर्षका सारे शरीर और चित्तपर प्रभाव) सुख, चित्तकी-एकाग्रता, स्पर्श (= इन्द्रिय-विषयका संपर्क), वेदना (= स्पर्शके बाद विषयके संबंधका जो सुख, दुःख आदि रूपमें अनुभव), संज्ञा (= संजानना, समझना), चेतना (= चिंतन), चित्त (= मन), छन्द (= राग), अधिमोक्ष (= छुड़ाव), चोर्ध (= उद्योग), स्मृति, उपेक्षा, मनसिकार (= मनमें करना)—वह धर्म इसके व्यवस्थित होते हैं; वह धर्म इसको विदित हो उत्पन्न होते हैं; विदित हो स्थित होते हैं, विदित ही अस्त होते हैं । वह ऐसा जानता है—इस प्रकार पहिले न हुये धर्म उत्पन्न होते हैं, होकर प्रवेदित (= अनुभवगम्य होते हैं) । वह उन धर्मोंमें अन्-उपाय = अन्-अपाय, अन्-आसक्त, = अ-प्रतिषेध = विप्रमुक्त = विप्रमुक्त अ-पद चित्तसे विहरता है । वह जानता है—(इससे) आगे जो निरस्तरण (= निकलनेका मार्ग) है; उसके (अभ्यास) बढ़ानेसे ‘हे’—यह उसको (निश्चय) होता है ।

“और फिर मिश्रुओ ! सारिपुत्त, चित्तकं और विचारके शान्त होनेपर ०^४ द्वितीय ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । द्वितीय ध्यानमें जो धर्म है; (जैसे) आग्धात्मिक संग्रहाद (= विषयमें चित्तका अलेख होना), प्रीति, सुख ०^५ मनसिकार; वह धर्म उसके व्यवस्थित होते हैं । ०^६ ।

“ ० प्रीतिसे चित्त हो ०^७ तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । तृतीय ध्यानमें जो

^१ देखो पृष्ठ २५ ।

^२ चित्तकी स्मृतावस्था चित्तकं है, महामात्रसा विचार ।

^३ प्रथम ध्यान कैसा यही भी ।

धर्म है, (जैसे)—उपेक्षा, सुख, स्मृति, संप्रबन्ध, चित्त-प्रकाशता ० मनसिकार : वह धर्म उसके व्यवस्थित होते हैं ० ।

“ ० सुख और दुःखके परित्यागसे ० १ अनुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । चतुर्थ-ध्यान में जो धर्म है, (जैसे) उपेक्षा, अनु-स-असुखा वेदना, पद्मी वेदना = संज्ञा, चेतना, चित्त, छन्द, अधिमोक्ष, वीर्य, स्मृति, उपेक्षा, मनसिकार—यह धर्म उसके व्यवस्थित होते हैं ० १ ।

“ ० रूप (= Matter)-संज्ञाको सर्वथा छोड़ने से, प्रतिहिंसाकी संज्ञा (= ब्यालों)के सर्वथा भला हो जाने से, नानापनकी संज्ञाको मनमें न करनेसे—‘आकाश अनन्त है’—इस आकाश-आनन्द-आयतनको प्राप्त हो विहरता है । आकाशानन्दायतनमें जो धर्म हैं, (जैसे) आकाशानन्दायतनकी संज्ञा, चित्तैकाग्रता, स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त, छन्द, अधिमोक्ष, वीर्य, स्मृति, उपेक्षा, मनसिकार—यह धर्म उसके व्यवस्थित होते हैं ० १ ।

“ ० आकाशानन्दायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर ‘विज्ञान अनन्त है’—इस विज्ञान-आनन्द-आयतनको प्राप्त हो विहरता है । विज्ञानानन्दायतनमें जो धर्म हैं, (जैसे) विज्ञानानन्दायतन-संज्ञा, चित्तैकाग्रता, स्पर्श ० मनसिकार—यह धर्म उसके व्यवस्थित होते हैं ० १ ।

“ ० विज्ञानानन्दायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर—कुछ नहीं (= ‘नहीं किंचित्’)—इस आर्किचन्य (= न-कुछ-भी-पना)-आयतनको प्राप्त हो विहरता है । आर्किचन्यायतनमें जो धर्म हैं, (जैसे) आर्किचन्यायतन-संज्ञा, चित्तैकाग्रता, स्पर्श ० मनसिकार—यह धर्म उसके व्यवस्थित होते हैं ० १ ।

“ ० आर्किचन्यायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर नैवसंज्ञा-नासंज्ञा-आयतनको प्राप्त हो विहरता है, वह उस समापत्ति (= समाधि)से स्मृति (= होना)के साथ उठता है, ० उठकर जो धर्म व्यतीत = निरुद्ध = विपरिणत हो गये हैं, उन धर्मोंको देखता है । इस प्रकारसे सुखे यह धर्म (= चित्त-प्रवाहका एक रूप) पहले न हुये धर्म उत्पन्न होते हैं, होकर प्रतिवेदित होते हैं ० १ ।

“और फिर मिश्रुषो ! सारिपुत्र नैवसंज्ञानासंज्ञायतनको सर्वथा अतिक्रमण कर, संज्ञा-वेदित-निरोध (= जिस समाधिमें संज्ञा और वेदनाका अभाव होता है) । ० प्रज्ञासे देखकर उसके आन्ध्र (= चित्तमल) क्षीण होते हैं । वह उस समापत्तिसे स्मृतिके साथ उठता है, ० उठ कर जो धर्म व्यतीत = निरुद्ध = विपरिणत होगये हैं, उन धर्मोंको देखता है—‘इस प्रकार सुखे यह धर्म पहले न हुये उत्पन्न होते हैं, होकर प्रतिवेदित (= अनुभव-गम्य) होते हैं ० १ वह जानता है—(इससे) आगे निस्सरण नहीं है, और उसके (अन्वयाको) बढ़ायेसे ‘नहीं है’—यह उसको (निश्चय) होता है ।

“मिश्रुषो ! जिसको ठीकसे कहते हुये कहना होता है—‘आर्य-शौलमें वसित्व-प्राप्त (= अधिकार-प्राप्त) है, पारमि-प्राप्त (= पारंगत) है । आर्य-समाधिमें ०, आर्य-प्रज्ञामें, आर्य-विमुक्तिमें वसित्व प्राप्त, पारमि प्राप्त है; तो ठीक कहते हुये, उसे सारिपुत्रके लिये ही कहना होगा—आर्य-शौलमें वसित्व-प्राप्त ० ।

“मिश्रुषो ! जिसको ठीकसे कहते हुये कहना होता है—(यह) सुखसे उत्पन्न, धर्मसे उत्पन्न, धर्म-निर्मित, धर्म-दायाद (= धर्मका वारिस), न-वामिष-दायाद (= धनका दायाद

वही) भगवान्‌का औरस (= वृक्ष या मनसे उत्पन्न) पुत्र है, तो ठीकसे कहते हुये सारिपुत्तके किये ही कहना होगा—मुखमे उत्पन्न ० ।

“भिक्षुओ ! तज्जागतके चलावे (= प्रवर्तित) अनुत्तर (= अद्वितीय = अनुपम) धर्म-चक्र (धर्मके चक्का = धर्म) को सारिपुत्त ठीकसे अनु-प्रवर्तित कर रहा है ।”

भगवान्‌ने यह कहा, समुत्त हो उन भिक्षुओंमे भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दित किया ।

११२-व्यवसोधन-सुत्तन्त (३।२।२)

अर्हत्तु, परिचान

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् ध्यावस्तीमें अनाथ-पिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने मिथुओंको संबोधित किया—“मिथुओ !”

“भदन्त !”—(कह) इन मिथुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“(यदि कोई) मिथु आकाश (= अर्हत्-पद-प्राप्ति) की घोषणा करे—‘जन्म क्षीण हो गया, मल्लचर्य-वास पूरा हो गया, करना था सो कर लिया, और कुछ (करनेके लिये) यहाँ नहीं है’—जानता हूँ । तो मिथुओ ! उस मिथुके भाषणको न अभिनन्दित करना चाहिये, न संबोधित (= निर्दिष्ट) करना चाहिये । अभिनन्दन, प्रतिकोषण (= निन्दन) न । प्रश्न पूछना चाहिये—‘आवुस ! इन जाननेवाले, देखनेवाले, भगवान् अर्हत्, सम्यक्-संशुद्धने क्या-क्या अच्छी तरह बतलाये हैं । कौनसे चार ?—(१) दृष्ट (= देखे हुये) में दृष्ट-वादिता (= दृष्ट-वादि कहना), (२) श्रुत (= सुने) में श्रुत-वादिता; (३) स्मृत (= याद किये) में स्मृत-वादिता; (४) विज्ञात (= जाने) में विज्ञात-वादिता । आवुस ! उन ० भगवान् ० ने यह चार व्यवहार अच्छी तरह बतलाये हैं । इन चार व्यवहारोंमें कैसे जानते कैसे देखते (आप) आयुष्मान् का चित्त आसनों (= चित्तमलों) से विमुक्त हो गया ?” मिथुओ ! (जो) मिथु क्षीण-आसव, (मल्लचर्य-) वास-समाप्त, कृतकृत्य, मुक्त-नार, सच्चे अर्थ (= निर्वाण) को प्राप्त, भव-बंधन-मुक्त, सम्यग्-ज्ञानकर विमुक्त (होता है), (उस) के उपर देते वक्त यह अनुभूति (= नियम, प्रकृति) होती है—‘आवुस ! दृष्टमें अन्-उपाय = अन्-नपाय = अ-निमित्त = न-बद्ध, ० विप्रमुक्त = विसंयुक्त अ-मर्यादित चित्तसे विहरता हूँ । आवुस ! श्रुतमें । ० स्मृतमें ० । ० विज्ञातमें ० । आवुस ! इस प्रकार जानते देखते मेरा चित्त इन चार व्यवहारोंमें आसनोंसे विमुक्त हो गया ।

“(तब) मिथुओ ! उस मिथुके कथनको ‘साधु (= ठीक)’ कह अभिनन्दित=अनुमोदित करना चाहिये । ० अभिनन्दित अनुमोदित कर आगेका प्रश्न पूछना चाहिये—‘आवुस ! इन ० भगवान् अर्हत् सम्यक्-संशुद्धने यह पाँच उपादान-स्कंध अच्छी तरह बतलाये हैं । कौनसे पाँच ? जैसे कि—रूप-उपादान-स्कंध, वेदना ०, संज्ञा ०, संस्कार ०, विज्ञान—इन पाँच उपादान-स्कंधोंके विषयमें कैसे जानते देखते आयुष्मान्का चित्त आसनोंसे विमुक्त हो गया ?’ ० उसके उपर देते वक्त यह अनुभूति होती है—‘आवुस ! मैं रूपको भ-बल, विराग (= रागके अयोग्य), न-आज्ञासक-प्रद, जानकर रूपके संबंधमें जो उपाय=उपादान=चित्तके अधिष्ठान, अभिनिवेदा (= ममता) =

* विशेषके लिये देखो पृष्ठ ४९६ ।

अनुसय थे, उनके स्वयं, विराग, निरोध, त्याग = प्रतिनिस्सरणसे मेरा चित्त मुक्त हुआ—यह जानता हूँ । ० वेदना ० । संज्ञा ० । संस्कार ० । ० विज्ञान ० । अबुसो ! इस प्रकार पाँच उपादान स्वर्धोंके संबंधमें जानते देखते मेरा चित्त आत्मबोसे विमुक्त हो गया ० ।

“तब मिश्रुओ ! ० ‘साधु’ कह ० अभिनिर्दिष्ट = अनुमोदित कर आगेका प्रश्न पूछना चाहिये—‘आबुस ! ० यह छः धातुयें ० बतलाइं हैं । कौन सी छः ?—(१) पृथिवी-धातु, (२) आप (= जल) ०, (३) तेज ०, (३) वायु ०, (५) आकाश ०, और (६) विज्ञान-धातु ।” इन छः धातुओंके विषयमें कैसे जानते देखते ० ? ० यह अनुधर्म होते हैं—‘अबुसो ! न मैंने पृथिवी धातु को आत्माके तौर पर ग्रहण किया, न पृथिवीमें आत्माको आश्रित ग्रहण किया । पृथिवी धातुके निःश्रित (= आश्रित) जो उपाय ० अनुसय, उनके विराग ० प्रतिनिस्सरणसे मेरा चित्त विमुक्त हुआ—यह जानता हूँ । ० तेज धातु ० । ० वायु धातु ० । ० आकाश धातु ० । ० विज्ञान ० । अबुसो ! इस प्रकार इन छः धातुओंके विषयमें जानते देखते ० ।

“०—आगेका प्रश्न ०—‘अबुस ! ० यह छः आध्यात्मिक (= शरीर संबंधी) और बाह्य आयतन ० बतलाये हैं । कौनसे छः ?—(१) चक्षु और रूप, (२) श्रोत्र और शब्द, (३) घ्राण और गंध, (४) जिह्वा और रस, (५) काया और स्पर्श, (६) मन और धर्म ।” इन छः आयतनों के विषयमें कैसे जानते देखते ० ? ० यह अनुधर्म होते हैं—‘अबुसो ! चक्षुमें, रूपमें, चक्षुर्विज्ञान (= चक्षु द्वारा मिलनेवाले ज्ञान) में, और चक्षु-विज्ञान द्वारा विज्ञेय धर्मों (= पदार्थों) में जो शब्द=राग, तन्दी=तृष्णा, और जो उपाय ० अनुसय थे, उनके स्वयंसे ० मेरा चित्त विमुक्त हुआ—यह जानता हूँ । श्रोत्र, शब्द, श्रोत्र-विज्ञान ० । घ्राण, गंध, घ्राण-विज्ञान ० । जिह्वा, रस, जिह्वा-विज्ञान ० । काया, स्पर्श, काय-विज्ञान ० । मन, धर्म, मनोविज्ञान ०, अबुसो ! इस प्रकार इन छः आध्यात्मिक बाह्य आयतनों के विषयमें जानते ० ।

“० आगेका प्रश्न ०—‘अबुस ! ० इस स-विज्ञानक (= जीवित) कायामें, और बाहर के सारे निमित्तों (= बाह्यता आदि) में कैसे जानते देखते अहङ्कार, ममकार, भान, अनुदाय* अच्छी प्रकार नष्ट हुये ? ० यह अनुधर्म होते हैं—‘अबुसो ! पहिले गृहस्थ होते समय मैं अज्ञान था । तब मुझे तयागत या तयागत भावकने धर्म उपदेशा । उस धर्मको सुनकर मुझे तयागतके विषयमें अज्ञा हुई । उस अज्ञासे युक्त हो मैं सोचने लगा—गृहवास जंजाल है ०* चतुर्थे ध्यानको प्राप्त हो निहरने लगा । सो इस प्रकार चित्तके एकत्व, परिशुद्ध = पर्यवदात, अंगणा-रहित = उपक्लेश (= मल)-रहित, सुदुभूत = कार्योपयोगी, स्थिर = अचलता-प्राप्त (और) समाधि-युक्त हो जाने पर आत्मबोके स्वयंके ज्ञानके लिये मैंने चित्तको झुकाया । फिर मैंने—‘यह दुःख है’ इसे पदार्थसे जान लिया ०* ‘अथ यहाँ (करने) के लिये कुछ (शेष) नहीं है’—इसे जान लिया । अबुसो ! इस प्रकार इस सविज्ञानक कायामें ० अच्छी प्रकार नष्ट हुये ।”

“तब, मिश्रुओ ! उस मिश्रुके कथनको ‘साधु’—(कह) अभिनिर्दिष्ट अनुमोदित कर उसे ऐसा कहना—‘लाभ है हमें अबुस ! सुखाम मिला हमें अबुस ! जो कि हम आप जैसे सगह-चारीको देखते हैं’ ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिश्रुओंने भगवान् के भाषणको अभिनिर्दिष्ट किया ।

* राग, प्रतिव, मान, अविद्या, दुष्टि, और विचिकित्सा, सत्काय-दुष्टि, मिथ्यादुष्टि, जन्तुमाद-दुष्टि, इष्टि-भरामर्षी शास्त्रज-भरामर्षी (१०) ।

* देखो पृष्ठ २५८ ।

* देखो पृष्ठ २६ ।

११३-सप्पुरिस-धम्म (३।२।३)

सत्पुरुष और अ-सत्पुरुष

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अजाय-पिंडिकके गाराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने मिश्रुजोंको संबोधित किया—“मिश्रुजो !”

“भदन्त !”—(कह) उन मिश्रुजोंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“मिश्रुजो ! तुम्हें सत्पुरुष (ने का) धर्म और अ-सत्पुरुष-धर्म उप-देखता हूँ । उसको सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, मन्ते !”—(कह) उन मिश्रुजोंने भगवान्को उत्तर दिया । भगवान्ने यह कहा—“मिश्रुजो ! क्या है, अ-सत्पुरुष-धर्म ?—(१)—(क) मिश्रुजो ! (यदि) अ-सत्पुरुष को प्रमज्जित (= संन्यासी) हुआ रहता है । वह क्याल करता है—‘मैं ऊँचे कुलसे प्रमज्जित हुआ हूँ, और वह दूसरे मिश्रु ऊँचे कुल से नहीं प्रमज्जित हुये हैं । सो वह उस उच्च-कुलीनता के कारण अपने लिये अभिमान करता है, दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । मिश्रुजो ! यह है, अ-सत्पुरुष-धर्म ।

(१)—(ख) “मिश्रुजो ! सत्पुरुष यह क्याल करता है—‘उच्च-कुलीनताके कारण लोभ-धर्म (= लोभ) नहीं बन्ध हुआ करते, द्वेष-धर्म ०, मोह-धर्म बन्ध नहीं हुआ करते । चाहे ऊँचे-कुल से न प्रमज्जित हुआ हो ; किन्तु यदि वह है धर्म-मार्ग पर आरुढ़, ठीक मार्ग पर आरुढ़, धर्मा-नुसार आचरण करनेवाला, सो वह पूज्य है, वह प्रशंसनीय है ।’ वह प्रतिपत्ति (= प्राप्ति) का ही क्याल कर, उच्च-कुलीनताके कारण न अपने लिये अभिमान करता है, न दूसरों की नीची निगाहसे देखता है, मिश्रुजो ! यह है सत्पुरुष-धर्म ।

(२)—(क) “और फिर मिश्रुजो ! अ-सत्पुरुष महाकुलसे प्रमज्जित हुआ रहता है । ० दूसरोंकी नीची निगाहसे देखता है । मिश्रुजो ! यह है अ-सत्पुरुष-धर्म ।

(२)—(ख) “ ० सत्पुरुष महाकुलसे प्रमज्जित हुआ रहता है । ० न दूसरोंकी नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(३)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष महाभोग (= महाधनी) कुलसे ० । ० ।

(३)—(ख) “ ० सत्पुरुष महानाँग कुलसे ० । ० ।

(४)—(क) “ ० उदार-भोग (= महाधनी) कुलसे ० । ० ।

(४)—(ख) “ ० सत्पुरुष उदारभोगकुल से ० । ० ।

(५)—(क) “ ० और फिर मिश्रुजो ! (कोई) अ-सत्पुरुष जात (= प्रसिद्ध) यशस्वी होता है । वह क्याल करता है—‘मैं ज्ञात, यशस्वी हूँ, यह दूसरे मिश्रु अव्यज्ञात अव्यशक्ति हैं ।’

वह उस अपनी विज्ञानताके कारण अपने लिये कमिमान करता है, दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है। मित्रुओ ! यह है, अ-सत्पुरुष-धर्म ।

(५)—(ऋ) “ ० सत्पुरुष ज्ञात, पशस्वी होता है । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । मित्रुओ ! यह है, सत्पुरुष-धर्म ।

(६)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष बच, भोजन, शयन-आसन, पथ्य-औषधका पानेवाला होता है । वह बवाह करता है—० । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(६)—(ऋ) “ ० सत्पुरुष बच, ० पानेवाला होता है । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(७)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष बहु-भुत होता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(७)—(ऋ) “ ० सत्पुरुष बहु-भुत होता है । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(८)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष विनयधर^१ होता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(८)—(ऋ) “ ० सत्पुरुष विनयधर होता है । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(९)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष धर्म-कथिक (= व्याख्याता) होता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(९)—(ऋ) “ ० सत्पुरुष धर्मकथिक होता है । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१०)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष आरण्यक (= वनवासी) होता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१०)—(ऋ) “ ० सत्पुरुष आरण्यक होता है । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(११)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष पांसु-कुलिक (= चोथदेवारी) होता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(११)—(ऋ) “ ० सत्पुरुष पांसुकुलिक होता है । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१२)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष पिंडपातिक (= मधुकडीवाला) होता है ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१२)—(ऋ) “ ० सत्पुरुष पिंडपातिक होता है । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१३)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष वृक्षमूलिक (= घरके भीतर न रहकर, सदा वृक्षके नीचे रहनेवाला) होता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१३)—(ऋ) “ ० सत्पुरुष वृक्षमूलिक होता है । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१३)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष इन्द्रानिक (= इन्द्रानमें रहनेवाला) होता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१४)—(ख) “ ० सत्पुरुष इन्द्रानिक होता है । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१५)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष कामोसे विरहित ०^१ प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१५)—(ख) “ ० सत्पुरुष ० प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह ऐसा ब्याल करता है—‘प्रथम-ध्यानकी प्राप्तिसे बाद भी भगवान्ने अ-तन्मयता होने (की बात) कही है । जो जो ब्याल करते हैं, उससे वह अन्यथा ही होता है ।’ वह उस अ-तन्मयताको ब्याल कर, उस प्रथम-ध्यानकी प्राप्तिसे न अपने त्रिषे अभिमान करता है, न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । भिक्षुओ ! वह है सत्पुरुष-धर्म ।

(१६)—(क)—“ ० अ-सत्पुरुष ०^१ द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । ० । दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१६)—(ख) “ ० सत्पुरुष ०^१ द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । ० उस अ-तन्मयताको ब्यालकर ० । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१७)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष ०^१ तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१७)—(ख) “ ० सत्पुरुष ० तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । ० उस अ-तन्मयताको ब्यालकर ० । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१८)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष ०^१ चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१८)—(ख) “ ० सत्पुरुष ० चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । ० उस अ-तन्मयताको ब्यालकर ० । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१९)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष कपसंज्ञाको सर्वथा छोपनेसे ०^१ आकाशानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरता है । ० । दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(१९)—(ख) “ ० सत्पुरुष ०^१ आकाशानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरता है । ० उस अ-तन्मयताको ब्यालकर ० । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(२०)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष ०^१ विज्ञान-आनन्द-आयतनको प्राप्त हो विहरता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(२०)—(ख) “ ० सत्पुरुष ०^१ विज्ञानानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरता है । ० उस अ-तन्मयताको ब्यालकर ० । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है ।

(२१)—(क) “ ० अ-सत्पुरुष ०^१ आकिञ्चन्यायतनको प्राप्त हो विहरता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(२१)—(ख) “ ० सत्पुरुष ०^१ आकिञ्चन्यायतनको प्राप्त हो विहरता है । ० उस अ-तन्मयताको ब्यालकर ० । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

^१ देखो वृत्त २५ ।

^१ देखो वृत्त २०-२८ ।

(२२)—(क) “ ० अस्त्युत्त ० ” नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको प्राप्त हो विहरता है । ० दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । ० ।

(२२)—(ख) “ ० सत्पुरुष ० ” नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको प्राप्त हो विहरता है । ० उस अ-तन्मयताका लक्षण कर ० । ० न दूसरोंको नीची निगाहसे देखता है । मिथुनो ! यह है सत्पुरुष-धर्म ।

(२३)—और फिर मिथुनो ! सत्पुरुष नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको भी सर्वथा अतिक्रमणकर, संज्ञा-वेदित-निरोध को प्राप्त हो विहरता है । प्रज्ञासे उसे देख कितने ही (उसके) आच्छाद (= चित्तमल) नष्ट होजाते हैं । मिथुनो ! यह मिथु न कुछ मान करता है, न कहीं मान करता है, और न किसी के साथ मान करता है । ”

भगवान्ने यह कहा, स्मृष्ट हो, उन मिथुनोंने भगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

११४—सेवितव्य-नसेवितव्य-सुत्तन्त (३।२।४)

सेवनीय, अ-सेवनीय

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तोमें अनाय-पिंडिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“मदन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! तुम्हें सेवितव्य-असेवितव्य (= सेवन-योग्य, न-सेवन योग्य) धर्म-पर्याय (= धर्मोपदेश) उपदेसता हूँ, उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, मन्ते !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“ (१) भिक्षुओ ! मैं काय-समाचार (= कायिक कर्म) को दो प्रकारका कहता हूँ, सेवनीय, अ-सेवनीय, वह काय-समाचार अन्योन्य है । (२) • वाक्-समाचार (= वाचिक कर्म) • । (३) भिक्षुओ ! मैं मनः-समाचार (= मानसिक कर्म) को दो प्रकारका कहता हूँ—सेवनीय, अ-सेवनीय । वह मन-समाचार अन्योन्य है । (४) भिक्षुओ ! मैं चित्त-उत्पाद (= चित्त या विचारोंकी उत्पत्ति) को दो प्रकारका कहता हूँ—सेवनीय, अ-सेवनीय । वह चित्त-उत्पाद अन्योन्य है । (५) • संज्ञा-लामको • । (६) इन्द्रि-लामको • । (७) • आत्मभाव (= शरीर)-लामको • ।”

ऐसा कहने पर आयुष्मान् सारिपुत्रने भगवान्से यह कहा—“मन्ते ! भगवान्के इस संक्षिप्त, विचारसे क-विमोजित भाषणका मैं इस प्रकार विचारसे अर्थ जानता हूँ • ।”—(१) ‘भिक्षुओ ! मैं काय-समाचारको दो प्रकारका कहता हूँ • ।’ यह जो भगवान्ने कहा, किस हेतुसे कहा ?—मन्ते ! जिस प्रकारके कायिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ (= मकुशल धर्म) बढ़ती हैं, मलाइयाँ (= कुशल धर्म) क्षीण होती हैं, इस प्रकारका कायिक कर्म अ-सेवनीय है । और मन्ते ! जिस प्रकारके कायिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं, मलाइयाँ बढ़ती हैं, इस प्रकारका कायिक कर्म सेवनीय है । मन्ते ! किस प्रकारके कायिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ बढ़ती हैं • ?—यहाँ, मन्ते ! (१) कोई (पुरुष) हिंसक, क्रूर, लोहितपाणि (= खूनसे रंगे हाथोंवाला), भास्काटमें रत, सारे प्राणियोंके प्रति निर्दयी होता है । (२) अदिवादायी (= चोर) • । (३) कामोंमें व्यभिचारी • । अन्तमें माला मात्र भी जिनपर काट दी गई है । मन्ते ! इस प्रकारके कायिक कर्मके सेवन करने से बुराईयाँ बढ़ती हैं, मलाइयाँ क्षीण होती हैं । मन्ते ! किस प्रकारके कायिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं • ?—यहाँ मन्ते ! (१)

कोई (पुरुष) प्राणातिपात (= हिंसा) कोष प्राणातिपातसे विरत होता है ०^१ । (२) ० अदिवादान (= चोरी)से विरत होता है ०^१ । (३) ० काम-मिथ्याचारसे विरत होता है ०^१ । मन्ते ! इस प्रकारके वाचिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं ० । 'मिथुनो ! मैं काय-समाचार दो प्रकारका कहता हूँ ०'—यह जो भगवान् ने कहा, इसी हेतुसे कहा ।

(२) " 'मिथुनो ! मैं वाक्-समाचार दो प्रकारका कहता हूँ ०'—यह जो भगवान् ने कहा, किस हेतुसे कहा ?—मन्ते ! जिस प्रकारके वाचिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ बढ़ती हैं ० इस प्रकारका वाचिक कर्म अ-सेवनीय है । ० सेवन करनेसे भलाईयाँ बढ़ती हैं, इस प्रकारका वाचिक कर्म सेवनीय है । ० किस प्रकारके वाचिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ बढ़ती हैं ?—० (१) कोई (पुरुष) मिथ्यावादी होता है, समामें ०^१ । (२) ० जुगलबोर ०^१ । ० (३) ० कटुभाषी ०^१ । (४) ० प्रलापी ०^१ निस्तार वाणीका बोलनेवाला होता है । मन्ते ! इस प्रकार ० भलाईयाँ क्षीण होती हैं । ० किस प्रकारके वाचिक कर्मसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं ० ?—० कोई (पुरुष) (१) ० भृषावादसे विरत होता है । समामें ०^१ । (२) ० पिशुन-वचन (= चुगली) से विरत ०^१ । (३) ० परुषवचनसे विरत ०^१ । (४) प्रलापसे विरत ०^१ सारवाही वाणीका बोलनेवाला होता है । इस प्रकारके वाचिक कर्मके सेवनसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं । ० भगवान् ने कहा, इसी हेतुसे कहा ।

(३) " 'मिथुनो ! मैं मनःसमाचार दो प्रकारका कहता हूँ ०'—यह जो भगवान् ने कहा, किस हेतुसे कहा ?—० जिस प्रकारके मानसिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ बढ़ती हैं, ० अ-सेवनीय है । ० सेवन करनेसे भलाईयाँ बढ़ती हैं, ० सेवनीय ० । ० किस प्रकारके मानसिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ बढ़ती हैं ?—० कोई (पुरुष) (१) ० अभिध्यालु (= लोभी) होता है ०^१ । ० (२) ० व्यापन्न-चित्त (= द्वेषी) ०^१ । (३) मिथ्यादृष्टि ०^१ ऐसे अमण-वाङ्मय नहीं, ० जो ० स्वयं जान कर ० पतकायेंगे । मन्ते ! इस प्रकार ० भलाईयाँ क्षीण होती हैं । ० किस प्रकारके मानसिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं ० ?—कोई (पुरुष) (१) अभिध्या-रहित (= निर्लोभी) होता है ०^१ । (२) ० अ-व्यापन्न-चित्त ०^१ । (३) ० सम्यग्-दृष्टि ०^१ । ० इस प्रकारके मानसिक कर्मके सेवन करनेसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं । ० भगवान् ने कहा, इसी हेतुसे कहा ।

(४) " 'मिथुनो ! मैं चित्त-उत्पादको दो प्रकारका कहता हूँ ०'—यह जो भगवान् ने कहा, किस हेतुसे कहा ?—० जिस प्रकारके चित्त-उत्पादके सेवनसे बुराईयाँ बढ़ती हैं, ० अ-सेवनीय है । ० सेवनसे भलाईयाँ बढ़ती हैं, ० सेवनीय ० । ० किस प्रकारके ० सेवनसे बुराईयाँ बढ़ती हैं ० ?—वहाँ मन्ते ! (१) कोई (पुरुष) अभिध्यालु (= लोभी) होता है, (वह) अभिध्या (= लोभ) युक्त चित्तसे विहरता है । (२) व्यापाद-युक्त चित्त ० । ० (३) ० विहिंसा-युक्त चित्तसे विहरता है । इस प्रकारके चित्त-उत्पादके सेवनसे बुराईयाँ बढ़ती हैं ० । ० किस प्रकारके चित्त-उत्पादके सेवनसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं ० ?—० कोई (पुरुष) (१) अ-अभिध्यालु होता है ० । (वह) अभिध्या-रहित चित्तसे विहरता है । (२) व्यापाद-रहित चित्तसे ० । (३) ० विहिंसा-रहित चित्तसे ० । ० इस प्रकारके चित्त-उत्पादके सेवनसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं ० । ० भगवान् ने कहा, इसी हेतुसे कहा ।

(५) " 'मिथुनो ! मैं संज्ञा-लाभको दो प्रकारका कहता हूँ ०'—यह जो भगवान् ने

कहा, किस हेतुसे कहा ?—० । ० । ० किस प्रकारके संज्ञा-लामसे बुराईयाँ पड़ती हैं ?—(१) ० कोई (पुरुष) अभिध्यातु होता है, (वह) अभिध्या (= लोभ) युक्त संज्ञासे विहरता है । (२) ० व्यापाद-युक्त संज्ञासे ० । (३) ० विहिंसा-युक्त संज्ञासे ० । इस प्रकार ० बुराईयाँ पड़ती हैं ० । ० किस प्रकारके संज्ञा-लामसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं ?—(१) ० अभिध्या-रहित संज्ञासे विहरता है । (२) ० व्यापाद-रहित संज्ञासे ० । (३) विहिंसा-रहित संज्ञासे ० । ० इस प्रकारके संज्ञा-लामके सेवामसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं ० । ० भगवान्ने कहा, इसी हेतुसे कहा ।

(६) “ मिथुनो ! मैं दृष्टि (= चारणा)-लामको दो प्रकारका कहता हूँ ०’—यह जो भगवान्ने कहा, किस हेतुसे कहा ?—० । ० । ० किस प्रकारके दृष्टि-लामसे बुराईयाँ पड़ती हैं ० ?—० यहाँ कोई (पुरुष) इस दृष्टिवाला होता है—‘यज्ञ कुछ नहीं ०’ स्वयं जान कर ० जल-लायेंगे । इस प्रकारके दृष्टि लामसे बुराईयाँ पड़ती हैं ० । ० किस प्रकारके दृष्टि लामसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं ० ?—यहाँ कोई (पुरुष) इस दृष्टिवाला होता है—‘यज्ञ है ०’ ऐसे भ्रमण मात्स्य है, ० जललायेंगे । इस प्रकारके दृष्टि-लामसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं ० । ० भगवान्ने कहा, इसी हेतुसे कहा ।

(७) “ मिथुनो ! मैं आत्म-भाव (= शरीर)-लामको दो प्रकारका कहता हूँ ०’—यह जो भगवान्ने कहा, किस हेतुसे कहा ?—० । ० । ० किस प्रकारके आत्मभाव-लामसे बुराईयाँ पड़ती हैं ० ?—व्यापाद (= द्वेष)-युक्त आत्मभाव-लामके निर्माण करनेसे, पूर्णता प्राप्त करनेके लिये बुराईयाँ पड़ती हैं, भलाईयाँ क्षीण होती हैं । व्यापादरहित आत्मभाव-लामके निर्माण करनेसे, ० पूर्णता प्राप्त करनेके लिये, बुराईयाँ क्षीण होती हैं, भलाईयाँ पड़ती हैं । ० भगवान्ने कहा, इसी हेतुसे कहा ।

“ भन्ते ! भगवान्ने इस संक्षिप्त ० * भाषणका मैं इस प्रकार विस्तारसे अर्थ जानता हूँ । ”

“ साधु, साधु, सारिपुत्र ! तुम, सारिपुत्र ! मेरे इस संक्षिप्त भाषणका ठीक ही इस प्रकार विस्तारसे अर्थ जानते हो । ”

“ सारिपुत्र ! (१) मैं चक्षुर्विशेष (= चक्षुद्वारा ज्ञेय) रूपोंको दो प्रकारका कहता हूँ—सेवनीय, अ-सेवनीय—” (२) ओष-विशेष शब्दको ० । (३) ग्राण-विशेष शब्दको ० । (४) जिह्वा-विशेष रसको ० । (५) काय-विशेष स्पर्शको ० । (६) मनो-विशेष चर्मको ० । ”

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् सारिपुत्रने भगवान्से यह कहा—“ भन्ते ! भगवान्ने इस संक्षिप्त ० * भाषणका मैं इस प्रकार विस्तारसे अर्थ जानता हूँ—

(१) “ सारिपुत्र ! मैं चक्षुर्विशेष रूपोंको दो प्रकारका कहता हूँ—‘सेवनीय, अ-सेवनीय’—यह जो भगवान्ने कहा, किस हेतुसे कहा ?—भन्ते ! जिस प्रकारके चक्षुर्विशेष रूपोंके सेवन करनेसे बुराईयाँ पड़ती हैं, भलाईयाँ क्षीण होती हैं, इस प्रकारके चक्षुर्विशेष रूप अ-सेवनीय हैं । और, भन्ते ! जिस प्रकारके चक्षुर्विशेष रूपोंके सेवन करनेसे बुराईयाँ क्षीण होती हैं, भलाईयाँ पड़ती हैं, इस प्रकारके चक्षुर्विशेष रूप सेवनीय हैं ० । ० ओष-विशेष शब्द ० । ० ग्राण-विशेष शब्द ० । ० जिह्वा-विशेष रस ० । ० काय-विशेष स्पर्श ० । ० मनो-विशेष चर्म ० इस प्रकारके मनो-विशेष चर्म सेवनीय हैं । ० । भन्ते ! भगवान्ने इस संक्षिप्त भाषणका मैं इस प्रकार विस्तारसे अर्थ जानता हूँ । ”

“साधु, साधु, सारिपुत्र ! तुम ० ठीक ही इस प्रकार विस्तारसे अर्थ जानते हो ।”

“सारिपुत्र ! मैं चौबसको दो प्रकारका कहता हूँ—सेवितव्य, अ-सेवितव्य । ० पिंडपात (= भिक्षा) ० । ० शयन-आसन ० । ० ग्राम ० । ० निगम ० । ० नगर ० । ० जनपद (= देश) ० । ० पुद्गल (= व्यक्ति) ० ।”

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् सारिपुत्रने भगवान्से यह कहा—“० मैं, इस प्रकार विस्तारसे अर्थ जानता हूँ—‘सारिपुत्र ! मैं चौबसको दो प्रकारका कहता हूँ—०’—यह जो भगवान्ने कहा, किस हेतुसे कहा ?—भन्ते ! जिस प्रकारके चौबसके सेवन करनेसे सुराह्याँ बढ़ती हैं, भलाह्याँ क्षीण होती हैं; उस प्रकारका चौबस अ-सेवनीय है । जिस प्रकारके चौबसके सेवन करनेसे सुराह्याँ क्षीण होती हैं, भलाह्याँ बढ़ती हैं, उस प्रकारका चौबस सेवनीय है । ० पिंडपात ० । ० शयन-आसन ० । ० ग्राम ० । ० निगम ० । ० नगर ० इस प्रकारका नगर सेवनीय है । ० । भन्ते ! ० मैं इस प्रकार विस्तारसे अर्थ जानता हूँ ।”

“साधु, साधु, सारिपुत्र ! तुम ० ठीक ही इस प्रकार विस्तारसे अर्थ जानते हो ।”

“सारिपुत्र ! इस मेरे संक्षिप्त भाषणका इस प्रकार विस्तारसे अर्थ यदि सारे क्षत्रिय जानें, तो यह सारे क्षत्रियोंको दीर्घ काल तक हित-सुखके लिये हो । ० सारे ब्राह्मण ० । ० सारे वैश्य ० । ० सारे क्षत्र ० । ० इस मेरे संक्षिप्त भाषणका इस प्रकार विस्तारसे अर्थ यदि देव-भार (= प्रजापति)-ब्रह्मा-सहित सारा लोक, देव-मानुष-अमण-ब्राह्मणसहित प्रजा (= जनता) जानें, तो यह” (उसके) लिये दीर्घकाल तक हित-सुखके लिये हो ।”

भगवान्ने यह कहा, समुद्र ही आयुष्मान् सारिपुत्रने भगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

११५-बहु-धातुक-सुत्तन्त (३।२।५)

धातुर्वै । इष्टिमात्र पुरुष । स्थान-अस्थानका जानकार

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिंडिकके काराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भदन्त !” (कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! जो कोई भय उत्पन्न होता है, वह सभी बाल (= मूर्ख) से ही उत्पन्न होता है, पंडितसे नहीं । जो कोई उपद्रव उत्पन्न होते हैं, वह सभी बालसे ही उत्पन्न होते हैं, पंडितसे नहीं । जो कोई उपसर्ग (= दिक्कतें) • । जैसे, भिक्षुओ ! नृणके घर या नरकट (= तल) के घरसे निकली जाग सुंदर लिये, बाबुरहित, कुंठे लगे, खिचड़ी-किवाड़-पुंठ कटागारों (= बहलों)को जला देती है, इसी प्रकार भिक्षुओ ! जो कोई भय • पंडितसे नहीं । इन्हीं भय, भिक्षुओ ! बाल स-भय है, पंडित अ-भय, बाल स-उपद्रव है, पंडित अन्-उपद्रव; बाल स-उपसर्ग है, पंडित अन्-उपसर्ग । भिक्षुओ ! पंडितसे भय नहीं, पंडितसे उपद्रव नहीं, • उपसर्ग नहीं । इसलिये भिक्षुओ !—‘हम पंडित=विमर्शक (= मोर्चासक) होंगे’—यह तुम्हें सोच लेनी चाहिये ।”

ऐसा कहनेपर आलुप्मान् जानंदने भगवान्से यह कहा—“भन्ते ! किसनेसे भिक्षुको पंडित=विमर्शक कहा जा सकता है ?”

“आनन्द ! जब भिक्षु धातु-कुशल (= धातुका सुंदर जानकार) होता है, जायतन-कुशल •, प्रतीत्य-समुत्पाद-कुशल •, स्थान-अस्थान-कुशल होता है । इतनेसे, आनन्द ! भिक्षुको पंडित कहा जा सकता है । आनन्द ! यह अठारह धातुयें हैं—(१) चतु धातु, (२) रूप •, (३) चतुर्विज्ञान धातु, (४) ओत्र •, (५) शब्द •, (६) श्रीत्र-विज्ञान •, (७) ज्ञान •, (८) गंध •, (९) ज्ञान-विज्ञान •, (१०) जिह्वा •, (११) रस •, (१२) जिह्वा-विज्ञान •, (१३) काम •, (१४) स्पर्श •, (१५) काद-विज्ञान •, (१६) मनोधातु, (१७) धर्म-धातु, (१८) मनोविज्ञान-धातु । आनन्द ! इन अठारह धातुओंको जानता-देखता है, तब भिक्षुको धातु-कुशल कहा जा सकता है ।

“क्या, भन्ते ! और भी पचास (= चिकित्सा) है, जिससे कि भिक्षु धातु-कुशल कहा जा सके ?”

“आनन्द ! यह छः धातुयें हैं—(१) वृषिनीधातु, (२) आप (= जल)-धातु, (३) तेज •, (४) वायु •, (५) आकाश •, (६) विज्ञान-धातु । आनन्द ! जब भिक्षु इन छः धातुओंको जानता देखता है, इतनेसे भी—‘धातु-कुशल’ कहा जा सकता है ।”

“स्वा, मन्ते ! और भी पर्याय है ० ?”

“हे, आनन्द ! यह छः धातुयें हैं—(१) सुख-धातु, (२) दुःख ०, (३) दीर्घमनस्य ०, (४) दीर्घमनस्य ०, (५) उपेक्षा ०, (६) अविद्या-धातु । आनन्द ! जब मिथु ० ।”

“स्वा, मन्ते ! और भी पर्याय है ० ?”

“हे, आनन्द ! यह छः धातुयें (-चित्त) हैं—(१) काम-धातु, (२) निष्काम ०, (३) व्यापाद ०, (४) अव्यापाद ०, (५) विहिंसा ०, (६) अ-विहिंसा-धातु । आनन्द ! जब मिथु ० ।”

“स्वा, मन्ते ! और भी पर्याय है ० ?”

“हे, आनन्द ! यह तीन धातुयें (= लोक) हैं—(१) काम-धातु, (२) रूप-धातु, (३) अ-रूप-धातु । आनन्द ! जब मिथु ० ।”

“स्वा, मन्ते ! और भी पर्याय है ० ?”

“हे, आनन्द ! यह दो धातुयें (= लोक) हैं—(१) संस्कृत (= कृत) धातु, और (२) अ-संस्कृत-धातु । आनन्द ! जब मिथु ० ।”

“कितनेसे, मन्ते ! मिथुको आयतन-कुशल कहा जा सकता है ?”

“आनन्द ! यह आध्यात्मिक (= शरीरके भीतरके) बाह्य आयतन हैं—(१) चक्षु और रूप, (२) श्रोत्र और शब्द, (३) घ्राण और गंध, (४) जिह्वा और रस, (५) काय और स्पर्श, (६) मन और धर्म । आनन्द ! जब मिथु ० ।”

“कितनेसे, मन्ते ! मिथुको प्रतीत्य-समुत्पाद्-कुशल कहा जा सकता है ?”

“आनन्द ! यहाँ मिथु यह जानता है—‘इसके होनेपर यह होता है’; ‘इसके उत्पन्न होनेपर यह उत्पन्न होता है’ । ‘इसके न होनेपर यह नहीं होता’; ‘इसके निरोध (= बाध) होनेपर इसका निरोध होता है’ । जो कि यह अविद्याके कारण संस्कार, संस्कारके कारण विज्ञान, विज्ञानके कारण नाम-रूप, नाम-रूपके कारण षट्-आयतन, षट्-आयतनके कारण स्पर्श, स्पर्शके कारण वेदना, वेदनाके कारण तृष्णा, तृष्णाके कारण उपादान, उपादानके कारण भव, भवके कारण जाति, जातिके कारण जरा-मरण, शोक—रोना काँदना, दुःख-दीर्घमनस्य, वैरागी-वैरोशानी उत्पन्न होती है । इस प्रकार इस केवल दुःख-पुञ्जी उत्पत्ति होती है । अविद्याके अशेष विराग, और निरोधसे संस्कारका निरोध होता है, संस्कार-निरोधसे विज्ञान-निरोध, विज्ञान-निरोधसे नाम-रूपका निरोध, नाम-रूपके निरोधसे षट्-आयतनका निरोध, षट्-आयतन-निरोधसे स्पर्श-निरोध, स्पर्श-निरोधसे वेदना-निरोध, वेदना-निरोधसे तृष्णाका निरोध, तृष्णा-निरोधसे उपादान-निरोध, उपादान-निरोधसे भव-निरोध, भव-निरोधसे जातिका निरोध, जाति-निरोधसे जरा-मरण, शोक परिदेव, दुःख-दीर्घमनस्य, उपादास का निरोध होता है । इस प्रकार इस केवल दुःख-पुञ्ज (आवगमन) का निरोध होता है । इतनेसे, आनन्द ! मिथुको प्रतीत्य-समुत्पाद्-कुशल कहा जा सकता है ।

“आनन्द ! इसका स्थान नहीं, इसके लिये अवकाश नहीं, कि दृष्टि-ग्रास (= सबे दर्शन को जाननेवाला) पुद्गल (= पुरुष) किसी संस्कार (= क्रिया, कृति) को नित्यके तौर पर ग्रहण करे—इस स्थानको जानता है । इसके लिये स्थान है, कि पुद्गल (= भूत) किसी संस्कारको नित्यके तौर पर ग्रहण करे—इसे जानता है । ‘अ-स्थान है, अवकाश नहीं, कि दृष्टि-ग्रासे पुद्गल किसी संस्कारको सुखके तौर पर ग्रहण करे’—इसका स्थान नहीं (= अ-स्थान) इसे जानता है । ‘स्थान है, अवकाश है, जो पुद्गल किसी संस्कारको सुखके तौरपर ग्रहण करे—यह स्थान (= संभव) है—इसे जानता है । ‘अ-स्थान है—अवकाश है, कि दृष्टि-ग्रास पुद्गल किसी धर्मेणो

आत्माके तौर पर ग्रहण करे—यह स्थान नहीं है—इसे जानता है। 'स्थान है ० जो पृथग्जन किसी धर्मको आत्माके तौरपर ग्रहण करे—यह स्थान है'—इसे जानता है। 'अस्थान (= अ-संभव) है, अनवकाश है, जो इष्टि-प्राप्त माताकी हत्या करे—यह स्थान नहीं है'—इसे जानता है। 'स्थान है, अवकाश है, जो पृथग्जन माताको हत्या करे—यह स्थान है'—इसे जानता है। 'अस्थान है ०, जो इष्टि-प्राप्त पिताकी हत्या करे—०' इसे जानता है। 'स्थान है ० जो पृथग्जन पिताकी हत्या करे—०—इसे जानता है। 'अस्थान है ० जो इष्टि-प्राप्त दुष्ट चित्तसे सधामतके (शरीरसे) लोह निकाले—० इसे जानता है। 'स्थान है ० जो पृथग्जन ० लोह निकाले—० इसे जानता है। 'अस्थान है ० जो इष्टि-प्राप्त संघ-भेद (= सर्वमें फूट) करे—० यह जानता है। 'स्थान है ० जो पृथग्जन संघ-भेद करे—० यह जानता है। 'अस्थान है ०, जो इष्टि-प्राप्त ० (कुदकी छोब) दूसरेको अपना शाला (= गुरु) बनावे—०—यह जानता है। 'स्थान है, जो पृथग्जन ० दूसरेको शाला बनावे—०—यह जानता है। 'अस्थान है ० जो एक लोक-वातु (= लोक) में पूर्व-पश्चात् न हो (एक कालमें) दो अर्हत्-सम्बन्ध-संबुद्ध उत्पन्न हों—यह स्थान नहीं'—इसे जानता है। 'स्थान है ०, जो एक लोक वातुमें एक अर्हत् सम्बन्ध संबुद्ध उत्पन्न हों—यह स्थान है'—इसे जानता है। 'अस्थान है ०, जो एकलोक वातुमें एक कालमें (= पूर्व-पीछे नहीं) दो राजा चक्रवर्ती उत्पन्न हों—०—यह जानता है। 'स्थान है ०, जो एक लोक वातुमें एक-कालमें एक राजा चक्रवर्ती उत्पन्न हो—०—इसे जानता है। 'अस्थान है ०, जो श्री अर्हत् सम्बन्ध-संबुद्ध हो—०—०। 'स्थान है ०, जो पुरुष अर्हत् सम्बन्ध-संबुद्ध हो—०—०। 'अस्थान है ०, जो श्री राजा चक्रवर्ती है—०—०। 'स्थान है ०, जो पुरुष राजा चक्रवर्ती हो—०—०। 'अस्थान है ०, जो, श्री शक्र-पद, भार (= प्रजापति)-पद या ब्रह्माके पदपर आरुढ़ हो—०—०। 'स्थान है ०, जो पुरुष शक्रपद ०—०—०। 'अस्थान है ०, जो कामिक दुराचारका इष्ट = कान्त = मनाप (= प्रिय) विपाक हो—०—०। 'स्थान है ०, जो ० अन्-इष्ट = अ-कान्त = अ-मनाप विपाक हो ०—०। 'अस्थान है ०, जो वाग्-दुश्चरितका इष्ट ०—०—०। स्थान है ०, जो वाग्-दुश्चरित (= वाचिक दुराचार)का अनिष्ट ०—०—०। जरावान है ०, जो मनो दुश्चरितका इष्ट ०—०—०। स्थान है ०, जो मनो दुश्चरितका अनिष्ट ०—०—०। 'अस्थान है ० जो काय-सुचरितका अनिष्ट ०—०—०। स्थान है ०, जो काय-सुचरितका इष्ट ०—०—०। 'अस्थान है ०, जो वाक्-सुचरितका अनिष्ट ०—०—०। स्थान है ०, जो वाक्-सुचरितका इष्ट ०—०—०। 'अस्थान है ०, जो मनः सुचरितका अनिष्ट ०—०—०। स्थान है ०, जो मनः सुचरितका इष्ट ०—०—०। 'अस्थान है ०, जो मनः सुचरितका इष्ट ० विपाक हो—०—०। 'अस्थान है ०, जो काय-दुश्चरितसे युक्त होते काया छोड़ मरनेके बाद सुगति = स्वर्गलोकमें उत्पन्न हो, यह स्थान नहीं—यह जानता है। स्थान है ०, जो ० अपाय = दुर्गति = विनिपात, नरकमें उत्पन्न हो—यह स्थान है—यह जानता है। 'अस्थान है ०, जो वाग्-दुश्चरित ० स्वर्गमें —०—०। स्थान है ०, जो वाग्-दुश्चरित ० नरकमें ०—०—०। 'अस्थान है ०, जो मनो-दुश्चरित ० स्वर्गमें —०—०। स्थान है ०, जो मनोदुश्चरित ०—नरकमें —०—०। 'अस्थान है ०, जो काय-सुचरित से युक्त होते, काया छोड़ मरनेके बाद अपाय = दुर्गति = विनिपात = नरकमें उत्पन्न हो—यह स्थान नहीं—जानता है। स्थान है ०, जो काय-सुचरित ०, सुगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न हो—यह स्थान है—यह जानता है। 'अस्थान है ०, जो वाक्-सुचरित ०, नरकमें —०—०। स्थान है ०, जो ० स्वर्गमें—०—०। 'अस्थान है ०, जो मनः सुचरित ०, नरकमें—०—०। स्थान है ०, जो मनः सुचरित ०—स्वर्गमें—०—०।

"जानन्द ! इतनेसे बहुत स्थान-अस्थानमें कुशल कहा जा सकता है।"

ऐसा कहनेपर आशुप्मान् आनन्दने भगवान्‌को यह कहा—

“आश्वर्य ! भन्ते ! अद्भुत !! भन्ते ! किस नामका भन्ते ! यह धर्म-पर्याय (= धर्म-व्यपदेश) है ?”

“तो आनन्द ! तू इस धर्मपर्यायको बहुधातुक यह भी धारण कर सकता है । चतुःपरिवर्त यह भी ० । धर्मादृशं यह भी ० । अमृतदुन्दुभि यह भी ० । अनुत्तर-संग्राम-विजय यह भी ० ।”

भगवान्‌ने यह कहा, श्रुष्ट ही आशुप्मान् आनन्दने भगवान्‌के भाषणको अभिनिन्दित किया ।

११६-इसिगिलि-सुत्तन्त (३।२।६)

कपि-गिरि के प्रत्येक कुंड

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें कपिगिरि (= इसिगिलि) पर्वतपर विहार करते थे ।

तब भगवान्ने मिथुओंको सम्बोधित किया—“मिथुओ !”

“मदन्त !”—(वह) उन मिथुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“देखते हो, मिथुओ ! तुम इस वैभार पर्वतको ?”

“हाँ, मन्ते !”

“मिथुओ ! इस वैभार पर्वतकी (पहिले) दूसरीही संज्ञा थी, दूसरीही प्रशंसि
(= नाम) थी ।”

“देखते हो, मिथुओ ! तुम इस पांडव-पर्वतको ?”

“हाँ, मन्ते !”

“मिथुओ ! इस पांडव पर्वतकी (पहिले) दूसरी ही संज्ञा थी ० ।”

“देखते हो, मिथुओ ! तुम इस वैपुल्य-पर्वतको ?”

“हाँ, मन्ते !”

“मिथुओ ! इस वैपुल्य पर्वतको (पहिले) दूसरी ही संज्ञा थी ० ।”

“देखते हो, मिथुओ ! तुम इस गृध्रकूट पर्वतको ?”

“हाँ, मन्ते !”

“मिथुओ ! इस गृध्रकूट पर्वतकी (पहिले) दूसरी ही संज्ञा थी ० ।”

“देखते हो, मिथुओ ! तुम इस कपिगिलि पर्वतको ?”

“हाँ, मन्ते !”

“मिथुओ ! इस कपि-गिलि-पर्वतकी (पहिले) दूसरी ही संज्ञा थी ० । मिथुओ ! पूर्व-
कालमें इस कपिगिलि पर्वतमें पाँच सौ प्रत्येककुंड^१ बिर-निवासी थे । वह इस पर्वतमें प्रवेश
करते दिखाई देते थे, प्रविष्ट हो जानेपर नहीं दिखाई पड़ते थे । यह देख मनुष्य कहते यह पर्वत
इन कपियोंको गिलता (= निगलता) है, (इस प्रकार) ‘कपि-गिलि’ (= कपियोंको निगलने-
वाला) ‘कपि-गिलि’ यही संज्ञा हो गई । मिथुओ ! (उन) प्रत्येककुंडोंके नाम तुम्हें पतलाता
हूँ । मिथुओ ! प्रत्येककुंडोंके नाम तुम्हें कीर्तित करता हूँ । मिथुओ ! प्रत्येककुंडोंके नाम
तुम्हें देता (= पतलाता) हूँ, उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

^१ तीन प्रकारके मुक्त पुरुषोंमें एक ।

“अच्छा मन्ते !” — (कह) उन मिथुनों ने भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ने यह कहा —

“मिथुनो ! अरिष्ट (= अरिष्ट) नामक प्रत्येकबुद्ध इष्ट ऋषिगिरि पर्वतके चिर-निवासी थे । • उप-अरिष्ट (= उपरिष्ट) • । • तगर-शिखी (= तगर-शिखी) • । • यशस्वी (= यशस्वी) • । • सुदर्शन (= सुदर्शन) • । • प्रियदर्शी (= प्रियदर्शी) • । • रांधार • । • पिंडोल • । • उप-ऋषभ (= उपाश्रम) • । • नोध • । • तत • । • भुत-वान् (= भुतवा) • । • भावितात्मा (= भाविता) • ।

‘जो प्राणिपोंके सार, दुःख-रहित, आशा-रहित, प्रत्येक-बोधि’ को प्राप्त हुए ।

उन भवानी शरोत्तमोंका नाम कहता हूँ, सुनो ।

अरिष्ट, उपरिष्ट, तगर-शिखी ।

यशस्वी, सुदर्शन, प्रियदर्शी, (यह) सु-सं-कुल ।

रांधार, पिंडोल, और उपर्यभ ।

नोध, तत, भुतवान्, भावितात्मा ।

शुम्भ, शुभ, मतुल, और अष्टम ।

अष्ट सुमेध, अनिध, सुवाठ ।

(यह) प्रत्येकबुद्ध भक्त-वर्धन-मुक्त (हुने)

महानुभाव भिक्षु, भिक्षा, दो जाली, सुनिके अष्टक

तब कौसल्य, फिर सुबाहू हुए

उपनेमिष, नेमिष उपशान्तचित्त ।

तब धृज और पंडित विरज,

काल, उपकाल, विजित, और जित्

अंग, वंग, और शुभजित् ।

पद्मोने दुःखकी जड़ उपधि (= लोभ) को डोढ़ दिया ।

अपराजितने मार-सेनाको जीता ।

शास्ता, प्रथक्ता, और सभंग, लोमहर्ष,

उत्तांगमाय, अस्तित, अनाश्रय ।

मनोमय, मानच्छित्, और यन्त्रुमान् ।

तब विमुक्त, विमल और केतुमान् ।

केतुम्पराग, और कार्य मातंग ।

तब अच्युत-अच्युतांग, व्यासांग ।

सुमंगल, दर्विल, सुप्रतिष्ठित ।

असेय्य, क्षेम्याभिरत, और सोरत ।

दुरन्वय, संघ, और उज्जय भी ।

दूसरे सुनि सैय्य, अनोमनिक्कम ।

आनन्द, नन्द, उपनन्द (यह) बारह ।

अंतिम शरीरधारी भारद्वाज ।

बोधि, महानाम, और उत्तर भी ।
 कोसो, शिखो, सुन्दर, भाग्यदाज ।
 तिथ्य, उपतिथ्य भव-वन्धन-खेदक ।
 उपशिखी, और वृष्णादेदक शिखरो ।
 वीतराग मंगल बुद्ध हुये,
 दुःखमूल जालिनो (= वृष्णा) को छेद कर भगवने ।
 उपनीत शांति-पदको प्राप्त हुये ।
 उपोसथ सुन्दर और सत्य नामवाले ।
 जेत, जयन्त, पद्म, और उपल ।
 पद्मोत्तर, रक्षित और पर्वत ।
 मानसाध्य, वीतराग शोभित ।
 और सु-वि-मुक्त-चित्त वृष्ण बुद्ध ।
 यह और दूसरे महासुभाव ।
 भववर्धन-सुक्त प्रत्येकबुद्ध ।
 उन सभी सर्व संलग्नायी ।
 भगवन्, निर्वाण-प्राप्त महर्षियोंको वन्दो ।"

११७—महा-चत्तारीसक-सुत्तन्त (३।२।७)

ठीक समाधि आदि

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब भगवान्ने भिक्षुओंको सम्बोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भवन्ता !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

“भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! उपनिषद् (= रहस्य) और परिष्कार (= सहायक सामग्री)-सहित तुम्हें आर्य सम्यक्समाधिको उपदेक्षता हैं, उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! क्या है उपनिषद्-परिष्कार-सहित आर्य सम्यक्समाधि ?—जैसे कि सम्यग्-दृष्टि (= ठीक धारणा), सम्यग्-संकल्प, सम्यक्वाक्, सम्यक्-कर्मोन्त, सम्यग्-आजीव, सम्यग्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति । भिक्षुओ ! इन सात अंगों (= बातों)से चित्तकी एकाग्रता परिष्कृत होती है । भिक्षुओ ! यह उपनिषद्-सहित अथवा परिष्कार-सहित आर्य सम्यक्समाधि कही जाती है । वहाँ, भिक्षुओ ! सम्यग्-दृष्टि पूर्वगामी होती है । किस प्रकार भिक्षुओ ! सम्यग्-दृष्टि पूर्वगामी होती है, मिथ्या दृष्टिको—‘मिथ्या दृष्टि है’—जानता है ? सम्यग्-दृष्टिको—‘सम्यग्-दृष्टि है’—जानता है । यह उसकी सम्यग्-दृष्टि है । क्या है, भिक्षुओ ! मिथ्यादृष्टि (= छूटी धारणा) ?—‘दान कुछ नहीं ०’ स्वयं जानकर ० जललायेंगे’—यह भिक्षुओ ! मिथ्या दृष्टि है । क्या है भिक्षुओ ! सम्यग्-दृष्टि ?—भिक्षुओ ! मैं सम्यग् दृष्टि दो प्रकारकी कहता हूँ । भिक्षुओ ! (एक) सम्यग् दृष्टि साखव (= समल), उपाधि नामक विषयको देनेवाली सुख-भोगीय है । भिक्षुओ ! (एक) सम्यग्-दृष्टि आर्य, अनाखव (= मल रहित) लोकोत्तर (= अलौकिक) मार्गका अंग है । भिक्षुओ ! क्या है ० अनाखव सम्यग्-दृष्टि ?—‘दान है ०’ स्वयं जानकर ० जललायेंगे’... । क्या है, भिक्षुओ ! ० अनाखव आर्य सम्यग्-दृष्टि ?—भिक्षुओ ! जो वह आर्य-भार्य सम्यक् आर्य-चित्त = अनाखव-चित्तके आर्यभार्यकी भावना (= जन्मास) करते प्रजा, प्रजा-इन्द्रिय, प्रजाचक्र, धर्मद्विषय संबोधि-अंग, सम्यग्-दृष्टि मार्गका अंग है... । जो वह मिथ्या दृष्टिके डोहनेके लिये प्रयत्न करता है, और सम्यग्-दृष्टिकी प्राप्तिके लिये, यह सम्यग्-व्यायाम (= ठीक उपयोग) है । जो वह स्मृतिपूर्वक मिथ्यादृष्टिको डोहता है, स्मृतिपूर्वक सम्यग्-दृष्टिको ग्रहण कर विहरता है, सो यह सम्यग्-स्मृति है । इस प्रकार यह तीन धर्म (= बातें) जैसे

१ देखो पृष्ठ १०० ।

कि-सम्यग्-दृष्टि, सम्यग्-व्यापाम, सम्यक्-स्रुति, सम्यग्-दृष्टिका अनुगमन करते = अनु-परिवर्तन करते हैं; उनमें, मिथुओ ! सम्यग्-दृष्टि पूर्वगामी होती है ।

“कैसे मिथुओ ! सम्यग्-दृष्टि पूर्वगामी होती है ?—मिथ्या-संकल्पको ‘मिथ्या-संकल्प’ है—जानता है । सम्यक्-संकल्पको ‘सम्यक्-संकल्प’ है—जानता है; यह उसको सम्यग्-दृष्टि होती है । क्या है, मिथुओ ! मिथ्या-संकल्प ? काम (= विषयका) -संकल्प, व्यापाद (= द्वेष) -संकल्प, विहिंसा (= हिंसा) -संकल्प—यह, मिथुओ ! मिथ्या-संकल्प है । क्या है, मिथुओ ! सम्यक्-संकल्प ?—मिथुओ मैं सम्यक्-संकल्पको दो प्रकारका बतलाता हूँ—(१) मिथुओ ! सम्यक्-संकल्प साक्षर, ० पुण्य भागीय है; (२) मिथुओ ! सम्यक्-संकल्प आर्य, अनाक्षर, लोकोत्तर मार्गका अंग है । मिथुओ ! क्या है, ० साक्षर सम्यक्-संकल्प ? नैष्काम्य (= निष्कामता) -संकल्प, अ-व्यापाद-संकल्प, अ-हिंसा-संकल्प—यह, मिथुओ ! ० साक्षर सम्यक्-संकल्प है । क्या है, मिथुओ ० अनाक्षर सम्यक्-संकल्प ? मिथुओ ! जो आर्यमार्ग-संपन्न, आर्य-चित्त = अनाक्षर-चित्तके आर्य-मार्गकी भावना करते, तर्कवितर्क, संकल्प, अर्पणा, अर्पणा (= तन्मायता), चित्तका अभि-निरोपण, तापिक संस्कार—यह है, मिथुओ ! ० अनाक्षर सम्यक्-संकल्प । जो मिथ्या संकल्पके ग्रहाण (= नाश) और सम्यक्-संकल्पकी प्राप्तिके लिये, व्यापाम (= उपोग) करता है; यह सम्यग्-व्यापाम है । यह जो स्रुति पूर्वक मिथ्या-संकल्पको छोड़ता है, और स्रुति-पूर्वक सम्यक्-चित्तको ग्रहणकर विहरता है,—यह सम्यक्-स्रुति है । इस प्रकार यह तीन धर्म, जैसे कि—सम्यग्-दृष्टि, सम्यग्-व्यापाम, सम्यक्-स्रुति—सम्यग्-संकल्पका अनुगमन = अनु-परिवर्तन करते हैं । वहाँ, मिथुओ ! सम्यग्-दृष्टि-पूर्वगामी है ।

“कैसे मिथुओ ! सम्यग्-दृष्टि पूर्वगामी होती है ?—मिथ्या-वचनको ‘मिथ्यावचन’—जानता है; सम्यग् (= सत्य) वचन को ‘सम्यग्-वचन’ है—जानता है—सो यह होती है, उसकी सम्यग्-दृष्टि । क्या है, मिथुओ ! मिथ्यावचन ?—दुष्टावाद (= झूठ), पुगली, कटुवचन, षड्वाद—यह है, मिथुओ ! मिथ्यावचन । क्या है, मिथुओ ! सम्यग्-वचन ?—मिथुओ ! सम्यग्-वचनको मैं दो प्रकारका बतलाता हूँ—(१) सम्यग्-वचन, साक्षर, विषय उपलब्धे पुण्यभागीय होता है; (२) सम्यग्-वचन, आर्य = अनाक्षर, लोकोत्तर-मार्गका अंग है । क्या है मिथुओ ! ० साक्षर सम्यग्-वचन ?—झूठ-पुगली-कटुवचन-षड्वादसे विरत होना—यह है, मिथुओ ! ० साक्षर सम्यग्-वचन । क्या है, मिथुओ ! अनाक्षर सम्यग्-वचन ?—मिथुओ ! जो आर्यमार्ग-संपन्न आर्य-चित्त = अनाक्षर-चित्तके आर्य-मार्गकी भावना करते, चार तापिक दुष्कर्मों (= झूठ, पुगली, कटुवचन, षड्वाद) से अ-रति, वि-रति = प्रति-वि-रति = विरमण—यह है, मिथुओ ! ० अनाक्षर सम्यग्-वचन । यह जो मिथ्या-वचनके ग्रहाण, और सम्यग्-वचनकी प्राप्तिके लिये व्यापाम करता है; यह सम्यग् व्यापाम है । यह जो स्रुति-पूर्वक मिथ्या-वचन को छोड़ता है; और स्रुति पूर्वक सम्यग्-वचनको ग्रहण कर विहरता है; यह सम्यक्-स्रुति है । इस प्रकार यह तीन धर्म ० ।”

“कैसे, मिथुओ ! सम्यग्-दृष्टि पूर्वगामी होती है ?—मिथ्याकर्मान्त (= अनुचित कर्म) को ‘मिथ्या कर्मान्त’ है—जानता है । सम्यक्-कर्मान्तको ‘सम्यक् कर्मान्त’ है—जानता है; सो यह होती है, उसकी सम्यग्-दृष्टि । क्या है, मिथुओ ! मिथ्याकर्मान्त ?—हिंसा, चोरी, अ-मिथ्या—यह है, मिथुओ ! मिथ्याकर्मान्त । क्या है, मिथुओ ! सम्यक्-कर्मान्त ?—मिथुओ ! सम्यक्-कर्मान्तको मैं दो प्रकारका बतलाता हूँ—(१) सम्यक्-कर्मान्त साक्षर ०; (२) सम्यक्-कर्मान्त अनाक्षर ० । क्या है, मिथुओ ! ० साक्षर सम्यक्-कर्मान्त ! हिंसा-चोरी-अभिचारसे

विरत होना—० । क्या है, मित्रुभो ! ० अनाश्रय सम्यक्-कर्मान्त !—० जो ० आर्यमार्गकी भावना करते तीन काविक दुष्कर्मोंसे ० विरति ०—० । वह जो मिथ्या कर्मान्तके प्रहाण और सम्यक् कर्मान्तकी प्राप्तिके लिये व्यायाम करता है; वह सम्यग् व्यायाम है । ० स्मृति-पूर्वक सम्यक् वचनको ग्रहण कर विहरता है; वह सम्यक्-स्मृति है । इस प्रकार वह तीन धर्म ० ।

“कैसे, मित्रुभो ! सम्यग्-रहि पूर्वगामी होती है ?—वह सम्यग्-आजीवको ‘सम्यग्-आजीव है’—ज्ञानता है; मिथ्या-आजीवको ‘मिथ्या-आजीव है’—ज्ञानता है—० यह ० सम्यग्-रहि । क्या है ० मिथ्या-आजीव ?—कुहना (= पासक द्वारा बंधना), लपना (= घात धनाना), वैमिषिकता (= दैवज्ञका पेसा), निषेधिकता (= जादूगरी), कामसे कामकी खोज—यह है, मित्रुभो ! मिथ्या-आजीव । क्या है, ० सम्यग्-आजीव ?—० दो प्रकारका बतलाता हूँ—(१) सम्यग्-आजीव साक्ष्य ०, (२) सम्यग्-आजीव अनाश्रय । क्या है ० साक्ष्य सम्यग्-आजीव ?—मित्रुभो ! यहाँ आर्यश्रावक मिथ्याजीवको जोक सम्यग्-आजीवसे जोविका करता है—यह है, मित्रुभो ! ० साक्ष्य सम्यग्-आजीव । क्या है, ० अनाश्रय सम्यग्-आजीव ?—० जो ० आर्यमार्गकी भावना करते, मिथ्या-आजीवसे ० विरति ०—० । ० मिथ्याजीवके प्रहाण और सम्यग्-आजीवकी प्राप्तिकेलिये व्यायाम करता है; वह सम्यग्-व्यायाम है । ० स्मृति-पूर्वक सम्यग्-आजीवको ग्रहणकर विहरता है, यह सम्यक्-स्मृति है । इस प्रकार वह तीन धर्म ० ।

“कैसे मित्रुभो ! सम्यग्-रहि पूर्वगामी होती है ?—

मित्रुभो ! सम्यग्-रहि उसको सम्यक्-संकल्प होता है । सम्यक्-संकल्पको सम्यग् वचन ०, सम्यग्-वचनको सम्यक्-कर्मान्त ०, सम्यक्-कर्मान्तको सम्यग्-आजीव ०, सम्यग्-आजीवको सम्यग्-व्यायाम ०, सम्यग्-व्यायामको सम्यक्-स्मृति ०, सम्यक्-स्मृतिको सम्यक्-समाधि ०, सम्यक्-समाधिको सम्यग्-ज्ञान ०, सम्यग्-ज्ञानको सम्यग्-विमुक्ति होती है । इस प्रकार, मित्रुभो ! आठ अंगोंसे युक्त है, शेष (= निर्वाण-पदका उन्मीदवार) की प्रातिपद् (= मार्ग); और इस अंगोंसे युक्त है अर्हत् । वहाँ, मित्रुभो ! ज्ञानसे बहुतसी घुराह्यौ (= अ-कुशल धर्म) चलीजाती हैं, (और) भावनाकी परिपूर्णताको प्राप्त होती है । यहाँ सम्यग्-रहि पूर्वगामी होती है ।

“कैसे, मित्रुभो ! सम्यग्-रहि पूर्वगामी होती है ?—मित्रुभो ! सम्यग्-रहिसे मिथ्यारहि नष्ट (= निजीर्ण) होती है, और मिथ्यारहिके कारण जो अनेक पाप, घुराह्यौ (= अकुशल-धर्म) होती हैं वह भी इसके नष्ट होते हैं । सम्यग्-रहिके कारण अनेक मलाह्यौ (= कुशल धर्म) भावनाकी परिपूर्णताको प्राप्त होती है । मित्रुभो ! सम्यक्-संकल्पसे मिथ्या-संकल्प नष्ट होती है, और मिथ्या-संकल्पके कारण जो अनेक पाप = घुराह्यौ होती हैं, वह भी इसके नष्ट होते हैं । सम्यक्-संकल्पके कारण अनेक मलाह्यौ भावनाकी परिपूर्णताको प्राप्त होती हैं । ० सम्यग्-वचन ० । ० सम्यक्-कर्मान्त ० । ० सम्यग्-आजीव ० । ० सम्यग्-व्यायाम ० । ० सम्यक्-स्मृति ० । ० सम्यक्-समाधि ० । ० सम्यग्-ज्ञान ० । ० सम्यग्-विमुक्ति ० ।

“इस प्रकार, मित्रुभो ! कुशल (= अच्छे)-पक्षके बीस, और अकुशल (= बुरे) पक्षके बीस, (दोनों मिलकर) महा-चत्तारोसक (= महान् चन्वालीस) धर्म-पर्याय प्रचारित (= प्रवर्तित) किया गया, (जो कि) किसी भ्रमण, बाह्यण, देव, मार, ब्रह्मासे, या लोकमें किसीसे प्रतिफल्य (= मोक्ष) नहीं किया जा सकता । मित्रुभो ! जो कोई भ्रमण या बाह्यण इस महाचत्तारोसक-धर्म-पर्याय (= ० धर्मोपदेश)को ग्रहणीय = निहनीय समझेगा; उसके लिये इसी समय (= इष्ट-धर्ममें) धर्मोत्तुहारी दश बाद-अनुवादोंमें निन्द्याका पाठ होगा—(१) यदि आप सम्यग्-रहिको निन्दते हैं; तो जो मिथ्या-रहि भ्रमण बाह्यण है, वह आपके पूर्व-

प्रशंसनीय होंगे । (२) यदि आप सम्बद्-संकल्पको निन्दते हैं, तो जो मिथ्या-संकल्प अमण-
 ज्ञाज्ञान है, वह आपके पूर्व-प्रशंसनीय होंगे । (३) ० सम्बद्-वचन ० । (४) ० सम्बद्-
 कर्मान्त ० । (५) ० सम्बद्-भाजीव ० । (६) ० सम्बद्-व्यायाम ० । (७) ० सम्बद्-स्मृति
 ० । (८) ० सम्बद्-समाधि ० । (९) ० सम्बद्-ज्ञान ० । (१०) ० सम्बद्-वितुक्ति ० ।
 मिथुनों ! जो कोई ० निन्दनीय समझेगा, ० निन्दाका पात्र होगा । जो कि उत्कल-निवासी ०
 अहेतुवाद = अ-क्रियवाद = नास्तिकवादके माननेवाले, उत्कल(-देश) निवासी वस्त्र (= वर्ष)
 और अण्ड (= नण्ड) थे, वह भी (इस) महा-चत्वारोसक धर्मपर्यायको गर्हणीय = निन्दनीय
 नहीं समझते । सी किम्होतु ? निन्दा, रोष, उपहासके मयले । ”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिथुनोंने भगवान्के भाषणको अभिर्बक्षित किया ।

११८—आनापान-सति-सुत्तन्त (३।२।८)

मगवान् । ध्यान

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान्, आबुष्मान् सारिपुत्र, ० महाप्रौढगत्यायन, ० महाकाश्यप, ० महा-
कात्यायन, ० महाकोट्टित (= कोटिल), ० महाकपिन, ० महासुन्द, ० अनुसुद, ० रेवत,
आनन्द, और दूसरे कमिनात (= प्रसिद्ध) कमिनात स्वविर भावकों (= शिष्यों) के साथ
आवस्तीने, मृगारमाता के प्रासाद, पूर्वार्णाममें विहार करते थे ।

उस समय स्वविर (= वृद्ध)-भिक्षु नये भिक्षुओंको उपदेश = अनुशासन करते थे । कोई
कोई स्वविर भिक्षु दस भिक्षुओंको भी उपदेश ० करते थे, कोई कोई स्वविर भिक्षु बीस भिक्षुओं-
को भी ०, ० तीस ०, चालीस भिक्षुओंको भी ० । स्वविर भिक्षुओं द्वारा उपदेशित = अनुशासित
हो, वह नये भिक्षु अच्छी तरह (= उदार) पूर्वके बाद पीछे जानेवाले (विषय) को समझते थे ।

उस समय, उपोसथको पंचदशी प्रवर्णणाकी पूर्णिमा^१की रातको, भगवान् भिक्षुसंप्रसे धिरे
सुली जगहमें बैठे थे । तब भगवान्ने चुपचाप (बैठे) भिक्षुसंप्रको देखकर, भिक्षुओंको संबोधित
किया—

“भिक्षुओ ! मैंने इस प्रतिपद् (= मार्ग) के लिये उद्योग किया है, इस प्रतिपद्के लिये
मैं उद्योग-युक्त-चिन्तावाला रहा हूँ । इसलिये भिक्षुओ ! संतुष्ट (= सोम्य) हो, भ्रमासको प्राप्ति =
अनधिगतके अधिगत, न-साक्षात्कार कियेके साक्षात्कारके लिये और भी उद्योग (= वीर्यात्म)
करो । भिक्षुओ ! यही आवस्तीमें मैं कौमुदी (= चौदनी, पूर्णिमा) चातुर्मासीको बिताऊँगा ।”

जनपदवासी (= देहातके) भिक्षुओंने सुना, कि भगवान् कौमुदी चातुर्मासी (= कार्तिक-
पूर्णिमा)को आवस्तीमें ही बितावेंगे । तब जनपदवासी भिक्षु भगवान्के दर्शनके लिये आवस्तीमें
जाने लगे । वह स्वविर भिक्षु और भी सन्तुष्ट हो नये भिक्षुओंको उपदेश = अनुशासन करते ।
कोई कोई ० दस भिक्षुओंको भी ० । ० । ० चालीस भिक्षुओंको भी ० । ० वह नये भिक्षु ० और
भी ० समझते थे ।

इस समय उपोसथको पंचदशी पूर्णो चातुर्मासी कौमुदी पूर्णिमाकी रातको भगवान् भिक्षु-
संप्रसे धिरे सुली जगहमें बैठे थे । तब भगवान्ने चुपचाप (बैठे) भिक्षु-संप्रको देख कर, भिक्षुओं-
को संबोधित किया—

“भिक्षुओ ! यह परिपद् प्रलाप (= सोर-गुल)-रहित है, = निरप्रलाप है”, सारमें
प्रतिष्ठित, सुद्ध है यह परिपद्, उस प्रकारकी, भिक्षुओ ! यह भिक्षु-संब है । उस प्रकारकी,

^१ आदिपन पूर्णिमा, जिस दिन भिक्षुओंका वर्षावास समाप्त होता है ।

मिथुनो ! यह परिपद् है इस प्रकारकी यह परिपद् आहुनेय = पाहुनेय (= कतिपय सत्कारके योग्य), दक्षिणेय (= दान-पात्र) संजलिय-करणीय (= हाथ जोड़ने योग्य), लोकमें पुण्यके (बोते)का अनुयम क्षेत्र (क्षेत्र) है। मिथुनो ! (यह) उस प्रकारका मिथुसंघ है, ० उस प्रकारकी परिपद् है, जैसी परिपद्को थोड़ा देने पर बहुत (फल) होता है; बहुत (दान) देने पर बहुत (फल) होता है।... (यह) उस प्रकारका मिथुसंघ है, (यह) उस प्रकारकी परिपद् है, जिस प्रकार (की परिपद्)का लोगोंको दर्शन भी दुर्लभ है। ० जिस प्रकार (की परिपद्)को यौवनों दूर होने पर (पांशुकी) पोटली बाँधकर भी जाना योग्य है।... मिथुनो ! इस मिथुसंघमें (ब्रह्मचर्य) वात-समाप्त किये, कुतकृत्य, भाग्यभक्त, भद्र-अर्थ (= निर्वाण)को प्राप्त, भव-बन्धन-मुक्त सम्पन्न-ज्ञान द्वारा मुक्त क्षोणाश्रय (= मल-रहित) सर्वत्र मिथु है।... मिथुनो ! इस मिथुसंघमें ऐसे मिथु हैं, जो पाँच अक्षर-आगीय-संयोजनोंके अक्षरों, औपपातिक (= देव) हो वहाँ (स्वर्गलोकमें) निर्वाण प्राप्त करनेवाले, उस लोकमें यहाँ न आनेवाले (= अनागामी) हैं।... ० ऐसे मिथु हैं, जो तीन संयोजनोंके अक्षरों राग-द्वेष-मोहके निर्बल (= तनु) हो जानेसे सङ्कटागामी हैं, (यह) एक ही बार (और) इस लोकमें बाहर दुष्का अन्त करेगा। मिथुनो ! इस मिथुसंघमें इस प्रकारके भी मिथु हैं, जो तीन संयोजनोंके अक्षरों स्त्रोतभाष्य, (निर्वाण-मार्गमें) न-प्रतिष्ठ-होनेवाले, विषय (= मिश्रित), सम्बोधि-परायण (= परमज्ञानको प्राप्त करनेवाले) हैं। ० जो चारों स्मृति-प्रस्थानकी भावनामें तत्पर हो विहरते हैं। ०। ० जो चार सस्यक-प्रधानोंकी भावनामें तत्पर हो विहरते हैं। ०। ० चार अक्षिपादों ०। ०। ० चार इन्द्रियों ०। ०। ० पाँच धर्मों ०। ०। ० सात बोध्यगों ०। ०। ० आर्य-आष्टांगिक-मार्ग ०। ०। ० मैत्री-भावना तत्पर हो विहरते हैं। ०। ० करुणा-भावना ०। ०। ० मुदिता-भावना ०। ०। ० उपेक्षा-भावना ०। ० अनुम-भावना ०। ०। ० अनित्य-संज्ञा ०। ०। ० आनापान-सति (= प्राणापान-भावना ०। ०।

“मिथुनो ! आनापानसतिकी भावना करनेपर, (उसके अन्वात्सको) बढ़ानेपर वह महा-फल प्रद = महाप्राप्त्य होती है। मिथुनो ! आनापान-सतिकी भावना = बहुलीकरण करनेपर चार स्मृति-प्रस्थानोंको परिपूर्ण करती है। भावना = बहुलीकरण करनेपर चार स्मृति-प्रस्थान सात बोध्यगोंको परिपूर्ण करते हैं। ० सात बोध्यग विद्या और विमुक्तिको परिपूर्ण करते हैं। ०

“मिथुनो ! किस प्रकार भावना = बहुलीकरण करनेपर, आनापानसति महाफलप्रद होती है ?—मिथुनो ! जरण-वृक्ष मूल या शृङ्गागारमें बैठता है आसन मार, कायाको सीधा रख, स्मृतिको समुच्च उपस्थित कर, वह स्मृति (= होत) पूर्वक श्वास लेता है, स्मृतिपूर्वक श्वास छोड़ता है। दीर्घ श्वास लेते समय—‘दीर्घ श्वास ले रहा हूँ’—जानता है। दीर्घ श्वास छोड़ते ०। इस-श्वास लेते समय—‘इस श्वास ले रहा हूँ’—जानता है। इस-श्वास छोड़ते ०। ‘सारी काया (की स्थिति)को अनुभव (= संवेदन) करते श्वास लूँगा’—सोचता है। ० श्वास छोड़ूँगा’—सोचता (= अन्वस करता है) है। ‘कायिक संस्कारों (= हर्कतों, क्रियाओं)को रोक कर श्वास लूँगा’—अन्वस करता है। ० श्वास छोड़ूँगा’—अन्वस करता है। ‘प्रीति-अनुभव करते आश्वास (= श्वास लेना) ० अश्वास (= श्वास छोड़ना) लूँगा’—अन्वस करता है। ० सुख-अनुभव करते ०। ०। ० विष-संस्कारों (= विषकी क्रियाओं)को अनुभव करते ०। ०। ० विष-संस्कारको रोक कर ०। ०। ० विषको अनुभव करते ०। ०। ० विषको प्रमुदित करते ०। ०। ० विषको समाहित करते ०। ०। ० विषको विमुक्त करते ०। ०। ० (सभी अनुभवे) अनित्य (होने)का

क्याल करते ० । ० । ० विरागका क्याल करते ० । ० । ० विरोधका क्याल करते ० । ० । ०
प्रतिनिवृत्तार्थ (= त्याग) का क्याल करते ० । ० । ० मिश्रणों ! इस प्रकार भावित = बहुलीकृत
जानापानसति महाफलपद = महानुभवं होती है ।

“मिश्रणों ! किस प्रकार भावित = बहुलीकृत जानापानसति चार स्मृति प्रस्थानोंको
परिपूर्ण करती है ?—(१) जिस समय मिश्रणों ! मिश्रणों दीर्घ श्वास लेते ‘दीर्घ श्वास ले रहा
हूँ’—जानता है ! दीर्घ श्वास छोड़ते ० । इस-श्वास लेते ० । इस श्वास छोड़ते ० सारी काया-
को अनुभव करते ० । ० । कायिक संस्कारोंको रोक कर ० । ० । उस समय, मिश्रणों ! मिश्र
णों अमिष्या (= मोह) और दीर्घमनस्वको हटाकर, स्मृति-संप्रजन्य-पूर्वक स्मृतिमान् हो,
कायामें कायानुपपत्ती होकर विहरता है । मिश्रणों ! इस आश्वास-प्रश्वासको मैं कायामें दूसरी
काया कहता हूँ । इसलिये उस समय, मिश्रणों ! मिश्र ० कायानुपपत्ती होकर विहरता है ।
(२) जिस समय मिश्रणों ! मिश्र प्रीति अनुभव करते ० । ० । ० सुख ० । ० । ० चित्त-
संस्कारोंको अनुभव करते ० । ० । ० चित्त-संस्कारको रोक कर ० । ० । उस समय, मिश्रणों !
मिश्र लोभमें अमिष्या और दीर्घमनस्वको हटाकर, स्मृति-संप्रजन्य-पूर्वक स्मृतिमान् हो, वेदनाओंमें
वेदनानुपपत्ती होकर विहरता है । मिश्रणों ! आश्वास-प्रश्वासको इस प्रकार अच्छी तरह मनमें
करनेको मैं वेदनाओंमें इसे एक वेदना कहता हूँ । इसलिये उस समय मिश्रणों ! मिश्र ० वेदनानु-
पपत्ती होकर विहरता है । (३) जिस समय मिश्रणों ! मिश्र चित्तको अनुभव करते ० । ० । चित्त
को प्रमुदित करते ० । ० । चित्तको धर्माहित करते ० । चित्तको विमुक्त करते ० । उस समय मिश्रणों !
मिश्र ० स्मृतिमान् हो चित्तमें चित्तानुपपत्ती होकर विहरता है । (४) जिस समय मिश्रणों !
मिश्र अमिष्यका क्याल करते ० । ० विरागका क्याल करते ० । ० विरोधका क्याल करते ० । ०
प्रतिनिवृत्तार्थका क्याल करते ० । उस समय, मिश्रणों ! मिश्र ० स्मृतिमान् हो धर्मांमें धर्मानुपपत्ती
होकर विहरता है । सो वह अमिष्या-दीर्घमनस्वको शास्त्रको प्रज्ञासे देख देखकर, अच्छी तरह
उपेक्षित होती है । इसलिये, मिश्रणों ! उस समय मिश्र ० स्मृतिमान् हो धर्मांमें धर्मानुपपत्ती
होकर विहरता है । मिश्रणों ! इस प्रकार भावित = बहुलीकृत जानापानसति चार स्मृतिप्रस्थानों
को परिपूर्ण करती है ।

“मिश्रणों ! किस प्रकार भावित = बहुलीकृत चार स्मृतिप्रस्थान सात बोध्वांगोंको परिपूर्ण
करते हैं ?—(१) मिश्रणों ! जिस समय मिश्र ० स्मृतिमान् हो कायामें कायानुपपत्ती हो विहरता
है ; उस समय इसकी स्मृति उपस्थित = अर्पमुपस्थित रहती है । जिस समय मिश्रणों ! मिश्रणों की स्मृति
उपस्थित ० रहती है ; उस समय वह मिश्र स्मृति-संबोध्वांगमें लब्ध रहता है ; उस समय मिश्र
स्मृति संबोध्वांगकी भावना करता है । उस समय भावना द्वारा मिश्रणों की स्मृति-संबोध्वांग परिपूर्ण
होता है । (२) वह वहाँ वहाँ विहार करते उस धर्मकी प्रज्ञासे (= विचयन = ज्ञान-वीर्य)
प्रविचयन = बीभासन करता है । जिस समय ० वहाँ वहाँ ० धर्मकी प्रज्ञासे विचयन ० करता है,
उस समय वह मिश्र धर्म-विचय-संबोध्वांगमें लब्ध रहता है ; उस समय मिश्र धर्म-विचय सं० भावना
करता है । उस समय भावना द्वारा मिश्रणों की धर्म-विचय-संबोध्वांग परिपूर्ण होता है । (३) उस
धर्मकी प्रज्ञासे विचयन ० करते ० उस मिश्रणों की वीर्य (= उद्योग) आरम्भ किया होता है । (वह)
मिश्र उस समय वीर्य-संबोध्वांगकी भावना करता हुआ होता है । उस समय भावनाद्वारा मिश्रणों की
वीर्य-संबोध्वांग परिपूर्ण होता है । (४) आरब्धवीर्य (= उद्योगी) को निराभिप (= विन्योते
परेकी) प्रीति उत्पन्न होती है । जिस समय ० आरब्ध-वीर्य मिश्रणों की निराभिपतीति उत्पन्न होती
है ; उस समय मिश्र प्रीति-संबोध्वांगकी आरंभ किया होता है । उस समय मिश्र प्रीति संबो-

ध्वंगकी भावना करता है । ० उस समय भावना द्वारा मिथुका प्रीति संबोधन परिपूर्ण होता है । (५) प्रीतिमान् (भावक) की काया और चित्त भी प्रसन्न (= शांत) होता है ०^१ प्रसन्न-संबोधन परिपूर्ण होता है । (६) प्रसन्न काय और सुखीका चित्त समाहित (= समाधि प्राप्त = एकाग्र) होता है ०^२ समाधि-संबोधन परिपूर्ण होता है । (७) वह जैसे जैसे समाहित चित्त अच्छी तरह उपेक्षायुक्त होता है । जिस समय, मिथुओ ! मिथु जैसे जैसे अच्छी तरह उपेक्षायुक्त होता है । मिथुने उस समय उपेक्षा-संबोधनको कारन किया होता है । ०^३ उस समय मिथुका उपेक्षा-संबोधन परिपूर्ण होता है ! मिथुओ ! जिस समय मिथु ० स्मृतिमान् हो वेदनाओंमें वेदनानुपपत्ती, चित्तमें चिन्तानुपपत्ती, धर्मोंमें धर्मानुपपत्ती हो विहरता है, उस समय उसको स्मृति उपस्थित = न-संशुषित होती है ०^४ उस समय मिथुका उपेक्षा-संबोधन परिपूर्ण होता है । मिथुओ ! इस प्रकार भावित = बहुलीकृत चारों स्मृतिप्रस्थान सात बोधनगोंको परिपूर्ण करते हैं ।

“मिथुओ ! किस प्रकार भावित = बहुलीकृत सात बोधनग विद्या, विमुक्तिको परिपूर्ण करते हैं ?—यहाँ, मिथुओ ! मिथु विवेक-विराग-निरोधपर अवलंबित तत्त्वा त्वाग (= व्यवसर्ग) परिणामवाले स्मृति-संबोधनकी भावना (= अभ्यास) करता है । ० धर्म विचन ० । ० वीर्य ० । ० प्रीति ० । ० प्रसन्न ० । ० समाधि ० । ० उपेक्षा ० । मिथुओ ! इस प्रकार भावित = बहुलीकृत होनेपर सात संबोधन विद्या और विमुक्तिको परिपूर्ण करते हैं”

भगवान्ने यह कहा, श्रुतुष्ट हो उन मिथुओंने भगवान्के भाषणको धर्मनिर्दिष्ट किया ।

^१ ऊपर जैसे, प्रीतिकी जगह प्रसन्न रखकर । ^२ ऊपर जैसे, प्रसन्निकी जगह समाधि रखकर ।

^३ ऊपर जैसे, समाधिकी जगह उपेक्षा रखकर । ^४ ऊपरकी भाषा ।

११६-कायगत सति-सुत्तन्त (३।२।६)

काया बोध

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आश्वस्तोमें अनाथापिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब, भोजनोपरान्त उपस्थान-शालामें भूकवित बैठे बहुतसे भिक्षुओंकी आपसमें यह बात शुरू हुई—“आश्वर्य ! आशुसो ! अद्भुत !! आशुसो ! जो उन जाननेवाले, देखनेवाले-भगवान् भर्तृ सम्पद-संबुद्धने कहा है, कि कायगतसति (= कायगत स्मृति) भावित = बहुलीकृत होनेपर महाफलप्रद = महानृपांस होती है ।”

उन भिक्षुओंकी आपसमें यह कथा (= बात) हो रही थी । तब भगवान् सार्वकाल ग्यानसे उठकर, जहाँ उपस्थान-शाला थी, वहाँ गये । जाकर बिठे आसनपर बैठे । बैठकर भगवान् ने भिक्षुओंकी संशोधित किया—

“भिक्षुओ ! इस समय क्या बात छे करतुम बैठे थे ? तुम्हारी आपसमें क्या बात हो रही थी ?”

“मन्ते ! भोजनोपरान्त यहाँ उपस्थानशालामें बैठे हमलोगोंकी आपसमें यह बात शुरू हुई— ० महानृपांस होती है । मन्ते ! हमारी आपसमें यह बात हो रही थी, कि भगवान् आ गये ।”

“भिक्षुओ ! किस प्रकार भावित = बहुलीकृत होनेपर कायगत-स्मृति महाफलप्रद ० होती है ?—यहाँ, भिक्षुओ ! भिक्षु अरण्य ०^१ कायिक संस्कारोंको रोककर ० इन्द्राज छोड़ता—
सीधता है । इस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर और संबन्धयुक्त हो बिहरते उसके जो लोभपूर्ण स्वर-
संकल्प थे, वह नष्ट होजाते हैं । उनके नष्ट होनेपर अपने भीतर ही बिच स्थित होता है,
बैठ जाता है, एकपक्ष होता है = समाहित होता है । भिक्षुओ ! इस प्रकार भिक्षु कायगत-स्मृतिकी
भावना करता है ।

“और फिर, भिक्षुओ ! भिक्षु जाते हुए ‘जाता हूँ’ जानता है ०^२ वैसे ही वैसे जानता है ।
इस प्रकार प्रमाद-रहित ० समाहित होता है । भिक्षुओ ! इस प्रकार भी भिक्षु कायगत-स्मृतिकी
भावना करता है ।

“और फिर, भिक्षुओ ! भिक्षु जानते हुये गमन-आगमन करता है ०^३ जागता, योक्तता,
चुप रहता है । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“और फिर, भिक्षुओ ! भिक्षु पैरोंके तलवेसे ऊपर ०^४ यह संबुद्ध है । ० इस काया में हैं ० ।
इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

^१ देखो पृष्ठ ४९६ ।

^२ देखो पृष्ठ ४९-५० ।

^३ देखो पृष्ठ १५ ।

“और फिर, मित्रुजो ! मित्रु इस कायाको (इसकी) स्थितिके अनुसार ०^१ काटकर चौरस्तेपर बैठा हो । ऐसे ही मित्रुजो ! ० रचनाके अनुसार देखता है ०^२ । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“और फिर, मित्रुजो ! मित्रु एक दिनेके मरे ०^३ इससे न घब सकनेवाली है । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“और फिर, मित्रुजो ! मित्रु कौनोंसे खाये जाते ०^४ इसी अपन कायापर धटावे—यह भी काया ० । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“और फिर, मित्रुजो ! मित्रु मोत-लहू-नखोंसे रेंपे ०^५ कैंकी देखे ० । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“० मोत-रहित लोहू लगे ०^६ (अपनी) कायापर धटावे ० । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“० शरीरके समान वर्णवाली सफेद हड्डी सुकले शरीर ०^७ पूर्ण होंगई इष्टियोवाले ० । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“और फिर, मित्रुजो ! मित्रु-कामोंसे विरहित ०^८ प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह इसी कायाको विवेकसे उत्पन्न प्रीति और सुखसे अभिस्थित = परिस्थित = पूर्ण करता है, व्याप्त करता है^९, इसके शरीरका कोई भी भाग विवेक-अ प्रीति-सुखसे अ-व्याप्त नहीं रहता ।

“जैसे, मित्रुजो ! चतुर नापित (= नहापक, नहलानेवाला) या नापितका अन्तेवासी काँसेकी बालीमें स्नानार्ण डालकर पानीका छीटा दे वे (उसे) मिगोवे । सो वह स्नान-पिछी स्नेह (= गीलेपन)से अनुगत, परिगत चारों ओर भीतर बाहर स्नेहसे व्याप्त हो, किन्तु पधरती न हो; इसी प्रकार मित्रुजो ! मित्रु इसी कायाको विवेकसे उत्पन्न प्रीति और सुखसे ० । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“और फिर, मित्रुजो ! जितकें और विचारके श्रोत होनेपर ०^{१०} द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है, वह इसी कायाको समाधिसे उत्पन्न प्रीति-सुखसे ० व्याप्त करता है । उसके शरीरका काहू भी भाग समाधिप्र प्रीति-सुखसे अ-व्याप्त नहीं रहता ।

“जैसे, मित्रुजो ! पातालार्ण, गंभीर उदक-इद (= जलकुंड) हो । उसमें न पूर्वसे जल आनेका भारी हो, न पश्चिम ०, न दक्षिण ०, न उत्तर ० । दैव भी समय समयपर डोंकसे जलधारा उसमें न डाले, सो भी उस उदक-इदसे शीतल जलकी धार फूट-निकल, उसी उदक-इदको शीतल जल से अभिस्थित = परिस्थित, परिपूर्ण = परिकरित करे । उस उदक-इदका कोई भी भाग शीतल-जल से अव्याप्त नहीं रहे । इसी प्रकार, मित्रुजो ! मित्रु इसी कायाको समाधिप्र प्रीति-सुखसे ० । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“और फिर, मित्रुजो ! मित्रु प्रीतिसे विरक्त हो ०^{११} तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । वह इसी कायाको प्रीति-रहित सुखसे ० व्याप्त करता है । ० कोई भी भाग प्रीति रहित-सुखसे अ-व्याप्त नहीं रहता ।

“जैसे, मित्रुजो ! उत्पलिनी^{१२}, पद्मिनी, पुंडरीकिनीमें कोई कोई उत्पल, पद्म, या पुंडरीक उदकमें उत्पन्न, उदकमें वर्धित, उदकसे बाहर न निकल भीतर दूबे ही चोक्त होते हैं । वह जग से चोटी तक शीतल जलसे ० व्याप्त होते हैं । उस उत्पल, पद्म या पुंडरीककी सारी कायाका कोई भी भाग शीतल जलसे अ-व्याप्त नहीं होता । इसी प्रकार, मित्रुजो ! मित्रु इसी कायाको प्रीति-

^१ देखो शृ १५ ।

^२ देखो शृ १६-१७ ।

^३ शीतल कमलका समूह उपलिनी, लाल कमलका समूह पद्मिनी, श्वेत कमलका समूह पुंडरीकिनी ।

रहित सुखसे ० । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“और फिर भिक्षुओं ! भिक्षु सुख और दुःखके परित्यागसे ० ” चतुर्थ-भ्यान्तिको प्राप्त हो विहरता है । वह इसी कायाको परिशुद्ध = पर्यवदात चित्तसे व्याप्त कर बैठता है । कोई भी भाग परिशुद्ध ० चित्तसे अ-व्याप्त नहीं रहता ।

“जैसे, भिक्षुओं ! (कोई) पुरुष श्वेत (= अवदात) वस्त्रसे शिर तक ढाँक कर बैठा हो । ० कोई भी भाग श्वेत वस्त्रसे अनाच्छादित न हो । इसी प्रकार भिक्षुओं ! भिक्षु इसी कायाको परिशुद्ध ० चित्तसे व्याप्त कर बैठता है । इस प्रकार प्रमाद-रहित ० ।

“भिक्षुओं ! जिसने काय-गत-स्मृति भावित-बहुलीकृत की है, उसको अन्तर्गत हैं सभी विद्या-आगीय कुशल धर्म ।

“जैसे, भिक्षुओं ! जिसने महायमुद्रको (अपने) चित्तसे व्याप्त कर लिया है, उसको अन्तर्गत हैं, समुद्रको जानेवाली सभी छोटी नदियाँ । इसी प्रकार, भिक्षुओं ! जिसने कायगत-स्मृति ० । भिक्षुओं ! जिसने कायगत-स्मृतिको भावित = बहुलीकृत नहीं किया, उसमें मारको बीका भिक्ता है, उसमें मारको आरम्भण (= आरब्ध) मिष्ट जाता है । जैसे, भिक्षुओं ! (कोई) पुरुष भारी शिला-खंडको गीली मिट्टीके ढेरपर फेंके, तो क्या मानते हो, भिक्षुओं ! क्या वह भारी शिला-खंड उस गीली मिट्टीके ढेरमें घुस जायेगा या नहीं ?”

“हाँ, भन्ते !”

“इसी प्रकार, भिक्षुओं ! जिसने कायगत-स्मृतिको भावित ० नहीं किया ० ।

“जैसे, भिक्षुओं ! सूखा काष्ठ-खंड पानीसे दूर स्थलपर फेंका हो, तब अग्नि उत्पन्न करने, तेज-प्रादुर्भाव करनेकी इच्छासे (कोई) पुरुष उत्तरारणी लेकर आये । तो क्या मानते हो, भिक्षुओं ! क्या वह पुरुष उस सूखे काष्ठ-खंड—जो कि पानीसे दूर स्थलपर फेंका है—को उत्तरारणी से रगड़ते आग उत्पन्न कर सकेगा, तेज प्रादुर्भूत कर सकेगा ?”

“हाँ, भन्ते !”

“इसी प्रकार, जिसने काय-गत-स्मृति भावित की है ० ।

“जैसे, भिक्षुओं ! ब्रह्मा मरका (= उद्ध-मणिका) तिल-मुष्क धर्तीचीपर रखता हो । तब (कोई) पुरुष पानीका भार लेकर आये । तो क्या मानते हो, भिक्षुओं ! क्या वह पुरुष पानी को बाल सकता है ?”

“हाँ, भन्ते !”

“इसी प्रकार, भिक्षुओं ! जिसने ० नहीं भावितकी ० । भिक्षुओं ! जिसने ० भावित ० की है, उसमें मार बीका नहीं पाता, आरम्भण नहीं पाता ।

“जैसे, भिक्षुओं ! गीला हरा काष्ठ पानीके पास स्थलपर फेंका हो, तब अग्नि उत्पन्न करे, तेज-प्रादुर्भाव करनेकी इच्छासे (कोई) पुरुष उत्तरारणी लेकर आये । तो क्या मानते हो, भिक्षुओं ! क्या वह पुरुष उस गीले हरे काष्ठको—जो कि पानीके पास स्थलपर फेंका है—उत्तरारणीसे रगड़ कर आग उत्पन्न कर सकेगा ० ?”

“नहीं भन्ते !”

“इसी प्रकार, भिक्षुओं ! जिसने काय-गत-स्मृति नहीं भावित की ० ।

“जैसे, भिक्षुओं ! पानीसे कबाळय भरा, काकपेय (= जिसके ऊपर कौआ बैठ आसानीसे

पानी पी सकता है) जलका भटका घड़ीघीपर रखवा हो । तब (कोई) पुरुष पानीका भार लेकर आये । तो क्या मानते हो, भिक्षुओं ! क्या वह पुरुष पानीको डाल सकता है ?^१

“नहीं, भन्ते !”

“इसी प्रकार, भिक्षुओं ! जिसने कायगत-स्मृतिको भावितकी, उसमें मारको मौका नहीं मिलता ० ।

“भिक्षुओं ! जिसने कायगत-स्मृतिको भावित ० किया है, वह अभिज्ञाने साक्षात्कार-करणीय जिस जिस धर्ममें, अभिज्ञाने साक्षात्कार करनेके लिये चित्तको जुकाता है; आपत्तन (= स्थान) होनेपर उसे साक्षात्कार कर लेता है ।

“जैसे, भिक्षुओं ! पानीसे लवालथ भरा ० जलका भटका घड़ीघीपर रखवा हो, उसको बलवान् पुरुष जिधर जिधरसे मारे, पानी आता है । ऐसीही ० । इसी प्रकार भिक्षुओं ! जिसने ० भावित ० किया है ० ।

“जैसे, भिक्षुओं ! समतल भूमिपर बाँध बाँधी, पानीसे लवालथ भरी, काकोवा चौकोर पुष्करिणी हो, उसकी आली (= बाँध) को बलवान् पुरुष जिधर जिधरसे हटावे, ऊपर उपरहीसे जल आये ।”

“हाँ, भन्ते !”

“इसी प्रकार भिक्षुओं ! ० भावित किया । ० ।

“जैसे, भिक्षुओं ! सुभूमि (= बाग) में सबके चौरस्ते (= चतुर्मास्य) पर घोंड़े जुता, कोड़े-उँगा आतानेय (= लच्छी जालिके घोंड़ेका) रख दिया हो । तब उसपर चतुर अश्व-दम्प-सारथी = युग्याचार्य (= रथवान्) चढ़कर, बायें हाथमें पागडोर, और दाहिने हाथमें कोड़ा ले जिधर चाहे उधर लेजावे, ले जावे । ऐसीही ० इसी प्रकार भिक्षुओं ! जिसने ० भावित ० किया है ० ।

“भिक्षुओं ! जिसने कायगत स्मृतिको स्मृतिके आसेवित = भावित = बहुलीकृत = पानी-कृत = वस्तुकृत, अनुष्ठित = परिचित = सुसमारब्ध किया है; (उसको) दस लाभ (= मानसंश) होने चाहिये—(१) वह अ-रति-रतिसह होता है—उसको अ-रति (= उदासी) परास नहीं कर सकती, वह उत्पन्न अरतिको दबाकर विहरता है । (२) भय-भय-सह होता है—भय-भय-व उसको परास नहीं कर सकता; वह उत्पन्न भय-भयको दबाकर विहरता है । (३) शोक उल्लास, भूख-प्यास, दंष्ट-मलक-वात-आतप (= ० पूष)-सरीसृपोंके स्पर्श (= आघात) और दुःख, दुःखगत वचनोंको सहन कर सकता है; उत्पन्न दुःख, तीव्र, परम = कटु, प्रतिकूल = अ-मनाप, प्राणहर शारीरिक वेदनाओंको (सहर्ष) स्वीकार करनेवाला होता है । (४) इसी जन्ममें सुख-विहार-उपयोगी चारों वैतसिक ध्यानोंका—कुण्डला बिना—कटिनाई बिना—पूर्णरूपेण लाभो होता है । (५) वह अनेक प्रकारकी कदियोंको अनुभव करता है—एक होकर बहुत होता है ०^१ । (६) ० दिव्य-श्रोत्र ०^१ । (७) दूसरे प्राणियों पुद्गलोंके चित्तको अपने चित्त द्वारा जानता है ०^१ । (८) वह अनेक प्रकारके पूर्व-निवासोंको स्मरण करता है ०^१ । (९) ० दिव्यचक्षु ०^१ । (१०) आत्मोंके लयसे अनात्मव पेशीविमुक्ति ०^१ । भिक्षुओं ! जिसने कायगत-स्मृतिको ० ।”

भगवान् ने यह कहा, स्मृष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान् के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१२०—संस्कारुत्पत्ति-सुत्तन्त (३।२।१०)

पुण्य-संस्कारोंका विधाक

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिटिकके कारण जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको सम्बोधित किया—“भिक्षुओ !”

“अदन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! संस्कारुत्पत्ति (= संस्कार-उत्पत्ति) को तुम्हें उपदेशना है, उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, मन्ते !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! यहाँ भिक्षु अद्दासे युक्त होता है, शीलसे ०, धृत (= विद्या) से ०, त्यागसे ०, प्रज्ञासे ० । उसको ऐसा होता है—‘अहोवत् ! मैं काया छोड़ मरनेके बाद महापत्नी (= महाशाल) क्षत्रियोंके बीच जन्मूँ’ । वह इस चित्तको धारण करता है, इस चित्तका अधिष्ठान करता है, इस चित्तकी भावना करता है । उसके वह संस्कार, वह विहार, इस प्रकार भावित = बहुलीकृत हो, वहाँ (= लोकान्तर) उत्पत्तिके लिये (समर्थ) होते हैं । भिक्षुओ ! यह आमी है = यह प्रतिपदा है, वहाँ उत्पत्तिके लिये ।

“और फिर, भिक्षुओ ! भिक्षु अद्दासे युक्त होता है ०, ० ।—अहोवत् ! मैं ० ब्राह्मण-महाशालोंके बीचमें जन्मूँ” । ० ।

“० —अहोवत् ! मैं ० गृहपति (= वैश्य)-महाशालोंके बीचमें जन्मूँ । ० ।

(१) “० प्रज्ञासे युक्त होता है । उसने सुना होता है—‘चातुर्महाराजिक देवता दीर्घायु, सुंदर और बहुत सुखसम्पन्न होते हैं’ । उसको यह होता है—‘अहोवत् ! मैं काया छोड़, मरनेके बाद चातुर्महाराजिक देवोंमें जन्मूँ’ । वह इस चित्तको ० ।

(२) “० सुना होता है—अयस्त्रिंश देव ० ।

(३) “० सुना होता है—याम-देव ० ।

(४) “० सुना होता है—तुषित देव ० ।

(५) “० सुना होता है—निर्माणरति ० ।

(६) “० सुना होता है—परनिर्मितवशवर्ती ० ।

(७) “० सुना होता है—साहस्र यज्ञा दीर्घायु, सुन्दर, बहुत सुख-सम्पन्न होता है ।

भिक्षुओ ! साहस्र यज्ञा साहस्र-लोकधातु (= एक हजार यज्ञाओं) को स्मरण कर = परिग्रहण कर विहरता है । वहाँ जो भी प्राणी उत्पन्न होते हैं, वह भी ० परिग्रहण कर विहरते हैं । जैसे

मिश्रुभो ! औंकारवाला पुरुष एक आमलक (= जौंरले) को हाथमें ले प्रत्यवेक्षण करे (= निहारें) ; ऐसे ही मिश्रुभो ! साहस्र ब्रह्मा ० । वहाँ ० प्राणी ० भो ० परिग्रहण कर विहस्ते हैं । उस (पुरुष) की ऐसा होता है—“अहोवत ! मैं काया जोव मरनेके बाद साहस्र ब्रह्माकी सहस्यता (= समान-भोग-जागिता) में जन्मूँ ० ।

(८) “ ० सुना होता है—द्विसाहस्र ब्रह्मा ० ।

(९) “ ० सुना होता है—चतुः साहस्र ब्रह्मा ० ।

(१०) “ ० सुना होता है—पंच साहस्र ब्रह्मा ० । ० पंच साहस्री लोक-धातु ० । जैसे, मिश्रुभो ! औंकारवाला पुरुष पाँच आमलकको हाथमें ले प्रत्यवेक्षण करे ० ।

(११) “ ० सुना होता है—दश-साहस्र-ब्रह्मा ० । ० दश-साहस्री लोक-धातु ० । जैसे, मिश्रुभो ! शुभ, उत्तमजातिकी अङ्गुली, पाणिनी की हुई वैदूर्य-मणि (= हीरा) पोट्ट-कम्बल (= लाल दोपटाले) में रखी, भासित होती है, चमकती है, विरोचित होती है; इसी प्रकार, मिश्रुभो ! दशसाहस्र ब्रह्मा दश साहस्री लोक-धातुको स्पर्शण कर = परिग्रहण कर विहस्ता है । वहाँ जो भी प्राणी ० ।

(१२) “ ० सुना होता है—शतसाहस्र ब्रह्मा ० । ० शतसाहस्री लोक-धातु ० । जैसे मिश्रुभो ! निष्क जाम्बूवद (सुवर्ण) चतुर कर्भारपुत्र (= सुनार) द्वारा ज्जकमुष (= मट्टी) में अण्डो प्रकार तथाकर, लाल दोपटालेमें रखना भासित होता है, चमकता है, विरोचित होता है; इसी प्रकार मिश्रुभो ! शतसाहस्र ब्रह्मा ० ।

(१३) “ ० सुना होता है—आम देव दीर्घायु ० ।

(१४) “ ० सुना होता है—परोत्तम देव ० ।

(१५) “ ० सुना होता है—अप्रमाणम देव ० ।

(१६) “ ० सुना होता है—अभास्वर देव ० ।

(१७) “ ० सुना होता है—परोत्तशुभ देव ० ।

(१८) “ ० सुना होता है—अप्रमाण-शुभ देव ० ।

(१९) “ ० सुना होता है—शुभहस्त देव ० ।

(२०) “ ० सुना होता है—चतुःफल देव ० ।

(२१) “ ० सुना होता है—अविम देव ० ।

(२२) “ ० सुना होता है—अन्तप्य देव ० ।

(२३) “ ० सुना होता है—सुदर्श देव ० ।

(२४) “ ० सुना होता है—सुदर्शो देव ० ।

(२५) “ ० सुना होता है—अ-कनिष्ठ देव ० ।

(२६) “ ० सुना होता है—आकाशानन्यायतनको प्राप्त देव ० ।

(२७) “ ० सुना होता है—विज्ञानन्यायतनको प्राप्त देव ० ।

(२८) “ ० सुना होता है—आकिंचन्यायतनको प्राप्त देव ० ।

(२९) “ ० सुना होता है—नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतनको प्राप्त देव ० ।

“जीर फिर, मिश्रुभो ! मिश्रु ब्रह्मा ०, शील ०, भुत ०, त्याग ०, प्रशान्ति युक्त होता है । उसको ऐसा होता है—“अहोवत ! मैं आक्यों (= चित्त-मर्त्य) के अन्तरे आसन्न-नहित सेतो-

विमुक्ति, प्रसा-विमुक्तिको इसी जन्ममें स्वयं जान कर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरे—(और) वह आत्मबोके क्षणसे ० प्राप्त कर विहरता है। मित्रुओ ! यह मित्रु कहीं नहीं उत्पन्न होता, कहीं नहीं उत्पन्न होकर विहरता ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मित्रुओंने भगवान् के भाषणको अभिर्नन्दित किया ।

(१२—इति अनुपद-वग्ग ३।२)

१२१-चूल-मुञ्जता-मुत्तन्त (३।३।१)

चित्तकी शून्यताका योग

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तोमें, मृगार-भ्राताके प्रासाद पूर्वाश्रममें विहार करते थे।

तब आशुष्मान् आनन्द आश्वजितको प्रतिसंकेतयन् (= ध्यान) से उठकर वहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। बाहर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठे। एक ओर बैठे आशुष्मान् आनन्दने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! एक समय भगवान् शाक्य (देश) में नगरक नामक शाक्योंके निगम (= कल्पे) में विहार करते थे। वहाँ मैंने, भन्ते ! भगवान्के मुखसे सुना, संसृजसे ग्रहण किया—‘आनन्द इस समय मैं अधिकतर शून्यता-विहारसे विहरता हूँ’। क्या, भन्ते ! मैंने इसे ठीकसे सुना, ठीकसे ग्रहण किया, ठीकसे मनमें किया, ठीकसे धारण किया ?”

“हाँ, आनन्द ! तुने यह ठीकसे सुना ०। आनन्द ! पहिले तो, और इस समय भी मैं अधिकतर शून्यता-विहारसे विहरता हूँ। जैसे आनन्द ! वह मृगारभ्राताका प्रासाद हाथी-गाय-घोडा-घोड़ीने शून्य है; सोना-चाँदीने शून्य है; खी-गुरुप-सखिपाल (= ० जमावड़े) से शून्य है; किन्तु यह एक मिश्र-संघसे अ-शून्य नहीं; ऐसे ही, आनन्द ! मिश्र ग्राम-संज्ञा (= गाँवके खाल) को मनमें न कर, मनुष्य-संज्ञा मनमें न कर, एक अरण्य-संज्ञाको ले मनमें करता है। अरण्य-संज्ञा में उसका चित्त प्रसंकेदित = प्रसन्न होता है; छहरता है, लगता है। वह वह जानता है—ग्राम-संज्ञाको लेकर जो द्रव्य (= खेद) थे, वह नहीं है; मनुष्य-संज्ञाको लेकर जो द्रव्य थे, वह भी नहीं है; किन्तु अकेली अरण्य-संज्ञाको लेकर वह द्रव्य-माया है ही। वह जानता है—यह जो ग्राम-संज्ञा (= गाँवका खाल) है, यह संज्ञा शून्य है। वह जानता है—यह जो मनुष्य-संज्ञा है ०। इस अकेली अरण्य-संज्ञाको ले कर अ-शून्यता तो है ही। इस प्रकार जो वहाँ नहीं होता, उससे उसे शून्य देखता है; और जो वहाँ चाँकी रहता है, उस विषयानको ‘यह है’—जानता है। ऐसे भी आनन्द ! यह समर्थ = अ-विपर्यय, परिशुद्ध शून्यतामें उसका प्रवेश होता है।

“और फिर, आनन्द ! मिश्र मनुष्य-संज्ञाको ०, अरण्य-संज्ञाको मनमें न कर, केवल पृथिवी-संज्ञा मात्रको लेकर मनमें करता है। पृथिवी-संज्ञामें उसका ‘चित्त ० छहरता है ०। जैसे, आनन्द ! बैलका चमड़ा खी काँटोसे तना बलि (= शिकन) के बिना होता है; ऐसे ही आनन्द ! वह मिश्र इस पृथिवीके ऊँचे नीचे तट, नदी घाट, खौँड, कंटकल्याण, पर्वतको विषमता—सभीको मनमें न कर, एक मात्र पृथिवी-संज्ञाको ही लेकर मनमें करता है। पृथिवी-संज्ञामें उसका चित्त ० छहरता है ०। वह ऐसा जानता है—मनुष्य-संज्ञाको लेकर जो द्रव्य थे, वह नहीं है। अरण्य संज्ञाको लेकर जो द्रव्य थे, वह नहीं है। किन्तु केवल पृथिवी-संज्ञाको लेकर द्रव्य तो है ही। वह

ज्ञानता है—वह जो अणुसंज्ञा है, वह (वहाँ) शून्य है; ० जो अणुसंज्ञा है, वह भी शून्य है; किन्तु इस केवल पृथिवी-संज्ञाको लेकर अ-शून्यता तो है ही । इस प्रकार जो वहाँ नहीं होता ० । इस प्रकार भी आनन्द ! यथार्थ ० शून्यतामें उसका प्रवेश होता है ।

“और फिर, आनन्द ! भिक्षु अणुसंज्ञाको ०, पृथिवी-संज्ञाको मनमें न कर, केवल अन्तरहित आकाशके आद्यतन (= अधिकरण, स्थान) (= अकाशानन्त्यायतन)की संज्ञा (= कयाल)को लेकर मनमें करता है । आकाशानन्त्यायतन-संज्ञामें उसका चित्त ० दृश्यता है ० । वह ऐसा जानता है—अणुसंज्ञा ०, पृथिवी-संज्ञाको लेकर जो द्रव्य थे, वह नहीं हैं । किन्तु आकाशानन्त्यायतन-संज्ञाको लेकर द्रव्य तो हैं ही । ० अणुसंज्ञा ० शून्य है; ० पृथिवी-संज्ञा ० शून्य है; किन्तु इस केवल आकाशानन्त्यायतन-संज्ञाको लेकर अशून्यता तो है ही । इस प्रकार जो वहाँ नहीं होता ० । ऐसे भी, आनन्द ! यथार्थ ० शून्यतामें उसका प्रवेश होता है ।

“और फिर, आनन्द ! भिक्षु पृथिवी-संज्ञाको मनमें न कर आकाशानन्त्यायतन-संज्ञाको मनमें न कर, अन्तरहित-विज्ञानके आद्यतन (= विज्ञानानन्त्यायतन)की संज्ञाको लेकर मनमें करता है । ० ।

“० आकाशानन्त्यायतन-संज्ञाको मनमें न कर, विज्ञानानन्त्यायतन-संज्ञाको भी मनमें न कर, केवल आर्किचन्य (= नहीं-कृत-पन)-आद्यतनकी संज्ञाको लेकर मनमें करता है ० २ ।

“० विज्ञानानन्त्यायतन-संज्ञाको मनमें न कर, आर्किचन्यायतन-संज्ञाको भी मनमें न कर, केवल नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन-संज्ञाको लेकर मनमें करता है ० २ ।

“० आर्किचन्यायतन-संज्ञाको मनमें न कर, नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन-संज्ञाको भी मनमें न कर, केवल अ-निमित्त (= लिंग आदि रहित) चेतःसमाधिको लेकर मनमें करता है । ० आर्किचन्यायतन-संज्ञाको लेकर जो द्रव्य थे, वह नहीं हैं; नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-संज्ञाको लेकर जो द्रव्य थे, वह नहीं हैं, किन्तु जीवन (= जीवित)के कारण इसी पद्-आद्यतनवाली कायाको लेकर वह द्रव्य तो हैं ही । ० आर्किचन्यायतन-संज्ञा ० शून्य है; ० नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन-संज्ञा ० शून्य है; किन्तु जीवनके कारण, इसी पद्-आद्यतनवाली कायाको लेकर अ-शून्यता तो है ही । इस प्रकार जो वहाँ नहीं होता ० । ऐसे भी आनन्द ! ० ।

“० आर्किचन्यायतन-संज्ञाको मनमें न कर, नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन-संज्ञाको भी मनमें न कर, (जो) केवल अ-निमित्त चेतःसमाधिको लेकर मनमें करता है; (तो) उसका चित्त अनिमित्त चेतःसमाधिमें ० दृश्यता है ० । वह ऐसा जानता है—यूँकि वह अनिमित्त चेतःसमाधि अभि-संस्कृत (= कृत) है, चिन्तन करते (यह) अभिसंस्कृत (= कृत) हुई है । जो अभिसंस्कृत (= कृत) है, वह स-निष्ठ है, नाशमान (= निरोधधर्मा) है—वह जानता है । तब इस प्रकार जानते-वेचते उसका चित्त काम-आसवों (= मोगेच्छा सम्बन्धी चित्त कालुष्यों)से मुक्त होता है, ० भव-आसव (= जन्मान्तरकी कालसा रूपी आसव) ०, अविद्या-आसवों (= अज्ञान ०)से भी मुक्त होता है । विमुक्त होने पर ‘विमुक्त हूँ’—ज्ञान होता है । ‘आवागमन शतम होगया, (मल्लचर्च-) गतं पूरा होगया, करुणा सा, सौ कर लिया, और यहाँके लिये (कुछ दोष) नहीं है—जानता है । वह ऐसा जानता है—‘काम-आसवको लेकर जो द्रव्य थे, वह नहीं हैं । भव-आसव ० अविद्या-आसवको लेकर जो द्रव्य थे, वह नहीं हैं; किन्तु जीवनके कारण, इसी पद्-आद्यतनवाली काया-

१ ऊपरकी तरह ही, (अणुसंज्ञाको छोड़, और विज्ञानानन्त्यायतनको छोड़) ।

२ ऊपर जैसे ही (प्रथम-संज्ञाको छोड़, और नव संज्ञा जोड़) ।

को लेकर द्रव्य तो है ही। वह जानता है—कामाक्ष्य सम्बन्धी संज्ञासे वह शून्य है। ० भवा-
क्ष्व ० । ० अविद्याक्ष्व-सम्बन्धी संज्ञासे वह शून्य है; किन्तु, ० इसी पड़ावतनवाली कायाको
लेकर अशून्यता तो है ही। इस प्रकार जो वहाँ नहीं होता, उससे इसे शून्य देखता है, और जो
वहाँ वाकी रहता है, उस विद्यमानको—‘यह है’—जानता है। ऐसे, आनन्द ! यह यथार्थ =
अविपर्यस्त, परिशुद्ध परम-अनुत्तर (= सर्वोत्तम) शून्यतामें प्रवेश होता है।

“आनन्द ! जो कोई श्रमण या ब्राह्मण अतीतकालमें परमानुत्तर-शून्यताको प्राप्त कर विहरे,
वह सभी इसी परमानुत्तर-शून्यताको प्राप्त कर विहरे । ० भविष्यकालमें ० विहरेंगे, वह सभी
इसी परमानुत्तर-शून्यताको प्राप्त कर विहरेंगे । ० वर्तमानकालमें ० विहरते हैं, वह सभी इसी
परमानुत्तर-शून्यताको प्राप्त कर विहरते हैं। इसलिये, आनन्द ! ‘परिशुद्ध, परमानुत्तर शून्यताको
प्राप्त कर विहर्हेना’—यह तुझे सीखना चाहिये ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आशुस्मान् आनन्दने भगवान् के भाषणको अभिनन्दित
किया ।

१२२-महा-सुञ्जता-सुचन्त (३।३।२)

विचकी शृङ्गशाका योग

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् शाक्य(-देश) में कपिलवस्तुके न्यमोधाराममें विहार करते थे ।

तब भगवान्ने पूर्वाह्न समय पहिनकर पाव-चीवर ले कपिलवस्तुमें मित्राके लिये प्रवेश किया । कपिलवस्तुमें मित्रासन कर, भोजनोपरान्त, मित्रासे निवृत्त हो दिनेके विहारके लिये जहाँ काल-शेमक शाक्यका विहार था, वहाँ गये । उस समय काल-शेमक शाक्यके विहारमें बहुतसे शयन-आसन लगे हुये थे । भगवान्ने ० बहुतसे शयनासन लगे हुये देखे । देखकर भगवान्को यह हुआ—‘यहाँ काल-शेमक शाक्यके विहारमें बहुतसे शयनासन लगे हुये हैं, यहाँ बहुतसे भिक्षु विहरते होंगे ।’

उस समय आयुष्मान् आनन्द, बहुतसे भिक्षुओंके साथ घंटाघ शाक्यके विहारमें चीवर-कर्म (= भिक्षुवस्त्रकी सिलाई) कर रहे थे । तब भगवान् सायंकालको प्रधानसे बैठकर जहाँ घंटाघ शाक्यका विहार था, वहाँ गये । जाकर थिड़े आसनपर बैठे । बैठकर भगवान्ने आयुष्मान् आनन्द को संबोधित किया—

‘आनन्द ! कालशेमक शाक्यके विहारमें बहुतसे शयनासन लगे हुये हैं, यहाँ बहुतसे भिक्षु विहार करते हैं ?’

‘भन्ते ! ० विहारमें बहुतसे शयनासन लगे हुये हैं, यहाँ बहुतसे भिक्षु विहार करते हैं । भन्ते ! यह हम लोगोंका चीवर-कार (= वस्त्र सीने) का समय है ।’

‘आनन्द ! संगणिका (= जमात-बंदीमें) राम, संगणिकारत, संगणिकाराग्यतामें संलग्न, गणाराम = गण-रत, गण (= जमात) में प्रमुदित भिक्षु नहीं होना देता । आनन्द ! वह ० गण में प्रमुदित भिक्षु निष्कामताके सुख, प्रविवेक (= एकांत-चिंतन)-सुख, उपशम (= समाधि)-सुख सम्बोध-सुख, विचैक्याप्रता-सुखका इच्छानुसार लाभ, बिना कठिनाईके लाभ = अकृच्छलाभी होगा, इसके लिये जगह नहीं । आनन्द ! जो भिक्षु गणसे अलग अकेला विहरता है, उसके लिये आशा रखनी चाहिये, कि वह उस निष्कामताके सुख ० का ० अकृच्छलाभी होगा, इसके लिये जगह है । आनन्द ! वह ० गणमें प्रमुदित भिक्षु तात्कालिकी (= सामयिक) कान्त (= प्रिय) चेतोविमुक्तिको प्राप्त हो विहरेगा, या न करे सार्वकालिकी (= जसामयिक) को—इसके लिये स्थान नहीं । आनन्द ! जो भिक्षु गणसे अलग अकेला विहरता है, उसके लिये आशा रखनी चाहिये, कि वह तात्कालिकी कान्त चेतोविमुक्तिको प्राप्त हो विहरेगा ० या न करे हुये सार्व-कालिकीको—इसके लिये स्थान है । आनन्द ! मैं एक रूप (= पदार्थ) को ऐसा नहीं देखता, जिसमें रक्त, यवा-मिस्तको, रूपका विपरिणाम = अन्यभावावके कारण, शोक, परिदेव (= रोना-काँदना), दुःख,

दीर्घमन्त्र, उपायास (= हेरामी-परेशानी) न उत्पन्न हो । आनन्द ! तयागतने इस सारे निमित्तों (= लिंग, आकृति आदि)को मनमें न कर, अज्वात्मिक (= भीतरी) शून्यताको प्राप्तकर विहरनेको अच्छी तरह कृता (= अग्नि-संशुद्ध) है । वहाँ, यदि आनन्द ! इस विहारसे विहरते तयागतके पास भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका, राजा, राज-प्रहामान्य, तीर्थिक, तीर्थिक-आयक आते हैं, तो तयागत विवेक (= एकाग्रताकी ओर) जुके = विवेक-प्रवण = विवेक-प्राग्भार, एकाकी, निष्कामता-रत, सारे वास्तव (= चित्तमल)-स्थानीय धर्मोंसे अलग विरा हो उद्योजन (= उद्योग) सम्बन्धी बातको ही करनेवाले होते हैं । इसलिये आनन्द ! यदि भिक्षु अज्वात्मिक शून्यताके साथ विहरना चाहे, तो, आनन्द ! उस भिक्षुको अज्वात्ममें (= अपने भीतर) ही चित्तको संस्थापित = संवित्तारित, एकाग्र = समाहित करना चाहिये । आनन्द ! किस प्रकार भिक्षु अज्वात्ममें ही चित्तको संस्थापित करता है ?—वहाँ आनन्द ! भिक्षु धामोंसे विरहित * प्रथमध्यानको प्राप्त हो विहस्ता है । * द्वितीयध्यान * । * तृतीयध्यान * । * चतुर्थध्यान * । इस प्रकार, आनन्द ! भिक्षु अज्वात्ममें ही चित्तको संस्थापित करता है । वह अध्यात्म शून्यताको मनमें करता है । अध्यात्म शून्यताको मनमें करते हुये, उसका चित्त शून्यतामें * नहीं टहरता * । ऐसा होते, “भिक्षु ऐसे जानता है—‘अध्यात्म शून्यताको मनमें करते मेरा चित्त अज्वात्मशून्यतामें * नहीं टहरता *—इस प्रकार यहाँ समझनेवाला होता है । वह बाह्य शून्यताको मनमें करता है * । वह आनिज्य (= चित्तकी अन्वंचकता)को मनमें करता है * । आनिज्यको मनमें करते हुये, उसका चित्त आनिज्यमें नहीं टहरता * । * ऐसे जानता है—आनिज्यको * नहीं टहरता *—समझनेवाला होता है ।

आनन्द ! उस भिक्षुको उस पहिले वाले समाधि-निमित्त (= * लक्षण)में, अपने भीतर ही चित्तको * संस्थापित * करना चाहिये । (तब) वह अध्यात्म शून्यताको मनमें करता है * । *—समझनेवाला होता है ।

“आनन्द ! इस विहारसे विहरते हुये उस भिक्षुका चित्त यदि टंकन (= टटकने)को चाहता है, (तो) वह टटकता है—‘इस प्रकार टटकते हुये मेरे (चित्तमें) अभिध्या (= छोग), दीर्घ-मन्त्र (= बुरा मन होना), (यह) धाम = अकृश्ल धर्म (= बुराईवाँ) नहीं आ ‘पूर्वगी’—इस प्रकार वह समझनेवाला होता है ।

“आनन्द ! इस विहारसे विहरते हुये, उस भिक्षुका चित्त यदि कषा होना चाहता है, (तो) वह कषा होता है । ‘इस प्रकार कषे हुये मेरे (चित्तमें) अभिध्या, दीर्घमन्त्र धाम * नहीं आ ‘पूर्वगी’—इस प्रकार वह समझनेवाला होता है ।

“आनन्द ! इस विहारसे विहरते हुये, उस भिक्षुका चित्त यदि वैठनेको चाहता है ; (तो) वह वैठता है । ‘इस प्रकार वैठे हुये * ।

“ * यदि छेदने को चाहता है, (तो) वह छेदता है । ‘इस प्रकार छेदे हुये * ।

“ * यदि कषा (= घात) करनेको चाहता है, (तो) वह, जो वह कषावे हीन, प्राम्म, पृथग्जन्य (= अशोकी), अनायीकी, प्रमथे-मुक्त निर्वेद-विराग-निरोध-के-अनुपयोगी, उपशम-अभिज्ञा-सम्बोध-निर्बोध-के-अयोग्य हैं, जैसे कि राज-कमा * ऐसी इस प्रकारकी कषाओंको नहीं कहेंगे—इस प्रकार यहाँ जाननेवाला होता है । और आनन्द ! जो यह कषा अग्नि-संशुद्ध (= मानस तप)वाली, चित्तसंशुद्ध-सहस्रक, सर्वथा निर्वेद-विराग-निरोध-अपयोगी, उपशम-अभिज्ञा-

सम्बोध-निर्वाणके योग्य है; जैसे कि अन्वेषक (= निरीक्षक)-कथा, सन्तोष-कथा, प्रविवेक-कथा, अ-संस्तर्ष-कथा, वीर्यारम्भ (= उद्योग)-कथा, शील-कथा, समाधि-कथा, प्रज्ञा-कथा, विमुक्ति-कथा, विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन-कथा—ऐसी इस प्रकारकी कथाओंको कहूँगा—इस प्रकार वहाँ ज्ञाननेवाला होता है ।

“० यदि वितर्क करनेको चाहता है, तो जो वह वितर्क हीन, ग्राम्य ० निर्वाणके अ-योग्य है, जैसे कि काम-वितर्क, व्यापाद-वितर्क, विहिंसा-वितर्क, ऐसे इस प्रकार के वितर्कोंको नहीं वितर्कन करूँगा—इस प्रकार वहाँ सम्प्रजन्य-युक्त (= ज्ञाननेवाला) होता है । और आनन्द ! जो यह वितर्क आर्य, नैर्वाणिक = वैसा करनेवालेको अच्छी प्रकार दुःखके क्षयको और ले जानेवाले है, जैसे कि—निष्कामता-वितर्क, अ-व्यापाद-वितर्क, अ-विहिंसा (= अ-हिंसा)-वितर्क, ऐसे इस प्रकारके वितर्कोंका वितर्कन करूँगा—इस प्रकार वहाँ सम्प्रजन्य-युक्त होता है ।

“आनन्द ! यह पाँच काम-गुण हैं । कौन से पाँच ?—इष्ट ०^१ प्रिय ०^२ चक्षु द्वारा विशेष रूप, ०^३ श्रोत्र-विशेष शब्द ०^४, घ्राण-विशेष गंध, ०^५ जिह्वा-विशेष रस, ०^६ काय-विशेष स्पर्श आनन्द ! यह पाँच काम-गुण हैं ; जिनसे भिक्षुको—निरंतर अपने चित्तोंको प्रत्यवेक्षण करना चाहिये—क्या इन पाँच काम-गुणोंमेंसे किसी एकमें भी, या किसी एक आपत्तनमें चित्तका संपर्क होता है ?” यदि आनन्द ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते वह जानता है—इन पाँच काम-गुणोंमेंसे किसी एकमें, या किसी एक आपत्तनमें मेरे चित्तका संपर्क (= समुदाचार) उत्पन्न होता है—वह भिक्षु—ऐसा होते हुयेको ऐसे जानता है । इन पाँच काम-गुणोंमें जो छन्द = राग है, सो मेरा ग्रहीण (= नष्ट) नहीं हुआ—इस प्रकार वह समझनेवाला होता है । यदि, आनन्द ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते वह जानता है—इन पाँच काम-गुणोंमें किसी एकमें ० मेरे चित्तका समुदाचार उत्पन्न नहीं होता, वह भिक्षु—ऐसा होते हुयेको ऐसे जानता है । इन पाँच काम-गुणोंमें जो छन्द = राग है, सो मेरा ग्रहीण है—इस प्रकार वह समझनेवाला होता है ।

“आनन्द ! यह पाँच उपादान-स्केध हैं ; जिनमें भिक्षुको उद्य-भ्यष (= उत्पत्ति-विनाश) देखते हुये विहरना चाहिये—इस प्रकार रूप है, इस प्रकार रूपका समुद्य (= उत्पत्ति) होता है, इस प्रकार रूपका अलगमन (= नाश) होता है । इस प्रकार वेदना है ० । इस प्रकार संज्ञा ० । इस प्रकार संस्कार ० । इस प्रकार विज्ञान ० । इस प्रकार इन पाँच उपादान-स्केधोंमें उद्यम्य देखते हुये विहरते, उन पाँच उपादान-स्केधोंमें अस्मि-मान (= यह मैं हूँ, यह क्वाल) नष्ट हो जाता है । वह भिक्षु ऐसा होते हुयेको ऐसे जानता है । इन पाँच स्केधोंमें जो अस्मिमान है, सो मेरा ग्रहीण (= नष्ट) हो गया—इस प्रकार वह समझनेवाला होता है । आनन्द ! यह धर्म हैं एकान्त-कुशल (= विच्छिन्न अच्छे) से आवे, आर्य, लोकोत्तर, पाप्मा (= मार) की पहुँचसे बाहर ।

“तो क्या मानते हो, आनन्द ! कि आशक (= शिष्य)को मतलब (= अर्थ) देखकर मगामे जाने पर भी शास्ताका अनुसरण करना चाहिये ?”

“मन्ते ! मगवान् हमारे धर्मके मूल हैं, मगवान् नेता हैं, मगवान् प्रतिशरण (= भवर्त्तब) हैं । अच्छा हो, मन्ते ! मगवान् ही इस उचन का अर्थ कहें । मगवान्से सुनकर भिक्षु धारण करेंगे ।”

“आनन्द ! सूत्र, गेय, व्याकरण (भेदवाले उपदेशों) के किने शिष्यको शास्ता (=

गुरु) का अनुसरण नहीं करना चाहिये। सो किस हेतु ?—दीर्घकाल के हितके लिये, आनन्द ! धर्म सुने, धारण किये जाते हैं, वचनसे परिचित् मनने अनुपेक्षित (= विचारित), दृष्टिसे सुप्रति-बिद् (= तब तक पहुँचकर समझे गये) होते हैं। आनन्द ! जो यह कथा (= बात) अभि-संकेप्ताली ० विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन-कथा है; आनन्द ! इस प्रकारकी कथाके लिये शिष्यको ० शास्त्राका अनुसरण करना चाहिये।

“ऐसा होनेपर, आनन्द ! आचार्य-उपद्रव होता है, ० अन्तेवासी-उपद्रव ०, ० ब्रह्मचारी-उपद्रव होता है। आनन्द ! कैसे आचार्य-उपद्रव होता है ?—यहाँ, आनन्द ! कोई शास्त्रा (= गुरु) अरण्य, वृक्ष-जाया, पर्वत-कन्दरा, गिरि-गुहा, झमझान, वनप्रस्थ, सुले-मैदान, पुत्रालके मंज—ऐसे एकान्त शयनासनको सेवन करता है। ऐसे एकान्तमें विहरते हुये उसका, नैगम (= वागमिक) और ज्ञानपद (= दीहाती), ब्राह्मण-गृहपति अनुगमन करते हैं। ० ब्राह्मण-गृहपतिषों द्वारा अनु-गमन किये जानेपर वह प्रभवा इच्छुक होता है, लोभ (= मोह) को प्राप्त होता है, बटोरु होने लगता है। आनन्द ! यह है आचार्य-उपद्रव। आचार्य-उपद्रवके कारण, संस्लेषिक (= मलिन करने-वाले) पौनर्म्यिक (= ज्ञावागमन देनेवाले), मयावह, दुःख-परिणामी, भविष्यमें-जन्म-उत्पत्ति-मरण-देनेवाले, पापक = अकुशल-धर्मों (= दुष्टादृष्टों) ने उसे भार दिया। आनन्द ! इस प्रकार आचार्य-उपद्रव होता है। और कैसे, आनन्द ! अन्तेवासी-उपद्रव होता है ?—आनन्द ! उसी शास्त्राका शिष्य, अपने शास्त्राके विवेक (= एकान्त-चिन्तन) का अनुकरण करते अरण्य ० ऐसे एकान्त शयनासनको सेवन करता है। ० बटोरु होने लगता है। आनन्द ! यह है अन्तेवासी-उपद्रव। ० । आनन्द ! इस प्रकार अन्तेवासी-उपद्रव होता है। और कैसे, आनन्द ! ब्रह्मचारी-उपद्रव होता है ? आनन्द ! यहाँ लोकमें तवागत अर्हत्-सम्पत्-संशुद्ध विद्या-चरण-शुक्त, सुगत, लोकविद्, गुरुषोंके अनुपम चातुक सवार, देवताओं और मनुष्योंके उपदेश भगवान् बुद्ध उत्पन्न होते हैं। वह अरण्य ० ऐसे एकान्त शयनासन (= निवास) को सेवन करते हैं। ऐसे एकान्तमें विहरते उनका नैगम, ज्ञानपद ब्राह्मण-गृहपति अनुगमन करते हैं। ० ब्राह्मण-गृहपतिषों द्वारा अनुगमन किये जानेपर (भी) वह प्रभ (= पुकार) के इच्छुक नहीं होते, लोभको प्राप्त नहीं होते, बटोरु नहीं बन जाते। आनन्द ! उसी शास्त्राका शिष्य, अपने शास्त्राके विवेकाका अनुकरण करते अरण्य ० बटोरु होने लगता है। आनन्द ! यह है ब्रह्मचारी-उपद्रव। ० । आनन्द ! इस प्रकार ब्रह्मचारी-उपद्रव होता है।

“यहाँ, आनन्द ! जो यह आचार्य-उपद्रव है, और जो अन्तेवासी-उपद्रव है, इन (दोनों)-से ब्रह्मचारी-उपद्रव ही अधिक दुःख विपाकवाला, अधिक कटु-विपाकवाला है; और फलकी ओर ले जानेवाला है। इसलिये, आनन्द ! मुझे मित्रवत् वनाओ, शत्रुवत् नहीं। यह तुम्हारे लिये दीर्घ-कालतक हित-सुखके लिये होगा। आनन्द ! किस प्रकार शिष्य शास्त्राको शत्रुवत् बनाते हैं, मित्र-वत् नहीं ?—यहाँ, आनन्द ! अनुकम्पक, हितैषी शास्त्रा, अनुकम्पा करके शिष्योंको धर्म उपदेशते हैं—यह तुम्हारे हितके लिये है, यह तुम्हारे सुखके लिये है। (किन्तु) शत्रु उसको सुनना नहीं चाहते, जान नहीं देते, दूसरी ओरसे (हटाकर) चित्तको (यहाँ) नहीं स्थापते; शास्त्राके शासन (= उपदेश) को अतिक्रमण कर वर्तते हैं। इस प्रकार, आनन्द ! शिष्य शास्त्राको शत्रुवत् व्यवहार करते हैं, मित्रवत् नहीं। कैसे आनन्द ! शिष्य शास्त्राको मित्रवत् बनाते हैं, शत्रुवत् नहीं ?—यहाँ, आनन्द ! ० शास्त्रा ० धर्म उपदेशते हैं—० । और शत्रु उसको सुनना चाहते हैं, जान देते हैं,

दूसरी ओरसे (इटाकर) चित्तको (वहाँ) स्थापने दें; शास्त्रांशों के शासनको अधिकतम कर वहीं चर्तसे। इस प्रकार, आनन्द ! ० शत्रुवत् नहीं। इसलिये, आनन्द ! तुझे मित्रवत् बनाओ, शत्रुवत् नहीं। यह तुम्हारे लिये दीर्घकाल तक हित-सुखके लिये होगा। आनन्द ! मैं उस प्रकार पराक्रम नहीं करता, जैसे कुम्हार कबो, कबो मात्र (वर्तनों) में। आनन्द ! निग्रह कर करके मैं व्याख्यान करता हूँ। प्रसन्न कर करके व्याख्यान करता हूँ; जो सार है, वह ठहरेगा ।”

भगवान् ने यह कहा, भन्नुष्ट दो जायसमाश्च आनन्दने भगवान् के भाषणको अभिर्नन्दित किया।

१२३-अच्छरिय-धम्म-सुत्तन्त (३।३।३)

कुरु कहां और कैसे चलना होते हैं ?

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आवरसीमें, अनाघपिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब भिक्षासे निवृत्त हो भोजनोपरान्त उपस्थान शालामें एकत्र बैठे, बहुतसे भिक्षुओंकी आपसमें यह बात उठी—

“आश्चर्य है आबुसो ! अद्भुत है ! आबुसो ! तथागतकी महाकद्विसत्ता = महासु-
नाकताकी, जो कि तथागत, छिन्न-प्रपंच = छिन्न-वर्त = पपादिसवट, सर्वे दुःख-निवृत्त निर्वाण
प्राप्त अतीतकालके दुर्दोंकी स्मरण करते हैं, जानते हैं—वह भगवान् जर्हत् इत्येव जातिके थे—यह
भी । इस नाम ० । इस गोत्र ० । ० शील ० । ० धर्म ० । ० प्रज्ञा ० । ० विहार ० । ०
विमुक्ति ० ।”

ऐसा कहने पर आबुप्मान् आनन्दने उन भिक्षुओंसे यह कहा—

“आबुसो ! तथागत आश्चर्य है, और आश्चर्य(-कर) धर्मोंसे युक्त हैं । तथागत अद्भुत
हैं, और अद्भुत धर्मोंसे युक्त हैं ।”

यह उस समय उन भिक्षुओंकी आपसमें क्या हो गयी थी । तब भगवान् सार्यकाळ ध्याव-
से उठकर जहाँ उपस्थान-शाला थी, वहाँ गये । जाकर बिड़े आसनपर बैठे । बैठ कर भगवान्ने
भिक्षुओंकी सम्बोधित किया—

“भिक्षुओ ! इस समय क्या बात लेकर तुम बैठे थे, तुम्हारी आपसमें क्या बात हो
रही थी ?”

“भन्ते ! भोजनोपरान्त” वहाँ उपस्थान-शालामें बैठे हम लोगोंकी आपसमें यह बात शुरू
हुई—‘आश्चर्य है ! आबुसो ! ० । ० विमुक्ति ० ।’ ऐसा कहने पर, भन्ते ! आबुप्मान् आनन्दने
इसे यह कहा—‘आबुसो ! तथागत ० अद्भुत धर्मोंसे युक्त हैं ।’ भन्ते ! हमारी आपसमें यह बात
हो रही थी, कि भगवान् जा गये ।”

तब भगवान्ने आबुप्मान् आनन्दको सम्बोधित किया—

“तो, आनन्द ! तू और मैं प्रसङ्गता पूर्वक तथागतके आश्चर्य अद्भुत धर्मोंको जान ।”

“भन्ते ! भगवान्के मुखसे मैंने इसे सुना, भगवान्के मुखसे मैंने इसे ग्रहण किया ”
‘आनन्द ! बोधिसत्त्व स्मृति-सम्प्रजन्म-युक्त सुपित लोकमें उत्पन्न होते हैं’ । जो कि भन्ते !
बोधिसत्त्व स्मृति-सम्प्रजन्म-युक्त सुपित लोकमें उत्पन्न होते हैं—इसे मैं मैं भन्ते ! भगवान्
का आश्चर्य अद्भुत धर्म समझता हूँ । भन्ते ! भगवान्के मुखसे मैंने सुना ०—आनन्द ! बोधिसत्त्व
स्मृति-सम्प्रजन्म-युक्त (दो) सुपित लोकमें खड़े—इसे मैं ० । ०—आनन्द ! बोधिसत्त्व शारी

जातु भर तुषित लोकमें स्मृति-सम्प्रजन्म-युक्त रहे'—० । ०—'आनन्द ! बोधिसत्त्व तुषित लोकसे व्युत्त हो माताके गर्भमें स्मृति-सम्प्रजन्म-युक्त प्रविष्ट हुये'—० । ०—'आनन्द ! जिस समय बोधिसत्त्व तुषित लोकसे व्युत्त हो माताके गर्भमें प्रविष्ट होते हैं, तो देव-भार जज्ञा सहित (सारे) लोकमें धम्मण-माह्वण-देव-अनुष्य सहित (भारी) प्रजामें, देवताओंके तेजको भी भात करनेवाला, जप्रमाण, उदार (= महान्) प्रकाश लोकमें प्रकट होता है; जो वह घने अंधकारसे पूर्ण समसाकृत दूसरे लोक है, जहाँ पर कि इतने तेजस्वी = इतने महानुभाव यह सूर्य-चंद्र भी प्रकाश नहीं पहुँचा सकते; वहाँ पर भी ० उदार प्रकाश प्रकट होता है । उस लोकमें जो प्राणी उत्पन्न हैं, वह भी उस प्रकाशसे एक दूसरेको पहिचानते हैं—'और भी'—प्राणी यहाँ उत्पन्न हैं' । और यह इस-साहसी लोक-जातु कंषित = प्रकंपित, = संप्र-वेधित होती है । ० उदार प्रकाश प्रकट होता है । जो कि, भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! जब बोधिसत्त्व माताके गर्भमें रहता है, तो चार देव पुत्र आकर चारों दिशाओंमें रक्षा करते हैं—(जिसमें कि) बोधिसत्त्व या बोधिसत्त्व-माताको कोई अनुष्य या अ-अनुष्य हानि न पहुँचा सके' । जो कि, भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! जब बोधिसत्त्व माताके गर्भमें रहता है, तो बोधिसत्त्व-माता स्वभावतः दीर्घायु होती है—यह हिंसा-धोरी-व्यभिचार-द्वन्द्व-सुरापान आदिसे निरत होती है' । जो कि भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! जब बोधिसत्त्व माताके गर्भमें रहता है, तो बोधिसत्त्व-माताका चित्त भोगकी इच्छासे किसी पुरुषमें नहीं जाता । किसी रागयुक्त पुरुषसे बोधिसत्त्व-माता अतिक्रमणोप नहीं होती । जो कि, भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! जब बोधिसत्त्व-माताके गर्भमें रहता है, तो बोधिसत्त्व-माता पाँच कामगुणों (= भोगों) को पानेवाली होती है । वह पाँच कामगुणोंसे समर्पित = युक्त हो परिचारित होती है' । जो कि, भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! जब बोधिसत्त्व-माताके गर्भमें रहता है, तो बोधिसत्त्व-माताको कोई रोग नहीं होता, बोधिसत्त्व-माता सुखी अ-क्लान्त-काया होती है । जो कि, भन्ते ० । ० और बोधिसत्त्व-माता आदमें गर्भके भीतर रहते बोधिसत्त्वको दन्त्रिय अंग-प्रत्यंग-सहित देखती है, जैसे आनन्द ! शुभ्र, उत्तम जातिकी, अठकोणी पालिकाकी हुई वैदुर्यमणि (= हीरा) हो; उसके भीतर नीला, पीला, लाल, श्वेत, या नारंगी (= पांडु)-रंगका सूत पिरोया हो । उसे हाथमें लेकर आँसवाला पुरुष देखे—यह ० वैदुर्यमणि है, इसके भीतर नीला ० सूत पिरोया है । इसी प्रकार, आनन्द ! बोधिसत्त्व-माता आदमें ०' । जो कि, भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! बोधिसत्त्वको जन्मे सप्ताह होने पर, बोधिसत्त्व-माता घृत्युको प्राप्त हो, तुषित-लोकमें उत्पन्न होती है' । जो कि, भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! जैसे अन्य स्त्रियाँ नी या दस मास गर्भको कुक्षिमें रख, प्रसव करती हैं, इस प्रकार बोधिसत्त्व-माता प्रसव नहीं करती । बोधिसत्त्व-माता (पूरे) दस मास ही बोधिसत्त्वको कुक्षिमें धारणकर प्रसव करती है' । जो कि, भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! जैसे अन्य स्त्रियाँ पैड़ी या लेटी प्रसव करती हैं, इस प्रकार बोधिसत्त्व-माता प्रसव नहीं करती । बोधिसत्त्वमाता का रह बोधिसत्त्वको जवती है' । जो कि, भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! जब बोधिसत्त्व माताकी कुक्षिसे निकलता है, पहिले उसे देवता ग्रहण करते हैं, पीछे अनुष्य' । जो कि, भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! जब बोधिसत्त्व-माताकी कुक्षिसे निकलता है, तो बोधिसत्त्व अभी पृथिवीको 'बर्ही' प्राप्त होता, कि चार देव-पुत्र उसे ग्रहणकर माताके सामने रख देते हैं—'देवि ! प्रसन्न होओ, महाप्रतापी (= महोत्तम) पुत्र तुम्हें उत्पन्न हुआ' । जो कि, भन्ते ! ० । ०—'आनन्द ! जब बोधिसत्त्व-माताकी कुक्षिसे निकलता है, तो उह-श्लेष्म-स्निग्ध-पीठ आदि किसी अ-शुचि (पदार्थ)से अलस हो शुद्ध ० विशद हो (उत्पन्न होता है); जैसे आनन्द ! मणि-रत्न काशीके वस्त्रमें रक्खा हो, न उसे काशिक पत्र जिस करता है, न वह काशिक पत्रको जिस करता है । तो किस हेतु ?—दोनोंके शुद्ध होनेसे । ऐसे ही,

आनन्द ! जब बोधितत्व ०^१ । जो कि, भन्ते ! ० । ०—‘आनन्द ! जब बोधितत्व माताकी कुक्षिसे निकलता है, तो आकाशसे एक झीलक दूसरी गर्भ—दो जल धारायें प्रकट होती हैं; जिनसे कि बोधितत्व और बोधितत्व-माताका उदककृत्य (= स्नान, प्रक्षालन आदि) किया जाता है । जो कि, भन्ते ! ० ।—‘आनन्द ! तथः उत्पन्न बोधितत्व पैरको समथर रख, पृथिवी पर स्पर्श हो, उत्तरा-भिमुख सात कदम चलता है; इवेत-उज्ज-धारित हो सारे दिशाओंको विलोकन करता है । और आर्षभी (= महती) वाणीको बोलता है—मैं लोकमें ज्य हैं, ० ज्येष्ठ हैं, ० ज्येष्ठ हैं, वह अन्तिम जन्म है, अब पुनर्भव (= आवागमन) नहीं, जो कि, भन्ते ! ० । ०—आनन्द ! जब बोधितत्व-माताकी कुक्षिसे निकलता है; तो देव-भार-ब्रह्मा-सहित (सारे) ०^१ प्रकाश लोकमें प्रकट होता है ०^१ दश-साहस्री-लोकधातु कंषित ०^१ होती है । ” । जो कि भन्ते ! ० । ”

“तो, आनन्द ! इसे भी तयागतका आख्य = अद्भुत धर्म धारणकर—यहाँ तयागतको वेदनायें (= अनुभव) विदित हो उत्पन्न होती हैं, ० स्थित होती हैं । ० भला होती हैं, ० संज्ञायें ० । ० वितर्क ० इसे भी तु आनन्द उद्यागत ० धारणकर । ”

“जो कि, भन्ते ! भगवान्को वेदनायें ०, ० संज्ञायें ०, ० वितर्क विदित हो उत्पन्न होते हैं, ० स्थित होते हैं, ० भला होते हैं,—इसे भी भन्ते ! मैं भगवान्का आख्य = अद्भुत धर्म धारण करता हूँ । ”

आधुष्मान् आनन्दने यह कहा, शास्ता उससे सहमत हुये; और उन मिश्रजंगि सन्तुष्ट हो आधुष्मान् आनन्दके आशयको अभिनन्दित किया ।

१२४—वक्कुल-सुत्तन्त (३३१४)

वक्कुलका आगमन विधु-जीवन

ऐसा मैंने सुना—

एक समय आयुष्मान् वक्कुल राजगृहमें वेणुवन कलन्दक-निवापमें विहार करते थे ।

तब आयुष्मान् वक्कुलका घड़िले गूड़ी होते वक्कुल मित्र अन्वेल (= नग्न) काश्यप, जहाँ आयुष्मान् वक्कुल थे, वहाँ गया, जाकर आयुष्मान् वक्कुलके साथ—संमोदन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे अन्वेल काश्यपने आयुष्मान् वक्कुलसे यह कहा—

“आयुस वक्कुल ! प्रमजित (संन्यासी) हुये कितना समय हुआ ?”

“आयुस ! मुझे प्रमजित हुये अस्सी वर्ष होगये ।”

“आयुस ! प्रमजित हुये इन अस्सी वर्षोंमें कितनी बार तुमने मैथुन सेवन किया ?”

“आयुस काश्यप ! मुझे इस तरह नहीं पूछना चाहिये—“० कितनी बार तुमने मैथुन सेवन किया ?” आयुस काश्यप ! मुझसे इस प्रकार पूछना चाहिये—“० कितनी बार काम-संज्ञा (= काम का ज्वाल) उत्पन्न हुई ?”—आयुस काश्यप ! (एक बार भी) काम-संज्ञा उत्पन्न होना मैं नहीं जानता ।”

“ओ कि (आप) आयुष्मान् वक्कुल प्रमजित हुये इन अस्सी वर्षोंमें काम-संज्ञाका उत्पन्न होना भी नहीं जानते; इसे हम आयुष्मान् वक्कुलका आश्चर्य = अद्भुत धर्म धारण करते (= समझते) हैं ।”

“आयुस ! अपने प्रमजित हुये इन अस्सी वर्षोंमें व्यापाद् (= द्वेष) संज्ञा उत्पन्न होनेको नहीं जानता ।”

“० इसे भी हम आयुष्मान् वक्कुलका आश्चर्य-अद्भुत धर्म समझते हैं ।”

“० विहिंसा (= हिंसा)-संज्ञा ० नहीं जानता ।” “इसे भी ० ।”

“० काम-वितर्क (= काम संबंधी विचार) ० नहीं जानता ।” “इसे भी ० ।”

“० व्यापाद्-वितर्क ० नहीं जानता ।” “इसे भी ० ।”

“० विहिंसा-वितर्क ० नहीं जानता ।” “इसे भी ० ।”

“० गृहपति-चीकर 'सेवन किया नहीं जानता ।” “इसे भी ० ।”

“० शस्त्र (= कैंची आदि)से चीवरका काटना नहीं जानता ।” “इसे भी ० ।”

“० सूईसे चीवरका सीना नहीं जानता ।” “इसे भी ० ।”

१ गृहस्थोंका दिया नया वस्त्र । यह हमेशा केके चीवरोंका वस्त्र बनाते थे ।

“० कठिन चीवर^१ का सीना नहीं जानता ।” — “इसे भी ० ।”

“० सम्राट्चारियों के चीवर धनानेको नहीं जानता ।” — “इसे भी ० ।”

“० निर्मग्न छाया नहीं जानता ।” — “इसे भी ० ।”

“० जहो ! मुझे कोई निर्मग्न करे, इस प्रकार चित्का उषध होना भी नहीं जानता ।”
— “इसे भी ० ।”

“० अन्तर-धर (= गृहस्थाके घर) में बैठनेको नहीं जानता ।” — “इसे भी ० ।”

“० अन्तर-धरमें भोजन करनेको नहीं जानता ।” — “इसे भी ० ।”

“० मातृ-ग्राम (= स्त्रियों) के आकार प्रकाशको ब्यालमें छानेको नहीं जानता ।”
— “इसे भी ० ।”

“० मातृग्रामको चार पदकी गायतक उपदेश धर्मको नहीं जानता ।” — “इसे भी ० ।”

“० मिथुनियों के निवास (= उपश्रय) में जानेको भी नहीं जानता ।” — “इसे भी ० ।”

“० मिथुनियोंको धर्म उपदेशनेको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० शिखमाणा^२ को धर्म उपदेशनेको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० आभनेरोको धर्म उपदेशनेको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० (किसीको) प्रवज्या दो ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० उपसम्पदा दी ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० निःश्रय (= गुरु धनभा) देनेको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० आभनेरसे सेवा लेनेको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० जन्ताघर (= स्नानगृह) में नहानेको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० (स्नानीय-) पूर्णसे नहानेको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० सम्राट्चारियोंसे देह मलबानेको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० क्षण भरके लिये भी धोमारोकी उत्पत्तिको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० हरे के ठुकरे भर भी औषधके छानेको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० अपश्रयण (= खाट) बिठानेको ० ।” — “इसे भी ० ।”

“० शय्यापर सोनेको ० ।” — “यह भी ० ।”

“० वर्षा में गाँवके भीतर निवासको ० ।” — “यह भी ० ।”

“आयुस ! सप्ताह भर ही मैंने सरण (= चित्त-मल युक्त = अन्-अर्हत्) हो राष्ट्र-पिंड
खाया, फिर आठवें दिन आज्ञा (= अर्हत्त्व) उत्पन्न हुई ।” — “यह भी ० ।”

“आयुस वक्त्र ! इस धर्म-विनय (= धर्म) में मैं प्रवज्या पाऊँ, ० उपसंपदा पाऊँ ।”

जबैल काश्यपने इस धर्ममें प्रवज्या पाई, उपसंपदा पाई । आयुष्मान् काश्यप उपसंपदा
पानेके थोड़े ही समय बाद, एकाकी^३ और कुछ पढ़ाई करनेको नहीं रहा — यह जान गये । आयु-
ष्मान् काश्यप अर्हत्त्वोंमेंसे एक हुये ।

तब पीछे एक समय आयुष्मान् वक्त्र कुन्ती (= अपाश्रय) के (एक) विहासे (दूसरे)
विहारमें जा कहते थे — “निकलो आयुष्मानो ! निकलो, आयुष्मानो ! आज मेरा परिनिर्वाण
होगा ।”

^१ वर्षान्तमें संपन्नारा सिना जानेवाला चीवर (= मिथु-वस्त्र) ।

^२ जो मिथुनी बननेके लिये तैयारी कर रही है ।

^३ देखो पृष्ठ २६३ ।

जो कि आयुष्मान् वस्तुन कुंजी के बिहारसे बिहारमें जा कहते थे—'निकलो ० परिनिर्वाण होगा'—यह भी इस आयुष्मान् वस्तुनका आश्चर्य अद्भुत धर्म समझते हैं । आयुष्मान् वस्तुन मिथु-संघ के बीच में बैठे बैठे परिनिर्वाणको प्राप्त हुये । यह भी इस आयुष्मान् वस्तुनका आश्चर्य अद्भुत धर्म समझते हैं ।

१२५—दन्त-भूमि-सुत्तन्त (३।३।५)

चित्तकी रक्षात्मता, सौम्यकी शिक्षा

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजघृहमें धेणुवन कलन्दर-निचापमें विहार करते थे ।

उक्त समय अचिरवत् अमणोद्देश जंगलकी कूटिधामें विह्रता था । तब जयसेन^१ राज-कुमार जंगल-विहारके लिये रहलते धूमते हुए, जहाँ अचिरवत् अमणोद्देश था, वहाँ गया । जाकर अचिरवत् अमणोद्देश (= सममुद्देश) के साथ^२ संमोदन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे जय-सेन राजकुमारने अचिरवत् अमणोद्देशसे यह कहा—

“अग्निवेश^३ ! मैंने यह सुना है, कि मिथु प्रमाद-रहित, उद्योगी, संयमी हो विह्रते चित्त की एकाग्रताकी प्राप्त होता है ।”

“ऐसा ही है, राजकुमार ! ऐसा ही है, राजकुमार ! मिथु प्रमादरहित • विह्रते • ।”

“अच्छा, आप अग्निवेश, (अपने) मुने और समझे अनुसार धर्मका उपदेश करें ।”

“राजकुमार ! मैं तुम्हें सुने-समझे अनुसार धर्म नहीं उपदेश सकता । राजकुमार ! मैं तुम्हें सुने-समझे अनुसार धर्म उपदेशूँ, और तुम मेरे भाषणका अर्थ न समझो, तो वह मेरे लिये (नाहक की) परेशानी, पीडा होगी ।”

“उपदेश आप अग्निवेश ! मुझे सुने-समझे अनुसार धर्मको; क्या जाने, आप अग्निवेशके भाषणका अर्थ मैं समझ पाऊँ ।”

“राजकुमार ! मैं तुम्हें • धर्म उपदेशूँगा; यदि तुम मेरे भाषणका अर्थ समझ पायें, तो अच्छा; यदि तुम मेरे भाषणका अर्थ न समझ पायें, तो अपने (मत) के अनुसार स्थित रहना; नहीं फिर आगेकी (बात) मुझसे न पूछना ।”

“उपदेश आप अग्निवेश •; यदि मैंने आप अग्निवेशके भाषणका अर्थ समझ पाया • फिर आगेकी (बात) आपसे न पूछूँगा ।”

तब अचिरवत् अमणोद्देशने जयसेन राजकुमारके लिये (अपने) सुने-समझे अनुसार धर्मको उपदेशा । उपदेशनेके बाद जयसेन राजकुमारने अचिरवत् अमणोद्देशसे यह कहा—

“भो अग्निवेश ! इसके लिये त्याग (= कारण) नहीं, अवकाश नहीं, कि मिथु प्रमाद-रहित • विह्रते चित्तकी एकाग्रताकी प्राप्त होता है ।”

^१ विह्रारका पुत्र (अनुकथा) ।

^२ यह अचिरवत्तका शेष था, बादरके साथ जुगनेमें उक्त

समय शेष नामका भी प्रयोग होता था ।

तब जयसेन राजकुमार अचिरवत् अमणोद्देशको स्थान नहीं, 'अवकाश नहीं'—बतला, आसनसे उठकर चला गया ।

जयसेन राजकुमारके जानेके थोड़े समय बाद अचिरवत् अमणोद्देश, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठ अचिरवत् अमणोद्देशने जो कुछ कथा-संक्षेप जयसेन राजकुमारके साथ हुआ था, (उसे) भगवान्‌से कह सुनाया । ऐसा कहनेपर भगवान्‌ने अचिरवत् अमणोद्देशसे यह कहा—

“अग्निवेश ! वह यहाँ कैसे मिल सकता है; जो वह निष्कामतासे ज्ञातव्य (= जाना जा सकता है) ० रहस्य है, ० प्राप्त्य है, ० साक्षात्कर्तव्य है, उसे, कामों (= भोगों) के मध्य बलता, कामोंको भोगता, काम-वितर्कोंसे खाया जाता, काम-दाहसे दग्ध किया जाता, कामोंको पर्यवणा (= फिक) में चिन्तापन्न जयसेन राजकुमार जानेगा, देखेगा, साक्षात्कार करेगा, इसका स्थान नहीं; अवकाश नहीं । जैसे, अग्निवेश ! सुशिक्षित (= सुदान्त) = सुविनीत दो दम्प हाथी, ० घोड़े, या ० बैल हों और अदान्त = अविनीत दो दम्प हाथी, ० घोड़े, या ० बैल हों । तो क्या मानते हो, अग्निवेश ! जो वह सुशिक्षित ० दो दम्प हाथी ० हैं; क्या शिक्षित होते वह शिक्षित कियाको समझ जायेंगे ? वह दान्त (= शिक्षित) दान्त-भूमि (= शिक्षित-अवस्था) को प्राप्त होंगे ?”

“हाँ, मन्ते !”

“और जो वह, अग्निवेश ! अदान्त = अविनीत दो हाथी ० हैं; क्या वह अदान्त होते शिक्षित-कियाको समझ जायेंगे, वह अदान्त दान्त-भूमिको प्राप्त होंगे ? जैसेकि वह दान्त = विनीत दो हाथी ?”

“नहीं, मन्ते !”

“दूसरी प्रकार, अग्निवेश ! जो वह निष्कामतासे ज्ञातव्य ०” उसे ० जयसेन राजकुमार ० साक्षात्कार करेगा, इसका स्थान नहीं । जैसे, अग्निवेश ! ग्राम या नगरके पास महापर्वत हो । तब दो मित्र उस गाँव या निगमसे निकलकर, जहाँ वह पर्वत है, वहाँ जायें । जाकर एक मित्र नीचे पर्वतकी जड़में खड़ा रहे; दूसरा मित्र पर्वतके ऊपर चढ़ जाये । तब नीचे खड़ा मित्र ऊपर पर्वतपर स्थित मित्रसे यह कहे—

‘सौम्य ! ऊपर पर्वतपर खड़े तुम क्या देख रहे हो ?’

“वह यह कहे—‘सौम्य ! मैं ऊपर पर्वतपर खड़ा आराम-रमणीयता, वन ०, भूमि ०, पुष्करिणी-रमणीयताको देख रहा हूँ ।’

“वह यह कहे—‘सौम्य ! इसके लिये स्थान नहीं, अवकाश नहीं; कि तुम ऊपर पर्वतपर खड़े आराम-रमणीयता ० को देखो ।’

“तब वह ऊपर पर्वतपर स्थित मित्र नीचे पर्वत-पादपर उतर, उस मित्रका हाथ पकड़, (फिर) पर्वतके ऊपर चढ़, बोली देर सुस्ता लेनेपर यह कहे—

‘सौम्य ! ऊपर पर्वतपर खड़े तुम क्या देख रहे हो ?’

“वह यह कहे—‘सौम्य ! मैं ० आराम-रमणीयता ० को देख रहा हूँ ।’

“तब (दूसरा) यह कहे—‘सौम्य ! अभी अभी तुमने कहा—हम ऐसा जानते हैं—इसके लिये स्थान नहीं ० आराम-रमणीयता को देखो ।’ और अभी तुम कह रहे हो—हम ऐसा जानते हैं—‘सौम्य ! मैं ० आराम-रमणीयता ० को देख रहा हूँ ।’

“वह ऐसा बड़े—‘सौम्य ! मैं इस महापर्वतसे इस प्रकार जिया हुआ था, कि स्वयंको नहीं देख सकता था’ ।”

“अग्निवेश ! जयसेन राजकुमार इस (महापर्वत) से भी बड़े अ-विद्या-कर्मसे आच्छादित = निवृत्त = अव्यक्त, परिच्छिन्न है; वह, जोकि वह निष्कामतासे ज्ञातव्य ० । उसे ० । साक्षात्कार करेगा, इसके लिये स्थान नहीं, अवकाश नहीं । यदि अग्निवेश ! तू जयसेन राजकुमारको इन दो उपमाओं (= पद्यान्तों) को सुनाता, जाद्वच्य नहीं, जयसेन राजकुमार प्रसन्न (= मनुष्ट) होता, प्रसन्न हो प्रसन्नाकार (किया) तेरे लिये करता ।”

“किन्तु, मन्ते ! कहाँसे मैं जयसेन राजकुमारको अश्रुपूर्व दो उपमायें सुनता, जैसे कि मगवान्ने (सुनाया) ?”

“जैसे, अग्निवेश ! मूर्धामिषिक अग्निव राजा नागवर्तिक (= हाथीके जंगलके रहने) को संबोधित करे—‘आओ, सौम्य नागवर्तिक ! राजकीय नागपर आरुढ़ हो, नागवनमें प्रवेश कर, नागराजके गलेमें बंधन डाल दो ।’ ‘अच्छा, देव !’ —(कह) अग्निवेश ! नागवर्तिक ० राजाको उत्तर दे; राजकीय नागपर आरुढ़ हो नागवनमें प्रवेश कर, जंगली नाग (= हाथी) को देख उसे राजकीय नागके गलेमें बाँध दे । फिर उसे राजकीय नाग सुली जगहमें ले जाये । अब अग्निवेश ! आरण्याक नाग सुली जगहमें चला जाये । अग्निवेश ! आरण्याक नागको नागवन प्रिय (= गंधा-वहि) होता है । तब नागवर्तिक—‘राजासे जाकर कहे—‘देव ! आपका नाग सुली जगहमें (लाया गया) है’ । तब—‘० राजा हस्ति-दम्बक (= हाथीको सिखलानेवाले) को संबोधित करे—‘आओ, तुम सौम्य ! हस्ति-दम्बक ! आरण्याक नागके जंगली आदतों ० । जंगली स्वर-संकरणों ०, जंगली व्रथ = क्लिप्तव्रथ (= उत्पीडा) ० - परिदाहों ० के हटानेके लिये, गायमें अभिरक्षण करनेके लिये, मनुष्योंको पसन्द होनेवाली आदतोंको बतानेके लिये, शिक्षा दो ।’ ‘अच्छा, देव !’ (कह) ० राजाको उत्तर दे, वह हस्ति-दम्बक भूमिमें महास्तम्भको गाढ़ कर, उससे आरण्याक नागके गलेको बाँध दे । और जंगली आदतों ०, ०, मनुष्योंको पसन्द आदतोंको बतलानेके लिये, उसे वह हस्ति-दम्बक, कोमल कर्ण-प्रिय, प्रेमणीय = हृदयंगम, पौरी, बहुजन-कान्त = बहुजनमनाप (= ० प्रिय) वाणीका प्रयोग करे । जब अग्निवेश ! आरण्याक नाग, हस्ति-दम्बकके वैसे वचनोंसे समुदाचरित (= प्रेरित) हो (उसे) सुनना चाहे, उत्तर कान लगावे, चित्तको अन्यत्रसे (हटा) वहाँ स्थापित करे; तब हस्तिदम्बक उसे आगे लृण-भोजन-जल प्रदान करे । जब, अग्निवेश ! आरण्याक नाग हस्ति-दम्बकके लृण-धास-जलको ग्रहण करने लगे; तब हस्ति-दम्बकको ऐसा हो—‘अब आरण्याक नाग शियेगा’ । तब हस्ति-दम्बक उससे आगेके करण (= शिक्षा) को कराये—‘पकवो हो’, ‘छोवो हो’ । तब, अग्निवेश ! नागराज, पकवने, छोवनेमें हस्ति-दम्बकको बातका करनेवाला होवे, शिक्षाको आचरण करनेवाला होवे; तब उसे हस्ति-दम्बक आगेका करण करावे—‘चलो हो’, ‘लौटो हो’ । ० ; तब ० आगेका करण करावे—‘उठो हो’, ‘बैठो हो’ । ० ; तब आगेका अनिज नामक करण करावे—उसके सूँवमें बड़ी दाल (= पतक) बाँधे; भाला (= तोमर) हाथमें लिये पुरुष उसकी गर्दनपर बैठा रहे । चारों ओर भी तोमर हाथमें लिये पुरुष घेर कर खड़े हों । हस्ति-दम्बक ऊँची तोमर-पट्टीको (हाथमें) लिये सामने खड़ा रहे । वह आनिज-करणको करावे न अगले पैरके पास जाये, न पिछले पैर ०, न शरीरके अगले भाग को ०, न शरीरके पिछले भागको ०, न शिरको ०, न कर्णको ०, न दाँतको ०, न पूँछको ०,

ज सूँवको ० । (तब) वह राजाका नाम सक्ति (= सख) के प्रहारीका, तलवारकी चोटोंका, डण्ड-प्रहारीका, शर-पथ-प्रहारीका सहनेवाला होवे । बेरी-पणव-बंश-शंख-हिडिम्बके कोलाहलका सहनेवाला हो । सारी कुदिलता, और शौचोंसे रहित, कथायमें मुक्त हो वह राजाई = राजभोग्य, राजाका अंग ही कहा जावेगा ।

“इसी प्रकार, अभिवेश ! यहाँ लोकमें तयागत ०^१ घरसे बेघर हो प्रव्रजित होता है । अभिवेश ! इतनेसे आर्यभावक (आरण्यक नामकी भाँति) लुब्धो जगहमें प्राप्त होता है । ... देव मनुष्य इन पाँच काम-गुणोंमें आसक्त होते हैं । तब उसे तयागत विनयन (= शिक्षण, लेखाना) कहते हैं—जा, तू भिक्षु ! शीलवान् धन । प्रातिमोक्ष संवरसे संवृत (= रक्षित) हो विहर । आचार-गोचरसे मुक्त हो, अणु मात्र पाप (= वष) में भी भयदर्शी हो, स्वीकृत पर शिक्षापदों (= भिक्षु नियमों) का अभ्यास कर । जब अभिवेश ! आर्यभावक शीलवान् होता है, प्रातिमोक्ष संवरसे संवृत हो विहरता है । आचार-गोचरसे मुक्त ० शिक्षापदोंका अभ्यास करता है । तब उसे तयागत आगेको विनयन करते हैं—जा, तू भिक्षु ! इन्द्रियोंमें गुस्झार (= संवम-मुक्त) धन—आँखसेरूपको देख कर ०^२ वह हटा, प्रज्ञाको दुर्बल करनेवाले चित्तके उपकलेश (= कालुष्य) इन पाँच नीचताओंको ० कथायें कायानुपश्यी^३ हो विहरता है । ०^४ वेदानाओंमें वेदानुपश्यी ० । ०^५ चित्तमें चित्तानुपश्यी ० । ० धर्ममें धर्मानुपश्यी ० । जिस प्रकार, अभिवेश ! हनि-दमक महासाम्भको पृथिवीमें गाढ़कर, आरण्यक नामके गलेमें बाँधता है, और जंगली आदतों ०, मनुष्योंको पशुन् आदतों को बतलाने के लिये, ऐसे ही, अभिवेश ! आर्यभावकके लिये वह चार स्मृति-प्रत्याग, चित्तके बंधन होते हैं; गेहमें बैठे सोखोंके हटानेके लिये, ० स्वसंकल्पोंके ०, ० इरम-नलमय ०, म्वाय (= निर्वाण) की प्राप्तिके लिये, निर्वाणके साक्षात्कारके लिये । तब उसे तयागत आगेको विनयन करते हैं—जा, तू भिक्षु ! कथायें कायानुपश्यी हो विहर, और मत काम-सम्बन्धी वित्तकोंका वितर्कन कर । वेदानाओंमें ० । चित्तमें ० । धर्ममें धर्मानुपश्यी हो विहर, और मत काम सम्बन्धी वित्तकोंका वितर्कन कर । वह वितर्क और विचारके शान्त होनेपर ०^६ द्वितीय ध्यान ० । ०^७ तृतीय ध्यान ०^८ । ०^९ चतुर्थ ध्यान ०^९ । वह इस प्रकार चित्तके पृक्काम ०^{१०} पूर्व जन्मोंकी स्मृतिके ज्ञानके लिये चित्तको लुकाता है ०^{११} । ०^{१२} प्राणिजोंके च्युति और उत्पत्तिके ज्ञानके लिये ०^{१३} स्वर्गलोकको प्राप्त हुये हैं । ० आचमणके क्षयके ज्ञानके लिये ०^{१४} जय यहाँ (करने) के लिये कुष्ठ (दोष) नहीं है—इसे जानता है । अभिवेश ! वह भिक्षु शीत-उष्ण, भूख-प्यासके प्रतिघात, दंस-मशक-वायु-आलप-सरीसृपोंको स्पर्श, दुरुक्त, दुरागत वन्दनोंका सहनेवाला उत्पन्न दुःख, शीम, शर, कटुक, अपात = असनाप (= अग्रिय), प्राणहर वेदानाओंको अधिवासन (= सहर्ष स्वीकार) करनेवाला होता है । सारे राग-द्वेष-मोह (रूपों) कथायसे विरहित = निश्चित हो, (वह) आहुणेय = पाहुणेय, दक्षिणेय, जल्लिकरणीय, लोकके लिये पुण्या (धोने) का अनुपम क्षेत्र होता है ।

“अभिवेश ! राजकीय नाम चाहे ब्रह्म भी हो, (किन्तु) यदि वह अ-दान्त = अ-विनीत भरता है, तो कहा जाता है,—‘राजकीय नाम ब्रह्म अदान्त = अविनीत ही भरा’ । ० मध्यम-वयस्क भी ० । ० अल्पवयस्क भी ० । इसी प्रकार, अभिवेश ! यदि स्वविर भिक्षु भी, क्षीणाश्रव (= अर्हत्) हुये बिना भरता है, तो कहा जाता है—स्वविर भिक्षुने अदान्त हो मरण पाया । ०

^१ देखो पृष्ठ २४-२५ ।

^२ देखो पृष्ठ २५८ ।

^३ देखो पृष्ठ २५-२६ ।

^४ देखो पृष्ठ २५ ।

^५ देखो पृष्ठ २६ ।

मध्यम वयस्क भिक्षु भी ० । ० नया भिक्षु भी ० । अग्निवेश ! यदि राजाका नाम बूढ़ भी, दान्त = विनीत हो सरता है, तो कहा जाता है—'राजाका नाम बूढ़ भी दान्त = विनीत सरा है । ० मध्यम वयस्क ० । ० अल्प वयस्क ० । इसी प्रकार अग्निवेश ! स्वविर भिक्षु भी यदि क्षीणाश्रव (= अर्हत्) हो सरता है, तो कहा जाता है—स्वविर भिक्षुने दान्त हो सरव पाया । ० मध्यम-वयस्क भिक्षु भी ० । ० नया भिक्षु भी ० ।"

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो अचिरवत् अमणोदेवाने भगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१२६-भूमिज-सुत्तन्त (३।३।६)

वर्णित रीतिसे पाकन किया ब्रह्मचर्य ही फलदायक होता है

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वैष्णवन कलंदक-निवापमें विहार करते थे ।

तब आयुष्मान् भूमिज ^१ पूर्वाह्न समय पहिनकर पात्र-चीवर ले जहाँ जयसेन राजकुमारका घर था, वहाँ गये । जाकर धिरे आसनपर बैठे । तब जयसेन राजकुमार जहाँ आयुष्मान् भूमिज थे, वहाँ गया, जाकर आयुष्मान् भूमिजके साथ संभोदन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठकर आयुष्मान् भूमिजसे यह बोला—

“भो भूमिज ! कोई कोई भ्रमण ब्राह्मण इस वाद = इस दृष्टिवाले हैं—‘आशाकरके भी यदि ब्रह्मचर्यवास करते हैं, (तो) भी वह फल पानेके अयोग्य है । आशा न करके भी यदि ० । आशा और अन-आशा करके भी यदि ० । न-आशा-न-अनाशा करके भी यदि ० । यहाँ, आप भूमिजके शास्त्रा किस वाद = किस दृष्टिवाले, क्या कहनेवाले हैं ?”

“राजकुमार ! मैंने भगवान्के मुखसे यह नहीं सुना है, मुखसे न ग्रहण किया है, (किन्तु) सम्भव है, कि भगवान् इस प्रकार व्याख्यान करें—‘आशा करके भी यदि अ-योनितः (= कार्य-कारणका मनमें ध्यान न रख) ब्रह्मचर्य वास करते हैं, (तो) वह फल पानेके अयोग्य है । आशा करके भी यदि अयोनितः ० । आशा और अनाशा करके भी ० । न-आशा-न-अनाशा करके भी यदि ० । आशा करके भी यदि योनितः ब्रह्मचर्य-वास करते हैं, (तो) वह फल पानेके योग्य हैं । अनाशा करके भी ० । आशा-अनाशा करके भी ० । न-आशा-न-अनाशा करके भी ० । राज-कुमार ! मैंने भगवान्के मुखसे यह नहीं सुना है ० ।”

“यदि आप भूमिजके शास्त्रा इस वाद = दृष्टि = व्याख्यानवाले हैं; तो मैं समझता हूँ, वह सारे ही दूसरे भ्रमण-ब्राह्मण, बुद्धोंको मातकर स्थित हैं ।”

तब जयसेन राजकुमारने आयुष्मान् भूमिजको अपने स्वालीपाक (= भोजन)से परोसा । तब आयुष्मान् भूमिज मित्रासे निवृत्त हो भोजनोपरांत जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् भूमिजने भगवान्से यह कहा—

“मन्ते ! (शास्त्र) मैं पूर्वाह्न समय पहिनकर ० ^१ जहाँ जयसेन राजकुमारका घर था, वहाँ गया ० ^१ तो मैं समझता हूँ, वह सारे ही दूसरे भ्रमण-ब्राह्मण-बुद्धोंको मातकर स्थित हैं । क्या मन्ते ! वैसा पहलेपर यह उत्तर वे मैं भगवान्के लिये सुक कहनेवाला हूँ, भगवान्पर अतल्लका

^१ आयुष्मान् भूमिज जयसेन राजकुमारके मामा थे (अ. क.) ।

आरोप तो नहीं करता ? धर्मके अनुसार कहनेवाला हूँ न, कोई धर्मानुसारी वाद = अनुवाद (मेरे इस कथनसे) विन्दित तो नहीं होता ? ”

“हाँ, भूमिज ! वैसे पहलेपर यह उत्तर दे तू मेरे लिये सुक्त कहनेवाला है ० कोई धर्मानुसारी वाद = अनुवाद विन्दित नहीं होता । भूमिज ! जो अमण या माहण मिथ्या-दृष्टि, मिथ्या-संकल्प, मिथ्या-वचन, मिथ्या-कर्मान्त, मिथ्या-आजीव, मिथ्या-व्यापार, मिथ्या-स्मृति, मिथ्या-समाधि (वाले) हैं, (वही कहते हैं)—‘आशाकरके भी यदि मङ्गलचर्यावास करते हैं, (तो) भी वह फल पानेके अयोग्य है । ० । न-आशा-न-अनाशाकरके भी ०, सो किस हेतु ? अ-योनिशः होनेसे, भूमिज ! वह फल पानेके अयोग्य है ।

“जैसे भूमिज ! पुरुष तेल-अर्धी = तेल-गवेषी, तेलकी खोज करते, द्रोणीमें घाल डालकर पानीका छीटा दे दे पेटे (= पीकित करे) । यदि आशाकरके भी घालको द्रोणीमें डालकर, पानीका छीटा दे दे पेटे, तो (वह) तेल पानेके योग्य नहीं है । यदि अनाशा करके भी ० । यदि आशा-अनाशा करके भी ० । यदि न-आशा-न-अनाशा करके भी ० । सो किस हेतु ?—भूमिज ! वह तेल पानेका (प्रयत्न) अयोनिशः (= कार्य-कारणका ब्याल किये बिना) है । इसी प्रकार भूमिज ! जो कोई अमण माहण मिथ्या दृष्टि (= झूठी धारणा वाले) ० मिथ्या समाधि (वाले) हैं, यदि वह आशा करके भी मङ्गलचर्या-वास करें, तो भी वह फल पानेके अयोग्य हैं । ० । न-आशा-न-अनाशा करके भी ० । सो किस हेतु ?—भूमिज ! वह फल पानेका (प्रयत्न) अयोनिशः है ।

“जैसे, भूमिज ! पुरुष क्षीर-अर्धी = क्षीर-गवेषी क्षीरकी खोज करते, तरुण-वल्ग (= घेनु) गायको सींगसे पकड़कर आविजल (= दूहन) करे, (तो) वह क्षीर पानेके अयोग्य है । अनाशा-करके भी ० । आशा-अनाशा करके भी ० । न-आशा-न-अनाशा करके भी ० । सो किस हेतु ?—भूमिज ! वह दूध पानेका (प्रयत्न) अयोनिशः है । ऐसे ही भूमिज ! जो कोई अमण माहण मिथ्या दृष्टि ० ।

“जैसे, भूमिज ! पुरुष नवनीत (= मक्खन)-अर्धी, नवनीत-गवेषी, नवनीतकी खोज करते, कलशमें पानी डालकर मथानीसे मथे, (तो वह) नवनीत पानेके योग्य नहीं है । आशा करके भी ० । ० । सो किस हेतु ?—अयोनिशः है । ऐसेही भूमिज ! जो अमण-माहण ० ।

“जैसे, भूमिज ! पुरुष अग्नि-अर्धी, अग्नि-गवेषी, अग्निका खोज करते हरे गोले काष्ठको ले उत्तारणीसे मंथन करे । आशा करके भी ० । ० । ० ।

“जैसे, भूमिज ! पुरुष तिल-अर्धी ० द्रोणीमें तिल-पिष्टको डालकर पानी का छीटा दे दे पेटे, यदि आशा करके तिल-पिष्ट (= तिलकी लुगदी) द्रोणीमें डाल पानी का छीटा दे दे पेटे, (तो वह) तिलके पानेके योग्य है । अ-आशा करके ० । आशा-अनाशा करके ० । न-आशा-न-अनाशा करके ० । सो किस हेतु ?—भूमिज ! तिलके पानेका (वह प्रयत्न) योनिशः है । ऐसेही, भूमिज ! जो कोई अमण या माहण सम्मग्-दृष्टि (= ठीक धारणा वाले), सम्मद्-संकल्प, सम्मद्-वचन, सम्मद्-कर्मान्त, सम्मद्-आजीव, सम्मद्-व्यापार, सम्मद्-स्मृति, सम्मद्-समाधि (वाले) हैं । वह यदि आशा करके भी मङ्गलचर्या-वास करते हैं, फल पानेके योग्य हैं । ० । न-आशा-न-अनाशा करके भी ० । सो किस हेतु ?—भूमिज ! फलके पाने का (वह प्रयत्न) योनिशः है ।

“जैसे, भूमिज ! पुरुष क्षीर-अर्धी ० तरुण-वल्ग गायको लपसे दूध ० । ० ।

“जैसे, भूमिज ! पुरुष नवनीत-अर्धी ० कलशमें दधि डाल कर मथानीसे मथे ० । ० ।

“जैसे, भूमिज ! पुरुष अग्नि-अर्धी ० सूखे कड़े काष्ठको ले उत्तारणीसे मंथन करे । आशा करके भी ० । ० ।

“भूमिज ! यदि तू जयसेन राजकुमारको यह चार उपमायें बतलाता, आश्चर्य नहीं जयसेन राजकुमार प्रसन्न होता; और प्रसन्न हो प्रसन्नाकार किया तेरे लिये करता ।”

“कहाँसे, मन्ते ! मैं जयसेन राजकुमारको अभूतपूर्ण ये चार उपमायें बतलाता, जैसे कि भगवान् ने बतलाया ?”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आद्युष्मान् भूमिजने भगवान् के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१२७—अनुरुद्ध-सुत्तन्त (३।३।७)

साधना-योग (अग्रमाणा चेतो-विमुक्ति)

पेसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब पंचकांग स्थापितने एक पुरुषसे कहा—

“आओ, हे पुरुष ! तुम जहाँ आयुष्मान् अनुरुद्ध है, वहाँ जाओ । जाकर मेरे वचनसे आयुष्मान् आनन्दके चरणोंमें शिरसे वन्दना करो—‘मन्ते ! पंचकांग स्थापित आयुष्मान् अनुरुद्धके चरणोंमें शिरसे वन्दना करता है’ । और यह भी कहना—मन्ते ! आयुष्मान् अनुरुद्ध अपने लेकर धारका, कलके लिये पंचकांग स्थापितका भोजन स्वीकार करें; और मन्ते ! आयुष्मान् अनुरुद्ध जहाँ ही आवें । पंचकांग स्थापति राजकीय कार्यसे बहुकृत्य = बहुकरणीय है ।”

“अच्छा, मन्ते !”—(कह) वह पुरुष पंचकांग स्थापतिको उत्तर दे; जहाँ आयुष्मान् आनन्द थे, वहाँ गया; जाकर आयुष्मान् अनुरुद्धको अभिवादन कर एक ओर बैठ गया, एक ओर बैठे, उस पुरुषने आयुष्मान् आनन्दसे यह कहा—मन्ते ! पंचकांग स्थापति आयुष्मान्के चरणोंमें = बहुकरणीय है ।”

आयुष्मान् अनुरुद्धने भीनसे स्वीकार किया ।

तब आयुष्मान् अनुरुद्ध उस रातके बीतनेपर पूर्वाह्नके समय पहिनकर पात्र-बीवर ले, जहाँ पंचकांग स्थापितका घर था, वहाँ गये । जाकर बिठे आसनपर बैठे । तब पंचकांग स्थापतिने आयुष्मान् अनुरुद्धको उत्तम खाद्य-भोजनसे अपने हाथसे सन्तर्पित = सम्प्रसादि किया । तब आयुष्मान् अनुरुद्धके भोजनकर पात्रसे हाथ खींच लेनेपर, पंचकांग स्थापति एक नीचा आसन लेकर एक ओर बैठ गया ।

एक ओर बैठे पंचकांग स्थापतिने आयुष्मान् अनुरुद्धसे यह कहा—

“मन्ते ! मेरे पास कथनिर भिक्षुओंने जाकर यह कहा—‘गृहपति ! अ-प्रमाण (= विज्ञान) चेतोविमुक्तिकी भावना करनी चाहिये’ । किन्हीं किन्हीं स्वयिरेनि यह कहा—‘गृहपति ! महद्गता (= ब्रह्मती) चेतोविमुक्तिकी भावना करना चाहिये’ । मन्ते ! जो यह अ-प्रमाणा चेतोविमुक्ति है; और जो यह महद्गता चेतोविमुक्ति है; क्या मन्ते ! यह दो धर्म (= बातें) मिश्र अर्धवाले और मिश्र-व्यंजन (= नाम)वाले हैं; या एक अर्धवाले हैं, सिर्फ व्यंजन ही माना है ।”

“तो गृहपति ! तू ही कह, यहाँ तेरा (कहना) अ-दर्पक (= द्विवा-रहित) होगा ।”

“मन्ते मुझे पेसा होता है—जो यह अ-प्रमाणा चेतोविमुक्ति है, और जो यह महद्गता चेतोविमुक्ति है; यह धर्म एक अर्धवाले हैं, सिर्फ व्यंजन ही माना है ।”

“गृहपति ! जो यह अ-प्रमाणा चेतोविमुक्ति है, और जो यह महद्गता चेतोविमुक्ति है;

यह धर्म नाना-अर्थवाले हैं, और नाना व्यंजनवाले भी । गृहपति ! इसे इस बातसे भी जानना चाहिये, कि कैसे यह धर्म नानार्थ हैं, और नाना व्यंजन भी । गृहपति ! क्या है, अप्रमाणा चेतो-विमुक्ति ?—यहाँ गृहपति ! मित्रु मैत्रीभावयुक्त चित्तसे ०^१ सारे लोकको पूर्ण कर विहरता है । करुणामावपूर्ण चित्तसे ०^१ । सुदितानावयुक्त चित्तसे ०^१ । उपेक्षामावयुक्त चित्तसे ०^१ । गृहपति ! यह कही जाती है, अप्रमाणा-चेतोविमुक्ति । क्या है, गृहपति ! महद्गता चेतो-विमुक्ति ?—यहाँ गृहपति ! मित्रु एक कृष्ण-छायाके बराबर महद्गत (= बड़े) को व्याप्त कर = अभिमुक्त कर विहरता है । गृहपति ! यह कही जाती है, महद्गता चेतोविमुक्ति । और यहाँ गृह-पति ! मित्रु दो या तीन कृष्ण छायाके बराबर महद्गतको व्याप्त ० कर विहरता है । गृहपति ! यह कही जाती है, महद्गता चेतोविमुक्ति । ० एक ग्राम-क्षेत्र ० महद्गतको ० । ० दो या तीन ग्राम-क्षेत्र ० महद्गतको ० । ० एक महाराज्य ० महद्गतको ० । ० दो या तीन महाराज्य ० महद्गतको ० । ० महा समुद्रपर्यन्त एक महापृथिवीके बराबर महद्गतको ० । ० महासमुद्रपर्यन्त दो या तीन महापृथिवी ० । गृहपति ! यह कही जाती है, महद्गता चेतोविमुक्ति । गृहपति ! इस बातसे भी जानना चाहिये, कि यह धर्म नानार्थ हैं, और नाना व्यंजन भी ।

“गृहपति ! यह चार भाव-उत्पत्तियाँ (= लोकमें उत्पत्तियाँ) हैं । कीनसी चार ?—(१) यहाँ गृहपति ! कोई (पुरुष) परीक्षाको व्याप्त कर = अभिमुक्त कर विहरता है ; वह काया छेद मरनेके बाद परीक्षामें देवताओंकी स-दृश्यता (= समानता) में उत्पन्न होता है । (२) ० अप्रमाणाको व्याप्त कर ० विहरता है ; वह ० मरनेके बाद अप्रमाणा में देवताओंकी स-दृश्यतामें उत्पन्न होता है । (३) ० संक्षिप्ताम देवताओंकी स-दृश्यतामें उत्पन्न होता है । ० (४) परि-शुद्धाम देवताओंकी स-दृश्यतामें उत्पन्न होता है । गृहपति ! यह चार भाव-उत्पत्तियाँ हैं । गृहपति ! ऐसा समय होता है, जब वह देवता एक जगहपर जमा होते हैं । इकट्ठा होनेपर उनके वर्णोंका नानापन नहीं जान पड़ता, न आना (= प्रकाश) का नानापन (= फर्क) ही । गृहपति ! ऐसा समय होता है, जब वह देवता बाहर जाते हैं, बाहर जाते हुये उन देवताओंके वर्णोंका नानापन जान पड़ता है, और आभाका नानापन भी । जैसे, गृहपति ! कोई पुरुष बहुतसे तेलके दीपोंको एक घरमें प्रविष्ट करे; तो एक घरमें प्रविष्ट उनकी अर्ची (= लौ) का नानापन तो मालूम होता है, किन्तु आभाका नानापन नहीं मालूम होता । ऐसे ही, गृहपति ! यह समय होता है, जब वह देवता एक जगहपर जमा होते हैं ० । जैसे गृहपति ! (कोई) पुरुष उन अनेक तेल दीपोंको उस घरसे बाहर करे; तो बाहर किये जाते उन तेलदीपोंकी अर्चीका नानापन भी जान पड़ता है, और आभाका नानापन भी (जान पड़ता है) । ऐसे ही, गृहपति ! ० बाहर जाते हैं ० ।

“गृहपति ! उन देवताओंको ऐसा नहीं होता—‘वह हम लोगोंका (रूप) नित्य, भुव वा शाश्वत है; बल्कि जहाँ जहाँ वह देवता अभिनिवेश (= चाह) करते हैं, वहाँ वहाँ ही, वह देवता अभिरमण करते हैं’ । जैसे, गृहपति ! वहाँगी (= काज) टोकरी (= पिटक) में ले जाई जाती मन्त्रियोंको ऐसा नहीं होता—यह हमारा नित्य, भुव वा शाश्वत है, बल्कि जहाँ जहाँ वह मन्त्रियों जाती हैं, वहाँ जहाँ वह अभिरमण करती हैं । इसी प्रकार, गृहपति ! उन देवताओंको ऐसा नहीं ० ।”

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् सभ्य कान्यापन (= सभिव कान्चापन) ने आयुष्मान् वसुरुद्र से यह कहा—

“साधु, भन्ते भुवन्द ! यहाँ मुझे कुछ आगे (की बात)को पूछना है—“भन्ते ! जो वह जाना देवता है, क्या सभी परीत-आम (= अत्य-प्रकाश) हैं, या कोई-कोई देवता अग्रमाण-आम भी हैं ?”

“उस अंगसे, आबुस कात्यायन ! कोई-कोई देवता परीताम हैं, कोई-कोई देवता अग्रमाणाम हैं ।”

“भन्ते भुवन्द ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है जिससे कि, एक देव-निकाय (= देव समुदाय, देव लोग)में उत्पन्न होनेपर भी उन देवताओंमें कोई-कोई देवता परीताम हैं, और कोई-कोई देवता अग्रमाणाम हैं ?”

“तो, आबुस कात्यायन ! तुम्हें ही यहाँ पूछता हूँ; जैसा तुम्हें ठीक जैसा, जैसा उत्तर दो, तो क्या मानते हो, आबुस कात्यायन ! जो यह मिथु एक वृक्ष मूल (= वृक्ष-ठागा)के बराबर महद्गत (= बड़े स्थान)को व्याप्त कर = अधिमुक्त कर विहरता है; और जो वह मिथु दो या तीन वृक्ष मूलके बराबर महद्गतको व्याप्त कर = अधिमुक्त कर विहरता है, इन दोनों ही विषयकी भावनाओंमें कौन वित्त-भावना महद्गततरा (= विशालतर) है ?”

“जो यह, भन्ते ! मिथु दो या तीन वृक्ष मूलोंके बराबर ० ।”

“तो क्या मानते हो, आबुस कात्यायन ! जो यह ० दो या तीन वृक्ष मूलों ०; और जो वह मिथु एक ग्राम-क्षेत्रके बराबर महद्गत ० ।”

“० जो यह, ० ग्राम-क्षेत्रके बराबर महद्गत ० ।”

“० ग्राम-क्षेत्रके बराबर महद्गत ०; और जो ० दो या तीन ग्राम-क्षेत्र ० ।”

“जो यह, ० दो या तीन ग्राम-क्षेत्र ० ।”

“० दो या तीन ग्राम-क्षेत्र ०; और जो ० एक महाराज्य ० ।”

“जो यह, ० एक महाराज्य ० ।”

“० एक महाराज्य ०; और जो ० दो या तीन महाराज्य ० ।”

“जो यह, ० दो या तीन महाराज्य ० ।”

“० दो या तीन महाराज्य ०; और जो ० महासमुद्र पर्यन्त एक महापृथिवी ० ।”

“जो यह, ० महासमुद्र पर्यन्त एक महापृथिवी ० ।

“० महासमुद्र पर्यन्त एक महापृथिवी ०; और जो ० महासमुद्र पर्यन्त दो या तीन महापृथिवी ० ।”

“जो यह, ० महासमुद्र पर्यन्त दो या तीन महापृथिवी ० ।”

“आबुस कात्यायन ! यह हेतु है = यह प्रत्यय है, जिससे एक देव-निकायमें उत्पन्न होनेपर भी, उन देवताओंमें कोई-कोई देवता परीताम हैं, और कोई-कोई देवता अग्रमाणाम हैं ।”

“साधु, भन्ते भुवन्द ! यहाँ, मुझे कुछ आगे (की बात)को पूछना है—“भन्ते ! जो यह जाना देवता है, क्या सभी उनमें क्लिष्ट (= मल-युक्त)-आम हैं, या कोई-कोई परिशुद्धाम भी हैं ?”

“उस अंगसे, आबुस कात्यायन ! कोई-कोई देवता क्लिष्टाभ हैं । कोई-कोई देवता हैं परिशुद्धाम ।”

“भन्ते भुवन्द ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, जिससे कि देव-निकायमें उत्पन्न होनेपर भी उन देवताओंमें कोई-कोई देवता क्लिष्टाभ हैं, कोई परिशुद्धाभ हैं ?”

“तो जालुस कात्यायन ! उपमा (= दृष्टांत) तुम्हें कहता हूँ । उपमासे भी कोई कोई विज्ञ पुण्य भाषणाका अर्थ समझ जाते हैं । जैसे, जालुस कात्यायन ! जलते तेल-प्रदीपमें तेल भी ज-परिमुद्ध (= समुद्ध, मलिन) हो, घसी भी ज-परिमुद्ध हो । वह तेलकी अपरिमुद्धतासे, घसी की भी अपरिमुद्धतासे अँधला-धुँधला सा जलता हो, ऐसे ही जालुस कात्यायन ! कोई भिक्षु संक्लिष्ट (= मलिन)-आभाको न्यास कर = अधिमुक्त कर विहरता है । उसका कायिक दौर्लभ्य (= व्यक्तिक्रम) भी अच्छी तरह शान्त (= सुमती प्रचलन) नहीं हुआ रहता, स्थान-मुद्ध (= जातरम) भी अच्छी तरह नष्ट नहीं हुआ रहता, औद्धत्य-कौकृत्य (= उद्धतपना, हिचकिचाहट) भी अच्छी तरह हटाया नहीं गया रहता । वह कायिक दौर्लभ्यके अच्छी तरह शान्त न होनेसे, स्थान-मुद्धके अच्छी तरह नष्ट न होनेसे, औद्धत्य-कौकृत्यके अच्छी तरह न हटाने गये होनेसे, अँधला-धुँधलासा स्थान करता है । वह काया छोड़ मरनेके बाद संक्लिष्टात्म देवताओंकी सहज्यतामें उत्पन्न होता है ।

“जैसे, जालुस कात्यायन ! जलते तेल-प्रदीपमें तेल भी परिमुद्ध हो, घसी भी परिमुद्ध हो; वह तेलको परिमुद्धतासे, घसीकी भी परिमुद्धतासे अँधला-धुँधला न जलता हो, ऐसे ही, जालुस कात्यायन ! यहाँ कोई भिक्षु परिमुद्धात्मको न्यास कर = अधिमुक्त कर विहरता है । उसका कायिक दौर्लभ्य भी अच्छी तरह शांत हुआ रहता है, स्थान-मुद्ध भी अच्छी तरह नष्ट हुआ रहता है; औद्धत्य-कौकृत्य भी अच्छी तरह हटाया गया रहता है । वह = औद्धत्य-कौकृत्यके अच्छी तरह हटाने गये होनेसे अँधला-धुँधलासा नहीं ध्यान करता । वह काया छोड़ मरनेके बाद परिमुद्धात्म देवताओं की सहज्यतामें उत्पन्न होता है । जालुस कात्यायन ! यह हेतु = यह प्रत्यय है ० ।”

ऐसा कहनेपर आमुष्मान् सम्य कात्यायनने आमुष्मान् अनुरुद्धसे यह कहा—

“साधु, भन्ते अनुरुद्ध ! भन्ते ! आमुष्मान् अनुरुद्धने यह नहीं कहा—‘ऐसा मैंने सुना’ या ‘ऐसा होता चाहिये’; बल्कि आमुष्मान् अनुरुद्ध यह कहते हैं—‘ऐसे वह देवता’, ‘इस प्रकारके वह देवता’, (यह सोचकर) भन्ते ! ऐसा होता है—जब पहिले आमुष्मान् अनुरुद्ध उन देवताओंके साथ रहे हैं, संलाप किये हैं, साक्षात्कार किये हैं ।”

“जब, जालुस कात्यायन ! जानकर मैंने यह बात कही और बल्कि मैं तुमसे कहता हूँ—पहिले जालुस कात्यायन ! दीर्घ काल तक मैं देवताओंके साथ रहा हूँ, संलाप किये हूँ, साक्षात्कार किये हूँ ।”

ऐसा कहनेपर आमुष्मान् सम्य कात्यायनने पंचकांग गृहपतिसे यह कहा—

“गृहपति ! ज्ञात है तुम्हें, सुलाम भिक्षु तुम्हें, जो कि तुम अपनी संशयको मिटा सके, और मुझे भी यह धर्म-पर्याय (= धर्मोपदेश) सुननेकी मिला ।”

१२८—उपकिलेस-सुत्तन्त (३।३।८)

कलहका कारण, और विवर्तित। योग-सुक्तिर्वा

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् 'कौशाम्बी' के शोपिताराममें विहार करते थे। उस समय कौशाम्बीमें भिक्षु मंडन करते, कलह करते, विवाद करते, एक दूसरेको मुण (रूपी) शक्ति (= इच्छिमार) से बेचते फिरते थे। तब कोई भिक्षु, जहाँ भगवान् थे, वहाँ जाकर भगवान्को अभिवादन कर, एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े हुये उस भिक्षुने भगवान्से बोई कहा—“यहाँ कौशाम्बीमें मन्ते ! भिक्षु मंडन करते, कलह करते, विवाद करते, एक दूसरेको मुणशक्तिके बेचते फिरते हैं। अच्छा हो यदि मन्ते ! भगवान्, जहाँ यह भिक्षु है, वहाँ चले।”

भगवान्ने मौनसे उसे स्वीकार किया। तब भगवान् जहाँ वह भिक्षु थे, वहाँ गये। जाकर उन भिक्षुओंसे बोले—

“यस भिक्षुओ ! मंडन, कलह, विप्रह, विवाद (मन) करो।”

ऐसा कहनेपर एक भिक्षुने भगवान्से कहा—

“मन्ते ! भगवान् ! धर्म-स्वामी ! रहने दें। परवाह मत करें। मन्ते ! भगवान् ! धर्म-स्वामी ! दृष्ट-धर्म (इसी जन्म) के सुणके साथ विहार करें। हम इस मंडन, कलह, विप्रह, विवादसे (स्वयं निपट लेंगे)।”

दूसरी बार भी भगवान्ने उन भिक्षुओंसे कहा—“यस भिक्षुओ ० ! ०” । ० । तीसरी बार भी भगवान् ० । ० ।

तब भगवान् पूर्वाह्न समय (वस) पहनकर पाञ्च-बीचले कौशाम्बीमें भिक्षाचार कर, भोजन कर, विह-पातसे उठ, आसन समेट, पाञ्च बीचर ले, गढ़े ही कड़े इस माथाको बोले।

“गढ़े शब्द करनेवाले एक समान (यद्) उन कोई भी अपनेको षाठ (= अष्ट) नहीं मानते,

संघके भंग होने (और) मेरे लिये मनमें नहीं करते ॥

सूद, पंडितसे दिखलाते, जीमपर जाई बातको बोलनेवाले ;

मन-चाहा मुण फैलाना चाहते हैं; जिस (कलह) से (अयोग्य मार्गपर)

ले जाते गये हैं, उसे वहीं जानते ॥

‘मुझे निन्द’, ‘मुझे भार’, ‘मुझे जीता’, ‘मुझे त्यागा’ ।

(इस तरह) जो उसको (मनमें) धाँपते (= उपनहन) हैं, उनका वैर जात नहीं होता ॥

१ कोसुन्, जिस शब्दाभास।

‘मुझे निम्दा’, ‘मुझे मारा’, ‘मुझे जीता’, ‘मुझे त्यागा’ ।

(इस तरह) जो उसको नहीं याँचते, उनका पैर शांत हो जाता है ॥

वैरसे वैर वहाँ कभी शांत नहीं होता ।

अ-वैरसे (ही) शांत होता है, यही सनातन-धर्म है ॥

दूसरे (= अप्रदित) नहीं जानते, कि हम यहाँ मृत्युको प्राप्त होंगे ।

जो वहाँ (मृत्युके पास) जाना जानते हैं, वे (पंडित) बुद्धिमत (कलहोंको) जामन करते हैं ॥

हड्डी तोड़नेवालों, प्राण हरनेवालों, माघ-घोड़ा-घन-हरनेवालों ।

राष्ट्रको विनाश करनेवालों (तक)का भी मेल होता है ॥

यदि नक्ष-साधु-विहारी धीर (पुरुष) सहचर-सहायक (= साथी) मिले ।

तो सब झगड़ोंको ढोव, प्रसन्न हो, बुद्धिमान् उसके साथ विचरे ॥

यदि नक्ष साधु-विहारी धीर सहचर सहायक न मिले ।

तो राजाकी भाँति विजित राष्ट्रको ढोव, उत्तम मातंग-राजकी भाँति अकेला विचरे ॥

अकेला विचरना अच्छा है, बालसे मिश्रता नहीं (अच्छी) ।

बै-पचाई ही उत्तम मातंग- (= नाग) राजकी भाँति अकेला विचरे, और पाप न करे ।”

तब भगवान् खड़े खड़े हुए याधाओंको कहकर, जहाँ बालक-लोगकार ग्राम था, वहाँ गये । उस समय आयुष्मान् भृगु बालक-लोगकार ग्राममें वास करते थे । आयुष्मान् भृगुने दूर से ही भगवान्को आते देखा । देखकर आसन बिछाया, पैर धोनेको पानी भी (रक्खा) । भगवान् बिछाये आसनपर बैठे । बैठ कर खरण धोये । आयुष्मान् भृगु भी भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे हुये आयुष्मान् भृगुसे भगवान्ने यों कहा—
“भिक्षु ! क्या क्षमनीय (= ठीक) तो है, क्या पापनीय (= अच्छी गुजरती) तो है ? पिंड (= भिक्षा) के लिये तो तुम तकलीफ नहीं पाते ?”

“क्षमनीय है भगवान् ! पापनीय है भगवान् ! मैं पिंडके लिये तकलीफ नहीं पाता ।”

तब भगवान् आयुष्मान् भृगुको धार्मिक कथासे ० समुत्तेजित कर ०, आसनसे उठकर, जहाँ प्राचीन-वंश-दास है, वहाँ गये । उस समय आयुष्मान् अनुसूद, आयुष्मान् नन्दिष और आयुष्मान् किम्बिल प्राचीन-वंश-दासमें विहार करते थे । दाव-पालक (= वन-पाल) ने दूरसे ही भगवान्को आते देखा । देखकर भगवान्से कहा—

“भगवन् ! इस दासमें प्रवेश मत करो । यहाँपर तीन कुल-पुत्र दयाकान (= मौज से) विहर रहे हैं । उनको तकलीफ मत दो ।”

आयुष्मान् अनुसूदने दाव-पालको भगवान्के साथ बात करते सुना । सुनकर दाव-पालसे यह कहा—

“आवुस ! दाव-पाल ! भगवान्को मत बना करो । हमारे शास्ता भगवान् जाये हैं ।”

तब आयुष्मान् अनुसूद, जहाँ आयुष्मान् नन्दिष और आयु, ० किम्बिल थे वहाँ गये । जाकर बोले—

“आयुष्मानो ! खलो आयुष्मानो ! हमारे शास्ता भगवान् आ गये ।”

तब आ. अनुसूद, आ. नन्दिष, आ. किम्बिल भगवान्की भगवानी कर, एकने पाद-धीपर ग्रहण किया, एकने आसन बिछाया, एकने पादोदक रक्खा । भगवान्ने बिछाये आसनपर बैठ पैर धोये । वे भी आयुष्मान् भगवान्को अभिवादन कर, एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे हुये आयुष्मान् अनुसूदसे भगवान्ने कहा—

“अनुब्रूओ ! अमनीष तो है ? आपनीष तो है ? पिंडके लिये तो तुम जीम तकलीफ नहीं पाते ?”

“अमनीष है, भगवान् !०”

“अनुब्रूओ ! क्या एकत्रित, परस्पर मोड़-सहित, दूध-पानी हुये, परस्पर म्रिय-इष्टिसे देखते, विहरते हो ?”

“हाँ भन्ते ! हम एकत्रित० ।”

“तो कैसे अनुब्रूओ ! तुम एकत्रित० ।”

“भन्ते ! मुझे, यह विचार होता है—‘मेरे लिये काम है ! मेरे लिये सुखान प्राप्त हुआ है, जो ऐसे स-अङ्गचारियों (= गुरु भाइयों) के साथ विहरता हूँ’ । भन्ते ! इन आयुष्मानोंमें मेरा काविक-कर्म अन्दर और बाहरसे मिश्रतापूर्ण होता है, वाचिक-कर्म अन्दर और बाहरसे मिश्रता-पूर्ण होता है, मानसिक-कर्म अन्दर और बाहर ० । तब भन्ते ! मुझे यह होता है—क्यों न मैं अपना मन हटा कर, इन्हीं आयुष्मानोंके चित्तके अनुसार पाऊँ । सो भन्ते ! मैं अपने चित्तको हटा-कर इन्हीं आयुष्मानोंके चित्तोंका अनुवर्तन करता हूँ । भन्ते ! हमारे शरीर नाना हैं, किन्तु चित्त एक...।”

आयुष्मान् मन्दीने भी कहा—“भन्ते ! मुझे यह होता है० ।”

आयुष्मान् किम्बिलने भी कहा—भन्ते ! मुझे यह० ।

“साधु, साधु, अनुब्रूओ ! अनुब्रूओ ! क्या तुम प्रमाद-रहित, आलस्य-रहित, संयमी हो, विहरते हो ?”

“भन्ते ! हाँ ! हम प्रमाद-रहित० ।”

“अनुब्रूओ ! तुम कैसे प्रमाद-रहित० ?”

“भन्ते ! हमारेमें जो पहिले ग्रामसे मित्राचार करके लौटता है, वह आसन लगाता है, पीनेका पानी रखता है, कुड़ेकी धाली रखता है । जो पीछे गाँवसे चिड़चार करके लौटता है, (वह) भोजन (मैसे जो) ढँचा रहता है, यदि चाहता है, खाता है, (यदि) नहीं चाहता है, तो (ऐसे) स्थानमें, जहाँ हरियाली न हो, छोव देता है, या जीव-रहित पानीमें छोड़ देता है । आसनोंको समेटता है । पीनेके पानीको समेटता है । कुड़ेकी धालीको धोकर समेटता है । आनेकी जगहपर साहू देता है । पानीके घड़े, पीनेके घड़े, या पाखानेके घड़ेमें जिसे धाली देखता है, उसे (मर कर) रख देता है । यदि वह उसके होने लायक नहीं होता तो हाथके द्वारासे, हाथके संकेत (= हस्त-चिह्न) से दूसरोंको बुलाकर, पानीके घड़े, या पीनेके घड़ेको (मर कर) रखवाता है । भन्ते ! हम उसके लिये वाग्-गुह नहीं करते । भन्ते ! हम पाँचवें दिन सारी रात कर्म-सम्यन्धी कथा करते बैठते हैं । इस प्रकार भन्ते ! हम प्रमाद-रहित० ।”

“साधु, साधु, अनुब्रूओ ! अनुब्रूओ ! इस प्रकार प्रमाद-रहित, विरालस, संयमी हो विहरते, क्या तुम्हें उत्तर-मनुष्य-धर्म अलमार्य-ज्ञान-दर्शन-विशेष अनुकूल-विहार प्राप्त है ?”

“भन्ते ! हम प्रमाद-रहित० विहार करते, अवभास और रूपोंके दर्शनको जानते हैं । किन्तु वह अवभास, और रूपोंके दर्शन हम लोगोंको ब्रह्म ही अन्तर्धान होजाते हैं । हम इसका कारण नहीं जान पाते ।”

“अनुब्रूओ ! तुम्हें वह कारण जान लेना चाहिये । मैं भी सम्बोधिते पूर्व, न कुछ हुआ, बोधि-सख होते (समय) अवभास और रूपोंके दर्शनको जानता था । मेरा वह

अवभास और रूपोंका दर्शन जल्द ही अन्तर्धान होजाता था । तब मुझे, अनुरुद्धो ! यह हुआ—क्या है हेतु (= कारण), क्या है प्रत्यय (= कार्य), जिससे मेरा अवभास और रूपोंका दर्शन अन्तर्धान होजाता है । तब मुझे अनुरुद्धो ! यह हुआ—(१) विचिकित्सा (= शंका, सन्देह) मुझे उत्पन्न हुई, विचिकित्साके कारण मेरी समाधि च्युत हो गई । समाधिके च्युत होनेपर अवभास और रूपोंका दर्शन अन्तर्धान होता है । सो मैं ऐसा कहूँ, जिसमें फिर विचिकित्सा न उत्पन्न हो । सो मैं अनुरुद्धो ! प्रमाद-रहित० विहार करते, अवभास (= प्रकाश) और रूपोंका दर्शन देखने लगा । (किंतु) वह अवभास और रूपोंका दर्शन जल्द ही (फिर) अन्तर्धान हो जाता था । तब मुझे अनुरुद्धो ! यह हुआ—क्या है हेतु० । तब मुझे अनुरुद्धो ! हुआ—(२) अमनसिकार (= मनमें न रह करवा), मुझे उत्पन्न हुआ । अ-मनसिकारके कारण मेरी समाधि च्युत हुई० । सो मैं ऐसा कहूँ, जिसमें फिर न विचिकित्सा न अमनसिकार उत्पन्न हो । सो मैं ० । ० (३) धीन-मिद्ध (= स्थान-मिद्ध) ० । ० न विचिकित्सा न अमनसिकार, न धीन-मिद्ध उत्पन्न हो । सो मैं ० । ० (४) क्षमिमतत्त्व (= समिमतत्त्व) ० । समिमतत्त्व (= जड़ता)के कारण मेरी समाधि च्युत हुई । समाधिके च्युत होनेपर, अवभास और रूपोंका दर्शन अन्तर्धान हुआ । अनुरुद्धो ! जैसे पुरुष (जैसेही शस्त्रमें) शस्त्रमें जा रहा हो, उसके दोनों ओर घटें उड़ जायें । उसके कारण उसको स्तम्भितत्त्व उत्पन्न हो । ऐसे ही अनुरुद्धो ! मुझे स्तम्भितत्त्व उत्पन्न हुआ । स्तम्भितत्त्वके कारण० । सो मैं ऐसा कहूँ, जिसमें फिर न विचिकित्सा उत्पन्न हो, न अ-मनसिकार, न स्थान-मिद्ध, न स्तम्भितत्त्व । सो मैं अनुरुद्धो ० । (५) ० उत्पीडा (= उक्थिष्ठ = उत्पीडा = विद्वलता) ० । अनुरुद्धो ! पुरुष एक निधि (= खजाना) को देता, एक ही धार पाँच निधियोंके सुसको पा जाय, जिसके कारण उसे उत्पीडा उत्पन्न हो । ऐसे ही अनुरुद्धो ! उत्पीडा उत्पन्न हुई । उत्पीडाके कारण मेरी समाधि च्युत हुई० । सो मैं ऐसा कहूँ, जिसमें मुझे फिर न विचिकित्सा उत्पन्न हो ० न उत्पीडा । सो मैं अनुरुद्धो ! ० । ० (६) दुःखीत्य (= दुःखीत्य) ० । सो मैं ऐसा कहूँ, जिसमें मुझे न विचिकित्सा उत्पन्न हो ०, न दुःखीत्य । सो मैं ० । तब मुझे अनुरुद्धो ! यह हुआ—(७) अति-आरब्ध-वीर्य (= अत्यारब्ध-वीर्य, अत्यधिक लम्बास) मुझे उत्पन्न हुआ० । जैसे अनुरुद्धो ! पुरुष दोनों हाथोंसे घरेको जोरसे पकड़े, वह वहाँ भर जाय । ऐसे ही मुझे अनुरुद्धो ! ० । सो मैं ऐसा कहूँ, जिसमें मुझे ० अत्यारब्ध वीर्य० । (८) अति-लौन-वीर्य (= अतिलौनवीर्य) ० । जैसे अनुरुद्धो ! पुरुष घरेको दीछा पकड़े, वह उसके हाथसे उड़ जाय ० । सो मैं ० अति-लौन-वीर्य० । ० (९) अभिजल्प (= अभिजल्प) ० । सो मैं ० अभिजल्प ० । ० (१०) नानात्व-प्रज्ञा (= नानात्वप्रज्ञा) ० ।

“सो मैं ० नानात्व-प्रज्ञा ० । ० (११) अतिनिष्पावितत्त्व (= अतिनिष्पावितत्त्व) रूपोंका मुझे उत्पन्न हुआ । अतिनिष्पावितत्त्वके कारण मेरी रूपोंकी समाधिच्युत हुई । समाधिके च्युत होनेसे अवभास, और रूपोंका दर्शन अन्तर्धान हुआ । सो मैं ऐसा कहूँ, जिसमें मुझे फिर न (१) विचिकित्सा उत्पन्न हो, न (२) अ-मनसिकार, न (३) स्थान-मिद्ध, न (४) समिमतत्त्व, न (५) उत्पीडा, न (६) दुःखीत्य, न (७) अत्यारब्ध-वीर्य, न (८) अति-लौन-वीर्य, न (९) अभिजल्प, न (१०) नानात्व-प्रज्ञा, न (११) रूपोंका अति-निष्पावितत्त्व । सो मैंने अनुरुद्धो ! ‘विचिकित्सा चित्तका उप-क्लेश (= मल) है’ जानकर, चित्तके उप-क्लेश विचिकित्साको छोड़ दिया; ‘अ-मनसिकार चित्तका उप-क्लेश है’ जानकर, चित्तके उप-क्लेश अ-मनसिकारको छोड़ दिया; ० स्थान-मिद्ध ०; ० स्तम्भितत्त्व ०; ० उत्पीडा ०;

• दुःस्वीत्य •, • अत्यारब्ध-वीर्य • अति-हीन-वीर्य •, • जमि-जल्प •, • नावात्य-प्रज्ञा •,
• रूपोंका अति-निष्पादितत्व चित्तका उप-क्लेश है' जानकर, चित्तके उप-क्लेश रूपोंके अति-
निष्पादितत्वको छोड़ दिया। सो मैं अनुसूक्ष्मों! प्रमाद-रहित निराश्रय, संयमी हो विहरते
अवभासको जानता, और रूपोंको नहीं देखता; रूपोंको देखता, और अवभासको नहीं पहिचानता
(कि) 'केवल रात (है, या) केवल दिन, या केवल रात-दिन' ।

"तब मुझे अनुसूक्ष्मों! यह हुआ—क्या हेतु है, क्या प्रत्यक्ष है, (कि) मैं अवभासको
जानता हूँ • ? तब मुझे अनुसूक्ष्मों! यह हुआ—जिस समय मैं रूपोंके निमित्त (= विशेषता)
को मनमें न कर, अवभासके निमित्तोंको मनमें करता हूँ, उस समय अवभासको पहिचानता
हूँ, और रूपों को नहीं देखता। जिस समय मैं अवभासके निमित्तको मनमें न कर, रूपोंके
निमित्तको मनमें करता हूँ, उस समय रूपोंको देखता हूँ, 'केवल रात है, केवल दिन है, केवल
रात-दिन है' इस अवभासको नहीं पहिचानता। सो मैं अनुसूक्ष्मों! प्रमाद-रहित • विहरते,
अल्प (= परिच्छिन्न) अवभासको भी पहिचानता, अल्प रूपको भी देखता; अ-प्रमाण (= मज्जान्)
अवभासको भी पहिचानता, अ-प्रमाण रूपोंको भी देखता—'केवल रात है, केवल दिन है,
केवल रात-दिन है' । तब मुझे अनुसूक्ष्मों! ऐसा हुआ—क्या हेतु है, क्या प्रत्यक्ष है, जो मैं
अल्प अवभासको भी पहिचानता • ? तब अनुसूक्ष्मों! मुझे यह हुआ—जिस समय समाधि
अल्प होती है, उस समय मेरा चक्षु अल्प होता है, सो मैं अल्प चक्षुसे परिच्छिन्न (= अल्प)
ही अवभासको जानता हूँ, परिच्छिन्न ही रूपोंको देखता हूँ । जिस समय अप्रमाण समाधि होती
है, उस समय मेरा चक्षु अप्रमाण होता है, सो मैं अप्रमाण चक्षुसे अ-प्रमाण अवभासको जानता,
अप्रमाण रूपों—केवल दिन, केवल रात, केवल रात-दिनको देखता। क्योंकि अनुसूक्ष्मों! मैंने
'विचिहित्वा चित्तका उप-क्लेश है' जानकर, चित्तके उप-क्लेश विचिहित्वाको छोड़ दिया था।
'अमनसिद्धार • । सत्यानसृष्ट • । स्तम्भितत्व • । उत्पीडा • । दुःस्वीत्य • । अक्षारब्ध-वीर्य • ।
अति-हीन वीर्य • । जमि-जल्प • । नानार्थ-संज्ञा • । 'रूपोंका अति-निष्पादितत्व चित्तका
उप-क्लेश है' जानकर, चित्तके उप-क्लेश अतिनिष्पादितत्वको छोड़ दिया था ।

"तब मुझे अनुसूक्ष्मों! ऐसा हुआ—जो मेरे चित्तके उप-क्लेश थे, वह छूट गये। हाँ
तो, अब मैं तीन प्रकारसे समाधि भावना करूँ । सो मैं अनुसूक्ष्मों! चित्तके-रहित भी समाधिकी
भावना करता । चित्तके-रहित विचार साधवाली समाधिकी भावना करता । चित्तके-रहित समाधिकी
भी भावना करता । प्रीति (= स-प्रीतिक) समाधिकी भी •, प्रीति विनाशाली (= निःप्रीतिक)
समाधि • । शांत (= सुख)-संबुद्ध समाधि • । उपेक्षा-सुख समाधि • । क्योंकि, अनुसूक्ष्मों!
मैंने स-चित्तके स-विचार समाधिकी भी भावना की थी; अवितर्क विचारसाधवाली समाधि • ।
अवितर्क अविचार समाधि • । स-प्रीतिक • । निःप्रीतिक • । शांत-सह-गत • । मेरे लिये शान-
दर्शन होगया । मेरी चित्तकी विसृक्ति (= मुक्ति) अटल होगई । यह अन्तिम जन्म है । अब
दुःखभय (= आवागमन) नहीं ।"

भगवान् ! (इस प्रकार बोले); आशुप्मान् अनुसूक्ष्मों समुद्र हो भगवान्‌के भाषणको
अभिनन्दित किया ।

१२६—बाल-पंडित-सुत्तन्त (३।३।६)

नरक । पापी मूर्ख कर्म । स्वर्ग । चक्रवर्ती राजा

प्रेता गीने सुता—

एक समय भगवान् धावस्तीमें अनाथपिटृहिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।
वहाँ भगवान्ने मिथुओंको संबोधित किया—“मिथुओ !”

“भयन्त !”—(कह) उन मिथुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“मिथुओ ! यह तीन बाल (= बाल)के लक्षण, = निमित्त, पदान है । कौनसे तीन ?—यहाँ, मिथुओ ! (१) बाल दुःखित्य (= चिन्ता न करने लायक) की चिन्ता करनेवाला होता है, (२) दुर्वचनका बोलनेवाला होता है, (३) दुष्कृत कर्मका करनेवाला होता है । यदि, मिथुओ ! बाल दुःखिता-चिन्ती, दुर्वचन-भाषी, दुष्कृत कर्मकारी न होवे, तो पंडित उसे न समझे—‘यह आप बाल, न-सत्पुरुष है’ । चूँकि मिथुओ ! बाल दुःखित्य-चिन्ती ० होता है, इसलिये पंडित इसे जानते हैं—‘यह आप बाल, न-सत्पुरुष है’ ।

“मिथुओ ! वह बाल (= मूर्ख) इसी जन्ममें तीन प्रकारके दुःख = दोर्मनस्वको अनुभव करता है ।—(१) मिथुओ ! यदि बाल लभामें बैठा रहता है, रण्या (= सशक)में ०, या चौरस्ते (= गच्छाटक)में बैठा रहता है ; वहाँ लोक उसके संबंधकी, उसके अनुरूप बात चलाते हैं यदि मिथुओ ! (वह) बाल हिंसक, चोर व्यवहारी, झूठा, बराबरी (= सुरा-भैरव-अंध-प्रवाद खाधी) होता है,—‘वहाँ बालको ऐसा होता है । लोग उस संबंधकी, उसके अनुरूप जो बात चलाते हैं, वह धर्म (= दुर्गुण) मुझमें है ही, मैं उन धर्मोंमें कैसा हूँ’ । मिथुओ ! बाल इसी जन्ममें इस प्रथम दुःख, दोर्मनस्वको अनुभव करता है ।

“(२) और फिर मिथुओ ! बाल देखता है—राजा (लोग) चोर, जाग जगानेवालोंको पकड़ कर अनेक प्रकारके दंड (= कष्टकरणा) देते हैं—चाबुकसे भी पिटाते हैं ०’ तलवारसे शीश कटवाते हैं । मिथुओ ! बाल इसी जन्ममें इस द्वितीय दुःख दोर्मनस्वको अनुभव करता है ।

“(३) और फिर मिथुओ ! बाल पीठपर आसीन, भंचपर बैठे (= आसीन) या घरतीपर बैठे, जो हमने पहिले पाप-कर्म किये हैं—कायाके दुश्चरित, वाणीके दुश्चरित, मनके दुश्चरित—वह उस समय उससे लटकते (= अवलम्बित होते) हैं, अधि-अवलम्बित = अभि-प्र-संविष्ट होते हैं । जैसे, मिथुओ ! पर्वतके महादृष्टोंकी छाया सायंकाल, पृथिवी पर अवलंबती, अप्पवलंबती, अभि प्रलंबती है; ऐसे ही मिथुओ ! बाल पीठपर ० । वहाँ मिथुओ बालको ऐसा होता है—‘हाय, मैंने कल्याण, कुशल, हिरुसाण (= सलज्ज कर्म) नहीं किया ! मैंने पाप-रुद्ध (-कर्म), किंचित्

किया है। जो कुछ गति है, कल्याण-कुशल-हिस्ताण न किये की, पाप-रुद्ध-कलिय किये की; उस गतिको मैं प्राप्त होऊँगा—वह यह शोक करता है, कलपता है, रूढ़न करता है, छाती पीटकर रोता है, मुर्च्छित होता है। मिथुभो ! बाल इसी जन्ममें इस तृतीय दुःख-दीर्घमनस्यको अनुभव करता है।

“मिथुभो ! वह बाल काया और वचन से दुश्चरित (= पाप) करके, काया जोड़ मरनेके बाद अपाय = दुर्गति, विनिपात, नर्कमें उत्पन्न होता है। जिसके लिये कि मिथुभो ! ठीकसे कहने पर कहे—सर्वोन्नतः अनिष्ट, सर्वोन्नतः अ-काम्य, सर्वोन्नतः अ-मनाप (= अ-प्रिय) है, तो वह ठीकसे कहने पर नर्कको ही कहना चाहिये”। नर्कमें जितना दुःख है, मिथुभो ! उसकी उपमा देनी भी सुकर नहीं है।”

ऐसा कहने पर एक मिथुने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! उपमा दो जा सकती है ?

भगवान्ने कहा—“दो जा सकती है, मिथु ! जैसे, मिथु ! चोर, जाग लगानेवालेको पकड़कर राजाको हिसलावे—‘देव ! यह चोर, जाग लगानेवाला है, इसे देव ! जो चाहें वह दंड प्रदान करें।’ उसको राजा यह कहे—‘जाओ, भो ! इस पुरुषको पूर्वाह्न-समय एक सौ शक्ति (= कोड़े) मारो।’ तब उसे पूर्वाह्न समय एक सौ शक्ति मारें। राजा मध्याह्नके समय पूछे—‘कहो, वह पुरुष कैसे है ?’। ‘वैसे ही, देव ! जी रहा है।’ तब उसको राजा यह कहे—‘जाओ, भो ! उसे मध्याह्न समय एक सौ शक्ति मारो।’ ० । ०—‘जाओ, भो ! उसे सायंकाल एक सौ शक्ति मारो।’ तब उसे सायंकाल भी एक सौ शक्ति मारें। तो क्या मानते हो, मिथुभो ! क्या वह पुरुष तीन सौ शक्तियोंसे मारा जाकर, उसके कारण दुःख-दीर्घमनस्य अनुभव करेगा ?”

“भन्ते ! एक शक्तिसे भो मारे जानेपर वह पुरुष, उसके कारण दुःख-दीर्घमनस्य अनुभव करेगा, तीन सौ शक्तियोंकी तो बात ही क्या करनी ?”

तब भगवान्ने हाथके बराबरके एक छोटे पत्थरको हाथमें ले मिथुओंको संबोधित किया—

“तो क्या मानते हो, मिथुभो ! कौन अधिक बड़ा है, वह जो हाथके बराबरका छोटा पत्थर मैंने हाथमें लिया है, या हिमवान् (= हिमालय) पर्वतराज ?”

“भन्ते ! भगवान्ने जो यह हाथके बराबरका छोटा पत्थर (? बेला) हाथमें लिया है, वह अति छोटा है; हिमवान् पर्वतराजके मुकाबिलेमें इसकी गिनती भी नहीं हो सकती, बला-भागकी जी (यह) नहीं पा सकता, निम्न (खेजो)के पास भी नहीं पहुँच सकता।”

“ऐसे ही, मिथुभो ! जो वह पुरुष तीन सौ शक्ति मारे जानेपर, उसके कारण दुःख-दीर्घमनस्य अनुभव करेगा, नर्कके दुःखके मुकाबिलेमें उसकी गिनती भी नहीं हो सकती ० ।

“मिथुभो ! निरयपाल (= नरकपाल) उसका पंच-चिध-बंधन नामक दंड देते हैं—गर्भ लोहेकी कीलको हाथमें ठोकते हैं, गर्भ लोहेकी कील दूसरे हाथमें ठोकते हैं। ० पैरमें ठोकते हैं, ० दूसरे पैरमें ठोकते हैं ० छातीके बीचमें ठोकते हैं। यह वहाँ दुःखा, तीखा, लारी, कटुका वेपना अनुभव करता है, किन्तु तब तक नहीं मरता, जब तक कि उसके पाप कर्मका अन्त नहीं हो जाता।

“तब, मिथुभो ! निरयपाल उसे पैठाकर कुद्दादेसे फाटते हैं। वह वहाँ दुःखा ० ।

“० उसे ऊपर पैर और नीचे शिर रखकर बसूलेसे फाटते हैं। वह वहाँ दुःखा ० ।

“० उसे रथमें जोतकर जादोश, से-प्रज्वलित, दहकती भूमिमें डे जाते हैं, डे आते हैं। वह वहाँ दुःखा ० ।

“उसे आदीप्त = सं-प्रज्वलित, दहकते अंगारके जैसे पर्वत पर चढ़ाते हैं, उतारते हैं। वह वहाँ दुःखा ० ।

“० उसे ऊपर पैर नीचे मिर पकड़ कर आदीप्त ० तब लोह-कुम्भीमें डालते हैं; वह वहाँ ऐगुदेहक (= गात्र फँकता) पकता है। वह वहाँ ऐगुदेहक पकता हुआ एक बार ऊपर आता है, एक बार नीचे जाता है, एक बार तिलें जाता है। वह वहाँ ० ।

“तब, मिश्रुओ ! निरवचल उसे पुनः पुनः महानिरय (= महानरक) में डालते हैं। मिश्रुओ ! वह महानिरय (ऐसा) है—

‘चार कीलोंवाला, चार द्वारोंवाला,
और खंड खंडमें नाप कर बँटा हुआ ।
छोड़ेके आकारसे परिवेष्टित,
और छोटासे प्रतिकुम्भित (= गठित) ।
उसकी लोह (= अया)-मयी भूमि,
तेजसे चुक जलती हुई,
चारों ओर एक ही योजन (विस्तृत)
(भागसे) व्याप्त हो सर्वदा स्थित रहती है ।’

“मिश्रुओ ! नाना प्रकारसे यदि मैं निरय (= नर्क) की कथा कहता रहूँ, तो भी—
उसके दुःखका पूरा वर्णन करना सुकर नहीं है ।

“मिश्रुओ ! तिर्यग् (= पशु)-घोषिमें नृणभक्षी प्राणी हैं। वह दूरे नृणोंकी भी सूखे नृणोंकी भी दाँतसे चादकर खाते हैं। कौन हैं, मिश्रुओ ! नृणभक्षी तिर्यग्-घोषिके प्राणी ?—हाथी, घोड़ा, गाय, गव्हा, बकरी, मृग, और जो कोई और भी नृणभक्षी तिर्यग्-घोषिके प्राणी । सो वह बाल, मिश्रुओ ! पहिले रत्न-भक्षी, यहाँ पाप कर्मोंको करके, काया छोड़ भरनेके बाद उन नृणभक्षी प्राणियोंकी सहप्यता (= घोषि) में उत्पन्न होता है ।

“मिश्रुओ ! तिर्यग्घोषिमें गृध (= विशा)-भक्षी प्राणी हैं। वह दूरसे ही गृध-गंधको सूँघकर धाकते हैं—‘वहाँ खायेंगे’, ‘वहाँ खायेंगे’; जैसे कि माषाण आहुति-गन्धसे धाकते हैं—‘वहाँ खायेंगे’, ‘वहाँ खायेंगे’ । ... मिश्रुओ ! कौन हैं, गृध-भक्षी तिर्यग्घोषिके प्राणी ?—कुकुर, शूकर, कुत्ता, स्वार, और जो कोई और भी ० । सो वह बाल, मिश्रुओ ! पहिले रत्नभक्षी ० उन गृध-भक्षी प्राणियोंकी सङ्घ्यतामें उत्पन्न होता ।

“० तिर्यग्घोषिमें प्राणी हैं, जो अंधकारमें जन्मते हैं, अंधकारमें बड़े होते हैं, और अंधकार हीमें मरते हैं, ० कीट, पतंग, गृह (= कोढ़े) से उत्पन्न ० । ० ।

“० तिर्यग्घोषिमें प्राणी हैं, जो जलमें जन्मते, बड़े होते, मरते हैं । ० मत्स्य, कच्छप, मिश्रुसार (= मगर) ० । ० ।

“० तिर्यग्घोषिमें प्राणी हैं, जो अशुचि (= गन्ध) में जन्मते, बड़े होते, मरते हैं । ० जो वह प्राणी सही भक्ष्यी, सड़े मृत शरीर, या सड़े धातु (= कुलमाष), चन्दनिका (= गव्हा) या शोणितल (= गवही) में जन्मते हैं ० । ० ।

“मिश्रुओ ! नाना प्रकारसे भी यदि मैं तिर्यग्घोषिकी कथा कहता रहूँ, तो भी उसके दुःखका पूरा वर्णन करना सुकर नहीं है । जैसे, मिश्रुओ ! कोई पुरुष एक क्षिमाछके जोड़ेको महा-समुद्रमें फेंक दे । उसे पुरया हवा पच्छिमकी ओर बहावे, पछवाँ हवा पूर्वकी ओर ० । उत्तरहिवा हवा दक्षिणकी ओर ०, दक्षिनहिवा हवा उत्तरकी ओर बहावे । वहाँ एक काला कबुवा हो, (जो

कि) सौ सौ वर्ष बाद एक बार उतराता हो। तो क्या मानते हो, मिथुनो! क्या वह काना कबुवा इस एक निमाल-जोड़ेमें अपनी गर्दनको घुसावेगा?"

"नहीं, मन्ते! शायद कभी किसी समय दीर्घकालके बाद।"

"मिथुनो! वह काल शीघ्रही होगा जब कि वह काना कबुवा उस ० में अपनी गर्दनको घुसावेगा, (लेकिन) मिथुनो! एक बार पतित हुये बालके लिये (फिर) मनुष्यत्वकी प्राप्तिमें मैं (उससे) दुर्लभतर कहता हूँ। सो किस हेतु?—मिथुनो! यहाँ (तिर्वन्नामिमें) धर्मचर्या (= धर्म-चरण) = सप्तचर्या, कुप्राण-क्रिया (= पुण्यकर्म), पुण्यक्रिया (संभव) है। यहाँ मिथुनो! एक दूसरेके स्थानवाले दुर्बलोंको स्थानवाले रहते हैं। वह बाल—कदाचित् कभी, दीर्घकालके बाद मनुष्यत्वको प्राप्त होता; (तो यह) जो कि वह नीचकुल है—चांडालकुल, निषादकुल, पसोर (= वेशु-कार) कुल, रथकारकुल, या पुष्कलकुल—ऐसे दरिद्र, अल्प-अन्न-पान-भोजन, कृच्छ्र-वृत्ति कुलोंमें जन्मता है। यहाँ मुश्किलसे उसे खाना-कपडा (= धान-आच्छादन) मिलता है। (और यहाँ भी) वह दुर्घर्ष (= कुक्षप), दुर्दर्शन, बुरी गर्दनवाला, पटुरोणी, काना, लला, कुंवरा, पक्षाघात वाला, होता है। अन्न-पान-वस्त्र-दान-भाला-गन्ध-विलेपनोका, शय्या-निवाससम्बन्ध (= वाक्पत्र) -प्रदोषों का लामी नहीं होता। वह काया वचन और मनसे दुर्धरित (= दुष्कर्म) करता है। वह काय-वचन-मनसे दुर्धरित करके, काया जोड़ मरनेके बाद अपाय, दुर्भक्ति, विनिपात, अरुद्धमें उत्पन्न होता है। जैसे, मिथुनो! तुम्हारी पहिले ही दाव (= कलिग्रह) में पुत्रको हार जावे, फिर स्त्री को भी, फिर सारी सम्पत्तिको, और फिर वन्यनमें चला जावे। मिथुनो! यह कलिग्रह (= दाव) स्वल्पमात्र है; जो कि वह तुम्हारी पहिले ही दावमें ०। उससे कहीं बड़ा कलिग्रह यह है, जो कि यह बाल काय-वचन-मनसे दुर्धरित करके ०।

"मिथुनो! यह केवल परिपूर्ण बालभूमि है।

"मिथुनो! यह तीन पंडितके लक्षण = निर्मित, पदान है। कौनसे तीन?—यहाँ मिथुनो! पंडित (१) सुचिंतित-चिन्ती होता है, (२) सुभाषित-भाषी होता है, और (३) सुकृत कर्म-कारी होता है। ०" मिथुनो! वह पंडित काय-वचन-मनसे सुचरित करके, काया जोड़ मरनेके बाद सुगति स्वर्ग लोकमें उत्पन्न होता है। जिसके लिये कि मिथुनो! ठीकसे कहने पर कहे—सर्वोन्नतः दृष्ट, सर्वोन्नतः कान्त, सर्वोन्नतः मनाप है; तो यह ठीकसे कहनेपर स्वर्ग को ही कहना चाहिये"। स्वर्गमें जितना सुख है मिथुनो! उसको उपमा देनी भी सुकर नहीं है।"

ऐसा कहनेपर एक मिथुने भगवान्से यह कहा—

"मन्ते! उपमा ही जा सकती है।"

भगवान्ने कहा—"दो जा सकती हैं। मिथु! जैसे चक्रवर्ती राजा सात राज्यों और चार प्रांतीयोंसे युक्त हो, उनके कारण सुख और सौमनस्यको प्राप्त हो। किन् सात राज्योंसे?

(१) "यहाँ मिथुनो! पूर्णिमाके उपोसन्नके दिन पारसे नहावे उपोसन्न-मती हो महलके ऊपर स्थित नृपाभिषिक्त क्षत्रिय राजाके लिये, नेमि-नामि-युक्त सर्वांग-परिपूर्ण सहस्र-अरोंवाला दिव्य-वस्त्र प्रकट होता है। उसको देखकर ० क्षत्रिय राजाको यह होता है—मैंने यह सुना है, 'जित ० क्षत्रिय राजाके लिये ० चक्रवर्ती प्रकट होता है, वह चक्रवर्ती राजा होता है'। क्या मैं चक्रवर्ती राजा हूँ? तब मिथुनो! ० क्षत्रिय राजा पायें हाथमें सोनेकी शारी (= सुंगार) से, दाहिने हाथसे चक्र-

रखपर झिंठता है—‘चलें आप चक्रवर्त विजय करें आप चक्रवर्त’। तब मिथुनो ! चक्रवर्त पूर्व दिशाको चलता है। चक्रवर्ती राजा भी चतुरंगिनी सेनाके साथ अनुगमन करता है। ‘‘‘विस प्रदेशमें चक्रवर्त स्थित होता है, वहीं चक्रवर्ती राजा भी चतुरंगिनी सेनाके साथ वास करता है। मिथुनो ! पूर्व दिशाके जो प्रतिराजा (= अधीन राजा) हैं, वह चक्रवर्ती राजाके पास आकर कहते हैं—‘आइये, महाराज ! स्वागत है आपका, महाराज ! (वह तब कुछ आपका) अपना है, अनुशासन कीजिये, महाराज !’ चक्रवर्ती राजा यह कहता है—‘घाण नहीं मारना चाहिये, चोरी नहीं करनी चाहिये, स्वभिचार नहीं करना चाहिये, झूठ नहीं बोलना चाहिये, शराब नहीं पीनी चाहिये, जैसे (आज तक राज्यको) भोगे, वैसे ही भोगो।’ मिथुनो ! (तब) जितने पूर्व दिशामें प्रतिराजा थे, सभी चक्रवर्ती राजाके अनुगामी हो गये। तब, मिथुनो ! चक्रवर्त पूर्वोत्तर-समुद्रको पारकर ‘‘‘, दक्षिण दिशामें चलता है। ०।० दक्षिण-समुद्रको पार कर ‘‘‘पश्चिम दिशामें चलता है। ०।० पश्चिम समुद्रको पार कर उत्तर दिशामें चलता है। चक्रवर्ती राजा भी चतुरंगिनी सेनाके साथ अनुगमन करता है। ० (तब) जितने उत्तर दिशामें प्रतिराजा थे, सभी चक्रवर्ती राजाके अनुगामी हो गये। तब मिथुनो ! चक्रवर्त समुद्रपर्यन्त पृथिवीको जोतकर, राजधानीमें लौट चक्रवर्ती राजाके अन्तःपुर (= मोतरी दुर्ग)के द्वारपर, ० अन्तःपुर-द्वारकी ओर पड़ावे, अक्ष (= धुरे)में लगा जैसा स्थित होता है। मिथुनो ! चक्रवर्ती राजाको इस प्रकारका चक्रवर्त प्रकट होता है।

(२) ‘‘और फिर, मिथुनो ! चक्रवर्ती राजाका, सत्वप्रतिष्ठ (= पहादुर), कद्विमान्, आकाश-गामी, उपोत्सथ नागराज नामक सर्वज्ञेय हस्तिरत्न उत्पन्न होता है। उसको देखकर चक्रवर्ती राजाका चित्त प्रसन्न होता है—‘भो ! (यह) हस्ति-यान (= ० सवारो) वदिया (= भद्रक) है, यदि शिक्षा ग्रहण कर लेता !’ तब मिथुनो ! वह हस्तिरत्न, अच्छी जातिका हाथी जैसे दीर्घ-कालसे सिद्धि हो, वैसे शिक्षाको ग्रहण कर लेता है। उस भूतकालमें मिथुनो ! चक्रवर्ती राजाने उसी हस्तिरत्नकी परीक्षाके लिये पूर्वाह्न समयमें आरुढ़ हो समुद्र पर्यन्त पृथिवीका अनुसंयान (= निरीक्षण) कर अपनी राजधानीमें लौटकर प्रातराश (= नाइता) किया। मिथुनो ! चक्रवर्ती राजाको इस प्रकारका हस्तिरत्न प्रकट होता है।

(३) ‘‘और फिर, मिथुनो ! चक्रवर्ती राजाको (जो कि) सर्वज्ञेय, काक-वीर्य, मुंज-केस, कद्विमान्, आकाशगामी, अश्वराज बलहक नामक अश्वरत्न प्रकट होता है। ०^१ लौटकर प्रातराश किया। मिथुनो ! ० इस प्रकारका अश्वरत्न प्रकट होता है।

(४) ‘‘और फिर, मिथुनो ! चक्रवर्ती राजाको मणिरत्न प्रकट होता है। वह होता है, वैद्यर्मणि (= हीरा), शुभ्र, अच्छी जातिकी, अठकोणी, सुपरिकर्मकृत (= पालिश की) होती है। मिथुनो ! उस मणिरत्नका प्रकाश चारों ओर योजन भर तक भर जाता है। पहिले समय, मिथुनो ! चक्रवर्ती राजाने इस मणिरत्नकी परीक्षाके लिये, चतुरंगिनी सेनाको तय्यार कर, मणिको चक्राके ऊपर लगा रातके घोर अंधकारमें वापस की। मिथुनो ! जो चारों ओर गाँव थे; (वहाँके लोग) दिन समय, मणिके प्रकाशमें काम करने लगे। मिथुनो ! ० इस प्रकारका मणिरत्न प्रकट होता है।

(५) ‘‘और फिर मिथुनो ! ० स्त्रीरत्न प्रकट होता है। (वह स्त्री) अनिरुपा = दर्शनीया = प्रास्तादिका, परम वर्ण-युष्कलतासे युक्त, नातिदीर्घा, नातिदृष्टा, नातिहृष्टा, नातिस्पृष्टा (= न बहुत मोटी), न-बहुत काठी, न-बहुत सफेद, समुप्यवर्णको धारकर तथा

^१ ऊपर वैसे ही (हस्तीकी जगह अश्व रखकर)।

विश्ववर्षसे कुछ घटकर होती है। '... उस खीरसके कायाका स्पर्श होता है, सुखके फाड़े, या कपास के फाड़े जैसा। ... उस खीरसका गात्र शीतकालमें उष्ण और उष्णकालमें शीत होता है। उस ० के कपासे चंदनकी गंध आती है, सुन्धसे कमलकी गंध आती है। ... वह खीरस चक्रवर्ती राजाकी पूर्वोत्पायिनी (= पहिले जागनेवाली), पश्चात्तिपायिनी (= पीछे सोनेवाली), 'क्या-करना है'—सुनानेवाली, प्रिय-चारिणी, प्रियवादिनी होती है। वह ... खीरस मनसे भी चक्रवर्ती राजाकी अतिचारिणी नहीं होती, कायासे तो क्या। मिथुनो ! ० इस प्रकारका खीरस ०।

(४) 'और फिर, मिथुनो ! ० गृहपति (= वैश्य-रत्न प्रकट होता है। (पूर्व-) कर्मके विपाकसे उसे दिव्यचक्षु उत्पन्न होती है, जिससे मालिक-वेमालिकवाले (जमीनके गधे) खजानोंको यह देखता है। वह चक्रवर्ती राजाके पास आकर यह कहता है—'देव ! आप वैश्विक रहिये, आपके पनवाले कार्यको मैं कहूँगा'। मिथुनो ! पहिले समयमें चक्रवर्ती राजा उस गृहपति-रत्नकी परीक्षाके लिये, नावमें चढ़ गंगानदीकी मैसधारमें जा गृहपतिरत्नसे यह बोला—'गृहपति ! मुझे सोने-जवाही (= हिरण्य-सुवर्ण) की जरूरत है'। 'तो महाराज ! इस या उस तीरपर चले।' 'गृहपति ! वही मुझे हिरण्य-सुवर्णकी जरूरत है।' तब मिथुनो ! गृहपतिरत्न दोनों हाथोंसे पानीको छूकर हिरण्य-सुवर्णसे भरे घड़े निकालकर चक्रवर्ती राजाको दे यह बोला—'इतना ही घस, महाराज ! इतना ही पपांस महाराज ! पुत्र गया (= पूजित) महाराज ! इतनेसे।' चक्रवर्ती राजाने कहा—'इतना ही घस, गृहपति ! ० पुत्रगया गृहपति ! इतनेसे'। मिथुनो ! इस प्रकारका गृहपति-रत्न ०।

(५) 'और फिर मिथुनो ! ० परिणायक-रत्न प्रकट होता है (जो कि होता है) वंशित-रत्नक, मेधावी। चक्रवर्ती राजाके पानेकी चीजको प्राप्त करनेमें, हटानेकी चीजको दूर करनेमें, रत्न छोड़ने लायक चीजको रत्न छोड़नेमें समर्थ होता है। वह चक्रवर्ती राजाके पास आकर यह बोला है—'देव ! आप वैश्विक रहिये, मैं अनुशासन (= शासन) कहूँगा।' मिथुनो ! ० इस प्रकारका परिणायक-रत्न प्रकट होता है।

'मिथुनो ! चक्रवर्ती राजा इन सत्त रत्नोंसे युक्त होता है।

'किन्तु चार ऋद्धियोंसे (युक्त होता है) ?—(१) मिथुनो ! चक्रवर्ती राजा अभिरूप = दर्शनीय = आसादिक, अन्य मनुष्योंसे अत्यंत परमवर्ण-पुष्कलता (= परम सौंदर्य) से युक्त—चक्रवर्ती राजा इस प्रथम ऋद्धिसे युक्त होता है।

(२) 'और फिर, मिथुनो ! चक्रवर्ती राजा अन्य मनुष्योंसे अत्यंत अधिक दीर्घायु चिर-स्थितिक होता है। ० इस द्वितीय ऋद्धिसे युक्त होता है।

(३) 'और फिर, मिथुनो ! चक्रवर्ती राजा नीरोग = निरातंक होता है, अन्य मनुष्योंकी अपेक्षा अत्यधिक समपाचनवाली, न-जति-शीत, न-जति-उष्ण पाचनशक्ति (= ग्रहण) से युक्त होता है ० इस तृतीय ऋद्धिसे युक्त होता है।

(४) 'और फिर मिथुनो ! चक्रवर्ती राजा ब्राह्मण गृहपतियोंको प्रिय होता है, जैसेकि मिथुनो ! पिता पुत्रोंको प्रिय = मनाय होता है। इसी प्रकार ०। ० राजाको ब्राह्मण गृहपति प्रिय होते हैं; जैसेकि पुत्र पिताके प्रिय = मनाय होते हैं।' पहिले समयमें, मिथुनो ! चक्रवर्ती राजा चतुर्दशवी सेनाके साथ उद्यान भूमिमें जा रहा था। तब मिथुनो ! ब्राह्मण गृहपति ० राजाके पास आकर बोले—'देव ! पीरे पीरे जाइये, जिसमें कि हम अधिक देरतक (आपको) देख सकें।' (तब) मिथुनो ! ० राजाने भी सारथीसे कहा—'सारथि ! पीरे पीरे ले चलो, जिसमें कि ब्राह्मण गृहपति मुझे देरतक देख सकें। मिथुनो ! चक्रवर्ती राजा इस चतुर्थ ऋद्धिसे युक्त होता है।

“मिथुओ ! चक्रवर्ती राजा इन चार ऋद्धियोंसे युक्त होता है ।

“तो क्या मानते हो, मिथुओ ! क्या चक्रवर्ती राजा इन सात रखों... इन चार ऋद्धियोंसे युक्त होनेके कारण सुख-सौमनस्य अनुभव करेगा ?”

“मन्ते ! ० एक एक रखसे युक्त होनेके कारण भी सुख-सौमनस्य अनुभव करेगा; सातों रखों और चारों ऋद्धियोंकी तो बात ही क्या कहनी ?”

तब भगवान्ने हाव भरके एक छोटे पत्थरको हाथमें ले मिथुओंको संबोधित किया—

“तो क्या मानते हो, मिथुओ ! ०^१ या हिमवान् पर्वतराज ?”

“मन्ते ! ०^१ कला भागको भी (यह) नहीं पहुँच सकता ० ।”

ऐसेही मिथुओ ! चक्रवर्ती राजा (अपने) सात रखों और चार ऋद्धियोंसे युक्त होनेके कारण जो सुख-सौमनस्य अनुभव करता है; दिव्य-सुखके सुकाविलेमें उसकी गिनती भी नहीं हो सकती ०^१ ।

“(तब) वह पंडित मिथुओ ! कदाचित्, कभी दीर्घ कालके बाद तब मनुष्य योनिमें जाता है; तो जो वह आज्ञा, महाधनी, महामोग, बहुत सोने चाँदी बहुत-जित्त-उपकरणवाले, बहुत धन धान्यवाले कैसे कुल है—अत्रिय महापालकुल । आह्वण ०, या गृहपति (= वैश्य)-महापालकुल, वैसे कुलोंमें उत्पन्न होता है । और वह अभिरूप = दर्शनीय आसादिक ०^२ होता है । अन्न-पान वस्त्र-दानका ०^३ साथी होता है । ०^३

“जैसे, मिथुओ ! जुगारी पहिलेही दावमें महान् भोग-स्वयं (= धनराशि) को पाजाये । मिथुओ ! यह कलिमह (= दाव, पाशा) स्वल्प-मात्र है...; उससे कहीं बड़ा कलिमह यह है, जो कि यह पंडित काय-वचन-मनसे सुचरित (= सुकर्म) करके, काया छोड़ मरनेके बाद सुगति स्वर्ग-लोकमें उत्पन्न होता है ।

“मिथुओ ! यह केवल परिपूर्ण पंडित-भूमि है ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिथुओंने भगवान्के भाषणको अनिन्दित किया ।

१३०—देवदूत-सुत्तन्त (३।३।१०)

नरक वर्णन

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्वायस्तोमें अनाथपिटृक के आराम उतवर्गमें विहार करते थे।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भवन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया।

भगवान्ने यह कहा—

“जैसे, भिक्षुओ ! (आग्ने-साम्ने) जुने दो घर हों, उनके बीचमें खड़ा आँखवाला पुरुष मनुष्योंको घरमें प्रवेश करते भी, निकलते भी, झूलते भी, विचरते भी, देखे। इसी प्रकार भिक्षुओ ! मैं भगवान् पवित्र दिव्य-चक्षुसे ०^१ नरकमें उत्पन्न हुये हैं। उसे भिक्षुओ ! निरदयाक (= नरकपाल) अनेक बाहोंसे पकड़कर यमराजको दिखलाते हैं। तब यमराज प्रथम देवदूतके द्वारमें समनुयोग = सम्-अनुग्रहण समनुभाषण (= भाषण) करते हैं—‘हे पुरुष ! मनुष्योंमें क्या तुने प्रथम देवदूतको प्रकट हुआ नहीं देखा ?’—‘नहीं देखा, भन्ते !’ तब उसे भिक्षुओ ! यमराज यह कहते हैं—‘हे पुरुष ! क्या मनुष्योंमें तुने उतान (ही) सो लकनेवाले, अपने मल-मूत्रमें लिपटे सोये, अयोध छोटे पन्थेको नहीं देखा ?’ वह ऐसा घोलता है—‘देखा, भन्ते !’ तब भिक्षुओ ! उसे यमराज यह कहते हैं—‘हे पुरुष ! जानकार, मूढ़ होते हुये तुझे तब क्या यह नहीं हुआ—मैं भी जातिधर्मा (= जन्मनेके स्वभाववाला) हूँ^२ जन्मनेसे परे नहीं हूँ। इन्त ! मैं काय-वचन-मनसे कल्याण (= अच्छा) कर्म कर्तूँ ?’ वह ऐसा घोलता है—‘नहीं कर सका भन्ते ! मैंने प्रमाद (= भूल) किया भन्ते !’ तब, भिक्षुओ ! उसे यमराज यह कहते हैं—‘हे पुरुष ! प्रमादी होकर तुने काय-वचन-मनसे कल्याण कर्म नहीं किया, तो हे पुरुष ! तुने वैसा किया, वैसा प्रमाद किया। सो वह कर्म न माताने किया, न पिताने किया, न मादने ०। न अगिनीने ०, न मित्र-अमात्रोंने ०, न जात-विराद्रीवालोंने ०, न अमण-माह्वानोंने, न देवताओंने किया, तुने ही इस पाप कर्मको किया, तुझी उसके विपाकको भोगेगा।’

‘तब, भिक्षुओ ! यमराज उसे प्रथम देवदूतके द्वारमें ० भाषण करके द्वितीय देवदूतके द्वारमें ० भाषण करते हैं—‘हे पुरुष ! मनुष्योंमें तुने द्वितीय देवदूतको प्रकट हुआ नहीं देखा ?’—‘नहीं देखा, भन्ते !’ तब उसे भिक्षुओ ! यमराज यह कहते हैं—‘हे पुरुष ! क्या तुने मनुष्योंमें नहीं देखा—ठेंडे हो गये, दंड लेकर चलते, काँपते हुये चलते, जातुर, गल-बीजन, दूढ़े दाल, सकेद पाल, हथर उधर दिलते-दुलते सिरवाले, झुरी पड़े, काले दाग (= तिलक) रंगे चरौरवाले, टोडे (=

^१ देखो पृष्ठ १५-१६।

गोपानसी) से वह बीज ली या पुरुषको ? • वह ऐसा बोलता है—'देखा, भन्ते !' तब उसे, मिथुनो ! सम्राज यह कहते हैं—'हे पुरुष ! तब जानकर बृद्ध होते हुये, तुझे क्या वह नहीं हुआ—मैं भी ब्रह्म-धर्मा (= ब्रह्म होनेवाला हूँ) ब्रह्मसे परेका नहीं हूँ ।' हन्त ! • तू ही उसके विपाकको भोगेगा ।'

"तब, मिथुनो ! सम्राज उसे • तृतीय देवदूतके बारमें • भाषण करते हैं—'हे पुरुष ! मनुष्योंमें तूने तृतीय देवदूतको प्रकट हुआ नहीं देखा ?'—'नहीं देखा, भन्ते !' तब उसे मिथुनो ! सम्राज यह कहते हैं—'हे पुरुष ! क्या तूने मनुष्योंमें नहीं देखा—जपने मल-मूत्रमें लिपटे सोये, दूसरों द्वारा डाँपे जाते, दूसरों द्वारा सेवा किये जाते, बहुतही धीमार दुःखी ली या पुरुषको ?' • । 'हे पुरुष ! तब जानकर बृद्ध होते हुये तुझे क्या वह नहीं हुआ—मैं भी ब्राह्म-धर्मा हूँ, ब्राह्मिसे परे नहीं हूँ ?' हन्त ! • तू ही उसके विपाकको भोगेगा ।

"• चतुर्थ देवदूतके बारमें • भाषण करते हैं—•—'हे पुरुष ! क्या तूने मनुष्योंमें नहीं देखा—राजा लोग घोर, आगलगाँववालेको प्रकटकर नाना प्रकारके बँड (= कर्मकारणा) देते हैं—साधुको भी मरवाते हैं • • तलवारसे काँध फटवाते हैं ?' • । • तुझे क्या वह नहीं हुआ—जो पाप कर्म करते हैं, वह इसी जन्ममें इस प्रकारसे नाना बँडोंको भोगते हैं ?' हन्त ! • तू ही उसके विपाकको भोगेगा ।

"• पंचम देवदूतके बारमें • भाषण करते हैं—• 'हे पुरुष ! क्या तूने मनुष्योंमें नहीं देखा' कुछे बीछा पड़े या पीछमरे हो गये एक दिन दो दिन तीन दिनोंके सुपैँको ?' • । • तुझे क्या वह नहीं हुआ—मैं भी ब्रह्म-धर्मा हूँ, ब्रह्मसे परे नहीं हूँ ?' हन्त ! • तू ही उसके विपाकको भोगेगा ।

"तब, मिथुनो ! सम्राज उस (पुरुष)से पंचम देवदूतके बारमें • भाषणकर लुप हो गये । तब उसे लेजाकर निरवधार, पंच-विध-बंधननामक बँड (= कर्मकारणा) करते हैं—• • (जागसे) ब्यास हो सर्वदा स्थित रहती है । मिथुनो ! उस महानिरय (= महानरक)के पूर्व दीवारसे उठी ली (= अग्नि) पच्छिमकी दीवारसे टकराती है । पच्छिम दीवारसे उठी ली पूर्वकी दीवारसे टकराती है । उत्तरी दीवारसे उठी ली दक्षिणकी दीवारसे टकराती है ; दक्षिणकी दीवारसे उठी ली उत्तरकी दीवारसे टकराती है । नीचेसे उठी ली ऊपरको टकराती है, ऊपरसे उठी ली नीचेको टकराती है । वह वहाँ दुःखा, तीव्रा, खरा, कटुका, वेदना अनुभव करता है ; किन्तु तब तक नहीं भरता, जब तक कि उसके पाप कर्मका अन्त नहीं हो जाता ।

"मिथुनो ! ऐसा समय होता है, जब कदाचित् कभी दीर्घकालके बाद उस महानिरय का पूर्वद्वार खुलता है, वह (प्राणी) उस ओर शीघ्र वेगसे दौकता है । शीघ्रसे दौकते वह उसकी छवि (= ऊपरी चमका) भी दृश्य होती है, चर्म भी •, मांस भी •, स्नायु भी •, अस्थि भी शुभाँ देती है । ऐसेही वह (वहाँ) रहता है । जब मिथुनो ! उसे वहाँ प्राप्त हुये बहुत (काल) हो जाता है ; तब वह द्वार बंद हो जाता है । वह वहाँ दुःखा • ।

"मिथुनो ! ऐसा समय होता है • पश्चिमद्वार • । • उत्तरद्वार • । • दक्षिणद्वार • ।

"मिथुनो ऐसा समय होता है, जब (अन्तमें) कदाचित् • उस महानिरयका पूर्वद्वार खुलता है, वह उस ओर शीघ्र वेगसे दौकता है । • अस्थि भी शुभाँ देती है । ऐसे ही वह (वहाँ) रहता है । (तब) वह उस द्वारसे निकलता है । मिथुनो ! उस महाद्वारके बाद, लगे हुये महान्

* देखो पृष्ठ ५४-५५ ।

* देखो पृष्ठ ५४२ ।

* इस नरकका नाम अ-वीचि भी है (अ.क.)

गृध-निरय (= विद्याका मरक) है । वह वहाँ गिरता है । मिथुओ ! उस गृधनिरयमें सूची-मुक्त (= सुई जैसे तेज नोकके सुईवाले) प्राणी (इसको) उचि लेदते हैं, उचिको लेदकर धर्मको लेदते हैं, ० मातको ०, ० स्नायुको ०, ० अस्त्रिको ०, ० अस्त्रिमग्नताको ० । वह वहाँ दुःखा ० ।

“मिथुओ ! उस गृध-निरयके पास लगा हुआ कुम्भकूल-निरय है; वह वहाँ गिरता है । वह वहाँ दुःखा ० ।

“मिथुओ ! उस कुम्भकूल-निरयके पास लगा हुआ, योजन भर लेंचा महान् सिन्धुलि-वन है । वहाँ आदीश = ज्वलित भाग हो पाये दस अंगुल लम्बे काटे हैं, उनपर (उसे) घाते उठाते हैं । वह वहाँ दुःखा ० ।

“मिथुओ ! उस सिन्धुलि-वनके पास लगा हुआ, महान् अस्त्रिमग्न-वन है । वह वहाँ प्रविष्ट होता है । इवासे प्रेरित पत्ते गिरकर हाथको भी काटते हैं, पैरको भी ०, हाथ-पैरको भी ०, कानको भी ०, नाकको भी ०, कान-नाकको भी ० । वह वहाँ दुःखा ० ।

“मिथुओ ! उस अस्त्रिमग्न-वनके पास लगी हुई क्षारोदका नदी (= क्षारे जलकी नदी) है । वह उसमें गिरता है । वहाँ वह धारकी ओर (= अनुभात) भी बहता, उलटी धार भी बहता है । वह वहाँ दुःखा, तीमा, स्फा, कटका, वेदना अनुभव करता है; किन्तु तब तक नहीं मरता, जब तक कि उसके पाप कर्मका अन्त नहीं हो जाता ।

“तब, मिथुओ ! उसे निरय-पाल निकाल कर स्थलपर रख बंध कहते हैं—‘हे पुरुष ! तू क्या चाहता है ?’ वह बंध कहता है—‘भन्ते ! मैं भूखा हूँ’ । तब उसे, मिथुओ ! निरयपाल आदीश ० तप्त ओढ़के छत्र (= षाङ्क) पे सुईको फावकर, आदीश = प्रज्वलित = सज्जोतिर्भूत आदीश ०, तप्त ओढ़कूटको मुँहमें डालते हैं । वह उसके ओढ़को भी दहता है, कंडको भी ०, डरको भी ०, जलिको भी ०, जंतकी (= अंतगुण) को भी लेते हुये अधोभागसे निकल जाता है । वह वहाँ दुःखा ० ।

“तब उसे मिथुओ ! निरयपाल (= यमवृत्त) वह कहते हैं—‘हे पुरुष ! तू क्या चाहता है ?’ वह बंध कहता है—‘भन्ते ! मैं भूखा हूँ’ । तब उसे मिथुओ ! निरयपाल आदीश ० तप्त ओढ़के छत्र पे सुईको फावकर, आदीश ० तबे तबि (= ताम्रलोह) को सीकते हैं । ० अंतकीको लेते हुये अधोभागसे निकल जाता है । वह वहाँ दुःखा ० ।

“तब उसे, मिथुओ ! निरयपाल फिर महानिरयमें डालते हैं ।

“मिथुओ ! मृतपूर्व (= पूर्वकाल) में यमराजको ऐसा हुआ—‘लोकमें जो पाप = अकृत्यल कर्म करते हैं, वह इस प्रकारकी नाता शातनाथे (= कर्मकारणा) पाते हैं । जहोवत ! मैं अनुष्णत्व-को प्राप्त होऊँ, और लोकमें तबमात्र जर्तु सम्भक्-सम्भुद उत्पन्न होयें, उन भगवान्‌का मैं सत्संग (= पर्युपासन) करूँ, और वह भगवान् मुझे धर्मोपदेश करें । उन भगवान्‌के धर्मको मैं समझूँ’ । मिथुओ ! वह मैं किसी दूसरे भ्रमण मायाणसे सुनकर नहीं कह रहा हूँ; बल्कि जो मुझे स्वयं ज्ञात = दृष्ट = विदित है, उसीको कहता हूँ ।”

भगवान्‌ने यह कहा, यह कह कर सुगत, शास्ताने यह भी कहा—

“देववृत्तसे प्रेरित होकर (भी) जो मनुष्य प्रमाद करते हैं ।

वह नर नौबी योनि^१ में प्राप्त हो, दीर्घकाल तक शोक करते हैं ।

^१ योनि = योनि ।

जो सन्त = सत्पुरुष वहाँ पर देवदूत द्वारा,
प्रेरित हो, आर्यधर्ममें कभी प्रमाद नहीं करते ।

जन्म-मरणके भव (सागर)में, और उपादानमें भय देख जन्म-मरणके क्षयसे उपादान
रहित हो विमुक्त होते हैं ।

यह क्षेमको प्राप्त, सुखी, इसी जन्ममें निर्वाण-प्राप्त,
सारे वैर और भयसे पार, सारे दुःखको पार हो गये ।

(१३-इति सुज्जलता-वग्ग ३।३)

१३१-भट्टेकरत्त-सुत्तन्त (३।४।१)

भूत-भविष्यकी चिन्ता छोड़ वर्तमानमें लगे

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनावपिक्किके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको सम्बोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भट्टन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! ! तुम्हें भट्टेकरत्त (= भट्टेके अन्तमें अतुरक्त)के उद्देश (= लाभ-कथन), और विभंग (= विभाग)को उपदेशता हैं; उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें धरो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, नन्ते !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—

“अतीतका अनुगमन न करे, न भविष्यकी चिन्तामें पड़े ।

जो अतीत है, वह तो नष्ट हो गया, और भविष्य अभी आ नहीं पाया । (१) ।

वर्तमान जो धर्म (= बात है), (उसीको) तहाँ तहाँ देखे ।

जो अलंकारी, अलंकोपी^१ है, उसे विद्वान् बचावे ॥ (२) ॥

आज ही कर्तव्यमें जुटना चाहिये, कौन जानता है, कल मरण हो ।

महासेन मृत्युसे युद्ध करते हमारा (कोई निश्चय) नहीं है ॥ (३) ॥

रात दिन बिरालस, उद्योगी हो इस प्रकार विहरनेवालेको ही ,

जाना मुनि (जन) भट्टेक-रत्त कहते हैं ॥ (४) ॥

“कैसे, भिक्षुओ ! अतीतका अनुगमन करता है ?—‘अतीतकालमें मैं इस प्रकारके रूप-वाला था’—(सोच) उसमें नन्दी (= राग) लाता है । ‘० वेदनावाला ० । ‘० संज्ञा ० । ‘० संस्कार ० । ‘० विज्ञान ० । इस प्रकार, भिक्षुओ ! अतीतका अनुगमन करता है । कैसे, भिक्षुओ ! अतीतका अनुगमन नहीं करता ?—‘अतीतकालमें मैं इस प्रकारके रूपवाला था’—(सोच) उसमें नन्दी नहीं लाता । ‘० वेदनावाला ० । ‘० संज्ञा ० । ‘० संस्कार ० । ‘० विज्ञान ० । इस प्रकार, भिक्षुओ ! अतीतका अनुगमन नहीं करता ।

“कैसे भिक्षुओ ! भविष्य (= अनागत)की चिन्ता नहीं करता ?—‘भविष्यमें इस प्रकारके रूपवाला होऊँगा’—(सोच) उसमें नन्दी करता है । ‘० वेदना ० । ‘० संज्ञा ० । ‘० संस्कार ० । ‘० विज्ञान ० ! इस प्रकार भिक्षुओ ! अनागतकी चिन्ता नहीं करता ।

^१ न रनेवाला ।

“कैसे, भिक्षुओं ! प्रत्युत्पन्न (= वर्तमान, विद्यमान) धर्मोंमें आत्मक होता है ?—
यहाँ, भिक्षुओं ! आद्योक्त दर्शनसे वंचित ०^१ अद्भुतवान्, पृथग्जन (= अनादी), रूप
(= Matter) को आत्माके तौरपर या आत्माको रूपवान् (Material), आत्मामें रूपको
या रूपमें आत्माको देखता (= समझता) है। वेदना ० । संज्ञा ० । संस्कार ० । ० विज्ञानको आत्माके
तौर पर, ० । इस प्रकार भिक्षुओं ! प्रत्युत्पन्न धर्मोंमें आत्मक होता है (= संहिरति) । कैसे, भिक्षुओं !
प्रत्युत्पन्न धर्मोंमें नहीं आत्मक होता ?—यहाँ भिक्षुओं ! आद्योक्त दर्शनको प्राप्त ०^२ बहुश्रुत आर्य-
भावक, रूपको आत्माके तौरपर, या आत्माको रूपवान्, आत्मामें रूपको, या रूपमें आत्माको
नहीं देखता । वेदना ० । संज्ञा ० । संस्कार ० । ० । विज्ञानको आत्माके तौरपर, या आत्माको
विज्ञानवान् ; आत्मामें विज्ञानको, या रूपमें विज्ञानको नहीं देखता । इस प्रकार, भिक्षुओं !
प्रत्युत्पन्न धर्मोंमें नहीं आत्मक होता—

“अतीतका अनुगमन न करे ०^३

शान्त, सुनि (जन) भवेत्तत्तु कहते हैं ।

“भिक्षुओं ! जो मैंने कहा—‘भिक्षुओं ! तुम्हें ० भवेत्तत्तुके उद्देश और विभंगको उपदेशता
हूँ’ ; वह इसीके लिये कहा ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

^१ देखो सूत्र १ ।

^२ देखो सूत्र २ ।

^३ देखो सूत्र ५४३ ।

१३२-आनन्द-भद्रकरत्त-सुत्तन्त (३।४।२)

भूत-भविष्यको किन्ता छोड़ वर्तमानमें लगे

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आचस्तोमें अनाथपिट्टिकके आराम जेतघनमें विहार करते थे ।

उस समय आयुष्मान् आनन्द, उपस्थान-शालामें भिक्षुओंको धार्मिक कथाद्वारा संदर्शित (= सुझाना) = समाद्वेषित, समुत्तेजित = संप्रहर्षित करते थे । भद्रकरत्तके उद्देश और विभंगको कहते थे । तब भगवान् सायंकाल, प्याससे उठकर जहाँ उपस्थान-शाला थी, वहाँ गये । जाकर बिछे आसनपर बैठे । बैठकर भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

“भिक्षुओ ! किसने (आज) उपस्थान-शालामें भिक्षुओंको धार्मिक कथा द्वारा • समुत्तेजित किया । भद्रकरत्तके उद्देश और विभंगको कहा ?”

“भन्ते ! आयुष्मान् आनन्दने उपस्थान-शालामें • ।”

तब भगवान्ने आयुष्मान् आनन्दको संबोधित किया—

“कैसे, आनन्द ! तूने भिक्षुओंको • समुत्तेजित • किया, भद्रकरत्तके उद्देश और विभंग को कहा—

भन्ते ! इस प्रकार मैंने भिक्षुओंको • उद्देश और विभंगको कहा—

“अतीतका अनुगमन न करे •”

शान्त, मुनि (जन) भद्रकरत्त कहते हैं ।

“कैसे आयुषो ! अतीतका अनुगमन करता है •” भिक्षुओ ! प्रत्युत्पन्न धर्मोंमें नहीं आसक्त होता ।

“अतीतका अनुगमन न करे •”

शान्त, मुनि (जन) भद्रकरत्त कहते हैं ।

“इस प्रकार, भन्ते ! मैंने भिक्षुओंको • समुत्तेजित • किया । भद्रकरत्तके उद्देश और विभंगको कहा ।”

“साधु, साधु, आनन्द ! ठीक ही तूने, आनन्द ! भिक्षुओंको • भद्रकरत्तके उद्देश और विभंगको कहा ।—

“अतीतका अनुगमन न करे •”

शान्त, मुनि (जन) भद्रकरत्त कहते हैं ।

•” प्रत्युत्पन्न धर्मोंमें नहीं आसक्त होता । “अतीतका अनुगमन •” ।”

भगवान्ने यह कहा, संतुष्ट हो आयुष्मान् आनन्दने भगवान्के भाषणको अभिर्नन्दित किया ।

१३३—महाकच्चायन-भदेकरत्त-सुत्तन्त (३।४।३)

भूत-भविष्यकी किन्दा जोड़, वर्तमानमें कमो (सविस्तर)

ऐसा गीने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें तपोदाराग्रमें^१ विहार करते थे ।

तब आयुष्मान् समिद्धि रातको भिनसारमें उठकर जहाँ तपोदा थी, वहाँ स्नानके किये गये । तपोदामें शरीरको पारिसिधितकर निकलकर गाग्रको सुखाते हुए, एक वस्त्र पहिने खड़े हुये । तब प्रकाशयुक्त शशिमें सारी तपोदाको प्रकाशित करता, कोई प्रकाशमान देवता जहाँ आयुष्मान् समिद्धि थे, वहाँ गया । जाकर एक ओर खड़ा हो गया । एक ओर खड़े उस देवताने आयुष्मान् समिद्धिको यह कहा—

“भिन्नु ! भदेकरत्तके उद्देश और विभंगको तुम धारण करते (= याद किये) हो ?”

“नहीं, आबुस ! मुझे याद (नहीं) है; भदेकरत्तके उद्देश और विभंग । और क्या, आबुस ! तुमको याद है ० ?”

“मुझे भी, भिन्नु ! याद नहीं है ० । क्या तुम्हें, भिन्नु ! भदेकरत्त की गाथायें याद हैं ?”

“नहीं, आबुस ! मुझे याद (नहीं) है ०, क्या, आबुस ! तुमको याद है ० ?”

“मुझे भी, भिन्नु याद नहीं है ० । भिन्नु ! भदेकरत्तके उद्देश और विभंगको सीखो, ० पूरा करो, ० याद करो । भिन्नु ! भदेकरत्तके उद्देश और विभंग सायक है, आदि वल्लवचर्यक (= शुद्ध वल्लवचर्योपयोगी) हैं ।”

उस देवताने यह कहा । यह कह कर वहीं अन्तर्धान हो गया ।

तब आयुष्मान् समिद्धि उस रातके घीतनेपर जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् समिद्धिने भगवान्से यह कहा—

“(आज), भन्ते ! मैं रातको भिनसारमें उठकर ०^२ यह कह कर वहीं अन्तर्धान हो गया । अच्छा हो, भन्ते ! भगवान् मुझे भदेकरत्तके उद्देश और विभंगका उपदेश करें ।”

“तो, भिन्नु ! सुन, अच्छी तरह श्रवण कर, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !” (कह) आयुष्मान् समिद्धिने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“०^३ अतीतका अनुगमन न करे ०” शान्त मुनि (जन) भदेकरत्त कहते हैं ।”

भगवान्ने यह कहा, यह कहकर सुगत आसनसे उठकर विहारमें चले गये । तब भगवान्के

^१ वैमागिरिपर्वतके नीचे गर्म पानी (अ.क.) । ^२ ऊपरकी माहृषि । ^३ मृतकाके पीछे न रोये । ^४ देखो पृष्ठ ५४१-५४ ।

चले जानेके भोले ही समय बाद उन मिथुनोंको यह हुआ—

“आबुसो ! भगवान् जो यह हमें संक्षेपसे उद्देश कर, विस्तारसे विभाग किये बिना ही, आसनसे उठकर विहारमें चले गये—‘अतीतका ०’। कौन है, आबुसो ! जो भगवान्के इस संक्षेपसे उद्देश किये विस्तारसे न विभाजित कियेका विस्तारसे अर्थ-विभाग करे ।”

तब उन मिथुनोंको यह हुआ—“यह आयुष्मान् महाकाव्यायन शास्ता (= बुद्ध) से भी प्रशंसित, और विश्व सम्प्रदायियोंसे भी संभावित है। आयुष्मान् महाकाव्यायन भगवान्के इस ० विस्तारसे न विभाजित कियेका विस्तारसे अर्थ-विभाग कर सकते हैं। क्यों न हम, आबुसो ! जहाँ आयुष्मान् महाकाव्यायन है, वहाँ चलकर आयुष्मान् महाकाव्यायनसे इसका अर्थ पूछें ।”

तब वह मिथु, जहाँ आयुष्मान् महाकाव्यायन थे वहाँ गये, जाकर आयुष्मान् महाकाव्यायनके साथ “संभोदनकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे उन मिथुओंने आयुष्मान् महाकाव्यायनसे यह कहा—

“आबुस काव्यायन ! भगवान् यह संक्षेपसे उद्देश कर, विस्तारसे विभाग किये बिना ही, आसनसे उठकर विहारमें चले गये—‘अतीतका ०’। ०। तब हमको यह हुआ—‘यह आयुष्मान् महाकाव्यायन ० इसका अर्थ पूछें। विभाग करें आयुष्मान् महाकाव्यायन ।”

“जैसे, आबुसो ! (कोई) सार-अर्थी = सार-गोवेपी पुरुष सारको खोजते हुये, चड़े महान् सारवान् बुद्धके मूल और स्तंभकी ढोह, शास्ता और पत्रमें सार (= शास्त्र, लक्ष्योका हीरा) देना पसंद करे। इसी प्रकार इस समय शास्ताके संमुखीभूत (= विद्वान्) होते, उन भगवान्को ढोह, आयुष्मान् हमलोंगोंको यह बात पूछना चाहते हैं। आबुसो ! वह भगवान् जानकार जानते हैं, देखनहार देखते (= समझते) हैं, चक्षुभूत (= आँख-समान), ज्ञानभूत, धर्मभूत, महाभूत हैं; वक्ता, प्रवक्ता, अर्थके निर्णेता, असूतके दाता, धर्म-स्वाधी तथ्यागत हैं। अब वही काल था, कि उन भगवान्से ही यह बात पूछी जाये। जैसा भगवान् आपकी वृत्तछाये, वैसा इसे धारण (= याद) करता ।”

“ठीक, आबुस काव्यायन ! भगवान् जानकार जानते हैं ० भगवान्से ही यह बात पूछी जाये । ० वैसा हम इसे धारण करें। किन्तु, आयुष्मान् महाकाव्यायन भी शास्तासे प्रशंसित ० । विस्तारसे अर्थ विभाग कर सकते हैं। भार न मानकर विभाग (= व्याख्यान), करें आयुष्मान् महाकाव्यायन !”

“तो, आबुसो ! सुनो, अच्छी तरह भ्रममें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, आबुस !” —(यह) उन मिथुओंने आयुष्मान् महाकाव्यायनको उत्तर दिया ।

आयुष्मान्-महाकाव्यायनने यह कहा—“आबुसो ! जो हमें भगवान्ने यह संक्षेपसे ० । उठकर विहारमें चले गये—‘अतीतका ०’। आबुसो ! विस्तारसे अ-विभाजित भगवान्के इस संक्षिप्त भाषणका अर्थ मैं इस प्रकार विस्तारसे जानता हूँ—‘कैसे, आबुसो ! अतीतका अनुगमन करता है ?’—‘अतीत कालमें मेरा चक्षु इस प्रकारका था, रूप इस प्रकारका था’—यह (तोच) उसमें विज्ञान छन्द = राग प्रतिषद् होता है। विज्ञान (= चित्त)के छन्द = राग प्रतिषद् होनेसे, उसे अभिनंदित (= स्वागत) करता है। उसका अभिनंदन करते अतीतका अनुगमन करता है, ‘० मेरा श्रोत्र इस प्रकारका था, शब्द इस प्रकारका था’—० । ‘० मेरा प्राण ०, गंध ०’—० । ‘० मेरी जिह्वा ०, रस ०’—० । ‘० मेरी काया ०, स्पष्टव्य ०’—० । ‘० मेरा मन ०, धर्म ०’—० ।

इस प्रकार, आबुसो ! अतीतका अनुगमन करता है । कैसे, आबुसो ! अतीतका अनुगमन नहीं करता ?—'अतीत कालमें मेरा चक्षु इस प्रकारका था, रूप इस प्रकारका था'—यह (सोच) उसमें विज्ञान (= चित्त, मन) छन्द = रागसे प्रतिबद्ध नहीं होता । विज्ञानके छन्द = राग प्रतिबद्ध न होनेसे, उसे अभिनन्दित नहीं करता । उसका अभिनन्दन न करनेसे अतीतका अनुगमन नहीं करता । '० श्रोत्र ०, शब्द ०'—० । '० मन ०, धर्म ०'—० । इस प्रकार आबुसो ! अतीतका अनुगमन नहीं करता ।

'कैसे, आबुसो ! अनागतकी चिन्ता करता है ?—'अनागत कालमें मेरा चक्षु इस प्रकारका हो, रूप इस प्रकारका'—यह (सोच) अ-प्राप्तकी प्राप्तिके लिये चित्तमें प्रणिधान (= आग्रह) करता है । चित्तके प्रणिधान द्वारा उसे अभिनन्दित करता है । उसका अभिनन्दन करते, अनागतकी चिन्ता करता है । '० श्रोत्र ०, शब्द ०'—० । '० घ्राण ०, गंध ०'—० । '० जिह्वा ०, रस ०'—० । '० काय ०, स्पर्श ०'—० । '० मन ०, धर्म ०'—० । इस प्रकार, आबुसो ! अनागतकी चिन्ता करता है । कैसे, आबुसो ! अनागतकी चिन्ता नहीं करता ?—'अनागत कालमें मेरा चक्षु इस प्रकारका हो, रूप इस प्रकारका'—यह (सोच) अ-प्राप्तकी प्राप्तिके लिये चित्तमें प्रणिधान नहीं करता । चित्तके प्रणिधानके न होनेसे उसे अभिनन्दित नहीं करता । उसको अभिनन्दन न करते, अनागतकी चिन्ता नहीं करता । '० श्रोत्र ०, शब्द ०'—० । '० घ्राण ०, गंध ०'—० । '० जिह्वा ०, रस ०'—० । '० काय ०, स्पर्श ०'—० । '० मन ०, धर्म'—० । इस प्रकार, आबुसो ! अनागतकी चिन्ता नहीं करता ।

'कैसे, आबुसो ! प्रत्युत्पन्न (= वर्तमान)-धर्मों (= पदार्थों)में आसक्त होता है ?—आबुसो ! जो पक्षु है, और जो रूप है, दोनों ही यह वर्तमान हैं । यदि उस वर्तमान (= विद्यमान) में विज्ञान (= चित्त) छन्द = रागसे प्रतिबद्ध होता है । विज्ञानके छन्द = राग प्रतिबद्ध होनेसे, उसे (= विद्यमान वस्तु को) अभिनन्दित करता है । उसका अभिनन्दन करते प्रत्युत्पन्न धर्मों (= पदार्थों)में आसक्त होता है । जो श्रोत्र है, और जो शब्द है ० । ० घ्राण ०, ० गंध ० । ० जिह्वा ०, ० रस ० । ० काय ०, ० स्पर्श ० । ० मन ०, ० धर्म ० । इस प्रकार, आबुसो ! प्रत्युत्पन्न धर्मोंमें आसक्त होता है । कैसे, आबुसो ! प्रत्युत्पन्न धर्मोंमें आसक्त नहीं होता ?—आबुसो ! जो पक्षु है, और जो रूप है, दोनों ही यह प्रत्युत्पन्न (= विद्यमान) हैं । यदि उस वर्तमानमें विज्ञान छन्द = रागसे प्रतिबद्ध नहीं होता । विज्ञानके छन्द = राग प्रतिबद्ध न होनेसे, उसे अभिनन्दित नहीं करता । उसका अभिनन्दन न करते प्रत्युत्पन्न धर्मोंमें आसक्त नहीं होता । ० श्रोत्र ०, ० शब्द ० । ० घ्राण ०, ० गंध ० । ० जिह्वा ०, ० रस ० । ० काय ०, ० स्पर्श ० । ० मन ०, ० धर्म ० । आबुसो ! इस प्रकार प्रत्युत्पन्न धर्मोंमें आसक्त नहीं होता ।

'आबुसो ! जो हमें मगवान्ने यह संक्षेपसे ० ' उठकर विहारमें चले गये—'अतीतका ०' । आबुसो ! मगवान्ने इस संक्षिप्त भाषणका अर्थ मैं इस प्रकार विस्तारसे जानता हूँ । इच्छा हो, तो तुम आबुसो ! मगवान्ने पास भी जाकर इस अर्थ (= बात)को पूछो, जैसा तुम्हें मगवान् बतलावे, वैसा चारण करो ।'

तब वह मिथु आबुसो ! मगवातावनके भाषणको अभिनन्दित = अनुमोदित कर, आसक्तसे उठ जहाँ मगवान् थे, वहाँ गये । जाकर मगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे उन मिथुमोने मगवान्से यह कहा—

“मन्ते ! भगवान् जो यह हमें ० कितारसे विभाग किये बिना ही आसनसे उठकर विहारमें चले गये—‘अतीतका ०’ । तब भगवान् के चले जानेके मोड़ेही समय बाद हमें यह हुआ—०^१, तब हमको यह हुआ—०^१ । ० उहाँ आयुष्मान् महाकाव्यायन थे, वहाँ गये । जाकर हमने आयुष्मान् महाकाव्यायनसे इस अर्थ को पूछा । तब हमें आयुष्मान् महाकाव्यायनने इस आकारसे, इन पदों (= वाक्यों) से, इन शब्दोंसे अर्थको विभाजित किया ।”

“मिथुजो ! महाकाव्यायन पंडित है । मिथुजो ! महाकाव्यायन महाप्रज्ञ है । मुझे भी, मिथुजो ! यदि तुम इस बातको पूछते, तो मैं भी इसका इसी प्रकार व्याख्यान करता, जैसा कि इसका महाकाव्यायनने व्याख्यान किया । यही इसका अर्थ है, इसी प्रकार इसे धारण करना ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिथुजोंने भगवान् के माधणको अभिनंदित किया ।

१३४—लोमसकंगिय-भदेकरत्त-सुत्तन्त (१।१।४)

भूत-मविष्यकी चिन्ता छोड़, वर्तमानमें लगे

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आश्वत्थीमें अनाथपिण्डिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

उस समय आयुष्मान् लोमसकंगिय (= लोमसक-अंगिक) शाक्य (देश)में, कपिल-वस्तुके न्यग्रोधाराममें विहार करते थे । तब प्रकाशवुक्त रात्रिमें, सारे न्यग्रोधारामको प्रकाशित करता, प्रकाशमानवर्णवाला चन्दन देवपुत्र जहाँ आयुष्मान् लोमसकंगिय थे, वहाँ गया । जाकर एक ओर खड़ा हुआ । एक ओर खड़े चन्दन देवपुत्रने आयुष्मान् लोमसकंगियसे यह कहा—

“भिन्नु ! भदेकरत्तके उद्देश और विभंग तुम्हें याद हैं ?”

“नहीं, आतुस ०” । क्या, आतुस ! तुमको याद है ० ?”

“सुझे भी, भिन्नु ! याद नहीं है ० । क्या तुम्हें, भिन्नु ! भदेकरत्तकी गाथायें याद हैं ?”

“नहीं, आतुस ! सुझे याद (नहीं) है ० । क्या, आतुस ! तुमको याद है ० ?”

“हाँ, भिन्नु ! मुझे भदेकरत्तकी गाथायें याद हैं ।”

“कैसे, आतुस ! तुमने भदेकरत्तकी गाथायें याद कीं ?”

“भिन्नु ! एक समय भगवान् जयस्त्रिंश देव (लोक)में पारिकवक (वृक्ष)के नीचे पांडुकम्बल (= लाल बुझाले नामकी)-शिलापर विहार करते थे । वहाँ भगवान्ने आश्विना देवों को भदेकरत्तके उद्देश और विभंग कहे—“अश्वीतका ०” भदेकरत्त कहते हैं” । भिन्नु ! इस प्रकार मैंने भदेकरत्तकी गाथाओंको याद किया । भिन्नु ! भदेकरत्तके उद्देश और विभंगको सीखो ०” आदि-ब्रह्मचर्यक है ।”

चन्दन देवपुत्र यह कह कर वहीं अंतर्धान हो गया ।

तब आयुष्मान् लोमसकंगिय उस रातके धीतनेपर, लयन-आसन सँभल, पाँच-चीवरले, जिधर आश्वती है, उधर पारिकाके लिये चल पड़े । क्रमशः पारिका करते, जहाँ आश्वती थी, जहाँ अनाथपिण्डिकका आराम जेतवन था, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् लोमसकंगियने भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! एक समय मैं शाक्य (देश)में कपिलवस्तुके न्यग्रोधाराममें विहार करता था । तब ० कोई देवपुत्र जहाँ मैं था, वहाँ आया । आकर एक ओर खड़ा हुआ ०” सुझे वह पोजा—“भिन्नु ! भदेकरत्तके उद्देश और विभंग तुम्हें याद हैं ?” ०” भिन्नु ! भदेकरत्तके उद्देश और विभंग को सीखो ०” आदि-ब्रह्मचर्यक है ।” ० भन्ते ! उस देवपुत्रने यह कहा, यह कहकर वहीं अंतर्धान

१ देखो पृष्ठ ५४७

२ देखो पृष्ठ ५४३-४४ ।

३ देखो पृष्ठ ५४६ ।

४ देखो ऊपर ।

हो गया । अच्छा हो, भन्ते ! भगवान् मुझे भरेकरसके उद्देश और विर्भगका उपदेश करें ।”

“क्या तू, मित्रु ! उस देवपुत्रको जानता है ?”

“नहीं, भन्ते ! मैं उस देवपुत्रको (नहीं) जानता ।”

“मित्रु ! वह चन्द्रन नामक देवपुत्र है । मित्रु ! चन्द्रन देवपुत्र मन लगा कर सबको चित्त से समन्वाहरण (= ठीक) कर, कान लगा धर्मको सुनता है । तो, मित्रु ! सुन अच्छी तरह मन में कर, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) आयुष्मान् लोमसकंगियने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—

“अतीतका ०^१ भरेकरस कहते हैं ।

“कैसे, मित्रु ! अतीतका अनुगमन करता है ?—०^१ इस प्रकार, मित्रु ! प्रत्युत्पन्न धर्म में आसक्त नहीं होता ।—‘अतीतका ०^१ भरेकरस कहते हैं’ ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् लोमसकंगियने भगवान्के भाषणको अभिर्निहित किया ।

१३५-चूल-कम्मविमंग-सुचन्त (३।४।५)

कर्मोंका फल

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् धावस्तीमें अनाथपिट्टिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब तोदेष्णपुत्र शुभ माणव, वहाँ भगवान् थे, वहाँ गया, वाकर भगवान्के साथ...संमो-
हन कर एक ओर बैठा । एक ओर बैठे ० शुभ माणवने भगवान्के यह कहा—

“भो गौतम ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है—मनुष्य ही होते, मनुष्य-रूपियोंमें हीनता, और
प्रणीतता (= उच्चता, उत्तमता) दिखाई पड़ती है ? भो गौतम ! वहाँ मनुष्य अल्पासु देखनेमें
आते हैं; दीर्घासु ०, बहु रोगी ०, अल्प रोगी (= अरोगी) ०, दुर्बर्ण (= कुरूप) ०,
वर्णवान् ०, अ-समर्थ (= अन्येदाक्ष्य) ०, सहोदाक्ष्य (= महासमर्थी) ०, अल्प-भोग ०
(= इन्द्रि) ०, महा-भोग ०, मोचकुलीन ०, उत्पचकुलीन ०, दुस्प्रज्ञ (= निरुद्धि) ०,
प्रज्ञावान् ०, भो गौतम ! क्या हेतु है ० प्रणीतता दिखाई पड़ती है ?”

“माणव ! प्राणी कर्म-फल (= कर्म ही धन है, जिनका) है, कर्म-दायाद, कर्म-योनि,
कर्म-वन्धु, कर्म-प्रतिधारण (= कर्म ही रखक है, जिनका) हैं । कर्म प्राणियोंको इस (हीन-
प्रणीततामें) विनक्त करता है ।”

“इस आप गौतमके संक्षिप्तसे कही, विस्तारसे विमात्रित न की गई बातका अर्थ मैं नहीं
समझता । अच्छा हो, आप गौतम इस प्रकार धर्म-उपदेश करें, जिसमें कि आपकी इस संक्षिप्तसे
कही ० बातका मैं विस्तारसे अर्थ जान जाऊँ ।”

“तो, माणव ! सुनो अच्छी तरह मतमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भो !”—(कह) ० शुभ माणवने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“यहाँ, माणव ! कोई स्त्री या पुरुष प्राणातिपाती, खट्, ओहितपाणि
(= मूत्र रेंगे हाथवाला), मार काटों रत, सारे प्राणि = मृतोंके विषयमें अ-दयापन्न होता है ।
इस प्रकार दुहीत = इस प्रकार समादत्त उस कर्मसे काया छोड़ मरनेके बाद, अपाय =
दुर्गति, विनिपात, नरकमें उत्पन्न होता है । यदि मनुष्यत्व (= मनुष्य योनि)में आता है, तो
वहाँ जहाँ उत्पन्न होता है, अल्पासु होता है । माणव ! ० प्राणातिपाती (= हिंसक) हो
निर्दयी हो विहरता—यह प्रतिपदा (= मार्ग) अस्वायुताकी ओर ले जानेवाली है । और यहाँ,
माणव ! कोई स्त्री या पुरुष दंष्टरहित, शस्त्ररहित ० दयापन्न प्राणातिपात छोड़, प्राणाति-
पातसे विरत होता है, सर्वत्र सारे प्राणि = मृतोंका हित = अनुकम्पक हो विहरता है । वह

१ देखो पृष्ठ १६९-७० ।

इस प्रकार गृहीत = इस प्रकार समादत्त उस कर्मसे काया डोब भरनेके बाद सुगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य योनिमें आता है, तो जहाँ जहाँ उत्पन्न होता है, दीर्घायु होता है। माणव ! ० प्राणातिपातसे विरत होना ० दयापन्न होना—यह प्रतिपदा दीर्घायुताकी ओर ले जानेवाली है।

“यहाँ माणव ! कोई स्त्री या पुरुष हाथ-डले-डंडे या शकसे प्राणियोंका मारनेवाला होता है, वह ० उस कर्मसे काया डोब भरनेके बाद ० नरकमें उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य योनिमें आता है, तो जहाँ जहाँ उत्पन्न होता है, बहुरोगी होता है। माणव ! ० ० प्राणियोंका मारने-वाला होना—यह प्रतिपदा बहुरोगिताकी ओर ले जानेवाली है। और माणव ! यहाँ कोई स्त्री या पुरुष ० प्राणियोंको मारनेवाला नहीं होता, वह ० उस कर्मसे ० स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य-योनिमें आता है, तो ० निरोध (= अन्धकार) होता है। ० यह प्रतिपदा अन्धकारताकी ओर ले जानेवाली है।

“यहाँ, माणव ! कोई स्त्री या पुरुष कभी बहुत परेशान रहनेवाला (= उपायात-बहुल) होता है, जो भी कहनेपर बुरा मान लेता है, कुपित होता है, झोह कर लेता है, कोप = द्वेष = अ-प्रत्यय प्रकट करता है। वह ० उस कर्मसे ० नरकमें उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य योनिमें आता है, तो ० दुर्बल (= कुरुप) होता है। ०—यह प्रतिपदा दुर्बलताकी ओर ०। किन्तु, माणव ! यहाँ कोई स्त्री या पुरुष ० न कोपी है, न बहुत परेशान रहनेवाला—बहुत भी कहनेपर बुरा नहीं मानता, कुपित नहीं होता, झोह नहीं कर लेता, कोप ० नहीं प्रकट करता। वह ० उस कर्मसे ० स्वर्गमें उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य-योनिमें आता है, तो ० प्रासादिक (= सुन्दर) होता है। ०—यह प्रतिपदा प्रासादिकताकी ओर ०।

“यहाँ, माणव ! कोई स्त्री या पुरुष ब्राह्मण करनेवाला होता है, बूसरेके लाभ, सत्कार, गुरु-कार, भक्षण = चंदन, पूजनमें, ईर्ष्या करता है, द्वेष करता है, ईर्ष्या बाँधता है। वह ० इस कर्मसे ० नरकमें उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य-योनिमें आता है, तो अस्वशाप्य होता है। ०—यह प्रतिपदा अस्वशाप्यताकी ओर ०। और, माणव ! यहाँ कोई स्त्री या पुरुष ब्राह्मण करनेवाला नहीं होता, बूसरेके लाभ ० में ईर्ष्या नहीं करता, द्वेष नहीं करता, ईर्ष्या नहीं बाँधता है। वह ० इस कर्मसे ० स्वर्गमें उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य-योनिमें आता है, तो ० भद्रेशाप्य होता है। ०—यह प्रतिपदा भद्रेशाप्यताकी ओर ०।

“यहाँ, माणव ! कोई स्त्री या पुरुष अन्न या वाह्यको अन्न, पान, वस्त्र, धान, माला-गीध-विलेपन, शय्या, निवास स्थान, प्रदीप (आदि) का देनेवाला नहीं होता। वह ० इस कर्मसे ० नरकमें उत्पन्न होता है, यदि मनुष्य-योनि में आता है, तो ० अन्न-भोग (= इन्द्रि) होता है। ०—यह प्रतिपदा अन्न-भोगताकी ओर ०। और माणव ! यहाँ कोई स्त्री या पुरुष अन्न या वाह्यको अन्न-पान ० का देनेवाला होता है। वह ० इस कर्मसे ० स्वर्गमें उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य योनिमें आता है, तो ० महा-भोग (= धनी) होता है। ०—यह प्रतिपदा महा-भोगता की ओर ०।

“यहाँ, माणव ! कोई स्त्री या पुरुष सत्त्व, अभिमानि होता है, अभिवादीयको अभि-वादन नहीं करता, प्रत्युत्पातव्यका प्रत्युत्थान नहीं करता, आसनार्थको आसन नहीं देता, मार्गार्थके सिने मार्गको नहीं (छोड़) देता, सत्कर्तव्यका सत्कार नहीं करता, गुरुकर्तव्यका गुरुकार (= पूजा) नहीं करता, मातृनीपका मान नहीं करता, पूजनीयकी पूजा नहीं करता। वह ० इस कर्मसे ० नरकमें उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य-योनिमें आता है, तो ० मोक्षकुलीन होता है।

०—यह प्रतिपदा भी बीचकुलीनताकी ओर ० । और, भाणव ! यहाँ कोई स्त्री या पुरुष अ-
सुख, अन्-अनिष्टाभी होता है; अभिवादनोपको अभिवादन करता है, ० अत्युत्थान करता है, ०
वासन देता है, ० मार्ग देता है, ० सत्कार करता है, ० गुरुकार करता है, ० मान करता है, ०
पूजा करता है । वह ० इस कर्मसे ० स्वर्गमें उत्पन्न होता है । यदि मनुष्य-योनिमें जाता है, तो ०
उच्चकुलीन होता है । ०—यह प्रतिपदा उच्चकुलीनताकी ओर ० ।

“यहाँ, भाणव ! कोई स्त्री या पुरुष अमण या ब्राह्मणके पास जाकर नहीं पूछनेवाला
होता—भन्ते ! क्या कुशल (= अच्छा) है, क्या अकुशल है ? क्या स्वास्थ्य (= स-दोष) है, क्या
बिरह्य (= निर्दोष) ? क्या सेवितव्य है, क्या नहीं सेवितव्य है ? क्या मेरा करना दीर्घकाल तक
अहित = दुःखके लिये होगा, और क्या मेरा करना दीर्घकाल तक हित = सुखके लिये होगा ?
यह ० इस कर्मसे ० नरकमें उत्पन्न होता है, यदि मनुष्य-योनिमें जाता है, तो ० दुःप्रज
होता है । ०—यह प्रतिपदा दुःप्रजताकी ओर ० । और, भाणव ! यहाँ कोई स्त्री या पुरुष अमण
या ब्राह्मणके पास जाकर पूछनेवाला होता है—भन्ते ! क्या कुशल है ० दीर्घकाल तक हित =
सुखके लिये होगा ? वह ० इस कर्म से ० स्वर्गमें उत्पन्न होता है । यदि मनुष्य-योनिमें जाता है,
तो महाप्रज होता है । ०—यह प्रतिपदा महाप्रजताकी ओर ० ।

“इस प्रकार, भाणव ! अन्धाधुताकी ओर छे जनिवाली प्रतिपदा (= मार्ग) अन्धाधु-
त्वमें पहुँचती है । दीर्घायुता ० । बह्वावाधता (= बहुरोपीयता) ० । अन्धावाधता ० । दुर्वर्तता
० । प्रसादिकता ० । अन्वेष्टारूपता ० । महेशारूपता ० । अपभोगता ० । महा-भोगता ० । बीच-
कुलीनता ० । उच्चकुलीनता ० । दुष्प्रजता ० । महाप्रजता ० ।

“भाणव ! प्राणी कर्मत्वक है ० । कर्म प्राणियोंको इस हीन-प्रणीततामें विनक्त
करता है ।”

ऐसा कहनेपर तोदेवपुत्र शुभ (= सुभ) भाणवने भगवान्से यह कहा—

“आश्वर्ष ! भो गौतम ! आश्वर्ष !! भो गौतम ! जैसे भीषेको लोधा करदे ०^१ आप गौतम
आजसे मुझे अंजलिपद धारणागत, उपासक स्वीकार (= धारण) करें ।”

१३६—महा-कम्म-विमंग-सुत्तन्त (३।४।६)

कर्मोंका फल

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें वेणुवन कलन्दक-निवापमें विहार करते थे ।

उस समय आयुष्मान् समिद्धि (= समृद्धि) जंगलकी कुट्टिपामें विहार करते थे । तब पोटलि-पुत्र परिव्राजक जंबाविहार (= टहलने) के लिये टहलते विचरते, जहाँ आयुष्मान् समिद्धि थे, वहाँ गया । जाकर आयुष्मान् समिद्धि के साथ "संभोदन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे पोटलि-पुत्र परिव्राजकने आयुष्मान् समिद्धिसे यह कहा—

"आयुस समिद्धि ! मैंने इसे अमण गौतमके सुक्खसे सुना है, सुक्खसे प्रवृण किया है—'मोक्ष (= निष्फल) है कायिक कर्म, मोक्ष है वाचिक-कर्म, मानस कर्म ही सब है । क्या ऐसी (कोई) समापत्ति (= समाधि) है, जिस समापत्तिको प्राप्त कर कुछ नहीं वेदन (= अनुभव) करता ।"

"आयुस पोटलिपुत्र ! मत ऐसा कहो, आयुस पोटलिपुत्र ! मत ऐसा कहो । मत भगवान्-पर झूठ लगानो (= धम्माक्खान करो), भगवान्-पर झूठ लगाना अच्छा नहीं । भगवान् ऐसा नहीं कह सकते—'मोक्ष है कायिक कर्म ० मानसकर्म ही सब है ।' और आयुस ! है ऐसी समापत्ति, जिस समापत्तिको प्राप्त कर कुछ नहीं वेदन करता ।"

"आयुस समिद्धि ! कितने चिरसे प्रव्रजित हुये ?"

"कुछ चिर नहीं, आयुस ! तीन वर्ष (हुये) ।"

"वहाँ, हम स्पर्धर (= वृद्ध) भिक्षुओंको क्या कहेंगे, जब कि (एक) बड़ा भिक्षु इस प्रकार (अपने) शास्त्रा (= गुरु) परिरक्षा करनेको तैयार है । आयुस समिद्धि ! जानते हुये काय-वचन-मनसे कर्म करके क्या संवेदन करता है ?"

"आयुस पोटलिपुत्र ! जानते हुये काय-वचन-मनसे कर्म करके वह दुःख संवेदन करता है ।"

तब पोटलिपुत्र परिव्राजकने आयुष्मान् समिद्धि के भाषणको न अभिनन्दित किया, न प्रतिकोशित (= निन्दित) किया । बिना अभिनन्दित-प्रतिकोशित किये आसनसे उठकर चला गया ।

तब आयुष्मान् समिद्धि, पोटलि-पुत्र परिव्राजकके चले जानेके थोड़ीही देर बाद, जहाँ आयुष्मान् आनन्द थे, वहाँ गये । जाकर आयुष्मान् आनन्दके साथ "संभोदन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् समिद्धिने जो कुछ पोटलिपुत्र परिव्राजकके साथ कथासंलाप हुआ था, वह सब आयुष्मान् आनन्दको कह सुनाया । ऐसा कहनेपर आयुष्मान् आनन्दने आयुष्मान् समिद्धिसे यह कहा—

"आयुस समिद्धि ! भगवान् के दर्शनके लिये यह क्या (रूपी) मंड है, चलो आयुस समिद्धि ! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ चलें । चल कर इस अर्थ (= बात)को भगवान् से कहेंगे, जैसे

इसे भगवान् बतलायेंगे, वैसे उसे धारण करेंगे ।”

“अच्छा, आनुस !” (कह) आयुष्मान् समिद्धिने आयुष्मान् आनन्दको उत्तर दिया ।

तब आयुष्मान् आनन्द और आयुष्मान् समिद्धि जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् आनन्दने जो कुछ आयुष्मान् समिद्धिका पोटलिपुत्र परिव्राजकके साथ कथा-संलाप हुआ था, वह सब भगवान्‌को कह सुनाया, ऐसा कहनेपर भगवान्‌ने आयुष्मान् आनन्दसे यह कहा—

“आनन्द ! पोटलिपुत्र परिव्राजकको देखनेकी भी बात मुझे मालूम नहीं है, कहाँसे इस तरहका कथा संलाप होगा ? आनन्द ! इस मोघपुरुष समिद्धिने पोटलिपुत्र परिव्राजकको विभाग करके उत्तर देने लायक प्रश्नका एकांशसे उत्तर दिया ।”

ऐसा कहनेपर आयुष्मान् उदासीने भगवान्‌से यह कहा—

“भन्ते ! आयुष्मान् समिद्धिने क्या क्वाल करके यह कहा—जो कुछ वेदन (= अनुभव) है, वह दुःख-विषयक है ?”

तब भगवान्‌ने आयुष्मान् आनन्दको खन्धोहित किया—“आनन्द ! देख रहे हो, तुम इस मोघ पुरुष उदासीके उन्मत्तको । आनन्द ! मैंने इसी वक्त जान लिया कि यह मोघपुरुष उदासी दुःखको जगते हुये ज्योतिशः (= मूलपर बिना ध्यान दिने) दुःखकी छायापेगा । आनन्द ! आराममें ही पोटलिपुत्र परिव्राजकने तीन वेदनायें पूछीं, और आनन्द ! इस मोघपुरुष समिद्धिको पोटलिपुत्र परिव्राजकके वैसे पूछनेपर ऐसा उत्तर देना चाहिये था—‘आनुस पोटलिपुत्र ! जानते हुये काय-वचन-मनसे कर्म करके सुखवेदनीय (= जिसका अनुभव सुखमय है) सुखको वह अनुभव करेगा । आनुस ! पोटलिपुत्र ! जानते हुये काय-वचन-मनसे कर्म करके दुःखवेदनीय दुःखको वह अनुभव करेगा । ० कर्म करके अनुःख-असुख-वेदनीय अनुःख-असुखको वह अनुभव करेगा । आनन्द ! इस प्रकार पोटलिपुत्र परिव्राजकको उत्तर देकर मोघपुरुष समिद्धि ठीकसे उत्तर देता । और आनन्द ! कोई कोई अण्णतीर्थिक परिव्राजक बाल (= अज्ञ) = अ-व्यक्त हैं, कोई कोई तथागतके महाकर्म-विभंग^१ को जानेंगे । क्या, आनन्द ! तुम सुनोगे, तथागतको महाकर्मविभंग विभाजित करते ?”

“इसीका भगवान् काल है, इसीका सुगत काल है, कि भगवान् महाकर्मविभंग विभाजित करें । भगवान्‌से सुनकर मिथु धारण करेंगे ।”

“तो, आनन्द ! सुनी, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !” (कह) आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ने यह कहा—“आनन्द ! लोकमें चार (प्रकारके) पुद्गल (= पुरुष) विद्यमान हैं । कौनसे चार ?—वहाँ, आनन्द ! कोई पुद्गल हिंसक होता है, चोर, अभिचारी, लूट, जुगलखोर, कटुभाषी, प्रजापी, अभिघ्नालु (= शत्रु), व्यापाद (= द्रोह)-पुन-चित्तवाला, मिथ्या-दष्ट होता है; वह काया छोड़ मरनेके बाद अपाय = दुर्गति, विनिपात, नरकमें उत्पन्न होता है । और वहाँ आनन्द ! कोई पुद्गल हिंसक ० ^१ मिथ्यादष्ट होता है; (किन्तु) वह काया छोड़ मरनेके बाद सुगति, स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है । और वहाँ आनन्द ! कोई पुद्गल अहिंसक, अ-चोर, अ-अभिचारी, लूट नहीं, जुगलखोर-नहीं, कटुभाषी-नहीं, प्रजापी-नहीं, अ-अभिघ्नालु, अ-व्यापाद-चित्त, अन्या-दष्ट होता है; वह काया छोड़ मरनेके बाद सुगति स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता

^१ इसी मूल-कर्मविभंग सुत्तन भी (५५२-५४ पृष्ठ)

है। और यहाँ आनन्द ! कोई पुद्गल अ-हिंसक • सम्यग्-दृष्टि होता है; (किन्तु) वह काया छोड़ मरनेके बाद • नरकमें उत्पन्न होता है।

(१) “यहाँ, आनन्द ! कोई अमण या ब्राह्मण आतप्य • उद्योग, अग्रमाद (= सकलत-कौर), और अच्छी तरह समझ करनेसे मुक्त हो, इस प्रकारकी चेतः समाधि (= चित्तकी एकामता) को प्राप्त होता है; कि जिस चित्तकी समाधिके कारण अमृततुष विजुह दिव्य चक्षुसे उस पुद्गलको देखता है।—वह देखता है—यह पुद्गल हिंसक • मिथ्या दृष्टि था, वह (अब) काया छोड़ मरनेके बाद • नरकमें उत्पन्न हुआ है। वह (समाधि-प्राप्त पुरुष) ऐसे कहता है—‘पाप कर्म हैं, दुश्चरित (= पाप कर्म) का विपाक भी है। और हमने (ऐसे) पुद्गलको देखा है—कोई पुरुष यहाँ हिंसक • मिथ्या-दृष्टि था, वह काया छोड़ मरनेके बाद • नरकमें उत्पन्न हुआ। वह वह (भी) कहता है—‘जो कोई हिंसक • मिथ्या-दृष्टि होता है, वह सारे ही • मरने के बाद • नरकमें उत्पन्न होते हैं। जो ऐसे जानते हैं, वही ठीक जानते हैं। जो अन्यथा जानते हैं, उनका ज्ञान मिथ्या है। इस प्रकार उसे जो स्वयं ज्ञान, स्वयं दृष्ट, स्वयं विदित है, उसे वह हृदयसे पकड़ कर, आग्रह करके आग्रहके साथ उसका व्यवहार करता है—यही सच है, और सब मिथ्या (= मोघ) है।

(२) “और यहाँ, आनन्द ! कोई अमण या ब्राह्मण • उद्योग • से मुक्त हो • चित्तकी समाधिके कारण • दिव्य-चक्षुसे • देखता है—यह पुद्गल हिंसक • मिथ्या दृष्टि था, वह अब • मरनेके बाद • स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुआ है। वह ऐसा कहता है—‘नहीं है पापकर्म, नहीं है दुश्चरित का विपाक’; हमने ऐसे पुद्गलको देखा है—स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुआ है। वह ऐसा कहता है—‘जो (कोई) हिंसक • मिथ्या-दृष्टि होता है, वह सभी • मरनेके बाद • स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है। जो ऐसा जानते हैं, वही ठीक जानते हैं • और सब मिथ्या है।

(३) “और यहाँ, आनन्द ! • दिव्य-चक्षुसे • देखता है—यह पुद्गल अ-हिंसक • सम्यग्-दृष्टि था, वह (अब) • मरनेके बाद • स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुआ है। वह ऐसा कहता है—‘है पुण्य-कर्म, है सुचरितका विपाक; हमने ऐसे पुद्गल को देखा है—• स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुआ है वह ऐसा कहता है—‘जो (कोई) अ-हिंसक • सम्यग्-दृष्टि होता है, वह सभी • मरनेके बाद • स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है। जो ऐसा जानते हैं, वही ठीक जानते हैं • और सब मिथ्या है।

(४) “और यहाँ, आनन्द ! • दिव्य-चक्षुसे • देखता है—यह पुद्गल अ-हिंसक • सम्यग्-दृष्टि था, वह (अब) • मरनेके बाद • नरकमें उत्पन्न हुआ है। वह ऐसा कहता है—‘नहीं है पुण्य-कर्म, नहीं है सुचरितका विपाक; हमने ऐसे पुद्गलको देखा है—• नरकमें उत्पन्न हुआ है—वह ऐसा कहता है—‘जो (कोई) अ-हिंसक • सम्यग्-दृष्टि होता है, वह सभी • मरनेके बाद • नरकमें उत्पन्न होता है। जो ऐसा जानते हैं, वही ठीक जानते हैं • और सब मिथ्या है।

(५) “यहाँ, आनन्द ! जो अमण या ब्राह्मण यह कहता है—‘पाप कर्म हैं, दुश्चरितका विपाक है’—उसकी इस बातसे मैं सहमत हूँ। और जो कि वह यह कहता है—‘मैंने ऐसा पुद्गल देखा है; • हिंसक • मिथ्या दृष्टि था, वह (अब) स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुआ। •—जो • मिथ्या-दृष्टि होता है, वह सभी • मरनेके बाद • नरकमें उत्पन्न होता है’—उसकी इस बातसे मैं सहमत नहीं हूँ। और जो वह यह कहता है—‘जो ऐसा जानते हैं, वही ठीक जानते हैं, जो अन्यथा जानते हैं, उनका ज्ञान मिथ्या है’—उसकी इस बातसे भी मैं सहमत नहीं। और जो कि—‘जो उसे स्वयं ज्ञात • वह • आग्रहके साथ उसका व्यवहार करता है—यही सच है, और सब मिथ्या’—उसकी इस बातसे भी मैं सहमत नहीं। सो कित्त हेतु ?—आनन्द ! महाकर्म-विमर्श

(= कर्मके फलके विनाशजन करने)के विषयमें तथागतका ज्ञान दूसरी तरह है ।

(२) 'वहाँ, जानन्द ! जो वह अमण या ब्राह्मण यह कहता है—'नहीं है पाप कर्म', नहीं है दुश्चरितका विपाक'—उसको इस बातसे मैं सहमत नहीं । और जो कि वह यह कहता है—'हमने ऐसे पुद्गलको देखा है • स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुआ है'—• मैं सहमत नहीं । •—जो • मिथ्यादृष्टि होता है, वह सभी • मरनेके बाद • स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है'—• सहमत नहीं । और जो कि वह यह कहता है—'जो ऐसा जानते हैं, वही ठीक जानते हैं, जो अन्यथा जानते हैं, उनका ज्ञान मिथ्या है'—• मैं सहमत नहीं । और जो कि—'जो उसे स्वयं ज्ञात • वह आग्रहके साथ उसका व्यवहार करता है—'यही सच है, और सच मिथ्या'—उसकी इस बात से भी मैं सहमत नहीं । सो किस हेतु ?—जानन्द ! महाकर्म-विभंगके विषयमें तथागतका ज्ञान दूसरी तरह होता है ।

(३) 'वहाँ, जानन्द ! जो वह अमण या ब्राह्मण यह कहता है—'हैं पुण्य कर्म, है सुचरित का विपाक'—उसकी इस बातसे मैं सहमत हूँ । और जो कि वह यह कहता है—'हमने ऐसे पुद्गल को देखा है • स्वर्गलोक में उत्पन्न हुआ है'—• मैं सहमत हूँ । •—जो • सम्यग्-दृष्टि होता है, वह सभी • मरनेके बाद • स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है'—• मैं सहमत हूँ । जो कि वह यह कहता है—'जो ऐसा जानते हैं, वही ठीक जानते हैं, जो अन्यथा जानते हैं, उनका ज्ञान मिथ्या है'—• मैं सहमत नहीं । और जो कि—'जो उसे स्वयं ज्ञात • वह आग्रह के साथ उसका व्यवहार करता है—'यही सच है, और सच मिथ्या'—उसकी इस बातसे भी मैं सहमत नहीं । सो किस हेतु ?—जानन्द ! महाकर्म-विभंगके विषयमें तथागतका ज्ञान दूसरी तरह है ।

(४) 'वहाँ, जानन्द ! जो वह अमण या ब्राह्मण यह कहता है—'नहीं है पुण्य कर्म, नहीं है सुचरितका विपाक'—• मैं सहमत नहीं हूँ । •—'हमने ऐसे पुद्गलको देखा है • नरक में उत्पन्न हुआ है'—• मैं सहमत नहीं हूँ । •—जो • सम्यग्-दृष्टि होता है, वह सभी • मरनेके बाद • नरकमें उत्पन्न होता है'—• मैं सहमत नहीं । •—'जो ऐसा जानते हैं, वही ठीक जानते हैं, जो अन्यथा जानते हैं, उनका ज्ञान मिथ्या है'—• मैं सहमत नहीं । और जो कि—'जो उसे स्वयं ज्ञात • वह आग्रहके साथ उसका व्यवहार करता है—'यही सच है, और सच मिथ्या'—• मैं सहमत नहीं । सो किस हेतु ?—जानन्द ! महाकर्म-विभंगके विषयमें तथागतका ज्ञान दूसरी तरह है ।

(१) 'जानन्द ! जो वह पुद्गल हिंसक • मिथ्यादृष्टि होता है, • मरनेके बाद • नरकमें उत्पन्न होता है; तो उस दुःखवेदनीय (= जिसका अनुभव दुःखमय होगा) पाप कर्मको उसने पहिले ही कर लिया होता है; या • प्रोछे कर लिया होता है; या मरणकालमें उसने मिथ्यादृष्टि ग्रहण = समाहित की होती है; इसलिये वह • मरनेके बाद • नरकमें उत्पन्न होता है । और जो कि वह वहाँ हिंसक • मिथ्यादृष्टि होता है, उसका विपाक वह (या तो) इसी जन्ममें भोग लेता है, या उत्पन्न होकर दूसरी बार ।

(२) 'जानन्द ! जो वह पुद्गल हिंसक • मिथ्यादृष्टि होता है, • मरनेके बाद • स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है; तो उस सुखवेदनीय पुण्यकर्मको उसने पहिले ही कर लिया होता है, या • प्रोछे कर लिया होता है; या मरणकालमें उसने सम्यग्-दृष्टि ग्रहण • की होती है; इसलिये • मरनेके बाद • स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है । और जो कि वह वहाँ हिंसक • मिथ्यादृष्टि होता है, उसका विपाक वह (या तो) इसी जन्ममें भोग लेता है, या उत्पन्न होकर दूसरी बार भोगेगा ।

(३) "आनन्द ! जो वह पुद्गल अहिंसक • सम्बन्ध-रहित होता है, • मरनेके बाद • स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है; तो • पुण्यकर्मको उसने पहिले ही कर लिया होता है, या • पीछे कर लिया होता है, या मरणकालमें उसने सम्बन्ध-रहित ग्रहण • की होती है; इसलिये • मरनेके बाद • स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है । और जो कि वह यहाँ अ-हिंसक • सम्बन्ध-रहित होता है, उसका विपाक वह (या तो) इसी जन्ममें भोगता है, या उत्पन्न होकर दूसरी पार ।

(४) "आनन्द ! जो वह पुद्गल अहिंसक • सम्बन्ध-रहित होता है, • मरनेके बाद • मरकमें उत्पन्न होता है; तो • पापकर्मको उसने पहिले ही कर लिया होता है, या • पीछे कर लिया होता है; या मरणकालमें उसने मिथ्या-रहित ग्रहण • की होती है; इसलिये • मरनेके बाद • मरकमें उत्पन्न होता है । और जो कि वह यहाँ अ-हिंसक • सम्बन्ध-रहित होता है, उसका विपाक वह (या तो) इसी जन्ममें भोग लेता है, या उत्पन्न होकर दूसरी पार ।

"इस प्रकार, आनन्द ! (१) अ-भय-आमास (कुरेको तरह दिक्काई पड़नेवाले) अ-भय (= डरे, पाप) कर्म है; (२) भव्यामास भी अ-भय कर्म है; (३) जव्यामास भी भय कर्म है; (४) अ-जव्यामास भी भयकर्म है ।"

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो वासुष्मान् आनन्द ने भगवान् के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१३७—सञ्जायतन-विभंग-सुत्तन्त (३।४।७)

छः आयतन । ज्ञानना और निष्कामना । स्मृति-प्रस्थान

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् धावस्तोमें अनाथपिट्टिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ, भगवान्ने मिश्रुभोंको संबोधित किया—“मिश्रुभों !”

“अदन्त !” कह उन मिश्रुभोंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“मिश्रुभों ! तुम्हें सञ्जायतन-विभंग (= छः आयतनोंका विभाग) उपदेशता हूँ, उसे सुनो, अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) उन मिश्रुभोंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“मिश्रुभों ! छः आध्यात्मिक (शरीरके भीतरके) आयतनोंको जानना चाहिये, छः बाह्य आयतनोंको जानना चाहिये । छः विज्ञान-कार्योंको जानना चाहिये । छः स्पर्श-कार्योंको जानना चाहिये । अठारह मनोपविचारों (= मन-उपविचारों)का जानना चाहिये । जत्तीस सप्तपदोंको जानना चाहिये । वहाँ—‘इसके द्वारा इसे छोड़ो’ । तीन स्मृति-प्रस्थान, जिनहें आर्य ० (सुप्र, मोक्षभागी पुरुष) सेवन करते हैं, जिनहें सेवन करते आर्य शास्ता, राण (= अनुवादि-अनुदाय)को अनुशासन (= उपदेश) कर सकता है । वह (ऐसा शास्ता) गुम्पाचार्यों^१में अनुपम पुरुष-दम्य-सारवी (पुरुषोंको विनय सिखानेवाला बाहुक-सवार) कहा जाता है ।

“यह सञ्जायतन-विभंगका उद्देश (प्रतिपाद्य विषयोंका नाम गिनना) है ।

“जो यह कहा—‘छः आध्यात्मिक आयतनों (= इन्द्रियोंको) जानना चाहिये’—यह किसके द्वारेमें कहा ?—(१) चक्षु-आयतन, (२) श्रोत्र-आयतन, (३) घ्राण-आयतन, (४) जिह्वा-आयतन, (५) काय-आयतन, और (६) मन-आयतन, ० वह इन्हींके द्वारेमें कहा । जो यह कहा—‘छः बाह्य आयतनों (= विषयों)को जानना चाहिये’—यह किसके द्वारेमें कहा ?—(१) रूप-आयतन, (२) शब्द ०, (३) गन्ध ०, (४) रस ०, (५) स्पर्श ०, और (६) धर्म-आयतन । ० वह इन्हींके द्वारेमें कहा । जो यह कहा—‘छः विज्ञान (= इन्द्रिय-विषय के योगसे प्राप्त ज्ञान) कार्योंको जानना चाहिये’—यह किसके द्वारेमें कहा ?—(१) अनु-विज्ञान, (२) श्रोत्र ०, (३) घ्राण ०, (४) जिह्वा ०, (५) काय ०, और (६) मनो-विज्ञान । ० वह इन्हींके द्वारेमें कहा । जो यह कहा—‘छः स्पर्श-कार्योंको जानना

^१ इन्द्रिय और विषयके संपर्कको स्पर्श वा स्पर्श कहते हैं ।

^२ बाह्यको ज्ञाननेमें पणित ।

चाहिये'—यह किसके धारमें कहा ?—(१) चक्षुः-संस्पर्श, (२) श्रोत्र ०, (३) घ्राण ०, (४) जिह्वा ०, (५) काय ०, और (६) मनः-संस्पर्श ० । यह इन्हींके धारमें कहा । जो यह कहा—'अठारह मनोप विचारों'को जानना चाहिये'—यह किसके धारमें कहा ?—(१) चक्षुसे रूपको देखकर रूपको सौमनस्य-स्थानीय^१ उपविचारता (= विचारता) है; (२) दौर्मनस्य^२ स्थानीय उपविचारता है; (३) उपेक्षा^३ स्थानीय उपविचारता है । (४-६) श्रोत्रसे शब्दको सुनकर ० । (७-९) घ्राणसे गंधको सूँघ कर ० । (१०-१२) जिह्वासे रसको चखकर ० । (१३-१५) काया से स्पर्शको छू कर ० । (१६-१८) मनसे धर्मोंको जानकर ० । इस प्रकार छः सौमनस्यके उप-विचार, छः दौर्मनस्यके उपविचार, और छः उपेक्षाके उपविचार—इन अठारह मनोपविचारोंको जानना चाहिये—यह जो कहा, यह इन्हींके धारमें कहा । "जो यह कहा—'छत्तीस सप्तपदोंको जानना चाहिये'—यह किसके धारमें कहा ? (१-६) गेय (श्रोम) सम्बन्धी सौमनस्य, (७-१२) निष्कामता संबंधी सौमनस्य, (१३-१८) छः गेय-सम्बन्धी दौर्मनस्य, (१९-२४) छः निष्कामता संबंधी-दौर्मनस्य, (२५-३०) छः गेय संबंधी उपेक्षा, (३१-३६) छः निष्कामता-संबन्धी उपेक्षा ।

"कौन हैं गेय-संबन्धी सौमनस्य ?—(१) इष्ट = कान्त = भवाप = भवोरम लोकाभिप (= लौकिक भोग)से संबद्ध चक्षु (- द्वारा) विज्ञेय रूपोंके लाभको लाभके तौरपर समझते, या अतीत = निवृत्त (= मृष्ट), विपरिणत (= विचार-प्राप्त) (० रूपोंके) पहिले प्राप्त लाभको; लाभके तौरपर स्मरण करते । सौमनस्य उत्पन्न होता है । जो इस प्रकारका सौमनस्य है; वह गेय-संबन्धी (= गेय-सहित, गेय-संबद्ध) सौमनस्य कहा जाता है । (२) ० श्रोत्र-विज्ञेय शब्दोंके लाभको ० । (३) ० घ्राण-विज्ञेय गंधोंके लाभको ० । (४) ० जिह्वा-विज्ञेय रसोंके लाभको ० । (५) ० काय-विज्ञेय स्पर्शभोगोंके लाभको ० । (६) ० मनो-विज्ञेय धर्मोंके लाभको ० । यह कहा जाता है गेय संबंधी (गेय-सहित) सौमनस्य । यह छः गेय-संबन्धी सौमनस्य हैं ।

"क्या हैं छः निष्कामता संबंधी सौमनस्य ?—(७) रूपोंकी अनित्यता, विपरिणाम, निरोध, विरागको जानकर—(जो) पूर्व (काल)के रूप थे, और जो इस समय हैं, वह सभी रूप अनित्य, दुःख, विपरिणाम धर्मों (= चिह्नित होनेवाले) हैं—इस प्रकार इसे अच्छी तरह प्रज्ञाये देखते सौमनस्य उत्पन्न होता है । जो इस प्रकारका सौमनस्य है; वह निष्कामता-संबन्धी (= नेत्रछत्रम-वित्त) सौमनस्य कहा जाता है । (८) शब्दोंकी अनित्यता ० (९) गंधोंकी अनित्यता ० । (१०) रसोंकी अनित्यता ० । (११) स्पर्शभोगोंकी अनित्यता ० । (१२) धर्मोंकी अनित्यता ० । यह कहा जाता है, निष्कामता-संबन्धी सौमनस्य ।—यह छः निष्कामता-संबन्धी सौमनस्य हैं ।

"क्या हैं, छः गेय-संबन्धी दौर्मनस्य ?—(१३) इष्ट ० रूपोंके अलाभको अलाभके तौरपर समझते, या अतीत ० (० रूपोंके) पहिले अलाभको अ-लाभके तौरपर स्मरण करते दौर्मनस्य (= खेद) उत्पन्न होता है । जो इस प्रकारका दौर्मनस्य है; वह गेय-संबन्धी दौर्मनस्य कहा जाता है । (१४) इष्ट ० शब्दोंके अलाभको ० । (१५) इष्ट ० गंधोंके अलाभको ० । (१६) इष्ट ० रसोंके अलाभको ० । (१७) इष्ट ० स्पर्शभोगोंके अ-लाभको ० । (१८) इष्ट ० धर्मोंके अ-लाभको ० । यह कहा जाता है, गेय-संबन्धी दौर्मनस्य ।—यह छः गेय-संबन्धी दौर्मनस्य हैं ।

^१ सौमनस्य आदि लानेवाले अनुभवपर मनकी क्रिया ।

^२ जिस स्थानमें सौमनस्य (= आनंदसे मिचित मनकी अवस्था) प्राप्त होता है ।

^३ दुःखमय अनुभवसे मनकी अवस्था ।

^४ न. दुःखमय न दुःखमय अनुभवसे मनकी अवस्था ।

“क्या है, छः निष्कामता-संबंधी दीर्घमनस्य ?—(१९) कर्पोंकी अनित्यता ० को जान कर ० अच्छी तरह प्रज्ञासे देख, अनुपम विमोक्षोंमें स्तुहा उपस्थापित करता है—‘अहो ! कब मैं इस जलवायुको (= आघतन) को प्राप्त हो विहरूँगा, जिस आघतनको प्राप्त कर आज कार्य (लोभ) विहर रहे है’—इस प्रकार अनुपम विमोक्षोंमें स्तुहा उपस्थापित करते, स्तुहाके कारण दीर्घमनस्य (= खेद) उत्पन्न होता है । जो इस प्रकारका दीर्घमनस्य है, यह कहा जाता है, निष्कामता संबंधी दीर्घमनस्य । (२०) शब्दोंकी अनित्यता ० । (२१) गंधोंकी अनित्यता ० । (२२) रसोंकी अनित्यता ० । (२३) स्पर्शवर्णोंकी अनित्यता ० । (२४) धर्मोंकी अनित्यता ० । यह कहा जाता है, निष्कामता-संबंधी दीर्घमनस्य ।—यह छः निष्कामता-संबंधी दीर्घमनस्य हैं ।

“क्या है, छः गेघ-संबद्ध उपेक्षायें ?—(२५) मूढ़, मन्द, पृथग्जन (= अनादी), बद्ध, (कर्म-) विपाकको-न-जोते, दुर्परिणाम-अ-दर्शी, भ्रष्ट, अनादी-बाह्यको चक्षुसे रूप देख कर उपेक्षा उत्पन्न होती है । जो इस प्रकारकी उपेक्षा है, यह रूपको (कालान्तरमें) अतिक्रमण नहीं कर सकती; इस लिये यह उपेक्षा गेघ-संबद्ध कही जाती है । (२६) ० श्रोत्रसे शब्द ० । (२७) ० दृष्टिसे गेघ ० । (२८) ० जिह्वासे रस ० । (२९) ० काशसे स्पर्श ० । (३०) ० मनसे धर्म ० इस लिये यह उपेक्षा गेघ-संबद्ध कही जाती है । यह छः गेघ-संबद्ध उपेक्षायें हैं ।

“क्या है, छः निष्कामता-संबद्ध उपेक्षायें ?—(३१) कर्पोंकी अनित्यता ० को जान कर ० अच्छी तरह प्रज्ञासे देखते उपेक्षा उत्पन्न होती है । जो इस प्रकारकी उपेक्षा है, वह (निष्कामता-) धर्मोंकी अतिक्रमण नहीं करती; इस लिये यह उपेक्षा निष्कामता-संबद्ध कही जाती है । (३२) शब्दोंकी ० । (३३) गंधोंकी ० । (३४) रसोंकी ० । (३५) स्पर्शवर्णोंकी ० । (३६) धर्मों की ० । यह छः निष्कामता-संबद्ध उपेक्षायें हैं ।

“यह जो कहा—‘छत्तीस सप्तपदोंको जानना चाहिये’—यह इन्हींके लिये कहा ।

“यह जो कहा—‘इसके द्वारा इसे छोड़ो’ यह किसके बारेमें कहा ?—वहाँ मिथुनो ! जो छः निष्कामता-संबद्ध सौमनस्य हैं, उनके द्वारा, उनको लेकर; जो वह छः गेघ-संबद्ध सौमनस्य हैं, उन्हें छोड़ो, उन्हें अतिक्रमण करो । इस प्रकार उनका प्रहाण होता है, इस प्रकार उनका अतिक्रमण होता है । वहाँ, मिथुनो ! जो छः निष्कामता-संबद्ध दीर्घमनस्य हैं, उनके द्वारा, उनको लेकर; जो वह छः गेघ-संबद्ध दीर्घमनस्य हैं, उन्हें छोड़ो, उन्हें अतिक्रमण करो । ० । वहाँ, मिथुनो ! जो छः निष्कामता-संबद्ध उपेक्षायें हैं, उनके द्वारा, उनको लेकर; जो वह छः गेघ-संबद्ध उपेक्षायें हैं, उन्हें छोड़ो, उन्हें अतिक्रमण करो । ० । वहाँ मिथुनो ! जो छः निष्कामता-संबद्ध सौमनस्य हैं, उनके द्वारा, उनको लेकर; जो वह छः निष्कामता-संबद्ध दीर्घमनस्य हैं, उन्हें छोड़ो, उन्हें अतिक्रमण करो । ० । वहाँ, मिथुनो ! जो छः निष्कामता-संबद्ध उपेक्षायें हैं, उनके द्वारा, उनको लेकर; जो वह छः निष्कामता-संबद्ध सौमनस्य हैं, उन्हें छोड़ो, उन्हें अतिक्रमण करो । ० । मिथुनो ! उपेक्षा नानार्थ है, नावा अर्थोंसे संबद्ध है । उपेक्षा एकाधी है । एक अर्थसे संबद्ध है । कौन है, मिथुनो ! उपेक्षा नानार्थी, नावा अर्थोंसे संबद्ध ?—हे मिथुनो ! उपेक्षा रूपोंमें, है शब्दोंमें, है गन्धोंमें, है रसोंमें, है स्पर्शवर्णोंमें । मिथुनो ! यह उपेक्षा नानार्थी है, नावा अर्थोंसे संबद्ध है । कौन है, मिथुनो ! उपेक्षा एकाधी, एक अर्थसे संबद्ध ?—हे मिथुनो ! उपेक्षा आकाशानन्त्यायतनसे संबद्ध, ० विज्ञानानन्त्यायतन ० ; ० आकिंचन्यायतन ० ; ० नैव-संज्ञा-वासंशयतनसे संबद्ध । मिथुनो ! यह उपेक्षा एकाधी है, एक अर्थसे संबद्ध । वहाँ, मिथुनो ! जो उपेक्षा एकाधी ० है, उसके द्वारा उसको लेकर; जो वह उपेक्षा नानार्थी ० है, उसे छोड़ो, उसे अतिक्रमण करो । इस प्रकार इसका प्रहाण होता है, इस प्रकार इसका अतिक्रमण होता है । अ-तन्मयताके द्वारा, अ-तन्मयताको लेकर,

मिथुनों ! जो यह एकाकी ० उपेक्षा है, उसे छोड़ो, उसे अतिक्रमण करो । इस प्रकार इसका प्रहाण ० अतिक्रमण होता है । मिथुनों ! यह जो कहा—'इसके द्वारा इसे छोड़ो'—यह इसीके बारेमें कहा ।

“यह जो कहा—‘तीन स्मृति-प्रस्थान, जिन्हें आर्य सेवन करते हैं, जिन्हें सेवन करते आर्य शास्त्रा गणका अनुशासन कर सकता है’—यह किसके बारेमें (किस लिये) कहा ?— (१) यहाँ मिथुनों ! अनुक्रमक, हितैषी शास्त्रा अनुकम्पा करके श्रावकों (= शिष्यों) को कर्म उपदेशते हैं—‘यह तुम्हारे हितके लिये है, यह तुम्हारे सुखके लिये है’ । उसे श्रावक नहीं सुनना चाहते, नहीं कान देते, अन्वजसे (हटाकर) वित्तको (उसमें) उपस्थित नहीं करते, और शास्त्राके शासन (= उपदेश) को अतिक्रमण कर उठते हैं । यहाँ मिथुनों ! तथ्यागत असन्तुष्ट नहीं होते, न असन्तोषको अनुभव करते हैं । स्मृति-सम्प्रजन्मके साथ जनासक्त हो विहरते (= रहते) हैं । मिथुनों ! यह प्रथम स्मृति-प्रस्थान कहा जाता है, जिसे कि आर्य सेवन करते हैं ० अनुशासन कर सकता है । (२) और फिर, मिथुनों ! ० शास्त्रा ० उपदेशते हैं—० । कोई कोई श्रावक इसे नहीं सुनना चाहते हैं ० शास्त्राके शासनको अतिक्रमण कर उठते हैं । कोई कोई श्रावक इसे सुनना चाहते हैं ० शास्त्राके शासनको अतिक्रमण नहीं करते । यहाँ, मिथुनों ! तथ्यागत न असन्तुष्ट होते हैं, न असन्तोषको अनुभव करते हैं, और नहीं तथ्यागत सुखा होते हैं, सुखी अनुभव करते हैं । उन दोनों (सन्तोष-असन्तोष) को छोड़ कर, तथ्यागत उपेक्षा हो स्मृति-सम्प्रजन्मके साथ विहरते हैं । मिथुनों ! यह द्वितीय स्मृति प्रस्थान कहा जाता है, जिसे कि आर्य सेवन करते हैं ० अनुशासन करते हैं । (३) और फिर, मिथुनों ! ० शास्त्रा ० उपदेशते हैं—० । श्रावक इसे सुनना चाहते हैं ० शास्त्राके शासनको अतिक्रमण नहीं करते । यहाँ, तथ्यागत संतुष्ट होते हैं, सन्तोष अनुभव करते हैं, स्मृति-सम्प्रजन्मके साथ अनासक्त हो विहरते हैं ! मिथुनों ! यह तृतीय स्मृति प्रस्थान कहा जाता है, जिसे कि आर्य सेवन करते हैं ० अनुशासन कर सकता है । ‘तीन स्मृति-प्रस्थान ०’—यह जो कहा, सो इसीके लिये कहा ।

“यह जो कहा—‘यह युग्माचार्योंमें अनुपम पुरुष-दम्प-सारथी कहा जाता है’—यह किसके बारेमें (किसलिये) कहा ?—मिथुनों ! इति दम्पक (= महावत) द्वारा चलाया सीखा हाथी एक ही दिशाको ओर धावता है—पूर्व या पश्चिम, या उत्तर या दक्षिण । मिथुनों ! अश्वदम्पक (= स्वार) से चलाया सीखा अश्व एक ही दिशाको धावता है ० । मिथुनों ! गोदम्पकसे चलाया सीखा बैल एक ही दिशाको धावता है ० । मिथुनों ! तथ्यागत अर्थात् सम्यक्संतुष्ट द्वारा चलाया पुरुष-दम्प (= सीखा पुरुष) आठों दिशाओंमें धावता है—(१) रूपी रूपोंको देखता है यह प्रथम दिशा है (२) भीतर (= अन्ध्यात्म) अ-रूप-संज्ञी (= रूपका ब्याल न रहनेवाला) बाहर रूपोंको देखता है, यह दूसरी दिशा है । (३) शुभ (= अनुकूल) से ही अधिशुक्त (= शुक्त) होता है, यह तीसरी दिशा है । (४) रूपसंज्ञाके सर्वथा छोड़नेसे ०^१ आकाशा-मन्त्राध्यायनको प्राप्त हो विहरता है, यह चौथी दिशा है । (५) ०^१ विज्ञानानन्त्यायतनको ० । (६) ०^१ आर्कियन्त्यायतनको ० । (७) ० नैक्संज्ञामासंज्ञायतनको ० । (८) नैक्संज्ञामा-संज्ञायतनको सर्वथा अतिक्रमणकर संज्ञा-वेदित-निरोधको प्राप्त हो विहरता है, यह आठवीं दिशा है । मिथुनों ! तथ्यागत ० द्वारा चलाया पुरुष-दम्प आठों दिशाको धावता है । यह जो कहा—‘यह युग्माचार्योंमें अनुपम पुरुष-दम्प-सारथी कहा जाता है’—यह इसीलिये कहा ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिथुनोंने भगवान्के भाषणको अभिर्निहित किया ।

१३८—उद्देश-विभंग-सुत्तन्त (३।४।८)

इन्द्रिय-संयम । ज्ञान । अ-परिग्रह

देसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अन्त्या-पिटिकके काराम जेतवनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भदन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! उद्देश-विभंग (= उद्देश-विभंग = व्याख्येय विषयोंके नामोंके विभाग) को तुम्हें उपदेयता है; इसे सुनो अच्छी तरह मनमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! भिक्षुको वैसे वैसे उपपरीक्षण कहना चाहिये, जैसे जैसे उपपरीक्षण करनेसे उसका विज्ञान (= चित्त) बाहर विक्षिप्त = विमृष्ट न हो, और भीतर (= अध्यात्म) जो अ-संस्थित होने के कारण परित्यक्त न हो । भिक्षुओ ! विज्ञानके बाहर विक्षिप्त = विमृष्ट न होने से, और अपने भीतर अ-संस्थित होने तथा उत्पादान (= ग्रहण), न करनेके कारण परित्यक्त न होने से, उसके लिये, आगे जन्म-जरा-मरण (रूपी) दुःखका हेतु नहीं रह जाता ।”

भगवान्ने यह कहा; यह कहकर सुगत भासनसे उठकर विहारमें चले गये । तब भगवान्के चले जानेके थोड़े ही समय बाद उन भिक्षुओंको यह हुआ—“० * आबुस कात्यायन ! ० * भगवान् यह संक्षेपसे उद्देश कहकर ० * विहारमें चले गये—“वैसे वैसे उपपरीक्षण करना चाहिये ० दुःखका हेतु नहीं रह जाता ।” तब हमको यह हुआ—० * विभाग करें आबुष्मान् महाकात्यायन ।”

“जैसे, आबुसो ! ० *”

“अच्छा आबुस”—कह उन भिक्षुओंने आबुष्मान् महाकात्यायनको उत्तर दिया ।

आबुष्मान् महाकात्यायनने यह कहा—“आबुसो ! जो भगवान् यह संक्षेपसे उद्देश कहकर ० * विहारमें चले गये—“वैसे वैसे उपपरीक्षण करना चाहिये ० दुःखका हेतु (= समुदय) नहीं रह जाता । आबुसो ! विचारसे अविभाजित भगवान्के इस संक्षिप्त भाषणका अर्थ मैं इस प्रकार विचारसे जानता हूँ । आबुसो ! कैसे विज्ञानको बाहर विक्षिप्त = विमृष्ट कहा जाता है ?—यहाँ, आबुसो ! वस्तुमें रूप देखकर भिक्षु का विज्ञान (= चित्त) रूपके निमित्त (= स्तिग्, रंग आदि) का अनुस्मरण करनेवाला होता है । रूपके निमित्तके स्वादमें प्रथित, ० यद्वा, ० संयोजनसे

* देखो पृष्ठ ५४६-४७ ।

(= संयोजन) संयोजित विज्ञान 'बाहर विक्षिप्त = विवृष्ट' कहा जाता है । श्रोत्रसे शब्द सुनकर
० । ज्ञानसे गीष् सँवकर ० । जिह्वासे रस चखकर ० । कायसे स्पर्शस्थ छूकर ० । मनसे धर्म
जानकर ० ।—इस प्रकार, आबुसो ! विज्ञानको बाहर विक्षिप्त = विवृष्ट कहा जाता है ।

"आबुसो ! कैसे विज्ञानको बाहर अ-विक्षिप्त=अ-विवृष्ट कहा जाता है ?—यहाँ, आबुसो !
चक्षुसे रूप देखकर भिक्षुका विज्ञान रूपके निमित्तका अनुस्मरण करनेवाला नहीं होता । रूप-निमित्त
के स्वादमें लग्नप्रथित ०, ० अ-वृद्ध, ० संयोजनसे अ-संयोजित विज्ञान 'बाहर' अ-विक्षिप्त = अ-विवृष्ट
कहा जाता है । श्रोत्र ० । ज्ञान ० । जिह्वा ० । काय ० । मनसे धर्म जानकर ० अनुस्मरण करने
वाला नहीं होता ०, ० असंयोजित विज्ञान 'बाहर' अ-विक्षिप्त = अ-विवृष्ट कहा जाता है ।—इस
प्रकार, आबुसो ! विज्ञानको बाहर अ-विक्षिप्त = अ-विवृष्ट कहा जाता है ।

"आबुसो ! कैसे (विज्ञान) 'अपने भीतर (= अभ्यात्म) संस्थित' कहा जाता है ? यहाँ,
आबुसो ! भिक्षु कामसे विरहित ०^१ प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । (उस समय) उसका
विज्ञान विवेकज प्रीति-सुखको अनुस्मरण करनेवाला, विवेकज प्रीति-सुखके आस्वादसे प्रथित, ०
पृष्ठ, ०-संयोजनसे संयोजित चित्त 'अपने भीतर (= अभ्यात्म) संस्थित (स्थित)' कहा जाता है ।
और फिर आबुसो ! भिक्षु वितर्क और विचारके शांत होनेपर ०^२ द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता
है । (उस समय) उसका विज्ञान समाधि-ज प्रीति-सुखको अनुस्मरण करनेवाला, ०, ०-संयोजनसे
संयोजित चित्त 'अपने भीतर संस्थित' कहा जाता है । और फिर, आबुसो ! भिक्षु प्रीतिसे विरक्त हो,
०^३ तृतीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । (उस समय) उसका विज्ञान उपेक्षाका अनुस्मरण करने
वाला, उपेक्षा-सुखके आस्वादसे प्रथित, ०, ० संयोजनसे संयोजित चित्त 'अपने भीतर संस्थित'
कहा जाता है । और फिर, आबुसो ! भिक्षु सुख और दुःखके परित्याग से ०^४ चतुर्थ-ध्यानको
प्राप्त हो विहरता है । (उस समय) उसका विज्ञान अदुःख-असुखका अनुस्मरण करनेवाला, अदुःख
असुखके आस्वादसे प्रथित, ०, ०-संयोजनसे संयोजित चित्त 'अपने भीतर संस्थित' कहा जाता है ।
इस प्रकार आबुसो ! (विज्ञान) 'अपने भीतर संस्थित' कहा जाता है ।

"आबुसो ! कैसे (विज्ञानको) 'अपने भीतर अ-संस्थित' कहा जाता है ?—यहाँ,
आबुसो ! भिक्षु ०^१ प्रथम-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है ; (किन्तु) उसका विज्ञान विवेकज प्रीति-
सुखको न अनुस्मरण करनेवाला, ०, ०-संयोजनसे संयोजित नहीं होता । (ऐसा) चित्त 'अपने
भीतर अ-संस्थित' कहा जाता है । और फिर ०^२ द्वितीय-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है । (किन्तु)
उसका विज्ञान समाधि-ज प्रीति-सुखको न अनुस्मरण करनेवाला, ०, ०-संयोजनसे संयोजित नहीं
होता । (ऐसा) चित्त 'अपने भीतर अ-संस्थित' कहा जाता है । और फिर ०, ०^३ तृतीय-ध्यानको
प्राप्त हो विहरता है । (किन्तु) उसका विज्ञान उपेक्षाका न अनुस्मरण करनेवाला, ०, ०—संयो-
जनसे संयोजित नहीं होता । ० । और फिर ०, ०^४ चतुर्थ-ध्यानको प्राप्त हो विहरता है ।
(किन्तु) ० अदुःख-असुखका न अनुस्मरण करनेवाला, ०, ०-संयोजनसे संयोजित नहीं होता ।
(ऐसा) चित्त 'अपने भीतर अ-संस्थित' कहा जाता है । इस प्रकार, आबुसो ! (विज्ञान) 'अपने
भीतर अ-संस्थित'—कहा जाता है ।

"आबुसो ! कैसे 'उपादान (= रागयुक्त ग्रहण) न करनेसे परित्रास नहीं होता' ?—यहाँ
आबुसो ! आदोंके दर्शनसे वंचित ०^१ अभुतवान् (= अज्ञ) पृथग्जन (= अनादी) रूपको आत्मा-
के शरीरपर मानता है, या आत्माको रूपवान्, आत्मामें रूपको, या रूपमें आत्माको (मानता है),

उलका (माना) वह रूप विकृत होता है = अन्यथा होता है । उसके रूपके विपरिणाम (= विकार) = अन्यथाभावसे, विज्ञान भी परिवर्तित होता है । (फिर) उसे रूपके विपरिणाम = परिवर्तनसे उत्पन्न परित्रास धर्मकी उत्पत्तिसे चित्तको पकड़ कर ढहरते हैं । चित्तको पकड़नेसे (विज्ञान) त्रासयुक्त, विषात (= प्रतिहिंसा) युक्त, अपेक्षावान् होता है । अनुपादान (= अस्वीकार) परित्रासको प्राप्त होता है । वेदनाको ० । संज्ञाको ० । संस्कारको ० । विज्ञानको ० परित्रासको प्राप्त होता है ।—इस प्रकार, आहुसो ! अनुपादान करनेसे परित्रास होता है ।

“कैसे, आहुसो ! अनुपादान (अ-परिग्रह) करनेसे परित्रासको नहीं प्राप्त होता ?—यहाँ, आहुसो ! आर्षोके दर्शनको प्राप्त ०^१ बहुश्रुत आर्ष आचक्ष, रूपको आत्माके तीरपर नहीं मानता, या आत्माको रूपवान्, आत्मामें रूपको, या रूपमें आत्माको नहीं मानता । उसका यह रूप विपरिणत (= विकृत) होता है = अन्यथा भावको प्राप्त होता है । उस रूपके विपरिणाम = अन्यथा भावसे विज्ञान रूप विपरिणामो = परिवर्तन शील नहीं होता । तब उसे रूपके विपरिणाम = परिवर्तनसे उत्पन्न परित्रास धर्मकी उत्पत्तिसे चित्तके परिपादान (= पकड़ने) से (विज्ञान) न त्रासयुक्त, विषातयुक्त, अपेक्षावान् (होता है), अनुपादानसे परित्रासको नहीं प्राप्त होता । वेदनाको ० संज्ञाको ० । संस्कारको ० । विज्ञानको ० परित्रास नहीं प्राप्त होता ।—इस प्रकार, आहुसो ! अनुपादान करनेसे परित्रास नहीं होता ।

“आहुसो ! जो भगवान् यह संक्षेपसे उद्देश कर ०^२ विहारमें चले गये—‘वैसे वैसे उपपरीक्षण करना चाहिये ० दुःखका हेतु नहीं रह जाता । आहुसो ! विस्तारसे अभिभाजित भगवान्के इस संक्षिप्त भाषनका अर्थ मैं इस प्रकार विस्तारसे जानता हूँ । इच्छा हो, तो तुम आयुष्मानो ! भगवान्के पास भी जा कर इस अर्थको पूछो ०^३ भिक्षुजनों भगवान्से यह कहा—

“भन्ते ! भगवान् जो यह हमें ० विस्तारसे विभाग किये बिना ही आत्मनसे उठ कर विहार में चले गये—‘वैसे वैसे उपपरीक्षण करना चाहिये ०’ ०^४ हमने आयुष्मान् महाकात्यायनसे इस अर्थको पूछा ०^५ इन ध्यंजनोंसे अर्थको विभाजित किया ०^६ इसे धारण करना ।”

भगवान्ने यह कहा, समुत्पन्न हो उन भिक्षुजोंने भगवान्के माध्यामको अभिर्नन्दित किया ।

^१ देखो पृष्ठ ३ ।

^२ देखो पृष्ठ ५४६-४७ ।

^३ देखो पृष्ठ ५४४-४६ ।

^४ देखो पृष्ठ ५४६-४७ ।

१३६-अरण-विभंग-सुत्तन्त (३।४।६)

सुसुखी वर्षा

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिण्डिकके चाराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भदन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! अरण-विभंग तुम्हें उपदेशता हूँ, इसे सुनो, अच्छी तरह समझें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“(१) हीन (= निरुद्ध) = आत्म, पृथग्व्यक्तिक (= अनादियोंके), अनार्य, अनर्थ-युक्त कामके सुखमें अनुयुक्त (= लस) न होना चाहिये; और नहीं दुःख, अनार्य, अनर्थयुक्त आत्म-पीडामें अनुयुक्त होना चाहिये । (२) भिक्षुओ ! इन दोनों अन्तों (= अतिशयों)को न छे, तबगतने भव्यम मार्गको खोज निकाला है, (जो कि) भाँख देनेवाला, क्षुभ करनेवाला, उपशम-अभिज्ञ-संबोध-निर्वाणके लिये है । (३) उत्सादनको भी जाने, अस्वादनको भी जाने । उत्सादनको जान और अ-प्रसादनको जानकर, न उत्सादन करे, न अ-प्रसादन करे; धर्म हीका उपदेश करे । (४) सुख-विनिवर्धको जाने । सुख-विनिवर्धको जानकर, अपने भीतरके सुखमें अनुयुक्त होवे । (५) एकान्तमें बात (= अववाद) नहीं करे । सुँहपर बहुत धोसा न धोले । (६) जल्दी बिना धोले, जल्दी जल्दी न (धोले) । (७) देशोंको भाषा (= जनपद-निरुक्ति)को न सुझावे, ‘संज्ञाओंके धोले ग अतिपावन करे’—यह अरण-विभंगका व्रत है ।

(१) “यह जो कहा—‘० कामके सुखमें अनुयुक्त न होना चाहिये, और नहीं ० आत्म-पीडामें अनुयुक्त होना चाहिये’—सो किसलिये कहा ?—जो काम (= विषयभोग)के संबंधसे सुखी होनेवालेका सौमनस्यके साथ लग्न होता है, (वह) हीन ० अनर्थयुक्त है । यह धर्म (= कामसुख) दुःख, उपधात-उपाधात (= हीनानी परेसानी) दाहसे युक्त है, (यह) मिथ्या-प्रतिपदा (= झूठा मार्ग) है । जो कामके संबंधसे सुखी होनेके सौमनस्यके अनुयोग (= संपर्क)का अनुयोग न होता है, (वह है) हीन ० अनर्थ-युक्त । यह धर्म दुःख-उपधात-उपाधात दाहसे रहित है, सम्यक्-प्रतिपदा (= ठीकमार्ग) है । जो आत्म-पीडामें जगता है, (वह धर्म) दुःख, अनार्य, अनर्थ-युक्त है । यह धर्म दुःख-उपधात-उपाधात-दाहसे युक्त है, यह मिथ्या प्रतिपदा है । जो आत्म-पीडाके उद्योगमें योग न देना, दुःख-अनार्य, अनर्थयुक्त है । यह धर्म दुःख-उपधात-उपाधात-दाहसे रहित, सम्यक् प्रतिपदा है । यह जो कहा—‘० कामके सुखमें अनुयुक्त

नहीं होना चाहिये, और नहीं ० आत्मपीडामें अनुयुक्त होना चाहा—वह इसीप्रिये कहा ।

(२) “वह जो कहा—‘इन दोनों अन्तोंको न ले, तथागतने मध्यममार्ग खोज निकाला है ०’—सो किसप्रिये कहा ?—यही (वही) आर्य-अष्टांगिक-मार्ग है, जैवेकि—सम्यग्-दृष्टि, सम्यक्-संक्रय, सम्यक्-वचन, सम्यक्-कर्मन्त, सम्यग्-आजीव, सम्यक्-व्यादाम, सम्यक्-स्मृति, (और) सम्यक्-समाधि । वह जो कहा—उन दोनों अन्तों (= अतियों)को न ले तथागतने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है ०’—सो इसीप्रिये कहा ।

(३) “उत्सादनाकोभी जाने, अ-प्रसादनाको भी जाने ० धर्महीका उपदेश करे”—सो किसप्रिये कहा ?—कैसे, भिक्षुओ ! उत्सादना, और अ-प्रसादना होती है, किन्तु धर्मदेशना (= धर्मका-उपदेश) नहीं होती ?—‘जो कामके संबंधसे सुखी होनेवालेका सौमनस्य ०’ परिदाहसे युक्त है, वह मिथ्याप्रतिपक्ष है—(= छटे मार्गपर आरुढ़) है—इस प्रकार कोई कोई दूसरेको अ-प्रसादित (= नाराज) करते हैं । जो कामके संबंधसे सुखी होनेवालेके सौमनस्यके अनुयोगका अनुयोग न होना ०’ सम्यक्-प्रतिपक्ष है—इस प्रकार (कह) कोई कोई दूसरेको उत्सादित (= प्रसन्न) करते हैं । जो (पुरुष) दुःख, अनार्य, अनर्थयुक्त आत्मपीडाके व्यापारमें लगे हुये हैं, वह सभी दुःख-उपधात-उपायास-परिदाहसे युक्त हैं, वह मिथ्या मार्गपर आरुढ़ (= मिथ्या-प्रतिपक्ष) है—इस प्रकार (कह) कोई कोई दूसरेको अ-प्रसादित (= नाराज) करते हैं । जो ० आत्मपीडाके व्यापारमें लगे नहीं हैं, वह सभी दुःख-उपधात-उपायास-परिदाहसे युक्त नहीं हैं, वह ठीक मार्गपर आरुढ़ हैं—इस प्रकार (कह) कोई कोई दूसरेको प्रसादित (= सुख) करते हैं । जिस किसीका भवन्त-योजन (= भवबंधन) ग्रहीण (= नष्ट) नहीं हुआ, वह सभी दुःख-उपधात-उपायास-परिदाहसे युक्त हैं । वह मिथ्या मार्गपर आरुढ़ है—इस प्रकार (कह) कोई कोई दूसरेको अ-प्रसादित करते हैं । वह जिस किसीका भवन्त-योजन ग्रहीण होगया है, वह सभी दुःख-उपधात-उपायास-परिदाहसे रहित है । ठीक मार्गपर आरुढ़ है—इस प्रकार (कह) कोई कोई दूसरेको उत्सादित (= प्रसन्न) करते हैं ।—इस प्रकार भिक्षुओ ! उत्सादना और अ-प्रसादना (= नाराज करना) होती है, किन्तु धर्मदेशना नहीं होती ।

“कैसे भिक्षुओ ! उत्सादना और अ-प्रसादना नहीं होती, (यत्कि) धर्मदेशना (होती है) ?—जो कामके संबंधसे सुखी होनेवाले का सौमनस्य ० परिदाहसे युक्त है, वह मिथ्या मार्गपर आरुढ़ है’—यह नहीं कहता । वह अनुयोग दुःख है दुःख-उपधात-उपायास-परिदाहसे युक्त है, मिथ्या मार्ग है—इस प्रकार (कह) दूसरेको धर्महीको उपदेशता है । जो कामके सम्यक्संयमे सुखी, होन ० अनर्थयुक्त सौमनस्यके अनुयोगमें अनुयुक्त नहीं हैं, वह सभी दुःख-उपधात-उपायास-परिदाहसे रहित है, ठीक मार्गपर आरुढ़ है—यह नहीं कहता । ‘अन्-अनुयोग अ-दुःख है । और यह धर्म उपधात-उपायास-परिदाहसे रहित है, ठीक मार्ग है—इस प्रकार (कह) दूसरेको धर्मही उपदेशता है । ‘जो दुःख, अनार्य, अनर्थयुक्त आत्म-पीडाके व्यापारमें अनुयुक्त (लग्न) है, वह सभी दुःख-उपधात-उपायास-परिदाहसे युक्त हैं, मिथ्या-मार्ग पर आरुढ़ है—यह नहीं कहता । (यत्कि) अनुयोग सदुःख है, यह धर्म उपधात-उपायास-परिदाहसे युक्त है, मिथ्या मार्ग है—इस प्रकार दूसरेको धर्मको ही उपदेशता है । जो दुःख, अनार्य, अनर्थयुक्त आत्मपीडाके व्यापारमें अनुयुक्त (= लग्न) नहीं हैं, वह सभी दुःख-उपधात-उपायास-परिदाह-रहित है, ठीक मार्ग पर आरुढ़ है’—यह नहीं कहता । (यत्कि कहता है)—अनुयोग न करना दुःख ० रहित है, ठीक

मार्ग है—इस प्रकार दूसरेको धर्म ही उपदेशता है। 'जिन किन्हींका भव-संयोजन (= भव-सम्पन्न) नष्ट नहीं हुआ, वह सभी दुःख ०—सहित है, मिथ्या मार्गपर आरुढ़ है'—यह नहीं कहता। (वल्कि कहता है)—'भव-संयोजनके नष्ट न होनेपर भव (= जन्म करण) भी नष्ट नहीं होता है'—इस प्रकार ० धर्महीको उपदेशता है। 'जिन किन्हींका भव-संयोजन नष्ट हो गया, वह सभी दुःख ० रहित है, ठीक मार्गपर आरुढ़ है'—यह नहीं कहता। (वल्कि कहता है)—'भव-संयोजनके नष्ट होनेपर भव भी नष्ट हो जाता है'—इस प्रकार ० धर्महीको उप-देशता है।—इस प्रकार, भिक्षुजो १ व उत्सादना होती है, न अ-प्रसादना, (वल्कि) धर्म-देसना होती है। वह जो कहा—'उत्सादनाकी भी जाने ०' धर्म हीका उपदेश करे'—सो इसी-लिये कहा।

(४) "जो यह कहा—'सुख-विनिर्ग्रहको जाने। सुख विनिर्ग्रहको जानकर, अपने भीतर सुखमें अनुसुक्त होवे'—सो किस लिये कहा?—भिक्षुजो! यह पाँच काम-गुण है। कौनसे पाँच?—(१) इष्ट ०^१ वस्तुद्वारा विशेषरूप। ०^२ काय-विशेष रमण्य। भिक्षुजो! वह पाँच कामगुण है। भिक्षुजो! इन पाँच कामगुणोंके द्वारा जो कुछ सुख, सौमनस्य उत्पन्न होता है, वह कहा जाता है काम-सुख, भीक्षुसुख, पृथग्जनोका सुख = अनर्थ-सुख। (वह) न-सेवितव्य = न भावयितव्य = न बहुलीकर्तव्य, इस सुखसे भय खाना चाहिये—मैं यह कहता हूँ। यहाँ, भिक्षुजो! भिक्षु कामोंसे विरहित ०^३ प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। ०^४ द्वितीय-ध्यान को ०। ०^५ तृतीय ध्यानको ०। ०^६ चतुर्थ ध्यानको प्राप्त हो विहरता है। यह कहा जाता है, निष्कामता-सुख, प्रविशेक-सुख, उपशम-सुख, संयोजि-सुख। यह सेवितव्य = भावयितव्य, बहुली-कर्तव्य है, इस सुखसे भय नहीं खाना चाहिये—मैं यह कहता हूँ। जो यह कहा—'सुखविनिर्ग्रह को जाने ०'—सो इसीलिये कहा।

(५) "यह जो कहा—'एकान्तमें घात नहीं करें, सुँहपर बहुत धीमा न बोलें'—सो किस लिये कहा?—वहाँ भिक्षुजो! जिस एकान्त-वादको अ-भूत = अ-तथ्य (= अ-सत्य), अनर्थ-युक्त को प्राप्त जाने, उस एकान्तवादको न बदे। और जिस एकान्तवादको भूत = सत्य (किन्तु) अनर्थ-युक्त जाने, उस ० को भी न कहना, भिक्षुजो! सीखे। और जिस रहोवाद (= एकान्तमें कहनेकी बात) को भूत = तथ्य, सार्थक समझे, तो उस रहोवादके कथनके लिये कालज (= काल देख कर कहनेवाला) होना चाहिये। वहाँ भिक्षुजो! जिस सम्यक्सके धीणवाद (= धीमे बोलनेकी बात) को अ-भूत = अ-तथ्य, अनर्थ-युक्त समझे, तो उस ० को न बदे। जिस ० को भूत = तथ्य (किन्तु) अनर्थ-युक्त जाने, उस ० को भी न बदे। जिस ० को भूत = तथ्य (और) सार्थक जाने, उस ० के कथनके लिये कालज होना चाहिये। यह जो कहा—'एकान्तमें न बदे, सुँहपर बहुत धीमा न बोलें'—सो इसीलिये कहा।

(६) "जो यह कहा—'जल्दी चिन्ता बोलें, जल्दी जल्दी न बोलें'—सो किसलिये कहा?—वहाँ, भिक्षुजो! जल्दी बोलनेवालेके शरीरको भी कष्ट होता है, चित्त भी पीड़ित होता है, स्वर भी विकृत होता है, कण्ठ भी जातुर होता है, अ-विरपष्ट (= साफ नहीं) भी होता है, जल्दी बोलनेवालेकी बात (दूसरोंको) अ-विश्वस होती है। वहाँ, भिक्षुजो! जल्दी जल्दी न बोलनेवालेके शरीरको भी कष्ट नहीं होता, चित्त भी पीड़ित नहीं होता, स्वर भी विकृत नहीं होता, कण्ठ भी जातुर नहीं होता, विरपष्ट भी होता है, जल्दी जल्दी न बोलनेवालेकी बात (दूसरोंको) विशेष

^१ देखो पृष्ठ ५२०।^२ देखो पृष्ठ ५३।^३ देखो पृष्ठ २५।

(= सुगम) होती है । जो यह कहा—‘जबो दिना पोले ०’—सो इसी लिये कहा ।

(३) ‘‘जो यह कहा—‘देशोंकी भाषाका आग्रह न करे, न संज्ञाओंके पीछे धावन करे’—सो किस लिये कहा ?—कैसे मिथुओ ! दोहाती भाषामे अभिनिवेश (= आग्रह) होता है ? और संज्ञासे अतिसार (= बहुत धावना) ? यहाँ मिथुओ ! वहाँ (वस्तु) किन्हीं किन्हीं जनपदोंमें पाती भी पुकारी जाती (= संज्ञा) है, वस्तु भी ०, वित्त भी ०, शराव भी ०, धारोप भी ०, पोष भी ०, पिस्तीलव भी ० । इस प्रकार जैसे जैसे उन उन जनपदोंमें पुकारते हैं, वैसे वैसे रसतासे ग्रहण कर, विद् (= अभिनिवेश) के साथ व्यवहार करता है—‘यही सत्य है, और सब मिथ्या’ । इस प्रकार मिथुओ ! जनपद-भाषामे अभिनिवेश (= विद्) होती है, और संज्ञा-से अतिसार (= जिलगाव) होता है । कैसे, मिथुओ ! जनपद भाषामें अभिनिवेश नहीं होता, और संज्ञासे अतिसार नहीं होता ?—यहाँ, मिथुओ ! वहाँ (वस्तु) किन्हीं जनपदोंमें पाती पुकारी जाती है, ०, पिस्तीलव भी ० । इस प्रकार जैसे जैसे इसे उन उन जनपदोंमें पुकारते हैं, ‘वह आयुष्मान् इसके बारेमें (वह शब्द) व्यवहृत करते हैं’—यह (सोच) वैसे ही वैसे व्यवहार करता है, (किन्तु) आग्रह बिना । इस प्रकार, मिथुओ ! देशोंकी भाषाओंका आग्रह नहीं होता, और न संज्ञाओंके पीछे धावन होता है । जो यह कहा—‘देशोंकी भाषाका आग्रह न करे, न संज्ञाओंके पीछे अतिधावन करे’—सो इसीलिये कहा ।

‘‘वहाँ, मिथुओ ! जो काम सम्बन्धसे सुखोंके हीन ० अनर्थयुक्त सौमनस्यका अनुयोग (= सम्बन्ध) है, वह स-दुःख है । यह धर्म उपधात-उपायास-परिदाह-युक्त है, (वह) मिथ्या मार्ग है । इसलिये यह धर्म स-रण है । वहाँ, मिथुओ ! जो ० हीन ० अनर्थ युक्त सौमनस्यके अनुयोगमें अनुयोग (= सम्बन्ध) न करता है, वह दुःख-रहित है, यह धर्म उपधात-उपायास-परिदाह-रहित है, ठीक मार्ग है । इसलिये यह धर्म अ-रण (= दुःख रहित) है । वहाँ, मिथुओ ! जो दुःख, अनार्य, अनर्थयुक्त आत्म-पीडा है, वह दुःख सहित; यह धर्म उपधात-उपायास-परिदाह-युक्त है, मिथ्या मार्ग है । इसलिये स-रण है । वहाँ, मिथुओ ! जो दुःख ० अनर्थयुक्त आत्म-पीडाके अनुयोगमें अनुयोग न करता है, वह दुःख-रहित है, ० ठीक मार्ग है । इसलिये यह धर्म अ-रण है ।

‘‘वहाँ, मिथुओ ! जिस जीव देगेवाले ० मध्यम मार्ग (= महिम्ना पटिपदा) को सध-गतने जीव निकाला, यह धर्म दुःख रहित है, उपधात-उपायास-परिदाह-सहित है, ठीक मार्ग है । इसलिये यह धर्म अ-रण है ।

‘‘वहाँ, मिथुओ ! जो यह उत्सादन (= सुख करना) अ-प्रसादन (= नाराज करना), और धर्म देना है, यह धर्म दुःख-सहित है, ० मिथ्यामार्ग है । इसलिये यह धर्म स-रण है ।

‘‘वहाँ, मिथुओ ! जो यह उत्सादन बिना, अ-प्रसादन बिना धर्म देना है, यह धर्म दुःख-रहित है, ० ठीक मार्ग है । इसलिये ० अ-रण है ।

‘‘वहाँ, मिथुओ ! जो यह काम-सुख, मृद-सुख, श्रमजनक सुख-अनार्यका सुख है, यह धर्म दुःख-सहित है, ० झूठा मार्ग है । इसलिये ० स-रण है ।

‘‘ ० जो निष्कामता-सुख ० संकोचि-सुख है । यह धर्म अ-दुःख है, ० ठीक मार्ग है ० अ-रण है ।

‘‘ ० जो रहोवाद् अ-वृत्त = अ-तथ्य, अनर्थयुक्त है, यह धर्म दुःख-सहित है, ० मिथ्या-मार्ग है । ० स-रण है ।

‘‘ ० जो रहोवाद् वृत्त = तथ्य, अनर्थयुक्त है । यह धर्म दुःख-रहित है, ० मिथ्यामार्ग है । ० स-रण है ।

“ ० जो रहोवाद भूत = तथ्य, सार्वक है । यह धर्म दुःख-रहित है, ० ठीक मार्ग है । ० अ-रण है ।

“ ० जो संसृष्टमें क्षीण-वाद अभूत = अ-तथ्य, अनर्थयुक्त है । ० दुःख-सहित है, ० मिथ्या-मार्ग है । स-रण है ।

“ ० जो संसृष्टमें क्षीण-वाद भूत = तथ्य, अनर्थयुक्त है । ० दुःख-सहित है, ० मिथ्यामार्ग है । ० स-रण है ।

“ ० जो संसृष्टमें क्षीण-वाद भूत = तथ्य और सार्वक है । ० दुःख-रहित है, सवामार्ग है । ० अ-रण है ।

“ ० जो यह जल्दी करनेवालेका धोखना है । ० दुःख-सहित है, ० मिथ्यामार्ग है । ० स-रण है ।

“ ० जो यह जल्दी न करनेवालेका धोखना है । ० दुःख-रहित है, ० ठीक मार्ग है । ० अ-रण है ।

“ ० जो यह, जनपदभाषामें अभिविवेका (= दुराग्रह), और संज्ञामें अतिसार (= भावना) है । ० दुःख-सहित है । ० मिथ्यामार्ग है । ० है ।

“ ० जो यह जनपद-भाषामें अभिविवेका (नहीं) और संज्ञामें अतिसार नहीं । ० दुःख-रहित है, ० ठीक मार्ग है । ० अ-रण है ।

“इत्युक्त्यै, मिश्रुजो ! स-रण और अ-रण धर्मोंको जानो । स-रण धर्मोंको जानकर, अ-रण धर्मोंको जानकर, ‘हम अ-रण (= दुःख-रहित) प्रतिपदा (= मार्ग) पर आरुह्य होंगे’—इस प्रकार तुम्हें सीखना चाहिये ।

“मिश्रुजो ! सुभूति कुल-पुत्र अ-रण प्रतिपदापर आरुह्य हो ।”

भगवान्‌ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन मिश्रुजोने भगवान्‌के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१४०-धातु-विभंग-सुत्तन्त (३।४।१०)

धातु-विभाग । मन्त्री साधना

देवा मैंने सुना—

एक समय भगवान् प्रगाध (देश) में धारिका करते, जहाँ राजगृह है, वहाँ पहुँचे ।
(और) जहाँ भार्गव कुंभकार था, वहाँ गये । जाकर भार्गव कुंभकारसे यह बोले—

“यदि, भार्गव ! तुम्हें भारी न हो, तो मैं एक रात (इस) घरमें विहार (= वात) करूँ ।”

“मन्ते ! भारी नहीं है, किन्तु वहाँ पहिलेसे जाकर उहरा एक प्रमजित है, यदि वह अनु-मति दे, तो मन्ते ! सुखपूर्वक विहार कीजिये ।”

उस समय पुष्कुसाति^१ नामक कुल-पुत्र भगवान्के नामपर घरसे बेशर (= अनागारिक) हो प्रमजित हुआ था । वह इस कुंभकार-निवेशनमें पहिलेहीसे जाकर उहरा हुआ था । तब भगवान् जहाँ आयुष्मान् पुष्कुसाति थे, वहाँ गये, जाकर आयुष्मान् पुष्कुसातिसे यह बोले—

“यदि, मित्रु ! तुम्हें भारी (= गुरु) न हो तो, मैं एक रात (इस) घरमें विहार करूँ ।”

“आयुस ! कुंभकार-निवेश सुखा है, आयुष्मान् सुख-पूर्वक विहार करें ।”

तब भगवान् कुंभकार-निवेशनमें प्रवेश कर, एक ओर तृणका आसन बिछा, आसन मार, कायाको सीधा कर, स्मृति को समुच्च उपस्थित रख बैठे । तब भगवान्ने बहुत रात बैठे-बैठे बिता दी आयुष्मान् पुष्कुसातिने भी बहुत रात बैठे-बैठे बिता दी । तब भगवान्को यह हुआ—“इस कुल-पुत्रकी चाल-बाल बहुत अच्छी है ; क्यों न मैं इससे पूछूँ ।” तब भगवान्ने आयुष्मान् पुष्कुसातिसे यह कहा—

“मित्रु ! किसके नामपर तू प्रमजित हुआ है ? कौन तुम्हारा शास्त्रा (= गुरु) है । किसके धर्मको तू मानता है ?”

“आयुस ! नामक कुलसे प्रमजित वाक्य पुत्र अमण गौतम है । उन भगवान् गौतमका ऐसा ब्रह्म कीर्तिशब्द फैला हुआ है—०” । उन भगवान्के धर्मको मैं मानता हूँ ।”

“मित्रु ! वह भगवान् अर्हत् सम्यक् संजुह इस समय कहीं निहरते हैं ?”

“आयुस ! उत्तरके देशोंमें ध्रावस्ती नामक नगर है । वहाँ वह भगवान् अर्हत् सम्यक्-संजुह इस वक्त निहरते हैं ।

^१ पहिले कपिलकाके राजा थे । (जातिके पुष्कुस) । विस्तारके पहले बुद्धके वारेमें जान कर मित्रु हो गये । (अ. क.) ^२ देखो पृष्ठ १५८ ।

“मिथु ! क्या तूने उन भगवान्‌को पहिले (कभी) देखा है ? देखकर पहिचान सकता है ?”

“आवुस ! नहीं, मैंने उन भगवान्‌को पहिले नहीं देखा है । देखकर मैं पहिचान नहीं सकता । तब भगवान्‌को यह हुआ—‘मेरे ही नामपर यह कुल-पुत्र प्रसजित हुआ है, क्यों न मैं इसे धर्मोपदेश करूँ ।’

तब भगवान्‌ने आयुष्मान् पुच्छुसातिको संबोधित किया—

“मिथु ! तूने धर्म उपदेशता हूँ, उसे सुन, अच्छी तरह मनमें कर, कहता हूँ ।”

“अच्छा, आवुस !”—(वह) आयुष्मान् पुच्छुसातिके भगवान्‌को उत्तर दिया ।

भगवान्‌ने यह कहा—“मिथु ! यह पुरुष (१) छः धातुओं, (२) छः स्पर्शायतनों, (३) अठारह मनोपविचार, (४) चार अधिष्ठानों वाला है, (५) जहाँ स्थित (इसके) मान और उत्सव नहीं प्रवृत्त होते । मान और उत्सवके न प्रवृत्त होनेपर—(वह) शान्त मुनि कहा जाता है । (६) प्रज्ञासे प्रमाद न करे, सत्य की रक्षा करे, त्यागको बढ़ावे, उपशम (= शांति) ही वह अभ्यास करे—यह धातु-विमर्शका उद्देश है ।

(१) “मिथु ! यह जो कहा—‘यह पुरुष छः धातुओंवाला है’—सो किस लिये कहा ?—मिथु ! यह छः धातु हैं ?—पृथिवी-धातु, आप ०, तेज ०, वायु ०, आकाश ०, विज्ञान-धातु । यह जो कहा—‘यह पुरुष छः धातुओंवाला है’—सो इसी लिये कहा ।

(२) “मिथु ! यह जो कहा—‘यह पुरुष छः स्पर्शायतन है’—सो किस लिये कहा ?—चक्षु-संस्पर्शायतन, श्रोत्र ०, ग्राण ०, जिह्वा ०, काय ०, मन : संस्पर्शायतन । ० ।

(३) “मिथु ! यह जो कहा—‘यह पुरुष अठारह मनोपविचारों वाला है’—सो किस लिये कहा ?—चक्षुसे रूपको देखकर रूपको सौमनस्य स्वामीय उपविचारता है ०^१ और छः ओंछाके उपविचार है । ० ।

(४) “मिथु ! यह जो कहा—‘यह पुरुष चतुरधिष्ठान है’—सो किस लिये कहा ?—प्रज्ञाअधिष्ठान, सत्य ०, त्याग ०, उपशम-अधिष्ठान । ० ।

(५) “ ०—‘प्रज्ञासे प्रमाद न करे ० उपशम (= शांति) का ही वह अभ्यास करे’—सो किस लिये कहा ?—कैसे मिथुओं ! मिथु प्रज्ञासे प्रमाद नहीं करता ?—मिथुओं ! यह छः धातुओं हैं—पृथिवी धातु, ०, विज्ञान-धातु । क्या है मिथु पृथिवी धातु ?—पृथिवी धातु (दो प्रकारकी) है—आध्यात्मिक और बाह्य । क्या है, मिथु ! आध्यात्मिक पृथिवी धातु ? शरीरके भीतर (= अन्धात्म), प्रति शरीरमें (= प्रत्यात्म) कर्कश खरौरा लिये हुये हैं, जैसे कि केस, जोम ०^२ पेटके भीतरका मल, और जो कुल और भी प्रति शरीरमें कर्कश ० लिये हुये हैं । मिथु ! यह कही जाती है, आध्यात्मिक पृथिवी धातु । जो आध्यात्मिक पृथिवी धातु है, और जो बाह्य पृथिवी धातु है, वह (दोनों) पृथिवी धातु ही है । ‘वह न मेरा है’ ‘न वह मैं हूँ’, और ‘न वह मेरा आत्मा है’ । इस प्रकार इसे यथार्थसे अही प्रकार प्रज्ञासे देखना चाहिये । ऐसे इसे यथार्थतः अच्छी प्रकार देखनेसे पृथिवी धातुसे निर्वेद (= उदासीनता) को प्राप्त होता है, पृथिवी धातुसे चित्तको विरक्त करता है । क्या है, मिथु ! आपोधातु ?—(दो प्रकारकी है) आध्यात्मिक और बाह्य । क्या है, मिथु ! आध्यात्मिक आप-धातु ? जो कुल अन्धात्ममें=प्रति शरीरमें आप (= जल) या आप संबंधी लिया गया है, जैसे कि पित्त, श्लेष्म (= कफ), पीय, कृत्न, स्वेद, मेद, अश्रु, वसा,

^१ देखो पृष्ठ ५६१ । ^२ देखो पृष्ठ ११०-१११ ।

मेक (= श्वशुर) काज-नाकका मल, मूत्र, और जो और भी अघ्वात्ममें ० आप या आप-संबंधी लिया गया है। यह मिथुनो! आध्यात्मिक आप धातु कही जाती है। जो आध्यात्मिक आप-धातु है ० और जो वायु आप-धातु है; यह (दोनों) एधिवो धातु ही है। 'यह न मेरा है', ० । ऐसे इसे बचार्थतः अच्छी प्रकार देखनेसे आप-धातुसे निर्बेदको प्राप्त होता है; आप-धातुसे चित्तको विरक्त करता है। क्या है, मिथु ! तेज-धातु ?—(दो प्रकारकी) आध्यात्मिक और वायु। क्या है मिथु आध्यात्मिक तेज-धातु ?—जो कुछ अघ्वात्ममें—प्रति शरीरमें तेज या तेज संबंधी (वस्तु) ली गई है; जैसे कि—जिससे (शरीरसे) ताप-दण्ड होता, ज्वर होता है; जिससे कि अशित-खाया पिवा अच्छी तरह पचता है; और भी ० आप संबंधी लिया गया है। यह मिथु ! आध्यात्मिक तेज धातु कही जाती है। जो आध्यात्मिक तेज-धातु है, और जो वायु तेज-धातु है; यह (दोनों) तेज-धातु ही है। 'यह न मेरा है' ० । ० तेज धातुसे चित्तको विरक्त करता है। क्या है, मिथु ! वायु-धातु ?— ० । ०—जो अघ्वात्ममें—प्रति शरीरमें वायु या वायु-संबंधी (वस्तु) ली गई है; जैसे कि—अर्धगामी वायु, अधोगामी वायु, पेठमें रहने वाले वायु, अंग अंगमें रहनेवाले वायु, आश्वास-प्रश्वास; और जो और भी ० वायु-संबंधी लिया गया है। यह मिथु ! आध्यात्मिक वायु-धातु है। ० यह (दोनों) वायु धातु ही है। 'यह न मेरा है' ० । ० वायु धातुसे चित्तको विरक्त करता है। क्या है, मिथु ! आकाश-धातु ?— ० । ०—जो अघ्वात्ममें = प्रति शरीरमें आकाश या आकाश सम्बन्धी है। जैसे कि—कर्ण-छिद्र, नासिका-छिद्र, मुख-द्वार जिससे कि...खाया पिवा निगला जाता है, जहाँ...खाया पिवा ठहरता है; जहाँसे जिससे कि...खाया पिवा अधोभागसे निकलता है। और जो और भी ० आकाश सम्बन्धी है। ० । ० यह (दोनों) आकाशधातु ही है। 'यह न मेरा है' ० । ० आकाशधातुसे चित्तको विरक्त करता है। तब फिर परिशुद्ध = पर्यवदात विज्ञान-धातु हो बीच रहता है। उस विज्ञानसे जानता है ? 'सुख है'—जानता है; 'दुःख है'—जानता है; 'अदुःख-असुख है'—जानता है। मिथु ! सुख-वेदनीय (= जिससे सुखात्मक अनुभव मिले) स्पर्श (= विषय-इन्द्रिय संयोग) के कारण (= प्रतील) सुखा वेदना उत्पन्न होती है। वह सुखा वेदनाको अनुभव करते 'सुखा वेदनाको अनुभव कर रहा हूँ'—जानता है। 'उसी सुख-वेदनीय स्पर्शके निरोध (= छुट) हो जानेसे, उससे उत्पन्न अनुभव (= वेदित) —सुखवेदनीय स्पर्शके द्वारा उत्पन्न सुखा वेदना—वह निरुद्ध होती है = वह उपशान्त होती है'—जानता है। मिथु ! दुःख-वेदनीय स्पर्शके कारण दुःखा वेदना उत्पन्न होती है। ० वह उपशान्त होती है—जानता है। मिथु ! अदुःख-असुख-वेदनीय स्पर्शके कारण अदुःख-असुखा वेदना उत्पन्न होती है। ० वह उपशान्त होती है—जानता है।

‘जैसे, मिथु ! दो काष्ठोंके संघर्षसे रागसे उष्मा (= गर्मी) पैदा होती है, आग प्रकट होती है। उन्हीं दोनों काष्ठोंके अलग होनेसे, विक्षेप होनेसे जो उससे उत्पन्न उष्मा है, वह निरुद्ध = उपशान्त हो जाती है, ऐसे ही मिथु ! सुख-वेदनीय स्पर्शके कारण सुखा वेदना उत्पन्न होती है। ० उपशान्त होती है’—जानता है। दुःख वेदनीय स्पर्शके कारण दुःखा वेदना उत्पन्न होती है। ० उपशान्त होती है’—जानता है अदुःख-असुख वेदनीय स्पर्शके कारण अदुःख-असुखा वेदना उत्पन्न होती है। ० उपशान्त होती है’—जानता है। तब फिर परिशुद्ध = पर्यवदात, मनु, कार्यण्य, प्रभाकर उपेक्षा हो पाकी रहती है। जैसे, मिथु ! चतुर सोनार या सोनारका चार्मिद (= अन्तेवासी) उल्का (= अंगोठी) बाँधे, उल्काको बाँध कर उल्कामुल्ल (= अंगोठी) को लीये (= जोड़े)। उल्कामुल्लको जोपकर संबन्धी (= संदास) से सोनेको पकड़ कर उल्का-मुल्लमें डाले। उसे समय समय पर चौंके, समय समय पर पानीसे ठीका दे, समय समय पर

(सुष चाय) डोह रखते । (तव) वह सोना, सुदु, कर्षण (= कामके लायक), प्रभास्वर, शुद्ध, निर्मल, निहत (= धुला), कषाययुक्त होता है । तव जित जित आभूषण...को चाहे—चाहे पट्टिका, चाहे कुंडल, चाहे ग्रैवेयक (= कंठा), चाहे सुवर्णमाला—उसी चीज (= अर्थ) अनुभव कर सकता है । ऐसे ही मिथु ! तब फिर ० उपेक्षा ही पाकी रहती है । वह इस प्रकार जानता है—‘ऐसी परिशुद्ध = पर्यवदात, इस उपेक्षासे मैं आकाशानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरूँ, उसके धर्मानुसार चित्तको भावित (= अभ्यस्त) करूँ, इस प्रकार मेरी यह उपेक्षा उस (आकाशानन्त्यायतन)में आवृत्त हो, उसे उपादान बना फिर = दीर्घकाल तक रहरेगी । यदि मैं ऐसी परिशुद्ध = पर्यवदात इस उपेक्षासे विज्ञानानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरूँ, ० दीर्घकाल तक रहरेगी । यदि मैं ऐसी परिशुद्ध = पर्यवदात इस उपेक्षासे आकिन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरूँ, ० दीर्घकाल तक रहरेगी । ० नैवसंज्ञानासंज्ञायतनको प्राप्त हो विहरूँ, ० दीर्घकाल तक रहरेगी । वह ऐसा जानता है—यदि ऐसा परिशुद्ध = पर्यवदात इस उपेक्षासे आकाशानन्त्यायतनको प्राप्त हो विहरूँ, उसके धर्मानुसार चित्तको भावित करूँ, (तो) भी यह संस्कृत (= कृत) है । ० विज्ञानानन्त्यायतन ० । ० आकिन्त्यायतन ० । ० नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त हो विहरूँ, उसके धर्मानुसार चित्तको भावित करूँ, (तो) भी यह संस्कृत है’ ।—(यह सोच) वह न उसके मव (= उत्पत्ति) या विमव (= विनाश)के लिये न अभिसंस्कार (= बनाया) करता है, न अभिसंवेदन (= बघाल) करता है । वह भव ० अभिसंवेदन न करते लोकमें किसी (वस्तु)का उपादान (= संग्रह) नहीं करता; उपादान न करनेसे प्राप्तको नहीं प्राप्त होता । परिचास न पाले वह इसी शरीर (= प्रत्यात्म) निर्वाणको प्राप्त होता है । जन्म (= आवागमन) स्वतन्त्र होना ० ^१ इसे जानता है । वह यदि सुखा वेदनाको अनुभव करता है, (तो भी) ‘यद् अनित्य है’—जानता है ‘अन्-अभ्यवसित (= अ-निश्चित) है’—जानता है । ‘अन्-अभिनन्दित है’—जानता है । यदि दुःख वेदनाको अनुभव करता है ० । यदि अ-दुःख-असुखा वेदनाको अनुभव करता है । वह यदि सुखा वेदनाको वेदन (= अनुभव) करता है, तो वि-संयुक्त (= विमुक्त) हो उसे नहीं वेदन करता । यदि दुःखा वेदनाको ० । यदि अदुःख-असुखा वेदनाको ० । वह काया पर्यन्तकी वेदनाको वेदन करते हुये—‘काय-पर्यन्त वेदनाको वेदन करता हूँ’—जानता है । जीवित (= जीवन)-पर्यन्त वेदनाको वेदन करते हुये—० । ‘काया छोड़ मरनेके बाद जीवन स्वतन्त्र होने (= पर्यादान)के पश्चात् यहीं सारे अनुभव (= वेदित), अन्-अभिनन्दित हो ठंडे हो जायेंगे’—जानता है । जैसे, मिथुओ ! तेल और बत्ती के सहारे तेल-प्रदीप जलता है । उसकी तेल और बत्तीके स्वतन्त्र होने पर और दूसरेके न मिलने पर (= अनुपादानत्) निराहार हो बुझ जाता है । (= निष्पावति) निर्वाणको प्राप्त होता है, इसी प्रकार, मिथु ! काय-पर्यन्तकी वेदनाको वेदन करते हुये—० ठंडे हो जायेंगे—जानता है । इसलिये इस प्रकार ऐसे (गुणोंसे) युक्त मिथु, इस परम प्रज्ञा-अधिष्ठानसे संयुक्त होता है । मिथु ! यही परम आर्य प्रज्ञा है, जो कि यह सारे दुःखोंके अथवा शान ? उसकी वह विशुद्धि (= मुक्ति) सत्य में स्थित, अ-कोष (= चक्षु) होती है । मिथु ! वह मृषा (= असत्य) है, जो कि नाश-भान (= मोषधर्मा) है, जो मोषधर्मा नहीं है, वह निर्वर्ण है । इसलिये ऐसे (गुणोंसे) युक्त मिथु इस परम-सत्य अधिष्ठानसे युक्त होता है । मिथु ! यही परम आर्य-सत्य है, जो कि यह अ-मोषधर्मा निर्वाण है ।

“यहिले भ-जान होते समय उसने ही उपधियाँ (= स्कंध, काय, ज्ञेय, कर्म) ग्रहणकी = समादिन्न होती हैं; (अब) यह उसकी प्रणिष्ठा = उच्छिन्न-मूल, कटे शिर वाले ताड़ जैसी, अभाव-प्राप्त, नविष्यमें दृश्य होलिके अयोग्य होती है । इसलिये ऐसे (गुणोंसे) युक्त भिक्षु इस परम त्याग-अधिष्ठान से संयुक्त होता है । भिक्षु ! यही परम आर्य-त्याग है, जो कि सारी उपधियोंका परित्याग ।

“० अज्ञान होते समय उसे अभिषया (= लोभ) छन्द, राग होता है; (अब) वह ० उच्छिन्न मूल ० होते हैं । ० अज्ञान होते समय, उसे आघात व्यापाद संप्र-द्वेष होते हैं; ० । ० अज्ञान होते समय अविद्या, सम्मोह होता है; ० । इसलिये ऐसे (गुणोंसे) युक्त भिक्षु इस परम उपशम-अधिष्ठानसे युक्त होता है । भिक्षु ! यही परम आर्य उपशम है, जो कि यह राग, द्वेष और मोहका उपशम (= शमन, शांत होना) ।

“यह जो कहा—‘प्रज्ञासे प्रमाद न करे, सत्यकी रक्षा कर, त्यागको पदार्थ, उपशमका ही अभ्यास करे’—यह इसीलिये कहा ।

(५) ‘यह जो कहा—‘जहाँ स्थित (इसके) मान और उत्सव नहीं प्रवृत्त होते । मान और उत्सवके न प्रवृत्त होनेपर—(वह) शान्त मुनि कहा जाता है’—जो किस लिये कहा ? भिक्षु ! ‘मैं हूँ’—यह मान (= भव्यता) है । ‘यह मैं हूँ’—यह मान है । ‘हूँगा’—यह मान है । ‘नहीं होऊँगा’—यह मान है । ‘अ-रूपी होऊँगा’—० । ‘संज्ञी होऊँगा’—० । ‘अ-संज्ञी होऊँगा’—० । ‘नैवसंज्ञी-नसंज्ञी होऊँगा’—० । भिक्षु ! मान (= भव्यता) रोग है, ० गंड (= भोवा) है, मान शल्य है । भिक्षु ! सारे भगोंका अतिक्रमण कर शान्त मुनि कहा जाता है । भिक्षु ! शान्त मुनि जन्म-जरा-मरणको नहीं प्राप्त होता, न कुपित होता है, न सृष्टा करता है । नही उसके पास नहीं है, जिस जन्मतासे न जन्मा क्या जराको प्राप्त होगा ? न जराको प्राप्त क्या कोपेगा ? न कुपित हुआ क्या सृष्टा करेगा । यह जो कहा—‘जहाँ स्थित ०’—सो इसलिये कहा ।

“भिक्षु ! मेरे संक्षेपसे कहे इन छः धातुओंको धारण कर ।”

सब आपुष्मान् पुक्कु-सालि—‘जहो, धाया मुझे छिन्न गये, सुगत ०’ समयक्-संबुद्ध मुझे मिल गये’—(सोच); आसनसे उठ उत्तरासंग (= उपरने)को एक (धावें) कंधेपर कर, भगवान्के पैरोंमें शिरसे पड़कर भगवान्से यह बोले—

“भन्ते ! बाल = मूढ़ = अकुशलकी तरह (मेरे) अपराधको क्षमा करें, जो कि मैंने भगवान्को ‘आवुस’ कह कर पुकारा । भन्ते ! उस मेरे अपराधको, आगे संवत्स करनेके लिये भगवान् बोलिके तौरपर स्वीकार करें ।”

“भिक्षु ! जो तुने बाल ० की तरह अपराध किया । जो कि तुने मुझे ‘आवुस’ कह कर पुकारा । चूँकि, भिक्षु ! तू अत्यव (= अपराध)को अत्यवके तौर पर देखकर धर्मानुसार प्रतीकार करता है; (इसलिये) उसे हम स्वीकार करते हैं । भिक्षु ! आर्य-विनय (सत्पुरुषोंकी रीति)में यह बुद्धि (= लाभ) ही है, जो कि अपराधको अपराधके तौरपर देखकर धर्मानुसार प्रतीकार करता है, नविष्यमें संतर (= संवत्स) रखता है ।”

“छिळे भन्ते ! मुझे भगवान्के पादसे उपसंपदा ।”

“भिक्षु ! क्या तेरे पास पात्र-बीवर* पूरे हैं ?”

* तावुस विष या मारके अर्थमें बराबरवालेके लिये प्रयुक्त होता था ।

* तीन बीवर हैं—कन्तरवासक (= लुंगी), उत्तरासंग (= इकहरी ऊपर केनेकी चादर), संवादी (= दूसरा उत्तरासंग सर्दिके लिये) और एक मिश्रापात्र एक भिक्षुके लिये जरूरी है ।

“मन्ते ! मेरे पास पात्र-बीवर पूरे नहीं हैं ।”

“भिषु ! तयागत अ-परिपूर्ण पात्र-बीवर वालेको उपसंपादित (= मिथुकी दीक्षासे दीक्षित) नहीं करते ।”

तब आनुष्मान् पुच्छुसाति भगवान्के भाषणको अभिनंदित = अनुमोदित कर, आसनसे उठ कर, भगवान्को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर, पात्र-बीवरकी खोजमें चल पड़े । तब पात्र-बीवर की खोजमें फिरते आनुष्मान् पुच्छुसातिको एक पागल गायने मार डाला । तब बहुतसे भिषु जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे उन भिषुओंने भगवान्से यह कहा—

“मन्ते ! जो वह पुच्छुसाति नामक कुल-पुत्र, जिसे कि भगवान्ने संक्षेपसे उपदेश किया, वह काल कर गया । उसकी क्या गति होगी = क्या अभिसंप्रसाय (= परलोक) होगी ?”

“भिषुओ ! पुच्छुसाति कुलपुत्र पंडित, सत्यवादी धर्मानुसार (चलनेवाला) था, उसने मुझे धर्मसे कोई परीक्षा नहीं दी । भिषुओ ! पुच्छुसाति कुलपुत्र पाँचों ऊपर-भागीय-संयोजनोंके क्षयसे औपपातिक (= अवोनिज देव) हो वहाँ (देवलोकमें) निर्वाण पानेवाला है, उस लोकसे न लौटनेवाला है ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिषुओंने भगवान्के भाषणको अभिनंदित किया ।

१४१-सञ्च-विभंग-मुत्तन्त (३।४।११)

चार आर्थ-सत्त्व

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् वाराणसीमें क्षपितन-सृगदाव*में विहार करते थे ।

वहाँ भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“मदन्त !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! तद्योगत आहं सम्यक्-संशुद्धने वाराणसी क्षपितन-सृगदावमें अनुपम धर्म-चक्रको प्रवर्तित किया (= बुझाया), (जोकि) धम्मज-वाङ्मण, देव, मार, मल्ला या लोकमें किसीसे भी उलथाया नहीं जा सकता । जोकि यह चार आर्थ-सत्त्वोंका आख्यान = वेदना = प्रज्ञापन = प्रस्थापन = विपरण = विभावन = उत्तानीकरण (= स्पष्टीकरण) करना है । किन चारोंका ?—दुःख-आर्य-सत्त्वका आख्यान ० । दुःख-समुद्ध्य-आर्य-सत्त्वका ० । दुःख निरोध-आर्य-सत्त्वका ० । दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपदा-आर्य-सत्त्वका ० । भिक्षुओ ! तद्योगत ० ने ० धर्म-चक्रको प्रवर्तित किया, (जोकि) ० ।

“भिक्षुओ ! सारिपुत्र, और मौद्गल्यायनको सेवन करो, ० भजन करो । भिक्षुओ ! सारि-पुत्र, मौद्गल्यायन पंडित हैं, समग्रचारियोंके अनुप्राहक हैं । भिक्षुओ ! जन्मदाता (= पिता) की तरह सारिपुत्र हैं; जन्मको पोषणवालेकी तरह मौद्गल्यायन हैं । भिक्षुओ ! सारिपुत्र (अधिकारीको) श्रोत-आपत्तिकालमें प्राप्त कराता है; और मौद्गल्यायन उत्तम-अर्थ (= पदार्थ = निर्वाण) में । भिक्षुओ ! सारिपुत्र चार आर्थ-सत्त्वोंका विस्तारपूर्वक आख्यान ० उत्तानीकरण कर सकता है ।”

भगवान्ने यह कहा, यह कह सुगत आसनसे उठ विहारमें चले गये ।

तब भगवान्के चले जानेके थोड़े ही समय बाद आयुष्मान् सारिपुत्रने भिक्षुओंको संबोधित किया—“आहुस भिक्षुओ !”

“आहुस !”—(कह) उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया ।

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा—“आहुसो ! तद्योगत ० ने वाराणसी ० में अनुपम धर्म चक्रको प्रवर्तित किया ० दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा आर्य-सत्त्वका ० उत्तानीकरण किया ।”

“यह कही जाती है, आहुसो ! दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा आर्य-सत्त्व । आहुसो ! तद्योगत ० ने ० धर्मचक्रको प्रवर्तित किया । ० दुःख निरोधगामिनी आर्य-सत्त्वका ० उत्तानीकरण किया ।”

आयुष्मान् सारिपुत्रने यह कहा, समुष्ट हो उन भिक्षुओंने आयुष्मान् सारिपुत्रके भाषणको अभिनंदित किया ।

* सारनाथ ।

* देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ १२३-२७ ।

१४२—दक्खिणा-विभंग-सुत्तन्त (३।४।१२)

संघ न्यायिकों के रूप में है

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् शाक्यों (के देश) में कपिलवस्तुके न्यग्रोधाराममें विहार करते थे । तब महाप्रजापती गौतमी नये दुस्स (= पुस्से) के जोड़ेको लेकर, जहाँ भगवान् थे वहाँ आई । आकर भगवान्‌की अभिवादन कर एक ओर बैठ गई । एक ओर बैठो, महाप्रजापती गौतमीने भगवान्‌को यों कहा—“भन्ते ! यह अपना ही काता, अपना ही बुना, मेरा यह नया पुस्सा-जोड़ा भगवान्‌को (अर्पण है) । भन्ते ! भगवान् अनुकम्पा (= कृपा) कर, इसे स्वीकार करें ।”

ऐसा कहनेपर भगवान्‌ने महाप्रजापती गौतमीसे कहा—

“गौतमी ! (इसे) संघको दे दे । संघको देनेसे मैं भी पूजित हूँगा, और संघ भी ।”

दूसरी बार भी ० कहा—“भन्ते यह ०” । “गौतमी ! संघको दे ०” । तीसरी बार भी ० ।

यह कहनेपर आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌से यों कहा—

“भन्ते ! भगवान् महाप्रजापती गौतमीके पुस्सा-जोड़ेको स्वीकार करें । भन्ते ! आपादिका (= अभिमादिका), पोषिका, क्षीर-दायिका (दूधसे), भगवान्‌की भौसी महाप्रजापती गौतमी बहुत उपकार करनेवाली है । इतने जनताके मरनेपर भगवान्‌को वृष पिलाया । भगवान् भी महाप्रजापती गौतमीके सहोपकारक हैं । भन्ते ! भगवान्‌के कारण महाप्रजापती ० बुद्धकी कारण आई, धर्मकी शरण आई, संघकी शरण आई । भगवान्‌के कारण भन्ते ! महाप्रजापती गौतमी प्राणातिपात (= हिंसा) से विरत हुई । अदत्तादान (= बिना दिये लेना = चोरीसे) विरत हुई । काम-मिथ्याचारसे ० मृषावादसे (= झूठ बोलना) से ० । मुरा-मेरय (= कबी शराब)-मद्य-प्रसादस्थान (= प्रसाद करनेकी जगह) से ० । भगवान्‌के कारण भन्ते ! महाप्रजापती गौतमी बुद्धमें अत्यन्त अद्वा (= प्रसाद) युक्त, धर्ममें अत्यन्त प्रसाद-युक्त, संघमें अत्यन्त प्रसाद-युक्त (हुई); आर्य (= उत्तम) कांत (= कमनीय = सुन्दर) शीलसे युक्त (हुई) । भगवान्‌के ही कारण भन्ते ! ० दुःखसे बेफिक्र हुई, दुःख-समुदयसे ०, दुःख-निरोधसे ०, दुःख-निरोध-व्याप्ति-प्रतिपदसे ० । भगवान् भी भन्ते ! महाप्रजापती गौतमीके महाउपकारक हैं ।”

“आनन्द ! यह ऐसा ही है, पुद्गल (= व्यक्ति = प्राणी) पुद्गलके सहारे बुद्धका शरणागत होता है, धर्मका ०, संघका ० । लेकिन आनन्द ! जो यह अभिवादन, प्रत्युपस्थान (= सेवा), अन्नान्न जोषना = समीचीन करना, चोकर, पिङ्ग-पात, शयनासन, ज्ञान (= रोगी) को पथ-औपच देना है, (इसे) मैं इस पुद्गलका उस पुद्गलके प्रति सुप्रतिकार (= प्रत्युपकार) नहीं कहता । जो (कि यह) पुद्गल (दूसरे) पुद्गलके सहारे प्राणातिपात ०, अदत्तादान ०,

काम-मिथ्याचार ०, कृपावाद ०, सुरा-भैरव-मद्य-प्रमाद-स्थानसे विस्तृत होता है ! आनन्द ! जो यह अभिवादन ० । जो यह आनन्द ! पुद्गल पुद्गलके सहारे दुःखसे बेफिक्र होता है ० ।

आनन्द ! यह चौदह प्राति-पुद्गलिक (= व्यक्तिगत) दक्षिणार्थ (= दान) हैं । कौनसी चौदह ? तथ्यागत अर्हत्-सम्बन्ध-संबुद्धको दान देता है; यह पहिली प्राति-पुद्गलिक दक्षिणा है । प्रत्येक संबुद्धको दक्षिणा देता है; यह दूसरी ० । तथ्यागतके आनन्द (= निष्पन्न) अर्हत्को ० तीसरी ० । अर्हत्-फलके साक्षात् करनेमें लगे हुयेको ० चौथी ० । अनागामीको ० पाँचवीं ० । अनागामि-फल साक्षात् करनेमें लगे हुयेको ० छठी ० । सकृदागामीको ० सातवीं ० । सकृदागामि-फल साक्षात् करनेमें लगेको ० आठवीं ० । सोतापन्नको ० नवीं ० । सोतापत्ति (= सोत आपत्ति)-फल साक्षात् करनेमें लगेको ० दसवीं ० । गाँवके बाहरके वीत-रागको ० ग्यारहवीं ० । शीलवान् पृथग्जन (सोत आपत्ति आदि को न प्राप्त)को ० बारहवीं ० । दुःशील पृथग्जनको ० तेरहवीं ० । तिर्यग्योनिगत (= पशु पक्षी आदि)को ० चौदहवीं ० । यहाँ आनन्द ! तिर्यग्योनि-गतको दान देनेमें सौमुनी दक्षिणाकी आज्ञा रखनी चाहिये । दुःशील पृथग्जनमें ० हजार गुनी ० । शील-वान् पृथग्जनमें ० सौ हजार ० । ० सौ हजार करोड़ ० । सोत आपत्ति फल साक्षात् करनेमें लगेको दान दे ० असंख्य (= अनगिनत) जन्ममें (= प्रमाण रहित) दक्षिणाकी आज्ञा रखनी चाहिये । फिर सोतआपन्नकी बात क्या कहनी है ? फिर सकृदागामी ० ? फिर अनागामी ० ? फिर अर्हत् ० ? फिर प्रत्येक-पुद्ग ० ? फिर तथ्यागत अर्हत् सम्बन्ध संबुद्ध ० ?

“आनन्द ! यह सात संघ-गत (= संघमेंकी) दक्षिणार्थ हैं । कौनसी सात ? कुछ प्रमुख दोनों संघोंको दान देता है; यह पहिली संघ-गत दक्षिणा है । तथ्यागतके परिनिर्वाणपर ० दोनों संघोंको ० दूसरी ० । भिक्षु-संघको ० तीसरी ० । भिक्षुणी-संघको ० चौथी ० । सुझे ० व इतने भिक्षु भिक्षुणी उद्देश करें (= दान देनेके लिये दे), ऐसे दान देता है ० यह पाँचवीं ० । सुझे संघमेंसे इतने भिक्षु ० छठी ० । सुझे संघमेंसे इतनी भिक्षुणियाँ ०, सातवीं ० ।

“आनन्द ! अविष्यकालमें भिक्षु-नाम-धारी (= गोचर), काषाय-मात्र-धारी (= काषाय-कंड) दुःशील, पाप-धर्मा (= पापी) (भिक्षु) होमें । (लोग) संघके (नामपर) इन दुःशीलों को दान देंगे । उस वक़्तभी आनन्द ! मैं संघ-विषयक दक्षिणाको असंख्येय, अपरिमित (फलवाली) कहता हूँ । आनन्द ! किसी तरह भी संघ-विषयक दक्षिणासे प्राति-पुद्गलिक (= व्यक्तिगत) दक्षिणाको अधिक फल-दायक मैं नहीं मानता ।

“आनन्द ! यह चार दक्षिणा (= दान) की विभुद्वियाँ (= बुद्धियाँ) हैं । कौनसी चार ? आनन्द ! (कोई कोई) दक्षिणा तो दायकसे परिशुद्ध होती है, प्रतिग्राहकसे नहीं । (कोई) दक्षिणा प्रतिग्राहकसे परिशुद्ध होती है, दायकसे नहीं । आनन्द ! (कोई) दक्षिणा न दायकसे शुद्ध होती है, न प्रतिग्राहकसे । (कोई) दक्षिणा दायकसे भी शुद्ध होती है प्रतिग्राहकसे भी... आनन्द ! दक्षिणा कैसे दायकसे शुद्ध होती है, प्रतिग्राहकसे नहीं... आनन्द ! जब दायक शीलवान् (= भद्राचारी) और कल्याणधर्मा (= पुण्यवत्ता) हो, और प्रतिग्राहक हो दुःशील (= दुराचारी) पाप-धर्मा (= पापी); तो आनन्द ! दक्षिणा दायकसे शुद्ध होती है, प्रतिग्राहकसे नहीं । आनन्द ! कैसे दक्षिणा प्रतिग्राहकसे शुद्ध होती है, दायकसे नहीं ? आनन्द ! जब प्रतिग्राहक शीलवान् और कल्याणधर्मा हो, (और) दायक हो दुःशील, पाप-धर्मा ० । आनन्द ! कैसे दक्षिणा न दायकसे शुद्ध होती है, न प्रतिग्राहकसे ? आनन्द ! जब

दायक दुःशील, पाप-धर्मा हो, और प्रतिप्राहक भी दुःशील पाप-धर्मा हो । आनन्द ! कैसे दक्षिणा दायकसे भी झुड़ होती है, और प्रतिप्राहकसे भी ? आनन्द ! (तब) दायक शीलवान् कल्याण-धर्मा हो (और) प्रतिप्राहक भी शीलवान् कल्याण-धर्मा हो, तो ० । आनन्द ! यह चार दक्षिणा की विभुदियाँ हैं ।”

(१४-इति विभंग-वग ३१४)

१४३-अनाथपिंडिकोवाद-सुत्तन्त (३।५।१)

अनाथपिंडिककी मृत्यु । अनासक्ति योग ।

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आयस्तीमें अनाथपिंडिकके भगवत् जेतवनमें विहार करते थे ।

उस समय अनाथपिंडिक गृहपति बहुत अधिक रुग्ण, दुःखित, बीमार था । तब अनाथपिंडिक गृहपतिने एक आदर्शसे कहा—“हे पुरुष ! जहाँ भगवान् हैं, वहाँ जाओ; जाकर मेरे वचनसे भगवान् के चरणोंमें शिरसे वन्दना करो; और यह भी कहो—‘मन्ते ! अनाथपिंडिक गृहपति ० बीमार है; वह भगवान् के चरणोंमें शिरसे वन्दना करता है’ । (फिर) जहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र हैं, वहाँ जाओ, जाकर मेरे वचनसे आयुष्मान् सारिपुत्रके चरणोंमें शिरसे वन्दना करो; और यह भी कहो—‘मन्ते ! अनाथपिंडिक गृहपति ० बीमार है; वह आयुष्मान् सारिपुत्रके चरणोंमें शिरसे वन्दना करता है; और यह भी कहो—‘अच्छा हो मन्ते ! आयुष्मान् सारिपुत्र जहाँ अनाथपिंडिक गृहपतिका घर है, कृपा कर वहाँ चले’ ।”

“अच्छा, मन्ते !”—(कह) उस पुरुषने अनाथपिंडिक गृहपतिसे कह, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया; जाकर भगवान् को अभिवादित कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे, उस पुरुषने भगवान् से यह कहा—

“मन्ते ! अनाथपिंडिक गृहपति ० बीमार है; ० वन्दना करता है ।”

(फिर) जहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र थे, वहाँ गया । जाकर आयुष्मान् सारिपुत्रको अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे, उस पुरुषने आयुष्मान् सारिपुत्रसे यह कहा—

“मन्ते ! अनाथपिंडिक गृहपति ० बीमार है; ० वन्दना करता है । और यह भी कहता है—‘अच्छा हो, मन्ते ! ० कृपा कर वहाँ चले’ ।”

आयुष्मान् सारिपुत्रने यौनसे स्वीकार किया ।

तब आयुष्मान् सारिपुत्र पहिनकर, पाय-बीवर ले, आयुष्मान् आनन्दको अनुगामी समझ गया, जहाँ अनाथ-पिंडिकका घर था, वहाँ गये । जाकर भित्ति आसनपर बैठे । बैठकर आयुष्मान् सारिपुत्रने अनाथ-पिंडिक गृहपतिसे यह कहा—

“गृहपति ! ठीक तो है ? (काक-) घापन तो हो रहा है ? दुःखा वेदना इट तो रही है, लौट तो नहीं रही है ? (व्याधिका) हडना तो मालूम हो रहा है; लौटना तो नहीं मालूम हो रहा है ?”

“मन्ते सारिपुत्र ! मुझे ठीक नहीं है; ०” अत्यधिक दाह हो रहा है । मन्ते सारिपुत्र ! मुझे ठीक नहीं है ० ।”

“तो ऐसा गृहपति ! अभ्यास करो (= शिक्षितव्य)—‘चक्षुःका उपादान न कहूँगा, और मेरा विज्ञान (= पितृ) चक्षुःमें निहित (= आश्रित, आस्तक) न होगा’। ऐसा गृहपति ! अभ्यास करो । सो ० श्रोत्र ० । ० घ्राण ० । ० जिह्वा ० । ० मन ० । ० रूप ० । ० शब्द ० । ० गंध ० । ० रस ० । ० स्पर्श ० । ० धर्म ० । ० चक्षुर्विज्ञान ० । ० श्रोत्र-विज्ञान ० । ० घ्राण-विज्ञान ० । ० जिह्वा-विज्ञान ० । ० काय-विज्ञान ० । ० मनो-विज्ञान ० । ० चक्षुःसंस्पर्श १ ० । ० श्रोत्र-संस्पर्श ० । ० घ्राण-संस्पर्श ० । ० जिह्वा-संस्पर्श ० । ० काय-संस्पर्श ० । ० मन-संस्पर्श ० । ० चक्षुःसंस्पर्शजा वेदना १ ० । ० श्रोत्र-संस्पर्शजा वेदना ० । ० घ्राण-संस्पर्शजा वेदना ० । ० जिह्वा-संस्पर्शजा वेदना ० । ० काय-संस्पर्शजा वेदना ० । ० मन-संस्पर्शजा वेदना ० । ० पृथिवी-धातु १ ० । ० आप-धातु ० । ० तेज-धातु ० । ० वायु-धातु ० । ० आकाशधातु ० । ० विज्ञान-धातु ० । ० रूप ० । ० वेदना ० । ० संज्ञा ० । ० संस्कार ० । ० विज्ञान ० । ० आकाशानन्त्या-यतन ० । ० विज्ञानानन्त्यायतन ० । ० आकिञ्चन्यायतन ० । ० नैव संज्ञा-मासंज्ञायतन ० । ० इस लोको ० । तो ऐसा, गृहपति ! अभ्यास करो—‘परलोकाका उपादान न कहूँगा, और मेरा विज्ञान परलोकमें निहित न होगा’—ऐसे गृहपति तुम अभ्यास करो । तो ऐसा, गृहपति ! अभ्यास करो, कि जो कुछ भी तुम्हारा दृष्ट, श्रुत, स्मृत, विज्ञान, प्राप्त, पर्येक्षित (= खोज किया), अनु-पर्येक्षित, मन द्वारा अनुचरित है, उसका भी उपादान न कहूँगा, और मेरा विज्ञान उसमें निहित न होगा—ऐसे गृहपति तुम अभ्यास करो ।”

ऐसा कहनेपर अनाथपिंडिक गृहपति से पक्षा, जाँचू गिराने लगा । तब आयुष्मान् आनंदने अनाथपिंडिक गृहपतिसे यह कहा—

“गृहपति ! क्या धररा रहे हो, दिल छोटा कर रहे हो ?”

“मन्ते आनंद ! मैं धररा नहीं रहा हूँ, दिल छोटा नहीं कर रहा हूँ; बल्कि मन्ते ! मैंने दीर्घकालसे शास्त्राकी उपासना (= सत्संग) की और मनोमात्रयोग (= मातृगामें तत्पर) भिन्न भी; किन्तु मैंने ऐसी धार्मिक कथा पहिले नहीं सुननेको पाई ।”

“गृहपति ! श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थोंको ऐसी धार्मिक कथा वहीं समझमें आती; प्रमजितको, गृहपति ! ऐसी धार्मिक कथा समझमें आती है ।”

“तो, मन्ते सारिपुत्र ! ० गृहस्थोंको भी ऐसी धार्मिक कथा समझनेको मिले । मन्ते ! जन्म मतवाले भी कुलपुत्र हैं; धर्मके न अवगमने वह परिहीन (= वंचित) होंगे । (वह) धर्मके जाननेवाले होंगे ।”

तब आयुष्मान् सारिपुत्र और आयुष्मान् आनंद, अनाथपिंडिक गृहपतिको इस अववाद (= उपदेश) से उपदेश कर, आसनसे उठकर चले गये । आयुष्मान् सारिपुत्र और आयुष्मान् आनंद के चले जानेके थोड़े ही समय बाद अनाथपिंडिक गृहपतिने काल किया । (और) तुषित-काय (= सुषित देव-लोको) में वह उत्पन्न हुआ ।

तब प्रकाश युक्त रात्रिको ०^१ प्रकाशमान वर्णवाला अनाथपिंडिक देवपुत्र, वहाँ भगवान् ने, वहाँ गया; जाकर भगवान्को अभिवादन कर एक ओर बसा हो गया । एक ओर खड़े अनाथ-पिंडिक देवपुत्रने भगवान्से मायाओंमें कहा—

^१ इन्द्रिय और विषयके समागमको संस्पर्श कहते हैं । ^२ इन्द्रिय और विषयके संस्पर्श होनेपर जो मनकी दुःखमय, सुखमय या अदुःख-असुखमय अवस्था होती है, उसे वेदना कहते हैं । ^३ जो पदार्थ वस्तुको पारण करते हैं, या उसके उपादान कारण होते हैं । ^४ देखो पृष्ठ ५५० ।

“अपि-संघसे सेवित ।

धर्मराज^१ का नाम यह पुका यह जेतवन सुखे प्रीति^२ दायक है ॥ (१) ॥

कर्म, विद्या, धर्म, शील और उत्तम जीवन;

इनसे समुप्य कुछ होते हैं, गोत्र और वनसे नहीं ॥ (२) ॥

इसलिये पंडित पुरुष अपने हितको देखते,

गोत्रियः^३ धर्मका चयन करे, ऐसे (वह) वहाँ कुछ होता है ॥ (३) ॥

प्रजा, शील और उपशममें सारिपुत्रसा देवपुत्र,

धारंगत, जो भिक्षु (हो वह) भी इतना ही महान् होगा ।”

अनाथ-पिंडिक देवपुत्रने यह कहा, (जिससे) शास्ता सहमत हुये । तब अनाथपिंडिक
‘शास्ता सहमत है’—(सोच) भगवान्‌को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर वहीं अन्तर्धान होगया ।

तब भगवान्‌ने इस रातके बीच जानेपर भिक्षुओंको संबोधित किया—

“भिक्षुभो ! आज रातको ०” एक देवपुत्र, जहाँ मैं था, वहाँ आया । आकर सुखे अभिवादन
कर एक और खड़ा हो गया । एक और खड़े उस देवपुत्रने सुखे गायामोंमें कहा—

“अपिसंघसे सेवित ०” इतना ही महान् होगा ।

“उस देवपुत्रने, भिक्षुभो ! यह कहा । ‘शास्ता सहमत है’—(सोच) सुखे अभिवादन कर ०
वहीं अन्तर्धान होगया ।”

देवा कहनेपर आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌से यह कहा—

“वह, भन्ते ! जरूर अनाथपिंडिक देवपुत्र होगा । भन्ते ! अनाथपिंडिक गृहपति आयु-
ष्मान् सारिपुत्रमें अभिप्रसन्न (= अतिभद्रावान्) था ।

“साधु, साधु, आनन्द ! जितना कुछ आनन्द ! तर्कसे पाया जा सकता है, वह तुझे पा लिया
है । आनन्द ! यह देवपुत्र अनाथपिंडिक था ।”

भगवान्‌ने यह कहा, समुष्ट हो आयुष्मान् आनन्दने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया ।

^१ कुल ।

^२ सुखी ।

^३ कार्य कारणका मूल स्थापक करके ।

^४ देखो पृष्ठ ५८३, ५५० ।

^५ देखी कंठ ।

१४४-अज्ञोवाद-मुत्तन्त (३।५।२)

जनताम-वाद, छत्रको कानन-वाता

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें देणुवन कलंदकनिवापमें विहार करते थे ।

उस समय आयुष्मान् सारिपुत्र, आयुष्मान् महाचुन्द, और, आयुष्मान् महालज्ज, गृध्रकृत धर्वतपर विहार करते थे । उस समय आयुष्मान् छत्र बहुत अधिक रुग्ण, दुःखी^१ बीमार थे । तब आयुष्मान् सारिपुत्र क्षाण्काल, ध्यानसे उठे तहाँ आयुष्मान् महाचुन्द थे, वहाँ गये । जाकर आयुष्मान् महाचुन्दसे यह कहा—

“ब्रह्मो, आयुस पुन्द ! बीमारी छत्रके तहाँ आयुष्मान् छत्र है, वहाँ चले ।”

“बच्छा, आयुस !”—(कह) आयुष्मान् महाचुन्दने आयुष्मान् सारिपुत्रको उत्तर दिया ।

तब आयुष्मान् सारिपुत्र और आयुष्मान् महाचुन्द तहाँ आयुष्मान् छत्र थे वहाँ गये । जाकर आयुष्मान् छत्रके साथ “संमोदनकर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् सारिपुत्रने आयुष्मान् छत्रसे यह कहा—

“आयुस छत्र ! ठीक तो है ? (काल-) पापन तो हो रहा है ?^२ लौटना तो नहीं मालूम हो रहा है ?”

“आयुस सारिपुत्र ! मुझे ठीक नहीं है; ^० ^३ अत्यधिक दाह हो रहा है । आयुस सारिपुत्र ! मुझे ठीक नहीं है ^० ^३ । आयुस सारिपुत्र ! शक्यमार (आत्महत्या) करूँगा; मैं जीना नहीं चाहता ।”

“मत आयुष्मान् छत्र ! शक्यमार (आत्महत्या) करें । गुजार दें, आयुष्मान् छत्र ! हम आयुष्मान् छत्रको गुजारते (देखना) चाहते हैं । यदि आयुष्मान् छत्रको अनुकूल (= सन्पाप) भोजन नहीं (प्राप्त) है, (तो) मैं ^० खोज लाऊँगा । यदि आयुष्मान् छत्रको अनुकूल औषध नहीं (प्राप्त) है, (तो) मैं आयुष्मान् छत्रको अनुकूल औषध खोज लाऊँगा । यदि आयुष्मान् छत्रको योग्य (= प्रतिरूप) उपस्थाक (= सेवा करनेवाला) नहीं है, तो मैं आयुष्मान् छत्रका उपस्थान (= सेवा) करूँगा । मत आयुष्मान् छत्र शक्य-मार आत्महत्या करें ^० गुजारते (देखना) चाहते हैं ।”

“आयुस सारिपुत्र ! मुझे अनुकूल भोजनका अभाव नहीं है । मुझे अनुकूल औषधका अभाव नहीं है । मुझे योग्य उपस्थाकका अभाव नहीं है । धम्मि, आयुस सारिपुत्र ! मैंने चिरकाल तक प्रेमके साथ शाला (= बुद्ध)का परिचरण (= सेवन) किया, अ-प्रेम (= अ-मनाप)से

^१ देखो पृष्ठ ५८३ ।

^२ देखो पृष्ठ ४०६ ।

नहीं। जाबुस सारिपुत्र ! आबकके लिये यही योग्य है, जो कि वह आत्मिका प्रेमसे परिचरन करे, अ-प्रेमसे नहीं। 'कह मित्र पुनर्जन्म-रहित हो सबमार (आत्महत्या) करेंगे—ऐसा ही, जाबुस सारिपुत्र ! तुम धारण करो ।"

"हम आबुप्मान् छत्रसे कुछ पूछें, यदि आबुप्मान् छत्र प्रथका उत्तर देनेका अवकाश करें ।"

"एहो, जाबुस सारिपुत्र ! सुनकर समझैगा ।"

"जाबुस छत्र ! चक्षु, चक्षु-विज्ञान, और चक्षु-विज्ञान द्वारा (= विज्ञातव्य) जानने योग्य धर्मोंको—'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है'—समझते हो ? श्रोत्र ० ? घ्राण ० ? जिह्वा ० ? काय ० ? मन ० ?"

"जाबुस सारिपुत्र ! चक्षु, चक्षु-विज्ञान, और चक्षु-विज्ञान द्वारा विज्ञातव्य धर्मों (= पदार्थों)को—'यह मेरा नहीं है' 'यह मैं नहीं हूँ', 'यह मेरा आत्मा नहीं है'—मैं समझता हूँ । श्रोत्र ० । घ्राण ० । जिह्वा ० । काय ० । मन ० ।"

"जाबुस छत्र ! चक्षुमें, चक्षु-विज्ञानमें, चक्षु-विज्ञान द्वारा विज्ञातव्य धर्मोंमें क्या देख, क्या जान, चक्षु, चक्षु-विज्ञान, चक्षु-विज्ञान द्वारा विज्ञातव्य धर्मोंको—'यह मेरा नहीं है'—समझते हो ? श्रोत्र ० ? घ्राण ० ? जिह्वा ० ? काय ० ? मन ० ?"

"जाबुस सारिपुत्र ! चक्षुमें ० धर्मोंमें निरोध (= विनियमिता)को देख, निरोधको जान, चक्षु ० धर्मोंको—'यह मेरा नहीं है' ०—समझता हूँ । श्रोत्र ० । घ्राण ० । जिह्वा ० । काय ० । मन ० ।"

ऐसा कहनेपर आबुप्मान् महापुन्दने आबुप्मान् छत्रसे यह कहा—

"तो, जाबुस छत्र ! उन भगवान्के इस मनातन (= निश्चयकथ्य) शासन (= उपदेश) को भी मनमें करना चाहिये—' (तुष्णामे) निश्चित (= यथ) का (पित्त) चक्षित होता है, अ-निश्चितका चक्षित नहीं होता । चक्षित (रागादिके पर्युत्थान) न होनेपर प्रथमवि (= एक-प्रता), प्रथमवि होनेपर नति (= तुष्णा) नहीं होती; नतिके न होनेपर आगति-गति (= आवागमन) नहीं होती । आगति-गतिके न होनेपर च्युति (= स्रत्यु) उपपाद (= उत्पत्ति) नहीं होती । च्युति-उपपाद न होनेपर न यहाँ (= इस लोकमें) न वहाँ (= परलोकमें) न दोनोंमें होता है । यही दुग्धका अंत है ।"

तब आबुप्मान् सारिपुत्र और आबुप्मान् पुन्द इस जववाद (= उपदेश)में आबुप्मान् छत्रको उपदेश कर शासनसे उठकर चले गये । तब आबुप्मान् सारिपुत्र और आबुप्मान् पुन्दके चले जानेके बोझेही समय बाद, आबुप्मान् छत्रने सबमार (आत्महत्या) करली । तब आबुप्मान् सारिपुत्र वहाँ भगवान् गये, वहाँ गये । जाकर भगवान्को अभिवादनकर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आबुप्मान् सारिपुत्रने भगवान्से यह कहा—

"भन्ते ! आबुप्मान् छत्रने सबमार (आत्महत्या) करली । उनकी क्या गति, क्या अभिसंपराप (= परलोक) होगी ?"

"क्यों, सारिपुत्र ! छत्र मित्रुने तेरे सामने ही पुनर्जन्म-रहित होनेका व्याकरण (= कथन) दिया था ।"

"भन्ते ! वज्जो" (देश)में पञ्चजित-द्वित गाँव है; वहाँ भन्ते ! आबुप्मान् छत्रके मित्र-कुल, सुहृद्-कुल उपगतव्य (= जिनके पास जाया जाये) कुल है (रहते हैं) ।"

"सारिपुत्र ! मैं इतनेसे 'उपमण्य' (= जाने आनेके संसर्गवाला) नहीं कहता । सारिपुत्र ! जो इस कायाको छोड़ता है, और दूसरी कायाको ग्रहण करता है उसे मैं 'उप-मण्य' कहता हूँ । वह छत्र मिथुको नहीं था । 'अन्-उप-मण्य' (= पुनर्जन्मरहित) हो छत्र मिथुने ब्रह्मज्ञान (आत्म-हत्या) की—इस प्रकार इसे सारिपुत्र ! समझो (= धारण करो) ।"

मगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आयुष्मान् सारिपुत्रने मगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१४५—पुण्योवाच-सुत्तन्त (३।५।३)^१

धर्म भचारकली सङ्गिणुत्ता और लाय

ऐसा मैंने सुना—०

एक समय भगवान् ध्यावस्तीमें अनाथपिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब आयुष्मान् पूर्ण जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान्‌को अभिवादनकर एक ओर बैठे । एक ओर बैठे आयुष्मान् पूर्णने भगवान्‌से कहा—

“अच्छा हो, भन्ते ! भगवान् मुझे संक्षिप्तसे धर्म-उपदेश करें, जिस धर्मको भगवान्‌से सुनकर मैं एकाकी, एकान्ती, अग्रमादी, उद्योगी, संयमी हो विहार करूँ ।”

“पूर्ण ! चक्षुसे विज्ञेय रूप इष्ट = कान्त = मनाप, प्रियरूप = कामोपसंहित, रजनीय होते हैं । जब मिलु उनका अभिगन्दन करता = स्वागत करता, अण्यवसाय करता है । अभिगन्दन करते, ० अण्यवसाय करते हुये इसको, नन्दी (= तृष्णा) उत्पन्न होती है । पूर्ण ! नन्दीकी उत्पत्ति (= सद्बुद्ध) से दुःखका स्फुटय कहता हूँ । पूर्ण ! विद्वाने विज्ञेय रस इष्ट ० । पूर्ण ! चक्षुसे विज्ञेय रूप इष्ट ० हैं । यदि मिलु उन्हें अभिगन्दन ० नहीं करता । ० । उसकी नन्दी (= तृष्णा) निरुद्ध (= विहीन) हो जाती है । पूर्ण ! नन्दीके निरोधसे दुःखका निरोध कहता हूँ । ० । पूर्ण ! मनसे विज्ञेय (= ज्ञातव्य) धर्म इष्ट ० हैं । ० । पूर्ण मेरे इस संक्षिप्तमें कथित अवसाद (= उपदेश) से उपदिष्ट हो, कौनसे जनपदमें तू विहार करेगा ?”

“भन्ते ! सूतापरान्त नामक जनपद है, मैं वहाँ विहार करूँगा ।” — “पूर्ण ! सूतापरान्तके मनुष्य षण्ड हैं, ० परुष (= कठोर) हैं । जो पूर्ण ! तुझे सूतापरान्तके मनुष्य आकोषन = परिभाषण (= कुवाच्य) करेंगे, तो……तुझे क्या होगा ?”

“यदि भन्ते ! सूतापरान्तके मनुष्य मुझे आकोषन = परिभाषण करेंगे, तो मुझे ऐसा होगा—‘सूतापरान्तके मनुष्य भद्र हैं ०, सुमद्र हैं, जो कि यह सुनपर हाथसे प्रहार नहीं करते’—मुझे भगवान् ! (ऐसा) होगा, सुगत ! ऐसा होगा ।”

“यदि, पूर्ण ! सूतापरान्तके मनुष्य तुझपर हाथसे प्रहार करें, तो पूर्ण ! तुझे क्या होगा ?”

“० भन्ते ! मुझे ऐसा होगा—‘यह सूतापरान्तके मनुष्य भद्र हैं, ० सुमद्र हैं, जो कि यह मुझे डंडेसे नहीं मारते ० ।’”

० । ० डंडेसे नहीं मारते । ० ० । ० शस्त्रसे नहीं मारते । ० ० । ० शस्त्रसे मेरे प्राण नहीं छे डेते । ०

^१ संयुक्त-निकाय (३।५।३) में भी ।

“यदि पूर्ण ! सूनापरान्तके मनुष्य तुझे तीक्ष्ण शस्त्रसे मार डालें। तो पूर्ण ! तुझे क्या होगा ?”

“० मुझे, मन्ते ! ऐसा होगा—‘उन भगवान्‌के कोई कोई भावक (शिष्य) हैं, जो जिन्दगीसे तम्र खाकर, कब कर पूजा कर, (आत्म-हत्यार्थ) शस्त्र-हारक (= शस्त्र लगा लेना) खोजते हैं। सो मुझे यह शस्त्र-हारक बिना खोजे ही मिल गया।’ भगवान् ! मुझे ऐसा होगा। सुगत ! मुझे ऐसा होगा।”

“साधु ! साधु !! पूर्ण !!! साधु पूर्ण ! तू इस प्रकारके शत्रु, इससे युक्त हो, सूनापरान्त जनपदमें जास कर सकता है। जिसका तू काल समझे (वैसा कर)।”

तब आयुष्मान् पूर्ण भगवान्‌के वचनको अभिनन्दन कर अनुमोदन कर, आज्ञागते उठ, भगवान्‌को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर, दावनासन सँभाल, पाश-चीवर ले, विचर सूनापरान्त जनपद था, उधर चारिकाको चल पड़े। कमरा: चारिका करते जहाँ सूनापरान्त जनपद था, वहाँ पहुँचे। आयुष्मान् पूर्ण सूनापरान्त जनपदमें बिहार करते थे।

तब वहाँ आयुष्मान् पूर्णने उसी वर्षाके भीतर पाँच सौ उपासकोंको ज्ञान कराया। उसी वर्षाके भीतर पाँच सौ उपासिकाओंको ज्ञान कराया, उसी वर्षाके भीतर उन्होंने (स्वर्ग) भी तीनों विद्याओंका साक्षात्कार किया। तब आयुष्मान् पूर्ण दूसरे समस्त परिनिर्वाणको प्राप्त हुये।

तब बहुतसे भिक्षु जहाँ भगवान् थे वहाँ, “जाकर भगवान्‌को अभिवादनकर, “एक जोर बैठे हुने यह बोले—

“मन्ते ! वह पुण्य (= पूर्ण) भाग्यक कुलपुत्र था, जिसे कि भगवान्‌ने संक्षेपसे उपदेश दिया था, वह काल कर गया, उसकी क्या गति है, क्या अभिलंभराय होगा ?”

“भिक्षुओ ! पुण्य कुलपुत्र, पंडित, सत्यवादी, धर्माहुसार (चलनेवाला) था। इससे धर्म से मुझे कोई पीड़ा नहीं दी। भिक्षुओ ! पूर्ण कुलपुत्र परिनिर्वाणको प्राप्त हुआ।”

भगवान्‌ने यह कहा, संतुष्ट हो उन भिक्षुओंने भगवान्‌के भाषणको अभिनंदित किया।

१४६—नन्दकोवाद-सुत्तन्त (३।५।४)

अनात्म-वाद । बोधार्थ

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आश्वस्तोने अनार्थपिष्टिकके कारण जेतवनमें विहार करते थे ।

तब महाप्रजापती गौतमी पाँच सौ भिक्षुणियोंके साथ, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गई, जाकर भगवान्‌को अभिवादन कर एक ओर खड़ी हुई । एक ओर खड़ी महाप्रजापती गौतमीने भगवान्‌से यह कहा—

“भन्ते ! भगवान् भिक्षुणियोंको उपदेश दें । भन्ते ! भगवान् भिक्षुणियोंको अनुशासन करें । भन्ते ! भगवान् भिक्षुणियोंको धार्मिक कथा कहें ।”

उस समय स्वविर भिक्षु घारी घारी (= पर्याप्त) से भिक्षुणियोंको उपदेश किया करते थे । आयुष्मान् नन्दक (अपनी) घारीमें भिक्षुणियोंको उपदेश देना नहीं चाहते थे ।

तब भगवान्‌ने आयुष्मान् नन्दकको संबोधित किया—

“नान्द ! घारी घारीसे भिक्षुणियोंको उपदेश करनेमें, आज किसी उपदेश करनेकी घारी है ?”

“भन्ते ! यह आयुष्मान् नन्दक घारीमें भिक्षुणियोंको उपदेश देना नहीं चाहते ।”

तब भगवान्‌ने आयुष्मान् नन्दकको संबोधित किया—

“नन्दक ! भिक्षुणियोंको उपदेश दे । नन्दक ! भिक्षुणियोंको अनुशासन कर । आह्वण ! तू भिक्षुणियोंको धार्मिक कथा कह ।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) भगवान्‌को उत्तर दे, आयुष्मान् नन्दक पूर्वाह्न समय पहिन कर, पात-चीवर से अलसीमें मिश्रके लिये प्रविष्ट हुये । आश्वस्तीमें मिश्राटन कर मोत्रनोपरांत मिश्रासे निवृत्त हो, एक मिश्रके साथ (= आत्मद्वितीय) जहाँ राजकाराम^१ था, वहाँ गये । उन भिक्षुणियोंने दूरसे ही आयुष्मान् नन्दकको आते देखा । देखकर आसन बिछा दिया, और पैरोंको (धोनेके लिये) पानी भी (रख दिया) । आयुष्मान् नन्दक थोड़े आसनपर बैठ गये, बैठकर पावोंको पछारा, वह भिक्षुणियाँ भी आयुष्मान् नन्दकको अभिवादनकर एक ओर बैठ गई । एक ओर बैठो उन भिक्षुणियोंने आयुष्मान् नन्दकसे यह कहा—

“नमिनिषो ! प्रतिपृच्छ (= पूछ पूछकर) कथा होगी, सो जो जानती है, उन्हें ‘जानती हूँ’—कहना चाहिये; जो नहीं जानती, उन्हें ‘नहीं जानती हूँ’—कहना चाहिये । और जिसका काक्षा (= संदेह) या विमति (= श्रम) हो, (उन्हें) सुझे ही पूछना चाहिये—‘यह भन्ते !

^१ आश्वस्ती नगरके भीतर यह भिक्षुणियोंका विहार था ।

कैसे, इसका क्या कार्य है' ।"

"मन्ते ! कार्य नन्दकके इतने (बहने)से भी हम समुद्र, = अभिरुद्ध है, जोकि कार्य (= कार्य) नन्दक हमें प्रवारित (= सुष्ट) करते हैं ।"

"तो क्या मानती हो, मगिनियो ! बहुत निरव है वा अनिरव ?"

"अनिरव है, मन्ते !"

"जो (पदार्थ) अनिरव है, वह दुःख है वा सुख ?"

"दुःख, मन्ते !"

"जो अनिरव, दुःख, विपरिणामधर्मों (= परिवर्तन शील) है, क्या उसे—'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है', 'यह मेरा आत्मा है'—ऐसा समझना युक्त (= कल्प) है ?"

"नहीं, मन्ते !"

"तो क्या मानती हो, मगिनियो ! श्रोत्र ० । ० प्राण ० । ० जिह्वा ० । ० काय ० ।"

"तो क्या मानती हो, मगिनियो ! मन निरव है वा अनिरव ?"

"० ऐसा समझना युक्त है ?"

"नहीं मन्ते !"

"तो किस हेतु ?"

"मन्ते ! पूर्व ही हमने इसको सचार्थ कह टीकसे प्रज्ञा द्वारा सुदेखा था—'यह मेरे आध्यात्मिक आवतन अनिरव है' ।"

"साधु, साधु, मगिनियो ! आर्षेआवकको इसे सचार्थतः टीकसे प्रज्ञाद्वारा देखनेपर ऐसा होता है ।"

"तो क्या मानती हो, मगिनियो ! रूप निरव है वा अ-निरव ?"

"अनिरव है, मन्ते !" ० ।

"० वाग्द ० ?" "० अ-निरव ० ?" ० ।

"० गन्ध ० ?" "० अ-निरव ० ?" ० ।

"० रस ० ?" "० अनिरव ० ?" ० ।

"० स्पर्श ० ?" "० अनिरव ० ?" ० ।

"० धर्म ० ?" "० अ-निरव ० ?" ० ।

"तो किस हेतु ?" "मन्ते ! पूर्व ही ०" ।"

"साधु, साधु, मगिनियो ! ० ।

"तो क्या मानती हो, मगिनियो ! बहुत-विज्ञान निरव है वा अनिरव ?"

"अ-निरव, मन्ते !" ० ।

"० श्रोत्र-विज्ञान ० ?" "० अ-निरव ० ?" ० ।

"० प्राण-विज्ञान ० ?" "० अ-निरव ० ?" ० ।

"० जिह्वा-विज्ञान ० ?" "० अ-निरव ० ?" ० ।

"० काय-विज्ञान ० ?" "० अ-निरव ० ?" ० ।

"० मनो-विज्ञान ० ?" "० अ-निरव ० ?" ० ।

"तो किस हेतु ?" "मन्ते ! पूर्व ही ०" ।"

"साधु, साधु, मगिनियो ! ० ।

"जैसे, मगिनियो ! जलते तेल-प्रदीपका तेल भी अनिरव है = विपरिणामधर्मों है, वचों

भी अनित्य = विपरिणाम-धर्मा है, अर्चि (= जौ) भी अनित्य = विपरिणाम-धर्मा है, आमा (= प्रकाश) भी ० । भगिनियो ! जो ऐसा कहे—इस जलते तेल-प्रदीपका तेल भी अनित्य है ०, घसी भी ०, अर्चि भी ०, किन्तु जो इसकी आमा (= प्रकाश) है, वह नित्य = ध्रुव = शाश्वत = अ-विपरिणाम-धर्मा है । भगिनियो ! वह ऐसा कहते क्या ठीक कहेंगा ?”

“नहीं, भन्ते !”

“तो किस हेतु ?”

“भन्ते ! इस जलते तेल-प्रदीपका तेल भी अनित्य है, घसी भी ०, अर्चि भी ०, तो आमा तो पहिले ही अनित्य = विपरिणाम-धर्मा हो गई ।”

“ऐसे ही, भगिनियो ! जो यह कहे—‘मेरे छः आध्यात्मिक आयतन’ तो अनित्य हैं; किन्तु छः आयतनोंको लेकर (= प्रतीक) जो अनुभव (= प्रतिसंवेदन होता है—सुख, दुःख, या अ-दुःख-अ-सुख, वह नित्य = ध्रुव = शाश्वत = अ-विपरिणाम धर्मा है । भगिनियो ! वह ऐसा कहते क्या ठीक कहेंगा ?”

“नहीं, भन्ते !”

“तो, किस हेतु ?”

“भन्ते ! उस उस प्रत्यय (= कारण)को लेकर वह वेदना उत्पन्न होती है; उस उस प्रत्ययके निरोधसे वह वह वेदना निरुद्ध होती है ।”

“साधु, साधु, भगिनियो ! ० ।

“जैसे, भगिनियो ! (एक) छड़े सारवान् महावृक्षका मूल भी अनित्य है = विपरिणाम धर्मा है, स्कंध भी ०, शाखा-पत्र भी ०, छाया भी ० । भगिनियो ! जो यह कहे—इस ० महावृक्ष का मूल भी ०, स्कंध भी ०, शाखा-पत्र भी अनित्य = विपरिणाम-धर्मा है, किन्तु जो इसकी छाया है, वह नित्य ० है । भगिनियो ! वह ऐसा कहते क्या ठीक कहेंगे ?”

“नहीं, भन्ते !”

“तो किस हेतु ?”

“भन्ते ! इस ० महावृक्षका मूल भी ०, ० शाखा-पत्र भी अनित्य ० है; तो छाया तो पहिले ही, अनित्य ० हुई ।”

“ऐसे ही भगिनियो ! जो यह कहे—‘मेरे छः वाक्क आयतन तो अनित्य हैं, किन्तु छः वाक्क-आयतनोंको लेकर जो अनुभव (= वेदना) सुख, दुःख या अ-दुःख-अ-सुख होता है, वह नित्य = ध्रुव ० है । भगिनियो ! वह ऐसा कहते क्या ठीक कहेंगा ?”

“नहीं भन्ते !”

“तो किस हेतु ?”

“भन्ते ! उस उस प्रत्ययको लेकर ० निरुद्ध होती है ।”

“साधु, साधु, भगिनियो ! ० ।

“जैसे, भगिनियो ! चतुर गोघातक या गोघातकका आगिर्द (= अन्तेवासी) गायको मारकर, तेज गाय काटनेके छुरेसे गायके भीतरी मांस और बाहरी चमड़ेको लुकलान पहुँचाये बिना (= अनुपहत्य) गायको काटे—जो जो वहाँ भीतर विलिप्त, स्वाधु (= नम), रचन है, उसे तेज ० छुरेसे छिन्न करे, काटे—‘‘ छिन्नकर काटकर—‘‘, बाहरी चमड़ेको आग फटकार कर, उसी चमड़ेमें उस गायको डीक कर यह कहे—‘वह गाय वैसे (= पहिलेकी तरह) ही इस चमड़ेमें युक्त है’ । भगिनियो ! वह ऐसा कहते क्या ठीक कहेंगा ?”

“नहीं मन्ते !”

“सो कित्त हेतु !”

“उसे मन्ते ! चतुर गोघातकने * इस चर्मसे युक्त है, लेकिन वह माघ उस चर्मसे युक्त नहीं है ।”

“भगिनियो ! अर्धको समझानेके लिये मैंने यह उपमा (= इष्टांत) कहा । यह यहाँ अर्थ है—भीतरी मांस-काय (= * समुदाय) यह छः जात्यात्मिक आघतनोंका नाम है । बाहरी चर्मकाय यह छः बाह्य आघतनोंका नाम है । भीतरी विक्रम, भीतरी स्नायु भीतरी घषन, यह भगिनियो ! मन्दी = रागका नाम है । तीक्ष्ण गोविकर्त्तन (= राग काटनेका चुरा) यह आर्य प्रज्ञाका नाम है, जो यह आर्य प्रज्ञा भीतर क्लेश (= मल), भीतरी संयोजन = भीतरी घषनको छेदन करती है, काटती है” ।

“भगिनियो ! यह सात बोध्यंग हैं, जिनकी भावना = बहुलीकरण (= अभ्यास) करने-से, मिथु इसी जन्ममें आत्माके अग्रसे आत्मवन्दित (= अनात्मव) चेतो-विमुक्ति प्रज्ञामुक्ति-को स्वयं जान कर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरता है । कौनसे सात ?—यहाँ, भगिनियो ! मिथु विषेक-निश्चित (= एकान्त चिन्तनसे संबद्ध), विराग-निश्चित, निरोध-निश्चित व्यवसरी (= त्याग) परिणामवाले स्मृति-संबोधनकी भावना करता । * धर्म-विषय-संबोधन * । * वीर्य-संबोधन * । * प्रीति-संबोधन * । * प्रभ्रविधि-संबोधन * । * समाधि-संबोधन * । * उपेक्षा-संबोधन * । * भगिनियो ! यह सात बोध्यंग हैं, जिनकी भावना * करनेसे * इसी जन्ममें * प्रज्ञा विमुक्तिको * प्राप्त कर विहरता है ।”

तब आयुष्मान् नन्दकने मिथुणियोंको इस अववाद् (= उपदेश)से उपदेश कर प्रेरित किया—

“जाओ, भगिनियो ! (जानेका) काल है ।”

तब वह मिथुणियाँ आयुष्मान् नन्दकके भाषणको अमिर्नदित = अनुमोदित कर, जासनसे उठ, आयुष्मान् नन्दकको अमिवादन कर, प्रदक्षिणा कर, जहाँ भगवान् थे वहाँ गईं । जाकर भगवान्को अमिवादन कर एक ओर खड़ी हो गईं । एक ओर खड़ी उन मिथुणियोंसे भगवान्ने यह कहा—

“जाओ, मिथुणियो ! (यह जानेका) काल है ।”

तब वह मिथुणियाँ भगवान्को अमिवादन कर, प्रदक्षिणा कर, खड़ी गईं । तब उन मिथुणियोंके चले जानेके बोधे ही समय बाद भगवान्ने मिथुनोंको संबोधित किया—

“जैसे, मिथुभो ! उसी दिन चतुर्दशी (= अमावास्या)के उपोसथके दिन बहुत लोगोंको काँक्षा या विमति (= संशय) नहीं होती—‘क्यों जी, कन्दमा क्षीण है, या पूर्ण है’, क्योंकि कन्दमा क्षीण ही होता है । इसी प्रकार, मिथुभो ! वह मिथुणियाँ नन्दककी धर्म-देशनासे सन्तुष्ट हुई हैं, किन्तु परिपूर्ण-संकल्प नहीं हुई हैं ।”

तब भगवान्ने आयुष्मान् नन्दकको संबोधित किया—

“तो नन्दक ! तू कल भी उसी मिथुणियोंको उस अववाद्से उपदेश कर ।”

“अच्छा, मन्ते !”—(कह) आयुष्मान् नन्दकने भगवान्को उत्तर दिया ।

तब आयुष्मान् नन्दक उस रातके बीतनेपर, पूर्वाह्न-समय पहिन कर, पात्र-चीवर छे आकस्तीमें पिचके लिये प्रविष्ट हुये । आकस्तीमें निवादन कर, भिक्षासे निवृत्त (= निष्कट) हो भोजनोपरान्त, जहाँ राजकाराम था, वहाँ गये । उन मिथुणियोंने दूरसेही आयुष्मान् नन्दकको

आते देखा । देख कर आसन बिछा दिया, और पैरोंको (धोनेके लिये) पानी भी (रख दिया) । * एक ओर बैठी उन भिक्षुणियोंसे आयुष्मान् नन्दकने यह कहा—

“भगिनिवो ! प्रतिपृच्छ कया होगी * ” भिक्षुणियोंसे भगवान्ने यह कहा—

“जानो, भिक्षुणियो ! (यह जानेका) काल है ।”

* उन भिक्षुणियोंके चले जानेके थोड़े ही समय बाद भगवान्ने भिक्षुओंको संबोधित किया—

“जैसे भिक्षुजो ! उसी दिन संवत्सी (= पूर्णिमा) के उपोसथको बहुत (= सारे) लोगोंको कांक्षा या विमति (= संशय) नहीं होती—‘क्यों जी, चन्द्रमा क्षीण है, या पूर्ण है’— क्योंकि चन्द्र पूर्ण होता है, इसी प्रकार, भिक्षुजो ! वह भिक्षुणियाँ नन्दककी धर्म-देशनासे संतुष्ट हुई हैं, और परिपूर्ण संकल्प भी हुई हैं । भिक्षुजो ! उन पाँच सौ भिक्षुणियोंमें जो (स्वयंसे) पिजली हैं, वह भिक्षुणियाँ भी स्मृतआरक्ष हैं, (निर्वाण-मार्गसे) न पतित होनेवाली, (निर्वाण-प्राप्तिमें) नियत, संबोधि-परायण हैं ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओंमें भगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

१४७—चूल-राहुलवाद-सुत्तन्त (३।५।५)

अनात्म-वाद

ऐसा मैंने सु १—

एक समय भगवान् श्रावस्तीमें अनाथ-पिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

तब एकान्तमें ध्यानावस्थित भगवान्को यह हुआ—

“राहुलको विमुक्ति (= मुक्ति) के लिये परिपाक होने लायक धर्म (= विचार) परिपाक हो गये हैं; क्यों न मैं राहुलको जागे आत्मवों (= चित्त-मलों) के क्षयकी ओर ले चलूँ।”

“तब भगवान् पूर्वोक्त-समय पहिन कर, पात्र-चीवर ले श्रावस्तीमें पिण्ड (= भिक्षा) के लिये प्रविष्ट हुये । आगलीमें मिश्रायनकर भोजनोपरान्त, भिक्षासे निवृत्त कर आयुष्मान् राहुलको संबोधित किया—

“राहुल ! आसन (= विषीय) को छो, दिनके विहारके लिये जहाँ अन्धवन है, वहाँ चलेंगे।”

“अच्छा, मन्ते !” (यह) आयुष्मान् राहुलने भगवान्को उत्तर दे, आसन ले भगवान्के पीछे पीछे चले ।

उस समय जनेक वात-सहस्र (= लाख) देक्ता भगवान्का—‘आज भगवान् आयुष्मान् राहुलको जागे आत्मवोंके क्षयकी ओर ले चलेंगे’—(सोच) भगवान्का अनुगमन कर रहे थे ।

तब भगवान् लम्बवनमें प्रविष्ट हो एक वृक्षके नीचे बिटे आसनपर बैठे । आयुष्मान् राहुल भी भगवान्को भूमिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आयुष्मान् राहुलसे भगवान्को यह कहा—

“तो क्या मानता है, राहुल ! चक्षु (= ज्ञान) नित्य है, या अ-नित्य ?”

“अ-नित्य है, मन्ते !”

“जो, अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?”

“दुःख, मन्ते !”

“जो अनित्य, दुःख, विपरिणाम-धर्मा है, क्या उसे—‘यह मैं हूँ’, ‘यह मेरा है’, ‘यह मेरा आत्मा है’—ऐसा समझना युक्त है ?”

“वहीं, मन्ते !”

० रूप ० । ० चक्षुर्विज्ञान ० । ० चक्षु-संस्पर्श ० । ० जो चक्षु-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान विषयक (ज्ञान) ० ।

१ विषय और इन्द्रियके समागमको संस्पर्श कहते हैं ।

० ओन्न ० । ० इन शब्द ० । ० ओन्न-विज्ञान ० । ० ओन्न-संस्पर्श ० । ० जो ओन्न-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना ० ।

० प्राण ० । ० गंध ० । ० प्राण-विज्ञान ० । ० प्राण-संस्पर्श ० । ० जो प्राण-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना ० ।

० जिह्वा ० । ० रस ० । ० जिह्वा-विज्ञान ० । ० जिह्वा-संस्पर्श ० । ० जो जिह्वा-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना ० ।

० काय ० । ० स्पर्श ० । ० काय-विज्ञान ० । ० काय-संस्पर्श ० । ० जो काय-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना ० ।

० मन ० । ० धर्म ० । ० मनो-विज्ञान ० । ० मन-संस्पर्श ० । ० जो मन-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान-विषयक (ज्ञान) ० ।

“राहुल ! इस प्रकार देखते भगवान् (= बहुश्रुत) आर्य-आवक चक्षुमें निर्वेद (= उदासीनता) को प्राप्त होता है । रूप ० । चक्षु-विज्ञान ० । चक्षु-संस्पर्श ० । चक्षु-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान-विषयक (ज्ञान) से निर्वेदको प्राप्त होता है ।

० ओन्न ० । शब्द ० । ओन्न-विज्ञान ० । ओन्न-संस्पर्श ० । ओन्न-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान-विषयक (ज्ञान) ० ।

० प्राण ० गंध ० । प्राण-विज्ञान ० । प्राण-संस्पर्श ० । जो प्राण-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना ० ० ।

० जिह्वा ० । रस ० । जिह्वा-विज्ञान ० । जिह्वा-संस्पर्श ० । जिह्वा-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना ० ० ।

० काय ० । स्पर्श ० । काय-विज्ञान ० । काय-संस्पर्श ० । काय-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना ० ० ।

० मन ० । धर्म ० । मनो-विज्ञान ० । मन-संस्पर्श ० । मन-संस्पर्शके कारण उत्पन्न वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान-विषयक (ज्ञान) से निर्वेदको प्राप्त होता है । निर्वेदको प्राप्त हो विरक्त होता है । विरक्त होनेसे विमुक्त होता है । विमुक्त (= मुक्त) होनेपर ‘विमुक्त हूँ’—ज्ञान होता है; (फिर) ‘जन्म (= आवागमन) नष्ट होगया, ब्रह्मचर्यवास अन्तम होगया, करणीय किया जा चुका; और अब यहाँ करनेको (नेत्र) नहीं’—यह ज्ञाता है ।”

भगवान् ने यह कहा, संतुष्ट हो आबुष्मान् राहुलने भगवान् के भाषणको अभिर्नन्दित किया ।

इस व्याकरण (= उपदेश) के कहे जाते समय आबुष्मान् राहुलका चित्त, उपादान (= ग्रहण) न कर, आसनों (= जन्म मरणके कारण भूत चित्त-मल) से मुक्त होगया । और इन अनेक शत-सहस्र देवताओंको विरज = निर्मल धर्म चक्षु—‘जो कुछ उत्पन्न होता है, वह नाश होता है’—उत्पन्न हुआ ।

१४८—छ-छक्क-मुत्तन्त (३।५।६)

इन्द्रिय, विषय, विज्ञान और तीनोंका समागम । भगवात्म-वाद (विस्तार-पूर्वक)

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् आवस्तोमें अनाथपिटिकके आराम जेतवनमें विहार करते थे ।

यहाँ भगवान्ने मिश्रुजोंको संबोधित किया—“मिश्रुजो !”

“भन्त !”—(कह) उन मिश्रुजोंने भगवान्को उत्तर दिया ।”

भगवान्ने यह कहा—“मिश्रुजो ! तुममें आवि कव्वाण, मज्ज-कव्वाण पर्यवसान (= अन्त) कव्वाण, सार्येक = स-स्यंतन धर्मेको कहता हूँ ; केवल, परिपूर्ण, परिकुल मज्ज-वर्चको प्रकाशित करता हूँ ; जो कि यह छःछक्क हैं, उसे सुनो, अच्छी तरह भगमें करो, कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) उन मिश्रुजोंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“(१) छ आध्यात्मिक आयतनोंको जानना चाहिये । (२) छ बाह्य आयतनोंको जानना चाहिये । (३) छ विज्ञान-कार्योंको जानना चाहिये । (४) छ स्पर्श-कार्योंको जानना चाहिये । (५) छ वेदना-कार्योंको जानना चाहिये । (६) छ कृपा-कार्योंको जानना चाहिये ।

(१) “यह जो कहा—‘छ आध्यात्मिक आयतनोंको जानना चाहिये’—सो किसके लिये कहा ?—(१) चक्षु-आयतन*, (२) श्रोत्र ०, (३) घ्राण ०, (४) जिह्वा ०, (५) काय ०, (६) मन-आयतन*** इन्हींके लिये कहा । यह प्रथम छक्क है ।

(२) “यह जो कहा—‘छ बाह्य आयतनोंको जानना चाहिये’—सो किस लिये कहा ?—(१) रूप-आयतन, (२) शब्द ०, (३) गीत ०, (४) रस ०, (५) स्पर्श ०, (६) धर्म-आयतन,*** इन्हींके लिये कहा । यह द्वितीय छक्क है ।

(३) “०—‘छ विज्ञान-कार्य ०’ ० ?—(१) चक्षुद्वारा रूपमें चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है ; (२) श्रोत्र ०, (३) घ्राण ०, (४) जिह्वा ०, (५) काय ०, (६) मनो-विज्ञान ।*** इन्हींके लिये कहा । यह तृतीय छक्क है ।

(४) “०—‘छ स्पर्श-कार्य ०’ ० ?—(१) चक्षुद्वारा रूपमें चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, (चक्षु, रूप और चक्षुर्विज्ञान) इन तीनोंका संगम (चक्षु-स्पर्श) है । (२) श्रोत्र ० । (३) घ्राण ० । (४) जिह्वा ० । (५) काय ० । मनः ० ।*** इन्हींके लिये कहा । यह चतुर्थ छक्क है ।

(५) “०—‘छ वेदना-कार्य ०’ ० ?—(१) चक्षुद्वारा रूपमें चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, तीनोंका संगम स्पर्श है ; स्पर्शके कारण वेदना होती है । (२) श्रोत्र ० । (३) घ्राण ० ।

* काय = तिकाय = समुदाय ।

** आयतन = इन्द्रिय ।

(३) जिह्वा ० । (५) काय ० । (६) मन ० । 'इन्हीके लिये कहा । यह पंचम एक (= षष्ठ्य) है ।

(६) " ०—'इ तृष्णा-कार्योको जानना चाहिये'—० ?—(१) चक्षुद्वारा रूपमें चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है; तीनोंका संगम स्पर्श है; स्पर्शके कारण वेदना होती है । (२) श्रोत्र ० । (३) घ्राण ० । (४) जिह्वा ० । (५) काय ० । (६) मनद्वारा धर्ममें मनोविज्ञान उत्पन्न होता है; तीनोंका संगम स्पर्श है; स्पर्शके कारण वेदना होती है; वेदनाके कारण तृष्णा होती है । यह जो कहा—'इ तृष्णा-कार्योको जानना चाहिये'—सो इसीलिये कहा । यह षष्ठ एक है ।

(शब्दिव आत्मा नहीं)

(१) "जो कहे—'चक्षु आत्मा है', उसे (क्याळ) नहीं पैदा होता, चक्षुको उत्पत्ति या विनाश (= षष्ठ्य) भी दिखाई देता है । किन्तु जिसे उत्पत्ति भी, विनाश भी दिखाई देता है—'मेरा आत्मा उत्पन्न होता है, नाश होता है'—ऐसा उसे (क्याळ) जाता है; इसलिये उसे (यह क्याळ) नहीं उत्पन्न होता । जो कहे—'चक्षु आत्मा है', (सो नहीं) चक्षु अनात्मा (= नहीं आत्मा) है । (२) ० रूप ० । रूप अनात्मा है । इस प्रकार चक्षु अनात्मा है, रूप अनात्मा है । (३) ० चक्षु-विज्ञान ०; चक्षुर्विज्ञान अनात्मा है । इस प्रकार चक्षु अनात्मा है, रूप अनात्मा है, चक्षुर्विज्ञान अनात्मा है । (४) ० चक्षु-संस्पर्श ०; चक्षु-संस्पर्श अनात्मा है । इस प्रकार चक्षु अनात्मा है, रूप अनात्मा है, चक्षुर्विज्ञान अनात्मा है, चक्षु-संस्पर्श अनात्मा है । (५) ० वेदना ०; वेदना अनात्मा है । इस प्रकार चक्षु अनात्मा है, रूप अनात्मा है, चक्षुर्विज्ञान अनात्मा है, चक्षु-संस्पर्श अनात्मा है, वेदना अनात्मा है । (६) ० तृष्णा ०; तृष्णा अनात्मा है । इस प्रकार चक्षु-अनात्मा है, रूप अनात्मा है, चक्षुर्विज्ञान अनात्मा है, चक्षु-संस्पर्श अनात्मा है, वेदना अनात्मा है, तृष्णा अनात्मा है ।

(२) "जो कहे—'श्रोत्र आत्मा है', ० । ० । इस प्रकार श्रोत्र-अनात्मा है, शब्द ०, श्रोत्र-विज्ञान ०, श्रोत्र-संस्पर्श ०, वेदना ०, तृष्णा अनात्मा है ।

(३) " ०—'घ्राण आत्मा है', ० । ० । ० ।

(४) " ०—'जिह्वा आत्मा है', ० । ० । ० ।

(५) " ०—'काय आत्मा है', ० । ० । ० ।

(६) " ०—'मन आत्मा है', ० । ० । इस प्रकार मन अनात्मा है, धर्म अनात्मा है, मनोविज्ञान अनात्मा है, मन-संस्पर्श अनात्मा है, वेदना अनात्मा है, तृष्णा अनात्मा है ।

(साक्षात्-वाद)

(१) "मिथुनो ! यह साक्षात्- (= आत्म-नित्यतावाद) के समुद्र (= उत्पत्ति) को जोर ले जानेवाली प्रतिषेध (= मार्ग) है—

"चक्षुको समझता है—'यह मेरा है', 'यह (= चक्षु) मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है' । रूपको ० । चक्षुर्विज्ञानको ० । चक्षु-संस्पर्शको ० । वेदनाको ० । तृष्णाको ० ।

(२) "श्रोत्रको ० । ० । ०, 'यह मेरा आत्मा है' ।

(३) "घ्राणको ० । ० । ०, 'यह मेरा आत्मा है' ।

(४) "जिह्वाको ० । ० । ०, 'यह मेरा आत्मा है' ।

(५) "कायको ० । ० । ०, 'यह मेरा आत्मा है' ।

(६) "मनको समझता है—'यह (मन) मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है' । धर्मको ० । मनो विज्ञानको ० । मन-संस्पर्शको ० । वेदनाको ० । तृष्णाको ० ।

(सत्त्वान-वाद-विद्वान्)

“भिक्षुजो ! यह सत्त्वायके निरोध (= विनाश) की ओर ले जानेवाली प्रतिपदा है—

(१) “चक्षुको समझता है—‘यह (= चक्षु) मेरा नहीं’, ‘यह मैं नहीं’, ‘यह मेरा आत्मा नहीं’ । रूपको ० । चक्षुर्विज्ञानको ० । चक्षु-संस्पर्शको ० । वेदनाको ० । तृष्णाको ० ।

(२) “श्रोत्रको ० । ० । ०, ‘यह मेरा आत्मा नहीं’ ।

(३) “ग्राहको ० । ० । ०, ‘यह मेरा आत्मा नहीं’ ।

(४) “जिह्वाको ० । ० । ०, ‘यह मेरा आत्मा नहीं’ ।

(५) “कायको ० । ० । ०, ‘यह मेरा आत्मा नहीं’ ।

(६) “मनको समझता है—‘यह मेरा नहीं’, ‘यह मैं नहीं’, ‘यह मेरा आत्मा नहीं’ । धर्मको ० । मनो-विज्ञानको ० । मन-संस्पर्शको ० । वेदनाको ० । तृष्णाको ० ।

(अनुशयोको कल्पि)

(१) “भिक्षुजो ! चक्षुद्वारा, रूपमें, चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है; तीनोंका संगम स्पर्श है; स्पर्शसे सुखा, दुःखा या अदुःख-असुखा वेदना (= अनुभव) उत्पन्न होती है । वह (अनुभव करनेवाला व्यक्ति) सुखा वेदनासे संयुक्त होनेपर अभिनन्दन = अभिवन्दन करता है, आसक्त हो उठता है । उसे (मनसे) राग-अनुशय^१ चिपटता है । वह दुःखा वेदनासे संयुक्त होनेपर, शोक करता है, कलपता है, विलाप करता है, छाती पीट कर रोता है, मूर्छित होता है । उसे प्रतिघ^२ अनुशय चिपटता है । वह अदुःख-असुखा वेदनासे संयुक्त होनेपर, उस वेदनाके समुदय (= उत्पन्न), विनाश (= अन्तगमन), आत्माद, दुष्परिणाम (= आदिनव), और निस्सरण (= निकलनेका राज्या)को धर्माधर्म नहीं जानता । उसे अविद्या-अनुशय चिपटता है (= अनुशेते) । वह, सुखा वेदनावाले राग-अनुशयको बिना छोड़े, दुःखा वेदनावाले प्रतिघ-अनुशयको बिना हटाये, अदुःख-असुखा वेदनावाले अ-विना-अनुशयको बिना मारे, अ-विद्याको बिना छोड़े, विद्याको बिना उत्पादित किये, इसी जन्ममें (संसार-) दुःखका अन्त करनेवाला होगा, यह स्थान (= संभव) नहीं ।

(२) “० श्रोत्र ० । ० । ०; यह स्थान नहीं ।

(३) “० ग्राह ० । ० । ०; यह स्थान नहीं ।

(४) “० जिह्वा ० । ० । ०; यह स्थान नहीं ।

(५) “० काय ० । ० । ०; यह स्थान नहीं ।

(६) “० मन ० । ० । ०; यह स्थान नहीं ।

(अनुशयोका विनाश, दुःखका विनाश)

(१) “भिक्षुजो ! चक्षुद्वारा, रूपमें, चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है; तीनोंका संगम स्पर्श है; स्पर्शसे सुखा, दुःखा, अदुःख-असुखा वेदना उत्पन्न होती है । वह सुखा वेदनासे संयुक्त होनेपर अभिनन्दन = अभिवन्दन नहीं करता, न आसक्त हो उठता है । उसे राग-अनुशय नहीं चिपटता । दुःख वेदनासे संयुक्त होनेपर न शोक करता है, न कलपता है, न विलाप (= परिदेवन) करता है, न छाती पीट कर रोता है, न मूर्छित होता है । उसे प्रतिघ-अनुशय नहीं चिपटता । वह अदुःख-असुखा वेदनासे संयुक्त होनेपर, उस वेदनाके समुदय, विनाश, आत्माद, दुष्परिणाम और

^१ यक्ष्म संस्कार ।^२ प्रतिहिंसा दुःख देनेवालेके प्रति ।

निसंस्पर्शको संपर्कसे जानता है । उसे अ-विद्या-अनुशास नहीं विषटता । वह सुष्मा वेदनावाले राग-अनुशासको छेद, दुःष्मा वेदनावाले प्रतियानुशास को हटा, अदुःख-असुखा वेदनावाले अविद्या-नुशासको माय, अ-विद्याको छेद, विद्याको उत्पादित कर, इसी अन्तर्में दुःखका अन्त करनेवाला होगा; यह स्थान (= संसर्ग) है ।

(२) “ ० श्रोत्र ० । ० । ० ; यह स्थान है ।

(३) “ ० घ्राण ० । ० । ० ; यह स्थान है ।

(४) “ ० जिह्वा ० । ० । ० ; यह स्थान है ।

(५) “ ० काय ० । ० । ० ; यह स्थान है ।

(६) “ ० मन ० । ० । ० ; यह स्थान है ।

(निर्वाण-प्राप्ति)

“मित्रुभो ! इस प्रकार देखते, भुतवान् आर्यआयक चक्षुमें निर्वेद (= इदानीयता) को प्राप्त होता है, रूप ० । चक्षुर्विज्ञान ०, चक्षुसंस्पर्श ०, वेदना ०, तृष्णा ० । श्रोत्र ०, शब्द ०, श्रोत्र-विज्ञान ०, श्रोत्रसंस्पर्श ०, वेदना ०, तृष्णा ० । घ्राण ०, रस ०, घ्राणविज्ञान ०, घ्राण-संस्पर्श ०, वेदना ०, तृष्णा ० । जिह्वा ०, रस ०, जिह्वा विज्ञान ०, जिह्वा-संस्पर्श ०, वेदना ०, तृष्णा ० । काय ०, स्पर्श ०, काय-विज्ञान ०, काय-संस्पर्श ०, वेदना ०, तृष्णा ० । मन ०, धर्म ०, मनो-विज्ञानमे ०, मनःसंस्पर्श ०, वेदना, तृष्णामें निर्वेदको प्राप्त होता है । निर्वेदको प्राप्त हो विरक्त होता है । ० ^१ ; और कुछ करनेको यहाँ (शेष) नहीं—यह जानता है ।”

मगवान्ने यह कहा, समुदा हो उन मित्रुभोंने मगवान्के भाषणको अभिनन्दित किया ।

इस आचरण (= उपवेश) के कहे आते समय साठ मित्रुओंका उपादान न कर, आसनोंमें चित्त सुक हो गया ।

१४६—महा-सङ्ख्यतन-सुत्तन्त (३।५।७)

तृष्णा और दुःख

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान्ने श्रावस्तीमें अनाथपिटिकके आराम जेतघनमें विहार करते थे ।

वहाँ भगवान् भिक्षुओंको संबोधित किया—“भिक्षुओ !”

“भद्रेत !”—(कह) उन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—“भिक्षुओ ! महा-सङ्ख्यतन (= ० षड् आयतन) तुम्हें उपदे-
जाता हूँ, सुनो अच्छी तरह मनमें करो । कहता हूँ ।”

“अच्छा, भन्ते !”—(कह) इन भिक्षुओंने भगवान्को उत्तर दिया ।

भगवान्ने यह कहा—(१) “भिक्षुओ ! चक्षुको यथार्थतया न ज्ञाते, न देखे, रूपोंको ०, चक्षुर्विश्रान्तको ०, चक्षुःसंस्पर्शको ०, और चक्षुःसंस्पर्शसे जो सुखा, दुःखा, अदुःख-असुखा वेदना उत्पन्न होती है, इसे भी यथार्थतया न ज्ञाने, न देखे, चक्षुमें रक्त होता है, रूपमें ०, चक्षु-विश्रान्तमें ०, चक्षुःसंस्पर्शमें ०, और चक्षुःसंस्पर्शसे जो सुखा, दुःखा, अदुःख-असुखा वेदना उत्पन्न होती है, उसमें रक्त होता है । रक्त, संयुक्त, संसृष्ट (= मोह प्राप्त), आस्वाद देखनेवाले हो विहरते उस (पुरुषके लिये, भविष्यमें पाँच उपादान-स्त्वंध संचित हो जाते हैं । और वहाँ वहाँ अग्निमन्त्र करनेवाली, राग-युक्त, पुनर्जन्म देनेवाली उसकी मन्दनी = तृष्णा बढ़ती है । उसके कायिक द्रव्य (= धर, खेव) भी बढ़ते हैं, चेतसिक (= मानस) द्रव्य भी बढ़ते हैं, कायिक सन्ताप भी ०, चेतसिक सन्ताप ०, कायिक परिदाह (= जलन) भी ०, चेतसिक परिदाह भी ०, । वह कायिक दुःखको भी, चेतसिक दुःखको भी अनुभव करता है ।

(२) “० औत्रको ० । ० । ०, चेतसिक दुःखको अनुभव करता है ।

(३) “० प्राणको ० । ० । ०, ० ।

(४) “० विद्वाको ० । ० । ०, ० ।

(५) “० काय ० । ० । ०, ० ।

(६) “० मन ० । ० । ०, ० ।

(७) “भिक्षुओ ! चक्षुको यथार्थतया जानते देखते, ०^१ चक्षुमें रक्त नहीं होता । ० न रक्त हो ० विहरते, उसके लिये भविष्यमें पाँच उपादान-स्त्वंध अप-धित (विलग्न) होते हैं । और ० तृष्णा नष्ट होती है । उसके कायिक द्रव्य भी नष्ट होते हैं, ० । वह कायिक सुखको भी, चेतसिक सुखको भी अनुभव करता है ।

^१ देखो ऊपर ।

“ऐसेकी जो इष्टि होती है, वह इसकी (१) सम्यक्-इष्टि होती है । ऐसेका जो संकल्प होता है, वह इसका (२) सम्यक्-संकल्प होता है । (३) सम्यक्-व्यापाम ० । ० (४) सम्यक्-स्मृति ० । ० (५) सम्यक्-समाधि होती है । पहिले ही इसका (६) काय-कर्म, (७) वचन-कर्म, (८) आजीव (= जीविका) सुपरिशुद्ध होती है । इस प्रकार उसके आर्य अष्टांगिक मार्ग भावनाद्वारा परिपूर्ण हुये होते हैं । उसके इस प्रकार आर्य-अष्टांगिक-मार्गकी भावना करते चारों स्मृति प्रस्थान भावना द्वारा परिपूर्ण होते हैं । ० चारों सम्यक्-प्रधान ० । ० चारों ० । ऋद्धिपाद ० । ० पाँचों इन्द्रियाँ ० । ० पाँचों बल ० । ० सातों बौद्ध्यंग ० । उसके यह दोनों धर्म-शमथ (= समाधि) और विपश्यना (= प्रज्ञा युगबद्ध (जुड़े) रहते हैं) वह अभिज्ञा द्वारा जानने लायक धर्मोंको अभिज्ञासे जानता है, जो धर्म अभिज्ञा द्वारा त्याज्य (= प्रहातव्य) है, उन्हें अभिज्ञासे त्यागता है, ० भावना करने योग्य है, उन्हें अभिज्ञासे भावना करता है, जो धर्म अभिज्ञाद्वारा साक्षात्कार करने योग्य है, उन्हें अभिज्ञाद्वारा साक्षात्कार करता है ।

“भिक्षुजो ! कौनसे धर्म अभिज्ञाद्वारा परिश्रेय (= जानने योग्य) हैं ?—पाँच उपादान स्कंध कहने चाहिये, जैसे कि रूप-उपादान-स्कंध, वेदना ० । संज्ञा, संस्कार ० विज्ञान स्कंध ।”

“ ० कौनसे धर्म अभिज्ञाद्वारा प्रहातव्य हैं ?—अ-विद्या, और भव-तृष्णा = लोकोत्तरमें जावामगनका जोम ।”

“ ० कौनसे धर्म अभिज्ञाद्वारा भावना करने योग्य हैं ?—शमथ, और विपश्यना ।”

“ ० कौनसे धर्म अभिज्ञाद्वारा साक्षात्कार करने योग्य हैं ?—विद्या और विमुक्ति ।”

(२) “भिक्षुजो ! श्रोत्रको ० । ० । ० ।

(३) “ ० घ्राणको ० । ० । ० ।

(४) “ ० शिद्धाको ० । ० । ० ।

(५) “ ० कायको ० । ० । ० ।

(६) “ ० मनको ० । ० । ० —विद्या और विमुक्ति वह धर्म अभिज्ञाद्वारा साक्षात्कार करने योग्य हैं ।”

भगवान् ने यह कहा, सन्तुष्ट हो उन भिक्षुजोंने भगवान् के भाषणको अभिर्नन्दित किया ।

१५०—नगर-विदेय्य-सुत्तन्त (३।५।८)

सत्कारके पाठ

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् महान् भिक्षुसंघके साथ, कोसल (देश)में चारिका करते, जहाँ नगर-विदेय्य नामक कोसलोंका ब्राह्मण-ग्राम था, वहाँ पहुँचे ।

नगर विदेय्यके रहनेवाले ब्राह्मण गृहपतियोंने सुना—शाक्यकुलसे प्रसूत शक्यपुत्र भ्रमण गौतम महान् भिक्षु-संघके साथ चारिका करते नगर विदेय्यमें आ पहुँचे हैं । उन भगवान् गौतमका ऐसा भंगल-कीर्तिशब्द उठा हुआ है—‘वह भगवान् अर्हत् है ०’ ऐसे अर्हत्तोंका दर्शन अच्छा होता है’ ।

तब नगर विदेय्य-निवासी ब्राह्मण गृहस्थ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये; ०^१ चुपचाप एक ओर बैठ गये ।

एक ओर बैठे नगर विदेय्य-निवासी ब्राह्मण-गृहपतियोंने भगवान्‌ने यह कहा—

“यदि, गृहपतियो ! तुम्हें अन्य मतवाले (= अन्य तीर्थिक) परिब्राजक यह पूछें—‘गृहपतियो ! कैसे भ्रमण ब्राह्मणोंका सत्कार = गुरुकार, मानन = पूजन नहीं करना चाहिये ?’ ऐसा पूछनेपर, गृहपतियो ! तुम उन अन्यतीर्थिक परिब्राजकोंको यह कहना—‘जो भ्रमण-ब्राह्मण चक्षु- (द्वारा) विज्ञेय रूपोंमें अ-वीत-राग, अ-वीत-द्वेष, अ-वीत-मोह, भीतर जिनका चित्त शांत नहीं हुआ है, जो काय-वचन-मनसे सम-विचन (= बुरा-भला) आचरण करते हैं । ऐसे भ्रमण-ब्राह्मणोंका सत्कार ० नहीं करना चाहिये । सो किस हेतु ?—हम भी चक्षुर्विज्ञेय रूपोंमें अ-वीत-राग ० हममें भी काय-वचन-मनसे सम-विचन आचरण करते हैं । उन्हें हम आगे धर्माचरण करते नहीं देखते हैं, इसलिये उन भ्रमण ब्राह्मणोंका सत्कार ० नहीं करना चाहिये’ ।

“जो भ्रमण ब्राह्मण श्रोत्र-विज्ञेय शब्दोंमें अ-वीतराग ० । ० घ्राण-विज्ञेय गंधों ० । ० जिह्वा-विज्ञेय रसोंमें ० । ० काय-विज्ञेय स्पर्शधर्मोंमें ० । ० मनो-विज्ञेय धर्मोंमें, अ-वीतराग ० । ० सत्कार ० नहीं करना चाहिये ।”

“यदि, गृहपतियो ! अन्यतीर्थिक परिब्राजक यह पूछें—‘गृहपतियो ! कैसे भ्रमण-ब्राह्मणों का सत्कार ० करना चाहिये ?’—ऐसा पूछनेपर गृहपतियो ! तुम उन ० को यह कहना—‘जो भ्रमण-ब्राह्मण चक्षुर्विज्ञेय रूपोंमें वीत-राग, वीत-द्वेष, वीत-मोह हैं; भीतर जिनका चित्त शांत है; जो काय-वचन-मनसे समचर्या (= धर्माचरण) करते हैं, ऐसे भ्रमण-ब्राह्मणोंका सत्कार ० करना चाहिये । सो किस हेतु ?—हम चक्षुर्विज्ञेय रूपोंमें अ-वीतराग ०^२, उन्हें हम आगे यह धर्माचरण

^१ देखो पृष्ठ १४, १५८ ।

^२ देखो पृष्ठ १६८ ।

^३ देखो ऊपर ।

करते देखते हैं । इसलिये उन आप भ्रमण-ब्राह्मणोंका सत्कार ० करना चाहिये' ।

"तो भ्रमण ब्राह्मण ओत विशेष धम्दोंमें वीतराग ० । ० ज्ञान-विशेष गीर्षोंमें ० । ० विद्वान्-विशेष रक्षोंमें ० । ० काय-विशेष रघृष्ट्योंमें ० । ० मनोविशेष धम्मोंमें वीतराग ० । ० सत्कार ० करना चाहिये ।....."

"यदि, गृहपतियो ! अन्यतीर्थिक परिव्राजक यह पूछें—'गृहपतियो ! (उन) आयुष्मान् को क्या आकार है, क्या अन्यय है ; जिससे कि तुम आयुष्मान् ऐसा कह रहे हो ? (कैसे) जरूर हो वह आयुष्मान् वीतराग है या राग हटाने में लग्न है, वीतद्वेष है, या द्वेष हटाने में लग्न है, वीत-मोह है, या मोह हटाने में तत्पर है' ऐसा पूछनेपर, गृहपतियो ! तुम उन ० को यह कहना—'क्योंकि वह आयुष्मान् अरण्य = वनप्रस्थमें एकान्त शयन-आसनका सेवन करते हैं । वहाँ वैसे यधु-विशेष रूप से नहीं, जिन्हें देख देख वह अभिरमण करें । वहाँ वैसे ओतविशेष धम्म तो नहीं हैं, जिन्हें भ्रमण कर कर वह अभिरमण करें । ० ज्ञान-विशेष गीर्ष ० ; जिन्हें सूँघ सूँघ कर ० । ० विद्वान्-विशेष रस ० ; जिन्हें चख चख कर ० । ० काय-विशेष रघृष्ट्य ०, जिन्हें छू छू कर ० । आयुषो ! यह आकार है = यह अन्यय है, जिससे हम यह कहते हैं—जरूर हो वह आयुष्मान् वीत-राग ० या मोह हटाने में तत्पर है । ऐसा पूछनेपर गृहपतियो ! तुम उन अन्यतीर्थिक परिव्राजकोंको ऐसा कहना' ।"

ऐसा कहनेपर नगर-विदेव्य-निवासी ब्राह्मण गृहपतियोंने भगवान्से यह कहा—

"आश्चर्य ! भो गौतम ! आश्चर्य !! भो गौतम ! जैसे औंधेको सीधा कर दे ०' यह हम भगवान् गौतमकी शरण जाते हैं, भर्मे और मिथु-संघकी भी । जात्रसे आप गौतम हमें अंजलिपत्र शरणागत उपासक धारण करें ।

१५१-पिंडपात-सारिसुद्धि-सुत्तन्त (३।५।६)

विषयीका त्याग । स्थिति-उत्थान आदिकी भावना

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् राजगृहमें घेणुवन-कलंदक-निवापमें विहार करते थे ।

तब आबुष्मान् सारिपुत्र सायंछाल ध्यानसे बैठ, वहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे आबुष्मान् सारिपुत्रसे भगवान्ने यह कहा—

“सारिपुत्र ! तेरी इन्द्रियाँ (= शरीर) विप्रसन्न हैं, त्वि-वर्ण (= शरीरके चमड़ेका रंग) परिशुद्ध = पर्ववत्तात है । सारिपुत्र ! जानकल किस विहारमें अधिकतर विहार करता है ?”

“भन्ते ! जानकल मैं अधिकतर शून्यता-विहारसे विहरता हूँ ।”

“साधु, साधु, सारिपुत्र ! महापुरुष-विहारसे ही, सारिपुत्र ! तू आजकल अधिकतर विहर रहा है । सारिपुत्र ! यह शून्यता^१ महापुरुष विहार है । इसलिये सारिपुत्र ! जो भिक्षु भी आकांक्षा करे, शून्यता विहारसे मैं अधिकतर विहरूँ, उस भिक्षुको, सारिपुत्र ! यह सोचना चाहिये—‘जिस मार्गसे मैं भिक्षुके लिये मार्गमें प्रविष्ट हुआ, जिस प्रदेशमें पिंडके लिये घूमा, और जिस मार्गसे पिंड (छे) गाँवसे बाहर हुआ । क्या, वहाँ चक्षुर्विज्ञेय रूपोंमें मेरे मनका छन्द = राग, द्वेष, मोह या प्रतिष (= प्रतिहिंसा) है या नहीं ?’ यदि, सारिपुत्र ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण (= परीक्षण) करते ऐसा जाने—‘जिस मार्गसे मैं ० प्रविष्ट हुआ, ० बाहर हुआ, वहाँ चक्षुर्विज्ञेय रूपोंमें मेरे चित्तका ० राग ० प्रतिष है’ तो सारिपुत्र ! उस भिक्षुको उन्हीं पापों-अकुशल धर्मोंके प्रहाण (= नाश) के लिये उद्योग करना चाहिये । यदि, सारिपुत्र ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते ऐसा जाने—‘० चक्षुर्विज्ञेय रूपोंमें मेरे चित्तका ० राग ० प्रतिष नहीं है’ । तो सारिपुत्र ! उस भिक्षुको उसी प्रीति = आर्मीयके साथ, रात-दिन कुशल-धर्मों (= अच्छे धर्मों) का परिशीलन करते, विहार करना चाहिये ।

“और फिर, सारिपुत्र ! भिक्षुको यह सोचना चाहिये—‘जिस मार्गसे ० गाँवसे बाहर हुआ ? क्या वहाँ श्रोत्र-विज्ञेय शब्दोंमें ० । ० घ्राण-विज्ञेय गन्धोंमें ० । ० जिह्वा-विज्ञेय रसोंमें ० । ० वायु-विज्ञेय रूपधर्मोंमें ० । ० मनो-विज्ञेय धर्मोंमें ० रात-दिन कुशल-धर्मोंका परिशीलन करते विहार करना चाहिये ।

“और फिर, सारिपुत्र ! भिक्षुको यह सोचना चाहिये—‘मेरे पाँच काम-गुण (= विषय-भोग) प्रहीण हो गये हैं न ?’ यदि, सारिपुत्र ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते ऐसा जाने—‘मेरे पाँच काम-गुण प्रहीण (= नष्ट) नहीं हुए तो, सारिपुत्र ! उस भिक्षुको पाँच काम-गुणोंके प्रहाणके लिये उद्योग करना चाहिये । यदि सारिपुत्र ! भिक्षु प्रत्यवेक्षण करते ऐसा जाने—‘मेरे पाँच काम-

^१ देशो मुष्मता-मुच ५०१-८ ।

गुण ग्रहण हो गये' । तो, सारिपुत्र ! उस भिक्षुको उसी भीति = प्राप्ति के साथ रात-दिन कुशल-धर्मोंका परिशीलन करते, विहार करना चाहिये ।

“और फिर, सारिपुत्र ! भिक्षुको यह सोचना चाहिये—‘मेरे पाँच मोचरण ग्रहण हो गये हैं न ?’ ० ।”

“०—‘मैंने पाँच उपादान-सूत्रोंको परिज्ञात (= ज्ञात) कर लिया न ? ० ।

“०—‘मैंने चार स्मृति-ग्रन्थानोंकी भावना की है न ? ०’ ।

“०—‘मैंने चार सस्यक्-प्रधानोंकी भावना की है न ? ०’ ।

“०—‘मैंने चार क्रुद्धि-पादोंकी भावना की है न ? ०’ ।

“०—‘मैंने पाँच इन्द्रियोंकी भावना की है न ? ०’ ।

“०—‘मैंने पाँच जड़ोंकी भावना की है न ? ०’ ।

“०—‘मैंने सात बोध्यगोंकी भावना की है न ? ०’ ।

“०—‘मैंने आर्य अष्टांगिक मार्गकी भावना की है न ? ०’ ।

“०—‘मैंने द्रामघ (= तमाधि) और विषदयना (= प्रज्ञा)की भावना की है न ? ० ।

“०—‘मैंने विद्या और विमुक्तिका साक्षात्कार किया है न ? ० ।

“सारिपुत्र ! जो कोई भ्रमण-ग्रहणोंने अतीतकालमें पिंडपात-परिमुक्ति (= निज्ञातकी मुक्ति) की; उन सभीने इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण (= परीक्षण) कर करके पिंडपातको परिशोधित किया । सारिपुत्र ! जो कोई भ्रमण या बाह्य भविष्यकालमें पिंडपात-परिमुक्ति करेंगे; वह सभी इसी प्रकार ० । जो कोई भ्रमण या बाह्य इस समय पिंडपात-परिमुक्ति करते हैं, वह सभी इसी प्रकार पिंडपातको परिशोधित करते हैं । इसलिए, सारिपुत्र ! प्रत्यवेक्षण कर करके पिंडपातको परिशोधित कहेंगा’—ऐसे सारिपुत्र ! सीखना चाहिये ।”

भगवान्ने यह कहा, सन्तुष्ट हो आनुत्तमान् सारिपुत्रने भगवान्के भाषणको अभिर्निन्दित किया ।

१ ऊपर जैसा ही, सिद्धं कालगुणके स्थानपर यह शब्द रख दिया जाये । २ इन्द्रिय = अका, बोध, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा ।

१५२-इन्द्रिय-भावना-सुत्तन्त (३।५।१०)

इन्द्रिय-संयम

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् कर्जंगलामें सुवेणुवन (= 'सुवेसुवन') में विहार करते थे।

तब पारासिवियका अन्तेवासी (= शिष्य) उत्तर-माणवक जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान् के साथ संमोदन कर—एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे पारासिवियके अन्तेवासी उत्तर माणवकको भगवान् ने कहा—

“उत्तर ! क्या पारासिविय ब्राह्मण शिष्योंको इन्द्रिय-भावना (= सम्बन्धी) उपदेश करता है ?”

“ओ गौतम ! पारासिविय ब्राह्मण शिष्योंको इन्द्रिय भावनाका उपदेश करता है।”

“तो उत्तर ! कैसे ? इन्द्रिय-भावनाका उपदेश करता है ?”

“ओ गौतम ! आँखसे रूप नहीं देखना, कानसे शब्द नहीं सुनना। इस प्रकार ओ गौतम ! पारासिविय ब्राह्मण शिष्योंको इन्द्रिय-भावनाका उपदेश करता है।”

“वैसा पारासिविय ब्राह्मणका पचन है, वैसा होनेपर, उत्तर ! अन्धा इन्द्रिय-भावना करनेवाला (= भावितेन्द्रिय) होगा, ध्विर भावितेन्द्रिय होगा। क्योंकि उत्तर ! अन्धा आँखसे रूप नहीं देखता, ध्विर कानसे शब्द नहीं सुनता।”

ऐसा कहनेपर पारासिवियका अन्तेवासी उत्तर माणवक रुप, मूक, गर्दन झुकाने, अधोमुख, सोपता, प्रतिभाहीन, हो बैठा। तब भगवान् ने ० उत्तर माणवकको रुप ० जानकर आयुष्मान् आनन्दको संबोधित किया—

“आनन्द ! पारासिविय ब्राह्मण भावकों (= शिष्यों) को दूसरी तरह (= जन्मवा) इन्द्रिय-भावना उपदेश करता है, और आगेके विनयमें दूसरी तरह अनुसर (= सर्वोत्कृष्ट) भावना होती है।”

“भगवान् इसीका काल है, सुगत ! इसीका काल है, कि भगवान् आर्य-विनय (= बौद्ध-धर्म) के अनुसर इन्द्रिय-भावनाका उपदेश करें। भगवान् से सुन कर निष्ठु धारण करेंगे।”

“तो आनन्द ! सुनो, अच्छी तरह धरमें करो, कहता हूँ।” “अच्छा भन्ते !”...

भगवान् ने यह कहा—

“कैसे आनन्द ! आर्य-विनयमें अनुसर इन्द्रिय-भावना होती है ! यहाँ आनन्द ! पशु (= आँख) से रूपको देख कर निष्ठुको समाय (= पसन्द आछम) होता है, अ-समाय होता है,

१ 'वेतवन', 'सुवेसुवन' भी पाठ है।

मनाप-अमनाप होता है। वह ऐसा जानता है—‘वह मुझे मनाप उत्पन्न हुआ, अ-मनाप ०, मनाप-अ-मनाप ०। किन्तु यह संस्कृत (= कृत, कृत्रिम) = औदारिक = प्रतीत्य-समुत्पन्न (= हेतु-जनित) है। यही ज्ञान्त, यही प्रणीत (उत्तम) है, जो कि यह (रूप आदिसे) उपेक्षा। (तब) इतना वह उत्पन्न मनाप, उत्पन्न अ-मनाप, ० मनाप-अ-मनाप निरुद्ध (= नष्ट) हो जाता है। उपेक्षा ठहरती है। जैसे आनन्द! आँखवाला पुरुष पत्तक चढ़ा कर गिरा दे, पत्तक गिरा कर चढ़ा दे; इसी तरह जानन्द! जिस किसीको इतना शीघ्र, इतनी जल्दी, इतनी आसानीसे, उत्पन्न मनाप, उत्पन्न अ-मनाप, उत्पन्न मनाप-अमनाप दूर हो जाते हैं, उपेक्षा ठहरती है। यह आनन्द! आर्य-विनयमें चक्षुसे जाने जानेवाले (= चक्षुर्विज्ञेय) रूपोंके विषयकी अनुत्तर इन्द्रिय-भावना कही जाती है। और फिर आनन्द! ओंकारसे शब्दको सुनकर ०। ० उपेक्षा ठहरती है। जैसे कि आनन्द! चलवान् पुरुष अग्रवास चुटकी बजावे, ऐसे ही आनन्द! जिस किसीको इतना शीघ्र ०। यह आनन्द! आर्य-विनय में श्रोत्र-विज्ञेय शब्दोंके विषयकी अनुत्तर इन्द्रिय-भावना कही जाती है। और फिर आनन्द! श्राणसे गंधको सूँघ कर ०। ० उपेक्षा ठहरती है। जैसे कि आनन्द! पद्म-पद्ममें बोबीसी इयासे पानीके बुलबुले उठते हैं, ठहरते नहीं; ऐसे ही आनन्द! ०। ० यह ० श्राण-विज्ञेय गन्धोंके विषयकी अनुत्तर इन्द्रिय-भावना है। और फिर आनन्द! जिह्वासे रस चख कर ०। ० उपेक्षा ठहरती है। जैसे कि आनन्द! चलवान् पुरुष जिह्वाके नोकपर खेल-पिंड (= चूक-काक) जमा कर, अग्रवास ही फेंक दे, ऐसे ही आनन्द! ०। यह ० जिह्वा-विज्ञेय रसोंके विषयकी अनुत्तर इन्द्रिय-भावना है। और फिर आनन्द! काया (= त्वक्)से रमण्यके स्पर्शसे ०। ० उपेक्षा ठहरती है। जैसे कि आनन्द! चलवान् पुरुष समेदी पाँहको पैलावे, पैलाह पाँहको समेटे, ऐसे ही आनन्द! ०। यह ० काय-विज्ञेय रमण्योंके विषयकी अनुत्तर इन्द्रिय-भावना है। और फिर आनन्द! मनसे धर्मको जानकर ०। ० उपेक्षा ठहरती है। जैसे कि आनन्द! चलवान् पुरुष दिनमें तपे ओंहेके कढ़ाहपर दो-तीन पानीकी बूँद डाले; ‘‘आनन्द! पानीकी बूँद पड़कर’’ ‘‘तुरन्त ही’’ ‘‘क्षयको प्राप्त हो जाये। ऐसे ही आनन्द! ०। यह मन-विज्ञेय धर्मोंके विषयकी अनुत्तर इन्द्रिय-भावना है।

‘‘यहाँ आनन्द! चक्षुसे रूपको देखकर, श्रिणुको मनाप (= प्रिय) उत्पन्न होता है, अ-मनाप उत्पन्न होता है, मनाप-अमनाप उत्पन्न होता है। वह उस उत्पन्न मनाप, ० अमनाप, मनाप-अमनापसे दुःखित होता है, चबराता है, घिना करता है। ओंकारसे शब्द सुनकर ०। श्राणसे गंध सूँघकर ०। जिह्वासे रस चखकर ०। कायासे रमण्य छूकर ०। मनसे धर्म जानकर, श्रिणुको मनाप ०, अमनाप ०, मनाप-अमनाप उत्पन्न होता है। वह उस उत्पन्न मनाप, अ-मनाप, मनाप-अमनापसे दुःखित होता है, चबराता है, घिना करता है। इस प्रकार आनन्द! शैक्ष्य (= जिसको अभी सीखना है, सेख) -प्रतिपद् (= परिपदा) होती है।

‘‘कैसे आनन्द! भावितेन्द्रिय हो, आर्य (अहंस्, अहंश्च = अ-सेम्) होता है? यहाँ आनन्द! चक्षुसे रूपको देखकर ० ओंकारसे ०, श्राणसे ०, जिह्वासे ०, कायासे ०, मनसे धर्म जानकर, मनाप ०, ० अ-मनाप, ० मनाप-अमनाप उत्पन्न होता है। वह यदि चाहता है, कि प्रतिफलमें अ-प्रतिफल जान विहार करूँ, अ-प्रतिफल जानते ही यहाँ विहार करता है। यदि चाहता है, कि अ-प्रतिफलमें प्रतिफल जान विहार करूँ, प्रतिफल जानते ही यहाँ विहार करता है। यदि चाहता है,—प्रतिफल, अ-प्रतिफल दोनों वर्जित कर, स्मृति-सम्प्रजन्य-युक्त उपेक्षक हो विहार करूँ, वह स्मृति सम्प्रजन्य-युक्त उपेक्षक हो विहरता है। इस प्रकार आनन्द! भावितेन्द्रिय आर्य (= मुक्त) होता है।

“इस प्रकार आनन्द ! मैंने आर्य-विनयकी अनुत्तर इन्द्रिय-भावना उपदेश कर दी; वीक्ष-प्रतिषद् भी उपदेश कर दी, मायितेन्द्रिय आर्य भी उपदेश कर दिया । हितैषी, अनुकम्पक माता (= गुरु) को अनुकम्पा (= दया) भावकोंके लिये जैसे करना चाहिये, वैसे मैंने तुम लोगोंके लिये कर दिया । आनन्द ! यह वृक्षमूल (= वृक्षके नीचेकी भूमि) है, यह धूल्य घर है, ध्यान करो आनन्द ! मत प्रमाद करो, पीछे अफसोस मत करना । यह तुम्हारे लिये हमारे अनुशासन है ।”

भगवान्ने यह कहा, आयुष्मान् आनन्दने सन्तुष्ट हो, भगवान्के भाषणको अनुमोदित किया ।

(१५—इति सत्तामसन-वग्ग ३१५)

इति उपरि-पञ्चासक ३।

समाप्त

१-उपमा (= दृष्टांत) अनुक्रमणी

अक्षि-द्वारक । १२८	लौका कथा । ३४९
अग्नि । ३८८	ऊँटका पैर । ३४५
अग्निका उपादान । ३१८	उर्मि-भय । २६९
अग्निकी संज्ञा । १५३	अणु । १६२
अग्निके नाम आश्रयसे । ४०२	ओषधि तारा । ३२०
अंगारका । ८४, २१७	कचरी छाया । ४७
अंगारोंका ढेर । ४७	कंसपाती । १७, १८, १९, २०
अचिरवती और पर्वतपर वृष्टि । ३६३	काष्ठ-खंड । ४९६
अंडकोरा-द्वारक । १२८	काष्ठ, गोला । ३४६, ३४७
अन्ध-वेणि-परंपरा । ४१६	काष्ठ, नीरस । ३४७
अमावास्याका चंद्रमा । ५९३	काष्ठ-संघर्षण । ५७४
अलगह (= सर्व) -गवेषी । ८६	कान्तार-मार्ग । १६३
अरबतर । ३८८	कालानुसारिक मूलगंध । ४५४
अरव-शिक्षा । २६१	कुक्कुटी-अंड (देखो सुगंधके अंडे) ।
असित देवल । ३८९	कुदाल-हस्त पुरुष । ८२
असि-सूता । ८४, ९३, २१४	कुम्भीर-भय । २६९
आकाश । ११९	कुल । ८६, ८७,
आकाशमें चित्रकारी । ८२	कुटसे मुक्तको जवर्दस्तों आगपर तपाना । २९४
आगार । २०९	कुटसे मुक्तको चाबसें कनेकी अनिच्छा । २९४
आपानीय कांस्थ । १८८	कूर्म । ९३
आवधोरा । १८८	कृषि । ४१५
आमने सामनेके घरोंके बीचमें मनुष्य । ५३९	केकड़ा (= कर्कट) । १८१
आवर्त-भय । २६९	कोढको आगपर तपाना । २९५
आशीविष (= साँप) ४४८	ककचोपम । ८३, ११८
आसौतिकको गीठ । ३४८	गंगा नदी । काक-पेया—३५५
उत्तरारण्य । ५३१	गंगा-नदी (समुद्र-निष्ठा) । २८६
उत्पलिनो और जल । १०६, ३१०, ४९५	गोला काष्ठ । १४६
उदक-हृद (पर्वतसे घिरा) । ३१३	गोधातक । ३४८, ४०६, ५९३
उदकहृद । ३१०, ४९५	गोधातकका सूना । २१६
उदपानमें तारा । ३४८	गोपानसी (ओलुग-बिलुग) । ३४८

गोपालक । १३३-३५, १३६
 गोमूत्र । १८८
 ग्रामसे ग्रामान्तर-नामन । ३१२
 ग्रामसे प्रवासो । ४४६
 घटिकार । ३२५
 चक्रवर्तीके सात रत्न । ५३५
 चंगवार । ९३
 चौरस्तेपर रख । ४९७
 जनपद-कल्याणीका चाहनेवाला । ३१९, ३२३
 जनपद-भाषा (में पाती) । ५७०
 जन्मान्व । ४१६
 जन्माधिको नेत्र-चिकित्सा । २९६
 जन्मान्धको रंगसे वंचित करना । २९६
 जुआरीका दाब । ५३८
 जुगनू । ३१९
 तप्त कड़ाह पर जल-बिन्दु । २६५
 तिलपिष्टसे तेल । ५२१
 तृण-डल्का । ८४, २१७
 तृण-डल्कासे गंगाका संतप्त करना । ८२
 तेल-प्रदीप । ३२०
 तेल-प्रदीप । मलिन—५२६
 तेलप्रदीप । शुद्ध—५२६
 तेलप्रदीपका सब अनित्य । ५९१
 तेल और बत्तीसे प्रदीप । ५०५
 दन्तकार । ३११
 दरिद्रकी ममता । २६४
 दरिद्रके लिये बाँटो । ४००
 दहर स्त्री-मुख और पुष्पमाला । ६४
 दहीसे मक्खन । ५२१
 दही-माखु-चो-खीब । १८८
 दास । १६३
 दीपोंका एक प्रकाश । ५२४
 देवदूत । ५३९
 देवोंकी मानव-भोगमें अनिच्छा । २९४
 नाग । ९३
 नाग-वनिक । ५१७
 नापित । ४९५
 निधि-मुख । २०९
 निबाप । ९८

पानोसे मक्खन । ५२१
 पारा-राशि । १०९, ११२
 पिढारीसे सीप । ३११
 पीला पत्ता (दूडा) । ४४९
 पुष्करिणी । ४८, १६६
 पुष्करिणी । चौकोर—४९७
 पुष्पमाला । २३०
 पूर्णिमाका चंद्रमा । ५९४
 पृथिवीके आश्रयसे प्राणि और भूत । १३९
 प्रसाद । ४८
 बन्धनागार । १६३
 बलवान्का हाथ समेटना । १०३
 बलवान् और दुर्बल । ४०६
 बलवान् और भेड़ । १३८
 बलवान् और शिखरसे शिर टकराना । ४०६
 बलवान् और शौडिका-किलंज । १३९
 बालूसे तेल । ५२१
 बिल्लीकी खालका स्वर्णरा करना । ८३
 बीज । तरुण—२६८
 बूढ़ा । अस्ती-वर्धका । ५०
 मटका खाती । ४९६, ४९७
 मटक-आयुध । १६५
 मधु-पिंड । ७३
 मकंद-शावक । २९९
 महाधनीका त्याग । २६४
 महावनमें पल्लव । ७६
 मालुवा लता । १८४
 मार्स-पेशी । ८४, ९३, २१७
 मुर्गीके अंडे । ६७, २१२
 मूँजसे सीक । ३११
 मूर्धाभिषिक्त राजा । ३६५
 मृतमाता । पगली—३५९
 म्यानसे तलवार । ३११
 याचितकूपम । २१७
 याचितकोपम । ८४
 रथके अंग-प्रत्यंगमें चतुर । २३५
 रथ-विनोद (= डाक) । ९६
 रोग । १६२

लकुटिका (= गौसया) । २३३

लोका कड़वा । १८८

लज्जी-मल्लके संघ । १४०

वत्स । लकण—२३८

वर्मिक । ९३

वस्त्रपर रंग । ३७

वस्त्रसे शिर ढँका । ४१६

वाणिज्य । ४१५

वृत्तका सब अनित्य । ५९२

वृत्त-फल । ८४

वृत्तफलोपम । २१८

वैदूर्य-मणि (= हीरा) । ३११, ३१९, ३९३

वैदेहिका और काली । ८०

व्याधा । ३३४

शक्ति-शूल । ८४

शंख-धमक । ३११

शंख बजाने वाला । ४१९

शरदका सूर्य । ३२०

शल्प-विद्ध और वैद्य । ४४७, ४४८

शाल-वृक्ष (सार-मग्न) । २८३

शिला, न जुड़नेवाली । ४४६

शुष्क काष्ठ । १२६

समान-द्वारवाले दो घर । ३१२

समुद्र । ४९६

सर्प-शिर । ८४

सारगवेषी । १२१, १२२, १२४, १४१

सार-गवेषी पुरुष । ७१

सोंगसे दूध । ५२१

सुवर्णकार । ३११

सुशिक्षित हाथी आदि । ५१६

सुसुका-भय । २००

सूअोंको पाँती । ३४८

सूर्य । शरद— १८८

सोनार और सोना । ५७४

स्नानसे दूध । ५२१

स्नान-भूषण । ३१०

स्वप्न । ८४, २१७

इक्षिपद् । १११, ११६, ११७

इस्तो । हरिस-दन्त राज— २४६, २६३

२-नाम-अनुक्रमणी

- अ-कनिष्ठ ४९९ (देव) ।
 अ-कनिष्ठक । १७० (देवता) ।
 अग्निवेश । १३८ (वैजालीके लक्ष्मका गोत्र) ।
 अग्निवेश । ५१५ (अचिरवत् अमणोद्देशका गोत्र) ।
 अग्निवेश । २८७ (दीर्घवत् परिमाजकका गोत्र) ।
 अंग । (में जङ्गपुर) १६१, १६५ ।
 अंग । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 अंगुतराप देश । (में आपण), २१४, २६२, ३८१ ।
 अंगुलिमाल । ३५३ (काह, प्रसेनजित्के राज्ञे) । ३५४ (बुद्धका शिष्य), ३५५ (मैत्रावर्णि-पुत्र नाम्ने), ३५६ (की सिद्धार्थ), ३५७ (युक्त) ।
 अचिरवत् । ५१५ (अमणोद्देश, राजगृहमें, गोत्रमे अग्निवेश) ।
 अचिरवत् । २१४ दि० (= रापती), ३६३ (पर्वतसे आई नदी, आक्लीमें) ।
 अच्युत । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 अच्युतांग । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 अजातशत्रु । १४० (मगध-राज वैदेही-पुत्र); (-मागध वैदेही-पुत्र राजा प्रसेनजित्को भेजा बाहीलिक पक्ष);
 अजातशत्रु । ४५५ (मगधराज, वैदेहिलुत्त, बुद्ध निर्वाणके थोड़े ही समय बाद राजा प्रद्योतके मद्यमे नगरको सुरक्षित कर रहा था) ।
 अजित केश-कम्बली । १२४, (तीर्थंकर), १४७, (कोषी), ३०० (उल्हेदादी) ।
 अट्टक । ३९६ (माण्डणोके पूर्वज मंत्रकतां कथि) ।
 अट्टक नागर । (देखो त्थम गृहपति) ।
 अ-तप्य । ४९९ (देव) ।
 अनवतप्तदह । २१४ ।
 अनाथपिटिक । ५८२ (आक्लीमें, बीमार), ५८३ (सत्यु, देवदत्त), ५८४ ।
 अनाथ-पिटिकका आराम । (देखो आक्लीमें) ।
 अनासव । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 अनिच । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 अनुगार वरचर । ३०५ (राजगृहमें अभिजात धर्मिजातक) ।
 अनुसुद्ध । १२७, १३०, १३१ (का बुद्धाव); २७१ (नलकमानमें); ४९० (आक्लीमें); ५२३ (आक्लीमें); ५३१ ।
 अनोमनिकम । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 अन्धवन । ९२, ५९५ (आक्लीमें) ।
 अपराजित । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 अ-अमास-शुभ । ४९९ (देव) ।
 अप्रभारणाम । (देवता), १७०, ४९९ ।
 अभय राजकुमार । २३४-२६ (राजगृहमें बुद्धसे संवाद, निर्गोठ बाल-मुक्ता भूतपूर्व शिष्य) ।
 अभिभू । ३ (देवता) ।
 अम्बलट्टिक । २४५ (राजगृहमें) ।
 अरिट्टु । गंधवाधि-पुत्र—८४ (की बुरी धारणा) ।
 अरिट्ट । (देखो जरिट्ट) ।
 अरिट्ट । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 अवन्तिपुत्र । माधुर—३९० (मधुराका राजा), ३९३ (बुद्धनिर्वाणके बाद बौद्ध बुद्धा) ।
 अवरपुर-वन-संड । ४४ (वैजालीमें) ।

अ-विभ । (देवता) १७०, ४९९ ।
 अश्वजित् । १३८ (अशुष्मान्) ;
 अश्वजित् । १७५ (कोटागिरिमें),
 अश्वपुर । १९१, १९५ (जंगदेसमें) ।
 अष्टम । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 अस्ति । (देखो देवल भी) ।
 अस्ति । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 असेप्य । ४८४ (प्रत्येक बुद्ध) ।
 आकाश-मोत्र । (देखो संजय) ।
 आकाशानन्त्यावतन । (देवता) ३, १७०, ४९९ ।
 आकिचन्त्यावतन । (देवता) ३, १७०, ४९९ ।
 आजीविक । १०० (-संप्रदायके तीन आचार्य)
 २८०, ३०३ (-संप्रदायके मार्गदर्शक
 थे—रन्द-वात्स्य, कुश सकृत्स्य और मन्वलि
 गोप्ताल) ।
 अथाप्य । १७० (देवता) ।
 आनन्द । (अशुष्मान्) ७३, १०२,
 १३० (भगवान्के उपत्याका हुआ),
 २०८ (का वैशालीमें उपदेश), २१०
 (का उपदेश, बुद्धकी आज्ञासे), २५४-५६,
 २७१ (नलकपानमें), २९९, ३०४, (का
 अन्विको उपदेश), ३२५-२९, ३३८-३९
 (को उपदेश), ३६१-६३ (का प्रसेनजित्-
 को उपदेश) ३७० (का विहङ्गम सेनापतिसे
 संलाप), ३७१ (को प्रसेनजित् द्वारा
 प्रशंसा), ४४१ (खामगाममें), ४५५
 (निर्वाणके बाद राजगृहमें), ४९०, ५०१;
 ५०४ (कपिलवस्तुमें) ५०९, ५२३, ५४५,
 ५५५, ५७९ (कपिल वस्तुमें), ५८२ (की
 प्रजापतीके लिये यज्ञाल) ; ६०९ (कर्त्त-
 मक्षामें) ।
 आनन्द । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 आपण । २१४ (अंगुत्तरावदेशमें कल्ला),
 २१४, २६२, ३८१ ।
 आम । (देवता) १७०, ४९९ ।
 आमास्वर । (देवता) ३, १७०, १९५,
 १९६, ४९९ ।
 आमलकोवन । २६७ (बाहुनामें) ।

आलार कालाम । १०४ (के पास सिद्धार्थका
 जाना), १०७, ३४५, ४२२ ।
 आवलायन । ३८६ (भावली-निवासी विहङ्ग
 बुद्धिल तरुण ब्राह्मण), ३८७-२० (बुद्धके
 साथ संलाप) ।
 अचछार्नगल । ४०९ (में, चंकि, तापन,
 जलुस्सोणि, सोदिय, वाशिष्ठ, भाग्राज) ।
 इन्द्र । (देखो शक) ।
 इसिगिरि । ४८३ (= जपिगिरि, राजगृहमें) ।
 उक्कट्टा । (में सुभगवन) ३, १९४ ।
 उक्काचेल । १३६ (काजीदेशमें, संभवतः कर्त्त-
 मान सोनपुर या शाजीपुर, बिहार) ।
 उग्गाह्मारा । (देखो सज्जन श्रीडिका-पुत्र) ।
 उच्छांगमय । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उजुका । (= उज्ज्वला = उरुज्जा) । ३६८
 (राष्ट्र और नगरमें प्रमेयजित् रानिवों
 सहित, में गणतन्त्रक संग्रहा) ।
 उज्जय । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उत्तर । ३०३ (भिविलामें ब्रह्मायु ब्राह्मणका
 शिष्य), ३७४-७५ (द्वारा बुद्धकी परीक्षा),
 ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उत्तर माणवक । ६०७ (परमार्थिक ब्राह्मणका
 शिष्य कर्त्तमक्षामें) ।
 उत्तल । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उदायी । २३७ (अशुष्मान्), २६२-६९ (को
 उपदेश) । ३९१ (अशुष्मान्का वाराणसीमें
 घोटमुख ब्राह्मणको उपदेश), ५५६
 (राजगृहमें) ।
 उदायी । सज्जन - ३०५-१३ (राजगृहमें परि-
 ब्राजक), ३१८, ३२२ (- परिब्राजकको,
 राजगृहमें उपदेश), ३२२ (को बुद्धका
 शिष्य होनेमें बाधा) ।
 उद्दक रामपुत्र । ३४६ (सिद्धार्थका गुरु),
 ४२२ ।
 उद्दक रामपुत्र । १०५, १०७ ।
 उप-अरिष्ट । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उप-श्रुतम । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उपक आजीविक । १०० (बुद्धसे मुलाकात) ।

उपकाल । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उपतिष्ठ । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उपनन्द । ४५० (अगवका सेनापति) ।
 उपनन्द । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उपनीत । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उपनेमिप । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उपरिशी । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उपालि । २२३ (बालक-शोणकार निवासी
 गृहपति), २२४-२३ (का बुद्धसे संवाद) ।
 उपासम । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उपोसय । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 उरुवेला । १०५ (= बोधगया सेनानी निगम),
 १४६ (में सेनानी निगम, अगधमें),
 ३४६ (अगधदेशमें सेनानी निगम) ।
 आधिगिरि । ५९ (राजगृहमें) ४८३ (= इति-
 गिरि, राजगृहमें) ।
 अपिदत्त । ३६६ (बुद्ध-भक्त, तथा राजा
 प्रसेनजित्का नौकर) ।
 अपिपतन । १०७, १०८ (वाराणसीमें),
 ३२६ (में काश्यप बुद्ध), १०७, ५७८ ।
 एकपुंडरीक । १४८ (इन्द्रका उद्यान) ।
 एकपुंडरीक । ३६१ (राजा प्रसेनजित्का हाथी) ।
 ओपसाद । ३९४ (कोसलमें ब्राह्मणग्राम,
 जिसके उत्तरमें देववनका स्वामी चंकि
 ब्राह्मण) ।
 औपमन्यव पौष्करसाति । ४१३ (सुभगवन-
 निवासी) ।
 ककुसंध (देखो ककुब्ध) ।
 कज्जाला । ६०७ (में सुवेशुवन) ।
 कण्णत्थलक । ३६८ (उडुकामें) ।
 कण्णमुंड-द्व । २१४ टि० ।
 कन्दरक । २०५ (कन्यामें परित्राजक) ।
 कपिलवस्तु । [५७, ७० (शाक्यदेशमें, जहाँ
 न्यग्रोधाराम था)], २१० (में न्यग्रोवा-
 राम, में संस्थागार), ५०४, ५५० (शाक्य-
 देशमें, न्यग्रोधाराम), ५७९ ।

कप्पिन । महा—४९० (भावलीमें) ।
 कम्बोज । ३८७ (देशमें आर्य और दास दो
 ही वर्ण) ।
 कम्मासदम्म ३५ (कुरुदेशमें निगम, देखो
 बुद्धचर्या, पृष्ठ ११८), २९२, ४४९ (कुरु-
 देशमें कत्वा) ।
 कलन्दक-निवाप । ९४ (राजगृहमें), (देखो
 राजगृह वेशुवन) ।
 कलार जनक । ३३९ (मिथिलका राजा) ।
 कलिगारय्य । २२६ ।
 कलमायदम्भ । (देखो कम्मासदम्म) ।
 कात्यायन । (देखो वेक्षणस) ।
 कात्यायन । प्रकुप—(देखो प्रकुप) ।
 कात्यायन । महा—७१ (बुद्धद्वारा प्रशंसित),
 ३४० (का उपदेश अवन्तिपुत्रको), ४९०
 (भावस्तीमें), ५४७ (राजगृह तपोदाराम-
 में), ५६४-६६ (का उपदेश भावस्तीमें) ।
 कात्यायन । सम्य—५२४, ५२६ (आशुभान्,
 भावस्तीमें) ।
 कापथिक । ३९६ (माणवक, चंकि ब्राह्मणका
 विद्वान् शिष्य, गोत्रसे भास्वान्), ३९९
 (बुद्धोपासक) ।
 कारायण । दीर्घ—३६४ (प्रसेनजित्का ब्रमात्य) ।
 काल । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 काल-कूट । २१४ टि० ।
 काल-शिला । ५९ (राजगृहमें, कपिगिरिके
 पास) ।
 कालाम । (देखो जालार) ।
 काली । ८० (वैदेहिका गृहपत्नीकी दासी,
 जावली-वासिनी), १९८ (दूतीमारकी
 पहिन) ।
 काशी । २०५ (में कीटागिरि),
 ३२६ (- में वाराणसी), ३६० (देशका
 राजा प्रसेनजित्) ।
 काश्यप । ३२६-२९ (बुद्ध) ।
 काश्यप । अचेल—५१२ (राजगृहमें) ।
 काश्यप । कुमार—९९ (भिक्षु) ।
 काश्यप । पूर्ण—(देखो पूर्ण काश्यप) ।

काश्यप । महा—१२०, १२१ (का विचार),
४५० (आवन्तीमें) ।

किर्कि । ३२६-२७ (काशिराज, काश्यप बुद्धका
सेनक) ।

किम्बिल । १२०, २७१ (नलकपानमें) ।

कीटागिरि । २७५ (काशीदेशमें) ।

कोखिय जटिल । ३८१ (आपण-निवासी) ।

केतुमान् । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

केतुम्पराग । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

केवट-पुत्त । साति (देखो साति) ।

कैराकम्बली । अजित—(देखो अजित) ।

कुत्तकुटाराम । २०८ (पाटलिपुत्रमें) ।

कुणाल-दह । २१४ टि० ।

कुलधान । २७१ (नलकपानमें) ।

कुल । ३५, २९२ (-देशमें कम्मासदम्भ कत्वा),

३३० (-देशमें धुलकोटित करवा, यही-

राजधानी), ४४९ (देशमें कम्मासदम्भ) ।

कुत्तोनारा । ४३८ (में बलिहरण वन) ।

कुरा संहित्य । १०७ टि० ३०३ (आजीवकी-

का आचार्य); १४४ (अचेलक) ।

कुपण । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।

कैलाश-कूट । २१४ टि० ।

कोकनद-आसाद । ३४४ (सुसुमारगिरिमें

बोधि राजकुमारका) ।

कोट्टित । महा—(देखो कोटिल), ४९० ।

कोलि । २३१ (-देशमें हलिहवसन भन्वा) ।

कोलिय-पुत्त । (देखो पूर्ण) ।

कोटिल । महा—१७३ (= महा कोटित)

१७८ ।

कोसम्बी । (देखो कौशाम्बी) ।

कोसल । (-देशकी राजनीतिक अवस्थाके लिये

देखो प्रसेनजित् भी) । ९६ (-देशमें

आवन्ती, साकेत); १६८, २३९ (में जाला

ब्राह्मण ग्राम), २७१ (में नलक-पान),

३२५, ३९० (देशका राजा प्रसेनजित्),

३९४ (-देशमें ओपसाद ब्राह्मण-ग्राम,

जिसके उत्तरमें देववन), ४१६ (-देशके

महाशाल ब्राह्मण—चंडिक, ठाकुर, पौष्कर-

साति, जालुओणि, लौदेव्य), ३२१ (-देश
में मंडलकप्य), ६०३ (में नगरविन्देव्य
ब्राह्मण-ग्राम) ।

कोसी । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।

कौरव्य । ३३४ (कुल-देशका राजा) ।

कौशान्बी (कोसम्बी) १९१, (में बोधिता-

राम), २९९ (में बोधिताराम और बुद्ध-

गुहा और देवक-सोम्य), ३५२ (के

बोधिताराममें बोधि राजकुमारके गर्भमें

रहते समय माताका बुद्धको अभिवादन

करना), ४२० ।

कौरिक । १४९ (= इन्द्र) ।

कौसल्य ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

ककुच्छन्द (= ककुसंघ) । (बुद्ध), १९८

१९९, २०० ।

केम्पाभिरत्त । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध)

केमिय-अम्बवन ३९१ (वाराणसीमें), ।

कगारा । २०५ (चम्पामें पुष्करिणी) ।

गंगानदी । ८२, २१४ टि०; २८६ (समुद्र-

निष्ठा) ।

गणक मांगलान । ४५२ (आवन्तीमें) ।

गंधबाधि-पुच्छ अरिट्टु । (देखो अरिट्टु) ।

गंधमादन-कूट । २१४ टि० ।

गंधार । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

गया । १०७ ।

गाम्भ्ये । (देखो लंगुलिमाल) ।

गिजकावसथ । १२७ (नादिकामें, वज्जीमें) ।

गुंदवन । ३४० (मज्जरामें) ।

गुप्तजित् । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

गुलिस्सानि । २७३ (राजगृहमें आरण्यक

विष्णु) ।

गृध्रकूट । ५९ (राजगृहमें), २८९ (पर

शुकर-खाता), (राजगृहमें पर्वत), ४८३,

४८५ ।

गोपक मांगलान । ४५५ (राजगृहमें) ।

गोष्ठतिक । २३१ (देखो कोलिय-पुत्त पूर्ण) ।

गोसिंग सालवन । १२७, १२० (नादिकामें) ।

गौतम । (= बुद्ध), १३, १६, ४४, ५३, १३९-

३३, १९८, १९६ (देवता), २८३, ३२३,
(देखो बुद्धमी) ।
गौतमी । (देखो प्रजावती)
घटाश्व । ५०४ (-आश्वका विहार कपिलवस्तुमें) ।
घटिकार । ३२५ (कुम्भकार देहलिंगमें काश्यप
बुद्धका सेवक) ।
घोटमुख । ३९१ (-ब्राह्मणका वाराणसीमें उदायी
से संवाद), ३९३ (निर्वाण-प्राप्त बुद्धका
शरणागत, का पाटलिपुत्रके कुक्कुटाराममें
घोटमुखी उपस्थान-शाला बनवाना) ।
घोटमुखी । ३९३ (बुद्धनिर्वाणके बाद, पाटलि-
पुत्रके कुक्कुटाराममें घोटमुख ब्राह्मण द्वारा
बनवाई उपस्थान-शाला) ।
घोषिताराम । (कौशाम्बीमें), १९१, २९९,
५२० ।
धंकि । (कोसल देशका ब्राह्मण महाशाल),
३९४ (- ब्राह्मण, प्रसेनजित्द्वारा प्रदत्त
अपसाद-ब्राह्मण-ग्रामका स्वामी), ३९६
(का शिष्य कापसिक माणवक), ४०९
(इच्छानंगलमें, ब्राह्मण) ।
चन्दन । ५५० (देव-पुत्र) ।
चम्पा । २०५ (में गङ्गाका पुष्करिणी) ।
चातुमा । २६० (में आत्मकीर्तन, शाक्योंका
गणतंत्र) ।
चातुर्माहाराज । ४६ (एक देवता-समुदाय) ।
चातुर्माहाराजिक । १०० (देवता), ३९८ ।
चित्रकूट । २१४ टि०
चुन्द । महा—२०, २९, ४९० (आवलीमें),
५८५ (राजगृहमें) ।
चुन्द समणुद्देश । ४४१ टि० (साधुजका
भार्ह, सामग्याममें) ।
छद्दन्त-दह । २१४ टि० ।
छत्र । महा—५८५ (राजगृहमें), ५८६
(की आत्मदृष्ट्या) ।
जनक । (देखो कलार) ।
जम्बूद्वीप । २१४ टि० (विस्तार से) ।
जयन्त । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
जयसेन । ५१५ (विजयारका पुत्र, राजगृहमें),

५२० (राजकुमार, राजगृहमें) ।
जाणुस्मोणि । १११ (= जाणुओणि ब्राह्मण,
आवलीका) ।
जानुओणि । १३ (आवलीका ब्राह्मण), १९
(उपासक), ४१६ (कोसल देशका ब्राह्मण
महाशाल), ४२० (आवलीमें घटका
रक्षक), ४०९ (इच्छानंगलमें ब्राह्मण) ।
जाली । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
जित् । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
जीवक कौमारभृत्य । २२० (राजगृहमें) ।
जैत । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
जैतवन । (देखो आवली) । ५८४ (की
महिमा, अनावर्षिकिक देवगुज द्वारा) ।
जोतिपाल । ३२५ (कश्यप बुद्धका शिष्य) ।
तगरसिन्धी । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
तत । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
तपोदाराम । ५४६ (राजगृहमें) ।
तारुक्क । ४०९ (इच्छानंगलमें ब्राह्मण) ।
तारुक्क । ४१६ (कोसल-देशका ब्राह्मण-
महाशाल) ।
तिन्दुकाचौर । ३१४ (आवलीमें) ।
तिथ्य । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
तुषित । १०० (देवता) २९८ ।
तोदेय्य । (देखो तौदेय्य भी), ४०९ (इच्छा-
नंगलमें ब्राह्मण) ।
तोदेय्यपुत्त । (देखो शुन), ५५२ (शुन
माणव) ।
तौदेय्य । ४१० (कोसलके ब्राह्मण महाशाल,
का पुत्र शुन माणवक), ४२० (भारद्वाज-
गोत्री) ।
त्रयस्त्रिंश । ४६ (देव-समुदाय), १४८ (देव-
लोक), १०० (देवता, ३३८ में सुषमा
-सभा), ४९८, ५५० (में पण्डित-कर्मक-
शिला) ।
शुद्धकोटित । ३३० (कुक्षदेशकी राजधानी, पद्मी
के राष्ट्रपाल), ३३२, ३३४ (में राजा
कीर्त्तव्य, में भिमा-चौर उद्यान) ।
दक्षिणागिरि । ४०४ (राजगृहके पास) ।
दण्डकारण्य । २२६ ।

दण्डपाणि शाक्य । ७० (कपिलवस्तुका शाक्य) ।

दर्विल । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

दसम गृहपति । २०८-९ (अट्टक नागर) ।

दीर्घकारायण । (देखो कारायण) ।

दीर्घतपस्वी । २२२ (निर्गुण नात-पुत्रका शिष्य), २२७ ।

दीर्घनल । २८९-९१ (राजगृहमें परित्राणक, अश्विमेध गोधौकी उपदेश) ।

दीर्घपरजन । १२९ (वसू = देवता वज्रीमें) ।

दुरन्वय । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

दुमुसुख लिच्छवि-पुत्र । १४१ (वैशालीका) ।

दूसी । १८९ (अमाही वहिन काली) १९९, २०० ।

देवकट सोम । २९९ (कौशाम्बीमें) ।

देवदत्त । २२१ (-का निकल जाना) ।

देवदह । ४२७ (शाक्यदेशमें कत्वा), ४२७ टि० (के घासमें लुम्बिनीवन) ।

देवल । असित—३८९-९० ।

देववन । ३९४ (जोषसाद आश्रम-ग्रामके उत्तर ओर बालवन) ।

देवासुर-संग्राम । १४९ (में देव विजयी) ।

धम्मदित्रा । १७९-८३ (-मिथुलीका उपदेश), १८३ (की बुद्ध-मुक्त्से प्रज्ञाता) ।

धानंजानि । ४०४ (राजगृहमें आश्रम), ४०८ (की सृष्टि) ।

जगरक । ३६४ (आगलीके पास, जहाँ राजा प्रसेनजित्का उद्यान था और जहाँसे मेतल्लक कत्वा ३ योजनपर था) ।

नगर विदेय । ६०३ (कोसलमें आश्रम-ग्राम) ।

नन्द । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

नन्दक । ५९०, ९४ (आयुष्मान्, मिथुनिर्गो को उपदेश) ।

नन्द वात्स्य । १०७, (आजीवकोंका आचार्य), १४४ (लच्छक), २०३ (आजीवकोंका नायक) ।

नन्दि । १२७, २०१ (नलकपानमें) ।

नलकपान । २७१ (कोसलमें, महीं पलासवन) ।

नलकारगाम । ७१९ (आगलीके समीप) ।

नागसमाल । (आयुष्मान्) ५२ ।

नात-पुत्र । २२२ (जैनतीर्थंकर), २१८ (सर्वज्ञ, सर्वदर्शी) ।

नाथ-पुत्र निर्गुण । ५९ (= जैनतीर्थंकर महा-वीरका माहानन्द, (देखो नात-पुत्र भी) ।

नादिका । १२७ (कवीदेशमें संभवतः वर्तमान जेधरडीह, मलरख, जि० सारन, में गिज-कावस्थ) ।

नालन्दा । २२२ (में प्राचारिक-आश्रम) ।

नालोर्जंघ । ३५९ (आश्रम, अश्विमेधकी का संदेश-वाहक) ।

निर्गुण नात-पुत्र । (देखो नात-पुत्र), १२४ (जैनतीर्थंकर), १२८, १४७ (कुपित), २३४ (का अमरराज कुमारको बुद्धसे शास्त्रार्थ करनेके लिये भेजना), ३०१ (अकृत विधवादी, सर्वज्ञ सर्वदर्शी), ४२८ (सर्वज्ञ), ४४१ (की मृत्यु घासमें) ।

निर्मि । ३३८ (मिथिलाका राजा) ।

निर्माणरति । १०० (देवता) ४९८ ।

नीच । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

नेमिष । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

नैवसंज्ञानासंज्ञायतन । (देवता) ३, १०४, ४९९ ।

न्यग्रोधाराम । (देखो कपिलवस्तु भी) ५७, ७०, २१०, ५०४ (कपिलवस्तु में) ।

पंगुपुत्र आजीवक । २० ।

पंचकांग स्वपति । ३१४-१७ (को आगलीमें उपदेश), २३४ (आगलीमें) ।

पंचवर्गीय । (मिथु) १०७, १०८, ३५० (- मिथुनोंको उपदेश) ।

पद्म । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।

पद्मोत्तर । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।

पद्मजित्द्रुत । ५८९ (वज्रीमें गीत) ।

परनिर्मितवशवर्ती । (देवता) १००, ४९८ ।

परीत्तशुभ । ४९९ (देवता) ।

परीताम । (देवता) १००, ४९९ ।

पर्वत । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।

पलांसवन । २०१ (नलकपानमें) ।
 परयो । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 पादलिपुत्र । २०८ (में कुक्कुटाराम), ३९३
 (के कुक्कुटाराममें बोटुसुखी उपस्थान-
 शास्त्र, जो बुद्ध-निर्वाणके बाद पनी) ।
 पांडव-पर्वत । ३८३ (राजगृहमें पर्वत) ।
 पांडुकन्वल-शिला । ५५० (शायस्त्रिभ देव-
 लोफमें) ।
 पारासविध । ५५३ (ब्राह्मणका सिध उत्तर
 भागवतका बाद) ।
 पाथा । ४४१ (में निगण्ड नालपुत्तकी मृत्यु) ।
 पिगलकोच्छ्र । १२४ (आक्लीका ब्राह्मण)
 १२९ ।
 पिडोल । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 पिरोलिक । १११ (पतिवाजक, वात्सव्यायन) ।
 पुकुसाति । ५०२ टि० (मित्र, पहिले तल-
 लिलाका राजा), ५०० (की रापसे मृत्यु) ।
 पुनवंसु । २०५ (कीटागरिमें) ।
 पुराण स्वपति । ३६६ (बुद्ध-भक्त तथा राजा
 प्रसेनजितका मौकर) ।
 पूर्ण । ५८८-८९ (को उपदेश, का सुनापरान्त-
 गमन) ।
 पूर्णकारवप । १२४ (तीर्थकर), १४० (कोष) ।
 ३०० (अक्षिपावादी) ।
 पूर्ण कोलिय-पुत्त । २३१ (गोमलिक) ।
 पूर्ण मैत्रायणी-पुत्र । ९४-५५-९६ = प्रसेसा,
 का सारिपुत्तसे संवाद) ।
 पूर्णिका । ४१६ (दासी, सुभाषनिक औपमन्वव
 पौष्करसाति ब्राह्मणकी) ।
 पूर्वकोष्ठक । १०२ (आक्लीमें) ।
 पूर्वोराम । (देखो सुगारमाता-प्रासाद भी),
 १०२ (आक्लीमें सुगारमाताका प्रामाद),
 १०२, ३६१, ४५२, ४६०, ४६३, ५०३,
 (हाथी-गाथ आदिमें मुख्य) ।
 पेत्स । २०५ (धग्पा-निवासी), २०६ (महा
 भाज, बुद्ध-सुखसे) ।
 पोतलि-पुत्त । ५५५ (-पतिवाजक, राजगृहमें) ।
 पोतलिय । २१४ (आपणमें गृहपति उपालक) ।

पौष्करसाति । ३९५ (-ब्राह्मणके पूज्य बुद्ध),
 ४१६ (कोसल देशका ब्राह्मण महापात्र),
 ४१६ (औपमन्वव, सुभाषन-निवासी,
 की दासी पूर्णिका),
 प्रक्रुध कात्यायन । १२४ (तीर्थकर), १४०
 (कुपित) ।
 प्रजापति । (देवता), ३, १९६ ।
 प्रजापती । महा—५०९ (गौतमी, वज्रदान),
 ५९० (आवलीमें) ।
 प्रसोत । ४५५ (राजा, बुद्ध-निर्वाणके बोटुसुखी
 समय बाद, राजगृहपर इसला करना चाहता
 था) ।
 प्रयाग । २६ (सरस्वतीके पास) ।
 प्रवक्ता । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 प्रावारिक-अग्रवन । २२२ (नलदामें) ।
 प्रसेनजित् । २६ (कोसल-राजकी आक्लीमें
 साकेतकी यात्रा), १४० (कोसल-राज),
 ३५३ (के राज्यमें अंगुलिमाल बाहु),
 ३५४ (के पक्षोसी भागध विषसार और
 वैशाहीके लिच्छवि), ३५८ (की रानी
 भल्लिका), ३५९ (का भल्लिकाको ताना,
 की एकलौती पुत्री बजिरी), ३६० (की
 प्रिया रानी वासव कत्तिपा, का प्रिय
 पुत्र विह्वल, की प्रिया भल्लिका, के प्रिय
 काशी-कोसल, की भगवान्में बड़ा),
 ३६१ (-कोसलका एकपुंजरीका हाथी),
 ३६२ (को अजातशत्रुका भेजा बाहीतिक
 वल), ३६४ (शाक्यके मेतलप नगरमें
 गया), ३६५ (सुषोनिष्ठिक राजा),
 ३६६ (के मौकर कश्चित और पुराण,
 स्वपति), ३६६ (-के बुद्धके साथी कश्चि-
 दत्त और पुराण, कोमलक अक्ली वर्षका),
 ३६७ टि० (की राजगृहके द्वारपर मृत्यु),
 ३६८ (के राज्यमें जलका), ३९४
 (-कोसलमें बह्मि ब्राह्मणको ओमसाद प्राम
 प्रदान किया था), ३९५ (के पूज्य बुद्ध),
 ४२० ।
 प्रियदर्शी । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

अक्षगुहा । २९९ (बीशाम्बीमें) ।
 अक्षगुहा । मोलिय । ७९ (का भिक्षुणियोंके
 साथ संसर्ग) ।
 फल्गु । २६ (पवित्र नदी) ।
 फलसुकारि । १०० (प्रावली-विवाली ब्राह्मण),
 २०१-३ ।
 अन्धमान् । ४८४ (प्रत्येकदुष्ट) ।
 बलिहरण । १३८ (कुसीनारामें वनपण्ड) ।
 बालक-लोचकार । २२३ (नाविका उपासी
 गृहपति नाज्ज्वामें) ।
 बाहुका । २६ (सुपवित्र नदी) ।
 बाहुभक्तो । २६ (पवित्र नदी) ।
 बाहुलिका । २६ (पवित्र नदी) ।
 दिवसार । ६० (मगध-राज), ३५४ (मगध,
 प्रसेनजित् का पड़ोसी राजा) ।
 बुद्ध । १३ (बोधिसत्व-जीवन), ४८-५१ (की
 तपस्यामें), १३-१६ (बोधिसे पहिले भव-
 मृत, और बोधि), ७४ (पोषसे पहिले
 धिक्काही अवस्था) ९० (पर वैश्विक =
 दृष्टेदवादी Materialist होमेका दोष,
 देखो गौतम भी), ४ जीवनी, ४४ (गुण),
 ४८ (तपस्या), ४९-५१ (स्वाध्याय-
 अनुष्ठान, प्रविवेक, आदि), ९० (के
 विषयमें लग्नति), १०३-१० (तत्त्वकी
 खोज, आलार कालाम, और उद्धक राम-
 पुत्रकी विषयता, सुद्धक-प्राप्ति, और धर्म-
 धक-प्रवर्तन), १०४ (आलार कालामके
 पास जाना), १०५ (उद्धक रामपुत्रके
 पास जाना), १३६-४७ (तप), ३४३
 (निर्वाणके बाद), ३४९ (वाल कालमें
 बुद्धोद्भवके खेतपर आमुनके बीजे लगाधि-
 प्राप्ति), ३३७-३६ (राजगृहमें जनक
 राजकुमारसे संवाद), ३४५-५१ (का
 संन्यास-जीवन, धर्मधक-प्रवर्तन तक),
 ३४५ (का पाँचवेंपर चलनेसे इन्कार),
 ३६६ (बुद्धकी प्रज्ञा), ३७५-७६ (का
 रूप, गमन, घरमें प्रवेश, और भोजनका
 ढंग), २९६ (के गृहस्थमें तीन प्रश्नाद),

३०६-९ (के गुण), ३६९ (का मत—
 एकही बार सर्वज्ञ कोई नहीं हो सकता),
 ३८६ (चतुर्वर्णा बुद्धि माननेवाले), ३९५
 (के गुण, प्रसेनजित् के पूज्य, ब्राह्मण पोषर-
 सातिके पूज्य), ३१४ (विभाणवादी),
 ४२२ (जीवनी, गृहभाग, आलार कालाम
 और उद्धक राम-पुत्रके पास),
 वेहत्फल । (देवता), १००, १९५, ४९९ ।
 बोधि । १०० (= बोधगदा) ।
 बोधि । ४८५ (प्रत्येकदुष्ट) ।
 बोधि राजकुमार । ३४४-५२ (की उपदेश),
 ३४४ (का सर्वदेवके सुंसुमारगिरिमें
 कोकनद-प्रासाद), ३५२ (की सर्वकली
 मातानेही पुत्रकी बुद्धकी शरणगत कराया,
 सुंसुमारगिरिमें इसकी धाँने भी शरणगत
 कराया, तीसरी बार स्वर्ग शरणगत) ।
 ब्रह्मकारिक । १०० (देवता) ।
 ब्रह्मा । (देवता) ४६, १००, १९६, २०१
 (की तमा, सुधर्मा), ४९८ (साहस),
 ४९९ (शिखाहस, चतुःसाहस, पंच-साहस,
 दश-साहस, द्वाद-साहस) ।
 ब्रह्मा । वक्त—१२४, १९६ ।
 ब्रह्मा । सहापति-१०६ (की बुद्धसे प्रार्थना) ।
 ब्रह्मापु । २०३ (मिमिक्षाका बुद्ध विद्वाद्
 ब्राह्मण), ३७७-८० (का बुद्धसे संलाप
 और बुद्धधर्म-स्वीकार) ।
 भद्रालि । २५७-६१ (की उपदेश) ।
 भर्ग (= भग्ना) । (देवकी सीमा, में सुंसु-
 मारगिरि) ३१, १९८, ३४४ (के सुंसुमार
 गिरिमें उद्भयन-पुत्र बोधि राजकुमारका
 महल) ।
 भारद्वाज । (देखो कापथिक भी), ४२२
 (देखो संगारव), ४०९-१३ (ह्यन्धानालमें,
 तात्त्विक ब्राह्मण का शिष्य) ।
 भारद्वाज । (प्रत्येकदुष्ट), ४८४, ४८५ ।
 भारद्वाज-गोत्र । २९२ (ब्राह्मण, कुस्में) ।
 भारद्वाज । सुन्दरिक—२६ (की प्रभाव्या और
 अर्हत्त्व) ।

- भार्गव । ५७२ (राजगृहमें कुम्भकार) ।
 भावितात्मा (= भाविता) । ४८१ (प्रत्येक
 बुद्ध) ।
 भिग । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 भिग । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 भूमिज । ५२० (आयुष्मान्, राजगृहमें, यह
 राजकुमार जयसेनके भासा थे) ।
 भृगु । २७१ (नलकपानमें) ।
 भैसकलावन । (देखो सुंसुभारगिरि), ६१
 (सुंसुभारगिरि = सुभार में), २०१ (में
 महामौद्गल्यवायनका भारको इँटिना) ।
 भवसर्वांगीगोमाल । १०७ दि० (आजीवकोंका
 आचार्य), १२४ (सौर्यकर), १४७, (अले-
 क्क), १४७ (कुपित), ३०१ (संतार-
 बुद्धि-बादी), ३०३ (आजीवकोंका
 नायक) ।
 भस्वादेव । ३३८ (भिविलाका राजा) ।
 भस्वादेव-आश्रयन । ३३८ (भिविलामें) ।
 भेनाथ । १०६ (में मलिन घर्म), १४३, १३९
 (से मंगापार विदेह), ३४६ (- देशमें
 उल्लेख), ४५७ (का सेनापति उपनन्द),
 ५७२ (में राजगृह) ।
 भगव-महामात्य । ४५५ (जलकार) ।
 भंगल । (प्रत्येकबुद्ध) ।
 भंडलकप्प । ४२१ (कोसलमें गाँव, जहाँ बुद्ध-
 भक्त धर्मजानों आश्रणी रहती थी) ।
 भतुल । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 भधुरा । ३४० (= मधुरामें सुंदवन) ।
 मनोमय । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 मन्दाकिनी । २१४ दि० ।
 मल्ल । १४० (नैका संघ = प्रजातंत्र) ।
 मल्लिकाराम । ३१४ (आक्सीमें तिन्दुका-
 चीमें) ।
 मल्लिका देवी । ३५८ (प्रसेनजित्की रानी),
 ३५९ (बुद्धोपासिकाकी पुत्री वजिरी) ।
 महानाम । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 महानाम शाक्य । ५७ (कपिलवस्तु-निवासी)
 २१०-१३ ।
 महावन । ७० (कपिलवस्तुमें) ।
 महावन कूटागारशाला । (वैशालीमें),
 १३८, १४४, २७९, ४४५, ४५८ ।
 मही । २१४ दि० (= गंडक) ।
 मागन्दिप । २९२-२८ (परित्राजको उपदेश
 कम्मासरम्ममें), २९८ (वर्त) ।
 मार्तग । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 मातङ्गारस्य । २२६ ।
 माधुर । (देखो अवन्तिपुत्र) ।
 मानच्छित् । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 मानसाध्य । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
 मार । ७६ (देवता, जिसका स्थान बल्लासे श्रीचे
 और धामखिण देवगणसे ऊपर है), ७६
 (= पुराइयाँ), १२६, १९७, १९८ ।
 मालुक्क-पुत्त । २५१-५३ (को उपदेश) ।
 मिथिला । ३३८ (में भस्वादेव आश्रयन), ३७३
 (विदेह देशमें), ३७७ (में बुद्ध) ।
 मृगदाव । (देखो कपिपतन, गोसिंग, कण-
 न्धलक) ।
 मृगार-मालाका प्रासाद (= पूर्वाराम, आकली
 में) १०२, १४८, २०१, (देखो पूर्वाराम) ।
 मेतलुम्प । (देखो मेतलुप) ।
 मेतलूप । ३६४ (शाक्य देशमें तिमन, मगराकसे
 तीन योजनपर)
 मेध्यारस्य । (= मेज्जारस्य) ।
 मेरु । महा—२०१ ।
 मैत्रायणी-पुत्र । (देखो अंगुलिमाल) ।
 मैत्रायणी-पुत्र । पूर्ण—(देखो पूर्ण) ।
 मोग्गलान । (देखो मौद्गल्यवायन) ।
 मोग्गलान । गणक—४५२ (आक्सीमें) ।
 मोग्गलान । गोपक—४५५ (राजगृहमें) ।
 मोग्गलान । महा—(देखो मौद्गल्यवायन) ।
 मोरनिवाप । ३०५ (राजगृहमें परित्राजका-
 राम) ।
 मोलिय । (देखो फल्गु) ।
 मौद्गल्यवायन । महा—१७, २० (-वाकयान),
 १३०, १३१ (का बुद्धाव), १४८-५०
 (दाकको चमत्कार प्रदर्शन, वैजयन्त प्रा-

सादका कंषाना), १९८ (भारतजन-चमत्कार), २०१ (के चमत्कार, सुगार-भाताके प्रसादको हिलाना, वैजयन्त-प्रसाद-को हिलाना, सुपर्मा-सभामें मञ्जारे प्रश्न, मेरु-शिखरको छूना, पूर्व विदेहके गुरुपोंका छूना), २६० (को हटाना), २०४, ४९० (आवलीमें), ५७८ ।

यमुना । २१४ टि० ।

यवन । ३८७ (-देशमें जायँ और दास दो ही वर्ण) ।

यशस्वी । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

याम । ४९८ (देव) ।

रक्षित । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।

रक्त-पाणि । २२४ ।

रथकार-वह । २१४ टि० ।

रम्यक आद्यायका आराम । १०२ (आवलीमें) ।

राजकाराम । ५९० (आवली नगरके भीतर मिथुनिर्बोका आराम), ५९३ ।

राजगृह । ५९ (में गृध्रकूट; में ऋषिगिरि काल-शिला), ९३ (में कलन्दक-निवाप वेणु-वन) ९८, १७९, २९०, २३४, २४५, ३७३, ३०५, ३१८, ४०४, ४५५, ५३२, ५१५, ५२०, ५५३, ५८५, ६०५, (में गृध्रकूट पर्वत), २८९, ५८५; ३०५ (में मोरनिवाप), ४५३ (आवली से जानेवाला मार्ग), ४८३ (में ऋषिगिरि पर्वत, पांडव-पर्वत, वैष्णव-पर्वत, गृध्रकूट पर्वत), ५४६ (में तपोदाराम), ५७२ (मगधमें),

राम । (देखो उन्नक रामपुत्र) ।

रामपुत्र । (देखो उन्नक) ।

राष्ट्रपाल । ३३०-३७ (कुरु देशकी राजधानी कुलकोटिके निवासीकी प्रभुत्वा आदि) ।

राहुल । २४८-५० (को आवलीमें उपदेश), २४५-४७ (को उपदेश) । ५९५ (को अन्धवनमें उपदेश), ५९६ (जहाँसे) ।

रैवत । १३०, १३१ (का लुकाव), २७१

(मल्लकावमें), ४९० (आवलीमें) ।

लिच्छवि । १३८- (वैशालीके प्रजातंत्री), ३५४ (प्रसेनजित्के बहोली) ।

लुम्बिनीवन । ४२७ टि० (बागमदेशमें, देवदह कस्बेके पास) ।

लोमसकंगिय । ५५० (आमुष्मान् शान्त्यदेशमें) ।

लोमहर्ष । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

लक ज्ञाता । (देखो ज्ञाता) ।

वकुल । ५१२ (राजगृहमें) ।

वंग । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

वजिरो । ३६० (प्रसेनजित्की एकलौती बेटी) ।

वज्रो । १२९ (को नादिकामें दीर्घपरजन यक्ष), १३६ (में उक्तावेल), १३० (संघ = प्रजातंत्र) ५८६ (देशमें पञ्चजितद्वित गाँव) ।

वज्रपाणि । १४० (यक्ष = देवता) ।

वत्स-गोत्र । २७९ (परिभाषक वैशालीमें), २८१ (आवलीमें), २८४ (राजगृहमें), २८६ (भिक्षु), २८७ (जहाँसे), २८८ (ग्रँविल) ।

वर्षकार । ४५५ (देखो वत्सकार) ४५८ ।

वत्सकार । ४५५ (मगध-महामाल्य) ।

वात्स्य । नन्द- (देखो नन्द वात्स्य) ।

वात्स्यायन । ११३ (पिलीतिक परिभाषकका गोत्र) ।

वामक । ३९६ (संजकता ऋषि) ।

वाराणसी । १०९ (में ऋषिपत्तन), १०७, १०८, ५७८ ; ३०९ (का वज्र), ३२६ (-का राजा क्रिकि, काश्यप बुद्धका सेवक), ३९१ (में सौम्य-अन्धवन) ।

वारिष्ठ । ४०९-१२ (हृच्छानगलमें, दीक्ष-स्ततिका शिष्य) ।

वासम चित्रिया । ३६० (प्रसेनजित्की प्रिया रानी) ।

वाहीत । ३६२ (-देशका वज्र) ।

विजित । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

विज्ञानानन्त्यायतन । (देवता) ३, १००, ४९९ ।

विह्वलम् । (सेनापति, प्रमेनजित्का पुत्र),
३६०, ३७०, ३६९ (प्रमेनजित्के साथ
इलुकामे) ३०१ (का आनन्दसे संकाप) ।
विदेह । १३६ (देश, मगधसे संग्राम पार),
३७३ (देशमें मिथिला), ३७४ ।
विदेह । पूर्व— २०१ ।
विधुर । १२८ (ककुत्स्थन्द बुद्धके शिष्य) ।
विमल । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
विमुक्त । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
विराज । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
विराज । १७९-८३ (उपालक) ।
वेखरास । (पैलानस) । ३२३ (परिभाषाको
भावस्तीमें उपदेश) ।
वैशुवन । (देखो राजगृह) । १७९, २३४,
२४५, २७३, ४५५ ।
वेरजक । १७२ (वेरजाके ब्राह्मण) ।
वेकाट्टि-पुत्त संजय । (देखो संजय) ।
वेहलिंग । ३२५ (कौसल्य) ।
वैजयन्त । १४९ (असुरोंके विजयके बाद
इन्द्रने बनवाया,—की बोधा, की महा
भौद्गल्यवाचने कैपा दिया), २०१ (देव-
प्रसाद) ।
वैदेहिका । ८० (आवस्ती-वासिनी गृहपत्नीकी
काली काली) ।
वैपुल्य । ४८३ (राजगृहमें पर्यट) ।
वैशाली । ४४ (में अवरपुरवन-शंक), १३८
(में महावन), १४४, २०८ (में बेलुव-
गामक), (में महावन कृतागार-शाला),
२०२, ४४५, ४५८, ३५४ (के लिच्छवि
प्रमेनजित्के पक्षीसी) ।
वैश्वर । १४९ (महाराज, देवता) ।
व्यामार्ग । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
शक्र । (देवोंका इन्द्र), १४८, १४९, २०१
(ने असुरोंके विजयके बाद वैजयन्त प्रसाद
बनवाया) ।
शाक्य (देश) । (में कपिलवस्तु) ५७, ७०,
२१०, ५०४, ५५०, ५७९; २६७ (का गण
संघ वातुभा), ३६४ (देशमें मीतल्ल

कत्वा, में वेण्डके कोषलराज प्रमेनजित्का
त्यपर जाना), ४२७ (देशमें देवदह
कत्वा), ४४३ (देशमें सामगाव) ।
शाक्यपुत्र । १९६ (देवता), ३७७ (= बुद्ध) ।
शाला । १६८ (ब्राह्मण-ग्राम कोसलदेशमें),
१७१, १६८, २३९, २४४ ।
शास्ता । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
शिक्षरो । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
शिक्षो । १८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।
शुद्धावास । ५१ (देवता) ।
शुद्धोदन शाक्य । ३४९ (बुद्धके पिता) ।
शुभ । १७० (देवता) । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
५५२, ४१४-२० । ५५२ (तोदेव्यपुत्र,
जेतवनमें) । ४२० (माह्वाज-मोत्र) ।
शुभ । अप्रमाण—१७० (देवता) ।
शुभ । परीत—१७० (देवता) ।
शुभकृत्स्न (सुभकिण्ह) । (देवता), ३,
१७०, १९५, ४९९ ।
शुभगवन । (देखो सुभगवन),
शुम्भ । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
शुकर-खाता । २८५ (राजगृहके गृहपटुपर्यंत
पर) ।
शैल । (देखो सेल) ।
शोभित । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
श्रद्ध । १८४ (प्रत्येकबुद्ध), ६, १०, १३ ।
आवस्ती (जेतवन) । १७, २२, २४, २७, ३०,
४३, ५३, ६५, ६८, ७४, ७७, ७९, ८४, ९२, ९४,
९८, १०२, ११३, ११७, १२४, १३३, १५१,
१७३, १७३, १८४, १८६, १८९, १९४, २३७,
२४८, २५१, २५४, २५७, २७५, २८१,
२१४, ३१४, ३२३, ३३२, ३५३, ३५८, ३५९,
३६१, ३८६, ४००, ४१४, ४३३, ४६६, ४६९,
४७३, ४७५, ४७९, ४८६, ४९४, ४९८, ५०२,
५३२, ५३९, ५४३, ५४५, ५५०, ५५२,
५६०, ५६४, ५६९, ५८२, ५८८, ५९०,
५९५, ५९७, ६०३; २५८, ८० (में वैदे-
हिका और काली); २२ (में जेतवन),
(में पूर्वाराम) १०२, १४८, (में

रम्यक ब्राह्मणका आराम), १०२ (में पूर्वकोष्क), ३१४ (में तिन्दुकाचीर महि-
काराम), (एवाम) ४५२, ४६०, ४६३,
४९०, ५०१ ।

श्रीवर्द्ध । (देखो सिरिवर्द्ध) ।

श्रुतवान् । ४५४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

सकुल-उदायी । (देखो उदायी) ।

संगारव । ४२३ (कोसलके मंडलकपका रहने
वाला विद्वान् ब्राह्मण ठरुण, मारद्वाज
गोत्री) ।

संध । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

सङ्क निगंठ-पुत्त । १३८, १४३ (लिच्छवियों
का आचार्य, वैशाली-निवासी, अभिवेश-
गोत्री), १४३-१४४ (से विवाद) ।

संजय आकाश-गोत्र । ३६९ (प्रसेनजित्का
द्वारी), ३७१ ।

संजय वेलाट्टि-पुत्त । १३४ (तीर्थंकर), १४४
(कुपित) ।

संजिका-पुत्र । ३४४ (मानवक, सुसुमारगिरि
में बोधिराजकुमारका मित्र) ।

संजीव । १९८ (ऋक्छन्दके शिष्य), १९९ ।

सत्य । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।

सनत्कुमार । २१३ (मत्ता) ।

सन्दक । २९९-३०४ (पश्चिमको कौशाम्बी-
में उपदेश) ।

सर्भंग । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

सभ्य कात्यायन । ५२४, ५२६ (आरुत्तीमें) ।

समण-मंडिका-पुत्त । ३१४ (आरुत्तीमें परि-
भाषक) ।

समप्रवादक तिन्दुकाचीर । (देखो तिन्दुका-
चीर) ।

समिद्धि । (= समृद्धि) । (आयुष्मान्, राज-
गृहमें), ५४६, ५५५ ।

सरभू । २१४ टि० (सरयू, वावरा) ।

सरस्वती । २६ (पवित्र नदी) ।

सहापति ब्रह्मा । १०६, १०७ ।

साकेत । ९६ (कोसल देशमें नगर, जो अंगलीसे

७ पड़ावर था, वर्तमान लखीम्बा) ।

सांकृत्य । कुरा—(देखो कुरा) ।

सावि केवट्ट-पुत्त । १५१-५२ (कीकुरी धारणा) ।

सामगास । ४४१ (शान्त्य देशमें) ।

सामिति यानकारपुत्त । २० ।

सारिपुत्र । (उपदेश) १०-२०, ३४, ४४-५२,

२७३-७४, ४७५-७८, ३०, ९४-९६, ११७,

१७१-७२, १७३-७८, ९४-९६ (का पूर्णमे

संवाद), ९७ (का नाम उपतिष्य) १३०,

१३१ (का मुक्ताव) १२६७ (को हराणा),

४०४ (दक्षिणा गिरिमें), ४६६ (पंडित

महाप्रज्ञ), ४९०, ५७८, ५८२, ५८५, ५८७,

६०५-६ ।

साला । (देखो शाला) ।

सिरिवर्द्ध । ३६१ (= श्री वर्द्ध, प्रसेनजित्का
महामाल्य) ।

सिहप्पपातक । २१४ टि० ।

सुकुला । ३६८ (प्रसेनजित्की राणी, बुद्धो-
पायिका, सोमाकी बहिन) ।

सुदर्श । ४९९ (देव) ।

सुदर्शन । १७० (देवता), ४८४ (प्रत्येक-
बुद्ध) ।

सुदर्शन कूट । २१४ टि० ।

सुदर्शी । (देवता), १७०, ४९९ ।

सुदाठ । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

सुवर्मा । २०१ (मत्ताकी सभा), ३३८ (प्रा-
चक्षि देवोंकी सभा) ।

सुनक्खत्त-लिच्छवि-पुत्त । ४४ (गृहस्थ हो
गया लिच्छवि), ४४५-४८ (वैशाली-
निवासीको उपदेश) ।

सुनक्खत्त । (देखो सुनक्खत्त) ।

सुन्दर । ४८५ (प्रत्येकबुद्ध) ।

सुन्दरिक भारद्वाज । (देखो भारद्वाज) ।

सुन्दरिका । २६ (पवित्र नदी) ।

सुप्रतिष्ठित । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

सुबाहु । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।

सुभगवन । ३ (उक्कट्टामें), १९४ (में शाल-

- राज), ४१६ (का जीवमन्त्रव चौधरसाति
प्राधान) ।
- सुभूति । ५०१ (अरण-प्रतिपदापर आरुह) ।
- सुमंगल । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
- सुमेध । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
- सुवेणुवन । ६०७ (कजंगलामे) ।
- सुसुमारगिरि । (= सुनार, मरुदेशमें, जहाँ
भैरवलावन मृगदाव था) ६१, १९८; ३४४
(में उद्यन-पुष्प घोषि राजकुमारका कोक-
नन्द-प्राप्ताद्), ३५२ (के भैरवलावनमें
धाईका सिद्ध घोषि राजकुमारको गोदमें ले
मगवान्के पास जाना) ।
- सूनापरान्त) ५८८ (में पूर्णका जाना) ।
- सेनानी निगम । (मगपके उरुवेलामें),
१०५, १४६, ३४६ ।
- सेनिय । कुक्कुर जतिक अचेल—१३१ (हलि-
रक्तनमें) ।
- सेल । ३८२ (आपण-निवासी आधान), ३८७
(की प्रमन्या और जर्ह्व) ।
- सोरत । ४८४ (प्रत्येकबुद्ध) ।
- सोना । ३६८ (प्रसेनजित्की रानी, कुलोपा-
सिका, मुकुलाकी बहिन) ।
- स्थपति । पंचकांग—५२३ (आवलीमें) ।
- हिमवान् । २१४ टि० ।
- हरिद्रवसन । (देखो हलिद्रवसन) ।
- हलिद्रवसन । २३१ (कोलियदेशमें कत्था) ।

३-शब्द-अनुक्रमणी

अ-कनिष्ठ । ४९९ ।	अजपददंड । ८६ (= सौंघ पकानेका डंडा) ।
अ-कालिक । २५ (= कालान्तरमें नहीं, सद्यः फलप्रद), २२२ ।	अजिन । ३९ (= सुगंध) ।
अ-किञ्चित् । १७५ (= कुछ नहीं है) ।	अजिन-क्षिप । ४९ (= सुगंधका खंड) ।
अ-किञ्चिन् । १७७ (= कुछ नहीं है) ।	अंजन-नाली । २३४ ।
अ-कुशल । ४२७ (= बुरे) ।	अंजलि-कर्म । ३६९ (= हाथ जोड़ना) ।
अ-कुशल धर्म । १५, ७१ (= बुराईयाँ) ।	अब्बा । २७८ (= बाबा) ।
अ-कुच्छ-लाभो । ४५७ (= बिना कठिनाई के प्राप्त) ।	अद्वित । ४२२ (= उत्तम) ।
अ-कृतविध । ३०१ (= अकृत) ।	अद्व । २२८ (= अंधकोश) ।
आकृत्यकारी । ४०१ (= पापकारी) ।	अद्वज-योनि । ४६ ।
अ-क्रियवाद् । ४८९ ।	अ-तप्य । ७९९ ।
अक्षरप्रभेद । ३०३ (= शिक्षा-निरुक्त), ३८९, ४२१ ।	अतिकाल । २७३ (= अतिप्रातः) ।
अक्षि । २२८ (= आँख) ।	अतिदिवा । २७३ (= बहुत पहिले ही) ।
अक्षिरूप । ५० (= आँखका गणदा) ।	अतिमानो । ९२ (= अभिमान) ।
अग्नि-परिचर्या । ५१ (= हवन) ।	अतिमुक्तक । २१ (= भोंगरा कुल) ।
अग्नि-स्कंध । ३२० (= जागका ढेर) ।	अति-लोन-बोर्धे । ५३० (= अतिलोनबोर्धिय) ।
अग्निहोत्र । ३८४ ।	अतिसार । ५७० (= आँवना, बिलगाव) ।
अग्र । ३७७ (= श्रेष्ठ) ।	अत्यथ । ५७६ (= अपराध) ।
अग्र-पिंड । १९ (= प्रथम परोला) ।	अदत्तादान । ३२० (= बिना दिया लेना) ।
अंग । ४८६ (= घात) ।	अदत्तादायी । ४०१ (= चोर) ।
अंगण । १७ (= चित्त-मल) १८ (= राग, द्वेष, मोह), ४७७ ।	अदिन्नादायी । १६८ (= चोर) ।
अंगगत । ३३ (= वक्ता प्रसन्न) ।	अद्भुतधर्म । ८६ (= बुद्धोपदेश) ।
अंगारका । २१७ (= भस्म, अग्निपूर्ण) ।	अधिकरण । ५४ (= विषय), ५८ (लगता), ७९ (= संघ के सामने अभियोग) ।
अचेल । ५१२ (= नाब) ।	अधिमुक्त । ४४६ (= अनुरागी), ५६३ (= मुक्त) ।
अचेलक । ४८ (= तन्म, के अंत), १६५ (= वक्ता-रहित) ।	अधिमुक्ति । ४५ (= स्वभाव) ।
	अधिमोक्ष । ४९६ (= शुकाव) ।
	अधिवासन । ६ (= स्वीकार) ।
	अधोभाव । २९ (= अधोगति) ।

अव्ययत । ४५६ (= याद) ।
 अव्यवकाशिक । ३०० (यदा चौदहमें रहनेवाले) ।
 अव्यवसान । २८९ (= ग्रहण) ।
 अव्योपगमा । १९५ (= प्रार्थना) ।
 अष्वात्मा । ११४ (= अपनेमें), २४८ (शरीर के भीतर) ।
 अध्यायक । ३८९ ।
 अध्वगत । ५३ (= वृद्ध) ।
 अनपायिनो । ३०४ (= न छोड़ने वाली) ।
 अनय । १०९ (= द्वारा) ।
 अनवय । ३८८ (= निपुण) ।
 अनागामी । ४९१ (उक्त लोकसे यहाँ न आने वाले) ।
 अनागारिक । ३४२ (= बैचर) ।
 अनात्मा । १३८ (= आत्मा नहीं), २९०, ४६२ ।
 अनार्य-सुख । ५६९ ।
 अनावृत्तिधर्मा । ९३ (= अनागामी) ।
 अनुमह । १५७ (= सहायता) ।
 अनुचक्रमण । १३८ (= अनुविवरण) ।
 अनुजात । ३८३ (= पीछे उत्पन्न) ।
 अनुज्ञा । ३३१ (= सौकृत) ।
 अनुत्तर । १०३ (= सर्वोत्तम), १४६० (= जड़ित-
 तत्व = अनुपम) ।
 अनुत्तरीय । १४२ (= अनुपम पदार्थ) ।
 अनुधर्म । ३६९ (= निष्पन्न, प्रकृति) ।
 अनुनय । १२० (= आलस्य = रुचि) ।
 अनुपदधन्मविसेस । ४६६ (= अनुपद-धर्म-
 विशेष) ।
 अनुपादान । ५६९ (= जपस्मिन्), ४३६
 (= आग्रह-रहित) ।
 अनुपरयो । ३८ (= अनुभव करनेवाला) ।
 अनुपहार । २८३ (= न मिलने) ।
 अनुपेक्षित । ५०० (= विचारित) ।
 अनुबुद्ध । १९६ (= ज्ञानी) ।
 अनुबोध । ३९० (= बोध) ।
 अनुभक्त । ३१८ (= उपभोग), ४९१
 (= संवेदन) ।

अनुभाव । ३६० (= वारंवार) ।
 अनुभूत । १९६ (= प्राप्त) ।
 अनुमान । ६३ (= समझना) ।
 अनुमोदन । ७२ (= अभिनन्दन), ३०६
 (= भोजन सम्बन्धी अनुमोदन) ।
 अनुयुक्त । ५६८ (= लग्न) ।
 अनुयोग । ५० (= सम्बन्ध) ।
 अनुरुद्ध । ३२ (= प्रतिविरुद्ध) ।
 अनुवाद । ४२९ (= वाद) ।
 अनुवाद-अधिकरण । ४४३ ।
 अनुविचार । ७४ (= विचार) ।
 अनुव्यंजन । १६९ (= चिह्न), १३४
 (= पहिचान), ४५८ ।
 अनुराय । ८८ (= मल), १३० (= चिन्मल),
 १८२, २५४ (= संस्कार), २२८ (= चित्त-
 दोषों) ।
 अनुरायोंका विनाश, दुःस्वका विनाश । ५९९ ।
 अनुरायोंकी उत्पत्ति । ५९९ ।
 अनुरासन । २९ (= उपदेश), ५३० (=
 शासन) ।
 अनुभव । (= अति) ३९०, ४२८, ४३५ ।
 अनुसंयान । ५३६ (= निरीक्षण) ।
 अनुसोत । ५४१ (= धार की ओर) ।
 अनुस्मृति । २५ टि० (= स्मरण) ।
 अनेक-विध । ३१० (= नाना प्रकार) ।
 अन्-अव्यवसित । ५३५ (= अ-निश्चित) ।
 अन्-अभिरत । ३६५, (= बेमन) ।
 अन्-आख्यात । ४५५ (= न-कहा) ।
 अन्-आत्म । २४४ ।
 अन्-आविल । ३१२ (= स्पष्ट) ।
 अन्-उपनाही । ४३९ (= कीमा न-रखने
 वाला) ।
 अन्-उप-जन्म । ५८० (= पुनर्जन्म रहित) ।
 अन्त । ५६० (= अति) ५६०, ५६८ ।
 अंतगुण । ५४३ (= अंतर्ही) ।
 अन्तःपुर । ९६ (= राजमहल वाला भीतरी
 द्वार) ।
 अन्तराय । ८४ (= चिह्न) ।

अन्तराश्रुति । ८९ (= विज्ञाकारक) ।
 अन्तराष्ट्रक । ५० (= माघके अन्तर्हीन, चार,
 और कागुलके आरम्भ की चार रातें) ।
 अन्तर-घर । ३७६ (= गृहस्थका घर) ।
 अन्तर्धान । २८२ (= छुप्त) ।
 अन्तर्बन्तिक-वाद । ४३५ ।
 अन्तर्वेद्य-परंपरा । ३९७ (= अर्धके लक्ष्यकी
 ताँती), ४१६ (= लगातार अर्धोंकी पाँती) ।
 अन्व-तीर्थिक । २९६ (= दूसरे मतवाले) ।
 अन्वथात्व । ३५८ (= लारायी) ।
 अन्वय । १९० (= प्रकार) ।
 अन्वयता । २९० (= संवन्धी भाव) ।
 अप-गत । ३५७ (= दुरागत) ।
 अपचित । ३९५ (= पृथित) ।
 अपत्रपा । २६२ (= संकोष) ।
 अपत्रपी । २११ (= संकोची) ।
 अपदान । ६२ (= साथ छोड़ना) ।
 अपर-अन्त । १५६ (= होर = आगे आनेवाला
 समय), ३१८ (= दूसरे होर) ।
 अपरान्त । ४३३ (= मरनेके बाद) ।
 अपरान्त-कपिलक । ४३५ (= अपरान्तलुपट्टि),
 ४३३ (= मरनेके बादकी अवस्था) ।
 अपरान्त-दृष्टि । ४३३ ।
 अपरिशेष । ५९ (= सारा) ।
 अपरांक । २३९ (= अपरणक), २३९ (=
 दुविधा-रहित), ५२३ ।
 अप्रश्रयण । ५१३ (= आट) ।
 अप्रसादित । ३७६ (= मिराना) ।
 अपहत । ७५ (= शिथिल) ।
 अपापुरण । ५१३ (= कुंजी) ।
 अपाय । ४० (= दुर्गति) ।
 अप्रत्यय । ६२ (= नाराजगी), २५९ (=
 असन्तोष) ।
 अप्रसक्त । ३५९ (= उद्योगी), ४०४ (=
 प्रसाद-रहित) ।
 अप्रमाण । ३०९ (= बहुत भारी), ४३४
 (= अतिविशाल) ।
 अप्रमाणात्म । १००, ४९९, ५२४ ।

अप्रमाण-शुभ । ४९९ ।
 अप्रमाणा-चेतोविमुक्ति । ५२४ ।
 अप्रसाद ५५७ (= अफल-वगैर) ।
 अप्रमेय । ५८० (= प्रमाण-रहित) ।
 अप्रसादन ५६८, ५७० (= नाराज करना) ।
 अप्रभोकास । २५८ (= खुली जगह) ।
 अप्रभोकासिक । ३०७ (= सदा चौड़े रहने-
 वाले) ।
 अप्रभन्व-आभास ५५९ (= बुरेकी तरह
 दिखाई देनेवाला) ।
 अभिक्रान्त । ३०७ (= सुन्दर) ।
 अभिक्रान्ततर । ३१९ (= चमकीला), २९४
 (= उत्तम) ।
 अभिक्रान्तवर्ण । १२ (= प्रकाशमय) ।
 अभिधम्म । (= अभिधम्म), ४३९, १३९
 (= धर्मसंकोची), २०७ (= धर्ममें,
 बुद्धोपदेशमें), ४३८ (= धर्मके विषयमें),
 ४३९ (= अभिधम्म उपद, धर्म-विषयक
 (= सूत्र-विषयक)) ।
 अभिधर्मपिटक । ४३९ (= सूत्रोंमें ही जाये
 धर्मपर संक्षिप्त दार्शनिक वाक्यावलीको
 लेकर ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीके बाद
 बना) ।
 अभिजाति । २७२ (= जन्म), ३०१, ५२९,
 ४३२ ।
 अभिज्ञा । १०५ (= दिव्य ज्ञान), २५३
 (= लोकेश्वर ज्ञान), २८७, ५०५, ३७६
 (= दिव्य शक्ति) ।
 अभिज्ञात । १४ (= समानित), ४९०
 (= प्रसिद्ध) ।
 अभिज्ञा-परायण । ४१३ ।
 अभिध्या । ११७ (= लोभ) ।
 अभिध्या-रहित । १०० (= निर्लोभी) ।
 अभिध्यालु । (= लोभी) ।
 अभिध्यालुता । अन्— १४ (= निर्लोभिता) ।
 अभिनन्दन । ५३ (= अनुमोदन), २५३
 (= स्तुति), २६८ (= अभिवादन—स्वी-
 कार) ।

- अभिनिन्दित । ५४०, १७५, २४७ (= खामल) ।
 अभिनिवेश । ८४ (= आग्रह), १४८ (= राग), ४६९ (= समता), ५२४ (= बाह), ५७० (= जिद्), ५७१ (= दुराग्रह) ।
 अभिनील-नेत्र । ३७५ (= अतसी पुष्प जैसी नीली आँखों वाले) ।
 अभिप्रसन्न । ४२१ (= अवाह) ।
 अभिभूत । ४३० (= पीड़ित), ४४९ (= वशमें) ।
 अभिरुद्ध । (= अनुष्टुप) ।
 अभिरूप । ३९५ (= स्वीकृत) ।
 अभिलक्षित । ९४ (संमानित) ।
 अभिवर्धित । ४५१ (अभिनिन्दित) ।
 अभिविनय । २७४ (= विनयमें मिथु निवस) ।
 अभिवंग । ३१ (= बाह) ।
 अभिसम्पराय । २३१ (= जन्मान्तर फल), ३७९ (= गति) ।
 अभिसंचुद्ध । ५ (इह) ।
 अभिसंलेख । ५०५ (= मानस तप) ।
 अभिसमाय । ९ (= दर्शन) ।
 अभिसंस्कार । १७७ (= संस्कार) ।
 अभिहृत । ४८ (= अपने लिये बनाई गई भिक्षा) ।
 अभूत । २७९ (= अ-सत्य) ।
 अभ्याख्यान । ८४ (= बह संगाना), २२० (= इत्थाम) । २७९ (= निन्दा) ।
 अभ्यास । २३१ (= भाषना) ।
 अमनसिकार । (= मनमें न रह कराना) ५३० ।
 अमर । ४३५ ।
 अ-मन्ददृष्टि । ४३९ (= समझदार) ।
 अ-मूढ़-विनय । ४७३ ।
 असृत । २५६ (= निर्वाण), २९५ ।
 असृत-दुन्दुभि । ४८२ ।
 अ-योनिशः । ५२० (= कार्य) ।
 अयोनिस्तो मनसिकार । १ (= वे डीकसे मन में धारण करना) ।
 अव्या । १७९ (= लार्वा), ३५२ (= माध्या) ।
 अव-रण । ५७०, ५७१ (= दुःख-रहित) ।
 अव-रण-विमर्ग । ५६७ ।
 अव-रति । २७१ (= असंतोष) ।
 अरूप-संज्ञो । ५६३ (= रूपका श्याल न रखने वाला) ।
 अव-रोग । ३१९ (= अ-विनाशी) ।
 अवर्क । २५२ (= मदार) ।
 अव-रंग । १९८ (= किवाह), १२० (= जंजीर),
 अर्चिमान् । ३८८ (= लौपाळा) ।
 अवर्थ । २७४ (= वस्तु), ४२८ (= वात) ।
 अवर्थ-युक्त । अन-२३५ (= अवर्थ) ।
 अवर्थ-वेद । २५ (= अर्थ-ज्ञान), २९३ ।
 अवर्त । १५८, १६४, ९३ (= शोणाश्रय), २७७, ३०३ (= मुक्त) ।
 अवल-आव्य-दर्शन-विशेष । २५८ (= लोको-त्तर-ज्ञात, दिव्य शक्ति) ।
 अवलगाह । २६ (सौंप) ।
 अवलमार्थ-ज्ञान-दर्शन । ५१ (= उत्तम दर्शनको पराकाष्ठा) ।
 अवलात । ४३१ (= अंगारा) ।
 अवलाव । ५० (= लोका) ।
 अवलप-आतङ्को । ३५१ (= जलप रोगी) ।
 अवलप-उत्सुकता । १०६ (= उदासीनता) ।
 अवलप-फल । ४१५ (= अ-फल) ।
 अवलप-भोग । ५५३ (= इष्टि) ।
 अवलपमात्रक । ४७२ (= छोटा) ।
 अवलप-भुत । ४६३ (= अज्ञ) ।
 अवलातङ्क । ३७७ ।
 अवलपाधा । ३६८ (= आरोग्य) ।
 अवलपेच्छ-कथा । ९४ (= निर्लोभीपनके उप-देश) ।
 अवकाश । ४६३ (= गुंजाइश) ।
 अवदात । १८९ (= शुद्ध), ४९६ (= श्वेत) ।
 अवदातवसन । २८५ (= श्वेत वस्त्रधारी) ।
 अवध । अ-३६२ (सर्वोप) ।
 अवनायन । ३७५ (= नवाना) ।

अवभास । ५३० (= प्रकाश) ।
 अवबर्भागीय । २०८ (= ओर-भागिय) ।
 अवबर्भागीय-संयोजन । २३, ९०, १३७, ३८० ।
 अववाद । ४५३ (= उपदेश), ५८६, ५९७
 (= बात) ।
 अववादक । ९४ (= उपदेशक) ।
 अवलम्ब-विलम्ब । ५० (= जिसकी, अलग-
 विलम्बी) ।
 अवस्रव । ४२७ (= विपाक) ।
 अवहित-भार । ४ (भारको फेंक चुका पुरुष) ।
 अवविद्या । ३४, ४३, १५५ ।
 अवविद्या-अनुशय । ५९९ ।
 अवविद्या-आश्रय । ७ (= अज्ञान रूपी मल),
 १६ ।
 अवविभ । १७०, ४९९ ।
 अव-शारवत । ४३५ (= सादि) ।
 अवशुचि । ५३४ (= गन्द) ।
 अव-शुभ । २४९ (= सभी मांग खुरे हैं) ।
 अवशुतवान् । ५६५ (= अशु) ।
 अवश्वतर । ३८८ (= स्वर) ।
 अवश्वरत्न । ३६२ (= श्रेष्ठ घोड़ा), ४३६ ।
 अवष्टांगिक मार्ग । ३१, ३२, १८० (= कुत),
 २९५, ३०९, ४३८, ४४२, ४९१ ।
 असंज्ञी । ४३३ (= अ-चेतन) ।
 असंज्ञोवादी । ४३४ ।
 असंज्ञज्ञान । ४५४ (= अचेत) ।
 असि-चम्म । ५८ (= शाल-तलवार) ।
 असिचर्म । ५४ (= शाल-तलवार), २५३ ।
 असित । २३० (= शुद्ध) ।
 असिपत्र-वन । ५७१ ।
 असिसुना । ९२ (= पशु मारनेका पीड़ा),
 २१६ (= हड्डी) ।
 अस्तंगमन । ५९९ (= विनाश) ।
 अस्थान । ५८१ (= अस्थिभय) ।
 अस्मिमान । २४९ (= अहंकार), ५०६ (=
 यह मैं हूँ, यह क्या) ।
 अस्तासेन्तो । ३४९ (= सहराते) ।

अहेतुवाद । ४८९ ।
 आकल्प । २३१ (= तीसरीका) ।
 आकार । २७९ (= शरीर आकृति आदि) ।
 आकार । ३१२ (= आकृति) ।
 आकार-परिवर्तक । ४२८, ४३५ ।
 आकारवती । ३२० (= सविस्तर) ।
 आकाश-च्छदन । ३२८ (= आकाश ही
 जिसकी छत है) ।
 आकाश-धातु । ५७४ ।
 आकाशानन्त्याद्यतन । ३ (= अनन्त आकाश-
 वाला स्थान), १७०, ४६७, ४७३, ४९९,
 ५०२, ५६२, ५७५; २७८ (= क्षति-
 विहार) ।
 आकाधिक । ५० (= तारा) ।
 आकिंचन्य । ४३४, (= नहीं-कुछ-पन) ४३४,
 ४६७, ५०२ ।
 आकिंचन्य-आद्यतन । १०५ (= दिक्स्थान),
 १७१, ४४६, ४९५, ४७४, ४९९, ५७५ ।
 आक्रोशन । ५८८ (= निन्दा) ।
 आगति-गति । ५८६ (= आवागमन) ।
 आघात । ४४० (= दुरामाव) ।
 आचाम । ४९ (= माँड) ।
 आचार-मोचर । २२ (= चर्माचरण), ४५२
 (= सदाचार) ।
 आचार्यक । १०४ (= विशेषज्ञता), २९७
 (= धर्म), २७२, ३१९ (= मत) ।
 आचार्य-धन । २०९ (= आचार्यको देनेवाला
 पूजा द्रव्य) ।
 आचिरण । २२२ (= कायदा) ।
 आजानीय । २१८ (= परिशुद्ध, शुद्ध जातिका) ।
 आजानुबाहु । ३७४ (= कड़े, बिना कुड़े
 होने जैसीको अपने हाथके तलवोंसे छूने
 वाला) ।
 आजानेय । ४९७ (= अच्छी जातिका) ।
 आजोव । ४४२ (= जीविका) ।
 आजीवक । २८० ।
 आज्ञा । ४० (= अर्हत्व), ४५ (= मोक्ष),

४६९ (= महत्-पद-प्राप्ति), २८४ (= परमज्ञान), २६० (= उत्तम ज्ञान), ४४४, ५१३ ।
 आणापान-सति । २४८ (= प्राणाधाम) ।
 आणी । ७७ ।
 आतप । ४३९ (= धूप) ।
 आतप्य । ६५ (= तीव्र उद्योग) ।
 आतापी । ७४ (= उद्योगी) ।
 आत्मतप । ३९२ ।
 आत्मतप-अपरतप । ३९२ ।
 आत्मभाव । ४०५ (शरीर) ।
 आत्मवाद । ४३ (= आत्मा कोई नित्य वस्तु है, यह सिद्धान्त) ।
 आत्म-आवावा । ७५ (= आत्म-पीडा) ।
 आत्मा । ७ (के विलस्य आदिका खंडन), १८०, ४३३, ४७०, ५६६ ।
 आत्मोत्कर्ष । २४० (= उत्कर्ष) ।
 आत्मोत्कर्षक । ६१ (= अपनी उन्नति या प्रगति का चाहनेवाला) ।
 आदर्श । १४ (= दर्पण) ।
 आदि । ३६० (= शुरु) ।
 आदिनव । ७७ (कारण, दुष्परिणाम), २८९ (= शुरु) ।
 आदि-जगत्कर्ष । ४२२ (= शुरु-जगत्कर्ष) ।
 आर्य-सत्त्व । ३९ टि० (चार) ।
 आर्यम । ५४१ (= अवलित) ।
 आपानमाह्वी । ६२ (= हठी) ।
 आध्यात्मिक । ५०५ (= मोतरी), ११९ (= धारीमोहो) ।
 आनन-संज्ञा । ४५० (= आननपदका श्रवण) ।
 आनापान-सति । ४९१ (= प्राणाधाम) ।
 आनिष्य । ४४६ (= सुख-दुःखसे परेकी समाधि), ५०५ (= चित्तकी एकाग्रता) ।
 आनिसद । ३४८ (= कृष्ण) ।
 आनुब्रविक । ३०२, ४२८ (= अनुब्रवको माननेवाला) ।
 आनुशायिक । ३३६ (= साध रहनेवाला) ।
 आनुरोस्य । ७५ (= सुपरिणाम), २४०

(= गुण), ४९७ (= काम) ।
 आनिज-सत्प्राय । ४४९ (आनिज-सत्प्राय-आनिज) ।
 आनिष्य । ४३४ (= निष्यत) ।
 आपण । १९ (= वृक्ष) ।
 आपत्ति । (= कष्ट), ४४३ (= दोष), ४५६ (= पाप) ।
 आपत्ति-अधिकरण । ४४३ ।
 आपानोय कांस्य । ४४८ (= वायुस्रोत) ।
 आपायिक । २३, ४ (= दुर्गतिमें जानेवाला) ।
 आपोवातु । ५०३ ।
 आवावा । २५५ (= पीडा), २९० (= बीमारी) ।
 आभ । ४९९, (= आना । १००, ५९२ (= प्रकाश) ।
 आभास्वर । १००, १९५, १९६, ४९९ ।
 आभिवेतसिक । २१२ (= शुद्ध चित्तवाले), ४५७ (= चित्तमन्त्रधी) ।
 आमिष । २१६ (= विषय), २७८ (= धन, मोह) ।
 आमिषगुरु । २७८ (= धन, मोहमें बड़ा) ।
 आमिष-दावाद । ४६७ (धनका दावाद) ।
 आयतन । ३३ (= इन्द्रिय), ३८ टि० (कः) १८२ (= स्थान), २८६ (= आश्रय), ३०३ (= जगह), ४४९ (= स्थान), ४७०, ४७९, ४९७ (= स्थान), ५०२ (= अधिकरण), ५६० (= इन्द्रिय), ५६२ (= अवस्थान), ५९२, ४९७ ।
 अयत-आर्षि । ३७४ (= चौकी बुट्टी वाले) ।
 आयु । १०६ ।
 आयुध । १६५ (= हथियार) ।
 आरचारी । १५९ (= दूर रहनेवाला) ।
 आरामिक । ३०६ (= आराम सेवक) ।
 आरत्यक । ३०७ (= सदा भरणमें रहनेवाला), ४७२ (= नववासी) ।
 आरक्ष्यवीर्य । ४६४ (= उद्योगी) ।
 आरम्भण । ४९६, ८२ (= लक्ष्य, आरंभ) ।
 आराधित ८० (प्रसन्न) ।

आराम । १९ (= आश्रम) ।
 आरुप्य । २४२ (= रूपरहित देवतालोकों के लोक) ।
 आर्य । १५९ (= निर्दोष), १६४, १९२ (= निर्मल), ३८७, ५७९ (= उत्तम), ६९८ (= शुद्ध) ।
 आर्य-अष्टांगिक-मार्ग । ५३८ (देखो अष्टांगिक मार्ग भी) ।
 आर्यप्रज्ञा । ९३ (= उत्तम ज्ञान), ५३ ।
 आर्य-विनय । ३७ (= आर्यधर्म), १४५ (= कुद-धर्म), १४५, २५८, ५७६ (= सत्पुरुषोंकी रीति) ।
 आर्य-विमोच । ४५१ ।
 आर्य-शूल । ११४ (= निर्दोष सदाचारकी) ।
 आर्यश्रावक । ७ (= सम्मार्गपर आरूप पुरुष), १९२ (= सत्पुरुष शिष्य) ।
 आर्यसत्त्व । १६ (चार), ५७८ ।
 आर्या । ८० (= अर्या, सामान्य) ।
 आर्यके दर्शनसे अभिज्ञ । २५५ ।
 आर्यभ । ४५ (= उत्पन्न) ।
 आर्यभी । ५११ (= महती) ।
 आलय । ३२ (= लीन होना), १०६ (= काम-तृष्णा), १२० (= रुचि), ४१२ (= तृष्णा) ।
 आली । ४२७ (= बाँध) ।
 आलोक-संज्ञा । १६० (= रोशन स्थान) ।
 आवर्त । २६९ (= भँवर) ।
 आवर्तनी माया । २२७ ।
 आवसथ । ३६७ (= स्त्राय), ५३५ (= निवास स्थान) ।
 आवास । ४४३ (= मठ) ।
 आवाससे शुद्धि । ५३ ।
 आविर्जन । ५२१ (= दहन) ।
 आवुस । ११ (= स्नेह-सूचक संशोधन जो पहिले यज्ञ के लिये भी प्रयुक्त किया जाता था, किन्तु बुद्ध-निर्वाणके बाद क्रोटोंके लिये ही रह गया) ।
 आवेश । २०० (= मरमाया) ।

आशीविष । १४२ (= सर्व), ४७८ (= सर्वपि) ।
 आश्रय । २०७ (= चित्तमल) ।
 आश्रवास । ३८७ (= मल), ४९३ (= श्वास लेना), २५० (= साँस छोड़ना) ।
 आश्रवास-प्रश्रवास । १८१ (= साँस लेना छोड़ना) ।
 आश्रवासिक । अन्—३०२ (= मनको संतोष न देनेवाला) ।
 आसन । ५९५ (= निषीदन) ।
 आसन-कुराल । २७३ (= चतुर) ।
 आसाटिक । ३३३, १३३ (= काली मन्त्रिणों) ।
 आसीतिक । ५० (= कष्टनी वर्षका बूझ), ३४८ (= वनरूपति विशेष) ।
 आस्तिकवादी । २४० ।
 आस्रव । ६ (= मल), ३३ (= चित्त-मल) ३, ३३, ५९, ६८, १०३, १९७, २७७, २९१, २०८, २५६, २६०, ३०३, ४३१, ४६२, ४६७, (= चित्त दोष) १६६, २१५, २१८, ३८० (= राग द्वेष आदि), ५९६ (= जन्म मरणके कारणभूत चित्त-मल) ।
 आस्रवका जय । २५९ ।
 आस्रवका नारा । ७, ९ (विस्तारसे) ।
 आस्रव-चाय-ज्ञान । १६ (तृतीय-विद्या) ।
 आस्वाद । ४६१ (= स्वाद) ।
 आहार । ३१ (= आचार), ३१ (के भेद ४), १५३ (= भित्तिके आहार) ।
 आहार-शुद्धि । ५१ ।
 आहार-समुद्भय । ३१ (= आहारकी उत्पत्ति) ।
 आहुरेय । ५१८ ।
 इतरजाति । ३२६ (= नीच कुल) ।
 इतिवृत्तक । ८६ (बुद्धोपदेश) ।
 इन्द्रिय । १५१ (= शरीर), २६५ (= मन का अनुभव), ३२४ (= ज्ञान), ३५८ (= चेष्टा), ४३८, ४४२, ४९१ ।
 इन्द्रिय आत्मा नहीं । ५९८ ।
 इन्द्रिय-परिपाक । ३२ (= इन्द्रिय-विकार) ।
 इभ्य । ३९९ (= नीच) ।
 इशुकार । ४३१ (= धान बनानेवाला लोहार) ।

ईर्ष्या । ५१ (= आचार) ।
 ईर्ष्यापथ । ३६ टि०, ७८ (= पारौरिक गति),
 ३७४ (= चाल बाल) ।
 ईश्वर । ४२९, ४३२ ।
 ईश्वर-निर्माण । ४३१ ।
 ईश्वर-निर्माण-हेतु । ४२९ (= ईश्वरके बनाने
 के कारण) ।
 लघुकुटिपचान । ३०० (= उकड़ें तप) ।
 लम् । ११७ (= श्रेष्ठ) ।
 लम्बाब्द । ३२१ (= कोलाहल) ।
 लम्बा । ३६ (= पारधाना) ।
 लम्बावच । १९३ (= छोटे बच्चे) ।
 लम्बग । २१८ (= उत्साह = खोईडा) ।
 लम्बेद । ११ (= निवासा = विनय), ४३३ ।
 लम्बव्रत । ३०७ (= दास्य धीन कर खानेवाला) ।
 लम्बान । १८१ (= उठना), १९३ ।
 लम्बार्थ । २८९ (= प्रशंसा), ३९३ (= तारीफ) ।
 लम्बप्र-परिष । ९० (= जेसे मुक्त) ।
 लम्ब-अर्थ । २१ (= शिर) ।
 लम्ब-अर्थ । ५७८ (= ० बहार्थ = निर्वास) ।
 लम्ब । अन्-२३ (= अनुपम) ।
 लम्ब । स-२३ (= जिससे बचकर भी कोई
 हो) ।
 लम्बच्छद । ४८ (= ऊपरसे ढाँकने को चहर) ।
 लम्ब-अनुपमार्थ । (= दिव्य शक्ति), ४७,
 ५१, १०८, ११८, २७४ (= खोडोकर
 शक्ति), २५८ (= मानव स्वभावसे परे),
 ३१६ (अलौकिक शक्ति), ४१६ (जलमार्थ
 ज्ञान-दर्शन-विशेष) ।
 लम्बरारणी । ३७६, ३८८, ५२१ ।
 लम्बरासंग । २२९ (= चहर), २६८ (= ऊपर
 की चहर), ३६० (= चहर), (= उपरना)
 ४२०, ४७६ ।
 लम्बान । ९१ (= विद्वत = प्रकाशित), २०६
 (= बुद्धि, शरत्) ।
 लम्बानीकरण । ५७८ (= स्पष्टीकरण) ।
 लम्बान । ३९८ (= उद्योग) ।
 लम्बान्ति । ५८८ (= समुद्र) ।

लम्बल । १०७ (= नीलकमल) ।
 लम्बलिनो । ३१० (= उत्पल-समूह), ३९५ ।
 लम्बद । २०० (= एक उपनरक) ।
 लम्बद । सप्त-३७५ (= सतों अंगमें पूर्ण
 आकारवाले) ।
 लम्बदान । ९३ (= हटावा), ५७० (= सुप्रा
 करना) ।
 लम्बादित । ५६८ (= प्रसन्न) ।
 लम्बोद्दि । ६७ (= उत्साह) ।
 लम्बकुल्य । ५११ (= प्रशासन, स्नान आदि) ।
 लम्ब-तारा । ३४८ (= पानीका तारा) ।
 लम्बहृद । ३१० (= दह), ३१३
 (= जलाशय), ३९५ (= जल कुण्ड) ।
 लम्बावरोहक । १६५ (= जलवासी) ।
 लम्बान । (= जलाशय), २६, ५० ।
 लम्ब-उद्यय । ५०६ (= उत्पत्ति-विवादा) ।
 लम्बान । ८६ (सुबोपदेश), ११२, (= जाल-
 दोहासमें निकली पाकपाकली), ३२३,
 ३७७, ४२० ।
 लम्बा । (= घना) १११, ३०३, ५१० (=
 महाद्व) ।
 लम्बा । (= नाम) २१८, २७५, ३९२,
 ५४३ ।
 लम्बल । २० (= अभिमानी) ।
 लम्बामन । ३७५ (= ऊपर उठाना) ।
 लम्बकारी । (= शाकारों = शहर-पनाह) ५३,
 ५८ ।
 लम्बकुल । ३७९ (= जहरा कर) ।
 लम्बक्रम । ४२८ (= साधना) ।
 लम्बकलेश । ५७ (= मल), ११५ (जंगल =
 मल), ३०३ (= चित्त-मल), (= मल)
 ३२२, ४७०, ११७ ।
 लम्बकटि । ३९५ (= निमित्त) ।
 लम्बि । २६४ (= भोग वृत्ता, भोग संग्रह),
 २७८ (= गुरु), (= विषय-संग्रह), ५८६,
 ५७६ (= स्कन्ध, काय, कलेश, कर्म) ।
 लम्बनयन । १९७ (= धर्म-मार्गपर ले जाना) ।
 लम्बनाह । (= पातण्ड) १२, २७, ६१ ।

(= द्रौण) ।

उपनाही । ४४२ (= पावनाही) ।

उपनिषद् । ४८६ (= रहस्य) ।

उपनील । ३३५ (= ले जाया जा रहा), ३८९

(= उपनयन द्वारा मुक्त होकर पास प्राप्त), १५७

(= पहुँचाया) ।

उपपरोक्षा । २५९ (= जॉच), ३९९ (= अर्थका
परिच्छेद) ।

उपपाद् । ५८६ (= उत्पत्ति) ।

उपपन्नव्य । ५८७ (जाने-जानेके संसर्गवाला) ।

उपपील । ५३० (= उच्छिष्ट = उत्पीडा =
विह्वलता) ।

उपमा । (= दृष्टान्त), २० ।

उपवाद । २४९ (= शिक्षा) ।

उपवादक । ११५ (= निन्दक) ११५, ३१२ ।

उपविचार । ५६१ (= विचार) ।

उपशम । (= शान्ति) १६६, २८१, ३७६,
५०४ (= समाधि), ५०६ (= शान्त,
शान्त होना) ।उपशम-संबर्तनिक । ४२ (= शान्तिको प्राप्त
करानेवाला), ४४१ (= शान्ति-नामो) ।

उपशान्त । २९३ (= शान्त) ।

उपश्रव्य । ५१३ (= निवास) ।

उपसम्पदा । ५१३ ।

उपसंपन्न । ३४५ (= प्राप्तकर)

उपसम्पन्न । (= मिश्र) २८६, ३२६,

३३२ (= मिश्र होना) ।

उपस्वाक । ३२५ (= सेवा), ५८५ ।

उपस्थान । ५८५ (= सेवा) ।

उपस्थान-शाला । ३९३ (= समा-गृह) ।

उपस्थित-स्मृति । २०३ (= होश रखनेवाला),
४६४ (= बाहोश) ।

उपहर्ता । २६२ (= छानेवाले) ।

उपहार । ३६५, (= समान) ।

उपादान । ४२ (= आग्रह, ग्रहणचार)

४२, ४३ (चार, = प्रवचना), ९६

(= प्रविष्ट), १४८ (= रागवृत्त ग्रहण)

१५५ (= ग्रहण या ग्रहण करनेकी इच्छा),

१६० (= रागवृत्त ग्रहण), २१६

(= ग्रहण, स्वीकार), २१७ (= ग्रहण),

(= आग्रह, तुराग्रह), ४३६, ४३७, ४५१

(= ग्रहणकी इच्छा, आसक्ति), ४८०,

(= ग्रहण) ५९३, ५९४ ।

उपादान । सं-४१ (= घटोरनेवाला) ।

उपादान-स्केध । ३१ (= विषयके तीरपर ग्रहण
करने योग्य स्कंध), ११७ (पाँच), १२०,
१७९, १८०, ४६७, ४६९ ।उपाधि । १०३ (= मोम-पदार्थ), २५५
(= विषय) ।

उपाय । ४६९ (= उपादान) ।

उपायास । ३१ (= परेशानी) ।

उपावास-बहुल । ५५३ (= परेशान रहने
वाला) ।उपारम्भ । ८६ (= प्रवृत्ति), ८६ (= सहा-
यता), ३६३ (= निमित्त) ।

उपासना । ३३७, (= सस्तरंग) ३६७, ५८३ ।

उपेक्षा । १६६, १७७, २१२, २४९ (= प्रायुको
साधुताकी उपेक्षा), ५२४ ।

उपेक्षा-भावना । २५, ४९१ ।

उपेक्षा-संबोधन । ५९३ ।

उपेक्षा-संबोधन । ३३८ (= उपवास कर), ४५९
(= अमावास्या), ५३६ ।उपमृष्टक । ४९ (= छोसरी) १६५ (= लदा
सबे रहनेवाले) ।

उपमोभाग-विमुक्ति । ३५८ (= अर्द्ध) ।

उमंग । ५५६ ।

उकस्तरंग । १३७ (= जाघोंका कठिना जाना) ।

उल्का । ८२ (= लुकारी), २१७ (= अशान्त,
लुकारी), ५७४ (= अंगीठो) ।उल्कामुल । २५ (= अङ्गीठी की प्रविष्टा), ४९९
(= अङ्गी), ५७४ (= अंगीठो) ।उल्कीषशोष । ३०५ (= पगही जैसे चारों ओर
समानाकार शिरवाले), ५७४ (= गर्मी),

१७६ (= उष्णता, शरीर की गर्मी) ।

उत्सीकृत । ८५ (= कृतक गया),

१५२ (= अवगाहन कर पाया) ।

उत्सर्गपाद । ३०४ (= गुल्फ ऊपर अवस्थित है, जिस पादमें) ।

ऊर्णा । ३०५ (= रोम-राखी) ।

ऊर्ध्वाम्लोमा । ३०४ (= उनके अंजन समान नीचे तथा प्रदक्षिणासे धार्यसे दहिनी ओर) ।

ऊर्ध्वधारेचन । २९० (= उल्टी आनेकी दवा) ।

ऊर्ध्वसर । ४३५ (= आगेकी ओकवाश्रत्की अनुसरण करनेवाला) ।

ऊर्मि । २६९ (= लहर) ।

ऊर्मि-भय । २६९ ।

ऊर्जु-यतिपत्र । २५ (= सरल मार्ग पर आरुढ़) ।

ऊर्जु-प्रत्यनोक । २३९ (= विस्तृत) ।

ऊर्द्धि । ३२५ (= समृद्ध) ।

ऊर्द्धिपाद । ६६, ६७, ३०८, ३३८, ४४२, ४९१ ।

ऊर्द्धिमान् । १९ (= होशियार), ५३६ ।

ऊर्द्धिविभ्र । ३११ (= योग चमत्कार) ।

ऊर्द्ध-धनुभाव । १८ (= चमत्कार) ।

ऊर्ध्वम । ४१३ (= श्रेष्ठ) ।

एक-चारिका । ७६ (= जाल) ।

एकागारिक । ४९ (= एक ही घरमें निधा करनेवाला), ५४ (= चोरी), ५८ (= चोरी = एक घरकी घेर कर चुराना) ।

एकान्त-मुख । ३२० (= मुख-भय) ।

एकायन मार्ग । ४७ (= एक मात्र मार्ग) ।

एकांश । २३५ (= अर्धवा-दिना अपवादके), ३९७ (= खोलहो जाना) ।

एकांशवादी । ५१४ (= विभाग करके अन्धोंको भ्रष्टा, डुरेको डुरा कहनेवाला ; व कि एक ही छाटीसे सबको हाँकनेवाला) ।

एकाहिक । ४९ (= एक दिनमें एक बार) ।

एकभूक । ७५४ (= भेद और दूरे जैसा) ।

एणोर्जंघ । ३०४ (= सुग जैसा पेंडुली वाला भाग निष्का हो) ।

एरक-वार्तिका । ५५, ५९ (= ईड) ।

एषला । ५० (= ह्वा) ।

एहिपरिच । २५ (= यही दिखाई देने

वाला) ।

ऐलेयक । ५५, ५९, (ईड) ।

ओज । ८० (= रस) ।

ओदन । ३०५ (= भात) ।

ओदन-कुलमाष । २९० (= दाढ़-भात) ।

ओलिगल्ल । २६३ (= गवही), ९ । = गंदी गवही), ५३४ ।

ओलुग्ग-विलुग्ग । ३४८ (= जैहण, दर्हण = आलगा-विलगी) ।

ओषधि-तार । ३२० (= शुक्रतारा) ३१० ।

औदस्य-कौकृत्य । (= उदत्तपना-द्विच-किवाहट), १६०, १७५, १९२, ४१७, ४५८, २७१ (= ब्रह्मवृत्तता), ३८ (= उदस्य कुकृत्य), (उद्देग, सेद), ५२६ (= उदत्तपना) ।

औपनयिक । २५ (= निर्वाणके पास ले जाने वाला) ।

औपपातिक । २३ (दिव्ययोगिनि उदपन्न), (= मायोगिज देव), ११, १३६, २०८, २५६, २८५, ३८० (= देवता), ३२८ ।

औपपातिक-योगि । ४६ ।

औपपातिक सत्त्व । १६९ (अयोगिज प्राणी = देवता लोग) ।

औरभिक । २०७ (= भेद माननेवाला) ।

औरस । ७६८ (= हृदय या मनसे उत्पन्न) ।

कर । ४९ (= एक प्रकारका लृण) ।

कठला । ९३ (ठोफरा), ८३, १७१ ।

कटिन चीवर । ५१३ ।

कण । ४९ (= सेतमें छूटा दाना) ।

कया । ५०७ (= घात) ।

कयावस्तु । २२३ (= घात, विषादका विषय), ३५८ (= चर्चा), ३६९ (= घात), ६७१ ।

कयं-कयो । १५७ (= कहने-सुननेवाला) ।

कमनोय । १५८ (= कान्त) ।

कम्मकरण । ५४ (= ईड), ५९, ५३२ ।

करका । ३२२ (= मन्त्री) ।
 करण । ५१७ (= सिद्धा) ।
 करवीर पत्र । २५२ (= करेहके पत्रकी भोलि
 तोड़वाला) ।
 करीष । ११७ (= उदरका मल) ।
 करुणा । १६६, १७७, ५२४ ।
 करुणा-भावना । २५, ४९१ ।
 कर्म । ५०४ (= मिश्र वस्त्रकी सिलाई) ।
 कर्म-कारणा । ५४० (= दंड) ।
 कर्म-स्थान । ४१४ (= कर्म पैसा) ।
 कर्मान्त । १३ (कापिक कर्म), २८, १३९
 (= काम), १६२ (= खेती), ४०५
 (= पैसा), ४५५ (= कारखाना) ।
 कर्मरिपुत्र । ४९९ (= सुभार) ।
 कलिदह । ५३५ (= दाव), ५३८ (= दाव,
 पासा) ।
 कलोपी । ३२८ (= घर्तन) ।
 कलिगर । २६३ (= पशुओंके गलेमें बाँधनेका
 काष्ठ) ।
 कलर । ११५, ३७३ (= केदुम), ३८९ (= निघंटु-
 केदुम), ५९१ (= शुक्र) ।
 कल्पत्व । २३४ (= कल्प मर मरकमें रहने-
 वाला) ।
 कल्पित कर । ३६५ (= वनवा) ।
 कल्प्य । अ-२२१ (= अनुचित अ-विहित) ।
 कल्प्य । २२१ (= उचित, विहित) ३६२,
 ३९३ ।
 कल्याण-कीर्ति । २३४ (= सुपन्न) ।
 कल्याण-धर्मा । (= पुण्यात्मा) ३४२, ५९० ।
 कल्याण-मित्र । २७० (= सुमित्र) ।
 कवलिकार । ३१ (प्राप्त करके खाया जाने
 वाला) ।
 कवलीकार । १५४ (= कवल, कवल करके
 जाने योग्य) ।
 कष्टकारी । ८७ (= दुःख उठानेवाला) ।
 कसट । २०६ (= मँड) ।
 काकपेया । २५५ (= करारपर बैठे बैठे काँतेके
 पीने योग्य), ४९६ (= जिसके ऊपर

कौआ बैठ आसानीसे) ।
 काज । ५२४ (घँही) ।
 काण्ड । २५२ (= शर) ।
 कादलिमृग । ४८ (= समूरी चर्म) ।
 कान्त । ३२७ (= सुन्दर) ।
 कान्तार । १६३ (= रेगिस्तान) ।
 काम । ३१ (= इन्द्रिय-संभोग), ४२, ५३
 (= भोग), ५७, ८४, १३३ (= भोग-
 वासना), १६०, १६३, १६९ (= खो-
 संभोग), १८९, १९०, २८४ (= खो-
 प्रसंग), २९३ (= विषय भोग), २९४,
 ३३७, ४४९, ४८७ (= विषय), ५६७ ।
 काम-अग्र । ३२४ (अग्र भोग) ।
 काम-आश्रय । १, १६ (= काम-वासना-रूपी
 आश्रय), ५०२ (= भोगेच्छा सम्बन्धी विषय
 कालुष्य) ।
 कामगुण । १०९ (= काम भोग), ९३, ९९,
 १५१, २९९, २९४, (= विषय भोग) २६५,
 २९५, ३२४, ४१७, ४४५, ५१० ।
 कामच्छन्द । ३७ (= कामुकता), ९३
 (= भोगोत्तम राग), १७५, २५४, २५५,
 ४१७ ।
 कामभोगी । २८५ (= उचित विषय भोगी) ।
 काममिथ्याचारी । १८७, ३२० (= ध्वमिचारी) ।
 काम-मूर्ख । ३४७ (= काम पिपासा काम-
 रुचि = कामस्नेह) ।
 कामराग । १९२ (= भोग इच्छा), ४५८
 (= विषय कामना) ।
 काम-वितर्क । ९ (= कामवासना-सम्बन्धी-
 संकल्प-विकल्प), ५१२ (= काम सम्बन्धी
 विचार) ।
 काम-संज्ञा । ५१२ (= कामका क्वाल) ।
 काम संयोजन । ४३६ (= विषय वन्दन) ।
 काय । ३२ (= ससुदाय), ३३, १९६ (= योनि), ५९७ (= निकाश) ।
 कायगता-सति । ४९४ (= कायगत स्मृति) ।
 काय-दण्ड । २९२ ।
 काय-दुश्चरित । २३९ (= कापिक दुष्कर्म) ।

कायकल । ३०५ (= शरीर रङ्गना) ।
 काय-साक्षी । २५८ ।
 काय-संस्कार । १८१, १०६ (= कायिक
 क्रियाएँ), १०६ (शारीरिक गति) ।
 कावा । ३९ (= ढंढा-गर्म जाननेकी शक्ति) ।
 कायानुपश्यना । ३५-३० (चीदह) ।
 कायानुपश्यी । ३९२ ।
 कायिक-अधर्माचरण । १६८ ।
 कायिक धर्म । १८१ (= क्रियाएँ) ।
 कारण । २६० (= कसूर वेदकुरा निर्णय),
 २६१ (= शिवा), ५३० (= हेतु) ।
 कार्पापणक । ५५, ५९ (ईश्वर) ।
 काल-क्रिया । ३२ (= मरण) ।
 कालज्ञ ५९९ (= काल देखकर कहनेवाला) ।
 काल-वादो । ११३ (= समय देखकर बोलनेवाला) ।
 कापाय-कंठ । ५८० (= कापाय-मात्र जारी) ।
 काष्ठहारक । ४९ (= लकड़हारा) ।
 कांक्षा । ५९० (= संवेद) ।
 कांक्षा-वितरण-विमुक्तधर्म । ९५ (= मन्दिह
 वर करनेके लिये) ।
 किन्ति । ४३९ (= क्या) ।
 किल्ल । १३९ (= उल्ला) ।
 किशोर । ३८८ (= बच्चा) ।
 किङ्कुराल । १०५ (= क्या उत्तम है) ।
 किङ्कुराल-गवेषी । ३४५ (= क्या अच्छा है कि
 गवेषणा करनेवाला) ।
 कीर्तिशब्द । ३४० (= यश) ।
 कुक्कुट-पोतक । ६० (= चूड़) ।
 कुक्कुल निरय । ५४१ (नरक) ।
 कुत्ति । ३४८ (= पैर) ।
 कुड्य । २८६ (= अन्तर्धान हो मोतके पार
 चला जाना) ।
 कुनार । २२९ (= घन्ने) ।
 कुम्भी । ४९ (= घवा), ३२८ (=
 हैंडिया भात पकानेके बड़े बर्तन का
 नाम है) ।
 कुम्भोर । २६९ (= मगरका) ।
 कुम्भोर-भय । २६९ ।

कुल्माष । ३३२ (= दास), ३२८ (= कुलपी),
 ३४९ (= मात-दास), ५३४ (= अश्व) ।
 कुलपम । ८० (= बेरेके समान) ।
 कुराल । ३० (= मलाई), १०, ४६, ११४
 (= उत्तम), ३४६, ३१७, ३५६, ४१५,
 ४४२ ।
 कुराल । अ-३० (= कुराई), १०, १३६ (=
 नावाकिङ्ग) २८४ (= कुराई, पाप) ।
 कुराल-अकुराल । २८४ (मलाई कुराई) ।
 कुराल-धर्म । अ- २९ (= बुरेकाय) ।
 कुराल धर्म । ३१६ (= मलाई), ४०२
 (= निर्वाण) ।
 कुराल-मूल । ३०, ३१ (सीन) ।
 कुराल मूल । अ- ३० (सीन) ।
 कुराल-संयुक्त । ११८ (= निर्मल) ।
 कुराल-स्थान । २४१ (= सले काम) ।
 कुसोती । २० (= काकसी) ।
 कुसोदी । ४५४ (= भाकसी) ।
 कुहना । ४८८ (= पालेड द्वारा बंधना) ।
 कूट । १९१ (= शिखर) ।
 कूटागार । ४८ (= ऊपरी तलका मकान),
 ३०७ (= कोठी), ४७९ (= महल) ।
 कूर्म । १२ (= कछुवा) ।
 कृतकर्म । २६३ (= अपना काम जिसने कर
 लिया है) ।
 कृत-परमवाद । ३६६, (= प्रीत साक्षात्की) ।
 कृत्स्न । ४३४ ।
 कृत्स्नायतन । ३१० ।
 कृषि । ४१५ ।
 कृष्ण । २३२ (= कुरा) ।
 केदुमी । २० (= पाखंडी), ९९, ३८२ (=
 बह्य), ४२१ ।
 केवल । ६० (= एकांत), १२२, १५५
 (= आलस) ।
 केवली । ३७८ (= जन्म-मरण जिसका मध्य
 हो गया, मध्यवर्ष) ।
 कैदुमी । ४५४ ।
 कोदण्ड । २५२ ।

कोष्य । ५७५ (= चक्षुः) ।
 कोषाच्छादित । ३०८ ।
 कोसक । ३०७ (= पुस्तक) ।
 कौकृत्य । ७७ (= कन्देह), २५७ (= चिन्ता) ।
 कौमुदी । ४९० (= चौदवी, पूर्णिमा) ।
 कौमुदी चातुर्मासी । ४९० (= कार्तिक
 पूर्णिमा) ।
 कंसपाती । १७ (= वाली) ।
 ककचोपम । ८३ (आरके इष्टोक्तवाले), ११८
 (= आरके समान) ।
 क्रिया । २११ ।
 क्रियावादी । २८० (= कर्मवादी) ।
 क्रोशित । ५५५ (= निन्दित) ।
 क्रिष्ट । ५२५ (= मल-मुक्त) ।
 क्लेश । उप—२४ (= मल) ।
 क्लेश । २७२ (= मल) ।
 क्षता । ३९४ (= माहात्म्य) ।
 क्षत्रिय । १२९ ।
 क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य-शूद्र । ३८८ ।
 क्षम । ६२ (= क्षमा) ।
 क्षम-धर्मा । २९० (= क्षम स्वभाववाला) ।
 क्षान्तिक । ३२४ (= रुचिक) ।
 क्षारोदका नदी । ५४१ (= खारे पानीवाली
 नदी) ।
 क्षीणवाद । ५६९ (= बीजे बोलनेकी बात) ।
 क्षोणाश्रय । ४ (= राम आदिके मुक्त), ४६
 (= अर्हत्), १७७ (= चित्तमर्हत् (से
 मुक्त) अर्हत्), ४१३ (= रोगादि-अर्हत्),
 ५१९ (= अर्हत्) ।
 क्षीर-परी । २५२ (= दुधिया उड़ी) ।
 क्षेम । २९५ (= योग्य) ।
 क्षमता । ३९१ (= रुचता) ।
 क्षर्मात । २८९ (= पसन्द) ।
 क्षमनीय । ५२८ (= डीक) ।
 क्षलोपी । ४९ (= पयसी) ।
 क्षारापनच्छिद्रक । ५५, ५९ (दंड) ।
 क्षांक्षित्य । ३२ (= दांत टूटना) ।
 • खिलजात । ६५, ६६ (कटोला) ।

सुरकाय । २६१ (= निःशब्दगति) ।
 खेलपिंड । ६०८ (= सूक्ष्म-कफ) ।
 गण । १०४ (= सम्प्रतिबोधी जमात),
 १०५ (= भिक्षुबोधी जमायत), ५०४
 (= जमात) ।
 गणना । ५४ ।
 गली । ३०५ (= संघ पति) ।
 गति । ४७ (= चौच), ४१३ (= पहुँच) ।
 गह्वरीय । ३६९ (= निदनीय) ।
 गह्वी । २७९ (= निवा) ।
 गहनता । २०५ (= दुरुह) ।
 गाथा । ८६ (कुक्षोपदेश) ।
 गीता । सु—(= उचित कवय) २१३ ।
 गुप्त-द्वार । २७३ (= संकपी), ४५८ (= संकत-
 इन्द्रिय), १८ (= संकम-युक्त) ।
 गुप्ति । ३४२ (= रक्षा, वरण) ।
 गुरुक । ४४३ (= कवी) ।
 गुरुकार । १९, ५५३ (= पूजा) ।
 गुरुकृत । ३९५ (= शान्ति) ।
 गुल्फ । ३०५ (= छुट्टी) ।
 गूध-निरय । ५४१ (= बिछाका नरक) ।
 गुहलोभ । अ- २१५ (= निर्लोभ) ।
 गृहपति । ५३० (= वैश्य), ४९८, ११२, ३९७
 (= गृहस्थ) ।
 गृहपति-चोवर । ५१२ ।
 गृही-प्रतिसंयुक्त । ४४४ (= गृहस्थ-संयन्त्री) ।
 गेय । ५६१ (= छोम) ।
 गेय-संयन्त्री । ५६१ ।
 गेय । ८६ (पुत्र-उपदेश) । ५०६ ।
 गोघातक । ३६ ।
 गो-घातक सूनी । २१६ (= मांस काटनेके पीढ़े) ।
 गोचर । १०६ (= विषय), १९०, ९ (=
 विचरण-स्थान), ४४२ (= कल), ३३
 (= चरागाह) ।
 गोचरग्राम । ३४६ ।
 गोत्रभू । ५८० (= नाम-धारी) ।
 गोपन । ५४ (= रक्षा) ।
 गो-पद्म । ३७५ (= गाय जैसी फलकवाले) ।

गोपानसी । ५३९, ३४८ (= टोपे = कटिर्षा) ।
 गोपालक । ४९ (= बाला) ।
 गोपालन । ५४ ।
 गोमय । ४०२ (= दूधले), १५३ (= कंडे) ।
 गोमंडल । ५० (चर्वाहा) ।
 गौरक्ष । ४०१ (= गोपालन) ।
 गो-विकर्त्तन । २६३, ३४८ (= क्षुरा) ।
 गोष्ठ । ४०४ (= बयान) ।
 गंड । ४६४ (= क्रोधा) ।
 गंधकुटी । ३२८ ।
 गंधर्व । ३८९ (= उत्पन्न होनेवाला स्तव) ।
 ग्रहणी । ३५१ (= प्रकृति), ५३७ (= पाचन-
 शक्ति) ।
 ग्राम्य । ५६७ (= निरुद्ध) ।
 ग्रीष्मक । २९३ ।
 ग्लान । ५७९ (= रोगी) ।
 ग्लान-प्रत्यय । ३४२ (= पथ) ।
 ग्लान-प्रत्यय-भौषज्य । ६८ (= रोगीके पथ-
 भौषज्य) ।
 ग्लान-प्रत्यय-भौषज्य-परिष्कार । २२ (= रोगी
 के पथ और भौषज्यकी चीजें) ।
 घटिक । १५७ (= घविषा) ।
 घटित । ५२ (= रण), ३७५ (= रणवृत्ता) ।
 चढीचो । ४९६ ।
 धाम । ४७ (= धूप) ।
 धास-धाच्छादन । ५३५ (= स्नाना कपडा) ।
 धोष । ३४१ (= हला), ३८२ (= भावान) ।
 ध्राण । ३९ (= सूँघनेकी शक्ति) ।
 चक्रवर्ती । ५३५ ।
 चक्षुर्विज्ञान । ४७० (= चक्षु द्वारा मिलनेवाले
 ज्ञान) ।
 चतुरविज्ञान । ५७३ ।
 चतुः परिवर्त । ४८२ ।
 चतुर्वर्ती । १४ (= समावाहना), ३३८, ५९३ ।
 चन्द्रनिका । ९ (= गणना), २६३, ५३४ ।
 चरण । २१२ (= पद या आचरण) ।
 चरण-सम्पन्न । २१३ ।
 चापहाल । ३८८, ५३५ ।

चातुर्व्यवशी सुदि । ३८६ (= चारों वर्णोंकी
 सुदि) ।
 चातुर्मासमूक्तिक । ३०० (= चार मासोंका
 वसा) ।
 चातुर्मासाराजिक । ११९, १२९, १७०, ४९८ ।
 चातुर्मास-संवत्सर । २२५ ।
 चातुर्वर्णी सुदि । ३७१ (= चारों वर्णोंकी सुदि),
 ३८६, (केवल आश्विनको नहीं, चारों
 वर्णोंकी ध्यान आदिसे पाप-सुदि) ।
 चारिका । ९४ (= रासत), १०७, १०८
 (= यात्रा), २५७ (= पर्यटन) ।
 चिगुलक । १५८ (= चिगुली) ।
 चितान्तरास । ३०५ (= दोनों क्रयोंका विचारा
 भाग जिसका चित = पूर्ण है) ।
 चित्त । ७५ (= स्थाल), ४६९ (= मन) ।
 चित्त-उत्पाद । ४७५ (= चित्त या चित्तारोंकी
 उत्पत्ति) ।
 चित्त-विमुक्ति । २१२ (= मुक्ति) ।
 चित्त-विशुद्धि । ९५ ।
 चित्त-संस्कार । १७६, ३८१ ।
 चित्तानुपरयना । ३० टि० ।
 चित्तानुपरयी । ४९२, ५१८ ।
 चीरक-वासिका । (ईड) ५५, ५९ ।
 चीवर । ८ (= वस्त्र), २२, १९९, २०९
 (= मिथुके तीन वस्त्र—सङ्गादी, उत्तरासंग,
 अन्तर्वास), ४३८, ५७६ (= उत्तरा
 वासक = लुंगी, उत्तरासङ्ग) (= इफरी
 कपर लेनेकी चादर, सङ्गादी) (= तुहदा
 उत्तरासङ्ग सदीके लिये और एक मिथु धात्र
 एक मिथुके लिये जरूरी है) ।
 चीवर-कर्म । २५७ (= वस्त्र सीना) ।
 चूर्णक । ३३४ (= पौधर) ।
 चेतक । ७३ (= होशियार) ।
 चेतना । ३३ (= संज्ञाके अन्तर मनकी
 अवस्था), २३३ (भावस कर्म), ४९६
 (= चित्तना) ।
 चेतना । सं—३१ (= स्थाल) ।
 चेतसिक । ६०१ (= भावस) ।

चेतसिक धर्म । १८१ ।

चेतसोधिनिर्वन्ध । ६५ (= चित्त-वन्धन), ३६१

चेतः समाधि । ५०३ ।

चेतोखिल । ६५ (= चित्तके कील) ।

चेतो विमुक्ति । १०५, २५६ (= छूटे चित्त-
मलों), ३१९ (= भावना) ५०४, ५२३,
५२३ ।

चेतो विमुक्ति अकोप्या । १०८ ।

चेतोविमुक्ति-अप्रमाणा । १०३ ।

चेतोविमुक्ति-आकिचन्या । १००, १०८ ।

चेतोविमुक्ति-आनिमिता । १००, १०८ ।

चेतोविमुक्ति-शून्यता । १०० ।

चेतो-विमुक्ति समापत्ति । १०० ।

चैलण्डुक । १० (= चलोका) ।

(चैत्य) । १३ ति० (= देवताओं और मूर्तोंके
चौरे) ।

चैलपत्ति । ३४५ (= पाँचवे) ।

चोदना । ५३९ (= अभियोग) ।

चोर । ३५३ (= डाकू) ।

चोर-घातक । २०० ।

चक्रम । ३९१ (= टहलनेके चक्करे), ५०५
(= टहलना) ।

चंगवार । ५२ (= चंगौरा = टोकरा) ।

च्युत । ३१२ (= मृत) ।

च्युति । १५ (= मृत्यु) ५८६ ।

च्युति-उत्पाद-ज्ञान । १५ (= प्राणियोंके जन्म-
मरणका ज्ञान), ११५ ।

छन्द । २९० (= राग), ४३०, ३९८ (= रुचि),
४६० ।

छन्मिलत । ५३० (= स्तम्भिलत) ।

छवि । ५४० (= ऊपरी चमका) ।

छविचरण । १०७ (= काति), १४६ (= चमके
का रंग) ।

छिद्र । १२१ (= दोष) ।

छटिलक । १६६ ।

(जनपद) । २२९ (= देश), ३३८ (दीहात) ।

जनपद-कल्याणी । ३१९ (= सुन्दरियोंकी
रानी), ३२३ (देशकी सुन्दरतम स्त्री) ।

जनपद-भाषा । ५०१ ।

जन्ताघर । (= स्नान-घर) ।

जन्म । ४४५, (= आवागमन), ४६२, ५९६ ।

जरा । ३२ (= बुढ़ापा) ।

जराधर्मा । १०३ (= बुढ़ापा होना) ।

जरायुज-योनि । ४६ ।

जात । १५० (= सन्तान) ।

जातक । ८६ (बुढ़ोपदेश) ।

जातरूप । २१५ (= सोया) ।

जाल-हस्त-याद । ३०४ (= खंखिलियोंके बीच
पटकके पंजेकी भाँति चमका) ।

जाति । ३१ (= जन्म), १५५, १६०, २६९,
२७९, २९७, ३३२ ।

जातिधर्मा । १०३ (= जन्मनेके स्वभाववाला) ।

जातिभूमि । ९४ (= कपिल-वस्तु) ।

जाति-संस्कार । ९० (= जन्म दिलानेवाले पूर्व-
कृत कर्मोंके चित्त-प्रवाहपर पड़े संस्कार) ।

जनिपद । ५०० (= दिहाती) ।

जायिका । २६४ (मेहरिण) ।

जालिनी । ४८५ (= तृष्णा) ।

जीवित । ५७५ (= जीवन) ।

जुगुप्सु । ४८ (= अनुकंपा रखनेवाला), ४५,
(= ब्रह्मचर्यका रोग) ।

जंघाचिहार । ७०, १४४ (= टहलना), २१४
(= चङ्गल-कदमी), ३८२ ।

ज्या । २५२ ।

ज्योतिर्मातिका । ५५ (= ईश), ५९ ।

ज्ञाति । ३३५ (= जाति) ।

ज्ञाति-दासी । ३३२ (= जातिवालोंकी दासी) ।

ज्ञाति-सलोहित । २०५ (= जाति-माहुरों) ।

ज्ञान । ७० (= संख्या) ।

ज्ञानदर्शन । २०९ (= ज्ञानके साक्षात्कार
करने) । ३०० (= ज्ञानका मनसे ग्रहण
करना) ।

तद्वहुपादिरण । ११८ (= तृष्णामें कैसा) ।

तत्सापीयसिका । ४४३ (= तत्स सापीयसिका) ।

तथागत । ५ (= जैसे अन्य कुछ संसारमें भागे,
भागे हैं, या भावेंगे, वैसे ही जो आया),

- १५८, २५३ (= शुक्ल पुरुष), १८९ (=
 लोकगुरु) ।
 तथागत-उत्पत्ति । ११३ ।
 तथागत-बल । ४४ (दश) ।
 तथाभूत । २३२ (= मृत = जैसे) ।
 तन्वी । २९१ (= आलस्य) ।
 तप । ३१५ ।
 तपस्वी । ४८-४९ । (महावर्षका अंग) ।
 तरुण । ५० (= बहुत छोटा) ।
 तरुणवत्सा । ५२१ (= धेनु) ।
 तर्कावचर । अ-३९८ (= तर्कसे अप्रामाण्य) ।
 तल । ३४९ (= आसन) ।
 तमस पापोयसिका । ४४४ (= उसकी और
 भी कहीं आपत्ति) ।
 तात्कालिकी । ५०४ (= सामयिक) ।
 ताम्रलोह । ५४१ (= ताँबे) ।
 तिष्ठवत्धारक । ४४३, ४४४ (= बाससे ढाकने
 जैसा) ।
 तिरच्छाया-कथा । ३१८ (= व्यर्थ कथा) ।
 तिरः प्राकार । २८६ (= अन्तर्धान हो प्राकार
 के पार हो जाना) ।
 तिरीट । ४९ (= एक वृक्षकी छाँट) ।
 तिरोभाव । २८६ (= अन्तर्धान होना) ।
 तिर्यग् । ४४ (= पशु पक्षी आदि), २३१,
 (= पशु), ४०६, ४१४, ५३४ ।
 तिलक । ५३९ (= दाग) ।
 तिल-पिट्र । ५२१ (= तिलकी लुगदी) ।
 तीर्ण-विचिकित्स । ४७९ (= संशय-रहित) ।
 तीर्थ । २९ (= नदीका घाट), २०९ (= मत),
 २५८, १३३ (= नदीका उतार) ।
 तीर्थायतन । २८० (= पंथ) ।
 तीर्थिक । ५०५ ।
 तीर्थिक । अन्य-२३८ (= पंथाई) ।
 तुष । १५३ (= भूमी) ।
 तुषित । १००, ५०९ ।
 तुषित-काय (तुषित देवता) । १२२, ४९८,
 ५८३ (= तुषित-देव-श्लोक) ।
 तुषोद्क । ४९ (= चावलकी छराव) ।
 तृण-उल्का-समान । ८४ ।
 तृणहारक । ४९ (= घसिबारा) ।
 तृष्णा । ३१ (तीन), ४३, १५४ ।
 तृष्णा-क्षय-विमुक्ति । १५० ।
 तृष्णा-संज्ञय-विमुक्ति । १६० (= तृष्णाके
 विनाशसे होनेवाली मुक्ति) ।
 तेज । ३३० (= मुक्ति) ।
 तेजन । ४३१ (= बाणफल) ।
 तैर्धिक । ४१ (= दूसरे मतवाले), २२४, २२६
 (= पंथाई) ।
 तोमर । ५१० (= माला) ।
 त्रयस्त्रिंश । ४९८, ५५० ।
 त्रयस्त्रिंश । १००, २९४ ।
 त्रैचोद्वारिक । १३१ (= सिर्फ तीन बच्चोंको
 पासमें रखनेवाला) ।
 त्रैविद्य । २७९, २८८, ३७८ (= तीन विद्याओं
 का जाननेवाला), १२९ ४०९,
 ३२८ (= तीनों वेदोंका अनुयायी) ।
 तत्पापोयसिका । ४४३ ।
 त्वक् । ३६ (= चमड़ा) ।
 धम्म । १२ (= जयता) ।
 र्थीन-मिड । (देखो स्थान-मुद्र) ।
 दक्षिणैय । २५ (= दान देने योग्य) ।
 दत्ती । ४५ (= कलकी) ।
 ददुल । ४९ (= कोठो) ।
 दन्तकार ३११ (हाथोंके दाँतका काम करनेवाला) ।
 दन्तप । ३८३ (नाम) ।
 दन्त-विकृति । ३११ (= दाँतकी घनी चीज) ।
 दंघा । २६५ (= धीरे-धीरे) ।
 द्रव्य । ६०१ (= डर, खेद) ।
 दर्भजातिक । ७३ (= कुनाम-बुद्धि) ।
 दर्विग्राहक । ३९० (= रखोईदार) ।
 दर्शन । ६ (= विचार), १०६ (साक्षात्कार),
 ४२८ (= जाव) ।
 दध । १६२ (= मसली), ४४३ (= सहसा) ।
 दह । ४२० (= पुष्करिणी) ।
 दहर । ५१ (= तरुण), ४४ (= कमलिन),
 २२९ (= नय-वयम्का), ३२५ (= नय-

यस्य) ।

दान्त । २१३, (= संवत्), ५१६ (= विनीत),

५१६ (= शिक्षित) ।

दान्त । अ-२९ (= जनके संवत्सरे रहित) ।

दान्त-भूमि । ५१६ (= शिक्षित-जगत्वा) ।

दायाद । ३३२ (= कायित) ।

दावपालक । १२० (= वनपाल), ५२८ ।

दास । १६३ ।

दिट्ठिनिग्गमानसस्स । ३९० (= दृष्टि निष्पानास) ।

दिनादान । अ-११३ (चोरी) ।

दिनादायी । १५९ (= दियेका लेनेवाला) ।

दिया । २६२ (= मण्पाइ) ।

दिव्य-नखु । १५ (द्वितीय विद्या) २५९, २८७,
४३१, ४५७ ।

दिव्य-श्रोत्र । २९२, ३११, ४५७ ।

दिव्य-श्रोत्र-धातु । २९६ (= काव) ।

दीर्घ-रात्र । ५७ (= बहुत समय), २६९
(= चित्काल) ।

दुःख । ३१, ३७५ ।

दुःख-निरोध ८ (= दुःखका विनाश) ।

दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपद् । ४०, (दुःख-
संघ) १२१ (= दुःख पुत्र), १५५ ।

दुःख-विपाक । ७७, ३६२ (= अंतमें दुःख
देनेवाला) ।

दुट्ठुल । ५३० (= दुःस्पर्शत्व) ।

दुःख-समुदय । ८ (= दुःखका कारण),
१०६ ।

दुःख-संघ । ५८ (= दुःखोंका पुत्र), २९७ ।

दुःख-स्पर्श । २९४ (= दुःखके साथ होने
लायक) ।

दुर्-अनु-बोध । २८२ (= दुर्ज्ञेय) ।

दुर्गत । १२० (= कुमार्गारूढ) ।

दुराख्यात । ४२ (डीकसे नहीं व्याख्यात
किया गया) ।

दुर्गृहीत । ४३८ (= उल्टा समझा हुआ) ।

दुर्दृश । ३९ (दुर्बोध) ।

दुर्भावना । १०९ (= पाप) ।

दुर्मानस्कता । १२१ (= दुःख) ।

दुर्वर्ण । ५५२ (= कृष्ण) ।

दुस्चरित । ५५ (= पाप), ५३३ ।

दुःश्रुत । ४७४ (= न सुनने योग्य) ।

दुष्कर-कारक । २३१ (= मुश्किल करने
वाला) ।

दुष्कर-कारिका । ५१ (= तपस्या), ४२८ ।

दुष्कर-क्रिया । ५९ (= तपस्या) ।

दुष्प्रज्ञ । ५५२ (= निर्बुद्धि) ।

दुष्प्रतिनिस्सर्गी । ४३९ (= मुश्किलसे छोड़ने
वाला) ।

दुष्प्रति-मांश्य । २८६ (= वाद करनेमें
दुष्कर) ।

दुष्प्रवेदित । ४२ (डीकसे न जाना गया),
४३१ (= डीकसे न साक्षात्कार किये
गये) ।

दुस्स-युग । २०९ (= पूरेका जोषा, जान
जोषा) ।

दृष्ट । ३ (= देखा), १५४ (= दर्शन, ज्ञान) ।

दृष्ट । सु-१५४ (= अच्छा दर्शन) ।

दृष्ट-धर्म । २६८ (= इसी जन्ममें) २९१
(= जिसमें धर्मको देख लिया), ४३३
(इसी शरीरमें) ।

दृष्ट-धर्म-अभिज्ञा-व्यवसाय-पारमो-प्राप्त । ४२८
(= इसी शरीरमें जानकर, निर्वाणको
प्राप्त) ।

दृष्ट-धर्म-मुखविहार । २७ (= इसी जन्ममें
मुखपूर्वक विहार करना) ।

दृष्ट-वादिता । ४६९ (= देखा हुआ कहना) ।

दृष्टि । ७ (= वाद, मतके छः भेद), २७
(= दर्शन, मत), ३८ टि. (= धारणा,
मत), ४२ (= धारणा), ८७, ८८, १००,
१८४, ४६४, २११ (= दर्शन), ३००
(= वाद), ४३६, ५२०, ४४४ (= सिद्धान्त),
२८१ (= मत) ।

दृष्टिक । ३२४ (= मत रखने वाला) ।

दृष्टि-कान्तार । ७ (= दृष्टिको मरभूमि), २८१
(= मतका रेगिस्तान) ।

दृष्टि-नात । ७ (= मत-वाद), १११ (= धारणा

में स्थित तब), २८१ (= दृष्टि), २८२ ।
 दृष्टि-गहन । ० (= दृष्टिका घना जंगल),
 दृष्टि-निश्वाय-कान्ति । ४२८, ४३५ ।
 दृष्टि-निश्वाय । ८९ (= धारणाके विषय) ।
 दृष्टि-प्राप्त । २५८, ४८० (= लक्ष्ये दर्शन) ।
 दृष्टि-मान । ३१ (= धारणाका अभिमान) ।
 दृष्टि-विद्युद्धि । ९५ (सिद्धान्त ठीक करने) ।
 दृष्टि-विरूप । ० (= दृष्टिका कौटा), २८१
 (= ० कौटा) ।
 दृष्टि-विस्फन्दित । २८१ (= ० की चंच-
 लता) ।
 दृष्टि-सम्पन्न । १९३ (= आर्य दर्शन युक्त) ।
 दृष्टि-संयोजन । ० (= दृष्टिका कौटा), २८१
 (= मतका संयोजन) ।
 दृष्टि-स्थान । ८९ ।
 देव । १९३ (= दृष्टि), ४०७ ।
 देवता । ३ (देव, प्रजापति, ब्रह्मा, कामाक्षर,
 शुभ कुम्भ, वृद्धफल, अभिभू, आकाशा-
 नन्थायतन, विष्णुनामन्थायतन, आदि-
 शम्भायतन, वैव संज्ञाना संज्ञायतन),
 १९० (= भेद) ।
 देवदूत । ५३९ ।
 देवनिर्वाण । ६६, ५२५ (= देवसमुदाय, देव-
 योनि) ।
 देशना । १०० (= उपदेश), ३७९, १९३
 (= अथरात्र निवेदन) ।
 देशता । ४८३ (= वतलाता) ।
 दौर्जनस्य । १५ (= चित्त-सन्ताप), ३१, ५४
 (= दुःख), १०० (= चित्त-सन्ताप),
 १८३ (= चित्त-सन्ताप), ४३६ (= चित्त-
 खेद), ५०५ (= बुरा मन होना), ५६१
 (= खेद) ।
 दीप्त्युत्प । २५५ (= चंचलता) ।
 दीप्त्युत्प । ५२६ ।
 द्वारकोष्ठक । १०२ (= फाटक), ३७४
 (= नौवतकाना) ।
 द्वारशाला । २२८ (= शालान) ।

द्वेषा । ७४ (= दोहक) ।
 दुषद्विक । ४९ (= दो दिनमें एक बार) ।
 धनुकलाप । ४०१ (= झूठ-विलय) ।
 धनुक । १५८ (= धनुही) ।
 धनुष-कलाप । ५८ (= धनुष-लक्षणी) ।
 धम्मकोस । ३०६ (= विषकार) ।
 धर्म । ६, ३९, १२५, १३८, १४८, १३९, १०४,
 १७५, (= पदार्थ); ९ (= विचार);
 ११, ५०, ६१, (= बात), ३२ (= मन
 इन्द्रियका विषय); ३०, ३९, (= स्वभाव);
 ३९ (= मनका विषय); ८४ (= कार्य);
 ८९, (= उपदेश); १०६, १८१, १८६,
 (= पदार्थ), १८९ (= पुण्य), १८१
 ३७५, २०८, ३९७, ४८६, ५४३, ५२३
 (= बात), २११, ४५७, (= उपदेश),
 २५४ (= ज्ञानात्मिक विचार); २६०
 (= काम); २२४ (= पदार्थ), २९०
 (= स्वभाव); ४३९, ४४० (= बात,
 दोष); ४५५ (= गुण), ४६७ (= चित्त-
 प्रवाहका एक रूप); ४७०, ५३२ (=
 दुर्योग); ५४८, ५९५, ६०३ (= विचार) ।
 धर्म-कुशल । १८९, (= पुण्य आचरण) ।
 धर्मका अनुस्मरण । २५ ।
 धर्म-अन्वय । ३६५, (= धर्म-दर्शन), ३६५,
 (= धर्म-अन्वय) ।
 धर्म-कथिक । ४०२ (= आख्याता) ।
 धर्म-चक्र । ४६८ (= धर्म) ।
 धर्म-चक्र । ५९६ ।
 धर्मचर्या । ५३५ (= धर्माचरण) ।
 धर्मता । १९० (तब), १९३ (= स्वभाव,
 गुण) ।
 धर्मदायाद । १० (= धर्मकी वरदायक धानेवाला),
 ४६७ (= धर्मका वारिस) ।
 धर्मदेशना । ५६८ (= धर्मका उपदेश) ।
 धर्म-धर । १३४ ।
 धर्मवातु । २३६ (मतका विषय) ।
 धर्मनिश्चयानात् । ३९९ ।
 धर्मेनेत्री । ४४३ (= धर्म रूपी स्त्री) ।

धर्मपर्याय । ५२ (= धर्मोपदेश) ; ७३, ४७५,
५२६ ।

धर्म-विचय । ९ टि० (= धर्म-अन्वेषण), ३९
४८६, ५९३ ।

धर्म-विचय-संबोधयंग । ४९२ ।

धर्म-विनय । ४२ (= मत), ३५, (= बुद्ध-
धर्म), १०४, (धर्म), १३३, (= बुद्ध-
धर्म), १५२, ४६१ (= धर्म), १९३,
२३३, ४०२, ४२८, ४५२ ।

धर्म-वेद । (= धर्म-ज्ञान), ४१९ ।

धर्मसमाधान । १८४ (= धर्मकी स्वीकृतिपूर्व),
१८५, १८६, १८७ ।

धर्मादर्श । ४८२ ।

धर्मानुपश्यता । ३७ टि० ।

धर्मानुपरयो । ४९२, ५१८ ।

धर्मानुसारी । २५८ ।

धातो । ३५२ (= धातु) ।

धातु । ३६ (= धातु), ४५ (= अक्षांश),
२५६ (= पद), ४५७ (= इन्द्रिय),
४७०, ४७९, ५०३, ४८० (= लोक),
४८० (= चित्त), ५०३ ।

धातु-विभंग । ५०३ ।

धारोप । ५०० ।

धुरा । २० (= जुगा) ।

ध्याते । १९९ (= ध्यान लगते हैं) ।

ध्यान । ३२५, २५६, २५९, २६५, ३१०,
३९२, ४३१, ४५३, ४५८, ४६६, ४७३,
४९५, ५६५ ।

ध्यान । अ-रूप—३, २७-२८ ।

ध्यान । चतुर्थ—७५, १६३ ।

ध्यान । तृतीय—७५, १६३ ।

ध्यान । द्वितीय—७५, १६३ ।

ध्यान-अथम । ७५, १६३, १७५ (चौथे अंगोसे) ।

ध्यान । रूप—१६ ।

ध्यायी । ४५८ (= ध्यायशील) ।

ध्रुव । ३३७ (क्षिर) ।

धीर । ३३७ (= पण्डित) ।

न-एहिमदन्तिक । ४८ (= तुलई मिश्राका

स्वामी ।

नंगदु । २६ (= गूँछ) ।

नति । (= तुलना) ।

न-तिष्ठ भवन्तिक । ४८ (= ठहसिये—कहा दो
गद्दे मिश्राका स्वामी) ।

नन्दो । ५ (= तुलना), १५८, १६०, १९६,
५८८, ६०१, ९३ (= राग), ४११
(= कोष) ।

नल । ४७५ (= तस्कट) ।

नवनीत । ५२१ (= मक्खन) ।

नसंज्ञी-नासंज्ञी । ४३४ (= नचेतन-नाचेतन) ।

नहापक । (बहलानेवाला), ४९५ (= नाशित) ।

नहापति । ३१० (= नाशित, बहलानेवाला) ।

नहारू । ११७ (= स्नायु), २५२ (= तल) ।

नाग । ३६१ (= हाथी), २५३ (= हाथीका
पट्टा), ३८५ (= पाष-रहित) ।

नाग-वर्निक । १११ (= हाथीके तंगलका
जादूमी) ।

नाग । महा—१२ (महावीर) ।

नागवर्निक । ५१७ (= हाथीके तंगलके रत्नक) ।

नानाकरण । ५३ (= अन्तर), ३००
(= भेद) ।

नानात्व । ४ (अनेकपन), ३७० (= भेद) ।

नाम । ३३ (= विज्ञान, Mind) ।

नामरूप । ४३, १५५, ४६१, ४८० ।

नाराच । २५२ (= बाणोंके दाँतकी तरह) ।

नास्तिकवाद । ४८९ ।

नास्तिकवादी । २४० ।

निकाय । ५९७ (= समुदाय) ।

निक्षिप्त-धुर । अ-२१२ (= जुगा न जुगार
फेंकनेवाला) ।

निक्षेप । ३२ (= पतन) ।

निखिल-ज्ञान-दर्शन-ज्ञाता । ३१८ ।

निगम । ८ (कल्या), २२९, २१४, ३३०,
३६५, ३८१ ।

निर्घटु । ४२१ ।

नित्यकल्प । ५८६ (= सनातन) ।

निदर्शण । अ-८६ (अ-दर्शन) ।

निर्द्धान । अ- (= चक्षुषा अतिरस) १९६ ।

निदान । ४३ (= कारण), ५४ ।

निधि-मुख । २०९ (= अजानेका हूँह) ।

निध्यायन । १९३ (= समालोचना), २०८ (= निदिध्यासन) ।

निध्यापितत्व ५३० ।

निर्णेषिकता । ४८८ (= जाह्नगरी) ।

निःप्रोक्तिक । ५३१ (= बिना प्रीतिवाचो) ।

निमित्त । १५९ (= आकृति आदि), १३४,

१८० (= धिङ्), २१५ (= लिङ्), ४५२,

४७० (= आकृति आदि), ४६१ (= लिङ्-

आकार आदि), ५३१ (= विशेषता),

५०२ (= लिङ् आदि), ५०५ (= लिङ्,

आकृति आदि), ५३२ (= लक्षण),

५६४ (= लिङ्, रस आदि) ।

निमित्त । ७७ (= आकार) ।

निम्न । ४९ (= अङ्ग) ।

निरस्य । १५ (= नरक), ४७, ५५, ५३४ ।

निरयपाल । ५३३ (= नरकपाल), ५४१
(= वरमन्त्र) ।

निरवध । ५५४ (= निर्दोष) ।

निरांतक । ५३७ (= निरोग) ।

निरामिष । ४३६ (= निर्विषय) ।

निरुद्ध । (= नष्ट) १५३, ३३५ ।

निरोग । ३०९, ४३३ (= निरा) ।

निरोध । ८८ (= राग आदिका नाश), ५०६

(= दुःख-निरोध), १४८ (= नाश),

२५० (= विनाश), ४८० (= नाश),

५८९ (= विवद्वक्ता) ।

निरोध-धर्म । ३०९ (= नाशमान) ।

निवात । ८१ (= निष्कलह) ।

निर्गन्ध । २२२ (= जैन साधु), २२५ (= जैन साधु) ।

निर्वीण । ४२८ (= नष्ट) ।

निर्नाही । ३०९ (= अनशन) ।

निर्भेद । २१२ (= तब तक पहुँचने) ।

निर्मायुरति । (देवता) ३०९, ४९८,
१२९ ।

निर्वाता । ३०३ (= मार्ग ध-दुर्ग) ।

निर्युद्ध । १४९ (= खंड) ।

निर्वाण । ४, १९६, २३० (= ब्रह्म), २९५,
२९६ ।

निर्वाण-निम्न । २८६ (= निर्वाणकी ओर
जातेवाली) ।

निर्वाण-प्राप्ति । ६०० ।

निर्विरण । ४४३ (= विरक्त) ।

निर्वृत । ४३६ (= निर्वाण-प्राप्त) ।

निर्वृत । १९२ (= सुख) ।

निर्वेद । ३० (= वैराग्य), ३० (= उदा-
सीनता), २४३ (= वैराग्य) ।

निर्वेधिक । २१२ (= वस्तुके तब तक पहुँचने
वाली), ४६६ (= तब तक पहुँचने
वाला) ।

निर्व्युद्ध । ५१० (= आच्छादित) ।

निवाता । ८० (= निष्कलह) ।

निवासन । २१४ (= पोलाक) ।

निवृत । ४१० (= उँका), ५९३ (= निवृत्त) ।

निवृत्ति । ५९३ (= निवृत्त) ।

निवेसन । ३४४ (= घर) ।

निःशब्द । ३१४ (= अव्यशब्द), ३८३ (= अव्यशब्द) ।

निःश्रय । ५१३ (= गुरु बनना) ।

निमित्त । ४५१ (= लिङ्), ५९६ (= धृङ्) ।

निषाद् । ३८८, ५३५ ।

निषोदन ४९५ (= आसन) ।

निष्क । २६४ (= अशक्तिपूर्वी) ।

निष्काम । ७४ (= काम-रहित) ।

निष्कामता-संबंधी । ५६१ (= नेक-असित) ।

निष्ठा । ३९६ (= अज्ञा) ।

निसर्ग । २३० (= उत्तम) ।

निस्तार । २६ (= पार जाना) ।

निस्सरण । ५२ (= विकास), २९३ (= निक-
लनेके उपाय), ५९९ (= निकलनेका
रास्ता) ।

निस्सर्गी । दुष्प्रति ६२ (= न त्यागनेवाला) ।

नीति । ७ (= प्राप्त) ।

नीवरण । ३७ टि० (पाँच), २३ (= लाव-
रण), १६३, (जङ्कन), १०५, २१५,
४१७, ४५३ ।

नीवार । ४९ (= तिब्बी) ।

नेमि । ३०४ (= छट्टी) ।

नैमित्तिकता । ४८८ (= ज्योतिषीका पेशा) ।

नैरयिक । २३४ (= नरकगामी) ।

नैर्यासिक । ४२ (= बार करानेवाला) ४४४
(= उसके अनुसार करनेवाले को दुःख-
क्षयको ले जानेवाला) ।

नैवसंज्ञा-नार्संज्ञा । ४३४ (= सचेतन-नाचेतन) ।

नैवसंज्ञा-नार्संज्ञायतन । (ज्ञान विहार), २८,
१७१, ४४६, ४५१, ४६७, ४७४, ४९५,
५०२, ५०५ ।

नैवापिक । ९८ (= ग्रहेलिया) ।

नैष्काम्य । ३१७ (= कामना-रहित होना) ।

न्यग्रोध-परिमंडल । ३०५ (= जितनी काया
उसके अनुसार व्यापाम = जितनी चौड़ाई
उतनी काया) ।

न्याय । ४० (= सत्य), ३०० (निर्वाण);
४३१ (= धर्म), ५१८ ।

पक्खलित्त्वा । ४२१ (= पकड़ कर) ।

पञ्चासात । ६० (= बीस कुल) ।

पंचदशी । १४ (= पूर्णमासी), ४६०
(= पूर्णिमा) ।

पंच-विव-बंधन । ५३३, ५४० ।

पटलिक । ४८ (= बिलौना) ।

पटिक । ४८ (= गलीचा) ।

पशु । २७८ (= बाजो) ।

पशुव । ५१८ ।

पणामना । २६७, २६८ (= निष्कालना) ।

पंडित-वेदनीय । २८२ (= पंडितों द्वारा जानने
लायक) ।

पंडुमुदिक । ३२९ ।

पत्ति । ३३७ (= पैसल) ।

पत्रयान । ४१० ।

पद । ३०० (= चिन्ह), ५४९ (= वाक्य) ।

पदक । २३० (= कवि), ३८६ ।

पद्म । ४२१ ।

पद्मन । ३९८ (= पराक्रम) ।

पदान । ५३२ ।

पन्त-श्वज । ९० (= जितकी शान जादि रूपी
ध्वजा गिर गई है) ।

पन्त-भार । ९० (= जितका भार गिर गया
है) ।

पन्थन । ११९ (महाभारत) ।

पसुट । ३०१ (= गाँठ) ।

परत्त्व-अपरत्त्व । ४५ (= प्रचलता-दुर्चलता) ।

परद-वृत्ति । २६३ (= दूसरेके दिने से वृत्ति
करनेवाला) ।

परनिर्मित । १७० ।

परनिर्मितवशावर्ती । ४९८, ३२९, ४९८ ।

परंतप । ३९२ ।

परम । ३२३ (= उत्तम) ।

परम-वर्ण । ३१९ ।

परमवर्ण-पुष्कलता । ५३७ (= परमसौन्दर्य) ।

परि-अवज्ञात । ३४९ (= सफेद, मोरा) ।

परि-ऊधान । १९२ (= चंचलता) ।

परि-उपासन । ३९८ (= सेवन) ।

परिचील । ६८ (= बह) ।

परिचील-भवसंयोजन । २१ (= जिनके भव-
सागर में डालनेवाले पंचद नष्ट हो गये हैं) ।

परिमह । ८८ (= ग्रहण करनेकी वस्तु) ।

परिमहसु । ८८ (= ग्रहण) ।

परिष । ४११ (= वृत्त) ।

परिष-परिवर्तिक । ५५, ५९ (दंड) ।

परिचरण । ४००, ५८५ (= सेवा) ।

परिचरणीय । ४०० (= सेवनीय) ।

परिच्छिन्न । ५३१ (= क्षय) ।

परिज्ञा । (= त्याग) ४२, १८४ ।

परिज्ञात । ६०६ (= ज्ञात) ।

परिज्ञेय । १७४ (= ज्ञेय), ६०२ (= जानने
योग्य) ।

परिणायक । ५३७ ।

परित्रास । ३०५ (= चंचलता) ।

परिदाह । ६०१ (= जलन) ।
 परिदेव । ३१ (= रोना-काँदना), ८८ (कलक-
 कर रोना), ५२९ (= विलाप) ।
 परिधारण । २६८ (= देखरेख) ।
 परिनिर्वाण । १४२ (= निर्वाण), १४८
 (= दुःखका सर्वथा अभाव) ।
 परिनिर्वाणी । ४५० (निर्वाण प्राप्त करनेवाला) ।
 परिनिर्बृत । २९ (= निर्वाणको प्राप्त) ।
 परिपन्थ । ५४, ५८ (= रहजनी) ।
 परिपूर्णकारिता । ४१ (= पूरा करनेवाला
 होना) ।
 परित्राजिका । १८४ (= साधुनी स्त्री) ।
 परिभाषण । ४६१ (= निदान), ५८८
 (कृतार्थ) ।
 परिभाषते । ९० (= निन्दते) ।
 परिषोग । ३२८ (= दात आदि सूक्ष्म पकाने
 कायक चर्तन) ।
 परिवास । २८६ ।
 परिक्षुब्धाम् । ५२६ ।
 परिषद् । ४६ (छात्र), ३९२ (= मंडल) ।
 परिष्कार । ४८६ (= सहायक सामग्री) ।
 परिस्फुरण । ३१० (परिपूर्ण) ।
 परीक्ष । ५३१ (= ज्ञाप) ।
 परीक्षशुभ । १७०, ४९९ ।
 परीक्षाभ । ५२४, ५२५ ।
 पर्यकुटी । ३८९ ।
 पर्यवनद्ध । ४१० (= चारों ओरसे घेरा) ।
 पर्यवदात । १५ (= शुद्ध), १४६ (= सफेद
 = गोला) ।
 पर्यवसान । ५९७ (= अन्त) ।
 पर्यादान । २८३ (= सतत कर लेने) ।
 पर्याय । १७० (= मतलब), ६१ (= प्रकार),
 ५९० (= चारों), ४२२ (= कथन),
 ३७९ (= विक्षय) ।
 पर्याय-आश्रित । १६५ (= बीच बीचमें निरा-
 दार रह, भोजन करनेवाले) ।
 पर्युत्थान । ८८ (उठना, उपजना) ।
 पर्युत्थित । ४५८ (= आश) ।

पर्युत्पासन । ५४१ (= मत्संग) ।
 पर्येषण । १०३ (= खोज), ५१६ (= फिक) ।
 पर्येषित । ८७ (= खोजा) ।
 पर्व । ५० (= पौर) ।
 पलगण्ड । ७७ (= राव, मेमार) ।
 पलाल-पीठक । ५५, ५९ (दंड) ।
 पलासी । ४४२ ।
 पल्लोम । १३ (= उत्साह) ।
 पल्लव । ७६ (= जलाशय) ।
 पश्चान्निपातिनी । ५३७ (= दोठे सोनेवाली) ।
 पस्साव । ३६ (= पेशाब) ।
 पद्धितता । ७४ (= आत्म-संयमी) ।
 पांडु । ५१० (= नारंगी का रंग) ।
 पांडु-कंबल । (= काल-दोशाला) ३१९, ४९९ ।
 पाती । ५७० ।
 पात्र । ४४ (= मिश्रा-पात्र) ।
 पात्र-आढक । १५८ (= तराजूका किलौवा) ।
 पादकठलिका । १०८ (= पैर रगड़नेकी लकड़ी) ।
 पादपीठ । १०८ (पैरका पीछा) ।
 पादोदर । ४१० ।
 पानीयकांस्य । १८८ (आबजोरा) ।
 पापक । १८, २० (= डुराई) ।
 पापदृष्टि । २८९ (= डुरी धारणा) ।
 पापधर्मा । ३८९ (= पापी) ।
 पापिका । ६१ (= डुरी) ।
 पापेच्छु । १६५ (= बदनीयत) ।
 पाप्मा । ७६ (= मार = डुराईयाँ) ।
 पाराजिक-समान । ४४३ ।
 पालित्व । ३२ (= बाल पकना) ।
 पांसुकूल । ४९ (= पैका कपड़ा) ।
 पांसुकूलिक । (= फेंके बिबर्षोंको पहननेवाला) ।
 पांसु-पिराचक । ३१९ (= जुहैल) ।
 पारा-नाशि । १०९ (= जालका डेर) ।
 पाहुणेष । ५१८ (पहुनाई) ३८९, ५१८ ।
 पिटक । ३९६ (= वचन समूह), ५२४
 (= टोकरी) ।
 पिटकसंप्रदाय । ३०२ (= ग्रंथ-प्रमाण) ।
 पिंड । २२७ (= मिश्रा), १०२ (= मिश्रा-

- चार), २६२ (= मधुकरी मँगना) ।
 पिडपात । १६५ (= मिडा) ।
 पिडपातिक । १३१ (मधुकरी मँगनेवाला) ।
 पिण्याक । ४९ (= खली) ।
 पिलोतिकच्छिद्र । ९१ (= आवरण-रहित) ।
 पिराच । २६३ ।
 पुकस । ५३५ ।
 पुटोलो । ३६ (= देहरी) ।
 पुंडरीक । १०७ (= श्वेतकमल) ।
 पुत्रक । ३५८ (= पुतबा) ।
 पुद्गल । १३९ (= पुरष), २४३ (चार), ४७८ (= व्यक्ति) ।
 पुद्गल । अ-प्रति—२३० (= अनुलनीय) ।
 पुनर्भव । १०५ (= पुनर्जन्म), ५११ (= आवा-
 गमन) ।
 पुरुष-पुद्गल । आठ—२५ (= स्त्री-पुरुष भेदने
 सोत आपन्न आदि आठ) ।
 पुरुष-पुगल । २५ (सोत आपन्न, सकृदागामी,
 अनागामी, अर्हत्) ।
 पुरुष-दम्ब । ५६३ (= स्त्रीका पुरुष) ।
 पूग । १६९ (= पंचायत) ।
 पूजा । १३३ (= भोजनादि प्रदान) ।
 पूति । २६३ (= पोष), ।
 पूतिक । २६३ (= सखा) ।
 पूतिमुत्त । १८८ (= मोसूल), १८८
 (= मौसूख) ।
 पूर्व-अन्त । ३१८ (= आवग्ग),
 पूर्व-अथायो-पश्चात्-निपातो ३४०, (= मालिह
 के सो जानेके बाद सोनेवाला नौकर) ।
 पूर्वकोष्ठक । १०२ ।
 पूर्व-निवास । (= पूर्वजन्म) २३, २१२, २७९,
 २८७, ३१२, ३१९, ३५०, ४३१, ४५७, ।
 पूर्वनिवासानुस्मृति । १५ (= पूर्व जन्मोंकी
 स्मृति, प्रथम-विद्या), ७५, ११५ ।
 पूर्वान्ति । ३२४ (= आरम्भका छोर) ।
 पूर्वोत्थायिनी । ५३७ (= पहले जागनेवाली) ।
 पुयगजन । ३ (= अवाही), २, १८०, ९६
 (= निर्वाणका अवधिकारी), २३४ (=
- अक्षर्यसारी जीव), २६५, २९६, ४८०,
 ५६५ ।
 पृथिवी-धातु । ३४ (= पृथिवी महाभूत),
 २४९, ५६३ ।
 पोरिसा । ४७ (= पुरुष भर), ११९ (पुरुष-
 परिमाण) ।
 पौनर्मधिक । ५०७ (= आवागमन-देनेवाला) ।
 पौर । ११३ (= नागरिक, सम्य) ।
 प्रजा । ४७८ (= जनता) ।
 प्रजातंत्र । १४० (= संघ) ।
 प्रजानन । १७५ (= अच्छी तरह जानना) ।
 प्रजापति । १९६ ।
 प्रज्ञा । १७४, ५०५, ६ ०२ ।
 प्रज्ञानिरोधक । ७४ (= ज्ञानका नाशक) ।
 प्रज्ञापन । ४६१ (= कतलावा) ।
 प्रज्ञा-विमुक्ति । १७५, २५८ ।
 प्रज्ञा-वेदित-निरोध । ३०९, (= चमत्तावेदयित-
 निरोध) ।
 प्रज्ञा-स्कन्ध । ३०८ (= उत्तम ज्ञान समुदाय) ।
 प्रशिक्षान । ६६ (= षड कामना), ५४८
 (= आपन्न) ।
 प्रणीततर । ३१९ (= उत्तमतर) ।
 प्रतिकोश । ५३ (= प्रतिवाद) ।
 प्रतिकोशन । ४६९ (= निरुन) ।
 प्रतिक्रिप्त । २५१ (= जिनका डर रोक दिया
 गया) ।
 प्रतिग्रहण । ११३ (= लेना) ।
 प्रतिध । ३८ द्वि० (प्रतिहिंसा), १८२ ।
 प्रतिज्ञा । १६५ (= दावा) ।
 प्रतिज्ञात-करण । ४४३ (= स्वीकार = Con-
 fession) ।
 प्रतिदेशना । ४४३ (= निवेदन) ।
 प्रतिनिस्सर्ग । २९० (= त्याग) ।
 प्रतिपत्ति । ४१४ (= विधात), ४७१ ।
 प्रतिपदा । ५९८ (मार्ग) ।
 प्रतिपद् । ३२० (= मार्ग) ।
 प्रतिपन्न । २०५ (= बनाया), ३१६
 (= मागोंक), ४५० (= समझने

बाळा) ५३९ (= बाल्य) ।
 प्रतिपृच्छ । ५९० (= पूछ पूछकर) ।
 प्रतिषिद्ध । २११ (अवगाहित) ।
 प्रतिवेध । २८६ (= तब तक पहुँचना) ।
 प्रतिभाग । १८३ (= विपक्षी) ।
 प्रतिमंत्र । २३० (= वाद-द्वन्द्व) ।
 प्रतिमान । ३५७ (= ज्ञान) ।
 प्रतिराज । ५३६ (= आधीन राजा) ।
 प्रतिरूप । ५८५ (= नोच) ।
 प्रतिषाण-रूप । ४२१ ।
 प्रतिवेदित । ४६७ (= अनुभव-गम्य) ।
 प्रतिशरण । ५०६ (= अकलम्य), १०६
 (आश्रय) ।
 प्रतिसंख्यान । ८ (= ठीकसे जानना), ४१७
 (= सोच समझ) ।
 प्रतिसंश्लयन । १७३ (= एकान्त चिन्तन,
 ध्यान), २६२, २५१ (विचार-मग्न होना) ।
 प्रतिसंवेदन । ३७५ (= अनुभव) ।
 प्रतिसेवन । ६ (= सेवन) ।
 प्रतिस्मरण । ६१, ६२ (= प्रतिहिंसा) ।
 प्रतीत्य-समुत्पाद । १२० (= कार्य कारण से
 सभी चीज़ों की उत्पत्ति), १५१ (= कार्य
 कारणसे उत्पन्न), ७१३, ३७९, ४८७ ।
 प्रत्यय । ४६१ (= कारण) निमित्त, १५१
 (= हेतु), १०६ (= आश्रय) ।
 प्रत्यवेक्षण । १५१ (= परीक्षण), ३७६ (=
 विचार), ३४६ (= देखमात्र), ४९९
 (= निहार) ।
 प्रत्यस्तरण । ४८ (= लिहाफ) ।
 प्रत्यात्म । २७८ (= प्रति शरीर में), ५७५
 (= इसी शरीर में) ।
 प्रत्युत्पन्न । ५७८ (= वर्तमान) ।
 प्ररत्न । ५०७ (= पुकार) ।
 प्रशब्ध । ४९३ (= शक्ति) ।
 प्रश्रब्धि । ९ टि० (= शक्ति), ३९ टि०
 (= शक्ति), ५८६ (= एकाम्रता) ।
 प्रश्रब्धि-संबोधन । ५९३ ।
 प्रश्रव । ४९ (= खाट) ।

प्रश्नास । २५० (= सॉल केना), ४९१ (=
 श्वास छोड़ना) ।
 प्रसन्न । १०६ (= निर्मल), ३८१ (= अद्भुत) ।
 प्रसन्नता । ११५ (= चित्तकी एकाम्रता) ।
 प्रसाद । ४१ (= अद्भुत) ।
 प्रसादनीय । ४५७ (= अद्भुत उत्पादन करने
 वाला) ।
 प्रहाण । ५६ (= स्थान), ६४ (= ताश) ।
 प्रहातव्य । ६ (= स्थानसे योग्य) ।
 प्रहीण । १५१ (= बह), १७५ (= छूट
 गया) ।
 प्राग्भार । १८१ (= पहाड़), ५०५ (=
 विवेक) ।
 प्राणातिपात । १८७ (= हिंसा) ।
 प्राणातिपाती । ५५२ (= हिंसक) ।
 प्राणायाम । ३५ टि० ।
 प्राति-पुद्गलिक । ५८० (= व्यक्तिगत) ।
 प्रातिमोक्ष-वर्देश । ३०७ (= अवराध-स्वीकार),
 ४३९, ४४२ (= मिश्र-नियम), ४४२, ४५८,
 ४५६ ।
 प्रातिमोक्ष-संवर । ४५७ (= मिश्र-नियम
 संवत्सर) ।
 प्रान्तरायनासन । ३०७ (= बत्तीसे दूर कुटी-
 वाले) ।
 प्रामोद्य । २५ (= प्रमोद), ६३ (= खुशी) ।
 प्रासादिक । ५५३ (= सुन्दर) ।
 प्राप्ति-विहार । ८०, ३७७ (= सुखपूर्वक
 विहरना) ।
 प्रियजातिक । ३५८ (= प्रिय-उत्पन्न) ।
 प्रीति । २५ (= संतोष), २४९ (= प्रमोद),
 ४१८ (= आनन्द), ४६६ (= हर्षका
 सारे शरीर और चित्त पर प्रभाव) ।
 प्रीति-संबोधन । ५९३ ।
 प्रीतिमुख । ३२८ (= प्रसन्नताका मुख) ।
 प्रेत्य-विषय । ४७ (= प्रेत) ।
 प्रेमलीय । ५१७ (= हृदयंगम) ।
 प्रदक्षिण-ग्राही । ६१ (= उत्साही) ।
 प्रदाश (= पलास) । १२, २४ (= निष्ठुरता) ।

प्रदाशी । ६२ (= निष्ठुर) ।
 प्रधान । ६५ (= रङ्ग उद्योग), १४६ (= साधन),
 २०८ (= समाधि), ३४६, ३५१ (=
 निर्वाण साधन), ३९८ (= प्रयत्न),
 ४२२ (= ध्यान तत्परता), ४२८ ।
 प्रचानात्म । २०८ (= समाहित-चित्त) ।
 प्रपात । १२५ (= कण्ड) ।
 प्रप्रजित । ३४२ (= संस्थापित) ।
 प्रप्रज्या । २३३ (= संन्यास) ।
 प्रभव । ४३ (= उत्पत्ति) ।
 प्रभूत-जिह्व । ३७५ (= लम्बी जीभवाले) ।
 प्रमाण । अ—१०८ ।
 प्रमाद । २०७ (= आलस्य, भूल), ४५१ (=
 गफलत) ।
 प्रमादस्थान । ३२७ (= लघोली बीज) ।
 प्रमोद । १३४ (= सुखी) ।
 प्रलोप । ४९० (= शोर-गुल) ।
 प्रलोक । २५५ (= नाशमान) ।
 प्रवण । १८१ (= झुका) ।
 प्रवाद । १८८ (= मत) ।
 प्रविचयन । ४९२ (= प्रीतिमान) ।
 प्रवेदित । ४४१ (= जाना गया) ।
 प्रवक्ता । ४१५ (= सम्पापक) ।
 प्रवचन । २८३ (= उपदेश) ।
 प्रवण । ५०५ (= विवेक) ।
 प्रवाद । ४१ (= मत) ।
 प्रवारित । ५९१ (= तुष्ट) ।
 प्रविधिक । ९४ (= एकान्त-चिन्तन-शील) ।
 प्रविवेक । ४९ (= एकांतसेवन, अक्षय्यदा
 जंग), (देखो विवेक भी) ।
 प्रवेदित । ३६६ (= अनुभव गम्य), ४२
 (= जाना गया) ।
 परति । ४३६ (= पकड़ती है, पंजाबी कदना) ।
 फलंग । ८० (= सखनटा) ।
 फलु । १२१ (= हीर और छिलकेके बीचका
 काष्ठ, गुदा) ।
 फणित । १८८ (= झंड) ।
 फेगु । २५५ (= गुदा) ।

बडिसमंसिका । ५५, ५९ (= दंड) ।
 बण्य । अ—३०१ (= कूटस्थ) ।
 बन्धनागार । १६३ ।
 बन्धनागारिक । २०७ (= जेलर) ।
 बंधुवीषक । ३१० (= वैडहलका फूल) ।
 बन्धु-रोग । ३९५, (= कुल-रोग) ।
 बम्भन । २४० (= विन्दा) ।
 बल । ३०९ (पाँच), ४११, ४४२, ४९१ ।
 बलता । १९३ (= सामर्थ्य) ।
 बलाहक । ५३६ ।
 बलि । ५०१ (= शिकन) ।
 बलि-त्वक्ता । ३२ (= झुरी चरना) ।
 बहुकरणोय । ३५५ (= बहुत कामवाला) ।
 बहुकार । ३९८ (= उपकारी) ।
 बहुधातुक । ४८२ ।
 बहुलीकरण । ४९१ (= नाचना), ५९३
 (= अभ्यास) ।
 बहुश्रुत । २६०, ४०२ ।
 बाल । ३३७ (= मूर्ख), ५२७ (= बच्चा) ।
 बालधर्म । ८९ (= बच्चोंकी सी बात) ।
 बालभूमि । ५३५ ।
 बाहुलिक । १०८ (बहुत जमा करनेवाले) ।
 बिनयधर । ४०२ (= मित्रबन्धि नियमोंका
 जानकार) ।
 बिच । ३३३ (= आकार) ।
 बिर्लग-भालिक । (राजदंड) ५४, ५९ ।
 बीज । २६८ ।
 बुद्ध । २४ (= जानी), ३०८ (= सारे धर्मोंका
 पारंगत) ।
 बुद्धका अनुस्मरण । २४ ।
 वृत्तमूल । ६०९ (= वृक्षके नीचेकी भूमि) ।
 बुद्धफल । १००, ४९९ ।
 बोधि । २११, ३५१ (= परम ज्ञान), ३६९
 (= बुद्धिमान) ।
 बोधि । सं—२३ (= परमज्ञान) ।
 बोधि पाथिक । ४३८ ।
 बोधिसत्त्व । १३ टि०, (= आगे चलकर बुद्ध
 होनेवाला) ।

बोधधर्म । (देवी सम्बोधन मी), ३९ दि०,
(सात), ३०९, ४३८, ४४२, ४९१, ४९२ ।
ब्रह्मकार्यिक देवता । ११९, १७० ।
ब्रह्मचक्र । ४५ (= धर्मचक्र) ।
ब्रह्मचर्य । ४८ (के चतुर्ग), ३०० (= साधु-
वन) ।
ब्रह्मचर्य-वास । ३०० (= संन्यास), ३०२
(= पंथ), ४१५ ।
ब्रह्मचर्यका अन्त । २६ (= निर्वाण) ।
ब्रह्मचर्य-वास । २५१ (= शिष्यता) ।
ब्रह्मभूत । ७१, २०६ (= विमुक्त), ३८४ ।
ब्रह्मा । १९४ (= ईश्वर, अभिभू = विजेता,
कर्ता, निर्माता, भूत-मध्य प्राणियोंके पिता),
४९९ ।
ब्राह्म-अनु-गात्र । ३०५ (= सम्ये ऋषिदिग
शरीरवाले) ।
ब्राह्मण । २४७ (= सन्त), १६४, ३२३,
३७८ ।
ब्रीहि । ३६ (= घान) ।
भरकरत्त । ५४३ (= अकेले अन्धोंमें अनुरक्त) ।
भद्र । ३६७, (= सुन्दर) ।
भद्रक । ५३६ (= बर्षिया) ।
भद्रमुख । ४२१ ।
भद्रक-रत्त । ५४३ ।
भज्य । ४८९ (= मन्त्र) ।
भङ्गन । ४४१ (= कलह) ।
भन्ते । ३२९ (= स्वामी), ४०६ ।
भय । २६८ (= कतरा) ।
भव-भौरव । १३ (= भव और मौकाला, भूत-
प्रेत) ।
भव-भोग । ६८ (= मयपूर्ण भोग) ।
भव । ३१ (= जन्म), ४२ (= संसार), १०५
(= लोक), १०९ (= जन्म-तृष्णा),
२४३ (= जन्मभरण), ५७५ (=
वर्तपति) ।
भव-ध्यातव्य । ७ (= जन्मनेकी इच्छारूपी
मल), १६, ५०२ ।
भवनिरोध । २४३ (= जन्मभरणका अन्त) ।

भव-राग । ३८ (= आवागमन-प्रेम) ।
भव-समुद्भूत । १०६ (= भवसे उत्पन्न) ।
भव-संयोजन । २७४, ५३९ (= भवबन्धन) ।
भवती । २२९ (= आप) ।
भव्य-चित्त । ३७९ (= सुदु-चित्त) ।
भव्या । ८३ (= साल) ।
भावता । ९ (= चिन्तन, ध्यान), २७०
(= ध्यान), २८६ (= लेखन), ४८६,
(= सम्भाषण), ३१६, ४८६ ।
भावित-काय । १४५ (= शरीरकी साधना
विषये की है) ।
भावित-चित्त । १४५ (= चित्तकी साधना
विषये की है) ।
भिज । ११३ (= फूटे) ।
भुन-भू । २९२ ।
भूत । २३२-३ (= भूत-प्रेत), ३१ (= प्राणी),
११३ (= यथार्थ), २३५ (= सच =
तथ्य) ।
भूत । अ-२७९ (= असत्य) ।
भूत । अ- (= असत्य) २३५, २७९ ।
भूत-महा-१३३ (= पृथ्वी, वायु, जल, तेज) ।
भूत-ग्राम । १३९ (= प्राणि-समुदाय) ।
भूमि वासी देवता । १२९ ।
भूरि । २३० (= बहुत) ।
भृङ्गार । ५३५ (= शरीर) ।
भेद । ३२ (= विभोग) ।
भेरी । ५१८ ।
भैषज्य । २९४ (= चिकित्सा), ३४२ (=
दवा) ।
भो । ३५३ (= जी) ।
भोग । ८६ (= देह), ४०९ ।
भोगवान् । १६३ ।
भोज राजा । ३८३ (= मांडलिक राजा) ।
भ्रमकार । ३५ (= खरादकार) ।
सर्वज्ञता पटिपदा ५७० (= सम्यक् मार्ग) ।
सगिका । ४९६ (= मलका) ।
मत्सरी । ४४२ ।
मत्स्य-धातक । २०७ ।

मधु-पिंड । ३३ (= कण्डू) ।

मध्यमा प्रतिपद् । १२ (= बीचका भाग, विलार पूर्वक) ।

मन दराह । २२२ ।

मनस्कार । १७५ (= मूलपर विचार करना) ।

मनःसंचेतना । १५४ (= मनसे विषयका क्याल करके तृप्ति लाभ करना) ।

मनसिकार । ३३ (= मनपर संस्कार) ।

गनसिकार । प्रतिकूल—३६ टि० ।

जनसिकार धातु । ३६ टि० ।

मनसिकरणीय । ६ (= मनमें धारण करने योग्य) ।

मनाप । ३३१ (= प्रिय) ।

मनापचारी । ३४० (= मनके अनुकूल करने वाला) ।

मनोपविचार । ५६० (= मन-उपविचार), ५७३ ।

मनोपशोष । ३८१ (= मानसिक दुर्भाव) ।

मनोभावनीय । ५८३ (= भावनामें तत्पर) ।

मन्द-दृष्टि । ४३९ (= मन्दबुद्धि) ।

मंत्र । (= वेद) ३२३, ४२५ ।

मंत्र-अध्यायक । १६९ (= वेद-पाठी) ।

मंत्रणा । २२६ (= वाद) ।

मंत्र-पद । ३९६ (= वेद), ४१५ (= वेद-वचन) ।

मरनेके बादकी कल्पना करनेवाला । ४३५ ।

मर्षी । १६५ (= आत्मर्ष = क्षमरक्ष), ४४२ ।

मलिनधर्म । १८९ (= पाप) ।

महद्गुण । २३ (= विशाल), ३७ (= महा परिमाण) ।

महद्गुणता चेतोविमुक्ति । ५२४ ।

महद्विक । ३११ (= तेजस्वी), २८८ (= महा-सुभाव), २८८ (= जदि-प्राप्त) ।

महद्विकता । ३७९ (= दिव्य शक्ति) ।

महलक । ३०० (= बृद्ध) ।

महा-क्षोभ । ३५६ (= बड़ी बात) ।

महानिरय । ५३४ (= महाभय), ५४० ।

महापुरुष । ३७८ ।

महापुरुष-लक्षण । ३२३, ३७३ (= सामुद्रिक शास्त्र) । ३७४, ३८२ (= सामुद्रिक शास्त्र), ३८६, ४२१ ।

महामृत । ४३३ (= पृथ्वी+जल+तेज+वायु) ।

महामात्य । ४५८ (= महामंत्री) ।

महानृसिंह । २२ (= महाफल) ।

महाशब्द । ३२१, ३५४ (= कोलाहल) ।

महाशाल । ४९८ (= महाधनी) ।

महिषी । २०० (= यटरानी) ।

महेशास्त्र । ५५३ ।

महेशस्त्र । ५१० (= महाप्रतापी) ।

माणव । ४२१ (= तरुण ब्राह्मण वंशज) ।

माणविका । २२९ (= तरुण ब्राह्मणी) ।

मातंग । ५२८ (= नाग) ।

मातृ-वाम । ५१३ (= स्त्रियाँ) ।

मात्रराः । २०८ (= कुल भावना) ।

मात्रा । २७३ (= परिमाण), ४५३ (परिमाण) ।

मात्रिका । ४३९ ।

मात्रिका-धर । १३४ ।

मात्सर्य । (= कंदूली) १२, २४ ।

मान । ३९ टि० (= अभिमान), ५७६ (मन्यता), १५९ (= मन, सेर आदि लौला) ।

मानसिक । ४६९ (= मनमें करना) ।

मानाऽभिसमय । ९ (= अभिमानका दर्शन) ।

माया । १२ (= धोखा देना), २४ (= धंजना) ।

मार । ५३ (= प्रजापति देवता), १३६, १३७, १९० (= पापी), ३८४ (= रागादि शत्रु), ४७८ (= प्रजापति), ५३, १९०, ४८१ ।

मारुत । २५२ (= मरुता) ।

मार्ग । ३७९ ।

मार्ग-अमार्ग-ज्ञानका दर्शन । ९५ (= समझ, साक्षात्कार) ।

मार्गविक । २०७ (= बृहत् करनेवाला) ।

मार्गारुयायी । ४५४ (= मार्ग बतलानेवाला) ।

मार्ष । १९४ ।

मालुव । १८४ (= लता) ।
 मांसपेशी । ८४, ९२ (= मांसका टुकड़ा) ।
 मित्र । ३३१ (= सहायक) ।
 मित्र-धामात्य । ४०५ (= पार दोल) ।
 मिथ्या । २८४ (= झूठी धारणा) ।
 मिथ्या-ध्यात्रीव । २८ (= अनुचित रीतिसे
 रोजी कमनेवाला) ।
 मिथ्याकर्मन्त । ४८७ (= अनुचित कर्म) ।
 मिथ्याचार । ३४१ (= दुष्टाचार) ।
 मिथ्या-दृष्टि । १५ (= मिथ्या मत रखने-
 वाले) । १६९, १८७ (= झूठी धारणा-
 वाला), २३१, ४०१ ।
 मिथ्या-प्रतिपदा । ५६८ (= झूठा मार्ग) ।
 मिथ्या प्रतिपन्न । ५६८ (= मिथ्या मार्गपर
 चलना) ।
 मिथ्या-मार्ग । ४३ ।
 मिथ्यावादी । १६९ ।
 मोठ-मुख । २६५ (= काम-मुख), २६५ (=
 विषय मुख) ।
 मीमांसक । ३०२ (= तार्किक) ।
 मुक्ताचार । ४८ (= धर्ममग्न) ।
 मुख । ३८४ (= मुख) ।
 मुख्याधान । २६१ (= लगाम लगाना आदि) ।
 मुडोलो । ३९ (= बेहरी) ।
 मुदिता । १६६, १७७, २२३, २४९ (= मुन्नी
 देख प्रसन्न होना), ५२४ ।
 मुदिता-भावना । २५, ४९१ ।
 मुद्रा । ५४ ।
 मुनि । ३७८, (= जो पूर्व जन्मको जानता है,
 स्वर्ग-नरकको जानता है, और जो जन्मके
 क्षणको प्राप्त है) ।
 मुषित-स्मृति । ४६३ (= बेहोश) ।
 मुहूर्त । ३६१ (= मिनट) ।
 मुह । ४४३ (= बेहोश) ।
 मूत्रकरीष । ५० (= मूत्र) ।
 मूर्धित । १०० (= बैसुब), १०९ (गल),
 ४३० (= हुवा), ४३० (= बेहोश) ।
 मूर्धा । ३४८ (= सिर) ।

मूर्धाभिषिक्त । ५१ ।
 मूलगंध । ४५४ (= जड़ोंमें होनेवाले सुगन्धित
 द्रव्य) ।
 मृग-दाव । १०७ ।
 मृद । १४ (= मानसिक बालक) १६ ।
 मेरय । ४९ (= कबो संराध) ।
 मैत्री । १६६, १७७, २४९ (= सबको मित्र
 समझना) ५२४ ।
 मैत्रीभावना । २५, ४९१ ।
 मैत्रीविहारी । २२० (तदा सपको मित्र भावसे
 देखनेवाला) ।
 मोक्षचिक । १५७ (= मुँहका छद्दु) ।
 मोघ । ५५५ (= निष्फल) ।
 मोघपुरुष । ४४ (= फवुलका आदमी) ४४,
 २५२, ४६२, ८५ (= मोघिया), २७८
 (= बालापक) ।
 मोमुह । ३०२ (= अतिमुह) ।
 मोषधर्मा । ५७५ (= लालचान) ।
 मोह । ४७१ ।
 मौलि । १८४ (जवा) ।
 म्रच्छ । (= अमरत्व) । १२, २४ ।
 यज्ञ । १२९ (देवता), २३० (= पूजनीय) ।
 यजन । ३८४ (= पूजा) ।
 यज्ञ । १४८ (= देव) ।
 यज्ञसे मुक्ति । ५१ ।
 यथाकाम । १२७ (= मीजसे), ५२८ ।
 यथाभूत । ३१ (= जैसा है वैसा), ५५
 (= उसके स्वरूपको यथावस्थे), १२२
 (= यथावस्थे) ।
 यद्भूयसिक । ४४३ ।
 याचित्तकोपम । ८४ (= मंगनीके शाश्वतणके
 समान) ।
 यातना । ५४१ (= कर्म-कारणा) ।
 यान । ५३६ (= खारी) ।
 यापनीय । ५२८ (= अच्छी गुजरती) ।
 याम देवता । १२९, ४९८ ।
 युगमात्र । ३७५ (= चार हाथ) ।
 युगाधान । २६३ (= जुना लोचना) ।

मुद्राचार्य । १९३ (= रविवार)

योग । २८२ (= संबंध) ।

योग-वेम । ४ (= कल्याणकारी पद), ६२

(= निवास), १०३ २०८, २१२, २७७,

४५३, (= संवत्समय), १४८ (= कल्याण),

४५३ (= चित्त-मल-विमुक्त) ।

योनि । ४६ (= स्त्री), ३०१ ।

योनिशः । ५२१ (= कार्य-कारणको ज्ञान करके) ।

योनिशः मनसि कार । ६ (= ठीकसे मनमें धारण करना) ।

रक्तज्ञ । १३३ (= चतुराक) ।

रज । ६४ (= रंग) ।

रजक-पुत्र । २२९ (= रंगरेजका पुत्र) ।

रजत । २१५ (= चाँदी) ।

रजोजल्लिक । १६५ (= कीचड़वासी साधु) ।

रति । ४-२२ (= उपाट) ।

रत्न । ५३५ ।

रथक । १२८ (= बिलीमेडी गाड़ी) ।

रथकार । ५३५, ३२८ ।

रथ-विनीत । ९७ (= ड्राक), (= रथकी डाक) ।

रथ्या । ५३२ (= सड़क) ।

रन्धक । १०२ (= रन्धक) ।

रम्भक वाह्याण । १०२ ।

रव । ४४४ (= प्रमाद) ।

रवार्थ । २६१ (= दिनदिनानेकी गिज्ञत) ।

रस । ४३६ ।

रसमा-सगमी । ३०५ (= सुन्दर शिवाओं वाले) ।

राजगुण । २६१ (= पद्मगिता) ।

राजन्थ । ३८८ (= राजसंतान) ।

राज-पोरिस । ५४ (= राजाकी बीकरी), ५८ (= बीकरी) ।

राजवंश बखिन्व । २६१ (= एक गीत) ।

रात्रिजभाव । २६० (= चिरकालसे अवस्थिति) ।

राहुमुख । ५५ (दंड), ५९१ ।

राष्ट्रपिण्ड । ५१३ ।

रिक्त । १९६ (= खाली, निरर्थक), २५८ (= तुच्छ), ३२४ ।

रुद्राचार । ७२ (महाचर्यका धर्म) ।

रुद्राचारी । ४८, ४९ (महाचर्यका धर्म) ।

रुचि । ३८३ (= कान्ति), ४२८ ।

रुद्र । ६० (= भयंकर) ।

रूप । (= Matter) ३३, ८७, ४६७, ५४४,

८२ (= चित्र), १९९ (= मूर्ति = शरीर),

२९७, ४६०, ४६१ (= पृथिवी + जल +

तेज + वायु), ५०४ (= पदार्थ) ।

रूपवान् । ५४४ (= Material) ।

रूपसंज्ञा । २८३ (= रूपके नामसे) ।

रूपसंज्ञा । ३०९ (= रूपके ज्ञातवाला) ।

रूपी । ४३३ ।

सत्तुण । १३३ (= चिह्न), १३३ (= कारण) ।

सत्पु-उत्थान । ३७४ (= शरीरकी कार्यक्षमता),

३६८ (= फुर्ती) ।

सदुक्तिका । २६३ (= गौरव्या) ।

सपना । ४८८ (= बात प्रमाणा) ।

सय । (= निरुद्ध) ।

सयन । १४० (= आश्रय-स्थान) ।

ससिका । ११८ (= कर्ण-माल) ।

सामी । २२०, २२१ (= पानेवाला) ।

लोक । ३३५ (= संसार) ।

लोक-धातु ४८१ (= लोक) ५११ ।

लोकामिष । ५६१ (लौकिक मोम) ।

लोकायत । ३८६ ।

लोकायत-शास्त्र । ४२१, ३७३ (= साधुद्विक शास्त्र), ४२१ ।

लोमहर्षण-पर्याप्त । ५२ ।

लोह । ५३४ (= लोह) ।

लोह-कुम्भी । ५३४ ।

लोहित । २४, ३१० (= लाल), १५० (= लून) ।

लोहित-पाणि । १६८, ३५७, ४७५, ५५३ (=

लून रंगे हाथोंवाला) ।

वचन-दण्ड । २२२ ।

वचन-पद । ८२ (= वचन कहनेके मार्ग) ।

वचन-संस्कार । १८१ ।

बट्टनामकी । ५० (= रस्सीकी छेड़), ३२८
 (= पाँती) ।
 बत्स-दन्त । २५२ (= बछ्मके दाँतकी तरह) ।
 बद्य । ४५२ (= दोष) ।
 बन्-कर्मिक । ४९ (= बन्में काम करनेवाला) ।
 बन्पत्न-परियाय । ६८ (= नामक उपदेश) ।
 बन्प्रस्थ । ६८ (= जंगल) ।
 बर्षित । ३८६ (= मुण्डित) ।
 बयः ग्राम । ५१ (= हृद) ।
 बर्ण । २३० (= गुण), १३३ (= रूप),
 ३१९ (= रङ्ग), ३२० (= तारीफ),
 ३६२ (प्रशंसा) ।
 बर्णवान् । १४८ (सुन्दरर्ण), ९८ (= सुन्दर) ।
 वर्णित । ४५८ (प्रशंसित) ।
 बर्त्स । ३३८ (= मारने) ।
 वर्पाकालिक । २९३ ।
 वर्षिका । ४५४ (= बूही) ।
 वरावर्ती । १०० ।
 वरित्व-प्राप्त ४६० (= अधिकार प्राप्त) ।
 वसा । ३६, ११८ (= घर्ष) ।
 वस्तिगुह्य । ३३८ ।
 वस्त्रा । ४११ (= मृणा रूपी रस्सी) ।
 वस्त । ४८९ (= वर्ष) ।
 वाचिक अधर्माचरण । १६९ ।
 वाण-व्यस्त्र । ५३ ।
 वाणिज्य । ५४, ४१५ ।
 वाद । ५० (= मत), १११ (= शास्त्रार्थ),
 १९० (= सिद्धान्त), ३०० (= दृष्टि),
 ३००, ४२९, ४५४ (= मत) ।
 वाद-प्रतिहार । ४२८ (= उत्तर) ।
 वादानुवाद । ३६९ (= कथन) ।
 वामको । ११२ (= बेंवनी) ।
 वायु-वातु । ५३४ ।
 वाराणसी । १०७ ।
 बाहुलिक । ४५४ (= घटोक्त) ।
 विकाल । ११३, १५९ (= रातको उपरत
 = विकाल = मध्याह्नोपर), २६३
 (= अपराह्न) ।

विशेषिकवाद । ४३५ ।
 विघात । ५३ (= दोष), २३६, २८१ (= पीडा),
 ५६६ (= प्रतिहिंसा) ।
 विघातगर्भा । ३५५ (= भरे गर्भवाली) ।
 विघातपक्षिक । ३४ (= हानिके पक्षका) ।
 विचार । १०५, ४६६ (= सूक्ष्मावस्था) ।
 विचिकित्स । ४५४ (= संशयावस्था) ।
 विचिकित्सा । (= संशय, सन्देह), ८, ३८,
 ९३, ११४, १६०, १०५, १९२, २५४, २७१,
 ४१७, ४५८, ५३०, ६६ (= ८ कांक्षा) ।
 विचिकित्सी । १४ (= संशयालु) ।
 विचीर्ण । अ— ३०६ (= न किया) ।
 विजनवात । ४५८ (= आवर्गियोंकी) ।
 विजित । ४२० (= राज्य) ।
 विज्ञ । ३४५ (= जानकार) ।
 विज्ञात । ३, ४ (= जाना गया) ।
 विज्ञातव्य । ५८६ (= जानने योग्य) ।
 विज्ञान । ४३, १५५, १०३, १०४, २९७, ४६० (=
 चेतना), १५१, १५४, ३०९, ३११, ४५०
 (= जीवन), ४५१ (= चित्त-प्रवाह),
 ५४७, ५४८, ५६४, ५८३ (= चित्त) ।
 विज्ञान-आनन्त-आचयन । ४६०, ४७३ ।
 विज्ञान-काय । ३३ (छः), ५९७ ।
 विज्ञान-कृत्स्न । ३१० (= चेतनाग्रय) ।
 विज्ञान-धातु । ५७४ ।
 विज्ञान-संस्करण । १५१ (= जन्म-मरणमें
 जाना) ।
 विज्ञानस्कन्ध । ४६१ ।
 विज्ञानानन्त्यायतन । ३ (= अनन्त विज्ञान-
 वाला स्थान), २८ (शान्तविहार), १७०,
 ४९९, ५०२ (= अनन्त-रहित-विज्ञानके आय-
 तन), ५६२, ५७५ ।
 विज्ञापन । ७६ (समझाना) ।
 विज्ञेय । ५८ (= जानने योग्य) ।
 वितर्क । ९, ७७-७९ (= ब्याज), १०५, ४६६
 (= चिन्मयी स्फूर्तावस्था) ।
 वित्त । ५७० ।
 वित्त-उपकरण । १६९ (= धन सामान) ।

विद्या । १५, १३, ११५, २१२, ३५० (गीत),
४१३ ।

विद्वसु । ४२ (= ज्ञानी) ।

विद्वसु । अ-४२ (= ज्ञ-ज्ञानी) ।

विधुर । १९८ (= अ-समान) ।

विनय । ४३९ ।

विनय । अ- (= अनीति) ।

विनय । धर-१३७ ।

विनयन । ५१८ (= शिष्टण) ।

विनामन । ३७५ (= द्विजाना) ।

विनायक । ३५१ (= नेता) ।

विनाश । ११३ (= समारम्भ) ।

विनिपात । ४० (= दुर्गति), ५९, १८२, ४८१
(= निरय = मर्क), २४० (= पतन),
३६ (= मोचे गिरनेवाले) ।

विनिपातिक । २३३ (= बीच ओंजिके प्रणी) ।

विनीत । अ-३, १८० (= न पहुँचे), ३३६,
(= विनय-युक्त) ।

विनोदन । ३, ९ (= हटाना) ।

विन्दु । ३७६ (= सारयुक्त) ।

विपरिणत । ५६१ (= विकार-प्राप्त), ५६६
(= चिह्न) ।

विपरिणाम । ५६, ५६६ (= विकार) ।

विपरिणामधर्मा । ७, ८९, ४६२ (= परिवर्तन-
शील) ।

विपरिणामधर्मा । अ-८० (= निर्विकार) ।

विपरयना २२ (= प्रज्ञा), १३१ (= सञ्ज्ञा-
कार करना), १७५ (= अन्तर-ज्ञान),
२८६ (= ज्ञान), २८६-६०६ (= प्रज्ञा),
६०२ ।

विपाक । २२५ (कल), २३२ (= ठुरे परि-
णाम), ३४३ (= भोग) ।

विप्रतिपन्न । २०८ (= अमर्त्यरूप) ।

विप्रतिसार । २५७ (= उदासी) ।

विभज्यवादी । ४१४ (= विभज्यवाद) ।

विभव । ३१ (= जन), ४२ (= अ-संसार),
५७५ (= विनाश) ।

विभाजन । ५०८ (= विवरण) ।

विभंग । ५७३ (= विमान) ।

विमति । ५९३, ५९० (= ज्ञम) ।

विमर्ष । ४४ (= चिन्त) ।

विमर्शक । ३०२ (= तार्किक), ४७९ (=
पण्डित), ४७९ (= श्रीमान्), ४२२
(= तार्किक) ।

विमल । ५९२ ।

विमुक्ति । २३, ९०, १००, १४२, १५८, २०८ (=
मुक्ति), २८० (= जही), ३१६ (=
वेतो), (= प्रज्ञा), ४५७ (= मुक्ति),
(देखो मुक्ति) ।

विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न । ९७ (= मुक्तिके
ज्ञानका साक्षात्कार जिससे कर लिया) ।

विमोक्ष । २२ (= मुक्ति), ४५, ३०९ (आठ),
२०१ (= ध्यान), ४३० (= मोक्ष, मुक्ति)
५६२ ।

विरक्त । १९५ (व्यक्त) ।

विरज । ५९३ (= निर्मल धर्म-वस्तु), ५९६,
(= निर्मल) ।

विराग । ४६९ (रागके अयोग्य) ।

विरुद्धि । ४३४ (= वृद्धि) ।

विलिप्त । ५९२ ।

विलेपन । ३६० (= उषटन) ।

विवर । ३०१ (= खाली जगह) ।

विवरण । १६३ (= प्रकट करना, उजादीकरण
करता है) ।

विवर्त । ११५ (= सृष्टी) ।

विवर्त-कल्प । १५, ३१२ (सृष्टि-कल्प) ।

विवाद-अधिकरण । ४४२ ।

विवृत । १३७ (= खोला) ।

विवेक । ११-१६३ (= एकान्त-चिन्तन),
५०५ (एकाम्यता) ।

विवेक । अ-१३ (= एकान्त-रमण) ।

विवेकज । ३४९ (= एकान्तसे उत्पन्न) ।

विशाल । ८२ (= आग्रामाण) ।

विशुद्धि । ९० ।

विशेष । ५३ (= भेद), ३५१ (= निर्वाणपर) ।

विपर्ययता ४६६ (= दिलकी आँखसे देखना) ।

विषम । ४७ (= प्रतिकूल) ।

विसक्तिक । (= अनासक्त) ।

विचारि । अ-३७६ (= ज-कटु) ।

विमृष्ट (= विक्षिप्त) ।

वि-संयुक्त । ९० (= राग आदिसे विमुक्त),

५७५ (= विमुक्त) ।

विहार । ११ (= कुटी), ७१ (= कोठरी),

१३९ (= ध्यान प्रकार), १९८ (=

कोठरी), २०९ (= रहनेकी कोठरियाँ),

२३१ (= निवास), ३९१ (= कोठरी),

३९३ (= निवास-स्नान) ।

विहिंसा । ७४ (= हिंसा), २४९ (= पर-

पौका-करण-इच्छा) ।

विहिंसा-वितर्क । १२ (= हिंसाका ल्याल) ।

वीची । १३३ (= डगर) ।

वीर । १०४ (= उद्योग) ।

वीर्य । (= उद्योग) ९, १५, ११८, १७६, ३४८,

४६६, ३०० ।

वीर्यारम्भ । १०, ३१६ (= उद्योग) ।

वृक्ष फल समान । ८४ ।

वृक्षमूल । ५२५ (= वृक्ष कावा) ।

वृक्षमूलिक । १६५, २०७, ४७२ (= सदा वृक्ष के नीचे रहनेवाले) ।

वृषभ । १३३, १३६ (= साँव) ।

वृषज । ३८९ (= धूम्र) ।

वृहत्फल । १९५ ।

वेखणस । ३२३ (= वैखानस) ।

वेणु । ३८८ (= बसोर) ।

वेणुकार । ५३५ ।

वेदगु । १६४, ३७८ ।

वेदन । ४२, १७४, ५५५ (= अनुभव) ।

वेदन-काय । ५९७ ।

वेदना । ८ (= पीका), ३२ (= अनुभव,

महसूस करना, पृथक्ता), ३३ (= इन्द्रिय

और विषयके संयोगसे उत्पन्न मनपर

प्रथम प्रभाव) । ३५ टि० (तीन), ४७

(= घातना), १५४, १६२ (= मोम),

१७४, १८१, १८२, २११, २३७, २९०

(= अनुभव), ३७६ (= भोग), २९७,

४३०, ४६६ (= स्वयंसे वाद विषयके

संलग्नता जो सुख, दुःख आदि रूपमें

अनुभव), ५०६, ५११ (= अनुभव),

५७४, ५८३ (= इन्द्रिय और विषयके

संस्पर्श होनेपर जो मनकी दुःखमय,

सुखमय या अनुःस-अनुसमय अवस्था होती

है, कहते हैं) ५९२ ।

वेदना-काय । ५९७ ।

वेदानुपरयना । ३७ टि० ।

वेदनोप । १७६ (= अनुभवका विषय), ४२९

(= भोगा जानेवाला), ४२९ (= भोगाते

वाला) ।

वेदानुपरवी । ४९२ ।

वेदित-निरोध । १७६ ।

वेदी । २०७ । (= बहिष्प) ।

वेस्स । २५२ (= वैश्य) ।

वैदल्य । ८६ (बुद्धोपदेश) ।

वैदूर्यमणि । ३११, ४९९, ५१० (= हीरा) ।

वैनयिक । ९० (= बिना या 'नदी' के वाद को माननेवाला) ।

वैपुल्य । ४३४ ।

वैमत्य । ४९० (= वैमत्तता) ।

वैयाकरण । ३८६, ४२१ ।

वैशारद्य । ४५, ४६ (= विशारदपना, चार) ।

वैशारद्य-प्राप्त । २२१ (= समर्थ), ३७९ (= निपुण) ।

वैश्य । ३२३ ।

वैकक । १५७ (= वैका) ।

वैचक । १६५ (= मायावी) ।

व्रण । १३३, ४२८ (= घाव) ।

व्रण-मुख । ४४७ (= घाव) ।

व्रत । ५४, ५५ ।

व्रतोंके भेद । १९ ।

व्यक्त । ३४०, ५३७ (= ध्वजित) ।

व्यक्त । अ—३९२ (= सूख) ।
 व्यक्तता । ४२० (= प्रज्ञा) ।
 व्यंजन । ३२४, ३९५ (= तियन) ।
 ३०० (= सरकारी), ३५७ ।
 व्यतिक्रम । ४५६ (= त्रसूर) ५२६ ।
 व्यय । ३६, ३८ (= कर्म, विनाश) ।
 व्यर्पणा । ४८७ (= तन्मयता) ।
 व्यवकीर्ण । ३२१ (= शिथिल) ।
 व्यवदान । ४५ (= निर्मल करना) ।
 व्यवदानपत्र । २४० (= शुद्धता) ।
 व्यवसर्ग । ४९३ (= त्याग) ।
 व्यवहार । २१५ (= व्यापार, बालिज्य) ।
 व्यवहार-उच्छेद । २१५ ।
 व्यवसन । ४३४ (= क्षय) ।
 व्याकरण । ८६ (= सुबोधन), ५०६,
 ५९६, ६०० (= उपदेश) ।
 व्याकृत । २५३ (= कवित; कवनके विषय) ।
 व्याकृत । अ—२५१ (= अक्षप्रतीक), २५३
 (= बचनके अविषय) ।
 व्याख्यात । ५४७ (= विमान) ।
 व्यापन्न । २८ (= हितक) ।
 व्यापन्न । अ—१०० ।
 व्यापन्नचित्त । १६५, १६९, १८७, ४०६
 (= द्वेषी) ।
 व्यापाद । ३०, १९९ (= प्रतिहिता), ३८,
 ११४, १६०, १६५, १७५, १९२, २४८
 (= शोध), ९३ (= घर पीडा करना),
 १३३, २३२ (= परपीडा), २४९, ३१६,
 ४०२, ४१६, ४३१, ४३७, ४४९, ४५८,
 ४७७, ५१२, ५५६ (= द्वेष), २५४
 (= उत्पीडनेच्छा), २८४ (= पीडा),
 ४७६ ।
 व्यापादवान् । २२१ (= द्वेषी, उत्पीडक) ।
 व्यापाद-वितर्क । ३ (शोधका व्याज) ।
 व्यापादी । अ—८९ (= शोधरहित) ।
 व्यापाथ । स—३६२ (= हितायुक्त) ।
 व्यावाचा । ५५ (= पीडा पहुँचाना) ।
 व्यायाम । २८, ४८७ (= प्रयत्न) ।

शकलिका । ४०२ (= पैली) ।
 शक्ति । २३८, ५१८, ५२७ (= हथियार), ५३३
 (= कौश) ।
 शक्तिराली । १९५ (= मोहसमल) ।
 शकुनि । ३११ (= पक्षी) ।
 शंकु । ५४१ (= शंकु) ।
 शंख । ५१८ ।
 शंखधमक । ३११ (शंख बजानेवाला) ।
 शंखमुष्टिका । ५५, (= बंद) ।
 शंखमूर्धिका । ५९ ।
 शंखलिखित । ३३० (= किले शंखकी तरह
 निर्मल होत) ।
 शठ । ३२४, ३६९ (= मायावी) ।
 शयन । ४४४ (= कलम) ।
 शब्द । ४१७ ।
 शमथ । १०५, २८६, ६०६ (= समधि), १९२
 (= शान्ति), ४४३ (= उपवास),
 ६०२ ।
 शमन । १६४ (= समन = श्रमण) ।
 शयनासन । ८ (= निवास शोध), १३
 (= कुटिया), १४, २२ (= वास्तव्यान),
 २५९, ५०७ (= निवास) ।
 शरण-गमन । १६ ।
 शरणागत । ३९३ ।
 शराव । ५७० ।
 शल्य । २५२, ४४७ (= वाणका फल), २९७,
 २९७ (= फर, काँटा) ।
 श्लोक । १२१ (= प्रशंसा) ।
 शस्यहार । ५८७ (आत्म-हत्या) ।
 शस्त्रहारक । ५८५, ५८९ (आत्महत्या करने-
 वाला) ।
 शिचापद । ५१८ (= मिथु नियम) ।
 शाकुन्तिक । २०७ ।
 शाक्य । १२ (= शठता) ।
 शान्त । २५९ (= तै), २७१ (सुख) ।
 शांतविहार । २०, २८ (बहुर-ध्यान) ।
 शान्ति । (= उपदेश) ।
 शाल । ८०, १८४, २८३, ३७० (= साम्) ।

शाली । ३२९ ।

शारवत । २८१ (= मित्य) ४३५ (= अनादि) ।

शारवत । अ— २८१ (= अमित्य) ।

शारवतवाद । ४३५ ।

शासन । ९७, ११८, २२४, ५६३ (= उपदेश),

१४२, ३८४, (= धर्म), २०८ (= धन),

२९१ (= कुलधर्म), ५०७ (= भारेण) ।

शासनकर । ८३, १४२ (= उपदेशानुसार

चलनेवाला), २८५ (= अववाद प्रतिकर),

२८५ (= धर्मानुसार चलनेवाला) ।

शास्ता । ५, १०, १९, २४, ९७, १५२, १५७, १९०,

२१३, ३८४ (= उपदेश, कुल), ११, १०७,

१५०, १९८, २२३, २७८, ४४२, ४५१, ५०२

(= गुरु), ६५ (= आचार्य), ३००

(= गुरु, पंच चलानेवाला) ।

शास्तान्ते-शासन । २५७ (= कुल धर्म) ।

शिक्षमाणा । ५१३ ।

शिक्षा । २५८, २९१ (= कलण), ४४२,

४५४ (= मिश्र-नियम) ।

शिक्षा-पद । ४५२, २६० (= मिश्र-नियम),

४५६ (= नियम), १२२ (= आचार-

नियम), २११ (= सदाचार-नियम),

२६०, ५१७ ।

शिरकटा ताड़ । २८३ ।

शिल्प । ५३, ३५० (= कला) ।

शिक्षुमार । ५३४ (= मगर) ।

शील । (= सदाचार) १२१, १०५, १९२, २११,

२५७, ४०१, ४४४ (= आधार), ४६७ ।

शीलवान् । (= सदाचारी) १२२, १९९, ३४२ ।

शीलविशुद्धि । ९५ (= आचार-शुद्धि) ।

शील-जल-पराभरी । (= शील और जलका

ब्याल) ८, ३८, ३९, ३५४ ।

शील-समय । ३१९ (= योद्धाभिजानी) ।

शील-सम्पन्न । ४५, ९४ (= सदाचारी) ।

शील-स्कन्ध । ३०७ (= आचार-समुदाय),

१५९ (= सदाचार-समुह) ।

शुचि । २४९ (= पवित्र वस्तु) ।

शुद्धावास । ५१ (= देवता) ।

शुभ । ११७ ।

शुभकीर्ण । १९५ ।

शुभकृत्स्न । ४९९ (= शुभकृत्स्न देवता), २३२ ।

शुभनिमित्त । १८ (= वस्तुके एक तरफा सौंदर्य

को और अधिक शुभाव ।

शुल । २३१ (= लच्छा) ।

शूकरिक । २०७ ।

शूद्र । ३९९ (= अज्ञाके पैरसे उत्पन्न) ।

शूत्री । ३२३ ।

शृंगाटक । २३४ (= खंसी) ।

शौच्य । ४ दि०, ४ (= जिसको अभी सोखनेको

घाकी है), २८६ (= अन् अर्हत),

(= किन्तु निर्वाण-मार्गपर रह आरुह) ।

शौच्य । अ— ४९, ३१७ (= अर्हत) ।

शौण्डिका । १३९ (= मट्टी) ।

शौण्डिका-किलंज । २२४ (= मट्टीके छन्दे) ।

शौण्डिक-कर्मकर । २२४ (= शराय बनाने

वाला) ।

श्मशान । ३७ दि० ।

श्मशानिक । ४७३ (= श्मशानमें रहनेवाला) ।

स्थामाक । १०० (= लवा) ।

श्रद्धानुसारी । २५८ ।

श्रद्धावान् । २३२, ३८२ (= प्रसन्न) ।

श्रद्धाविमुक्त । २५८ ।

श्रमण । ४१, १५७, २३६ (= संन्यासी),

महात्मा), ११२ (= प्रवर्जित), १६७,

२४७ (= मिश्र), ४४६ ।

श्रमण-प्रसाद । २१९ (= श्रमणोंके प्रति

प्रसन्नता) ।

श्रमण-भाव । २४५ (= साधुता), २६४

(= संन्यास होना) ।

श्रमण-सामीची प्रतिपदा । १६५ (= श्रमण

को सच करनेवाले भाग) ।

श्रमणोद्देश । ५१५ (= समणुद्देश) ।

श्रेय । ४०० (= हित), ४०५ (= अच्छा) ।

श्रवण-समीची-प्रतिपदा । १६६ ।

श्रामण्य । २० (= संन्यासका आदर्श), १६५

(= श्रमणता), १६५ (= साधुपन),

- ३००, ३०१ (= संन्यास), ३३७ (भिक्षु-पत्र), ४५४ (= भिक्षुके कर्तव्य) ।
 आभोगेरी । ५१३ ।
 आचक । १०, ११०, ११८, २१६, २७८, ३३६, ४४१ (= शिष्य) ।
 आचक-बुगल । ११८ (= शिष्योंकी बोली) ।
 आचक-संघ । २५ (= शिष्य-संघ) ।
 आचिका । २८५ (= शिष्या) ।
 श्रुत । ३ (= सुना), १०५ (= धर्मोपदेश-अवगण), ४०१ (= ज्ञान), ४१८ (= विद्या) ।
 श्रुतधर । ४५७ (= धर्मको धारण करनेवाला) ।
 श्रुतवान् । ८७ (= श्रावी), २९० (= बहुश्रुत) ।
 श्रुतवान् । अ-३ (= अज्ञ) ।
 श्रुतसंचयी । १३० (= सुनी शिक्षार्थीका संचय करनेवाला) ।
 श्रोत्र-आवधान । ३९९ (= काज लगाना) ।
 श्रोत्रिय । १६४, ३७८ ।
 श्लोष्मा । ११८ (= कफ) ।
 श्वश्रु । २९९ (= अगमनरूप) ।
 श्वास-रहित-ध्यान । १४६ ।
 यह आवयतन । ६३ (= चक्षु, श्रोत्र, ज्ञान, विद्या, काय और मन—यह छः इन्द्रिय), ४३, ४८७, १५९ ।
 सकणिकांग । ३१२ (= सर्वोप अंग) ।
 सकृद्वागामी । २३ (तीन संयोजकोंके प्रत्यसे) ।
 ९१ (= सकृद् = एक बार), १३७, ४९१ ।
 सकृद् एव । ३९९ (= एक बार) ।
 संकट । ३६० (= विपरिणाम) ।
 संकल्प । २६४, २४० (= कल्पना) ।
 संकार । १५३ (= कृपा) ।
 संकिन्ती । ७९ (= चेदा लगाकर घनाई) ।
 संकीर्ण-परिस्थ । ९० (काई बार) ।
 संक्षिप्त । अ-१०४ (= निर्मल) ।
 संक्षिप्तप्रभ । ५२४ ।
 संक्लेश । ४५ (= अल), १०३, ७५ (= मैल), १०६, २४० (= पाप, मल), ३०१ (= चित्तमाश्लिष्य) ।
 संक्लेशिक । १४७, ५०७ (= मलिन करनेवाला) ।
 संक्षिप्त । (= एकाग्र) २३, २८७ ।
 संसृति । २६३ (= सुन्दर पाक) ।
 संख्यान । ५४, ४५२ (= गणना) (Account) ।
 संख्या-समुदाचरण-प्रवृत्ति । ७२ (= ज्ञानके उपचारका जानना) ।
 संगणिका । ५०४ (= उभात-बंधी) ।
 संगति । ४२९ (= भावी) ।
 संग्रह । १९२ (= भेक) ।
 संघ । २६४ ।
 संघ-अनुस्मरण । २५ ।
 संघ-भेद । ४८३ (= संघमें फूट) ।
 संघाट । १२८ (= जाल) ।
 संघाटी । १६५ (= भिक्षु-वस्त्र), २१० (= भिक्षुकी ऊपरी दोहरी चदर), ३०७ (= भिक्षुका ऊपरी दोहरा वस्त्र) ।
 संघातक । १९२ (= समुह प्रधान) ।
 सच-वज्र । ३०१ (= सचापन) ।
 संज्ञानन । १७४ (= पहिचान) ।
 संजीवित । १९९ (= जोवित) ।
 संज्ञा । ३ (= होश), २७ (= विचार), ३३ (= वेदनाके अनन्तर मनकी अवस्था), ७० (= सोच) १७४, १८३, (= क्याल) २०९, २१०, २९७, ३१६, ४३४, ४६७, ४५०, (= होश), ४६० ४६६, (= संज्ञाबला, समझना), ५०६, २९५ (धारणा) ।
 संज्ञावेदित-निरोध । ११०, १२५, १७६ (= ज्ञान), १८१, १९९ (समाधि), २६६, ४६७ (= जित समाधिमें संज्ञा और वेदना का अभाव होता है), ४७४, ५६३ ।
 संज्ञी । ४३३ (= बाहोश), ४३४ (= चेतन) ।
 सज्जयतन । ६०१ (= छः आवयतन) ।
 सत्काय । १०९, २५४ (= आत्म-भाव) ४५१, ४३५ (= नित्य जाण्य मानना) ।
 सत्काय-दृष्टि । ८ (= कावाके भीतर एक नित्य आत्माकी सत्ताको मानना), ४६१ (= नित्य आत्माकी धारणा) ।
 सत्काय-निरोध । १०९ (= आत्माके क्यालका

नाच) ।
 सत्काय-निरोध-गामिनो प्रतिपद । १८० ।
 सत्काय-वाद । ५९८ ।
 सत्काय-वाद-खंडन । ५९९ ।
 सत्त्व । ५०५, २२७, ५०५ ।
 सत्यान-गृह । १९२ (= दार्मिक मानसिक-
 बालक) ।
 सत्यानुपत्ति । ३९८ (= सत्य प्राप्ति) ।
 सत्यानुरक्षा । ३९७ (= सत्यकी रक्षा) ।
 सत्त्व । (= प्राणी) ७, ४५, ५२, ३३६ (=
 व्यक्ति), १५७, ११५ (= जीव), ९०,
 ११५, ४३५ (= चेतन-सन्तति) ।
 सत्वप्रतिष्ठ । ५३९ (= बहादुर) ।
 संतुष्ट । ४९० (= सोमस) ।
 सत्त्व । २७२ (= समय) ।
 सद्-वार्थ । ४५३ (= निर्वाण) ।
 सद्धर्म । २११ (साठ) ।
 संदर्शित । २१० (= समादपित), ५४५ (=
 सुज्ञान) ।
 संवाकन । १५१ ।
 सत्प्रामन । ३०५ (= सुमान) ।
 सत्तिरात । १२० (= सत्तवाय), ५०१ (=
 जमावदा) ।
 संदान् । ४११ (= ६२ प्रकारके मतरूपी पगड़े) ।
 सपदान-चारी । ३०९ (= विरन्तर चलते रह,
 भीख मांगनेवाले) ।
 सप्पाय । ४३० (= अनुकूल), ४३७, ५८५,
 ४४७ (= पक्ष) ।
 संपन्न । २४ (परिपूर्ण) ।
 संपराय । ४२९ (= दूसरा जन्म) ।
 संपुटित । (= चिचुका) ५०, ३४८ ।
 संप्रजम्ब । ३६ टि०, ११४ (= जानकर करना)
 ११४, १५९, १६० (= होना) १६२, ४५३ ।
 संप्रज्ञान । १४ (= सूक्ष्म) ।
 संप्रताप । २८७ (= बकवाद) ।
 संप्रवारित । ३०९ (= संतर्पित) ।
 संप्रवेपित । १४९ (संप्रकम्पित = संकम्पित =
 कम्पित) ।

संप्रसाद । ४५०, ४६६ (= विषयमें वित्तका
 अल्प होना) ।
 संप्रसादन । ३४९ (= प्रसन्नता = वित्तकी
 एकाग्रता) ।
 संव्यासव । ६९ (= सारे आत्मा) ।
 सत्रज्ञाचारी । ९ (= एक जैसे वतपर आकर,
 गुरुनाई), १९ (= एकत्रतेके प्रती),
 १२२, १२७, १५०, २४६ (= गुरु भाई),
 १९१ (= सधर्म) ।
 संबुद्ध । सम्यक्-२४ (= परमज्ञानी) ।
 संबोध । ७४ (= बुद्धत्व-प्राप्ति), २१२ (परम-
 ज्ञान) ।
 संबोधि । १३ (= परमज्ञान), ३३९ (= बुद्ध-
 ज्ञान) ।
 संबोध्व्यंग । ९ (टिप्पणी भी देखो) ।
 संभव । ४४९ (= जगह) ।
 संभावना । ४६२ (= स्थान) ।
 समग्र । ११३ (एकता), ३६५ (= एकाग्र) ।
 समंगीभूत । ३३६ (= युक्त) ।
 समचर्या । ६०३ (= धर्माचरण) ।
 समनुमाजन । ४४३ (= परीक्षण) ।
 समन्वाहार । ११२ (= प्रवृत्तिकार-पूर्ण विषय-
 ज्ञान) ।
 समन्वेपण । १८९ (उहलीकात), १९० (=
 अन्वेषण) ।
 समय । २५८ (= काल) ।
 समवर्त-स्केय । ३७५ (= समान परिमाणके
 कंधेवाले) ।
 सम-विषम । (= बुरा, मला) ।
 सम-सम । ३४१ (= बराबर) ।
 समाचार । ३६२ (= आचरण), ३९८, ४७५
 (= कर्म) ।
 समादपित । ५४५ (= सुज्ञान) ।
 समाधि । ९ टि० (= चित्तकी एकाग्रता),
 ४६०, ६०२ ।
 समाधि-निमित्त । १४७ (= चित्त-एकाग्रताके
 आकार) ।
 समाधि-संबोध्व्यंग । ५९३ ।
 समापचि । ४६७, ५५५ (= समाधि) ।

समाहित । १ (= एकाग्र), १५, १६६, २७३ (= एकाग्र-चित्त), २८० (= समाधि-प्राप्त) ।

समुच्छिन्न । अ—६५ (= नकटे) ।

समुदय । (= उत्पत्ति) ३१, ३६, ३८, ३९, २९३, ३९७, ४३७, ५९८, ३९ (= कारण) ।

समुदय-धर्म । ३०५ (= उत्पन्न होनेवाला) ।

समुदाचार । ५०६ (= संघर्ष) ।

समुदाचारित । ५१७ (= प्रेरित) ।

समुदाय । ३०९ ।

समुद्रनिद्रा । २८६ (= समुद्र-प्रवण), २८६ (समुद्रकी ओर जानेवाली) ।

समुद्रप्रवणा । २८६ (= समुद्र-प्रवणा) ।

संमुख-चिन्तय । ४७३ ।

संमुखीभूत । ५७७ (= चित्तमान) ।

संमूह । १७६ (= मूढ) ।

संमोदन । २६७ (= कुशल प्रश्न पूछना), ३६५ (= एक दूसरेसे मुद्रित) ।

संमोह । १७ (= Hypnotization), १७७ (= मूर्खता), २८२ (= भ्रम) ।

सम्प्रदान । (देखो सम्प्रदान) ।

सम्पत् । ३२२ (= अवस्था) ।

सम्पन्न । ४५२ (= युक्त) ।

सम्प्रहर्षक । १४ (= उत्साह देनेवाला) ।

सम्प्रज्ञान । ४५७ (= सचेत) ।

सम्प्रावण । अ—६२ (= अन्वेषण), १०३ (= कुल-पद-प्राप्ति) ।

सम्बोधि । ३४६ (= परमज्ञान) ।

सम्भावित । ९४ (= प्रतिष्ठित) ।

सम्मोदन । २३८ (= सुखी), ३८३ (= कुशल-प्रश्न) ।

सम्प्राप । अ—३०८ (= न भूजना) ।

सम्यक्-प्रतिपदा । ५६७ (= दीक्षागार) ।

सम्यक्-प्रतिपत्त । ३०६ (= सत्त्व-कारुण्य) ।

सम्यक्-प्रधान । ३०८, ४३८, ४४२, ४९१ ।

सम्यक्-संयुक्त । ५ (= यथार्थ ज्ञानी), १८२ ।

सम्यक्-संबोधि । ५ (= यथार्थ परम-ज्ञान) ।

सम्यक्-समाधिकी । ४८६ ।

सम्यग् । २६१ ।

सम्यग्-आविमुक्त । ९१ (= यथार्थ ज्ञानसे विनकी मुक्ति हो गई है) ।

सम्यग्गत । ४२, ४३ (= ठीक स्थानमें), ३०० (= सत्यको प्राप्त) ।

सम्यग्-दृष्टि । १५ (= सच्चे सिद्धान्तवाले), (= सम्यग्दृष्टि), ३० (= ठीक सिद्धान्त-वाला), १७०, ३४१ (= ठीक धारणा-वाला), १८० ।

संयत । २११ (= गुप्त-द्वार) ।

संयमी । ४११ (= दान्त) ।

संयोजन । ८, ९ (= फँदा, बंधन), २३ (= मान-सिक बंधन), ३८ (दण्ड), ३९ टि० (दण्ड), २१५, २३०, २६६, २८०, ४११ (= बंधन), २५७, ५६४ ।

सरल । ५१३ (= चित्तमल) ।

सरागता । अ—२४३ (= वैराग्य) ।

सरोसृप । ८ (= सौंघ-विच्छिन्न) ।

सर्ष । (= सारा) १९६ ।

सर्वज्ञ । ३१८ ।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी । ४२८ ।

सर्वदर्शी । ५९ (= सर्वज्ञ), ३१८ ।

सस्य । ७५ (= प्रसन्न) ।

संवर्त-कल्प । १५ (= प्रलयकल्प) ।

संकायतन विभाग । ५६० (= छः भाषितनों का विभाग) ।

सलोहित । २९७ (= साई-वेष) ।

सल्लोख । (= शेष) ११, २७, २८ ।

सल्लोख-परिचाय । २९ ।

स-विज्ञानक । ४०० (= जोचित) ।

संवर । ६, १३४ (= रोक), ८ (= टोकना, संयम करना), ११४, १९३, २११, २५८ (= रक्षा) ।

संविप्र । २९३ (= योगाचित) ।

संविस्वन्दन्ती । ३६३ (= भगवत् पड़ती हुई) ।

संयुत । ५९ (= पाप), २२१ (= रक्षित), २२५, २९३, ५१८ (= गोपित, रक्षित), ४१७ (= लोक सम्प्रति) ।

संवेग । ११८ (= उदासी) ।

संसार । ५१, ७१२ (= जन्म-मरण), ३३७
(= भवसागर) ।

संसृष्ट । १०४ (= मिले-जुले) ।

संसृष्ट । अ—९४ (= जमासक) ।

संस्कार । ३३, ३५ (= क्रिया, गति, चीज है),
४३, ८८ (= दिलपर प्रभाव), १३९ (=
गति), १५५, १८१, २८२, २९७, ४३४
(= क्रिया), ४३४ (= कृत, बना हुआ),
४६०, ४८० (= क्रिया, कृति), ५०६ ।

संस्कार-उत्पत्ति । ४९८ (संस्कारोत्पत्ति) ।

संस्कृत । २०८, २१०, ४८०, ५०२, ६०८ (=
कृत, कृत्रिम) ।

संस्कृत । अ—१८० ।

संस्कार-अवशेष । ४३५ (= संस्कारके शेष) ।

संस्थागार । १३८ (= प्रजातन्त्र भवन), २०७
(= पञ्चशाला), २१० (= गणसंस्थाका
आगार), २६७ (= प्रजातन्त्र-भवन) ।

संस्थान । ७८ (= आकार) ।

सन्नेह । ३४९ (= भीगे) ।

संस्पर्श । ३२, ११८ (= स्पर्श, योग), ११८
(= सम्बन्ध), ५८३, ५९५ (= विषय और
इन्द्रियका समागम) ।

सह-धार्मिक । २०९ (= धर्मात्पुत्र) ।

सहज्य । ४१९ (= सहपता), ५२४ (=
समाकला), ५३४ (= योग) ।

सहाय । ५६३ (= मित्र) ।

स-हेतुक । ४०५ (= फलदायक) ।

साक्षात्कार । १३० (= दृष्टि), १४२ (= दर्शन),
१७५ (भावना आदिकी प्रक्रियाके जानने
के लिये अभिप्रेते वातावरण) ।

साक्षात्कृत । २८२ (= दृष्ट), ३२२ (= प्रत्यक्ष) ।

साक्षी । २८७ (= साक्षात्कार करनेवाला) ।

सातत्य । ६५ (= निरन्तर अभ्यास) ।

साधु । २१३ (= साधना), २८४ (= अच्छा),
४६९ (= ठीक) ।

सांपरायिक । ३६९ (= परलोक के सम्बन्धमें)

सामग्री । १९२, ४४४, ४५६ (= एकता) ।

सामीची । ५०९ (= अज्ञान जोड़ना) ।

सामीची-कर्म । ३६९ (= हाथ जोड़ना) ।

सामीची-प्रतिपक्ष । २५ (= ठीक मार्गपर
जाकर) ।

साम्परायिक । ३७८ (= परलोक संबंधी) ।

सार । १२१ (= हीरा), १४१, ५०८ ।

साराणीय । १९२, ४४४ ।

सारत्व । ३९२ (= धन आदि) ।

सारद्व । अ—१५ (= अ-व्यग्र), ११८ (=
अ-बंचल) ।

सारम्भ । १२, २७ (= हिंसा), ४४९ (= पीड़ा) ।

सार्यक । ३०६ (= सहित) ।

सार्वकालिक । ५०४ (= असामयिक) ।

सालोहित । ३३५ (= रक्त संबंधी) ।

सावध । ७७ (= दोष-मुक्त) ।

सावित्री । ३८४ ।

साहस्य । ४९८ ।

सांद्ष्टिक । २५ (= इसी शरीरमें फल देने
वाला), ३८४ (= प्रत्यक्ष फलप्रद) ।

साहुल-चीवर । २९० (= काली भेषके बालके
कपड़े) ।

साहस्री-लोकधातु । ४९८ (= एक हजार
बढ़ाई) ।

सिद्धलि-वन । ५४१ ।

सिद्ध-हनु । ३०५ (= सिद्ध समान पूर्ण ठोकी
वाले) ।

सुख-विनिश्चय । ५६९ ।

सुख-वेदना । १४५ (सुखका अनुभव) ।

सुख-वेदनीय । ४२९ (= सुख भोग करनेवाला) ।

सुगत । ७१ (= बुद्ध), १९० (= सम्भागा-
रूढ़), ११ (= बुद्ध), २४, ४१२ (=
सुंदर गतिकी प्राप्त) ।

सुगृहीत । १४९ (= सु-मानसीकृत), ४३९
(= ठीक समझा हुआ) ।

सुचरित । १५ (= सदाचार), २९४, ५३८
(= सुकर्म) ।

सुजात । ३८३ (= सुन्दर जन्मवाले), ३९५
(= कुलीन) ।

सुखिसा । ११८ (= बड़) ।

सुत । २९२ (सूत्र, सूक्त) ।
 सुद । २५२ (= शुद्ध) ।
 सुदर्शी । १००, ४९९ ।
 सुदर्शन । १०० ।
 सुदान्त । ५१६ (= सुमिक्षित), ३०० (= अच्छी प्रकार सिखलाया) ।
 सुपरिकर्मा । ३११ (= पालिका) ।
 सुपरिकर्मकृत । ५३६ (= पालिका की) ।
 सुप्रति-निस्सर्गो । ४३९ (आत्मानोसे त्यागने-वाला) ।
 सुप्रतिपन्न । १११ (= सुन्दर प्रकारसे राखेपर लगा), २५, ३६५ (= सुमानोरूप) ।
 सुप्रति-प्रप्रणव । (= अच्छी तरह शांत) ।
 सुप्रतिविद्ध । ४५७ (सुविदित), ५०७ (= तब तक पहुँच कर समझा गया) ।
 सुप्रतिष्ठित-याद । ३०४ (= जिसका पैर जमीन पर बराबर बैठता हो) ।
 सुप्रदीप्त । ३४७ (= अच्छी तरह छूट गया) ।
 सुभरता । ११ (= सुगमता) ।
 सु-भाषित । २९५ (= ठीक कहा), ३६२ (= सुन्दर-कथन) ।
 सुभूमि । ८० (उद्यान) । ४९७ (= बाग) ।
 सुवच-न्तर । ४३८ (= अधिक मजुर आगे, अधिक सुवक्ता) ।
 सुवर्णमाता । ५०५ ।
 सु-विनीत । ३०० (= अच्छी प्रकार सिख-लाया) ।
 सुरा । ४९ (= जहाँ उतारी शराब) ।
 सुरा-भोरय । ५०९ (= कबो शराब) ।
 सु-भुव । १४९ (= अच्छी प्रकार सुना), ३०२ (= ठीक सुना) ।
 सुसंयत । ४४९ (= सु-भाषित) ।
 सुसुका । २६९ (= तरमड़ी मत्स्य) ।
 सुसुका-भय । २०० ।
 सूक्ष्म । २८२ (= निपुण) ।
 सूक्ष्म-द्वयि । ३०४ (= छवि, ऊपरी चमका) ।
 सूचो । ८२ (= बिताई) ।
 सूची-मुख । ५४१ (= सूई जैसे तेज़ सुँदवाला

प्राणी) ।

सूप । २० (= दाढ़ आदि तिर्यङ्ग) ३२८ ।
 सूत्र । ८६, ५६१ ।
 सेख । (देखो दीप्य) ।
 सेवितव्य । ४०५ (= नेपथ्य-बोध) ।
 सेतिसिनाति । ३२५ (= जान-बूझ-पिंड), ४०२ ।
 सौमनस्य । १५, ५६, ११० (= चित्तोद्दाम), ५८ (= दिलकी सुखी), १२० (= चित्त-तुष्टि), २३८ (= सुख), ३५८ (= आनन्द) ।
 सौरता । ८० (= सुरत) ।
 सौवचस्यता । (= मनुभाषिता) ।
 स्कंध । ३८ टि०, १०९ (पाँच), ११४ (= राशि) ।
 स्तूप । ४४१ ।
 स्तब्ध । ६२ (= जब) ३३ ।
 स्तम्भ । २४ (= जड़ता) ।
 स्तम्भितत्व । ५३० (= जड़ता) ।
 स्थान । (= यौन) १४ (= शारीरिक आलस्य) ।
 स्थान-सूद्ध (= यौन-मिद्ध), ३८, ९३, ४१७, ४५८ (= शरीर और मनका आलस्य), ११४ (= मनके आलस्य), १६०, १०५, ५२६, (= आलस्य) ।
 स्थपति । ३१४ (= भवई), ३६३, (= फोड़-नाम्) ।
 स्थपति । (= भवई) २३० (= राज, यपति) ।
 स्थविर । १०४, २५८, २०३ (= बुद्ध) ।
 स्थविर-वाद । ३४५ (= बुद्धोंका सिद्धान्त) ।
 स्थान । ४२ (= घात), २८७, ४८० (= संभव), ४२२, ४३४, ५१५ (कारण) ।
 स्थान-अस्थान । ४८१ ।
 स्थानराः । २३६ (= अण) ।
 स्थापित । २५१ (= तिनका उत्तर रोक दिया गया) ।
 स्थाम । ३०१ (= दृष्टता) ।
 स्थालीपाक । १४२ (= सीधा), ५२०

(= भोजन) ।

स्थित । ३५३ (= बसा) ।

स्थूल-वश । ४४४ (= बड़ा दोष) ।

स्नात । २५ (= नहाया) ।

स्नातक । १६४, ४१३ ।

स्नायु । ५९२ (= नस) ।

स्नेह । १६३ (= पीलापन, नमी) ।

स्पर्श । ३२, ३३ (= इन्द्रिय और विष-

यका, संयोग) ; ४३, ७२, १५२, (=

आहार) ; २३२ (= कर्म-विचार) ,

३३२ (= भोग) , ४६३ (= इन्द्रिय-

विषयका संपर्क) , ४८०, ४९० (= व्या-

घात) , ५९२, १८१ (= अनिमित्त) ,

१८१ (= शुन्यता) ।

स्पर्श-आयतन । ४३७ (= धनु, ओज, प्राण, विद्या, काय और मनके विषय) ।

स्पर्श-काय । ५६०, ५९० ।

स्पर्शायतन । ५७३ ।

सृष्ट । ३५० (= लगा) ।

सृष्टव्य । ३२ (= त्वक् इन्द्रियका विषय) ,

३९ (= टंडा गर्म आदि) , १५३ (= सृष्टे

जाने वाले विषय) , ४१० ।

स्मृत । ३२५ (= समुद्र) ।

स्मित । ३२५ (= मुस्कुराहट) ।

स्मृत । ३ (= वादमें लाया) ।

स्मृति । १५८, १६२, २६५, २६९, ३७६, ४६७

(= होश) , २१२ (= याद) , ४५३ ।

स्मृति-परिशुद्धि । २१८ (स्मरणको शुद्ध करनेवाली उपेक्षा) ।

स्मृति-ग्रन्थान । ३५, ५१, २०५, ३०८, ४३९,

४४२, ४९१, ५६०, ५६३, ४० (का

ग्रन्थ) ।

स्मृति-विनय । ४४३ ।

स्मृति-संबोधन ५९३ ।

स्मृति-संप्रजन्य । १५ (= होश और अनुभव) ,

१४७, ४५३ (= होश-वैत) , ४९९ ।

स्रोत आपत्ति । ५८० (= स्रोतापत्ति) ।

स्रोत आपन्न । ४९१ ।

स्वक । अ-३३६ (= अपना नहीं) ।

स्वप्न समान । ८४ ।

स्वर्गपरायण । ९१ (= स्वर्गप्राप्ति) ।

स्वाख्यात । २५ (= सुन्दर रीतिसे कहा गया) ,

९१, १९० (= अच्छी तरह व्याख्यात किया) ,

३८४ ।

स्वाख्यात-पत्र । ३५१ (= उत्तम वर्णन) ।

स्वागत । २६५ (= स्वीकार) ।

स्वेद । ११८ (= पसीना) ।

स्वेदज-योनि । ४६ ।

स्वस्ति । २०९, ३८८ (= संगठ) ।

स्वैरी । २७३ (= स्वेच्छाकारी) ।

हृत्पत्थर । ३३४ (= गलीचे) ।

हृत्प-चिलंचक । ५२९ (= हाथका संकेत) ।

हरीसिक। अव्यूढ-९० (= जो हलकी हरीस

जैसे दुनियाके भारोंको नहीं उठाये हैं) ।

हस्त-प्रत्योतिका । ५५ (= दंड) , ५५ ।

हस्ताऽपलेखन । ४८ (= हाथ-चट्टा) ।

हस्ति-दमक । ५१७ (= हाथीको सिंघाने

वाले) , ५६३ (= महापत) ।

हस्ति-पद । १११, ११७ (= हाथीके पैर) ।

हस्ति-पद-उपमा । १७२ ।

हृत्पि-पदोपमा । ११६ ।

हिरण्य । ३३३, ३३६, ५३७ (= अमर्त्य) ।

हिरुताण । ५३२ (= मलज कर्म) ।

हीन । ३४० (= मोक्ष) ।

हीन-वीर्य । ४५४ (= अनुद्योगी) ।

हीना । १७ (= नीच) ।

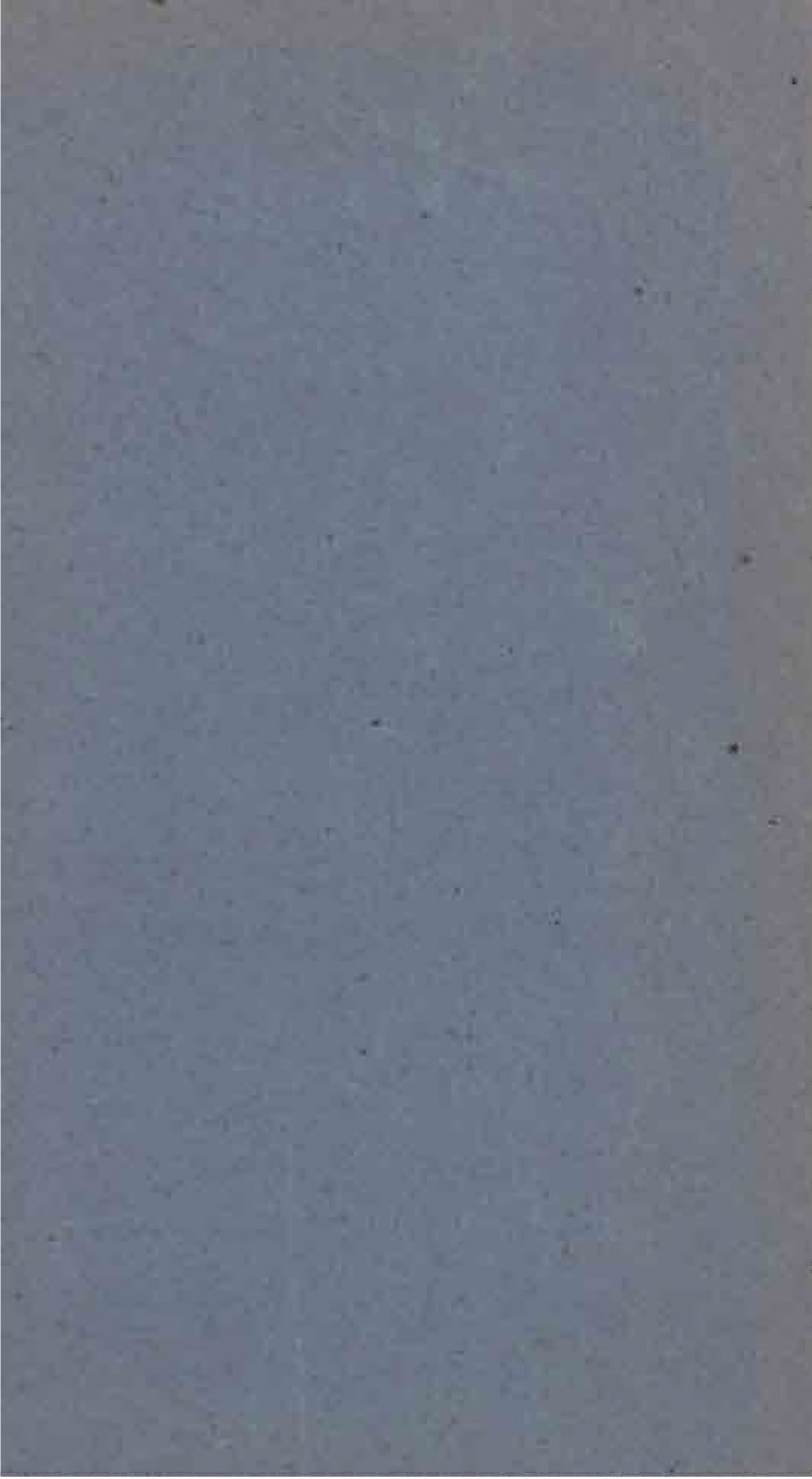
हेतु । १६८ ।

हेतु-रूप । ३७० (= ठीक) ।

हेमन्तिक । १२, ९३ ।

हो । १६१, १६२ (= कदा-संकोच) ।

होमान् । २११ (= लज्जाशील) ।



Archaeological Library,

8736

Call No. BPA3

May 1991

Author—

Rajul Santayaksh

Title— Majhima

Nikaya

Borrower No.

Date of Issue

Date of Return

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI

Please help us to keep the book
clean and moving.